श्री

भर्तृहरि शतकत्रय

नीति
श्रृंगार
वैराग्य
सटीक-सचित्र

वेंकट राव राघवम्

श्री

भर्तृहरि शतकत्रय

नीति
श्रृंगार
वैराग्य

सटीक-सचित्र

(श्लोक, शब्द विच्छेद, शब्दार्थ, भावार्थ, विशेषार्थ)

वेंकट राव रायसम्

लेखक एवम् प्रकाशक :
वेंकट राव रायसम्
स्वतंत्रता सेनानी सदन,
३२, बाबा खडग सिंह मार्ग
नई दिल्ली-११०००१

श्री भर्तृहरि स्मारक मिशन के प्रति यथा सूचित भर्तृहरि-स्मारक निर्माण के लिए सर्वाधिकार सुरक्षित रहेंगे।

प्रथम पुस्तकालय संस्करण १९७७

350/=

चित्रकार—मास्टर मनोहरलाल-रामकृष्ण पुरम, नई दिल्ली

मुद्रक—श्रीराम प्रिंटर्स, दिल्ली-३२
अरुण प्रिंटर्स, दिल्ली-१५
चित्र . ग्लोब प्रिंटर्स, दिल्ली-६

समर्पण

"शतकत्रय" की यह कृति
चिरस्थायी भर्तृहरि के श्री चरणों में
कृतज्ञतापूर्वक समर्पित करते हुए
कृतकृत्य हुआ चाहता हूं,

क्योंकि

मैं मात्र वही हूं जो भर्तृहरि-वाणी ने मुझे बनाया;

"निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।"

और

मेरी यह घोषणा कि

प्रस्तुत "शतकत्रय" संस्करण ही नहीं, इसके साथ-साथ मेरी अन्य संस्कृत-वाङ्मय की व्याख्याएं, यथा 'उपनिषद् घोषणापत्र" (ईशावास्योपनिषद) एवम् अप्रकाशित "गीता घोषणापत्र" (भगवद्गीता का सामाजिक स्वरूप) के सर्वाधिकार "**भर्तृहरि स्मारक मिशन**" के प्रति सुरक्षित रहेंगे और इन ग्रन्थों की सारी आय मात्र "भर्तृहरि-स्मारक" निर्माण में लगायी जायेगी, संस्था-संचालन अथवा किसी अन्य कार्य में कदापि नहीं लगेगी। मिशन द्वारा स्वीकृत निर्माण-योजनाएं इसी संस्करण में यथास्थान वर्तमान हैं। मेरी इस घोषणा को ही मान लें मेरा "मृत्युपत्र—WILL."

विनीत

वेंकटराव रायसम्

(वेंकट राव रायसम्)
संस्थापक मंत्री,
भर्तृहरि स्मारक मिशन

Freedom Fighters' Home,
32, Baba Kharag Singh Marg,
New Delhi-110001

पच्चीस वर्ष पूर्व

श्री मोरारजी देसाई (तत्कालीन गृहमंत्री, संयुक्त बम्बई)
हिंदुस्तानी हिंदी सम्मेलन, हैदराबाद में अध्यक्षीय भाषण देते हुए,
पीछे रिपोर्ट पढ़ते हुए वेंकटराव रायसम्

सं० १९२५ ई०

निजाम हैदराबाद में
अध्यापक

सं० १९३० ई०

सत्याग्रह सेनानी
उत्तर प्रदेश में

प्रधान मंत्री

नई दिल्ली
19 जुलाई, 1977

भाई [illegible] रायसम

आपका "श्री भर्तृहरि शतक त्रयम्" देखा है। इसके पहले मैंने आपके 'नीतिशतकम्' के लिए प्राक्कथन लिखा था। प्रस्तुत ग्रन्थ में 'श्रृंगार शतक' और वैराग्य शतक' जोड़ दिये गये है। विशेष रूप से 'वैराग्य शतक' मुझे बहुत अच्छा लगा। यह तपोमय जीवन का दर्पण है। श्री भर्तृहरि के अमूल्य विचार-रत्नों को सरल और सुबोध भाषा में व्याख्या करके आपने एक सराहनीय प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ की सफलता के लिए मैं आपको अपनी शुभकामनायें भेज रहा हूं।

आपका,
मोरारजी देसाई

मोरारजी देसाई

गृह मंत्री, भारत
HOME MINISTER
INDIA

नई दिल्ली,
दिनांक जुलाई, 1977

भर्तृहरि भारतीय संस्कृति के ध्रुव तारा हैं । "शतकत्रय" में मानव प्रकृति को यथावत प्रस्तुत करते हुए मानव उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त करने में भर्तृहरि उदाहरण हैं । इसी मानवीय दृष्टिकोण के कारण भर्तृहरि को सारे विश्व का समादर प्राप्त है ।

श्री वैंकट राव रायसम ने "शतकत्रय" पर एक विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है जो पुरानी परिपाटी से सर्वथा भित्र है । नीति, श्रृंगार एवं वैराग्य को मानव जीवन का अभिन्न अंग मानते हुए उन्हें, मणिमाला के रूप में श्रृंखला बद्ध करने में रायसम ने अपूर्व सफलता पाई है ।

श्री वैंकट राव रायसम् तेलुगु भाषी होते हुए भी हिन्दी के सिद्ध हस्त लेखक हैं । श्री रायसम् को उन के इस अथक प्रयास के लिए हृदय से बधाई देता हूं और आशा है कि पाठक गण इस कृति से लाभान्वित होंगे ।

चरण सिंह
(चरण सिंह)

नई दिल्ली,

दिनांक २३ जुलाई, १९७७

भारत की संस्कृति का मूलाधार संस्कृत ग्रन्थ हैं। श्री भर्तृहरि के तीन शतक-नीति, शृंगार और वैराग्य-मानव जीवन के सभी अंगों और उनमें निहित भावनाओं की अभिव्यक्ति का उत्तम ग्रन्थ है। संस्कृत जन भाषा न रहने से इसमें छुपी निधि का लाभ साधारण जनता तक नहीं पहुंच पाता। केवल संस्कृत भाषा के पण्डित ही इसका आनन्द और लाभ उठा पाते हैं।

श्री वेंकट राव रायसम् ने 'श्री भर्तृहरि शतकत्रय' के सभी श्लोकों के शब्द विच्छेद, शब्दार्थ, भावार्थ और विशेषार्थ देकर और इसे प्रकाशित कराके एक प्रशंसनीय कार्य किया है। इससे इसका ज्ञान और लाभ साधारण जन-मानस तक पहुंच सकेगा।

श्री रायसम् ने नीति शृंगार और वैराग्य के श्लोकों के गूढ़ भावों का विशेष अर्थ देकर इन्हें सामान्य साहित्यिक स्तर से बहुत ऊंचा उठा दिया है और भारतीय संस्कृति का शुद्ध रूप देने का अच्छा प्रयास किया है। इन्होंने भारतीय साहित्य के मूलमंत्र 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' का प्रतिपादन इस ग्रन्थ के माध्यम से करने का सफल प्रयास किया है। संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ यदि संस्कृत ग्रन्थों की इसी प्रकार व्याख्या करके जन-साधारण को प्रस्तुत करें तो उनकी यह वास्तविक जनसेवा होगी।

श्री रायसम् अपने इस श्रमसाध्य कार्य के लिए बधाई के पात्र हैं।

आशा है, पुस्तक पाठकों को रुचिकर लगेगी और वे इसका रसास्वादन करते हुए लाभान्वित होंगे।

(जगजीवन राम)

२३ जुलाई, १९७७

श्रृंगार व्यक्तिगत जीवन से, नीति सामाजिक जीवन से, तथा वैराग्य परमार्थ जीवन से सम्बन्धित है, किन्तु ये तीनों जीवन के एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, प्रत्युत उन तीनों से एक जीवन दर्शन बनता है, यही भर्तृहरि के शतकत्रय के लिखने का अभिप्राय था। किन्तु बाद के व्याख्याताओं ने इन तीनों की परस्पर विरोधी जैसी व्याख्या की है। श्री वेंकटरावजी की व्याख्या से एक अखंड जीवन निकलता है। इस वास्तविक व्याख्या के लिए श्री राव धन्यवाद के पात्र हैं।

८—डा० विश्वम्भरदास रोड,
नई दिल्ली

राजनारायण

(राजनारायण)
परिवार कल्याण नियोजन मंत्री

आबाल क्रांतिकारी
परम तपस्वी
पंडित परमानन्द

अध्यक्ष अ० भा० क्रान्तिकारी परिषद

राव साहब की पुस्तक "भर्तृहरिशतकत्रय" और उनका क्रान्तिकारी विश्लेषण पढ़कर मुझे महान आनन्द हुआ। वे मेरे क्रान्तिकारी साथी हैं। सन् १९१४ में मुझे फांसी की सजा हुई, किन्तु "कालकोठडी" से मुझे ,'कालापानी" अंडमान भेज दिया गया; जहां मैं २३ वर्ष तक रहा। वीर सावरकर के साथ रहने का सौभाग्य जो रहा उससे द्वीपान्तर का नरकरूपी वह कारागार स्वर्गतुल्य ही रहा। तदनन्तर यरवदा जेल में गांधीजी के सांगत्य का अवसर मिला। सरदार वल्लभ भाई पटेल और श्री मोरारजी देसाई के संग साबरमती जेल में भी रहा। अब सतास्सी वर्ष की आयु में "स्वतंत्रता सेनानी सदन" दिल्ली में राव साहब हमारे साथ हैं।

मैंने संसार भर के साहित्य और इतिहास का गहन अध्ययन किया है। गीता, वेद, उपनिषद और धम्मपद को भी खूब पढ़ा है। परन्तु जो आनन्द भर्तृहरि के उपदेशों में अनुभव किया वह किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं पाया।

मेरी मां ने मुझे सबसे पहले भर्तृहरि के कुछ-एक श्लोक कंठस्थ करवाये थे। फिर रामायण पढ़ाया। ये दोनों ग्रन्थ मेरे जीवन साथी हैं। आश्चर्य है कि राव साहब ने भी 'भर्तृहरि' ही को कैसे चुना ! इसी एक पुस्तक में संसार का सारा साहित्य समाहित हो रहा है। आगे आने वाली पीढ़ियों को मैं यही कहूंगा कि यदि भर्तृहरि के श्लोकों को कंठस्थ कर लें और राव साहब के विश्लेषण को हृदयंगम कर लें तो वे अपने और राष्ट्र के जीवन को निरोग बना सकेंगे।

परमानन्द

योगीराज
श्री रामनाथ महाराज

श्री वेंकट रावजी ने "भर्तृहरि शतकत्रय" की प्रति दिखाई कि अचानक मेरे मुख से निकला "आप का मन्दिर मेरे १०० मन्दिरों से भी अधिक महत्त्व रखता है।" बात यह है कि मैंने इधर भगवान का मन्दिद बनवाना प्रारम्भ किया, उधर राव जी ने पुस्तक की छपाई शुरू की। मेरा मन्दिर तो अधर में पड़ा है, पर रावजी का पुस्तक-मन्दिर छप कर अपनी ज्ञान-ज्योति का प्रकाश फैलाना प्रारम्भ कर दिया है। मन्दिर तो थोड़े से इलाक़े की जनता को लाभ पहुंचायेगा, पर रावजी का पुस्तक-मन्दिर लाखों देशी-विदेशी हृदयों के अन्दर भारत माता के प्राचीन सुपुत्रों के ज्ञान-गौरव की प्रभा का दिग्दिगांतर में फैलाकर भारतवर्ष के गौरव को चार चाँद लगायेगा।

रामनाथ

(रामनाथ)

श्री वेदानन्द झा
व्या० न्या० वे० सा० सां०
यो० आचार्यः एम० ए० हि० सा० रत्नः
प्राचार्य
श्री मोतीनाथ संस्कृत महाविद्यालय,
रमेश नगर देहली

त्रिकालहितं त्रिकालसुन्दरं त्रिकालावाधितामृत-प्रवाहाप्लावितं हृद्यँ यद् वाङ्मयं तदेव प्रभवति व्यवहारविदेकान्तासंमिततयोपदेशयुजे शिवेतरक्षतये च। तदिदंमूर्धन्यं प्रयोजनत्रयं समुज्झितनृपलाञ्छनस्य गजभुक्तकपित्थीकृतैकान्त कान्तोपभोग विषज्वालाजालस्य योगिनो भर्तृहरेर्नीति-शृंगार-वैराग्य शतकत्रय-मेकैकं पर्य्यायेण प्रयोजनत्रयसमवेतमपि मूर्धाभिषिक्ततया विशकलितं तदन्यतमं व्यक्तं प्रयोजनं पुरस्कुर्वत् प्रवर्तयत्यद्भुत-शृंगार-शान्तप्रवाहैरसतरंगिणी-त्रिवेणीमित्यस्मिन् प्रमाणं नास्त्यन्यत् सहृदयानुभूतेरिति सर्व एव प्रत्येति सचेता प्रमाता।

पुराणा धरिणी,पुराणं वह मानमनघं सुरदीर्घिकावारि,पुराणौ दिवाकरनिशाकरौ पुराणः पवनः, पुराणं वियन्मण्डलम्, पुराणा प्रकृतिः, पुराणश्चाननन्त कोटि ब्रह्माण्डभाण्डनिकरकारः। परमिमे समे पुरातना अपि प्रतिकल्पं-प्रत्यब्दं प्रत्ययनं वा नवं नवं रूपमादधानाः सुचिरादनुक्षणमजीर्णा नवीनाः सनातनाः सर्वदा सर्वतोभावेन प्रतिभावं प्रत्यग्रभावतां भजमानाः स्वभावहिताः हृद्या रम्याः काम्याः प्रत्युपनतशाश्वत सन्देशस्रोतोवहाः। तदाह-"सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्" इति। तदेतत्तथ्यमुद्घाटितवान् तत्र भवान् मनीषी श्री वेंकट राव रायसम् महोदयो भर्तृहरि शतकत्रयस्य नवनवोपनत सामाजिक दशाविशेषोपयोगि विशेषार्थ प्रकाशनमुखेन विशदव्याख्यानेन। नूनमिदं विशेषार्थसमीक्षणं राष्ट्रियस्वतन्त्रतान्दोलनाध्वरार्त्विजीनस्य राजनीतिविशारदनेतृशतसख्यमुपसेदुषोऽस्य विदुषः

स्वजीवन निकषग्राव्णि निकषितानां राष्ट्रोत्थानचिन्तासंघर्षाघातप्रतिघातोत्थानुभूतीनां प्रतिफलमेवेति मन्ये।

अथ भारतीय समाजवाद प्रतिष्ठायां सामाजिक मानस परिष्कारस्य परमावश्यकतां मन्वानोऽयं मनस्वी श्रीमद्भर्तृ हरिवाङ्मयमरन्दसन्देशदुन्दुभिघोषं प्रतिघोषं प्रतिमानुषं प्रतिरणयितुं शतकत्रयमेकसूत्रे ग्रथित्वा मृदुलया मधुरया सारगर्भिण्या विद्वदविद्वन्मनोहारिण्या राष्ट्रवाण्या व्याख्याय भारतीयसमाजोत्थान सोपानमुपन्यास्थदिति तत्स्तुत्यं प्रयासं प्रचाराय प्रसाराय हृदयेनाभिनन्दाम।।

वेदानन्द झा

योगी नरहरिनाथ
शास्त्री, विद्यालङ्कार
मृगस्थली—नेपाल
गुरु पूर्णिमा, सं० २०३४

आज से २०३४ वर्ष पूर्व भारत की मूल राजधानी उज्जयनी थी। महाराजा भर्तृहरि परमार वंशज थे और विक्रमादित्य उनके छोटे भाई। प्रजावत्सल महाराज भर्तृहरि महान विद्वान, अद्वितीय कवि, वैयाकरण, दार्शनिक, पुरातत्त्वानुसंधाता, तत्त्ववेत्ता, उदात्तचेता तथा प्रकृति परीक्षण-निपुण थे। भर्तृहरि के एक-एक पद्य में एक-एक काव्य की सामग्री समाई हुई है।

"अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो यान्ति परां गतिम्" के अनुसार महाराजा भर्तृहरि को संसार से वैराग्य हो गया। भाई विक्रमादित्य को राज्य का उत्तराधिकार देकर शिवावतार गोरक्षनाथ का शिष्यत्व ग्रहण कर अष्टांग योग की शिक्षा-दीक्षा से भर्तृहरि ने पञ्चधा, अष्टधा सिद्धि प्राप्त की और नवनाथ चौरासी सिद्धों में विचारनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। मान्यता है कि सिद्ध विचारनाथ-भर्तृहरि ने १२ शतक लिखे थे। विदेशीय, विजातीय, विधर्मी, विप्लव आदि के परिणामस्वरूप सारा पुरातत्त्व नष्ट-भ्रष्ट हो गया। इसी कारण अविकल रूपेण कोई कृति नहीं मिलती और जो मिलती है उसमें भी अनेक पद्यभेद, पाठभेद, संख्याभेद क्षेपक आदि पाये जाते हैं—जैसे…' यां चिन्तवामि सततं"…इत्यादि।

भर्तृहरि की लोकोत्तर अमर रचनाओं पर चिरकाल में अनेक मनीषियों ने अनुवाद, टीका, टिप्पणी, समालोचना, परिचय, भाष्यादि लिखे हैं। किन्तु जिस प्रकार भगवद्गीता की व्याख्या सन्त ज्ञानेश्वर ने की है उसी प्रकार तलस्पर्श कर भर्तृहरि के नीति, शृंगार, वैराग्य शतकों की व्याख्या श्री वेंकटराव रायसम ने की हैं। कठोरतम यमयातनामय कारागार में आप ने वैराग्य शतक की व्याख्या लिखी है। इस कारण इसका विशेष मुल्य है। बन्दीगृह में जन्मे कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के

रणांगण में गीता का ज्ञान दिया था । माण्डले के बन्दीगृह में धृतराष्ट्र और हृतराष्ट्र की आलोचना कर बालगंगाधर तिलक ने कर्मयोग पर 'गीता रहस्य' लिखा था। रायसम ने भी बन्दीगृह में ही भर्तृहरि पर व्याख्या लिखी है। गंगा की शिशिर मधुर धारा की भान्ति भर्तृहरि की तथा रायसम की विचारधारा सर्वदा सर्वथा नित्य-नवीन है।

श्री रायसम की जन्मभूमि आंध्र प्रदेश है, मातृभाषा तेलुगु है, अनेक भाषा के विद्वान हैं, काशी विद्यापीठ के स्नातक शास्त्री हैं, स्वातन्त्र्य संग्राम के सेनानी हैं, गहन अध्ययनशील हैं, नीर-क्षीर विवेकशील हैं, सिद्धहस्त लेखक हैं और लिखते भी हैं राष्ट्रभाषा हिन्दी में। वे एक त्यागी, तपस्वी, तितिक्षु, कर्मठ, मनस्वी, राष्ट्रवादी और मानवतावादी उदारचेता शिक्षातत्त्ववेत्ता हैं। ७५ वर्ष की अवस्था में आज भी निरन्तर कार्यरत हैं, विशेषतया साक्षरता क्षेत्र में और भर्तृहरि स्मारक-निर्माण में।

भर्तृहरि वाङ्मय मुझे भी अमृतमय लगता है। भर्तृहरि के माध्यम से रायसम से मेरी विशेष आत्मीयता है और आजीवन विद्यार्थी, आजीवन पदयात्री आजीवन स्वयंसेवक, आजीवन राजनीति-पीड़ित-बन्दी होने के नाते समैः सख्यम भी है। रायसम का जीवन प्रस्तुत सर्वांगसुन्दर पुस्तकालय संस्करण भर्तृहरि शतकत्रय द्वारा विशेष स्पृहणीय है। आप की यह आजीवन तपस्या सफल हो। आपका विशेषार्थ विशेषतया सफल हो। गुणग्राहीगण रायसम के सद्गुणों का ग्रहण करें। पग-पग पर आप के पद-पद का पुनः स्वागतम् ।

कृतज्ञ: —
योगी नरहरिनाथ
शास्त्री विद्यालङ्कार
मृगस्थली नेपाल

Dr. Igor D. Serebryakov
Nehru Laureate,
Senior Research scholar,
Institute for Oriental Academy.
Mascow, USSR,

The greatness of Bhartrihari as poet and scholar is such that people are still debating his legacy 13 centuries after his death. His ideas have stood the test of time and embodied in poetic form are consonant with modern times. The powerful transformatory impact of his poetic and scholarly works make him our contemporary.

Bhartrihari's works are of special interest from the scientific standpoint, first and formost in the historico-literary plane as the works of the founder of the tradition of social lyricism that has found expression in thousands of poems of sanscrit anthologies and secondly, as the father of the literature of the satak that was born of this tradition. The genre of satak is especially well represented in Telugu literature where it acquired tremendous social resonance. The perfection of Bhartrihari's poetry, his complete mastery of all the artistic resources of sanscrit, his immortal "Satakatrayam" are a great school of thought and artistic skill. It is rewarding work to study his poetic and scientific legacy.

The works of Bhartrihari have become the possession of world literature. They have influenced such brilliant minds as Goethe, Herder and Heine and have been translated into many languages outside India. However, they are not merely of interest to the lover of ancient literature.

Highly relevant is the opinion of K. Chaitanya who said that though 13 centuries have passed since Bhartrihari's time his poetry reflects a temperament that is completely atune to ours, it reflects an indefatigable and intense study of tne universe and mankind.

The humanistic spirit of Bhartrihari's works, his striving to understand man's place in nature and society, his impassioned call to break the chains of sociall bondage are comprenensible and close to the heart of contemporary man who is strengthening his dominion over nature and is shedding capitalist exploitation, colonialism, racism and war. We, men of the last quarter of the 20th century, particularly cherish the quest for a way of life worthy of Man which is so characteristic of the poetry of Bhartrihari, that remarkable son of India and classic of world literature.

That is why I feel it is a great honour to recommend to readers the great poet's "Satakatrayam", translated, analysed and commented on by the esteemed Venkat Rao Raisam, veteran of the national-liberation movement, thanks to whom an All-India seminar devoted to the study of the works of Bhartrihari was convened in 1975.

The work of Venkat Rao Raisam will undoubtedly broaden our knowledge of the great poet and scholar, will help us better comprehend his legacy and enrich ourselves with the ideas and feelings imbued with the lofty ideals of humanism.

(Dr. Igor D. Serebryakov)

प्रस्तावना

भर्तृहरि को जनता 'राजा भर्तृहरि' नाम से ही पहचानती है। लेकिन भर्तृहरी राजनीति के लिए उतने प्रसिद्ध नहीं जितने अपने 'शतकत्रयम' के कारण हैं। भर्तृहरि, ऋषि की दृष्टि रखने वाले राजा थे। भोग और योग दोनों ही सम्मिलित रहे उनमें। नीति, श्रृंगार, और वैराग्य शतक इसी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। एक-एक कृति भी इनमें अनुभूति का प्रतीक है। एक-एक श्लोक अर्थ में, अलंकार में, साहित्यिक मूल्य में स्वयं पूर्ण है। 'शतकत्रयम' वास्तव में सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की व्याख्या है। शब्द 'सुन्दरम्' श्रृंगार रस का प्रतीक है। जिसमें सत्यम्, शिवम् भी निहित हैं। श्री रायसम ने (कदाचित् महिला जगत के प्रति अपनी अगाध आस्था के अनुरूप) मुझे 'श्रृंगार शतक' ही की प्रस्तावना लिखने का आग्रह किया है।···तादस्तु।

श्रृंगार शतक में श्रृंगार रस का आविर्भाव है। भरत जी के नाट्यशास्त्र में जो कहा गया है—

"विभावानुभावसंचारिभाव संयोगाद् रसनिष्पत्ति"

उसके अनुसार आलंबन विभाव और उद्दीपन विभाव अनुभाव संचारिभाव— सब का वर्णन कभी करुणा, कभी हास्य के साथ आ चुका है।

"नूनं हि ते कविवरा: विपरीतवाचो ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीस्ता:।
याभिर्विलोलतर तारक दृष्टिपात: शक्रादयोऽपि विजितास्तु अबला: कथं ता:।।"

महिला को अबला कहने में कविवरां ने सत्य नहीं कहा है। जिनके कटाक्षों

से इन्द्रादि देवता भी हार जाते, वह महिला अबला कैसी ? प्रकृति और पुरुष में आलंबन विभाव दोनों बन सकते हैं, फिर भी अधिकांश में प्रकृति ही आलंबन विभाव समझी जाती है। पशु-पक्षी और मक्खियों में मादी थोड़े ही अबला समझी जाती है ? मानव समाज में उसको अबला समझने के कारण कितनी ही सामाजिक और धार्मिक दुर्बलताओं की शिकार बनी यह महिला। कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में परित्याग के बाद सीता का चित्र खींचते हुए उससे कहलवाया है—

> कल्याण-बुद्धे रथवा तवायं न कामचारो मयि शंकनीयः।
> ममैव जन्मान्तर पातकानां विपाक विस्फूर्जतुर प्रसह्यः॥

सबकी भलाई आप करना चाहते हैं, आप में क्या दोष है ? मेरे ही जन्मान्तर का पाप इकट्ठा होकर निकल पड़ा इस रूप में।

भर्तृहरि की सूक्ष्मनिरीक्षण शक्ति ने महिला की भावनाओं, चलनवन्दन, गति, अंग-प्रत्यंग, सभी का चित्रण शब्दों के माध्यम से खींचा है। विरह-मिलन के, शृंगार के मनोवैज्ञानिक भूमिका का चित्रण भी बहुत ही सुन्दर खींचा है—

> 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि'

अलंकार न होने पर भी गुणपूर्ण दोषरहित शब्दार्थों का समुच्चय काव्य बन सकता है, इस तरह अलंकारशास्त्रज्ञों ने कहा। भर्तृहरि का ग्रन्थ कितना ही गहरा क्यों न हो, अलंकारों के लिए वहां स्थान है ही।

प्रचलित इतिहास के आधार पर यह समझा जाता है कि भर्तृहरि उज्जयिनी में मालवा देश के सुप्रसिद्ध राजा थे। अद्यापि उज्जयिनी में एक स्थान, भर्तृहरि गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। दिल्ली-जयपुर मार्ग पर, राजस्थान में सरिस्का के नजदीक भर्तृहरि का मेला होता है। लोगों का कहना है कि भर्तृहरी की तपस्या के कारण जंगल में भी सांप, बिच्छू किसी को नहीं काटते और बीमारी भी नहीं होती। यहां की जनता भर्तृहरी को दैवांश-संभूत राजर्षि समझती है।

खैर, शतकत्रय मात्र उपदेश का ग्रन्थ नहीं। मानव-जीवन के व्यापक दर्शन का आविर्भाव है। जीवन के चिरन्तन सत्य का आविष्कार इन शतकों में हुआ है। इसलिए इनका मूल्य भी चिरन्तन है। इसी की दूसरी व्याख्या, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के नाम से हो सकती है। जीवन में बहुलमूल्य-प्रदायक जिस किसी अनुभव को सज्जन लोग अपनाते हैं, वही धर्म का आधार है। 'शतकत्रय' भी मानव-धर्म के लिए आधारभूत है। 'शृंगारशतक' में परंपरागत कवि कल्पना होते हुए भी, कवि

की सूक्ष्मदृष्टि बहुत ही जागृत है। कालिदास के 'मेघदूत' का विप्रलंभ शृंगार की कुछ झलकियां इसमें मिलती हैं। यह सारा वर्णन, सारी कल्पना आखिर में कहां पहुंचाती है ?

"यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंचारजनितं सदा दृष्टं नारीमयमिदं अशेषं जगदिति।
इदानीमस्माकं पटुतर विवेकांजनजुषां समीभूता दृष्टिः त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते।।"

जब सारा अज्ञान था तब विश्व नारीमय लगता था, किन्तु जब विवेक के अंजन से दृष्टि सुधरी तब 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' लगने लगा।

आखिर वैराग्यशतक की यह पीठिका तो है न ?

श्री रायसम् वेंकटराव जी अपने को विद्वान नही मानते। सत्य है, सरस्वती के और जनता के वे सेवक हैं। अपने उम्र के 17वें साल से उन्होंने शतकों का अध्ययन शुरू किया था। तीनों शतकों के अध्ययन का लाभ आज हमें मिला है। श्री वेंकटराव जी का व्यक्तित्व विविध पहलुओं से भरा हुआ है। स्वतन्त्रता के आन्दोलन में कूद पड़े, जेल की यात्राएं की, उसी वक्त बड़े-बड़े लोगों का संपर्क मिला। विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर उन्हें जरूर मिला, किन्तु व्यापक विश्व में उन्हें और अधिक शिक्षा मिली, अनुभव का आधार भी उन्हें रहा। अभिव्यक्ति की क्षमता मिली। प्रत्येक श्लोक में उन्होंने, समासविच्छेद, अर्थ के अनुसार पद-विन्यास, सरल अर्थ और विशेप-अर्थ सब लिखा है। अल्प प्रयास से कृति के मर्म को हर कोई सहृदय पाठक समझ सकता है।

श्री वेंकटराव की व्याख्या की विशेषता यह है कि परम्परागत विशिष्ट व्याख्याओं से यह सर्वथा भिन्न है। रायसम की स्वाभाविक सौंदर्यप्रियता उत्कृष्ट शृंगार गरिमा से ओत-प्रोत है। सामान्यतया 'अबला' को 'सबला' सिद्ध करने में श्री रायसम प्रशंसनीय रूप से सफल हुए हैं और महिला की मर्यादा को सुरक्षित रखते हुए शृंगार के रसास्वादन का स्त्रियों और पुरुषों को समान अवसर प्रदान किये हैं। वयोवृद्ध, पर प्रबुद्ध वेंकटराव रायसम का यह प्रयास सर्वप्रिय सिद्ध होगा, इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है।

श्री वेंकटराव जी की मातृभाषा तेलुगु है। किन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपना भावनावाहक चुन कर जनता पर उन्होंने बड़ी कृपा की है।

आशा करती हूं कि सहृदय जनता दिल से इस "ज्ञातकत्रय" का स्वागत करेगी।

सरोजिनी महिषी
(संसद सदस्या)

महान आत्माओं के आशीर्वाद

धर्म सम्राट्
स्वामी करपात्रीजी महाराज

श्री वेंकट रावजी बड़े विचार-शील राष्ट्र सेवा परायण कर्मठ व्यक्ति हैं। उनकी निष्ठा की प्रतीक प्रस्तुत पुस्तक है।

विश्व विख्यात
स्वामी कृष्णनन्द महाराज

जब तक भर्तृहरि की स्मृति बनी रहेगी तब तक भारत बना रहेगा और जब तक 'भर्तृहरि शतकत्रय' प्रचलित रहेगा तब तक रायसम् की यह व्याख्या चरितार्थ रहेगी।

○

"जब तक धरती तब तक भर्थरी" (लोकोक्ति)

○

भार आभार

उन सब महानुभावों का हार्दिक आभार मानताहूं जिन्होंने अपनी अत्यन्त व्यस्तता में भी समय निकाल कर इस 'शतकत्रय' को पढ़ने और अपनी अमूल्य सम्मतियां एवम् आशीर्वाद देने की कृपा की।

चित्रकार मास्टर मनोहरलाल ने प्रेम से श्लोकों का चित्रांकन किया। रूपक प्रिंटर्स, शाहदरा, अरुण प्रिंटर्स, रमेशनगर क्रमशः नीति, श्रृंगार और वैराग्य शतकों के और ग्लोब प्रिंटर्स ने चित्रों के मुद्रण का भार उठाया। जनता पेपर मार्ट, चावड़ी बाजार ने अपनी-पुरानी परिपाटी के अनुसार नगद-उधार कागज देता रहा। महादेव बैंडर्स हाउस काजी ने सुन्दर बाइंडिंग की। इन सबके साथ-साथ सबसे बढ़कर मैं मैनेजर, स्टेट बैंक हैदराबाद, कस्तूरबा गांधी मार्ग का आभारी हूं जिन्होंने बिना हिचक पुस्तक के प्रकाशन के हेतु ऋण प्रदान किया।

भार मुझ पर

फिर भी पुस्तक के आकार प्रकार शुद्ध-अशुद्ध त्रुटियों आदि का सारा भार स्वयं अपने सिर लेने में मुझे तनिक भी आनाकानी नहीं है।

सबसे बड़ा भार

मेरे सिर पर देश के निरक्षता निर्मूलन और बाल शिक्षा में हर साल देश के एक करोड़ साल बर्बाद होने से बचाने का है जो मात्र भगवान की देन है या मेरी आजीवन तपस्या का फल। देखें करूंगा या यौं ही मरूंगा। इसीलिए थोड़ी-सी जीवन झांकी भी दे डाली है।

वेकटराव रायसम्

जीवन झांकी

नाम—वेंकटराव रायसम माता लक्ष्मीबाई पिता रायसम किशन राव।

जन्म स्थान—निजाम हैदराबाद राज्य का 'काला पानी'—पूर्वीघाट के पहाड़ी प्रान्त में एक कुग्राम अमराबाद जिला महबूब नगर।

बाल्यावस्था—घोर श्वास रोग से पीड़ित, फिर मलेरिया आदि रोग।

शिक्षा दीक्षा—पुराने युग के पंडितजी की पाठशाला में सवेरे सूर्योदय के पूर्व से लेकर रात आठ बजे 'दीपम-ज्योति' के पाठ तक पांच साल की पढ़ाई में इतना पढ़ा जितना मैं आज पांच मास में पढा सकता हूं केवल दो घंटा रोज की पढ़ाई से।

चौथे दरजे की परीक्षा—१६ वर्ष की आयु में ७२ मील चलकर दी जिले में। दूसरे ही साल मिडिल (सातवीं) कर डाला।

अध्यापक बना—मिडिलची अध्यापक नियुक्त हुआ। अंग्रेजी ए, बी, सी, से शुरू कर दो साल में टीचरी करते हुए मेट्रिक कर डाला। फिर ट्रेण्ड टीचर बना। इंटर परीक्षा की तैयारी में लगा।

साइमन कमीशन—नौकरी छोड़ी। देश भ्रमण किया। होमरूल की हवा लगी। मद्रास, कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशनों से होते हुए स्वतंत्रता संग्राम के लिए जीवन दान किया।

उत्तर पदेश में—१९२९ के लाहोर कांग्रेस अधिवेशन से इलाहाबाद पहुंचा। १९३० में नमक सत्याग्रह किया। स्थानीय छोटे-मोटे लीडरों से मुक्त होकर पडौस के प्रतापगढ जिले को कार्यक्षेत्र बनाया। आजादी तक वहीं काम किया चौबीसों घंटे किसानों में, शहर में भी। आठ बार सजाएं पाई, लगभग सात साल भिन्न-भिन्न जेलों में रहा। १९४७ में अंग्रेजी-भारत आजाद हुआ। देशी रजवाड़े अधर में अटके रहे। मैं भी तो देशी राज्य हैदराबाद निजाम का था।

रजवाड़ों की आजादी—हिमाचल प्रदेश के पहाड़ी रजवाड़ों से लेकर मद्रास प्रान्त के बंगान पल्ली राज्य तक दौरा किया। कहीं-कहीं बीहड़ मोर्चें लिए और

राजा प्रजाओं में समझौते करवाये ।

पहली १५ अगस्त १९४७ बारह बजे रात जब सारे भारतवासी स्वतंत्रता का समारोह मना रहे थे तब मैं हिमाचल की काली रात ढामी राज के मोर्चे पर अकेला डटा हुआ था। दक्षिण भारत में उपरोक्त बंगान पल्ली रियासत की भी यही दशा थी। कोई छोटा या बड़ा नेता उसमें प्रवेश करने का साहस नहीं करता था। वहां भी मैं अकेला ही गया और सफल ही निकला ।

हैदराबान और रजाकार जोर-जुल्म—सरदार पटेल के नेतृत्व में कश्मीर समेत ६०० रजवाड़े भारत सरकार के अधीन हो गये। अकेला हैदराबाद का नवाब अड़ा रहा। रजाकारों की गैर सरकारी क्या अर्ध सरकारी सेना खड़ी हुई। लूट-मार का बाजार गर्म हुआ। बहु संख्यक हिंदू जनता में त्राहि-त्राहि मच गयी। स्थानीय कांग्रेसी नेता भाग खड़े हुए स्वतंत्र भारत के पडौसी बम्बई, मद्रास, नागपुर प्रदेशों में। 'एकला चालोरे !' इधर रवीन्द्र टैगोर की लहर कानों में गूंज रही थी। मैं इसका अभ्यस्थ भी हो चुका था। उधर गांधी जी के पद चिह्न नवारवाली में झलक रहे थे। मैं ठहरा आदि से अंत तक शुद्ध गांधीवादी। दिल्ली में मेरा दिल बेकल था। पंडित जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आजाद, रफी अहमद किदवाई मना करते रहे। विनोबाजी भी बहुत बिगड़े कि तुम राजनीति नहीं जानते। मेरा सबको एक ही जवाब था—मानवता पहले, राजनीति बाद। अल्लाह का नाम लेकर अकेला हैदराबाद गया। जान हथेली में ले रात-दिन शहर देहात एक किया। कई-कई बार मौत के मुंह में घुस पडा और सही-सालिम निकल आया। मुसलमान कहने लगे, गांधी का सच्चा चेला है। सत्ताईस दिन का अनशन व्रत भी किया। पुलिस एकशन के दौरान और उससे पहले भी हजारों की जानें बचाने में मानो भगवान ने ही मुझे चुना था। मेरे जीवन की वह एक स्वर्णिम रेखा थी। शीशे में देख मैं अपनी आंखों पर आप विश्वास न कर पाता था। न जाने वह ज्योति कहां से आई थी मेरी आंखों में तब। कुछ दिन बाद फिर वही साधारण आखें।

भारत सरकार की मिलिटरी—हैदराबाद में प्रवेश कर गयी। पीछे-पीछे भगेड़ू लीडरान भी लौटे और लूट-मार मचाने लगे। लीडर अफसर एक सुर में बोलने लगे। हिंदू बचे थे पर मुसलमानों को बचाना मेरे बस से बाहर था। नजर बचाकर मैं दिल्ली पहुंचा। जवाहरलाल जी को सारा अहवाल बता दिया। पंडित जी ने कुछ जांच-वांच का इंतजाम किया। फिर विनोबाजी पहुंचे। विनोबाजी ने एक भरी सभा में कहा था कि उन्हें छः महीने पहले हैदराबाद पहुंचना चाहिए था। पाकिस्तान बनने के बाद भारत के मुसलमानों और पाकिस्तान के हिंदुओं की जो दशा थी लगभग वही दशा हैदराबाद की थी। पड़ोसी इलाकों से मुसलमान

निजाम राज्य जा रहे थे और हिन्दू हैदराबाद से बम्बई मद्रास भाग रहे थे। रजाकारों के दिनों में किसी कांग्रेसी मुसलमान या हिन्दू का हैदराबाद न जाना, विशेषकर उन कांग्रेसियों की दशा जो गांधी जी के साथ तीस साल तक काम किये, सचमुच खेद जनक थी, खतरनाक थी। मुझे संतोष है कि इस रोग ने मुझपर तनिक भी असर नहीं किया और मैंने सभी की कांग्रेसियों की भी शत्रुता मोल हुए गांधीजी के रास्ते पर चला। उन दिनों मुझे वह आध्यात्मिक अनुभव हुए कि उससे दुनिया का बड़ा से बड़ा वैभव या सत्ता भी मुझे बौनी-सी लगती है। डरना, मांगना सीखा नहीं। इसीसे कांग्रेसियों और उनकी सरकारों की ओर से दुख देने पर भी मैंने आनंद का ही अनुभव किया है। लीडरों से भिड़ जाने में भी मैंने मजा महसूस किया है। कांग्रेस के भीतर न कभी किसी टोली से सम्बन्ध रखा, न बाहर किसी अन्य पार्टी से नाता जोड़ा और आजादी के बाद न किसी आन्दोलन में भाग लिया।

शिक्षा मेरा क्षेत्र, लेखन अंतः प्रेरणा पर—अपढ़ मूरख होते हुए भी भतृहरि उपनिषद पर बेजोड़ भाष्य कैसे लिख डाले, मैं स्वयं समझ नहीं पाता। देश की भावनात्मक एकता की दृष्टि से १९५० में सर्वभाषा कोष कैसे तैयार किया? हैदराबाद राज्य के तीनों भिन्न-भिन्न भाषाई प्रान्तों में तीन सौ से बढ़कर हिन्दी हिन्दुस्तानी की शाखायें कैसे फैला दीं, हैदराबाद शहर में महीने भर के अंदर सबसे बड़ा हाई स्कूल कैसे चालू कर पाया? अंत में निरक्षरता निर्मूलन की सरल पद्धति का कैसे आविष्कार किया?···यह सब मेरी कला नहीं भगवान की लीला है। इन्सानियत को भूले हुए लोग इन बातों की कद्र नहीं कर सकते, बर्दाश्त नहीं कर सकते। उन्हें नाम और दाम से मतलब है। मैं काम से मतलब रखता हूं। नेताशाही नौकरशाही जुल्म ढायेगी ही। बला से, ढाया करे। इन नामधारी शिक्षा विदों की तंग नजरी को मैं कैसे बर्दाश्त करूं! चालीस करोड़ अपढ कहाने वालों के दिमागों को दीमक चाटते कैसे देखूं? हमारे नन्हें-नन्हें बच्चों के कोमल पर कुशाग्र बुद्धियों पर शिक्षा के नाम पर घन से घोर प्रहार कर हर साल देश के करोड़ साल बर्बाद होते कैसे देखूं? देख रहा हूं कि कुछ कर सकूंगा या यों ही मरूंगा? अस्तु! तदास्तु!

भृत्यूपत्र या वसीयतनामा—मेरा कोई घर नहीं। मेरी और मेरी पत्नी की जो भू सम्पत्ति है उसे उन-उन ग्रामों के गरीब बालक बालिकाओं की शिक्षा-दीक्षा के लिए ट्रस्ट कर ही दी है। संस्कृत सम्बन्धी पुस्तकें 'भतृहरि स्मारक मिशन' की सम्पत्ति होगी। अन्य पुस्तकें भी किसी ऐसी ही संस्था के नाम सर्वाधिकार के साथ सौंपी जायेगी।

—वेंकटराव रायसम्

अपनी बात

श्री भर्तृहरि का मैं बहुत आभारी हूं। मेरे जीवन पर उनकी गहरी छाप है। जाने-अनजाने सभी भारतवासी उनसे प्रभावित जरूर हैं।

जब मेरी अवस्था १७ वर्ष की थी तब एक सज्जन श्री वेंकट नरसिंहम ने श्री 'भर्तृहरि सुभाषितम्' के बारे में मुझे बताया था और तब से मैं उसे पढ़ना चाहता था। कहीं उसके ग्यारह वर्ष बाद मुझे वह पुस्तक मिली, और मिली तो मेरी जीवन-संगिनी ही बन गयी। बिना भर्तृहरि का पाठ किये मैं खाना नहीं खाता था और सोता भी तो उसीका तकिया लगाकर सोता था। दो साल तक यह सिलसिला चलता रहा। देश के स्वतंत्रता-संग्राम में जो कूदा तो पुस्तक हाथ से छूट गयी। परन्तु मैं भर्तृहरि से पूरी तरह प्रभावित हो चुका था। अपने सारे राजनीतिक जीवन में उसी के आदर्श पर चलता रहा। सन १९४२ के "भारत छोड़ो" आन्दोलन में जब मैं रूपोशी में काम कर रहा था तब मुझे फिर सूझा कि 'भर्तृहरि' को साथ रखना चाहिए। पुस्तक के साथ लखनऊ में गिरफ्तार हुआ। लखनऊ से उन्नाव जेल भेज दिया गया तो भर्तृहरि भी साथ चला। जेल का प्रबन्ध कठोर था। मुझे तनहाई की सजा मिली। पर वह तनहाई मुझे खली नहीं, साथ में भर्तृहरि जो था।

उसी तनहाई में 'भर्तृहरि' पर कुछ लिखने का विचार हुआ। किन्तु किस बूते पर लिखता ? अध्ययन के लिए पुस्तकें नहीं, विचार-विनिमय के लिए संगी-साथी नहीं। फिर भी मेरे विचार विचलित न हुए। लिखने का संकल्प किया। लिखूं कैसे ? न कलम, न कागज, 'सी' क्लास का कैदी पेन्सिल भी नहीं रख सकता था। जेल के अन्दर असुविधाग्रस्त कैदियों की आराध्य देवी 'तिकड़म' होती है। मैंने भी उसी तिकड़म की शरण ली। डेढ़ इंच की एक कापिंग-पेन्सिल मिली। अपनी 'तेलुगु' शतक की बारीक पंक्तियों के बीच लिखता गया। पुस्तक समाप्त हुई और पेन्सिल घिसकर केवल आधी इंच रह गयी। उसे जुगत से सम्हाल रखा था, क्योंकि वह एक यादगार थी, पर न जाने कहां गिर गया पेन्सिल का वह तनिक-सा टुकड़ा। मेरी कोई चीज सुरक्षित रहती भी कैसे ?

अगर कोई चीज रह गयी तो उसे एक अजूबा ही मानना चाहिए। भर्तृहरि का मेरा वह मसौदा ऐसा ही है। बाईस वर्ष की 'आवारागर्दी' की 'अवधूतचर्या' में कभी नहीं जाना कि आज दिन में कहां खाऊंगा, रात में कहां सोऊंगा। देश की आजादी के बाद मेरी यह आजादी भी जाती रही।

हिन्दुस्तान में हैदराबाद का कालापानी कहानेवाला अमराबाद मेरा जन्म-स्थान। भीलों की बस्तियों के बीच बढ़ा और कुछ पढ़ा नहीं। फिर भी दक्षिण में पूर्वी घाट में पैदा होकर उत्तर में हिमालय पर पहुंचा। बीच के प्रायः सभी नेता और महात्माओं के साथ रहा, काम किया। जेलों के अन्दर मुझे आदर और आराम ही मिला है। अगर नहीं मिला तो केवल उन्नाव जेल में। परन्तु मैंने भर्तृहरि की यह टीका उसी जेल में लिखी है। इस प्रकार मेरे जीवन में जो स्थान सबसे निकृष्ट रहा वही मेरे लिए सर्व श्रेष्ठ स्थान सिद्ध हुआ है; और यही है जीवन की वास्तविक परिभाषा!

भाषा की बात आ गयी। मेरी मातृ-भाषा 'तेलुगु' है। संस्कृत का मैं ज्ञाता नहीं। टूटी-फूटी हिन्दी हिन्दुस्तान की आजादी के आन्दोलन ने मुझे सिखा दी। सन् १९३० और १९३२ के दो आन्दोलनों के बीच दो बार करके श्री काशी विद्यापीठ से 'शास्त्री' बन निकला—अर्थात् मैं बना हुआ शास्त्री। ऐसे अकिंचन से जो कुछ बन पड़ा, वही बहुत कुछ है और जो है वह सामने है। शुरू में जब मैं लिखने बैठा तब भी नहीं जानता था कि इस प्रकार की टीका लिख सकूंगा और अब भी यही सोचता हूं कि कैसे लिख गया। 'सत्य' एक अलौकिक शक्ति है। ऐसा लगता है कि सत्य का सम्बन्ध जो वाणी से है उससे बढ़कर हृदय से है, और उससे भी बढ़कर आचरण से है—आजीवन आचरण से। जब चारों ओर अन्धकार हो, सारा वातावरण विपरीत हो, सोचने-विचारने पर भी कुछ न सूझे तब भी यह लड़खड़ाते पैर सत्य की डगरी ही की ओर किस प्रकार बढ़ते हैं और कभी राह से बेराह नहीं होते, लाख सिर मारने पर भी कुछ समझ में नहीं आता। प्रस्तुत पुस्तक की भी यही स्थिति है।

भर्तृहरि की 'त्रिशती' को मैं केवल एक उपदेशात्मक ग्रन्थ नहीं मानता। इसके सर्वमान्य आधार-श्लोक—'याम् चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता' को भी मेरा मन स्वीकार नहीं करता। भर्तृहरि की यह अमर कृति संसार की इनी गिनी सर्व-श्रेष्ठ कृतियों में से है। ऐसा उच्च कोटि का साहित्य किसी क्षणिक आवेश का परिणाम नहीं हो सकता। निश्चय ही भर्तृहरि की विचारधारा जीवन भर बनती रही है। उपरोक्त घटना भर्तृहरि के लिए सांसारिक विरक्ति का तात्कालिक कारण हो सकता है और हो सकता है उसके बाद ही उन्होंने अपने

अनुभूत ज्ञान-भंडार को नीति, शृंगार तथा वैराग्य शतकों के रूप में प्रस्तुत किया हो। अस्तु। यह कोई उपदेशात्मक मुक्त-काव्य नहीं है, बल्कि समूचे समाज का 'जीवन-दर्शन' है। भर्तृहरि ने नीति, शृंगार तथा वैराग्य के रूप में सार्वभौम आदर्श—सत्यम् शिवम्, सुन्दरम्, की व्याख्या की है। यह त्रिकाल-सत्य दर्शन, सदा समाज पर ठीक-ठीक चस्पाँ होता रहेगा। संसार जब तक बना रहेगा तब तक इस सार्वभौमिक ग्रन्थ से समाज को सदा प्रकाश मिलता रहेगा। नैतिकता की जड़ों से सिंचकर यह महावृक्ष रंग-बिरंगे फूल-पत्तों से सुसज्जित हो सदाबहार बनकर बरस के बारहों मास बारावर होता रहेगा।

इस ग्रन्थ-राज के सम्बन्ध में तीनों शतकों की समाप्ति के बाद ही मैं कुछ लिखना चाहता था। "वैराग्य शतक" का प्रकाशन उसके लिखने के सोलह वर्ष बाद सम्भव हो सका। उसके दस वर्ष बाद अब 'नीति शतक' की बारी आयी है। किन्तु इस प्रकाशन के साथ कुछ-कुछ आशा बंध रही है। "शृंगार शतक" को भी इसी ढंग पर लिख सकुंगा, तो समझूंगा किकृतार्थ हुआ।

"भर्तृहरि-त्रिशति" को मैंने 'जीवन-दर्शन', 'समाज शास्त्र' कहा है। तीनों शतकों का सामाजिक जीवन से सीधा सम्बन्ध है। समाज के अभाव में नीति, शृंगार तथा वैराग्य के शब्द ही निरर्थक हो जाते हैं। वैराग्य भी समाज से अछूता नहीं है, जबकि नीति तथा शृंगार समाज के अस्तित्व के साथ अनिवार्य रूप में गुंथे हुए हैं। तो इस पूर्वात्य 'समाजशास्त्र' का उस पाश्चात्य 'समाजवाद' में अन्तर क्या है ? अन्तर उद्देश्य में नहीं, वरन् उपायों में है।

'समाजवाद' नैतिकता को पोंगापंथी अथवा पूंजीवाद का ढकोसला मात्र मानता है। उसकी मान्यता है कि समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति परिस्थितियों से बाध्य होकर स्वयंमेव नैतिकता का पालन करेगा। इसलिए उसकी दृष्टि में व्यक्ति के सम्बन्ध में सोचना व्यर्थ है। हो सकता है कि समाजवाद की पूर्ण स्थापना के बाद वैसी परिस्थिति पैदा हो। परन्तु प्रश्न यह है कि तब तक क्या हो ? समाजवाद का उत्तर स्पष्ट है। सर्वहारा-अधिनायकत्व के नाम पर व्यक्ति-विशेष या गुट-विशेष का एकाधिकार चलेगा और जनता उस गुट की गोटी मात्र बनकर रहेगी। आचार का विचार त्याग कर अत्याचार तक सब कुछ हुआ करेगा। अबाध अधिनायक और आबद्ध जनता, दोनों में स्वेच्छाचार की भावना को पानी मिलेगा और पशुबल के पनपने का खटका सबको लगा रहेगा।

इसके विपरीत पूर्वात्य समाजशास्त्र व्यक्ति पर अधिक जोर देता है और उससे बढ़कर नैतिकता पर, अर्थात् वह नीतिवान व्यक्तियों का समाज गढ़ना चाहता है। जब समाज की नींव नैतिकता पर जमी हो तब समाज में नीतिमान

व्यक्ति ही सम्मान्य होंगे। धन-संपन्न, अधिकार-सम्पन्न, तथा ज्ञान-विज्ञान-संपन्न, सबका मूल्यांकन होगा उनके नैतिक बल के आधार पर। ऐसे समाज में नीतिमान मानव कुछ न होते हुए भी वह सब-कुछ होगा। अकेले व्यक्ति का नैतिक बल सामूहिक पशुबल का सामना सरलता से कर सकेगा और सफल भी होगा।

व्यक्तित्व का इस प्रकार विकास कैसे हो, इसी की सीख भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में दी है। "दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना" के मंगलाचरण से लेकर अन्तिम श्लोक "भीमं वनं भवति तस्य पुरः प्रधानं" तक सीढ़ी-ब-सीढ़ी यही सीख है। कहीं एक कड़ी भी टूटी कि सारी शृंखला-विशृंखल हो जाये। इसीलिए यह "शत-कत्रस" काव्य नहीं कहा सकता। यह तो एक महान काव्य-प्रबन्ध है जो सारे समाज को बांधे रखता है। समाज के गुरुतर भार के लिए सदा कन्धा-बदली दरकार है। वयोवृद्धों के कन्धे जवाब देंगे। युवकगण को कन्धा देना होगा। एवं युवक-समाज को नैतिकता की सुदृढ़ भित्ति पर सुघड़ करना समाज का प्रथम कर्त्तव्य है।

बूढ़े बिगड़ें नहीं, प्रौढ़ बने रहें और युवा बनते जायें, इन तीनों श्रेणियों के लिए भारतीय साहित्य में तीन अनुपम कृतियां हैं—"उपनिषद", "भगवद्गीता" तथा 'भर्तृहरि सुभाषितम्'। यह तीनों उत्कृष्ट कृतियां हैं। गीता, उपनिषध युवकों को प्रेरणा दे नहीं सकते। उद्रेकपूर्ण युवा-हृदय में भर्तृहरि सीधे प्रवेश करता है और पुरुषार्थ की प्रेरणा दे सकता है। भारत के सभी माध्यमिक तथा उच्च शिक्षालयों के विद्यार्थियों को चाहिए कि भर्तृहरि के सभी श्लोक कण्ठस्थ और उनके मर्म को हृदयंगम कर लें। और उन पर आचरण करने का भरसक प्रयत्न करें।

मैं कोई ज्ञानी या विद्वान नहीं। मैंने जैसा जीवन जिया है और उसे जैसा समझा-बूझा है, उसे अपनी योग्यता के अनुरूप पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। मेरी यह सेवा दिशा-सूचक मात्र है। पठन-पाठन की अपनी पुरानी परिपाटी में कुछ परिवर्तन आये और भारतीय विचारधारा की गंगोत्री कभी सूखने न पाये।

श्री मोरारजी देसाई, उप-प्रधानमन्त्री भारत सरकार का मैं बहुत आभारी हूं कि उन्होंने अपनी असाधारण व्यस्तता के बावजूद मेरी हस्त-लिखित पांडुलिपि को आद्योपांत देखने का कष्ट किया और उस पर अपनी अमूल्य सम्मत्ति दी। स्वयं भेंट न कर पांडुलिपि भेजकर मैंने श्री देसाई के प्रति जितनी बड़ी धृष्टता की उन्होंने उतनी ही बड़ी उदारता मेरे प्रति दिखाई ऐसा प्रेरक प्राक्कथन लिखकर। डाक्टर मण्डन मिश्र, डायरेक्टर संस्कृत विभाग, दिल्ली ने मेरे प्रति जो आत्मीयता दर्शाई है, मैं उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। डाक्टर साहब के नाम मात्र से उन आदि शंकर तथा मण्डन मिश्र के बीच वाराणसी का वह

सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ स्मरण हो आता है जिससे भारत में अध्यात्म विद्या का पुनरुद्धार हुआ। डाक्टर साहब ने तथा श्री देसाई ने मेरे तेलुगु-भाषी होने और हिन्दी में लिखने की प्रशंसा की है। आज भारत में इस प्रकार प्रशंसा की आवश्यकता पड़ती है, इस पर मुझे क्षोभ होता है। शिक्षित भारतीय के माने अंग्रेजीदां हो, पर हिंदीदां न हो, क्या यह भारत के लिए लज्जा की बात नहीं है ? आज हमारी यह दशा है कि राष्ट्र भाषा हिन्दी में लिखने पर प्रशंसा के पुल बांधने पड़ते हैं। सबको थोड़ी-बहुत सबकी भाषा सीखनी चाहिए। भाषा-प्रेम द्योतक है उस भाषा को बोलने वालों से अगाध प्रेम सम्बन्ध का।

अंत में मैं अपनी उलटी चाल के सम्बन्ध में भी दो शब्द लिख दूं। जैसा कि मैंने अपनी प्रथम भूमिका में लिखा है, नीतिशतक के तेलुगु पद्यानुवाद का कुछ अंश मेरी मिडिल परीक्षा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित था। उसके बारह वर्ष बाद अपनी 'आवारागर्दी' में मद्रास शहर में 'शतकत्रय' हाथ लगा। वैराग्य शतक ने उस आवारागर्दी को 'अवधूत चर्या' में परिवर्तित किया और उसी कारण मैं स्वतंत्रता संग्राम में एक सफल सेनानी बना रहा और दक्षिण में कृष्णातट से आकर उत्तर में गंगा तट प्रयाग से प्रतापगढ़ में प्रवेश किया। जनता का अपार प्रेम पाया और अंग्रेज सरकार का अधिकाधिक कारावास। कारावास की तनहाई ने वैराग्यशतक की भूमिका निबाही। 'वैराग्य शतक' पर आशीर्वाद देते हुए गुरुवर डा० सम्पूर्णानन्द, तत्कालीन मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश ने 'शृंगार शतक' पर लिखने का आग्रह किया, किंतु मैं तब अपने में शृंगार पर लिखने के साहस का अभाव पाया। कारण कदाचित् मेरे सिर के बाल अभी काले ही थे। सत्तर वर्ष की आयु के बाद बूढ़ा बाबा बनने पर 'शृंगार शतक' उठाया और मन-पसंद ढंग पर लिख डाला। जवानी में वैराग्य पर और उड़ते जीवन में शृंगार पर लिखने की उलटी धारा है गंगा की मेरी जीवनी। और यही मेरी कहानी है कष्टमय जीवन में परम शान्तिमय सफल जीवन जीने की। कम से कम स्वयं मेरी दृष्टि में इस सफलता का रहस्य भी इसी में है कि बैंक से कर्ज काढ़कर 'चित्रमय शतकत्रय' का प्रकाशन कर रहा हूं।

वेंकट राव रायसम्

आदर्श की ओर अग्रसर यथार्थवादी भर्तृहरि

भारतवर्ष में कोई विद्वान नहीं जो भर्तृहरि से अनभिज्ञ हो। अपढ़ गंवार भी अनजाने भर्तृहरि का अनुकरण करते हैं। भारत ही क्या, संसार भर में कोई नहीं मिलेगा जो भर्तृहरि से इंकार करे। भर्तृहरि की भाषा यथार्थ एवम् मर्मस्पर्शी है।

शतकत्रय नीति, शृंगार, वैराग्य में भर्तृहरि ने मानव जीवन के परमलक्ष्य सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का समावेश किया है। त्रिलोक पावनी गंगा जिस प्रकार हिमशिखर से प्रवाहित होकर आर्यावर्त की पुण्य भूमि को पल्लवित कर असीम सागर में लीन हो गयी है, उसी प्रकार भर्तृहरि के शतकत्रय नैतिकता के शुद्धाहार से किशोर वर्ग का चरित्र निर्माण कर प्रौढ़ों को सौंदर्यप्रियता के राजमार्ग पर अग्रसर कर वृद्धावस्था में वैराग्य की वीरगति प्रदान करते हैं।

मान्यता है कि भर्तृहरि सहोदर विक्रमादित्य को उज्जैन का सिंहासन सौंप स्वयं क्षिप्रा तट पर तपस्या करने लगे। भर्तृहरि की विरक्ति के साथ महारानी पिंगला की गाथा जोड़ना महिला के प्रति कुश्चित मनोवृत्ति की मात्र पुनरावृत्ति मान लेना उचित है। सभ्य सुशिक्षित भी भर्तृहरि की चर्चा उठते ही 'याम् चिंतयामि सतत्म' वाला श्लोक उद्धृत करते हैं। परन्तु शतकत्रय में भर्तृहरि ने इस श्लोक को कोई स्थान दिया ही नहीं है। प्रत्युत शृंगार शतक में कहता है—"विरहेपि संगम: खलु", "किं गतेन यदि सा नजीवति" इन शब्दों से स्पष्ट है कि रानी पिंगला का चित्र भर्तृहरि के स्मृति पटल पर अनवरत आता रहा।

भर्तृहरि के संबंध में कोई ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं है। इतिहास हो या न हो, प्रत्येक महापुरुष ऐतिहासिक होता है! परन्तु इतिहास और है और इतिहासकार कुछ और। महाकवि कालिदास न होते तो विक्रमादित्य को कौन जानता और आदि कवि वाल्मीकि न होते तो राम का नाम कौन लेता? शासकों तथा धनाढ्यों के साथ-साथ विद्वानों को भी जिसने लताड़ा हो उस भर्तृहरि को कौन उजागर करता।

उज्जैन नगरी आज भी है। पर कोई बतावे तो विक्रमादित्य का दरबार

कहां पर विद्यमान था। खंडहर के किसी कोने में खड़ी शिलामूर्ति को विक्रमादित्य कोई क्यों माने। मगर क्षिप्रा तट पर अवस्थित भर्तृहरि की गुफा को सभी जानते और मानते हैं।

भर्तृहरि के जीवन की झांकी शतकत्रय में मिल सकती है। उनकी जीवनी समकालीन जन-जीवन के साथ ओत-प्रोत होकर उन ही श्लोकों में जहां-तहां निखर उठती है। उत्कट अभिलाषा रखते हुए भी हम जिसे न कर सके, उस कार्य को रूसी विद्वान् (श्री) शिरिब्रियाकोव मास्को में करने की चेष्टा कर रहे हैं। बस, इसी पर संतोष होता है कि वे शतकत्रय के श्लोकों के आधार पर भर्तृहरि का जीवन-चरित्र रचने में सचेष्ट हैं।

"चित्रमय शतकत्रय" के प्रकाशन का यदि कोई उपक्रम करे, यह एक सुन्दर कल्पना है। "भर्तृहरि स्मारक मिशन" की योजनाएं कभी साकार हों तो उसे स्थाई रूप मिल सकेगा और भूले-भटके भारतीयों को अंधेरे जगत में जगमगाती ज्योति का काम करेगा।

भर्तृहरि और शतकत्रय

शतकत्रय और उसके रचेता भर्तृहरि को माननेवाले भारत में दो भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त हैं। भर्तृहरि को दोनों वर्ग मानते हैं, पर भिन्न-भिन्न रूपों में। एक वर्ग है नाथ साम्प्रदाय, जिसके अनुयायी मछेन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गोपीचन्द के साथ भर्तृहरि का गुणगान करते हैं। भजनावलि और लोक-गीतों में उनके चमत्कारों की चर्चा करते हैं, पर भर्तृहरि के अमरकाव्य शतकत्रय का उनसे कोई संबंध नहीं। इसके विपरीत विद्वनमण्डली शतकत्रय को जानती है, परंतु भर्तृहरि के जीवनदर्शन से उसे कोई मतलब नहीं। परस्पर असम्बद्ध आर्योक्तियों के समान शतकत्रय को वे एक मुक्तकाव्य मात्र मानते हैं। विद्वान् प्रायः भर्तृहरि की वाणी की प्रखरता से अधिक प्रभावित हैं और विचारधारा से अछूते रह गए हैं। दूसरी ओर नाथपंथी भर्तृहरि की वक्तृता से दूर ही दूर हो चले हैं। वाचाल विद्वान् भर्तृहरि के शब्दों को जपते हैं तोता-मैना की तरह और नाथ मूक बनकर भर्तृहरि की मूर्ति को पूजते हैं। वे नाम को जानते हैं और ये रूप को मानते हैं। नाम-रूप के चक्कर से छुटकारा पाकर भर्तृहरि की आत्मा को पकड़ें तो भारतीयों का उद्धार हो और संसार का कल्याण।

त्रिकाल सत्य

नीति, शृंगार, वैराग्य ये त्रिकाल सत्य हैं। इनका कभी विनाश नहीं होता जो समाज के लिए सदा सर्वदा आवश्यक हैं, अनिवार्य हैं, और तीनों लोकों तक हुए हैं। नैतिकता की जड़ें नीचे पाताल में धंसी हुई हैं। मर्त्यलोक नाम के इस संसार में सभी ओर सौन्दर्य की सुरभि बिखरी पड़ी है और वैराग्य की प्रवृत्ति मानव मात्र के लिए स्वर्गारोहण का सोपान है और अमृतपान का आह्वान। कौन है जो अमृत पान के लिए उतावला न हो? कौन है जो सौंदर्य पर मुग्ध न हो? अमृतकलश मोहिनी के करतल में है। अमृत की लालसा में आकाश में उड़ो अथवा शृंगार सौन्दर्य का भरम लेकर संसार का भ्रमण करो, पर रहें पैर पाताल में जमकर। नैतिकता से डिगे कि संसार और स्वर्ग दोनों से हाथ धोओगे। यह संसार क्या है? मात्र मूर्तशृंगार है। शृंगार दो पैरों पर खड़ा है त्रिविक्रम बनकर। एक पैर है नीति और दूसरा है वैराग्य। नीति-विरुद्ध शृंगार की आराधना नहीं हो सकती। अखण्ड सौन्दर्यप्रियता के बिना वैराग्य की साधना असंभव है। शृंगार की गरिमा अपरम्पार है और भर्तृहरि ने शृंगार का द्वार सबके लिए खोल रखा है। परन्तु उस द्वार पर नीति का चोबदार खड़ा कर रखा है और वैराग्य के द्वार पर उसी नैतिकता के दंडधर नियुक्त किये हैं। परन्तु शृंगार एकदम मुक्तद्वार है। नीति वैराग्य की रक्षा होवे तो शृंगार के दर्शन हो जायें। भर्तृहरि ने नीतिशतक को मूर्ख की निंदा से आरम्भ किया है। मात्सर्य से पीड़ित पंडितों को और मदांध प्रभुओं को भी मूर्ख कहते हुए भर्तृहरि अंत में निर्णय देता है, "मूर्खस्य नास्त्यौषधम्।" मूर्ख का कोई इलाज नहीं है, उनसे बचे रहो। उसी प्रकार वैराग्य शतक में तृष्णा अर्थात् लोभ लालच को वैराग्य का शत्रु बताते हुए कहा है, "गात्राणि शिथिलायते तृष्णीका तरुणायन्ते" लोभ-लालच से पहले बचो, तभी वैराग्य की सोचो। इस प्रकार नीति, वैराग्य को तो चेतावनी दी है परन्तु शृंगार शतक को उसी भर्तृहरि ने स्त्री निंदा से नहीं प्रत्युत प्रशंसा से आरम्भ किया है। वास्तविक स्थिति यह है कि शृंगार का समादर किये बिना न नैतिकता का पालन हो सकता है, न वैराग्य को धारण किया जा सकता है। शृंगार मानो बालाजी तिरुपति के श्रीनिवास भगवान हैं, जिसके अगल-बगल नीति, वैराग्य, श्री देवी-भूदेवी बनकर खड़े हैं। नीति, शृंगार, वैराग्य त्रिमूर्ति स्वरूप हैं, अभिन्न हैं, अविभाज्य हैं। भर्तृहरि के श्लोक जैसे पठनीय हैं वैसे आचरणीय भी हैं। लोकचरण में हैं ही। जानो सदाचार के प्रतीक है सारे श्लोक।

शतकत्रय का विश्लेषण

भर्तृहरि के काल निर्णय के संबंध में घोर मतभेद है। डेढ़ ढाई हजार वर्षों से पूर्व उसका अस्तित्व किसी भी समय हो सकता है। प्रत्येक पहलू पर सबल तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अत: हमें काल-चक्र के चक्कर में न पड़कर भर्तृहरि की शिक्षा पर ध्यान देना उचित होगा। हजारों वर्ष पूर्व जब लिखने-पढ़ने की अपेक्षा श्रुति, समृति पर अर्थात् सुनने और याद रखने पर अधिक महत्त्व था, भर्तृहरि की हस्तलिखित पोथी का प्रश्न ही नहीं। गुरु शिष्य परम्परा से कंठस्थ श्लोक जो हम तक पहुंचे हैं वही तो है, ये नीति, शृंगार, वैराग्य शतक। बारहवीं शताब्दी में लिखी रामचन्द्र बुधेन्द्र की व्याख्या सबसे अधिक उत्तम मानी जाती है। बुधेन्द्र आन्ध्र के थे और दक्षिण भारत में यही व्याख्या विख्यात है। उत्तरी भारत में राम भरोसे की व्याख्या प्रचलित है जो बाद की है और वह बुधेन्द्र के टक्कर की है भी नहीं। आधुनिक व्याख्याकार डा० कोसम्बी ने भी बुधेन्द्र का अधिक सहारा लिया है। यही वह बुधेन्द्र है जिसने शतकत्रय की भिन्न-भिन्न पद्धतियों में श्लोकों को क्रमबद्ध किया है। परन्तु मुझे लगता है कि बुधेन्द्र भी शतकत्रय को समग्र रूप से समझने में असमर्थ रहा है। मुझे स्वीकार है कि विद्वत्ता जिसे कहते हैं वह मुझे छूकर भी नहीं गई है। तीन जन्म लूं तब भी मैं बुधेन्द्र की हवा भी नहीं पा सकूंगा। फिर भी १९४३ में जिला जेल उन्नाव, उत्तर प्रदेश में मैंने भर्तृहरि की व्याख्या लिखनी आरम्भ की और ऊट-पटांग जीवन के कारण १९६८ में नीति, और १९७३ में शृंगार शतक समाप्त कर सका जो अभी छपी भी नहीं अर्थाभाव के कारण।

पद्धति विवरण

रामचन्द्र बुधेन्द्र द्वारा शतकत्रय के पद्धति विभाजन की चर्चा के साथ नीति शतक की प्रथम पद्धति मूर्खवर्णन ऊपर आ चुका है। विद्वत्, शौर्य, अर्थ, दुर्जन, सुजन, परोपकार, धैर्य, देव, कर्म ये नीति शतक की अन्य नौ पद्धतियां हैं।

'नास्ति तेषां यशः काये जरामणजं भयम्',
'मूघ्न वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा',
'सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ति',
निष्कारणमेव वैरिणो जगति',
'आपत्सुच महाशैलशिलासंघातकर्कशम्',
'परगुणपरमाणून पर्वतीकृत्य नित्यं',

न अधः शिखा याति कदाचिदेव',
'वह्निनस्तस्य जलायते',

इत्यादि क्रमेण उपरोक्त पद्धतियों का सारमात्र है। इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस क्रम से पद्धतियों का विभाजन किया गया है, उसी क्रम से साधना करने पर नैतिकता का निर्माण हो सकता है। फिर प्रत्येक पद्धति में श्लोकानुक्रमण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

नीति यदि जीवनयात्रा का दिशासूचक है तो वैराग्य गंतव्य स्थान। बस हो या रेल, विमान-यात्रा, सुख-दुःखों का ध्यान न कर सीधे मंजिल का टिकट कटाया जाता है। इसीलिए यहां वैराग्य शतक का वर्णन। वैराग्य की पहली पद्धति 'तृष्णा' की चर्चा से आरम्भ होती है। विषय परित्याग, याचना परित्याग, भोगास्थैर्य, काल महिमा, यति नृप्ति, मनस्सम्बोधन, नित्यानित्य, शिवार्चन, अवधूतचर्या, ये वैराग्य शतक की शेष नौ पद्धतियां हैं :

'एको रागिषु राजते,'
'यत्सावमान परपिंडरतः,'
'तत्किम्नाम निरंकुशेन विधिना',
'प्रमादमदिरामुन्मत्त भूतं जगत्',
'मनसिच परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः',
'का वार्ता करिकलभ कर्णाग्रचपले',
'मदनान्तकांध्रियुगलम् मुक्त्वाऽस्तिः नान्या गतिः',
'चण्डालः किमयम् द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः',

इस प्रकार आशा भय से मुक्त होकर निंदा स्तुति को पार कर कर्त्तव्यारूढ़ रहना वैराग्य की पराकाष्ठा है, आरम्भ भी वही है।

अब सर्वाकर्षक, सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य अर्थात् शृंगार पर आइये। सुन्दर फूल की ओर सभी आकृष्ट होते हैं। मृदुमधुरवाणी पर सभी मुग्ध होते हैं। नीति से आराधना होती है और वैराग्य से उसकी मर्यादा बढ़ती है। 'सुन्दरम्' सत्यम् भी शृंगार की है और शिवम् भी। तभी तो भर्तृहरि कहता है :

"कुंकुमपंकक्लकित देहा—गौरपयोधरकम्पितहारा"।
"नूपूरहंसरणत्पदपद्मा—कं न वशीकुरूते भुवि रामा।"

"विश्वामित्र पराशर प्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनः
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यः प्लेवेत्त्सागरे।"

भर्तृहरि कहता है—साधु, संन्यासी का बाना छोड़ो और सीधे-सीधे मन की बात मुख से कहो—"विना मे मृगशाबाक्ष्या तमोभूतमिदम् जगत् !" वह आगे कहता है—"पुण्यं कुरूष्व यदि तेषु तवास्ति बांछा।"

अंत में, 'यौवनं वा वनम् वा' कहकर भर्तृहरि आपको बन-पर्वतों में पहुंचा देता है, पर वहां भी सौन्दर्य की आराधना ही परंधाम का राजमार्ग दीखता है, क्योंकि ऋतुवर्णन शृंगार का रूपांतर ही तो है।

शतकत्रय का सारांश

भर्तृहरि की शिक्षा का निचोड़ दो शब्दों में यही है कि संसार सुन्दर है उससे भरपूर प्रेम करो। तुम प्रेम की पैदावार हो, प्रेम की पूजा करो। अगर आप को स्वयं आपसे शत्रुता नहीं है तो पहले अपने आपसे प्रेम करो और यह तभी हो सकता है जब आप नीतिमान बनो। नीतिविहीन प्रीति क्या जाने। नीति के परिपक्व होते-होते शरीर भी परिपुष्ट होगा। तब समान नीतिमान युवा युवतियों में एक-दूसरे के प्रति प्रीति प्रस्फुटित होगी। प्रेमांकुर क्रमेण फूलेगा फलेगा। बाल बच्चों से घर भरेगा और मन भी भरेगा। पारिवारिक प्रेम को पास-पड़ोस में बखेर दो और घर तक सीमित न रहकर सारे संसार को ही घर मान लो।

धर्म निरपेक्षता

भर्तृहरि ने किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का प्रचार नहीं किया। वर्णाश्रम व्यवस्था से भी मतलब नहीं रखा। मानवधर्म ही उनका धर्म है। आजकल की भाषा में भर्तृहरि ने धर्मनिरपेक्ष समाज का प्रतिपादन किया है। यही कारण है कि भारत में सभी धर्मावलम्बी हिंदू, मुसलिम, सिख, इसाई, जैनी, बौद्ध सभी भर्तृहरि का आदर करते हैं। संसार में कोई भूखण्ड नहीं जहां उनकी मान्यता न हो। अपरिग्रह की पराकाष्ठा महाराजा भर्तृहरि कौपीनधारी बन गये। राजमहल से निकल पड़े तो कहीं आश्रम भी नहीं बनाया। दिग्वजय करते हुए विक्रमादित्य वाराणसी पहुंचे और चरणाद्रि (चुनार) पर अग्रज के लिए आश्रम बनाने की सोची तो भर्तृहरि "किं कन्दा: कन्दरेभ्य: प्रलयमुपगता" कहते हुए चल पड़े और दूर अरावली पर्वतमाला में भ्रमण करते हुए अंत में सरिस्का के निर्जनारण्य में जीव-समाधि ली।

जहां तक शतकत्रय की रचना का सम्बन्ध है, इसी निर्णय पर आना पड़ता है कि उज्जैन के राज्यकाल में कुछ फुटकर श्लोक भले ही कहे गये हों, शतकत्रय के अधिकांश भाग को शृंगार शतक को भी, दार्शनिक रूप देकर प्रबंध की रचना

भर्तृहरि ने चुनार (चरणाद्रि) में की है।

भर्तृहरि के बारे में यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वह मात्र राजा रहे या ऋषि। वह तत्कालीन समाज के प्रत्येक वर्ग में घुल-मिलकर घूमते रहे और उसका गहन अध्ययन करते रहे। समाज का वह कौन रूप है जिसका चित्रण शतकत्रय में न मिले। जहां उन्होंने "सा रम्यानगरी महान स नृपतिः" कहा, वहीं उन्होंने "दीना दीन मुखैस्सदैव शिशुकैराक्रुष्टजीर्णाम्बरा" का चित्रण भी किया। इन दोनों चित्रों के बीच न जाने कितने जीते-जागते चित्र खिंच जाते हैं शतकत्रय के शब्दचित्र में। 'चित्रमय शतकत्रय' की कल्पना किसी तरह पूरी हो रही है। देखें, पाठकगण उसे कैसे पसंद करते हैं।

भ्रम निवारण

भर्तृहरि के बारे में दो भारी भ्रम हैं। एक यह है कि वह भाग्यवादी थे और दूसरे कि नारीनिंदक थे। दोनों ही धारणाएं निराधार हैं। भर्तृहरि पूर्णयता पुरुषार्थ के समर्थक थे। भाग्यवाद के घोर विरोधी थे। "निरंकुशेन विधिना", "दुर्दैव" "जडविधे" उनके यह शब्द ही इसके अकाटय प्रमाण हैं। अब रहीं नारी की निंदा। इस भ्रम का मूल कारण है शतकत्रय को विद्वानों का मुक्त काव्य मानना। इसके विपरीत वह एक क्रमबद्ध प्रबंध है, परिपूर्ण जीवन दर्शन है। समाज के जीवन को जैसे उन्होंने देखा ठीक वैसे ही प्रस्तुत किया और साथ ही सुधार-सोपान का निर्माण किया। प्रत्येक शतक के मंगलाचरण में उनके आदर्श का यथावत् चित्रण है। शृंगारशतक के मंगलाचरण में गौरी, लक्ष्मी, सरस्वती को इतना उच्च स्थान दिया कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर को घर का चाकर बना रखा। शतक भर में कुलस्त्री की मर्यादा बढ़ाई है। नारी की भर्त्सना जहां की है उसका संदर्भ ही कुछ और है।

भर्तृहरि स्मारक

स्मारक की स्वीकृत योजनाएं अन्यत्र दी गयी हैं। स्मारक को सार्थक बनाने के लिए निम्न योजनाएं भी स्वीकृत होनी हैं:

(१) भर्तृहरि विश्वविद्यालय की स्थापना,

(२) भर्तृहरि पंचविंशति शताब्दी समारोह।

(३) प्रत्येक प्रदेश में भर्तृहरि-भवन और प्रत्येक शहर और कस्बे में भर्तृहरि मार्ग।

भर्तृहरि स्मारक मिशन
द्वारा
स्वीकृत योजनाएं

भर्तृहरि-गुफा उज्जैन

सारम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्त चक्रं च तत्,
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रविम्बाननाः ।
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः,
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथम कालाय तस्मै नमः ।।

भर्तृहरि

प्रागैतिहासिक वेद-विख्यात एवम् पुराण-प्रसिद्ध उज्जयनि ऐतिहासिक युग में भी एक सुप्रसिद्ध नगरी बनी रही। राजा प्रद्योत ने तथागत गौतम बुद्ध को यहां निमन्त्रित किया था। प्रागैतिहासिक चिन्ह तो क्या, लोक विख्यात शकपुरुष विक्रमादित्य के भी नाम के सिवा कोई निशान उज्जैन में आज उपलब्ध नहीं है। जब देवी देवताओं के भी प्राचीन मन्दिर नहीं हैं, तब विक्रमादित्य की वर्तमान उस शिला मूर्ति का कौन महत्व है। उज्जैन में प्रचीनतम अवशेष यदि कोई है, तो वह है भर्तृहरि-गुफा।

वह कोई भूगर्भ गुफा नहीं है, वास्तव में भूगत प्राचीन मन्दिर है। कदाचित् बौद्ध से भी पूर्वकालीन और भर्तृहरि की प्राचीनता का एक अकाटय् प्रमाण है। राज्य त्याग के बाद भर्तृहरि ने क्षिप्रातट पर धूनी रमाई या बने-बनाये इस पुराने मन्दिर में आसन जमाया। सम्भव है कि अपने ज्येष्ठ भ्राता भर्तृहरि के लिए चुनार में आश्रम की व्यवस्था न कर पाने पर विक्रमादित्य ने वहां पर दुर्ग का निर्माण कर भाई का पता न पाने पर शिप्रातट पर उसके नाम पर यह मन्दिर बनवाया हो। पर यह मन्दिर नहीं है। इनमें किसी विशिष्ट देवी देवता की मूर्ति नहीं। वास्तव में वह एक मन्दिरनुमा मकान है याने आवासगृह। इस दुखन्डी तिखन्डी इमारत की बाहरी दीवारें धरती में दब गयीं थीं। वर्तमान महन्त ने बाहर सफाई कर भीतरी भाग में एक डेढ़ कोठरियों से मिट्टी खोद निकाली है। मन्दिर

के भाग-प्रभागों में से होते हुए एक जीने से नीचे उतर दूसरे अत्यन्त अन्धेरे जीने से उतरकर भर्तृहरि-गुफा के दर्शन किए जाते हैं।

गुफा रूपी इस तंग चट्टानी कोठड़ी के साथ एक चमत्कार भी जुड़ा हुआ है। इस तंग कोठरी में भी अन्य इमारतों के समान छत में चट्टानी गर्डर लगा है, जो बीचों-बीच टूटकर तीन-चार इन्ची दरार के साथ दो टुकड़ों में बंट गया है। एक ओर का टुकड़ा ४-६ इन्च नीचे की ओर झुक गया है, परन्तु भर्तृहरि की बैठक के ऊपर वाला टुकड़ा, बिना झुके इमारत का भार थामे हुए है। मान्यता है कि भर्तृहरि ने बैठे ही बैठे गिरते गर्डर को थाम लिया। पत्थर पर पंजे का निशान पड़ा हुआ है और दो हजार वर्ष से दुखन्डी छत टूटे गर्डर पर ज्यों की त्यों खड़ी है।

१२-१५ वर्ष पूर्व जब मेरा वैराग्य शतक प्रकाशित हुआ, तब उसकी प्रस्तावना के लेखक वयोवृद्ध पूज्य गुण्डे राव हरकारे के कथन पर मैंने उज्जैन के दर्शन किए और पुस्तक की एक प्रति वहां के एक साधु को दे आया। अब की बार सोसाइटी की ओर से स्मारक की उपयुक्तता के विचारार्थ गुफा के दर्शन किए। बातों-बातों में मैंने अपने पिछले दर्शन और पुस्तक की बात कही, तो महन्तजी ने कहा कि वह तो मैं ही हूं और भीतर से पुस्तक लाकर दिखा दी। बारह वर्ष पूर्व जिन्हें मैं घुमक्कड़ साधु समझा था, वही यहां के वर्तमान महन्त या कर्त्ताधर्त्ता हैं। इस बीच उन्होंने मन्दिर की सफाई के साथ बिजली के प्रकाश तथा नल के पानी का प्रबन्ध ही नहीं किया, बल्कि मन्दिर से सम्बद्ध ११ बीघा तटीय ऊबड़-खाबड़ धरती को समतल कर खेती करवाई है और शिप्रापर एक पंपिंग मोटर लगवाकर सिंचाई की व्यवस्था कर रखी है। मन्दिर का खर्च उसी खेती और दर्शकों के ५, १० पैसों की भेंट से चल रहा है। मन्दिर का पुरातत्व विभाग से न कोई सरकारी संबंध है और न कोई अर्ध सरकारी अथवा गैर सरकारी अनुदान प्राप्त है। स्मारक की बात सुनकर महन्त जी बहुत प्रसन्न हुए और आतुरता से पूछने लगे कि कब बनेगा ? मन्दिर की मौजूदा अराजी के अतिरिक्त क्षिप्रा के उस पार ठीक सामने भी काफी पड़त-जमीन पड़ी है, जो आसानी से मिल सकती है।

स्मारक की रूपरेखा के सम्बन्ध में मैंने दस वर्ष पूर्व जो योजना छपवाकर रखी थी, आज भी उसमें विशेष परिवर्तन 'परिवर्धन' कीआवश्यकता प्रतीत नहीं होने के कारण उसी योजना को ज्यों का त्यों यहां दिया गया है।

१. भर्तृहरि मन्दिर

शिप्रातट पर जो एक साधारण भूगर्भ मन्दिर भतृहरि-गुफा के नाम से वर्तमान है उस मन्दिर का यथायोग्य पुनरुद्धार करके उसी के ऊपरी भूतल भाग पर

एक विस्तृत भवन बनेगा। इस भवन के तीन खंड होंगे। प्रथम खण्ड में एक विशाल सभा भवन बनेगा, जो रंगमंच का भी काम देगा। यह नाट्यगृह भरत मुनि द्वारा इंगित षष्ठकोण आकार का होगा। सभा भवन के चारों ओर की दीवारों पर भर्तृहरि शतकों का चित्रांकन होगा, जिनके नीचे श्लोकों का उद्धरण रहेगा। छत्रफलक पर भर्तृहरि के जीवन की झांकी रहेगी। द्वितीय खण्ड में पुस्तकागार होगा, जिसमें भर्तृहरि शतकों के सभी उपलब्ध ग्रन्थ, हस्तलिखित, ताम्रपत्र, भोजपत्र तथा देश विदेश की भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित ग्रन्थ सम्मिलित रहेंगे। साथ ही समस्त वेदान्त वाङ्मय का संग्रह रहेगा। तृतीय खण्ड पर गोपुर-शिखर बनेंगे। प्रांगण में महाद्वार के बराबर कार्यालय तथा प्राचीर के साथ अध्यनशाला तथा आवास-कक्ष का प्रबन्ध रहेगा। स्मरण रहे कि यह सब नैतिकता के सम्राट, सौन्दर्यता के पारदर्शी तथा वैराग्य की विभूति भर्तृहरि की स्मृति को बनाये रखने के लिए है, अतः सुन्दरता के साथ अतीव सादगी इस भर्तृहरि मन्दिर की आमूलाग्र विलक्षणता होगी।

२. भर्तृहरि वन उद्यान

मन्दिर से संलग्न तथा ठीक सामने क्षिप्रा के उस पार एक वन-उद्यान बनेगा, जिसे जंगल तथा बगीचे का एक ऐसा सुन्दर मिश्रित रूप दिया जाएगा कि फल-फूल के साथ जंगल का दृश्य भी उपस्थित करे। जगह-जगह पहाड़ी तथा भूगर्भ गुफाएं भी रहेंगी और जहां-तहां छोटे-छोटे झरने, नाले, झीलें, लता कुंज तथा पहाड़ी कुच्चड़ बने रहेंगे। उसी में कुछ वन्य जन्तु तथा पशु-पक्षी भी रखे रहेंगे।

३. गवेषणशाला

भिन्न-भिन्न भाषाओं तथा संस्कृत महाविद्यालयों से उत्तीर्ण विद्यार्थी तथा अवकाश प्राप्त विद्वान वानप्रस्थी भर्तृहरि के सिद्धान्तों पर देश-काल परिस्थितियों के अनुरूप गवेषणात्मक कार्य करेंगे, जिसकी अवधि तीन वर्ष तक होगी। इसमें उन जिज्ञासुओं को प्रवेश मिलेगा जो आजीवन देश-विदेश में व्यावहारिक वेदान्त का प्रचारात्मक कार्य करने का व्रत लेंगे। इन कर्मचारियों के भरण-पोषण के लिए स्मारक-निधि उत्तरदायी रहेगी।

४. सर्वभाषा विद्यालय

इसमें सभी क्षेत्रीय भाषाओं को सीखने सिखाने का प्रबन्ध रहेगा। सभी प्रदेशों से, विदेशों से भी ऐसे बालकों को लिया जाएगा, जो अनेक भाषाओं के

जानकार बनने योग्य हों, कम से कम पांच भाषाओं में प्रवीण बन सकें। विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के लिए पठन-पाठन के साथ संस्था तथा निज सम्बन्धी कार्य अपने हाथों से करना अनिवार्य रहेगा।

५. प्रकाशन माला

इसके अन्तर्गत विशेषतया दो प्रकार की सामग्री प्रकाशित होगी। भर्तृहरि तथा वेदान्त-सम्बन्धी गवेषणात्मक वाङ्मय के साथ भर्तृहरि से सम्बन्धित लोकगाथाओं, गीतों तथा भजनों का संग्रह भी होगा।

वेंकट राव रायसम्
महामंत्री
भर्तृहरि स्मारक मिशन

भर्तृहरि-स्मारक चरणाद्रि [चुनार]

कदा वाराणास्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निधनोंअंजलिपुटम् ।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेति क्रोशन्निमिषाभाव नेष्यामि दिवसान् ।

विशेषतया शिव-आदर्श होने के नाते भर्तृहरि महाराज के हृदय में काशीवास की उत्सुकता का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। अतः वे उज्जयनी के शिप्रा तट से वाराणसी के गंगातट पर पहुंचे। पर लगता है कि वैराग्य की विभूति भर्तृहरि एक ओर काशी नगरी के कोलाहल से बचना चाहते थे, तो दूसरी ओर उन्हें मूर्धजा सुरसरिता सान्निध्य का ध्यान भी था। सुतराम गंगा मैया के करकमलों में ललकते उन्होंने अनति दूर स्थित चरणाद्रि का शरण लिया, जिसे अब चुनार कहते हैं। गंगामाई यहां विन्ध्याचल के इस एकैक सुन्दर टीले को सुहलाती निकल जाती है और विन्ध्याचल भी साथ-साथ आगे बढ़ जाता है। शतकत्रय के प्रणेता गिरि-गंगा के इस सुन्दर संगम पर मुग्ध हो गए। जानो यहां भर्तृहरि को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का साक्षात्कार हुआ, जहां शिवधाम काशी सन्मुख ही है और सुरसरिता सत्य की खोज में अनन्त सागर की ओर बढ़ी जा रही है। सम्भवतया भर्तृहरि ने शतकत्रय की पूर्ति चुनार में ही की है, जो चरणाद्रि का अपभ्रंश मात्र है। चुनार की रचना के क्या कहने, प्रकृति ने चट्टान पर चट्टान चुनकर अगाध जल पर किला तैयार किया है, जिसके दायें-बायें सुरसरी स्वयं सागर का दृश्य प्रस्तुत करती है।

भर्तृहरि की मूलनगरी उज्जयनी कश्मीर-कन्याकुमारी के नाभि-स्थल पर विद्यमान है, तो चुनार आर्यावर्त में अटक-कटक के कटिप्रदेश पर वर्तमान है। अंग्रेजों के आने तक आर्यावर्त अनेकों आक्रमणों तथा प्रत्याक्रमणों का रंगस्थल बना रहा। पूरब की ओर बढ़ें या पश्चिम की ओर चढ़ें, सभी के लिए चुनार पर चुनकर आधिपत्य जमाना अनिवार्य होता था। आधुनिक युग से यदि चलें तो सन्

१६६५ व १७७० के बीच चुनार अंग्रेज़ों के हाथ में दो-दो बार आया और गया। इसी तरह १७५०-६५ के बीच अवध के नवाबों के पास आता-जाता रहा। सोलहवीं शताब्दी में पठान शेरशाह चुनार को दो बार जीता और हारा, तो मुगल बादशाह बाबर, हुमायूं का भी यही हाल रहा। बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में पृथ्वीराज के अधीन रहा, तो अन्त में मोहम्मद गौरी के कब्जे में। यह भी एक चमत्कार ही है कि अंग्रेजी हकूमत के अन्तिम चरण में चुनार स्वतन्त्रता संग्राम के सत्याग्रही सैनिकों का कैम्प-जेल बना हुआ था। जो अब सत्ता संभले हैं।

सर्व प्रथम ईसा मसीह से छप्पन वर्ष पूर्व सम्राट विक्रमादित्य ने चुनार दुर्ग का निर्माण करवाया था, जहां उनके ज्येष्ठ भ्राता भर्तृहरि बारह वर्ष पूर्व धूनी रमाये बैठे थे। वे सम्भवतया भ्राता भर्तृहरि के लिए आश्रम की व्यवस्था करना चाहते थे तो भर्तृहरि ने उस स्थान का ही परित्याग किया। सो ऋष्याश्रम की जगह राजा का त्रिखंडी दुर्ग खड़ा हो गया। फिर भी भर्तृहरि के साधना स्थल को सुरक्षित रखा गया, जो आज तक अवस्थित है। इसके विपरीत इन सवा दो हजार वर्षों की अवधि में चूनारगढ़ में कितने ही राजसिंहासन डोल गये और कितनी ही सिरिसम्पदा यहां भरी और लुटी। परन्तु भर्तृहरि का भरम भारी का भारी ही रहा। जिस औरंगजेब ने काशीजी में विश्वनाथ मन्दिर पर मस्जिद की ऊंची-ऊंची मीनारें खड़ी कर दीं, वही औरंगजेब लिखता है कि भर्तृहरि की गुफा से भौंरों की भीड़ उठी और शायद शाही भिडुओं को भागते ही बना था। जो भी हो, औरंगजेब प्रभावित हुआ और जोखन पुजारी के नाम सनद जारी कर दी कि शाही खजाने से एक सिक्का चाँदी का रोजाना भर्तृहरि की पूजा और पुजारी के गुजर-बसर के लिए पहुंचाया जाया करे। वर्तमान पुजारी के यहां दो-चार और भी अस्नाद रखे हुए हैं। न उन राजा-महाराजाओं का कोई नाभ बाकी है और न उन शाह-शहनशाहों का निशान, पर भर्तृहरि की पूजा बराबर चली आ रही है। भारतवर्ष में सत्ता सन्तों की है, सम्राटों की नहीं।

भर्तृहरि का स्मारक गढ़-चुनार में किस प्रकार का बने ? समाधान सरल है। गहरी गंगा तट पर सुविशाल दुर्ग की तीन-खण्डी इमारत। ऊपरी खण्ड की पक्की इमारतें सुव्यवस्थित हैं। बीचोला खण्ड भी उपयोगी बन सकता है। निचले खण्ड के दरवाजों के निशान गंगा में खुलते हैं, जो निशान ही बने रह सकते हैं। गढ़ पर बनी बनाई इमारतें भर्तृहरि-संस्कृत महाविद्यालय तथा छात्रावास के योग्य हैं। बहुभाषी भारत के योग्य एक संलग्न सर्वभाषा विद्यालय भी चल सकता है। आवश्यक नई इमारतों के लिए जगह की कमी नहीं है। स्वस्थ जलवायु के लिए चुनार मशहूर है। बौद्धिक शिक्षा के साथ शारीरिक सुगठन की सुविधाएं

प्राप्त हैं। गंगाजी में तैराकी का अभ्यास करें। चुनार-बनारस के बीच नौका-दौड़ की बाजी लगावें तो केरल का समाँ बने। दुर्ग में कमन्दें डालें तो पर्वतारोहण की तैयारी हो जाय। किले की दीवारों पर घुड़दौड़ और साइकिल, मोटर साइकिल की करतबें करें। चुनार में पत्थर, मिट्टी के शिल्प से सैकड़ों हजारों की रोजी चलती है और लाखों में व्यापार चलता है। भर्तृहरि का यह महाविद्यालय बहुभाषी भारतीय युवक को नवयुग-अग्रगामी के रूप में ढाल सकता है। इस महान कार्य के लिए उत्तर प्रदेश सरकार किले को सहर्ष सौंप देगी और अपनी प्रादेशिक सैनिक टोली के लिए कोई नई छावनी बना लेगी।

चरणाद्रि के सुरसरि जल-आर्द्र भाग की ओर जहां-तहां चट्टानी सिलों को काट हटाकर सुन्दर गह्वर बनाये जा सकते हैं। जहां एक प्रकार का रास्ता निकाल कर बिजली ले जाई जा सकती है और वहां भर्तृहरि मिशन के ऐसे जीवनदानी सदस्य ध्यान-मनन में मग्न रह सकते हैं, जो भारत और बाहर भी भारतीय आदर्श का प्रचार करेंगे।

अन्त में वाराणसी-चरणाद्रि के बीच गंगाजी के तटवर्ती करारों को भिन्न-भिन्न प्रकार के तरुवर रोपकर अभूतपूर्व अरण्य में परिणत किया जा सकता है। नार-खोर पर जहां तहां लक्कड़, ईंट के कच्चे पक्के छोटे-मोटे पुल बना दिये जाएं तो मन बुझे मानव को प्रकृति के रोमांचकारी अनुभव के आस्वादन का अवसर प्राप्त हो। बीच-बीच में कुंज-कुटीर खड़े कर दिये जायें तो अनूठा आराम मिले। फिर वाराणसी से चरणाद्रि तक आग-बोट की सेवाएं प्रस्तुत की जएं तो पास, दूर के अशान्त मन प्रफुल्लित हो जायें और कदाचित् कन्या कुमारी पर विवेकानन्द-चट्टान तक बार-बार आने-जाने वाले यात्रियों को उन समुद्री तरंगों से इस गंगा की लहरें कहीं अधिक लुभावें। अंत में 'शब्द-प्रकाश' प्रबध से चुनार का चरित्र-प्रदर्शन हो सकता है।

वेंकटराव रायसम्

महर्षि भर्तृहरि की अखण्ड ज्योति सरिस्का (अलवर)

किं कन्दा कंदरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः ?
(भर्तृ०)

हजारों लाखों नहीं, करोड़ों अहोरात्र हो रहे हैं आज भारतवर्ष में ऋषिराज भर्तृहरि की अखण्ड ज्योति को अविरल प्रज्वलित रहते हुए। न जाने कितने साम्राज्य स्थापित हुए और समाप्त हो गए, कितने सम्राट उठे और मिटे, कितने सम्प्रदाय चले और अचल रह गए, कितनी सामाजिक व्यवस्थाएं बनीं और बनी न रह सकीं, और यह सब हुआ संरक्षण के सारे साज-सामान के बावजूद। परन्तु महाराज भर्तृहरि की बात एकदम जुदी है। उस परम द्रष्टा की स्मृति को अक्षुण्ण बनाए रखने में कभी कोई राजकीय संरक्षण नहीं रहा। धनाढ्यों के धर्मादाय की थैली से भर्तृहरि की झोली कभी नहीं भरी। इने-गिने विद्वानों के अतिरिक्त सभ्य कहाने वाले शिक्षित समाज भी उस लोकोत्तर पुरुष की ओर अव्यभिचारिक रूप से आकृष्ट नहीं हुआ। फिर भी जाज्वल्यमान है अहोरात्र भर्तृहरि की वह अखण्ड ज्योति।

शहरी सभ्यता से बहुत दूर, गांव कस्बों से भी अलग-थलग, अलवर शहर से अड़तालीस किलोमीटर आगे, अरावली पर्वत मालाओं में बीहड़ वनों को चीरते हुए एक घुड़नाल आकार में पर्वतीय प्राचीर के बीच एकाएक छोटा-सा बारहमासी झरना झरझर करते हुए भर्तृहरि की समाधि के नीचे लुप्त हो जाता है और मानो वही जलधारा घृतधारा बनकर समाधि पर अखण्ड ज्योति को प्रज्वलित रखती है। वह कोई मशाल-सी बड़ी ज्योति नहीं है, बारीक बत्ती की टिमटिमाती दिया मात्र है। भर्तृहरि का प्रताप ही मानना होगा कि डेढ़ फुट ऊंची समाधि पर एक फुट की ताकची में आध इंच की वह लौ जंगल के झंझावात का उस खुले

मैदान में मोर्चा लिये हुए है। झरने का जल कहीं निकल जाता होगा आगे चल कर। पर ज्योति में घी की अटूट धारा चलती रहती है। उसी पहाड़ी के चारों ओर गांव नहीं, बल्कि कुछ बस्तियां हैं दस-दस, पांच-पांच झोंपड़ियों की। पशु पालन उनका प्रधान धन्धा है। घर-घर से पाव-पाव भर घी भेंट करने की मर्यादा चली आ रही है। आजकल भी शेरों का धाम माना जाता है और जहां सरकारी सांक्चुयेरी भी स्थापित है सिरिस्का के नाम पर। उस प्राचीन काल में सिरिस्का प्रान्त में शेर वैसे ही विचरते रहे होंगे जैसे आजकल बस्तियों में बकरे विचरा करते हैं। परन्तु उन बनैली बस्ती-निवासियों को भर्तृहरि पर पक्का भरोसा है, जो मानते हैं कि जो आसामी ज्योति के लिए घी नहीं पहुंचाते उसी की गाय भैंस को शेर मारता है या बीमार डाल देता है और वह पाव भर की जगह डेढ़ दो पाव की मनौती करता है और बीमार भैंसे को चंगा कर लेता है। बड़ी मनौती हुई तो पांच-दस मूर्तियों के लिए पूड़ी-कचौड़ी का भंडारा करता है मेले के अवसर पर।

भर्तृहरि की समाधि पर साल में दो बार मेला लगता है मात्र दो-दो दिन का। बड़ा मेला भादों में तो छोटा बैसाख में। दोनों ही मेले उतरती चन्द्रमा की अष्टमी को पड़ते हैं। बैसाखी के छोटे मेले में दो तीन हजार यात्री पहुंचते हैं और भादों के भारी मेले में चालीस-पचास हजार की भीड़ हो जाती है। उस पहाड़ी घेरे में जहां भर्तृहरि की समाधि है, कुल मिलाकर आध-एक फर्लांग से अधिक मैदान नहीं है। मेले के अवसर पर कैसा भीड़-भड़क्का होता होगा? और फिर सावन भादों तो घोर वर्षा के दिन होते हैं। रात भर सोते कैसे होंगे और कहां? देश में प्राय: सबका अनुभव है कि जन्माष्टमी की रात काली घटा घेरती जरूर है और बरसता भी है। परन्तु भर्तृहरि पर भादों को भी मेले के तीनों दिन वर्षा कभी नहीं होती और मेले के खाली होते ही वह जोर की वर्षा होगी कि सारा मल-मैला धुल-धुलाकर मैदान साफ हो जाएगा। वर्षा की विचित्रता के साथ काले-काले भौरों की करामात की कहानी भी सुनी जाती है। भर्तृहरि का स्थान किसी प्रकार के दुराचार को बर्दाश्त नहीं करता और पहाड़ी भौंरे भ्रष्टाचार करने वालों की गत बना देते हैं। यह मानवेतर कार्रवाई निराधार ही क्यों न हो, पर समाधि के पुजारी भी तो वर्तमान युग में लोकोत्तर पुरुष ही लगते हैं।

भर्तृहरि का यह स्थान पंडा-पुजारी के पाखंड से एकदम मुक्त है। पवित्रता की जो झांकी यहां मिलती है, शायद ही उसकी झलक भारतवर्ष के किसी अन्य तीर्थ स्थान पर प्राप्त हो। समाधि पर एक सीधा-सादा पुजारी साधारण गांव की पोशाक में बैठा रहता है। एकदम अनपढ़, न कोई श्लोक जाने, न पद्य। भभूत

की पुड़िया के साथ प्रसाद के रूप में सभी के हाथ कुछ बताशे, बरफी, पेड़ा थमा देता है। जो भक्तगण प्रसाद लाते हैं, वहीं बांट-बटाकर दिन ही दिन लौट जाते हैं। पुजारी भी पूरे गृहस्थी हैं। चलते-चलाते पुजारियों के पांच परिवार बन गए हैं। प्रत्येक मास एक परिवार की पारी पड़ती है। परिवार का एक व्यक्ति पुजारी बनकर महीना भर रात-दिन समाधि पर ही रहता है। प्रत्येक सोमवार को घर भर के लोग आते हैं और दिन ढलते घर लौट जाते हैं। इस प्रकार पारी के दिन पुजारी परिवार से अलग रहता है। पूरे घण्टे भर की बात-चीत में पुजारी महाराज में बनावटीपन का नाम नहीं पाया गया। दर्शकों के चढ़ावे से माहवारी आय तथा मेले की आय का पूछने पर चार-पांच हजार का अन्दाज लगा। कुछ अधिक भी हो तो पांच परिवारों के तीस-चालीस प्राणियों के लिए बहुत नहीं है। हां तो, उन जंगली बस्तियो में हाल में ही एक सरकारी विद्यालय खुल गया है। लड़के पढ़कर अगली पढ़ाई के लिए शहर की ओर जा रहे हैं। ये शिक्षित युवक आगे न पुजारी बनेंगे और न उस आय से उनका गुजारा होगा। ठीक है, बड़े-बूढ़े पूजा भी करेंगे और एकांत सेवन भी। घर-गृहस्थी से एकदम छुट्टी पायेंगे और भर्तृहरि के पक्के चेले बनेंगे। पुजारी के अतिरिक्त कुछ एक साधु-सन्त भी डेरा जमाये रहते हैं। एक महात्मा धर्मशाला बनवाने में लगे हैं।

धर्मशालाओं के नाम पर उस पहाड़ी घेरे में कोई बीस-पच्चीस पक्के, पर छोटे-छोटे कुटीर बने हुए हैं। एक आध कुछ बड़ा भी है। साल भर सब खाली रहते हैं। मेलों में साधुओं से भर जाते हैं और बनवाया भी है प्रायः साधुओं ने ही। अलबत्ता समाधि के सामने छोटे से हौज के बीच संगमरमर की चार देव-मूर्तियों के बीच अच्छे खासे महादेव शंकर की स्थापना भूतपूर्व महाराजा अलवर ने करवा रखी है और समाधि को पक्का कर दिया है।

समाधिस्थल की यह सारी जगह किसी के नाम पट्टा-खाता आदि नहीं है। एकदम सार्वजनिक है। मेले के अवसर पर पुलिस भीड़-भाड़ की देखभाल करती है और पंचायत समिति जैनरेटर लगाकर बिजली का प्रबंध करती है और खर्च की पूर्ति मेले में दुकानों से एक-एक रुपया वसूल करके होती है।

स्मारक बनाने हम शहरी चले :

डॉ० सरोजिनी महिषी के नेतृत्व में गत ७ जनवरी, १९७३ को एक संघ स्थापित होकर "भर्तृहरि स्मारक मिशन" का हमारा प्रतिनिधिमंडल दिल्ली से चला और अलवर होते हुए सरिस्का से गुजरते हुए भर्तृहरि समाधि के ऐसे पवित्र, प्रशान्त एवं एकान्त स्थान पर पहुंचा निरीक्षणार्थ और सोसाइटी को अपनी

रिपोर्ट पेश करे कि भर्तृहरि के नाम पर वहां किस प्रकार का स्मारक खड़ा किया जाए। सच तो यह है कि उक्त परमपावन स्थान पर पग धरते ही हम अपनी सारी शहरी हैकड़ी भूल गए। दिल दहल गया कि सोसाइटी का भावी स्मारक कहीं उस प्रशान्त वातावरण को दूषित न करे। झाड़ू-बुहारू के सिवा कुछ अधिक करना कहीं अनधिकार चेष्टा न हो जाए।

महाराज भर्तृहरि समाधि की पवित्रता का अनुमान उससे भी आगे विकट पहाड़ी घाटियों में स्थित पाण्डव पोल के हनुमान मन्दिर की स्थिति से तुलना की जाय तो ठीक-ठीक समझ में आ सकेगा, जो वास्तव में अन्य तीर्थ स्थानों की भांति ही एक है। एकदम जंगल में है, पर कितना बड़ा मन्दिर है और महन्त जी के आसन पर लोग सर्व कला का प्रसाद पाते हैं और बढ़िया भेंट भी चढ़ाते हैं।

अतः यह विनम्र निवेदन

१. सरिस्का की पक्की सड़क जो समाधि पर समाप्त हो जाती है उसे परिक्रमा-मार्ग के रूप में समाधि के शेष दोनों ओर से लाते हुए प्रवेश के महाद्वार पर मिला दिया जाए। भक्तों की परिक्रमा के साथ मोटर गाड़ियों को भी घूम आने में सुविधा होगी। सड़कों के दोनों ओर युकालिपटस पेड़ों की कतार लगाई जाये तो शोभायमान लगेगा।

२. इसी प्रकार धर्मशालाओं के रूप में अर्ध चन्द्राकार में जो कुटीर बनी है, उनके सामने से एक सड़क निकाली जाये। समाधि के बायीं ओर जगह संकरी जरूर है, फिर भी सड़क निकल सकती है। इस सड़क पर भिन्न-भिन्न प्रकार के फल वृक्ष रोपना ठीक होगा कि क्षेत्रवासियों को प्रत्येक ऋतु में कोई न कोई फल खाने को मिले। फल चखने के लिए लंगूरवाहिनी भी विद्यमान है। इस अर्ध चंद्राकार कुटीर दीर्घा में खाली जगह भी पड़ी है। यथा समय वह भी भर जाएगी।

३. समाधि और प्रवेश द्वार के बीच कोई डेढ़ दो हजार वर्ग गज गोल मैदान है। उसे समतल कर हरी घास की लान बना दी जाए, जहाँ यात्री उठ-बैठ सकेंगे और भजन-कीर्तन कर सकेंगे। इन लानों के इर्द-गिर्द भिन्न-भिन्न फूल पौधे रोपे जायें।

४. समाधि के पिछले भाग में झरने की दिशा वाले स्थान को समतल किया जा सकता है, जहां मेले के अवसर पर भण्डारे तथा भोजन आदि की व्यवस्था होगी।

५. झरने के ऊपरी भाग से एक नलका लगाने या नाली निकालने से नये पेड़ पौधों और लान को सींचने में सुविधा होगी।

६. समाधि के पर्वतीय प्राचीर में मुमुक्षु सिद्ध साधकों के लिए जहां-तहां तपोयोग्य प्रशस्त गुफाएं बना दी जायें ।

७. एक छोटा संस्कृत विद्यालय स्थापित किया जाये, जहां कम से कम पुजारियों के बच्चे और नाथ साम्प्रदाय के युवक साधु भर्तृहरि के उपदेशों से भली-भांति परिचित हो सकें और सुयोग्य प्रचारक बन सकें ।

८. महाद्वार के दायें-बायें दो पक्के तालाब बनाये जायें जिनमें झरने का जल भरकर बह जाए ।

९. मेलों में भर्तृहरि जीवन-चरित्र तथा उनके शतकों पर प्रवचन का प्रबन्ध हो :

१०. समाधि के पीछे की ओर १०-१५ फीट की ऊंचाई पर पहाड़ी घाटी के बीच एक टीला-सा खड़ा है जो लगभग एक फर्लांग लम्बा और आधा तिहाई फर्लांग चौड़ा समतल भूखण्ड है। दोनों ओर बाजुओं पर पत्थर जमाये गए हैं। लगता है यह कभी प्रशस्त सभा-स्थान था जहां हजारों भक्तगण ज्ञानी महात्माओं के प्रवचन सुनने बैठे रहते थे। इस सारे मैदान में जयपुरी चट्टानें बिछाकर दो-तीन कतारों में द्राक्षलता को छप्पर के रूप में फैला दिया जाये तो शाश्वत सभा-मंडप बन जाय ।

११. भर्तृहरि झरने से भी अधिक विचित्र जलाशय एक साधारण कुण्ड के रूप में वर्तमान है जो प्लेट-फार्म से और आगे कुछ और ऊंचाई पर है। तीन-चार गज की डोरी से पानी खींचा जा सकता है। कहते हैं कुंआ नब्बे गज गहरा है और मेले के अवसर पर आयल इंजन से दिन-रात लगातार पानी खींचने पर भी पर्याप्त पानी बना रहता है। समाधि से दो मील दूर सड़क पर बिजली की तार जा ही रही है। यदि राजस्थान की सरकार उस कुंए तक बिजली को खींच ले जाये और कुंए पर एक पांच हार्स पावर की मोटर लगवा दे तो समाधि के पार्क पेड़ पौधों की सिंचाई के साथ-साथ प्रवेश द्वार के दोनों ओर बनने वाले तालाबों में सदा स्वच्छ जल बहता रहे और नीचे सौ-पचास एकड़ में खेती भी हुआ करे।

वेंकट राव रायसम
मंत्री भ० स्मा० मिशन

हिमगिरि-स्मारक

श्लोक

गंगातीरे हिमगिरिशिला बद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रांगतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वांगमंगे मदीये ।।

हिमगिरि एवम् सुरसरि भर्तृहरि की अतीव प्रिय रहे हैं। पता नहीं, हिमालय पर कौन स्थान उन्हें अधिक प्रिय रहा और यह उनकी मनोकामना कभी पूर्ण हुई भी।

हिमालय में किसी उचित स्थान पर भर्तृहरि की संगमरमर मूर्ति की स्थापना संस्था का उद्देश्य रहे और वह मूर्ति उनके इस श्लोक को यथावत् प्रस्तुत करे।

स्थान की खोज और मूर्ति की तैयारी में समय लग सकता है, पर यह उद्देश्य सदा समिति के सम्मुख रहे। समिति सावधान रहे कि जहां-जहां अब तक भर्तृहरि की पूजा जिस सीधे-सादे रूप में चली आ रही है उसमें बाधा न पड़े और नये स्थानों पर भी इसका विशेष ध्यान रखा जाय।

वेंकटराव रायसम्
मन्त्री
भ० स्मारक मिशन

श्री

भर्तृहरि नीति शतक

(अकारादि क्रम से श्लोक सूची)

श्लोक	पृष्ट
अकरुणत्वम्	१२०
अज्ञः सुख-माराध्य	७
अम्भोजिनी	४०
अयममृत	२४०
आज्ञा कीर्तिः	११४
आरम्भ गुर्वी	१४१
इतः स्वपति	१९४
उद्भासित	१३८
एते सत्पुरुषाः	१८३
ऐश्वर्यस्य	२३२
कदर्थितस्य	२२२
करे श्लाघ्या	१५१
कान्ता कटाक्ष	२१९
कुसुमस्तबक	७४
केयूराणि	४३
कृमिकुल	२१
क्वचित् पृथ्वी	२१२
क्षान्तिश्चेत्	५०
क्षीरेणात्मनि	१९०
क्षुत्क्षामोऽपि	६३
खल्वाटो	२४२
गज भुजंग	२४५
गुणदवगुण	२६८
छिन्नोऽपि	२३०
जयन्ति	६१
जाड्यम् धियो	५७
जाड्यम् ह्रीमति	१२५
जातः कूर्मः	१९६
जातिर्यातु	८९
तृष्णाम् छिन्दि	१९९
दाक्षिण्यम्	५४
दानं भोगे	९७
दिक्कालाद्य	१
दुर्जनः	१२२
दैवैन	२५५
दौर्मन्त्र्या	९५
न कश्चित्	१३३
नमस्यामो	२५८
नम्रत्वे	१७२
निन्दन्तु	२१५
नेता यस्य	२३५
नैवाकृतिः	२७३
पद्माकरं	१८१
परिगत	३७
परिक्षीणः	१०५
परिवर्तिनि	७२

श्लोक	पृष्ट
पापान्निवारयति	१८८
प्रदानं	१०३
प्रसह्य	९
प्राणाघात	१५४
प्रारभ्यते	२०८
प्रिय सख	२५१
प्रिया न्याय्या	१५९
बोद्धारो	३
ब्रह्मा येन	२६०
भग्नाशस्य	२३८
भवन्ति	१७६
भीमं वनं	२८०
मणिश्शाणो	१०१
मज्जत्वम्भसि	२७५
मनसि वचसि	२०२
मृग मीन	१४४
मौनान्मूकः	१३६
यः प्रीणयेत्	१६८
यदचेतनोऽपि	८४
यदा किंचित्	१८
यद्धात्रा	११७
यस्थास्ति	६३
या साधूंश्च	२६२
रत्नैर्महाब्धे	२०६
राजन् दुधुक्षसि	१०८
लभेत सिकतासु	११
लांगूल चालनं	६९
लोभश्चेत्	१२८
वने रणे	२७८
वरं तुङ्गात्	२२४
वरं प्राणो	८२
वहति भुवन	८०
वह्निस्तस्य	२२७
वाञ्छा सज्जन	१४६
विद्या नाम	४६
विपदि धैर्यं	१४९
विरम विरम	२५३
व्यालं बाल	१४
शक्यो वारयितुं	२६
शशी दिवस	१३१
शास्त्रोपस्कृत	२९
शिरः शार्वं	२३
शुभ्रं सद्म	२६५
श्रोतं श्रुते	१७९
संपत्सु	१५७
सत्यानृता च	१११
सन्तन्येऽपि	७७
संतप्तायसि	१६५
सिंहः शिशुरपि	८६
सृजति तावत्	२४६
स्थाल्या वैडूर्य	२७०
स्वल्पस्नायु	६६
स्वायत्त	१६
हर्तुर्याति	३३

श्री

भर्तृहरि शृंगार शतक

(अकारादि क्रम से श्लोक सूची)

श्लोक	पृष्ट
अच्छाच्छ चंदन	२२२
आदर्शने	५६
अपसर सखे	१४१
अर्धं सुप्त्वा	२३२
असाराः सन्त्येते	९३
असूची संचारे	२३०
आमीलित	६६
आवर्तः	१२२
आवासः किलि	२१७
आवासः क्रियताम्	१०३
आसारेण	२३१
इतो विद्युत्	२३१
इदमनुचितम्	६८
इमे तारुण्य	४९
इयं बाला	१६९
इह हि	१५७
उद्वृत्तः	४०
उन्मत्त	१९७
उन्मीलित	१३३
उपरि घनं	२२८
उरसि	६४
एताश्चलत्	२४
कश्चुम्बति	१४६
कान्तेत्युत्पल	११३
कामिनीकाय	१५४
किं कंदर्प	१७१
किं गतेन	१७६
किमिह	१०५
कुँकुमपंक	२७
कृशः काणः	२०४
केशः संयमिनः	३३
केशानाकुलयन्	२३८
क्वचित्सभ्रू	१२
गुरुणा	४७
चुम्बन्तो	२३७
जल्पन्ति	१३६
जात्यंधाय	१४८
तरुणीवैषा	२२६
तस्यास्तनौ	४२
तावदेव कृति नामपि	१८६
तावदेवाममृत	११७
तावन्महत्वं	२००
दिशवन	९०
द्रष्टव्येषु	२१
धन्यास्तएव	१६४
न गम्यो	१५२
नामृतं	११९
नूनं हि	२८

श्लोक	पृष्ठ
नूनमाज्ञा	३१
नासत्येन	१२५
परिमलभृतो	२१४
पान्थ स्त्री	२१८
प्रणय मधुरा	५१
प्रथित:	२१९
प्राङ्मामेति	६०
प्रोद्यत्प्रौढ	२३५
बाले लीला	१६७
भ्रू चातुर्यात्	९
मत्तेभकुम्भ	१९२
मधु तिष्ठति	१६१
मधुरयं	११६
मात्सर्य	९६
मालती शिरसि	५८
मुखेन चन्द्र	४५
मुग्धे धनुष्कता	३५
यदासीदज्ञानं	१८३
यदेतत्पूर्णेन्दु	१३१
रागस्यागार	७९
राजन् तृष्णा	७२
रे कंदर्प	१७१
लीलावतीनाम्	१२८
वक्त्रं चन्द्र	१५
वचसि भवति	१८८
वियदुपचित्	२२७
विरमत	१७८
विरहेऽपि	१७४
विश्रम्य विश्रम्य	५४
विश्वामित्र	२१०
विस्तारितं	१३८
वेश्याऽसौ	१५०
व्यादीर्घेण	१४३
शम्भुस्वयम्भु	१
शास्त्रज्ञोऽपि	२०२
शृंगारद्रुम	७५
संसार तव	८८
संसारेऽस्मिन्	८२
संसारे स्वप्नसारे	९८
सदा योगा	१८१
सति प्रदीपे	३७
सत्यं जना	१०८
सन्मार्गे तावत्	१९५
सहकार कुसुम	२२१
सिद्धाध्यासित	८५
सुधा शुभ्रं	२२४
स्त्रीमुद्रां	२०६
स्मितं किंचित्	१७
स्मितेन भावेन	६
स्मृता भवति	११६
स्रजो हृद्या	२२३
स्वपरप्रतारको	१९०
हेमन्ते दधि	२३४

श्री

भर्तृहरि वैराग्य शतक

(अकारादि क्रम से श्लोक सूची)

श्लोक	**पृष्ठ**	**श्लोक**	**पृष्ठ**
अग्रेगीत	१९७	क्षणं बालो	१५१
अजानन्	५०	क्षान्तं	१५
अभिमत	६५	खलोल्लापाः	१०
अभुक्ताया	१७२	गंगा तरंग	७१
अमीषां प्राणानाम्	१३	गंगातीरे	२८१
अर्थनामीषसे	१५४	गात्रंसंकुचितं	२१५
अवश्यं यातारः	३३	चण्डालः	२७४
अश्नीमहि	१६६	चूडोत्तंसित	१
आक्रान्तम्	९५	चेतश्चिंतय	१९३
आदित्यस्य	१२८	जीर्णा एव	२४५
आधिव्याधि	९८	तपस्यन्तः	२२३
आयुः कल्लोल	११४	तस्मादनन्त	२०५
आयुर्वर्षशतं	१४७	तुंगं वेश्म	५७
आशानाम नदी	२४	तृषाशुष्यति	५३
आसंसारात्	२३५	त्वं राजा	१५४
उत्खातं	७	दीना दीन मुखैः	६१
एकाकी	२५७	दुराराध्या	२२५
एकोरागिषु	४६	धन्यानाम्	३९
एतस्मात्	१८८	न संसारो	३०
कदा वाराणास्यां	२५३	न ध्यातम्	१३४
किं कन्दाः	७४	न नटा	२६८
किं वेदैः	२१०	नाभ्यस्ता	१३८
कृच्छ्रेण	१०१	निवृत्ता	२२
कौपीनं	२६२	परिभ्रमसि	१८५

श्लोक	पृष्ट
परेषां	१८२
पाणि पात्रय	२५९
पाणिः पात्रम्	२८३
पातालमाविशसि	२०७
पुण्येग्रामे	६८
पुण्यैर्मूल	७७
प्राप्ताः श्रियः	१९९
फलं स्वेच्छा	८०
फलमलमशनाय	१६३
ब्रह्मज्ञान	३६
ब्रह्माण्ड	२६४
ब्रह्मेन्द्रादि	११७
भक्तिर्भवेत्	२०२
भिक्षाशनं	४१
भिक्षाशी	२७१
भिक्षाहार	८७
भोगा न भुक्ता	१८
भोगा भंगुर	१११
भोगा मेघ	१०९
भोगास्तुंग	१०६
भोगे रोग	९१
भ्रान्तं देश	४
महा शय्या	२६८
महेश्वरे वा	२४७
मातर्मेदिनि	२८५
मातर्लक्ष्मि	२६६

श्लोक	पृष्ट
माने म्लायिनि	२२८
मृत्पिण्डो	१७५
मोहं मार्जय	१९१
यतो मेरुः	१२३
यत्रानेक	१२५
यदेतत्	२३८
यावत्स्वस्थ	२२१
ये वर्तंते	८२
ये संतोष	८५
रम्यं हार्म्यतलं	२३२
रम्याश्चन्द्र	२३०
रात्रिस्सैव	१३१
वयं येभ्यो	१४४
वयमिह	१६०
वर्ण सितं	२१७
वलिभिमुखं	२०
वितीर्ण सर्वस्वे	२५१
विद्या नाधिगता	१४१
विपुल हृदयैः	१६९
व्याघ्रीव	१०३
सजातः	१७६
सा रम्या	१२२
स्तनौ मांस	४४
स्नात्वा गांगैः	२५५
स्फुरत् स्फार	२४९
हिंसाशून्य	२७८

शतकत्रय चित्रानुक्रमणिका

नीति शतक

रंगीन चित्र

श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट
दिक्कालाद्यनवच्छिन्न	१	वहति भुवनश्रेणी	६४

सादे चित्र

श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट
दिक्कालाधनवच्छिन्ना	१	विपदि धैर्यं	४५
वहति भुवन श्रेणि	८८	संपत्सु महतां	१६०
बोद्धारो	१६	संतप्तायसि	१६१
अज्ञः सुखमाराध्यः	१७	भवन्ति नम्र	१७६
क्रिमिकुलचितं	३२	श्रोतंश्रुतेनैव	१७७
लांगूलचालनं	३३	इतः स्वपति	१९२
सन्तस्याऽपि	८०	कश्चित् पृथ्वीशायः	१९३
परिवर्तिनि संसारे	८१	निन्दन्तु नीति निपुणा	२२४
यस्यस्तिवित्तं	९६	कान्तीकटाक्ष	२२५
सिरः शिशुरपि	९७	कर्दथिस्यापि	२४०
राजन्दुधुक्षसि	११२	भग्नाशस्य	२४१
सत्यानृता	११३	खल्बाढो	२५६
नलश्चिच्चप्रकोप	१२८	प्रियसख	२५७
उद्भासिताखिल	१२९	विरम विरम	२७२
आरम्भ गुर्वी	१४४	नमस्यामो	२७३

शृंगार शतक

रंगीन चित्र

श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट
शम्भुस्वयम्भु	१	एताश्चलद्वलय	२४
स्त्री मुद्रां	२००		

सादे चित्र

षम्भोस्वयंभुहरयो	१	कान्तेत्युपललोचरोति	११३
एताश्चलद्वलय	२४	विस्तारिंद	१२८
भ्रू चातुर्यात्	१६	व्यादीर्घेण	१२९
द्रष्टव्येषुविमुक्तां	१७	जात्यधथय	१४४
कुंकुमपक	३२	पिरहुपिसंगम	१४५
नूनंहिते	३३	भत्तेम कुम्भ	१६०
नूनमाज्ञाकार:	४८	उन्मत्त प्रेम	१६१
मुग्धे धनुष्कता	४९	कृशकाण:	१७६
सति प्रदीपे	६४	विश्वामित्रपाशर	१७७
उद्वृत्त: स्तन भार	६५	परिमलाभृतो	१९२
विश्रन्य	८०	तरुणीवेषो	१९३
उरसिनिपतितानां	८१	इतोविद्युत्वल्ली	२०८
राजन्तृष्णाम्बुराशे	९६	आसारेण	२०९
मात्सर्यमुत्सर्ग	९७	अर्थ सुप्स्वा	२२४
नो सत्येनमृगांक	११२	चुम्बन्तो	२२५

वैराग्य शतक

रंगीन चित्र

चूडोत्तसित १
गंगा तीर २७६
एको रागिषु राजते ४८-४८

सादे चित्र

चूडोत्तंसित १
एको रागिषुराजते ५६
गंगातीरे २७७
वलिभिर्मुखमाक्रान्त २४
आशा नाम नदी २५
धन्यानाम ४०
भिक्षाशनम ४१
तृषाशुष्यत्यास्ये ६४
दीना दीनमुखैः ६५
किं कन्दाः कन्हरेभ्यः ८०
फलं स्वेच्छालभ्यं ८१
ये वर्तन्ते ८८
आक्रान्तं जन्म ८९
व्याघ्रीव तिष्ठति १०४
सा रम्या नगरी १०५
क्षणं बालो भूत्वा १२०
न ध्यातं १२१
अर्थानामीशिषे १३६
न नटा न विटा १३६
एवं राजा वयमपि १३७
अग्रेगीतं २०८
गात्रं संकुचितं २०९
वर्णं सितं २२४
जीर्णा एव २२५
कदा वाराणास्याम् २४०
महाशय्या पृथ्वी २४५
गंगातोरे २६०
मातर्मेदिनि २६१

नीति शतक

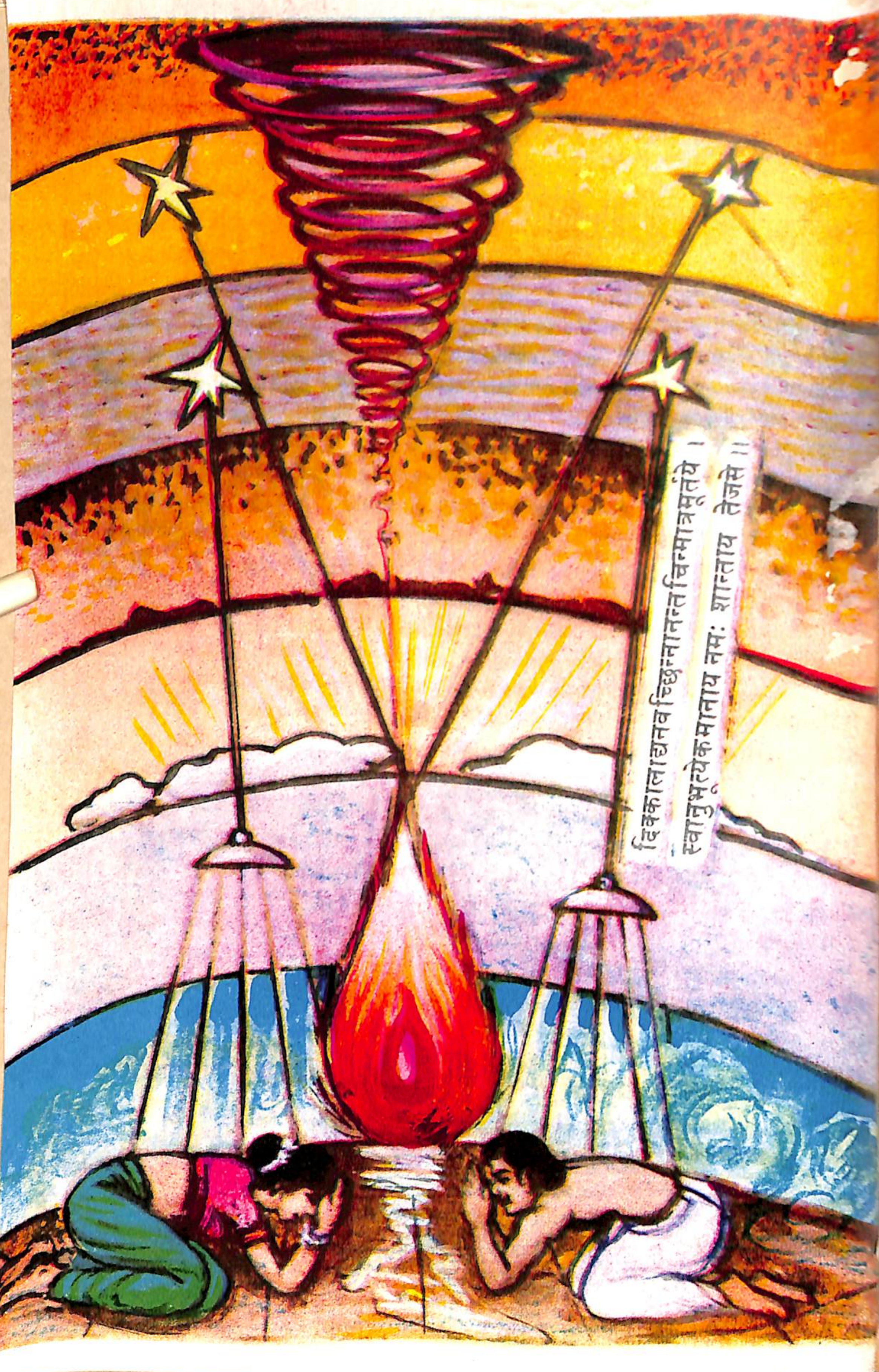

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

नीतिशतकम्

मंगलाचरण

श्लोक

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ।।

शब्द विच्छेद

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानंत = दिक् + काल + आदि + अनवच्छिन्न + अनन्त

चिन्मात्र = चित् + मात्र

स्वानुभूत्येक = स्व + अनुभूति + एक

शब्दान्वय

दिक् काल आदि अनवच्छिन्न अनन्त चिन्मात्र मूर्तये ।
स्व अनुभूति एक मानाय शान्ताय तेजसे नमः ।।

शब्दार्थ

(जो)

दिक् = दिशाओं अर्थात् उत्तर, दक्षिण पूर्व, पश्चिम, दायें, बायें, ऊपर, नीचे आदि दिशाओं,

काल = समय अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान, सवेरे, सांझ रात, दिन,

आदि = इत्यादि, वगैरह से,

अनवच्छिन्न = अलग न कर सकने योग्य

(और जिसका)

स्व अनुभूति = निजी ज्ञान, अनुभव ही,

एक मानाय = एक मात्र मापदण्ड हो, अर्थात् जिसका जबान से वर्णन न किया जा सके, न किसी की जबानी वर्णन सुनकर कोई उसे समझ सके और न प्रत्यक्ष उसे कोई दिखा सके और न कोई देख सके,

(और जो)

अनन्त = अपरम्पार हो याने जिसका अन्त न हो,
चिन्मात्र = चित्तमात्र, अर्थात् ज्ञान ही
मूर्तये = (जिसका) स्वरूप हो ।
(ऐसे)

शान्ताय = एकदम शान्त, निश्चल, एक समान
तेजसे = ज्योति स्वरूप
(परब्रह्म परमात्मा को)
नमः = प्रणाम है ।

भावार्थ

परब्रह्म परमात्मा जो सभी जगहों में और सभी समयों में समान रूप से विद्यमान है, पर जिसका वर्णन किया नहीं जा सकता । केवल ज्ञान द्वारा उसका स्वयं अनुभव मात्र किया जा सकता है । ऐसे अनुपम ज्योतिर्मय स्वरूप परमात्मा को प्रणाम है ।

विशेषार्थ

यह नीति शतक है । भर्तृहरि ने नीति शतक के आरम्भ में परमात्मा का गुणगान करते हुए उसकी वंदना की है । इसे मंगलाचरण कहते हैं अर्थात् पुस्तक को आरम्भ करते हुए भगवान से मंगल-कामना करना । परमात्मा के रूप अनेक हैं, अनंत हैं पर जिस रूप का वर्णन यहाँ किया गया है, हमें देखना है कि उस रूप का 'नीति शतक' से क्या सम्बन्ध हो सकता है ।

परमात्मा दिशा और काल से परे है । अमुक जगह वह नहीं है या अमुक समय नहीं था, या नहीं रहेगा, ऐसा कोई कह नहीं सकता । नीति अथवा नैतिकता की भी यही स्थिति है । संसार में कहीं भी हो, नैतिकता को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है । नैतिकता की निन्दा कोई नहीं कर सकता । 'जैसा देस वैसा भेस' वाली कहावत देशाचार पर भले ही हो, पर नैतिकता पर लागू नहीं होती । इसी प्रकार इस पर काल अर्थात् समय का प्रभाव भी नहीं पड़ता । नैतिकता का जो मापदंड कल था, आज भी वही है और आगे भी वही रहेगा । काल (समय) का भी काल (यमराज) होता है, पर नीति अर्थात् नैतिकता को कोई मेट नहीं सकता ।

जमाने बदले हैं, युग परिवर्तन हुए हैं और उनके साथ आचार-विचार भी बदले हैं, पर नैतिकता का मान समान रूप में बना हुआ है । वह आधार कौन है जिसके कारण परिवर्तन का प्रभाव नैतिकता पर नहीं पड़ता ? वह अप्रमेय आधार है—चिन्मात्रमूर्त-ज्ञान । नैतिकता का पतन होता है अज्ञान से । अज्ञान है अंधकार और अज्ञानी अंधा । अंधा जो सामने पड़े उसी को पकड़ लेता है । कोई धन पर

मुग्ध होता है और जैसे-तैसे कौड़ी-कौड़ी जोड़ता जाता है। कोई एनकेन प्रकारेण सत्ता को हथियाता है। कोई भोग-विलास में डूबा जाता है। पर किसी को शान्ति नहीं मिलती। सभी अंध कूप में गहरे धँसते जाते हैं। अंधकार का प्रतिकार है प्रकाश, तेज ! इसीलिए यहाँ मंगलाचरण में परमात्मा को 'तेज' शब्द से सम्बोधित किया है।

नीतिवान की क्या पहचान ? कौन कितना परमार्थी है, कितना पराक्रमी है और कितना पुरुषार्थी है, इसकी परख मुख से नहीं हो सकती। हाँ, इस मौखिक ख्याति से संसार का उपभोग जरूर किया जा सकता है। कौन कितना नीतिवान है, इस बात का साक्षी वह स्वयं है। बाहर से देखने वालों के लिए भले ही कोई बहुत भला आदमी दिखाई दे, पर उस भले कहाने वाले के दिल में क्या-क्या भरा है, उसे बाहर का भोला समाज क्या जाने ? इसके विपरीत जो दिल का भला है, उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि दूसरे क्या कहते हैं। उसके मन को शान्ति मिलती है, यही उसके लिए बस है। ऐसे शान्त व्यक्ति के चारों ओर तेज-पुञ्ज-सा पैदा हो जाना स्वाभाविक है—शान्ताय तेजसे ! लोगों की आँखें उस 'तेजपुञ्ज' को देख सकें या न देख सकें, ऐसे पुरुष के प्रति लोग बरबस आकृष्ट हो ही जाते हैं।

इस प्रकार भर्तृहरि ने नीति शतक के मंगलाचरण में परमात्मा को प्रणाम करते हुए मानव जीवन में नैतिकता के स्थान को निर्धारित किया है। दूसरे शब्दों में नैतिकता का पालन परमात्मा की पूजा है और नीतिवान मानव के रूप में मूर्तिमान भगवान् ! कोई परमात्मा को माने या न माने, मंगल-आचरण व्यष्टि तथा समष्टि दोनों के लिए मंगलकारी है।

अज्ञपद्धति :

श्लोक १

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमंगे सुभाषितम् ॥

शब्द विच्छेद

अबोधोपहताश्चान्ये = अबोधः + उपहताः + च + अन्ये
जीणमंगे = जीर्णम् + अंगे

शब्दान्वय

बोद्धारः मत्सर ग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
च अन्ये अबोध उपहताः सुभाषितम् अंगे जीर्णम् ।।

शब्दार्थ

बोद्धारः = जानकार लोग, विद्वान लोग
मत्सरः = डाह से
ग्रस्ताः = पीड़ित हैं
प्रभवः = अधिकारी लोग
स्मय = घमंड में
दूषिताः = बिगड़े पड़े हैं, चूर हैं
च = और
अन्यः = बाकी सब लोग
अबोध = अज्ञान से
उपहताः = मारे गये हैं, अर्थात् भले-बुरे की पहचान नहीं रखते, (इसलिए)
सुभाषितम् = अच्छी बातें
अंग = शरीर में, मन में
जीर्णम् = गल जाती हैं, रम जाती है।

भावार्थ

जो जानकार और विद्वान् लोग हैं वह आपस में एक-दूसरे से डाह रखते हैं कि हमसे बड़ा ज्ञानी दूसरा कौन हो सकता है। जो धनी या अधिकारी हैं वह यह समझते हैं कि यह कौन है हमें उपदेश देने वाला ! अब रही अनजान जनता—सो, वह पहले ही अंधकार में पड़ी है, स्वयं करवट लेने की चेष्टा नहीं करती। वह घमंड और डाह में चूर हैं और यह अपनी मूढ़-निद्रा में मस्त है। जब देश की दशा ऐसी हो तब किसी साधु-सन्त को मन मसोस कर रह जाने के सिवा और कोई चारा नहीं है, या यह कि कोई सुने या न सुने, वह अपनी बात कहता जाय।

विशेषार्थ

यहाँ लोगों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है—(१) जानकार और विद्वान्, (२) धनी और अधिकारी, (३) साधारण जनता। कहीं भी हों, पहली दो श्रेणियों के व्यक्ति कम होते हैं और तीसरी श्रेणी के लोग बहुत ज्यादा। यह अंतिम श्रेणी के लोग बहुत तो होते हैं, लेकिन होते हैं लकीर के फकीर। न भले-बुरे की जाँच करते हैं और न सूझ-बूझ से काम लेते हैं। एक लीक पर चलते हैं, लोन-तेल जुटाना और खेतीबाड़ी, नौकरी-चाकरी से जैसे-तैसे जीवन बिताना ही उनका लक्ष्य होता है। इस खटराग से उन्हें छुट्टी ही नहीं मिलती कि दुनिया

या अड़ोस-पड़ोस की बातें सोचें। पशु-पक्षी भी दिन भर जहाँ-तहाँ चुग लेते हैं और साँझ होते अपने-अपने डरबों में छिप जाते हैं। साधारण जन भी यही करते हैं, अर्थात् वे पशुवत् जीवन बिताते हैं। शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, सब की अपनी-अपनी लीक है, ढर्रे से इधर-उधर नहीं होते। इस जड़-जीवन से उन्हें बचाने वाला कौन ?

ऊपर के जानकर तथा अधिकारी वर्ग की जिम्मेदारी यहीं सामने आती है। इसीलिए समाज इन उच्च श्रेणी वालों का बोझा उठाती है और उनके कर्त्तव्य भी निर्धारित करती है। जानकार और अधिकारी अपना-अपना कर्त्तव्य क्यों नहीं निभाते ?

श्लोक में इसके कारण बताये गये हैं—जानकारों के पेट में डाह भरा है और धनी अधिकारियों की छाती में घमंड। पर यह डाह-घमंड किसी और के प्रति नहीं होता। प्रायः इन्हीं दोनों के बीच एक-दूसरे से होता है। कुछ हद तक दोनों का गिला ठीक भी हो सकता है, पर दोनों का रास्ता गलत है। न यह उसकी अफसरी ले सकता है, और न वह इसकी विद्या या जानकारी को छीन सकता है। दोनों थोड़ा-थोड़ा झुकें और सबका भला करें और अपना ताप कम करें, इसी में समाज का तथा स्वयं उनका भला है ! परंतु परस्पर लाग-डाट और घमंड के मारे वे ऐसा नहीं कर पाते।

ऐसी दशा जब हो जाती है तब समाज में एक और श्रेणी खड़ी हो जाती है गुण्डों और बदमाशों की। अपनी-अपनी कमजोरी के कारण एक ओर अधिकारी इन गुण्डों और बदमाशों पर हाथ नहीं डालते और दूसरी ओर समाज के मुड्ढ उनकी पीठ ठोंकते हैं। अबोध और लाचार जनता पर अत्याचार होता है।

अब पंडित, पुजारी तथा उपदेशकों की पाँचों उँगलियाँ घी में। कवि लोग कविता पाठ करते हैं। पण्डित लोग कथा-पुराण बाँचते हैं। पुजारी देवता को भेंट चढ़ाते हैं और कभी-कभी कहीं देवता की ओर से बोलने भी लगते हैं। चलो, इस चंडाल-चौकड़ी की टोली में भगवान् भी शामिल हो गया। कोई उपदेश न किसी के दिल से निकलता है और न किसी के गले में उतरता है। 'जीर्णमंगे सुभाषितम्', जैसे रुपया-पैसा हजम हो जाता है, उसी प्रकार यह उपदेश भी हवा हो जाता है। चारों ओर हाहाकार मच जाता है।

ऐसे ही अवसर पर अवतार, युगपुरुष, महात्मा का आगमन होता है। वे इन नामधारी जानकारों के चरण नहीं छूते, क्योंकि वह ज्ञानी नहीं, बल्कि जान-बूझकर आँखें मूँदे रहते हैं। वे इन धनी, अधिकारी वर्ग की शरण नहीं लेते, क्योंकि

उन्हें अपने मान की चिन्ता नहीं सताती । वह इस धूर्त मंडली की परवाह नहीं करते, क्योंकि ऐसे महापुरुष को अपने तन की फिक्र नहीं होती । वह इन आँख के अंधों और गाँठ के पूरों से टक्कर लेते हैं, अपमान सहते हैं, कष्ट झेलते हैं, सीधे बेसुध जनता में घुस पड़ते हैं । उन्हें झंझोड़कर जगाते हैं और डंके की चोट सच्ची बात सामने रख देते हैं ।

"जीर्णमंगे सुभाषितम्' वाली बेबसी के बोल भर्तृहरि ने ऐसे कर्मठ ज्ञानी के प्रति प्रयोग नहीं किये हैं । फिर भी 'अंग में जीर्ण' होने की बात का एक रूपान्तर भी है । दिल, दिमाग और शरीर इन तीनों का समन्वय ही तो मानव है और मानव तरह-तरह के हैं । किसी का दिमाग बड़ा है यानी उसमें सूजन आ गयी है और अपने विद्वान् होने का अभिमान है । कोई धनवान है, पर उसका दिल दरिद्र है । कोई अधिकारी है, पर घमंड में चूर है । और ऐसे ही लोग समाज के कर्णधार बने रहते हैं। इसलिए ऐसे दिल-दिमागों की आस छोड़ दो—बद-दिमाग और बद-दिल को । अपवाद सब में होते हैं, अच्छों में भी और बुरों में भी । असली अंग को पकड़ लो । अर्थात् समाज के शिखर पर चमकने वालों को छोड़ दो और समाज रूपी शरीर का सुधार करो ।

जनसामान्य को अबोध जो कहा गया है उसका यह अर्थ नहीं कि उनके पास बुद्धि नाम की कोई चीज नहीं है । इसका मतलब केवल इतना ही लेना होगा कि जनसामान्य में उन विद्वानों, धनवानों और सत्ताधारियों के दिल-दिमाग को परखने की शक्ति नहीं होती । बौद्धिक अथवा नैतिक परख का उनमें अभाव है । इसलिए वे उनसे डरते या उनके प्रति आदर दिखाते हैं । ऐसी जनता को उस अंधकार से निकालने के लिए भी तो उन्हें बताना चाहिए भली बात—सुभाषितम् ।

भाषण की बात आ गई । आजकल सभी पार्टियों के नेता अलग-अलग अपने भाषण सुनाते हैं। उस बाजारू भाषण की बात यहां नहीं कही गयी है । सुभाषितम् यानी अच्छी बात, असली बात, नकली बात नहीं । अच्छी बात को जनसामान्य सुनते हैं, समझते हैं, आत्मसात् कर लेते हैं । 'जीर्णमंगे सुभाषितम्' का मतलब यही है । भर्तृहरि ने जो बात कही है वह जन-जन के मन में पैठ जायेगी । भर्तृहरि की बात न बाजारू भाषण की तरह उड़ जायेगी और न भर्तृहरि स्वयं बेबस बनकर मन मसोसते रह जाते हैं । अगले श्लोक इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं ।

श्लोक २

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रंजयति ।।

शब्द विच्छेद

सुखमाराध्यः = सुखम् + आराध्यः
सुखतरमाराध्यते = सुखतरम् + आराध्यते
दुर्विदग्धः = दुः + विदग्धः
ब्रह्माऽपि = ब्रह्मा + अपि

शब्दान्वय

अज्ञः सुखम् आराध्यः, विशेषज्ञः सुखतरम् आराध्यते,
ज्ञान लव दुर्विदग्धं नरं ब्रह्मा अपि न रंजयति ।

शब्दार्थ

अज्ञः = अनजान अबोध मनुष्य (को)
सुखम् = आसानी से
आराध्यः = समाधान किया जा सकता है, समझाया जा सकता है, (और)
विशेषज्ञः = अच्छे जानकार, बुद्धिमान (को)
सुखतरम् = और भी आसानी से
आराध्यते = मनाया जा सकता है, (किन्तु)
ज्ञान लव = थोड़ी-सी अधकचरी जानकारी से
दुर्विदग्धं = बुरी तरह अकड़ते हुए
नरं = मनुष्य को
ब्रह्मा अपि = ब्रह्मा भी
न रंजयति = संतुष्ट नहीं कर सकता ।

भावार्थ

जो लोग एकदम अनजान होते हैं, उन्हें समझा-बुझाकर रास्ते पर ले आना आसान है और जो अच्छे ज्ञाता हों उन्हें मना लेना और भी आसान है । परन्तु जो लोग जानते-वानते खाक नहीं, पर समझते हैं अपने को सबसे बड़े जानकार और घमंड में चूर रहते हैं । ऐसे मूर्खों को चतुर्मुख ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकता । कोई मानव चाहे महापुरुष ही क्यों न हो इन्हें क्या सुधार सकेगा ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जो कुछ कहा गया उस ओर ध्यान देकर और जो कुछ इस श्लोक में कहा गया है उससे सम्बन्ध जोड़कर देखें तो मतलब साफ समझ में आ जावेगा। पिछले श्लोक में लोगों को दो मोटी श्रेणियों में बाँटा गया था— एक मद मत्सर दूषित, दूसरे अबोध जन। अज्ञ हुई अबोध जनता, विशेषज्ञ कौन ? वे लोग जिन्हें समझाने की जरूरत ही नहीं। वे अपने आप समझते हैं, या इशारा मात्र उनके लिए काफी है। ऐसे लोग होते भी बहुत कम हैं। अबोध जनता की तादाद भारी है और इन्हें समझाकर रास्ते पर लाना मुश्किल नहीं है।

कठिनाई पड़ती है उन अधकचरे जानकारों से जो जानते-बानते खाक नहीं, पर अपने को सबसे बड़े जानकार मान बैठते हैं। ऐसे लोग, भले ही वे अधिकारी हों अथवा समाज के कर्ता-धर्ता, वास्तव में महा मूर्ख हैं, मूर्खराज। वह समस्याओं को सुलझाते नहीं, उलझाते हैं। समस्याओं का परिष्कार नहीं करते, नई समस्याओं का आविष्कार करते हैं। ऐसे ही लोगों के संबंध में भर्तृहरि कहते हैं कि उन्हें समझाना, मनाना स्वयं सृष्टिकर्ता के भी मान का नहीं है। ब्रह्मा को चतुर्मुख यानी चार मुखवाला माना जाता है। चार मुखों से बहस कर सकने वाला ब्रह्मा भी हार जायेगा ऐसे मूर्खराज के सम्मुख। अतः इन मुट्ठी-भर लोगों को छोड़ दो और पकड़ो असंख्य अबोध जनता को।

हाँ, विशेषज्ञों से सहायता लो, क्योंकि वह सहज ही समझ जाते हैं और आपका हाथ बटाने को तैयार हो जाते हैं। अच्छे जानकार अधिकारियों तथा जननायकों में भी ऐसे विशेषज्ञ होते हैं। वे सहारे को ठुकरायेंगे नहीं।

यहाँ एक शंका उठती है। क्या विशेषज्ञ और मूर्ख के बीच इतनी बारीक अंतर रेखा खड़ी है कि विशेषज्ञ जानकार होते हुए भी मूर्खता किए जाते हैं ? उत्तर है, हाँ ! साधारण लोग इसकी परख नहीं कर सकते और इसीलिए दुनिया धोखे में रहती है। जिनको दुनिया विशेषज्ञ, परमज्ञानी, महात्मा, नेता कहती है, वे वास्तव में ऐसे नहीं होते। कुछ गधे भी शेर की खाल ओढ़कर खेत के खेत चर जाते हैं और कुछ शेर भी गाय की खाल मढ़कर जुगाली करने का ढोंग रचते हैं। अब दूसरी प्रकार के विशेषज्ञों को लीजिए। इन मारण यन्त्रों के आविष्कारक विशेषज्ञ कैसे ? यह विज्ञानी हैं पर कठपुतली हैं राजनीतिज्ञों के हाथ में। ज्ञान के दोनों समान दुश्मन। ये छोटे से गाँव के मद-मत्सर से भरे कर्ता-धर्ता गुण्डों पंडों को पटा लेते हैं और वे बड़े-बड़े राष्ट्रों और सरकारों में इन अज्ञानी विशेषज्ञों को खरीद लेते हैं। परिणाम विद्या विषाक्त होती है और विज्ञान विभीषक रूप धारण

करती है। ऐसे विद्वान् जानकर वास्तव में अधिकार के हाथ किराये के टट्टू हैं।

प्राचीन भारत में विद्या और विज्ञान ज्ञानियों के हाथ होता था। वह स्वतंत्र होते थे और किसी राज्य की अधीनता स्वीकार नहीं करते थे। विद्या से सत्य की खोज होती थी और विज्ञान का विध्वंसात्मक प्रयोग नहीं होता था। आज भी विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता की दुहाई दी जाती है। पर क्या विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक ज्ञानी हैं? क्या पराधीनता की प्रवृत्ति उनमें लेशमात्र भी नहीं? क्या शासन उनको निरपेक्ष अनुदान देता है? काश, कम-से-कम स्वच्छन्द जीवन बिताने वाले विद्वान्, विचारक पूर्णतया स्वतन्त्र होते!

अबोध जनता जो शान्तिमय जीवन बिताना चाहती है और अपनी मेहनत की रोटी खाती है, जो विध्वंस की विरोधी है और रचनात्मक कार्यों में लगी रहती है, ऐसी जनता को बचाने वाला कौन? वही ज्ञानी, विज्ञानी—ऐसे ज्ञानी, विज्ञानी जो एकदम स्वतन्त्र हों, डाह और अहंकार से परे हों, जरूरत पड़े तो अधिकार और अत्याचार से टक्कर ले सकें और सदा सार्वजनिक हित में लगे रहें। रास्ता चलने में रास्ते के कांटों से बचना होता है। इसीलिए भर्तृहरि पहले इन कांटों से सचेत करता है कि निष्कण्टक प्रगति हो।

श्लोक ३

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्
समुद्रमपि संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम्।
भुजंगमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारये
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥

शब्द विच्छेद

मणिमुद्धरेन्मकर = मणिम् + उद्धरेत् + मकर
दंष्ट्रान्तरम् = दंष्ट्र + अन्तरम्
समुद्रमपि = समुद्रम् + अपि
प्रचलदूर्मि मालाकुलम् = प्रचलत् + ऊर्मि + माल + आकुलम्
भुजंगमपि = भुजंगम् + अपि

पुष्पवद्धारयेत् = पुष्पवत् + धारयेत्
चित्तामाराधयेत् = चित्तम् + आराधयेत्

शब्दान्वय

मकर वक्त्र दंष्ट्र अन्तरात् मणिम् प्रसह्य उद्धरेत्,
प्रचलत् ऊर्मि माल आकुलम् समुद्रम् अपि संतरेत्।
कोपितम् भुजंगम् अपि शिरसि पुष्पवत् धारयेत्,
तु प्रतिनिविष्ट मूर्ख जन चित्तम् न आराधयेत्॥

शब्दार्थ

मकर = मगर के, घडियाल के
वक्त्र = मुँह के,
दंष्ट्र = दाँतों के,
अंतरात् = बीच से,
मणिम् = मणि को
प्रसह्य = प्रयत्न करके, जोखिम सहकर
उद्धरेत् = निकाल लिया जा सकता है,
प्रचलत् = खूब चलते हुए, दौड़ते हुए
ऊर्मिमाला = लहरों की कतारों से
आकुलम् = अल्ल कल्लोल, हलचल करती हुई
समुद्रम् अपि = समुद्र को भी
संतरेत् = तैर कर पार किया जा सकता है,

कोपितम् = कुपित, गुस्सैल
भुजंगम् अपि = सांप को भी
शिरसि = सिर में, चोटी में
पुष्पवत् = फूलों के समान
धारयेत् = धारण किया जा सकता है, गूंथा जा सकता है,
तु = किंतु
प्रतिनिविष्ट = हठी, हठधर्मी
मूर्ख जन = मूरख मनुष्य के, उजड्ड के
चित्तम् = चित्त को, मन को
न आराधयेत् = मनाया नहीं जा सकता।

भावार्थ

साहस करें तो मगर के मुँह में बाँह फँसाकर उसके दाँतों के बीच जड़ी हुई मणि को बाहर ला सकते हैं, आँधी-तूफान से अल्लकल्लोल समुद्र को भी तैर कर पार कर सकते हैं, फुफकार भर कर ऊपर लपकते हुए सर्प को भी फूल-माला के समान चोटी में गूँथ सकते हैं। ऐसे-ऐसे कठिन और दुस्साध्य कार्य भी यदि मनुष्य चाहे और प्रयत्न करे तो कर सकता है। परन्तु मूरखजन को मना लेना असम्भव है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जता दिया गया था कि अधिकार-सम्पन्न मूर्ख मनुष्य को मनाने की चेष्टा करना व्यर्थ है और कहा था कि स्वयं ब्रह्मा भी इन्हें राह पर नहीं ला सकता, साधारण मानव क्या करेगा। सिरजनहार ब्रह्मा ही जहां असमर्थ हो वहां अकिंचन मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, ऐसी शंका मन में न उठे, इस विचार से इस श्लोक में यह बात मन में बैठाने की चेष्टा की गयी है कि मनुष्य कोई मामूली वस्तु नहीं है। वह यदि जी-जान से जुट जाय, कठिनाइयों के सामने घुटने टेके नहीं तो वह दुस्साध्य से दुस्साध्य कार्य भी साध सकता है— जैसे मगर के मुंह में हाथ देना, फुफकार भरते सर्प को गले का हार बना लेना और तूफानी समुद्र को तैर जाना, इत्यादि। मगर के दांत मशहूर हैं। ज्यों ही घड़ियाल ने अपने जबड़े दबा दिये जो भी वस्तु या प्राणी दांतों के बीच भिच जाय चकनाचूर हो जाय। फिर भी मनुष्य बुद्धि-बल से काम लेकर मगर की दुम की मार से बचेगा, जबड़े फाड़ देगा, मुँह में डंडा खड़ा कर देगा, नथने छेद देगा, और अगर, मगर के मुँह में मणि ही है तो अपनी बाँह गले की गुद्दी तक घुसेड़कर अपनी बारीक-बारीक उंगलियों से उसकी मणि को उखेड़ लेगा। यही बात फुफकारते सर्प और भयंकर समुद्र के साथ हो सकती है। क्या हिन्दुओं के देवी-देवताओं में से एक ने मगर को अपनी सवारी बना नहीं रखी है? क्या महादेव शिव नाग साँप को चोटी में लपेट कर नागभूषण नहीं कहाते हैं? क्या बजरंगबली (वज्रांग) समुद्र को तैरते हुए जबड़े फैलाकर आए हुए सुरसा को चकमा नहीं दे गये? पुराणों की गाथाएं नहीं, ऐसी बातें सैकड़ों हमारी आँखों के सामने होती रहती हैं। अपनी मूर्खता के कारण हम देख सुनकर भी अनदेखी, अनसुनी कर देते हैं।

इसीलिए भर्तृहरि कहते हैं कि जो मानते नहीं, उन्हें मनाने में समय व्यर्थ न करो। तब क्या करें? आगे पढ़िये।

श्लोक ४

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटंशशविषाणमासादयेत्
न तु प्रतिविविष्टमूर्खजनचित्तमार धयेत् ॥

शब्द विच्छेद

तैलमपि = तैलम् + अपि
पिबेच्च = पिबेत् + च
कदाचिदपि = कदाचित् + अपि
पर्यटंशश = पर्यटन् + शश
विषाणमासादयेत् = विषाणम् = असादयेत्
चित्तमाराधयेत् = चित्तम् + आराधयेत्

शब्दान्वय

यत्नत: पीडयन् सिकतासु तैलम् अपि लभेत्
च पिपास अर्दित: मृगतृष्णिकासु सलिलं पिबेत्
पर्यटन् कदाचित् शश विषाणम् अपि आसादयेत्
तु प्रतिनिविष्ट मूर्ख जन चित्तम् न आराधयेत्

शब्दार्थ

यत्नत: = जतन से
पीडयन् = पेरने पर, पीस रगड़कर
सिकतासु = बालू में से
तैलम् अपि = तेल भी
लभेत् = पा सकते हैं,
च = और
पिपास = प्यास से
अर्दित: = पीड़ित मनुष्य
मृग तृष्णिकासु = मृग तृष्णा में
सलिलं = पानी
पिबेत् = पी सकते हैं ।

पर्यटन् = घूमते-घुमाते
कदाचित् = कभी-कभी
शश = खरगोश का
विषाणम् अपि = सींग भी
आसादयेत् = साध सकते हैं, पा सकते हैं
तु = किन्तु
प्रतिनिविष्ट = हठी, हठधर्मी
मूर्ख जन = उजड्ड के
चित्तम् = मन को
न आराधयेत् = मना नहीं सकते ।

भावार्थ

कोई न कोई उपाय करके बालू से भी तेल निकाला जा सकता है । मृगतृष्णा में भी प्यासा अपनी प्यास बुझा सकता है । घूमते-घुमाते कहीं न कहीं खरगोश की सींग भी पा जायेंगे । इतने असम्भव कार्य भी साधे जा सकते हैं, किन्तु हठधर्मी मनुष्य को मना लेना असम्भव है ।

विशेषार्थ

पिछले और इस श्लोक में देखने में ऐसा लगता है कि दोनों में एक ही बात कही गयी है कि मूर्ख को मनाना असम्भव है। वास्तव में यह बात नहीं है। पिछले श्लोक में जो उदाहरण दिये गए हैं, वह सब मूर्ख मनुष्य से मेल खाते हैं। मूर्ख अधिकारी को मनाने की चेष्टा की और अगर वह न माने तो अधिकारी वहीं तक चुप मारकर बैठा नहीं जायेगा। वह कहेगा, यह मुझे सिखाने चला है, अच्छा इसे सबक सिखा दो। उस पर मुसीबत ढा देगा और जीना दूभर कर देगा। पिछले श्लोक में बताया गया था कि मूर्ख अधिकारी हिंसक जंतुओं से कहीं अधिक भयंकर है।

परन्तु इस श्लोक में उदाहरण दिये गये हैं बालू, मृगतृष्णा की, और खरगोश के। इनमें से कोई भी ऐसा नहीं है, जिसके साथ कुछ प्रयोग करने पर वह प्रतिकार के लिए उठे। बालू को कूटो, पीसो वह कुछ न कहेगा। मृगतृष्णा में आप स्वयं भले ही हाँप-हाँप कर मर जायें पर वह आपको कुछ कहेगा नहीं। विचारे खरगोश को टाँग पकड़ कर उलटे लटका दो, या उछाल दो, वह केवल आँखें फाड़कर टुकुर-टुकुर देखेगा और बस। उन भयंकर मूर्खों के लिए इन निरापद वस्तुओं की उपमा क्यों दी गयी? यदि मान लिया जाय कि यह श्लोक ज्ञानी सुधारक को लक्ष्य करके कहा गया है तो अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

सुधारक दो पक्षों के बीच खड़ा है। एक ओर अधिकार-सम्पन्न अत्याचारी खड़े हैं और दूसरी ओर अबोध जनता का अपार समुद्र। सुधारक से कहा गया है—जानकार और धनी अधिकारियों को छोड़ दो, अबोध जनता में घुस पड़ो और जो कुछ करना हो इनके लिए करो, इनके साथ करो, इनके द्वारा करो। साधारणतः यह कहा ही जाता है कि जनता क्या है—भेड़-बकरी है, इससे क्या होगा—न बुद्धि, न साहस। इसी भ्रम को दूर करने के लिए भेड़-बकरी से भी घटिया उपमाएं दी गयी हैं—बालू और मृगतृष्णा की। भोली जनता को यदि बालू की ढेर भी समझें तब भी क्या इसमें से तेल निकल सकता है?

तेलुगु भाषा में इसी तरह का एक नीति-पद्य है जिसका अभिप्राय है—बड़े-से-बड़े चट्टान को चूर-चूर कर सकते हैं, पहाड़ों को पीस डाल सकते हैं, पर मूरख को मना नहीं सकते। लेखक अपने बचपन में जब इन पंक्तियों को गुनगुनाता था तब मूर्खता की बात तो नहीं किन्तु सोचा करता था कि इन पहाड़ों – वह भी दक्षिण भारत के चट्टानी पहाड़—को आटे के समान पीसा कैसे जा सकेगा। आजकल हम स्वयं देख रहे हैं कि हमारी आंखों के सामने पहाड़ पिस रहे हैं।

सीमेंट के कारखानों में पत्थर ही तो पिस्ते हैं। सड़क की बारीक रोड़ी मशीन से कुटती है। हिमालय में सीमान्त तक जो सड़कें बन रहीं हैं उनसे बड़े-बड़े बीहड़ पहाड़ों का सहस्रों वर्षों वाला घमंड चूर-चूर हो रहा है। फिर भी आप कहेंगे—बालू से तेल कैसे निकलेगा ? हां गोंद पेड़ों से निकलता है, पत्थर से नहीं। पर जानते हो पत्थर से भी गोंद बहता है। शिलाजीत क्या है ? पत्थर को पानी की तरह पिघलाकर लोहा तैयार किया जाता है। अच्छा, तेल ही को लीजिए। अरबस्तान के रेगिस्तान में तेल (पैट्रोल) की खानें हैं तो राजस्थान की रेत में क्यों न होगा तेल पेट्रोल !

बस, भोली-भाली जनता बालू की तरह निरापद है। उनसे नुकसान न होगा। होगा तो लाभ ही होगा। आपको निराशा न होगी बल्कि आपका आशय सिद्ध होगा। जनता आप से लाभान्वित होगी। आपका मान भी करेगी। नहीं तो, वह मूर्ख सम्पन्न अधिकारी और जानकार हाथ धोकर आपके पीछे पड़ जायेंगे। उनके पिछलग्गू बनना पड़ेगा। सो, वैसे कभी न बनो। अपना उद्देश्य सिद्ध करो। सभी महात्मा और महापुरुषों ने यही किया है।

श्लोक ५

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते
भेत्तुं वज्रमणिं शिरीष—कुसुम—प्रान्तेन संनह्यति।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते
मूर्खान्यः पथि नेतुमिच्छति बलात्सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः ।।

शब्द विच्छेद

तन्तुभिरसौ = तन्तुभिः + असौ
समुज्जृम्भते = सम + उज्जृम्भते
क्षाराम्बुधेरीहते = क्षार + अम्बुधेः + ईहते
मूर्खान्यः = मूर्खान् + यः
नेतुमिच्छति = नेतुम् + इच्छति
बलात्सूक्तैः बलात् + सूक्तैः

शब्दान्वय

यः सुधास्यन्दिभिः उक्तैः मूर्खान् बलात् पथि नेतुम् इच्छति
असौ बाल मृणाल तन्तुभिः व्यालं रोद्धुं समुज्जृम्भते,
वज्रमणि शिरीष कुसुम प्रान्तेन भेत्तुं संनह्यति
मधु विंदुना क्षार अम्बुधेः माधुर्यं रचयितुं ईहते ।

शब्दार्थ

यः = जो
सुधा = अमृत
स्यन्दिभिः = चूनेवाली, टपकने वाली (मीठी)
उक्तैः = बातों से
मूर्खान् = मूर्खों को
बलात् = जबरदस्ती
पथि = (अच्छी) राह पर
नेतुम् = लगाना
इच्छति = चाहता है
असौ = ऐसा व्यक्ति
बाल मृणाल = कोमल कमल के
तन्तुभिः = डंठलों से
व्यालं = मस्त हाथी को
रोद्धुं = बाँधने का
सम उज्जृम्भते = साहस करता है,
(अथवा—और)
शिरीष कुसुम = मौलसिरी फूल की
प्रान्तेन = पांखुड़ी की नोक से
वज्रमणिं = हीरे को
भेतुं = काटने की
संनह्यति = चेष्टा करता है,
(और)
मधु विंदुना = शहद की बूँद से
क्षार अम्बुधेः = खारे समुद्र में
माधुर्यं = मिठास
रचयितुं = पैदा करना
ईहते = चाहता है

भावार्थ

मूर्ख मनुष्य को मीठी-मीठी बातों से मनाने की चेष्टा करना ऐसा ही है जैसे कमल के डंठल से मस्त हाथी को बाँधने की चेष्टा करना, या मौलसिरी की पांखुड़ी की नोक से हीरा काटने लगना और शहद की एक बूँद टपकाकर खारे समुद्र को मीठा बनाने जाना।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि मूर्खों की ओर एकदम ध्यान न दो। इस श्लोक में उसी के कारण बताये गये हैं।

मूर्खों को मनाने में नहीं लगना चाहिए, क्योंकि घमंडी और हठधर्मी मूर्ख को मनाने की चेष्टा करना स्वयं मूर्खता है। मस्त हाथी को कमल-नाल से बाँध रखने

की कोई कोशिश करे तो लोग उसे मूर्ख नहीं तो और क्या कहेंगे। मौलसिरी की पाँखुड़ी से हीरा कटने लगे तो कूढ़मगज कहेंगे, क्योंकि मौलसिरी की पाँखुड़ी नोकदार तो होती है, पर होती है बड़ी कोमल और हीरा होता है एकदम कड़ा। शहद की बूँद से खारे समुद्र में मिठास लाने लगे तो कहेंगे—दिमाग चल गया। हाँ, लोटे-भर पानी में बोतल-भर मधु मिलाना दूसरी बात है।

शब्दावली से स्वयं स्पष्ट है कि मस्त हाथी को बाँध सकते हैं, परन्तु उसकी पद्धति दूसरी है—हीरे को काट सकते हैं, पर औजार और हैं—और समुद्र के खारे पानी को मीठा बनाया जा सकता है किन्तु मर्यादा के भीतर। जब इस परिभाषा को मान लें तब यह भी मानना पड़ेगा कि मूर्खों को राह पर लाने का उपाय हो सकता है। वह उपाय क्या है, आगे पढ़िए।

श्लोक ६

स्वायत्तमेकान्तहितं विधात्रा विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥

शब्द विच्छेद

स्वायत्तमेकान्त = स्वायत्तम् + एकान्त
छादनमज्ञतायाः = छादनम् + अज्ञतायाः
मौनमपण्डितानाम् = मौनम् + अपंडितानाम्

शब्दान्वय

विधात्रा अपंडितानाम् स्वायत्तम् एकान्त हितम् अज्ञतायाः छादनम् मौनम् विनिर्मितम्, विशेषतः सर्वविदां समाजे अपंडिताम् मौनम् विभूषणम्।

शब्दार्थ

विधात्रा = प्रजापति ब्रह्मा द्वारा
अपंडितानाम = अबोध जन के
अज्ञतायाः = अज्ञानता के लिए
स्वायत्तम् = स्वाधीन, स्वतन्त्र (और)
एकान्त हितम् = एकदम हितकर
छादनम् = ओढन, परदा

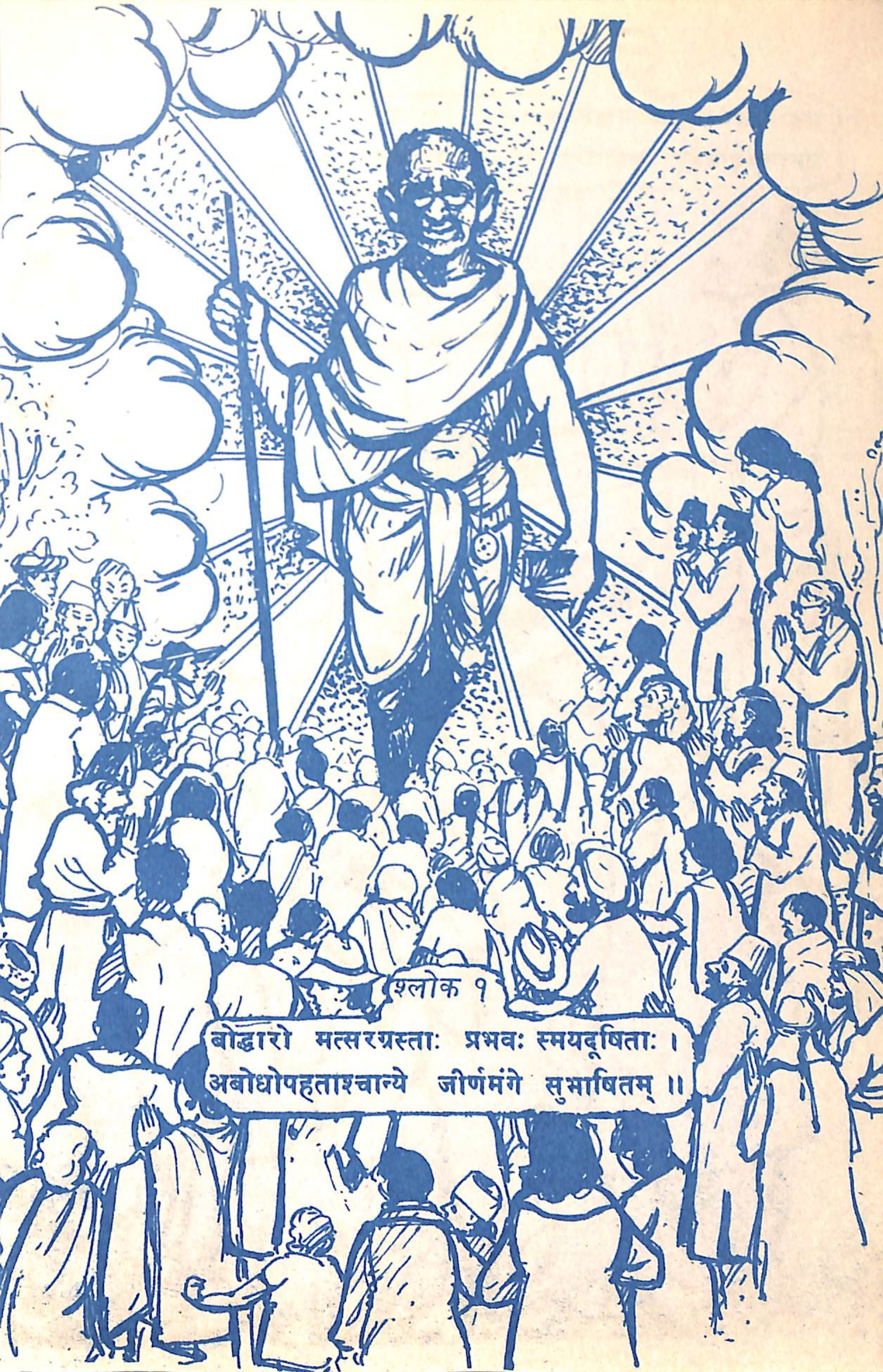
श्लोक १
बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमंगे सुभाषितम् ॥

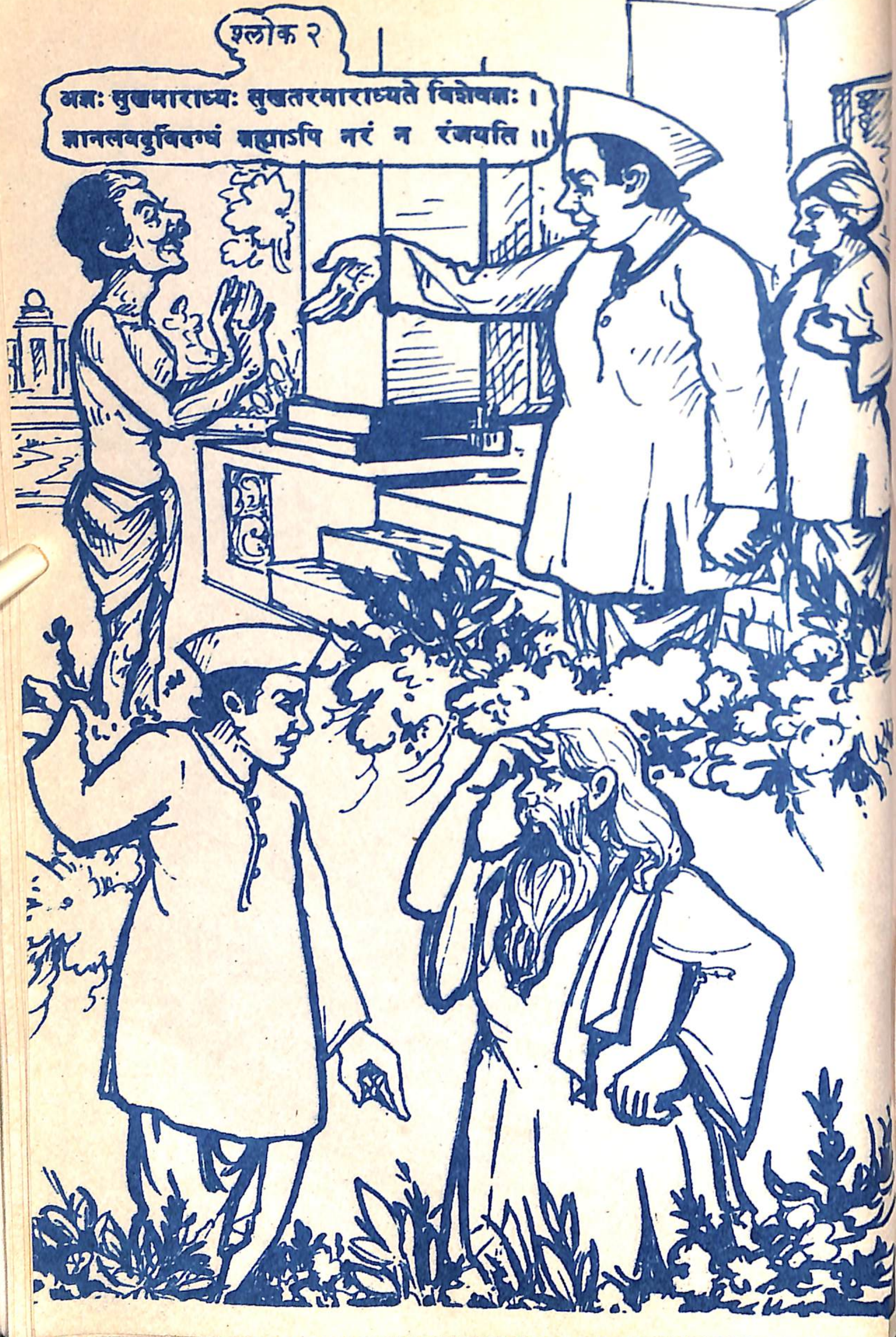
श्लोक २
अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रंजयति ॥

मौनम् = मौन, चुप्पी
विनिर्मितम् = रची गयी है
(इसीलिए)
विशेषतः = विशेषकर, खासकर,
सर्व विदां = सर्वज्ञ, सब कुछ जानने वालों के
समाजे = समाज में, बीच में
अपंडितानां = मूर्खों के लिए
मौन = मौन
विभूषणं = अच्छा आभूषण है।

भावार्थ

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने जहाँ अबोध जनता को जन्म दिया तहाँ, उनकी अज्ञानता को छिपाने के लिए उन्हें एक अच्छा साधन भी दिया है जो सीधे उनके हाथ में है, साथ ही उनके लिए हितकारी भी है, और वह है मौन। विशेषकर विद्वानों के बीच चुप्पी मारकर बैठ जाना ही उन्हें शोभा देता है।

विशेषार्थ

इस श्लोक में विशेष कठिनाई पड़ रही है। कारण, सभी प्राचीन अर्वाचीन विद्वान् व्याख्याकारों ने इस श्लोक के शब्द 'अज्ञ' के अर्थ 'मूर्ख' किये हैं, हालांकि कुछ ही पहले चौथे श्लोक में 'अज्ञ' शब्द स्पष्ट रूप में 'अबोध' के लिए आया है। इस श्लोक में 'अज्ञता' को उसी 'अज्ञ' से मान लेना अधिक अच्छा होगा। चौथे श्लोक 'अज्ञः सुख-माराधय' कहा है अर्थात् अज्ञ अथवा अबोध जन चुपचाप मान जाते हैं। सबका अनुभव भी यही है। वह कुछ जानते नहीं। उल्टे-सीधे सवाल-जवाब नहीं करते। जो कहें सो मान लेते हैं। यह मानी हुई बात है कि ज्ञानी पुरुष उन्हें अच्छी बात ही कहेगा और वह उनके दिलों में सीधे बैठ जायेगी। अबोध जनता का यह मौन उनके लिए हितकर भी सिद्ध होता है। इस प्रकार सुधारक के अनुचरों की संख्या बढ़ती जाती है। जब यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब कहीं श्लोक के उत्तरार्ध की बात आती है। अधिकारी और समाज के मुड्ढ जब देखते हैं कि जनता हाथ से निकली जा रही है और जिस व्यक्ति को हमने धुतकारा था उसी का साथ दे रही है तब वे सोचते हैं कि कहीं अवसर चूक न जाय। इसलिए सबके साथ वे भी आकर बैठ जाते हैं। अब तक जो अपने को बड़ा जानकार समझते थे या अपने पंडिताई के घमंड में चूर थे उनकी आँखें खुलने लगती हैं। उस सर्वज्ञ महापुरुष के सामने अपनी अधकचरी पंडिताई की पोल खुल जायेगी, इस डर से वह चुप्पी साध लेते हैं। इसी प्रकार अधिकारी भी खूब समझ जाते हैं कि ज्यों ही कुछ बोले त्योंही सबके सामने रही-सही इज्जत भी खाक में

मिल जायेगी। इस प्रकार वह मौन उस समय उनके लिए अलंकार बन जाता है।

यदि इस प्रकार अर्थ न किया जाय तो वह विद्वान् मूर्ख और वह घमंडी अधिकारी—प्रथम श्लोक के 'बोद्धारः' तथा 'प्रभु' इस ज्ञानी सुधारक की बात सुनने ही क्यों आयेंगे, या यह ज्ञानी सीधी-सादी जनता को छोड़कर विद्वान्-मंडली जुटाता कहां फिरेगा ? जोगी की घर में कदर न होगी तो वह किसी और जगह अपनी कुटिया रमायेगा और उसी अबोध जनता से अपना नाता जोड़ेगा। तब कहीं ये बड़े कहानेवाले भी हाथ जोड़कर आ बैठते हैं।

विद्वद् परिषद प्राचीन भारत की एक संस्था थी, जिसमें विशेष विषय चर्चा पर लिये जाते थे। सभी गण्यमान विद्वान् इकट्ठे होते थे। स्वतन्त्रतापूर्वक विचार-विनिमय होता। सर्वसम्मति से एक निष्कर्ष पर पहुँच जाते थे। तब यह प्रश्न नहीं रह जाता था कि किसने समर्थन में कहा और किसने विरोध में। बहुमत, अल्पमत का प्रश्न नहीं होता था। अन्त में न्यायोचित बात पर सब एकमत हो जाते थे। 'सर्व विदां समाजे' इसी विद्वन्मण्डली को सूचित करता है।

श्लोक ७

यदा किंचिज्ज्ञोहं गज इव मदान्धः समभवं
तथा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मन।
यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो में व्यपगतः ।।

शब्द विच्छेद

किंचिज्ज्ञोहं = किंचिज्ञः + अहं
मदान्धः = मद + अन्धः
सर्वज्ञोस्मीत्यभवदवलिप्तं = सर्वज्ञः + अस्मि + इति + अभवत् + अवलिप्तम्
सकाशादवगतं = सकाशात् + अवगतं
मूर्खेस्मीति = मूर्खः + अस्मि + इति

शब्दान्वय

अहं यदा किंचिज्ञः गज इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञः अस्मि इति मम मनः अविलिप्तम् अभवत् ।
यदा बुध जन सकाशात् किंचित् अवगतं
तदा मूर्खः अस्मि इति मे मदः ज्वर इव व्यपगतः ।

शब्दार्थ

अहं = मैं
यदा = जब
किंचिज्ञः = कुछ ही जानता था,
गज इव = (मस्त) हाथी की भांति
मदअंधः = गर्व से अन्धा बना
समभव = रहा करता था
(और)
तदा = तब
सर्वज्ञः अस्मि = सब कुछ जानता हूं,
इति = इस प्रकार
मम मनः = मेरा मन
अवलिप्तम् = घमंडी
अभवत् = बन गया था,
(किन्तु)
यदा = जब
बुध जन = ज्ञानी विद्वान् जनों के
सकाशात् = पास से
किंचित् किंचित् = थोड़ा-थोड़ा
अवगतं = समझ पाया
तदा = तब (मैं)
मूर्खः अस्मि = मूर्ख हूं
इति = इस प्रकार (जानकर)
मे मदः = मेरा गर्व
ज्वर इव = ज्वर के समान
व्यपगतः = जाता रहा

भावार्थ

एक समय था जब मैं थोड़ा-बहुत जो जानता था उसी पर अपने को बड़ा ज्ञानी मानकर मस्त हाथी की तरह घमंड में अन्धा बनकर किसी को कुछ नहीं समझता था और मनमानी बोलता-चालता था। किन्तु जब मैं बुद्धिमान् विद्वज्जनों की संगत में बैठने-उठने लगा तब कहीं पता चला कि मैं तो कुछ नहीं जानता, निरा मूर्ख हूँ। और तब कहीं चेत हुआ कि पहले मुझे बुद्धि नहीं बुखार था। घमण्ड के जाते रहने से अब ऐसा लगता है मानो तन से बुखार उतर गया और मन चंगा हो गया।

विशेषार्थ

अबोध और मूर्ख जनों की चर्चा करते हुए बीच में यह अपनी बात क्यों कह गये भर्तृहरि ? समझाने की यह पद्धति अच्छी है। यहां एक ही व्यक्ति की

दो दशाएं दर्शायी गई हैं—(१) ज्ञान-प्राप्ति से पहले, (२) ज्ञान-प्राप्ति के बाद। पहले घमण्डी था। बाद में विनम्र। क्या सभी ज्ञानियों को इन दोनों अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है? कोई ज्ञानी ही अपना अनुभव बता सकता है। फिर ज्ञानी भी अपना ही तो अनुभव बतायेगा, दूसरे पर क्या बीती वह कैसे जान सकता है। ज्ञानी सर्वज्ञ हो, सब कुछ जानता भी हो, तो भी ऐसी मूर्खता कैसे करेगा। इसीलिए भर्तृहरि ने यहां अपना निजी अनुभव बताया है। हो सकता है वह भी पहले घमंड में चूर रहा हो। वह तो महाराजा भी था और विद्वान् भी। बुद्धि का गर्व और बल का घमंड। हम क्यों समझें कि भर्तृहरि बनावटी बातें कहता है? मान ही लो कि जो कुछ कहा है वह सत्य है। उस सत्य भाषण से नम्रता टपकती है। किन्तु यहाँ इस आत्म-प्रशंसा या आत्मदूषण की आवश्यकता कहां थी? हां, जरूर थी।

पिछले श्लोक की व्याख्या से स्पष्ट है कि भर्तृहरि के इर्दगिर्द लोग बैठे हैं। भोली-भाली अबोध जनता भी और कुछ अवसरवादी मूर्ख पंडित और जानकर अधिकारी भी। भर्तृहरि को इन दोनों प्रकार के लोगों का उपचार करना है। मैं भी अज्ञानी था। अब मुझे तुम लोग कुछ और समझते हो तो तुम लोगों के लिए भी यह सुलभ-साध्य है। चलो भोली जनता फूल के कुप्पा हो गयी। आंखों के आगे आशा की किरण निखरने लगी। उधर जानकार अधिकारियों के लिए भी उपदेश है। भर्तृहरि ने उन्हें बुरा-भला नहीं कहा, बल्कि उलटे अपने को कहा कि मैं पहले बहुत बुरा था। उधर भोली जनता का दिल बढ़ा कि भतृहरि भी पहले उनके समान अबोध ही थे, तो इधर इन मूर्ख और घमंडियों को भी तसल्ली हुई कि यह भी पहले हम जैसे ही थे।

फिर भी इन तीनों में भारी अन्तर है। भर्तृहरि ने तो अपने को दोनों के समान स्तर पर ला दिया, अबोध जनता के भी और मूर्ख अधिकारियों के भी। परन्तु इन परस्परविरोधी श्रेणियों को ज्ञानी भर्तृहरि के समान उठने का क्या उपाय? यह ज्ञानी कैसे हुए? विद्याविनय-सम्पन्न गुरु ज्ञानियों की सेवा-शुश्रूषा से। इन दोनों श्रेणियों को भी यही एक काम करना होगा। काम एक है किन्तु एक को इकहरा और दूसरे को दोहरा। अबोध जनता को केवल एक काम करना है और जानकार अधिकारियों को दो काम करने हैं। अबोधजनों को घमंड नहीं है। साधुसन्त की सेवा-शुश्रूषा को वे अपना सौभाग्य मानेंगे। सहज में ही श्रद्धा भक्ति भी सम्मिलित हो गई उस सेवा-शुश्रूषा में। भला मुक्ति में कौन बाधा है उस भोली-भाली अबोध जनता को? यहाँ पिछले श्लोक के शब्द 'अज्ञता' और 'छादन' पर ध्यान दीजिए। अब सोचिए कि भोली और

अबोध जनता की अज्ञता पर परदा पड़ा कि नहीं ? कौन ऐसा होगा जो उनकी उन त्रुटियों को गिनाया करे।

अब रही दूसरी श्रेणी मूर्ख जानकारों और घमंडी अधिकारियों की बात। उन्हें दोहरा काम करना पड़ेगा। एक अपने पूर्व कर्मों का प्रायश्चित्त करना या कम-से-कम पश्चात्ताप करना। यह अगले कदम के लिए भूमिका मात्र है। दूसरे ज्ञानी तथा गुरुजनों की शुद्ध रूप में सेवा-शुश्रूषा करना। यह असम्भव है जब तक उनके प्रति दिल में श्रद्धा भक्ति न हो। यह भावना उनके अंदर प्राणिमात्र के लिए लानी होगी। यह सब करने में अहंकार बाधक होता है। इस प्रकार अहंकार पर विजय पाने के लिए उन्हें कठिन साधना करनी होगी। उपरोक्त यह सब कुछ कर सकनेवाले बिरले ही निकलते हैं। उतने ही विरले जितने अबोध जनता में मुक्तात्मा। इस पर अगले श्लोक के स्पष्टीकरण पर मनन कीजिए।

श्लोक ८

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं
निरुपमरसप्रीत्या खादन्खरास्थि निरामिषम्।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शंकते
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्॥

शब्द विच्छेद

निरुपम = निः + उपम
खरास्थि = खर + अस्थि
निरामिषं = निः + आमिषं
सुरपतिमपि = सुरपतिम् + अपि

शब्दान्वय

श्वा कृमि कुल चितं विगन्धि जुगुप्सितं निरामिषं
खर अस्थि लाला क्लिन्नं निरुपम रस प्रीत्या खादन्,

पार्श्वस्थ सुरपतिं अपि विलोक्य न शंकते,
क्षुद्रः जन्तुः परिग्रह फल्गुनाम् न हि गण्यति ।

शब्दार्थ

श्वा = कुत्ता
कृमि कुल = कीड़ों के ढेर से
चितं = भरे हुए,
विगंधि = बदबूदार,
जुगुप्सितं = घिनावनी, (और)
निरामिषं = मांस रहित,
खर अस्थि = गधे की हड्डी को
लाला क्लिन्नं = लार से भरे, लार टपकाते हुए
निरुपम = बेजोड़
रस प्रीत्या = स्वाद के प्रेम से, मजे लेते हुए,
खादन् = खाते हुए, चबाते हुए,
पार्श्वस्थं = पास खड़े हुए
सुरपतिं = देवपति इन्द्र को
अवलोक्य = देखकर
न शंकते = लजाता नहीं है,
(क्योंकि)
क्षुद्र जन्तुः = नीच प्राणी
परिग्रह = आपने जिसे अपनाया हो (उसकी)
फल्गुताम् = तुच्छता की ओर
न गणयति = ध्यान नहीं देते

भावार्थ

एक कुत्ता है। सामने उसके एक सूखी हड्डी पड़ी है। बगल में ही सुरपति महाराज इन्द्र खड़े हैं। कुत्ते को इन्द्र भगवान् की परवाह नहीं है। उसका ध्यान है हड्डी पर। वह भी सड़ी हड्डी, उस पर कीड़े बुलबुला रहे हैं, बदबू भरी है, उसपर रंचभर मांस भी नहीं है, घिनावना दृश्य है। किन्तु कुत्ता है कि लार टपकाते हुए उस गधे की हड्डी को मजे ले-लेकर चबाये जा रहा है। भला बताओ, सुरेश इन्द्र भगवान के पास होते हुए किस चीज की कमी है कुत्ते को, पर वह अपनी आदत से मजबूर है। ऊँच-नीच का उसको पता नहीं, भले-बुरे की उसे खबर नहीं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में ज्ञानियों के सम्पर्क में आने से एक प्रकार के व्यक्तियों पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे नम्रतापूर्वक स्वयं अपना उदाहरण देकर भर्तृहरि ने बताया था कि वह क्या से क्या हुए। वही बात सभी पर लागू हो सकती है। किन्तु कुछ व्यक्तियों पर उनके बुरे संस्कारों के कारण वह प्रभाव पड़ने नहीं पाता। इस

दूसरी श्रेणी के लोग एकदम उलटी दिशा में चलते हैं। उन ही लोगों को लक्ष्य करके यह श्लोक कहा गया है।

बगल में भर्तृहरि सुरपति के समान उपस्थित हैं। उनकी वाणी से अमृत की वर्षा हो रही है। किन्तु वे लोग अपनी तुच्छ मनोवृत्ति को नहीं छोड़ते। नीति-कुशल भर्तृहरि ने प्रत्यक्ष उनका नाम न लेकर एक कुत्ते की मिसाल दे दी है। सुननेवाले सब-कुछ समझ जाते हैं। श्रद्धावानों की श्रद्धा और भी बढ़ती है। सत्संग और सेवा-शुश्रूषा में उत्तरोत्तर अधिक तल्लीन होते जाते हैं। दूसरी ओर पाखण्डी पण्डित और घमण्डी अधिकारी गण, जो अपना आचरण विभिन्न कारणों से बदल नहीं पाते, यही कर सकते हैं कि सबके सामने दिखावे के लिए सिर नीचा कर आंखें जमीन में गाड़े बैठे रहें या बिगड़कर सभा से उठ खड़े हों। पर दोनों सूरतों में बदले की ठानकर वहां से निकलेंगे और सभी सभ्य हथकंडों से लेकर गुण्डागर्दी तक उतर पड़ेंगे। देखिए भर्तृहरि ऐसे लोगों के बारे में आगे क्या कहते हैं।

श्लोक ९

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधो गंगा सेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥

शब्द विच्छेद

स्वर्गात्पशुपति = स्वार्गात् + पशुपति
महीध्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि = महीध्रात् + उत्तुंगात् + अवनिम् + अवनेः + च + अपि

सेयं = सा + इयं
पदमुपगता = पदम् + उपगता
स्तोकमथवा = स्तोकम् + अथवा

शब्दान्वय

सा इयं गंगा स्वर्गात् शार्वं शिरः, पशुपति शिरस्तः क्षितिधरं,
महीध्रात् उत्तुंगात् अवनिम्, च अवनेः, अपि जलधिम्,
अघ: स्तोकम् पदम् उपगता, अथवा
विवेक भ्रष्टानाम् शत मुखः विनिपातः ।

शब्दार्थ

सा इयं गंगा = यही वह गंगा नदी,
स्वर्गात् = स्वर्ग से
शार्वं शिरः = शिवजी के सिर पर (पहुँची),
पशुपति शिरस्तः = महादेव जी के सिर से
क्षिति घरं = पहाड़ पर, हिमालय पर्वत पर,
उत्तुंगात् = ऊँचाई से—ऊँचे
महीध्रात् = महीधर, पहाड़ से,
अवनिम् = धरती पर,
च = और
अवनेः अपि = धरती से भी
जलधिम् = समुद्र में
अधः = नीचे
स्तेकम् = थोड़ी सी, छोटी सी
पदम् = पद को
उपागता = प्राप्त हुई,
अथवा = या इसी प्रकार
विवेक भ्रष्टानां = बुद्धिहीनों का
शत मुखः = सैकड़ों, अनेकों प्रकार
विनिपातः = पतन होता है ।

भावार्थ

त्रिलोक पावनी मंदाकिनी गंगा पहले स्वर्ग लोक में थी । वहाँ से नीचे की ओर चली तो हिमालय पर्वत पर महादेव शिवजी की जटा-जूट में पहुँची । वहाँ से उतरी तो ऊँचे पर्वतों से नीचे समतल भूमि पर बहने लगी । बहते-बहते गंगा से गंगा सागर बन गयी । फिर उस समुद्र के निचले भाग में किसी निचले स्थान में थोड़ी-सी जगह पा गयी । स्वर्ग की गंगा पाताल में पहुँच गयी । इसी प्रकार जो लोग विवेक बुद्धि से काम नहीं लेते वे कहीं के नहीं रहते और अनेकों प्रकार से उनका पतन ही होता जाता है ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में नीच योनि के कुत्ते की उपमा दी थी । इस श्लोक में ऐसी उच्च कोटि की उपमा दी है जो जन्म-जन्मान्तर के पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त

होती है—स्वर्ग लोक की देवयोनि। ऐसों की भी जब बुद्धि भ्रष्ट होती है तब इनकी क्या गत बनती है ? स्वर्ग से गिरते हैं तो पाताल में पहुँच जाते हैं। सुरसरि गंगा को स्वर्ग लोक का गर्व था। वह किसी के चरणों में कैसे बैठ सकती थी। सीधे शिवजी के सिर पर ही अपने चरण जमा दिये। शिवजी के सिर पर बैठी तो उसका कुफल भोगना ही था। पतन आरम्भ हुआ। फिर वह गिरती ही जाती है। अन्त में उसका नाम व निशान ही मिट जाता है। गंगा का स्वच्छ और मधुर जल समुद्र के खारे पानी में खो जाता है।

पिछले श्लोकों में जिन अधकचरे जानकारों और अधिकारियों की चर्चा हुई थी उनमें सब-के-सब नीच कुत्ते नहीं होते। कुछ उनमें गंगाजी की तरह उच्च श्रेणी के भी होते हैं। किन्तु अपनी मूर्खता और अहंकार के कारण अपने को सबसे ऊंचा समझने लगते हैं। मूर्खतावश वह बड़ी-बड़ी बेहूदगियां कर जाते है। बुद्धि हो तो कम-से-कम इतनी बुद्धि तो हो कि उल्टी हुज्जत तो न करें। अपने अधकचरे ज्ञान और अपने अधूरे अधिकार की धुन ही घुन की तरह खा जाती है और अन्त में वही अहंकार उसे ले डूबता है।

अहंकार से आदमी गिरता क्यों है ? अहंकार के कारण जब कोई अपने को बड़ा समझने लगता है तब स्वभावतया बाकी सब उसे अपने से छोटे दीखते हैं। जब कोई उसे अपने से बड़ा दीखे ही नहीं तब वह अनुकरण करे किसका ? दूसरे बड़े दीखें तभी खुद भी बड़ा बनने की कोशिश करे, हो सके तो उनसे भी बड़ा बने। मान लो कि वही बड़ा है, कम-से-कम जिस स्थान पर वह है उसके हिसाब से। परन्तु अपने को बड़ा जताना दूसरी बात है। खुद उसकी हरकतों से लोग उसे नीच और नीचा समझने लगते हैं। अपनी धाक को बनाये रखने के लिए वह और भी नीचता करने लगता है। अपनों का अपमान करता है। श्रद्धालुओं की ताड़ना करता है। इसी प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया से उसका पतन होता जाता है। कहीं पनपने नहीं पाता। पनपने के लिए एकदम उल्टी दिशा में चलना पड़ता है, परन्तु जैसा कि पिछले श्लोक में कहा गया है, वह उसके लिए असम्भव है।

इसके विपरीत बुद्धिमान ज्ञानी बढ़ते जाते हैं। बुद्धिमान कुछ करने से पहले आगे-पीछे, नफ़ा-नुकसान सोच लेता है और ऐसा कदम उठाता है कि लाभ नहीं तो नहीं, हानि न हो। ज्ञानी को सब चीज़ें आईने की तरह दिखाई देती हैं और ज्ञान का कहीं अन्त नहीं है। इसलिए ज्ञानी पुरुष हर अवसर पर अपने को छोटा ही देखता है। अच्छों से ही क्या, वह तो बुरों से भी सीखता है। ऐसा व्यक्ति गिर कैसे सकता है ? वह तो ऊंचे-ही-ऊंचे उठता जायेगा।

कुछ लोग भोलेपन से कह जाते हैं कि हमें बढ़ना नहीं है, जैसे भी हैं, जो कुछ भी हैं, बस है। ऐसी धारणा ही गलत है। इस संसार में चाहे एक व्यक्ति हो, अथवा एक जाति या राष्ट्र, वह एक अवस्था में ठोस बनकर पत्थर के समान पड़ा नहीं रह सकता। उसे उठना है, इसलिए उसे उठने का प्रयत्न करना है। उठने का प्रयत्न नहीं करेगा तो गिरेगा। ऐसा गिरेगा कि फिर सम्भल नहीं सकेगा। इसलिए अगले श्लोक में कहा गया है कि इस प्रकार के मूर्खों की सम्भाल की फिकर ही न करें।

श्लोक १०

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक्छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदो दण्डेन गौर्गर्दभः।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रैः प्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ।।

शब्द विच्छेद

हुतभुक् छत्रेण = हुतभुक् + छत्रेण
सूर्यातपो = सूर्य + आतपः
निशितांकुशेन = निशित + अंकुशेन
गौर्गर्दभः = गौः + गर्दभः
व्याधिर्भेषज संग्रहैश्च = व्याधिः + भेषज संग्रहैः + च
विविधैर्मंत्रैः = विविध + मंत्रैः
प्रयोगैर्विषं = प्रयोगैः + विषम्
नास्त्यौषधम् = नास्ति + औषधम्

शब्दान्वय

हुतभूक् जलेन वारतितुं शक्यः, सूर्य आतपः छत्रेण,
नागेन्द्रः निशत अंकुशेन, समदः गौगर्दभः दण्डेन,
व्याधिः भेषज संग्रहैः, विषम् विविधैः मन्त्रैः प्रयोगः,
सर्वस्य शास्त्रविहितं औषधम् अस्ति, मूर्खस्य औषधम् नास्ति।

शब्दार्थ

हुतभुक् = अग्नि को
जलेन = पानी से
वारयितुं = दूर करना, ठंडा करना
शक्यः = सम्भव है,
सूर्य आतपः = सूरज की धूप को
छत्रेण = छतरी से (कम किया जा सकता है)
नागेन्द्र = गजराज को
निशित अंकुशेन = तीखे अंकुश से (काबू किया जा सकता है)
समदः = मस्ती चढ़ी हुई, मस्त
गो गर्दभः = गाय, बैल, गदहों को
दण्डेन = डंडे लाठी से (दबाया जा जा सकता है)
व्याधिः = रोगों को
भेषज संग्रहैः = औषधियां देकर (दूर किया जा सकता है।)
विषम् = सर्प आदि के विषों को
विविधैः = भिन्न-भिन्न
मंत्रः प्रयोगैः = मंत्रों-तन्त्रों से (उतारा जा सकता है)
सर्वस्य = सब के लिए
शास्त्र विहितं = शास्त्रोक्त, शास्त्रों में
औषधम् अस्ति = दवा, इलाज है (किन्तु)
मूर्खस्य = मूर्ख, उजड्ड के लिए
औषधम् नास्ति = कोई दवा, इलाज, नहीं है।

भावार्थ

आग लगे तो पानी से बुझा दें, धूप तपे तो छतरी तान लें, हाथी मस्ता जाय तो अंकुश मार कर वश में कर लें, घोड़ा, गधा बिगड़े तो डंडा मारें, बीमारी लगे तो दवा करें, सांप, बिच्छू डसे, डंक मारे तो मंत्र-तंत्र से विष उतार दें। इस प्रकार सभी के लिए कोई-न-कोई उपाय है, किन्तु जानबूझकर मूर्खता करने वाले का कोई चारा नहीं।

विशेषार्थ

इस श्लोक का मुख्याभिप्राय है—मूर्ख के लिए कोई इलाज नहीं है। वह मूर्खता करेगा और दिन-पर-दिन अधिक मूर्खता करता रहेगा। गंगा की तरह यह गिरता ही जायेगा। जब वह सुधरने का ही नहीं तब उसे उसके हाल पर ही क्यों न छोड़ दें, इसी का उत्तर इस श्लोक में दिया गया है। नहीं, उसे अनदेखा अनसुना नहीं कर सकते। इस श्लोक के अन्दर आग, धूप, मस्त हाथी, बिगड़ैल बैल, रोग, विष आदि की ओर से सावधान रहने की एक प्रकार से चेतावनी दी गयी है और उनसे बचने के उपाय भी गिनाये गये हैं। अन्त में कहा है कि मूर्ख इन सबसे भयंकर है। क्योंकि उपरोक्त चीजों से जान व माल को

खतरा है, पर मूर्ख से जान व माल के साथ मान-मर्यादा को भी जोखिम है।

ऊपर की बातों में से सिवा एक रोग के उपरोक्त धूप, आग आदि सभी वस्तुओं से मनुष्य के बहुत से काम भी चलते हैं और वे जीवन और समाज के लिए आवश्यकीय हैं। इसीलिए उनकी प्रचण्डता तथा उद्दंडता से, हो सके तो बचते हुए, न हो सके तो सहते हुए, लोग उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाते रहते हैं। परन्तु मूर्ख से नुकसान ही नुकसान है। मूर्खता महारोग है और मूर्ख महान रोगी। इस रोग की कोई दवा नहीं। महारोग से पीड़ित व्यक्ति बच सकता है, पर मूर्ख ले मरता है। रोगी बच जाता है क्योंकि औषधि का सेवन करता है। मूर्ख भी रोगी है, पर ऐसा रोगी जो दवा से दुश्मनी करता है और डंडा लेकर वैद्य का पीछा करता है। मूर्ख रोगी भी बचे यदि वह अपनी गलती को माने। मगर मूर्ख अपनी गलती को गलती नहीं मानता, उलटे उसे ठीक समझता है। इस प्रकार मूर्ख अपनी मौत को आप बुलाता है, पर अपनी मौत से पहले कइयों को वह मौत के घाट उतार देता है। उजड्ड, हिंसात्मक रूप से और खुल्लम-खुल्ला सामने आता है और सीधे अपनी सजा को पा जाता है। परन्तु सभ्य मूर्ख अहिंसात्मक रूप से टट्टी की आड़ में शिकार खेलता है और अपनी मृत्यु की डोर को ढील देता जाता है। पर अपने ही गले आप फंदा डालकर दोनों मरेंगे। आप इन दोनों का कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते। इन मूर्खों को नग्न नृत्य करने दो। चोगाधारी सुसभ्य मूर्खों को भी खुले बन्दों छोड़ दो। आप स्वयं जहां तक बन पड़े सावधान रहना और अपनी औकात-भर जनसाधारण को सावधान करना मात्र हमारा काम है। 'दुर्जनो दूरवर्जयेत्' दुर्जनों से दूर ही रहो। दुर्जन को दूर से नमस्कार, यह अहिंसात्मक प्रतिकार है।

इस श्लोक से मूर्ख पद्धति का दशक समाप्त होता है। नीति का पहला पाठ मूर्खता से आरम्भ ! यह क्या नीति है भर्तृहरि की ? पहले बाधाओं से बचे, तब कहीं बढ़ सके आगे कोई। भूले-भटकों को सीधी राह पर डाल देना अच्छा है, पर उस राह में पड़ने वाले गड्ढे, गर्तों से सावधान करना और भी जरूरी है। तभी बाधाओं से बचते हुए मंजिल पर पहुंच पाना सम्भव होगा।

प्रथम दशक का सारांश

मंगलाचरण—नैतिकता सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक है।
श्लोक—१. बड़े और भलों में भी बुराई होती है।
" २. अधचकरे अधिकारी को कोई प्रसन्न नहीं कर सकता।
" ३. हठधर्मी को मनाना असम्भव है।

श्लोक— ४. हठधर्मी को सधाना असाध्य है।
" ५. मूर्ख को मनाने की चेष्टा व्यर्थ है।
" ६. मूर्ख मौन से भी मान बढ़ा लेता है।
" ७. अहंकार महारोग है।
" ८. नीच को नीचता ही जचती है।
" ९. उच्च जन भी नीचता को प्राप्त होते हैं।
" १०. मूर्खता लाइलाज मर्ज है।

श्लोक ११

॥ विद्वत्पद्धतिः ॥

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरं गिरः शिष्यप्रदेयागमा
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य सुधियस्त्वर्थंविनाऽपीश्वराः
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षकैर्न मणयो यैरर्घतः पातिताः॥

शब्द विच्छेद

शास्त्रोपस्कृत = शास्त्र + उपस्कृत
प्रदेयागमाः = प्रदेय + आगमाः
प्रभोर्निर्धनाः = प्रभोः + निर्धनाः
तज्जड्यं = तत् + जाड्यं
वसुधाधिपस्य = वसुधा + अधिपस्य
सुधियस्त्वर्थं = सुधियः + तु + अर्थं
विनाऽपीश्वराः = विना + अपि + ईश्वराः
कुपरीक्षकैर्न = कुपरीक्षकैः + न
यैरर्घतः = यैः + अर्घतः

शब्दान्वय

यस्य प्रभोः विषये शास्त्र उपस्कृत सुन्दर शब्द गिरः
शिष्यः आगमाः प्रदेय विख्याताः कवयः निर्धनाः वसन्ति
तत् वसुधाधिपस्य जाड्यं, सुधियःतु अर्थं विना अपि ईश्वराः
यैः कुपरीक्षकैः मणयः अर्धतः पातिताः ते कुत्स्याः स्युः न मणयः

शब्दार्थ

यस्य=जिस
प्रभोः=राजा के
विषये=देश में
शास्त्र उपस्कृत=सकल शास्त्रों से (शास्त्रों के ज्ञाता) सुशोभित
सुन्दर शब्द गिरः=(जो) सुन्दर भाषा बोलते हों,
(और जो)
शिष्यः=विद्यार्थियों को
आगमाः=शास्त्र विद्याएं
प्रदेय=देते हों=सकल शास्त्र सिखाते हों,
विख्याताः कवयः=प्रसिद्ध विद्वान
निर्धनाः वसन्ति=दरिद्र बने रहते हैं,
तत् वसुधाधिपस्य=उस राजा की
जाड्यं=जड़ता है, मूर्खता है (क्योंकि)
सुधियाः=बुद्धिमान् जन
अर्थ विना अपि=धन के बिना भी
ईश्वराः=सम्पन्न, समर्थ ही हैं,
यैः कुपरीक्षकैः=जिन कुपरीक्षकों द्वारा
मणयः अर्धतः पातिताः=रत्न मूल्य से गिराये गये, अर्थात् जो जौहरी हीरों का असली मूल्य न आंकें,
ते=वही
ते कुत्स्याः स्युः=कुत्सित हैं, कुटिल हैं, (इस से)
न मणयः (कुत्स्याः स्युः)=वह रतन, हीरे कुटिल नहीं होते, खोटे नहीं होते।

भावार्थ

सकल शास्त्र वेत्ता, विद्वान् और विशेषज्ञ जो सुन्दर और मीठी वाणी बोलते हों, और अपने विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं को प्रेम से दिल खोलकर सिखाते समझाते हों, ऐसे व्यक्ति जिस स्थान अथवा प्रदेश में दरिद्रावस्था में पड़े सड़ते रहें, वह उस स्थान या प्रदेश के अधिष्ठाताओं की दुष्टता के द्योतक हैं। ऐसे विद्वान् धनहीन भले ही हों, पर मनवान होते हैं जो धनवानों से कहीं महान हैं। जौहरी यदि पारखी न हो तो इसमें हीरे का क्या कसूर ?

विशेषार्थ

इस श्लोक से चर्चा का विषय बदल जाता है। मूर्खराज और विद्वान् की तुलनात्मक विवेचना है। कोई भी विषय हो चर्चा के अन्तर्गत कुछ अन्य सापेक्षिक विषय आ ही जाते हैं। देखना यही है कि प्राधानता किस को प्राप्त है।

इन श्लोक में वास्तव में दो विषयों की चर्चा है। वृत्ति विशेष की बात है, व्यक्ति विशेष की नहीं। एक है पोषण-प्रवृत्ति और दूसरी है शोषण-प्रवृत्ति। रूप कुछ भी हो, क्षेत्र कोई हो, यही दो प्रवृत्तियां प्रेरक होती हैं। क्रमशः अध्यापक और अधिकारी इन दो प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। कदाचित् यह भी देखने में आता है कि अध्यापक अधिकार-प्रवृत्ति से प्रेरित होता है और अधिकारी अध्यापन-प्रवृत्ति से। ऐसी दशा में वह अधिकारी वास्तव में अध्यापक है और वह अपने अधिकार को प्रायः अपने विशाल क्षेत्र में अध्यापन के लिए प्रयोग करता है। इसी प्रकार वह अध्यापक अपने संकुचित क्षेत्र में अधिकार चलाता है। अध्यापन प्रवृत्तिवाला अधिकारी भी समाज के लिए हितकर सिद्ध होता है और अधिकार प्रवृत्ति वाला अध्यापक हानिकारक। ऐसा अफसर लोगों की श्रद्धा का पात्र बन जाता है और ऐसे अध्यापक की खुद उसके विद्यार्थी खिल्ली उड़ाते हैं।

इन सब बातों से एक ही बात प्रमाणित होती है कि शिक्षक का दरजा ऊंचा है। इसलिए श्लोक में अधिकारूढ़ व्यक्ति को प्रभु कहा है जबकि विद्वान् को ईश्वर की पदवी दी है।

कोई कह सकता है कि शब्द 'प्रभु' राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है, आज-कल के अधिकारियों को इसमें घसीटना नहीं चाहिए। समय के अनुसार प्रभुता के रूप बदल गए हैं। आजकल के प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री, और उनकी सारी मण्डली मंत्रियों की और छोटे बड़े अफसर, अधिकारी सब इसी प्रभु श्रेणी में आते हैं। एक बात यह भी ध्यान में रहे कि प्रभुत्व के रूप बदलते रहे हैं, किन्तु शिक्षक, सुधारक अर्थात् ज्ञानी, विद्वान् का रूप सदा एक-सा रहता है और यह ईश्वरीय गुण है।

इस श्लोक में अध्यापक और अधिकारी के जो गुण गिनाये गये हैं वह भी ध्यान देने योग्य हैं। शिक्षक के विशेषण सकारात्मक हैं जबकि अधिकारी के नकारात्मक। तोले को माशा और माशा को तोला कहने वाला अधिकार पाने का अधिकारी नहीं है। शिक्षक अपनी विद्या का पारंगत हो, मधुर भाषी हो,

विद्यादान में बनियौटी न करे और अन्त में भले ही दरिद्र रहे, पर मन का धनी बना रहे।

यहाँ पर पिल्ला पिल्लों की बात नहीं हो रही है। प्रतिभावानों के बारे में चर्चा हो रही है। आजकल भी शिक्षित प्रतिभावान दो ही श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं। पहले बैरिस्टर बनना चाहते थे अब एडवोकेट। पहले आई० सी० एस० बनना चाहते थे अब आई० ए० एस० बनाना चाहते हैं। यह अधिकार प्रवृत्ति है कि ऊंची नौकरी मिले, बहुत पैसा कमाएँ। बड़े कहलावें। झूठा हो या सच्चा, तुरन्त मुकदमा जीतने से मतलब है। आगे क्या होगा इसकी फिक्र वह क्यों करे? शिक्षितों की दूसरी श्रेणी से अध्यापक, प्राध्यापक, लेखक, पत्रकार बनते हैं। शिवि, जनक, राम, कृष्ण राजा नहीं थे, शिक्षक थे। टैगौर ने इसीलिए शिक्षालय चलाया, तिलक इसीलिए प्रोफेसर बनना चाहते थे और गांधी ने अन्तिम श्वास शिक्षा में ली। इनके सामने न अपनी बात होती है और न आज की बात। नन्हा-सा बच्चा स्कूल में मास्टर साहब के पास आता है। मास्टर साहब को यह फ़िक्र नहीं कि वह कै साल उसे स्वयं आप पढ़ायेगा। फिर भी उस छोटे बच्चे को तैयार करना चाहता है, मैट्रिक, बी० ए०, एम० ए०, डाक्टर वगैरह के लिए। वह जानता है उस छोटे बच्चे को बड़ा होने तक आप ही पढ़ाता नहीं रहेगा। फिर भी वह चाहता है कि बीस साल तक की पढ़ाई के बाद लड़का कैसा तैयार हो। मास्टर बीस वर्षीय योजना बनाता है। लेखक शत-वर्षीय योजना प्रस्तुत करता है। और यह दोनों भूखे मरते हैं, जबकि अपनी और आज की बात सोचने वाले प्रभुत्व पाते हैं। अन्धा पीसे—कुत्ता खाय!

समाज की उन्नति कैसे हो? इस पचड़े में पड़ने की विशेष आवश्यकता नहीं है। आजकल कहा जाता है अमुक देश अत्यन्त उन्नत हैं, अगाड़ी बढ़ रहे हैं और अमुक देशों की पिछाड़ी कसी हुई है। इस अगाड़ी पिछाड़ी की निशानी क्या? क्या ईंट, पत्थर, लोहा लक्कड़ ही तरक्की हैं? पिछड़े हुए कैसे पछाड़े गये, कभी किसी ने मनन किया? वास्तविक रूप में बढ़े हुए राष्ट्रों की, या जो बढ़ने की क्षमता या आशा रख सकते हैं, उन सबकी पहचान की एक कसौटी है, वह है उस समाज में शिक्षक की कितनी मान मर्यादा है। धन बहुत गौण है। धन एक साधन मात्र है जीवनयापन का। जो प्रभुत्व जीवन निर्वाह का यह अनिवार्य साधन पर्याप्त मात्र में प्रस्तुत नहीं करता वह प्रभुत्व वास्तव में समाज के निर्माता को निर्जीव कर, नीरस बनाकर मार डालना चाहता है। प्रभुत्व में शिक्षित व्यक्ति होते हैं और अपने गुरु को प्राणदण्ड का फतवा दे बैठते हैं।

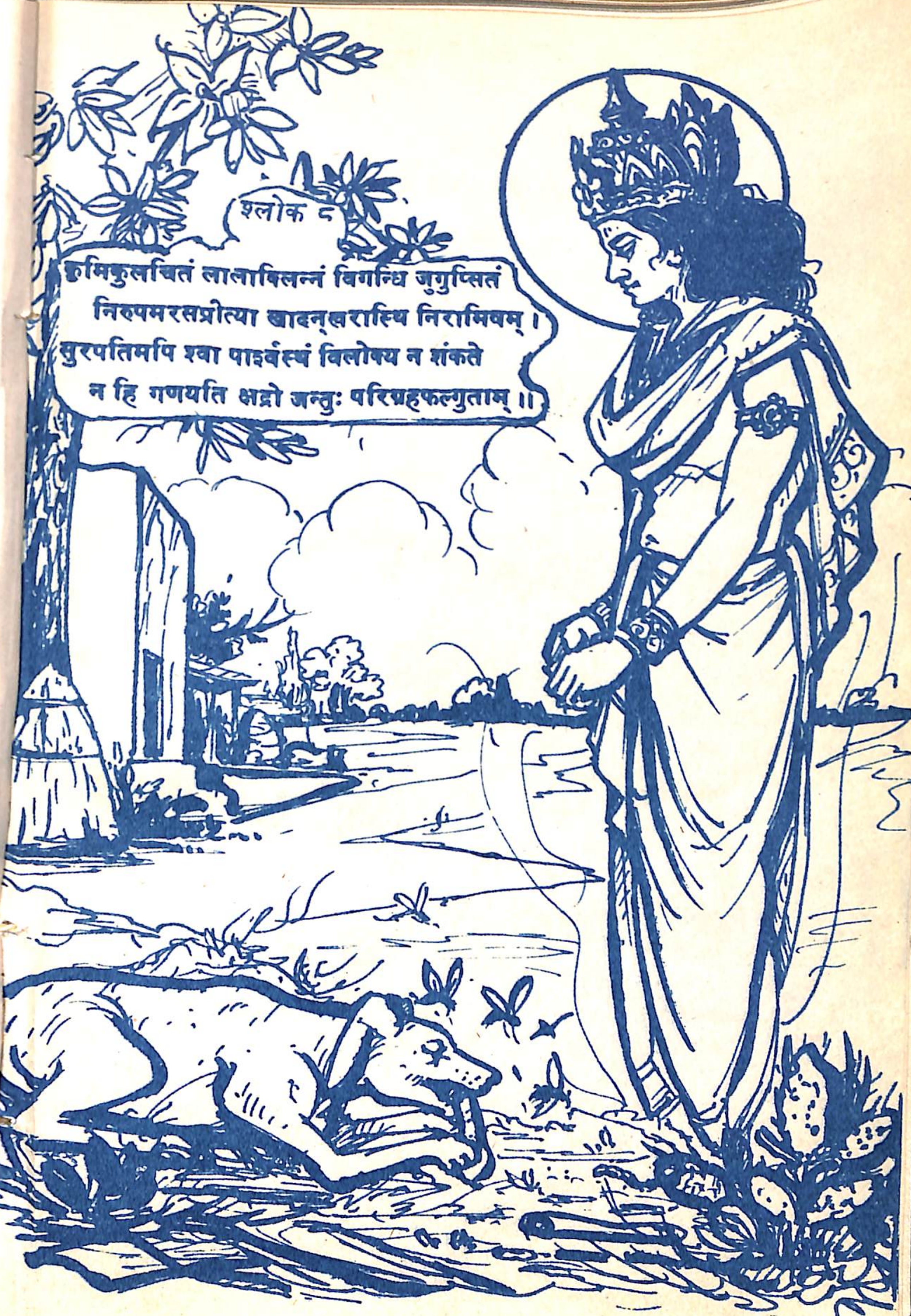

श्लोक ८

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं
निरुपमरसप्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् ।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शंकते
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ॥

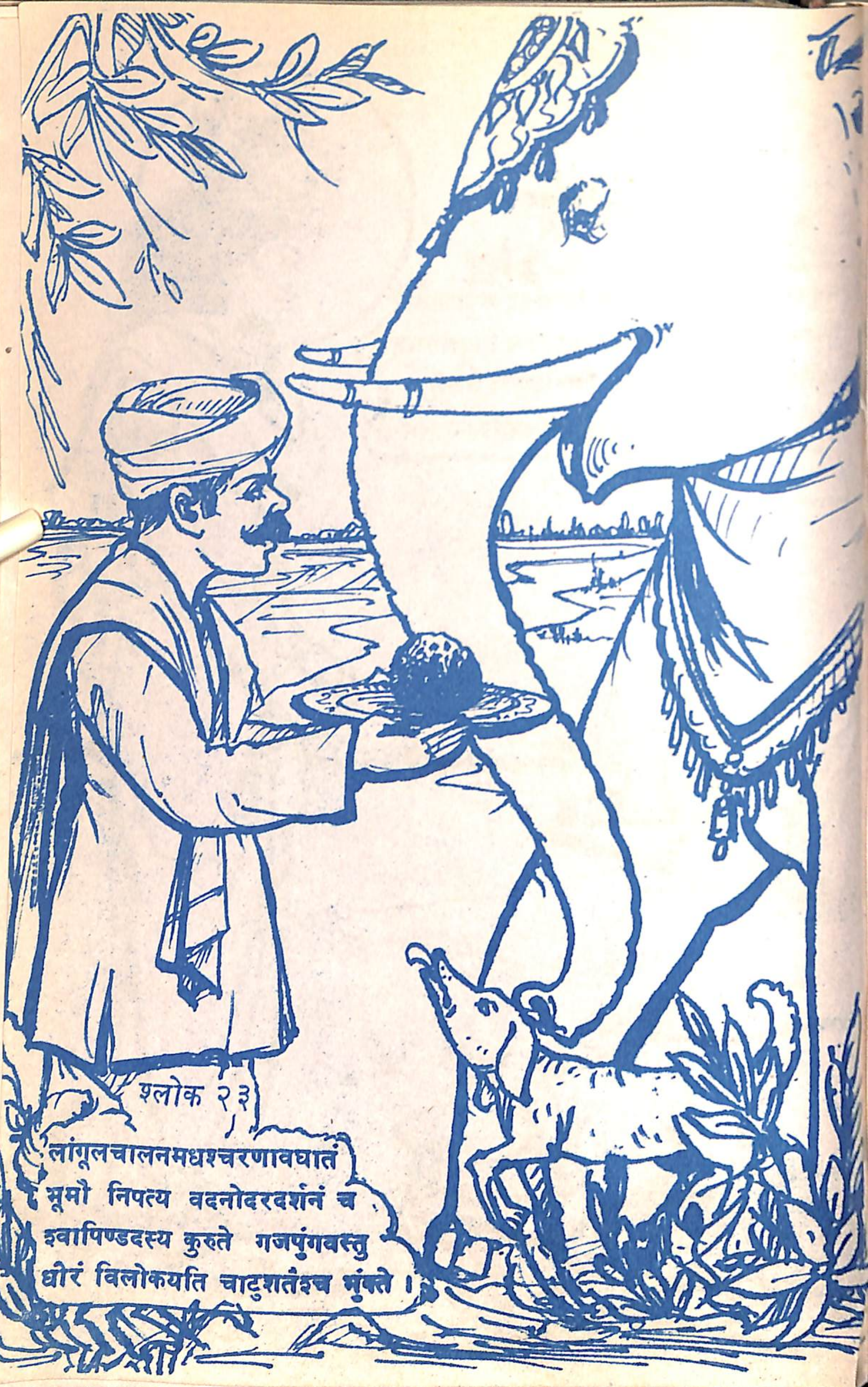

श्लोक २३

लांगूलचालनमधश्चरणावघातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च
श्वापिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुंक्ते ।

शिक्षक को शिक्षादान के समतुल्य प्रतिफल कोई दे ही नहीं सकता । पहले राम को राम बनाने वाले वशिष्ट, विश्वामित्र को किसने धन से नहवाया था ? आज जवाहर बनाने वाले को कौन जवाहरात भर दिये ? राष्ट्रों के बजट क्या हैं, बकासुर के पेट हैं । निरे नाम पर नोट चलते हैं। सौ-सौ के नोट की कीमत क्या है, बस पुराने जूतों के तल्ले और इनके बिना समाज-निर्माता मास्टरों के तलुए छिले जा रहे हैं । वास्तविक शिक्षकों को, छिले तलुओं की परवाह नहीं, किन्तु उनका दिल कलपता है इन कृतघ्न शिष्य मंडली को देखकर जो स्वर्ग और नरक के कर्ताधर्ता बने हुए हैं । ये कर्ताधर्ता कैसे जो दूसरे राष्ट्रों के खिलाड़ियों के चमत्कारों को बरदाश्त नहीं कर सकते और नहीं बरदाश्त कर सकते अपने ही देश में किसी अपने आदमी को बढ़ते हुए ! जिन्हें इन्होंने ठुकराया उन्हें औरों ने सिर आँखों रख लिया तो फिर उन्हें अपनाने के दावेदार कैसे बनते हैं ? और ये दावेदार आज भी कितने ही रत्नों को रौंदे जा रहे हैं । मूर्खराज में यही हुआ करता है ।

कोई कुछ बने, पर कृतघ्न न बने । राष्ट्रों का निर्माण शिक्षकों की शिक्षा से हुआ है, प्रभुओं के प्रहार से नहीं । समाज की रीढ़ लोहे लक्कड़ के गर्डर, शहतीर से सीधी न होगी, होगी शिक्षक की मान मर्यादा से । मामूली मास्टर किसी प्रेजीडेंट, प्रधान, मिनिस्टर, गवर्नर, डायरेक्टर किसी के पास जाय, वह कुर्सी से उठकर उसका स्वागत करे, ठीक अपने जन्मदाता गुरु के समान । फिर दोषी हो तो कड़ी-से-कड़ी सजा दे तो कोई हर्ज नहीं। जिस सड़क, गली से अध्यापक निकले सभी कारोबारी उठकर नमस्कार करें। तब कहीं उनकी सन्तान आगे चलकर सुदृढ़ स्तम्भ बनेंगे ।

श्लोक १२

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा-
प्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम् ।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते ।।

शब्द विच्छेद

हर्तुर्याति = हर्तुः + याति
किमपि = किम् + अपि
यत्सर्वदाप्यर्थिभ्यः = यत् + सर्वदा + अपि + अर्थिभ्यः
प्रतिपाद्यमानमनिशं = प्रति पाद्यमानम् + अनिशम्
कल्पान्तेष्वपि = कल्प + अंतेषु + अपि
विद्याख्यमन्तर्धनं = विद्या + आख्यम् + अंतः + धनम
मानमुज्झत = मानम् + उज्झत
कस्तैः = कः + तैः

शब्दान्वय

विद्याख्यम् यत् अन्तर्धनं हर्तुः गोचरं न याति
सर्वदा किम् अपि शं पुष्णाति अनिशं अभ्यर्थिभ्यः
प्रतिपाद्यमानम् अपि परां वृद्धि प्राप्नोति
कल्पान्तेषु अपि निधनं न प्रयाति
नृपाः, येषां तान् प्रति मानम् उज्झत, कः तैः सह स्पर्धते ?

शब्दार्थ

विद्या आख्यम् = विद्या नाम का
यत् अन्तःधनम् = जो गुप्त धन है, (वह)
हर्तुः = चोरों को
गोचरं नयाति = दीख नहीं पड़ता
सर्वदा = सदा हमेशा
किं अपि = कुछ ऐसी
शं = शान्ति, मानसिक सुख
पुष्णाति = बढ़ाती रहती है (और)
अनिशं = रात-दिन, हमेशा
अभ्यर्थिभ्यः = विद्यार्थियों को, जिज्ञासुओं को,
प्रतिपाद्यमानम् अपि = दिये जाते रहने पर भी, विद्या दान करते हुए भी
परां वृद्धि प्राप्नोति = और भी अधिक बढ़ती जाती है, (और)
कल्पान्तेषु अपि = प्रलय काल में भी
निधनं न प्रयाति = नष्ट नहीं होती, विनाश को प्राप्त नहीं होती,
नृपाः = हे प्रभु गणो
येषाम् = ऐसे जो (विद्वान्) हैं
तान् प्रति = उनके विरुद्ध
मानम् = अपने घमंड को
उज्झत = छोड़ दो, (क्योंकि)
कः = कौन
तैः सह = उनके साथ
स्पर्धते = होड़ ले सकता है, अर्थात् कोई ऐसे विद्वानों के सामने टिक नहीं सकता

भावार्थ

विद्या एक ऐसा धन है कि चोर उसको हर नहीं सकता। विद्या-ज्ञान से मन को सदा शान्ति मिलती रहती है। रात-दिन बाँटते रहने पर भी वह बढ़ता जाता है, घटता नहीं। और यह संसार जब तक रहेगा तब तक वह भी बना रहेगा और उसके बाद भी विद्यमान रहेगा। हे प्रभुजनो, ऐसा विद्या-धन जिनके पास है उनके प्रति तुम लोग अपना घमंड दिखाओ नहीं, क्योंकि ज्ञानी विद्वानों से टक्कर लेकर कोई टिक नहीं सकता।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में ज्ञानी, विद्वानों की दुर्दशा का चित्रण था और उस दुर्दशा का कारण बताया था प्रभुओं की ओर से उनके प्रति उदासीनता। इसी कारण यह धनाभाव में दरिद्रता से पीड़ित हो रहे हैं और वे प्रभुता तथा धन पाकर घमंडी बने हुए हैं। धन और अधिकार का आपस में चोली-दामन का साथ है। धन से और दौर्जन्य से भी प्रभुता मिलती है और प्रायः प्रभुता से धनोपार्जन तथा दौर्जन्य किया जाता है। इस प्रकार धन मुख्य साधन बना सांसारिक सुख और दुख का। इस श्लोक में सिद्ध किया गया है कि यह निरा भ्रम है। धन से भी बड़ी चीज है विद्या और विद्याधन साधारण धन से उत्कृष्ट है। कैसे ?

इस श्लोक में यद्यपि विद्या धन की ही प्रतिष्ठा गायी गयी है, तथापि सोने, चाँदी अथवा आजकल के कागजी नोटों वाले धन से विद्या धन का मिलान करके विद्या धन की उत्कृष्टता सिद्ध की गयी है। धन के जुटाने की बात ही लें तो सांसारिक धन के एकत्र करने में भी स्वयं अपने को तथा दूसरों को अनेकों प्रकार के दुःख देने उठाने पड़ते हैं और पाप का भागीदार बनना पड़ता है। इसके विपरीत विद्या धन के अर्जन में किसी प्रकार के पाप की आशंका नहीं है। किसी प्रकार धनोपार्जन करने वाले के पास धन इकट्ठा हो गया और विद्योपार्जनवाला विद्वान् तथा ज्ञानी बन गया तब दोनों की स्थिति में मिलान करके देखिए। धनवान भी धन सबको देता है। सरकार की ओर से नाना प्रकार के टैक्सों द्वारा उस धन का हरण होता है। साधारण जन भी उस धन की ओर लालच से देखते हैं। चोर मौका पाकर उड़ा ले जाते हैं। जरूरतमंद लोग कर्जे अथवा दान धर्म के नाम पर मांगते रहते हैं। धन घटता जाता है। उसे बचाने के लिए धनी झूठ बोलता है। चोरों से छिपा रखता है। इन तमाम आशंकाओं के कारण धनी चैन की नींद

सो नहीं पाता। इसके विपरीत विद्वान् की विद्या को कोई हर नहीं सकता। विद्वत्ता के नाते सरकार भी उस पर टेक्स नहीं लगाती। विद्या को उधार माँगने का प्रश्न ही नहीं उठता। बल्कि लोग उल्टे पैसे देकर पढ़ा करते हैं, या पढ़े हुए से काम लेते हैं, फीस देते हैं, वेतन देते हैं। विद्या को यों न बेचकर मुफ्त में जिसको जो चाहे, या जो जिसके योग्य हो उसे खुले दिल से विद्या दान करते जायें तब भी विद्या-धन घटने की बजाय बढ़ता ही जाता है। दुनिया में कितना भी धन कोई इकट्ठा करे, कुछ ही पुश्तों में उनकी सन्तान टुकड़ों की मुहताज हो जाती है। स्वयं वह धनी जिसने इतने कष्ट सहकर धन जुटाया, पता नहीं कब का स्वर्ग या नरक सिधारा होगा, नाम भी कोई नहीं जानता। परन्तु विद्वान् के प्रति श्लोक में कहा गया है कि कल्पांत में भी विद्या-धन विनाश को प्राप्त नहीं होता। क्या विद्वान् नहीं मरता। जरूर मरता है, किन्तु उसकी ख्याति कभी नहीं मरती। वह ऐसी चीजें छोड़ जाता है कि प्रलयादि का भी उस पर प्रभाव नहीं पड़ सकता। कोट, किले, मन्दिर, तटाक सभी नश्वर हैं। किन्तु वेद, उपनिषद, गीता, भर्तृहरि सदा अमर रहेंगे। ऐसे हुतात्माओं से होड़ करते हैं यह दो दिन के प्रभु और यह चार दिन के धनी ? खुद वह भी और उनका धन और प्रभुता भी फूंक की मेहमान है। यह साहस नहीं, ज्ञानी विद्वानों से होड़ लेने का दुस्साहस करते हैं। यह होड़ क्या लेंगे। हाँ, डाह कर सकते हैं, जलन से आप ही पीड़ित हो सकते हैं और जलकर राख हो सकते हैं और राख हवा में उड़कर बेनाम बेनिशान हो सकते हैं। इसलिए बुद्धिमानी यही है कि वह अपने प्रभुत्व और यह अपने धन को ज्ञानी विद्वानों की सेवा में सादर समर्पित करें। इसी में उन दोनों का निस्तार है। दुनिया में ऐसे धनी और प्रभु भी हुए हैं।

अन्त में यह भी स्पष्ट रहे कि हर विद्वान् कहाने वाला विद्वान् नहीं है। बहुत सारे विद्वान् भी उतने ही लोभी, लालची और घमंडी होते हैं और विद्या को दूषित करते हैं, उसका दुरुपयोग करके धन और प्रभुत्व को, नौकरी आदि रूप में ही सही, हथियाना चाहते हैं। ऐसे विद्वान् उन धनियों और प्रभुओं से भी गये-गुजरे नारकी हैं। वह प्रभु कदाचित किसी सीमा तक क्षम्य हो सकते हैं किन्तु यह विद्वान् कदापि नहीं। श्लोक में विद्याधन के गुण गाते हुए विद्वान् के कर्त्तव्य भी गिनाये गये हैं। विद्वान् को चाहिए कि अपनी विद्वत्ता पर अहंकार न करे, कितना भी अपमान सहना पड़े, कैसे भी घोर कष्ट उठाने पड़ें, उसके मन की शान्ति भंग न हो। पुरस्कार की माँग करके या समय के अभाव का बहाना करके विद्या दान में भी लोभी न बने। सदा अध्ययन से ज्ञान वृद्धि करता रहे और अन्त में ऐसी कृति, स्मृति छोड़ जाय जो सदा अमर रहे और कल्पान्त में भी सुरक्षित रहे।

सुरक्षित जरूर रहेगी क्योंकि वह 'अक्षर' है।

ध्यान रहे श्लोक में विद्वान् की प्रशंसा करते हुए प्रभुत्व की ताड़ना अधिक की गयी है। प्रभुत्व को चेतावनी दी गयी है कि वह विद्वान् से टक्कर न ले। देश के विद्वानों से, यदि वह सचमुच विद्वान हैं तो, परोक्ष रूप में कहा गया है कि वे राज के हाथों न बिकें और अपने साथी विद्वानों के साथ और जिज्ञासुओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर प्रभुत्व से टक्कर लें और विद्या धन की मान मर्यादा की स्थापना करें। एक ओर राज्य से कहा गया है कि विद्वानों से मोर्चा मत लो तो दूसरी ओर विद्वानों को परामर्श दिया गया है कि अपना मोर्चा बाँधो।

श्लोक १३

परिगत परमार्थान्पण्डितान्माऽवमंस्था—
स्तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि।
अभिनवमदरेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥

शब्द विच्छेद

परमार्थन्पण्डितान्माऽवमंस्थाः = परमअर्थान् + पण्डितान् + मा + अवमंस्थाः

तृणमिव = तृणम् + इव

लक्ष्मीर्नैव = लक्ष्मीः + न + एव

बिसतन्तुर्वारणं = बिस तन्तुः + वारणं

शब्दान्वय

परमार्थान् परिगत पण्डितान् मा अवमंस्थाः
लक्ष्मीः तृणम् इव लघु तान् न एव संरुणद्धि
अभि नव मद रेखा श्याम गण्डस्थलानां वारणानानां
बिस तन्तुः वारणं न भवति।

शब्दार्थ

परमअर्थान् = परमार्थ तत्व को, असली प्रयोजन को
परिगत = पाये हुए, भलीभाँति समझे हुए
पण्डितान् = ज्ञानी विद्वानों का (हे राजन् तू)
मा अवमस्था: = अपमान मत कर, (क्योंकि जिनके लिए)
लक्ष्मी: = धन वैभव
तृणम्इव = तिनके के समान
लघु = तुच्छ है
तान् = उन्हें
न एव संरुणद्धि = नहीं ही बाँध सकती।
अभिनव = एकदम नयी
मद रेखा = मस्ती की जलधारा से
श्याम गण्डस्थलानां = सियाह बने हुए कलुआए माथेवाले
वारणानानां = हाथियों को
बिस तन्तु: = कमल के डंठलों से
वारणं न भवति = बाँधा नहीं जा सकता।

भावार्थ

जिन ज्ञानी विद्वानों ने परम तत्व को पा लिया है उनका, हे राजन्, तू अपमान मत कर। वे तेरे धन और वैभव को तिनके के समान तुच्छ मानते हैं। जिस प्रकार कमल का कोमल डंठल किसी मस्त हाथी को बाँध रख नहीं सकता उसी प्रकार धन वैभव द्वारा किसी ज्ञानी विद्वान् को अपने अधीन रखना असम्भव है। वह सदा स्वच्छन्द रहता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में विद्या को कल्पान्त में भी विनाश न होने वाला बताया था और इस श्लोक में विद्वान् को परमार्थदर्शी बताया है।

यह परमार्थ क्या है? परम्, अर्थ अर्थात् श्रेष्ठ अर्थ। 'अर्थ' बड़ा व्यापक शब्द है। 'अर्थ' के दो अर्थ अधिक प्रचलित हैं—एक धन दूसरे शब्द के अर्थ अभिप्राय, माने, मतलब, उद्देश्य। दोनों अलग-अलग वस्तु हैं। एक अर्थ का मालिक राजा है, दूसरे अर्थ का स्वामी पंडित-विद्वान्। इनमें बड़ा कौन? साधारणतया धनी जन विद्वान् को अपने अधीन कर लेते हैं। धन के साथ राज भी मिल जाय तो विद्वान् पानी भरने बल्कि चिलम भरने लग जाते हैं। दुनिया धन

से चलती है। जिसमें जितनी क्षमता है उतना वह कमाता है, खर्च करता है। इसलिए दुनियादारी में जो पड़ेंगे उन्हें अपने से बड़े धनी के अधीन होना ही होगा। यदि विद्वान् ने भी यही किया तो उसका सारा शब्द भण्डार भी धनागार का एक सिक्का मात्र है। जिन दिनों केवल धातु के सिक्के का चलन था—अब तो नोट चला है—सिक्के को अंगूठे के नाखून पर उछालते तो वह खनखनाता था। धन के लोभ में पड़े हुए विद्वान् के शब्दों में भी रुपये की छनछनाहट होती है। बिचारा बंधा हुआ है सोने चाँदी की जंजीरों में, या नोटों के पुलंदों में बेबस पड़ा हुआ है।

परन्तु इस श्लोक में जिस प्रकार के विद्वान् की ओर संकेत है वह दूसरे ही प्रकार का विद्वान् है। एकदम उलट है। इसी दुनिया में रहता है, पर दुनिया के बंधनों से परे रहता है। दुनिया में जैसे-तैसे जीवन बिताने के लिए वह धन का गुलाम नहीं बनता। इस अर्थशास्त्र को वह निरर्थक समझता है। वह जो शब्द मुंह से निकालता है वह उसके अर्थ को न केवल समझता है बल्कि उसको दिल से मानता है और उसी पर अमल करता है। मुँह देखी नहीं कहता। मजूरी पर दूसरे का ढिंढोरा नहीं पीटता। अर्थ का अनर्थ नहीं करता। क्यों? 'परिगत परमार्थान्' वह परम अर्थ को पा गया है—परम अर्थ अर्थात् उत्तम धन। जो असली धन को पा गया हो वह कैसे इस झूठे धन के लोभ में पड़कर अपने विद्याधन का अपमान करेगा? दोनों अर्थों के प्रयोजन को वह भलीभाँति जानता है। पैसा तो मैल है किसी दूसरे हाथ का धुला हुआ और हमें भी मल के समान धोकर बहाना है। इस आया-गया के लिए उस अमर आत्मा की हत्या कैसे करेगा वह? इस सत्य विद्या के अर्थ अर्थात् प्रयोजन को वह खूब जानता है। केवल जानता ही नहीं बल्कि नित्य जीवन में विपदाओं की परवाह न कर पल-पल उस पर अमल करता है और उससे उस परमार्थ को प्राप्त होता जाता है। वह परमार्थ हो या न हो, पर यह स्वयं किसी परमार्थ से कम नहीं है। वह स्वयं ऐसे शक्तिमान बन जाते हैं कि दुनिया की बड़ी-से-बड़ी शक्ति उन्हें दबा नहीं सकती। ऐसे पुरुष को यदि कोई चाहे कि अपने दरबार में कुछ मान-मर्यादा बढ़ाकर और उसके घर पर कुछ धन-दौलत पहुँचाकर बस में कर ले तो यह असम्भव है। कहाँ मस्त हाथी और कहाँ कोमल कमल के डंठल!

इस श्लोक में भी वही धारा बह रही है जो पिछले श्लोक में थी। ज्ञानी विद्वान् की महत्ता को जताते हुए प्रभुत्व को झंझोड़ा गया है। खबरदार, इन्हें लोभ लालच देकर खरीदने की जुर्रत न करना। पिछले श्लोक में राजा से कहा था विद्वानों से लड़ना मत, क्योंकि उनसे लड़कर राज पनपेगा नहीं। लड़ाई के हौसले

टूट गये। तब विद्वानों को वश में कैसे रखें ? खूब खिलाओ, पिलाओ, धन दौलत की भेंट चढ़ा दो, आप ही चुप मारकर बैठ जायेंगे। श्लोक कहता है कि यह भी भ्रम है। सरस्वती के पुजारी लक्ष्मी के मोहपाश में बँधने वाले नहीं। दूसरी ओर विद्वानों की ओर संकेत है कि अर्थ को लतियाओ और परमार्थ को साधो। परम अर्थ जिसमें सबका कल्याण हो, केवल अपना नहीं, समूचे समाज का।

श्लोक १४

अम्भोजिनीवन विलासनिवासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः ।।

शब्द विच्छेद

निवासमेव = निवासम् + एव
न त्वस्य = न + तु + अस्य
कीर्तिमपहर्तुमसौ = कीर्ति + अपहर्तुं + असौ

शब्दान्वय

विधाता नितरां कुपितः हंसस्य अम्भोजिनी
वनविलास निवासम् एव हन्ति,
तु अस्य दुग्ध जल भेद विधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्य कीर्ति अपहर्तुं असौ न समर्थः ।

शब्दार्थ

विधाता = ब्रह्मा
नितरां = अत्यंत, बहुत ही
कुपितः = बिगड़कर
हंसस्य = हंस के
अम्भोजिनी वन = कमल ताल में
विहार = विचरने के
विलासम एव = मौज, सुख को ही
हन्ति = समाप्त कर सकता है
तु = परन्तु
अस्य = उसके, हंस के
दुग्ध जल = दूध और जल को
भेद विधौ = अलगाने की विधि में
प्रसिद्धां = मशहूर
वैदग्ध्य = निपुणता की
कीर्ति = यश को
अपहर्तुं = हरण करने में, छीनने में
असो = वह ब्रह्मा
न समर्थः = असमर्थ है।

भावार्थ

संसार के सकल चराचर का सिरजनहार प्रजापति ब्रह्मा भी हंस जैसे पक्षी पर, यदि बहुत ही नाराज हो जाय तो, अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकता है कि उस हंस के जल-विहार के सुख तथा आनन्द को रोक मात्र दे, किन्तु उस हंस में दूध और पानी को अलग-अलग करने की जो क्षमता है और इस असाधारण क्षमता के कारण उसकी जो ख्याति है उसे हंस से छीन सकने में सर्वथा असमर्थ है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में राजा को उद्देश्य करके कहा गया था कि हे राजन्, तू ज्ञानी विद्वानों के प्रति अपना घमंड न दिखा, विद्वान् मस्त हाथी के समान है। इस पर शंका उठ सकती है कि ऐसे ज्ञानी स्वयं गर्वी होते हैं और प्रभुओं का अपमान करने पर तुले रहते हैं। राजा या राज इसे सह कैसे सकता है। इस श्लोक में इस दम्भ को भी दबोचा गया है और कहा गया है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा भी ज्ञानी का कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

ठीक है कि राजा या राज्याधिकारी और धनियों को संसार में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि वह स्थान कुछ ही दिनों का मेहमान है। अधिक-से-अधिक उनके जीवनांत तक वह स्थान सुरक्षित है। इसके विपरीत विद्वानों की प्रतिभा कल्पांत तक सुरक्षित रह सकती है, भले ही उनका भौतिक शरीर न रहे। इसमें विद्वान् का क्या कसूर ! सत्य विद्या स्वयं अविनाशी

है। प्रतिभा अविनाशी है पर प्रभुता नाशवान। प्रभुता प्रतिभा की मुहताज है। बिना प्रतिभा के प्रभुता चल नहीं सकती। संसार में सभी सम्पन्न और अधिकारी किसी में कोई विशेषता देखें तो उसे अपने पास रखते हैं। विशेषज्ञ अधीनता स्वीकार कर लेता है, किंतु सच्चा विशेषज्ञ अपनी स्वाधीनता तथा स्वाभिमान को तिलांजलि नहीं दे सकता, जो वास्तव में उसकी विशेषज्ञता की मूलभूत भित्ति है। यहीं पर आकर परस्पर कटुता का बीजारोपण होता है। ऐसी परिस्थिति में अन्ततोगत्वा हानि किसकी होती है ? हानि प्रभु की होती है, परिचारक की नहीं। घर गृहस्थी या व्यक्तिगत परिस्थितियों से मजबूर कोई कुछ करे, पर अनमना काम अच्छा नहीं हो सकता। मालिक की दशा साँप छछूंदर की सी हो जाती है, निगल सके न छोड़ सके। रखें तो काम खराब, छोड़े तो हो सकता है कि प्रतिस्पर्धी खुद उसी के विरुद्ध उस विशेषज्ञ का उपयोग करे। उसे काम से छुड़ाया जा सकता है पर उस विशेष गुण को तो उससे छुड़ाया या छीना नहीं जा सकता। सत्ताधारी को सृष्टिकर्ता से सबक लेना होगा।

ब्रह्मा भाग्य का विधाता है। उसे सृष्टि चलानी है। सृष्टि चलेगी न्याय से, अन्याय से नहीं। किस को कितना भाग मिले, इसके लिए प्रत्येक प्राणी के पाप-पुण्य का लेखा-जोखा करके भावी जन्म के भाग्य का निर्णय करना होगा। प्राणी के कर्म पाप-पुण्य से ऐसे सने हैं कि दोनों का अलग-अलग करना कोई सरल कार्य नहीं है। मानव जाति के बहुत से कार्यों को हम लोग रोज देखते ही रहते हैं। जो ऊपर से देखने में बहुत भला आदमी और उसके बहुत से कार्य पुण्यमय दीख पड़ते हैं, उसके पीछे पाप की भावना हो सकती है और अकसर उसके जघन्य कृत्य नग्न रूप में सामने आते हैं। इस पाप-पुण्य का निर्णय कैसे हो ? ब्रह्मा इसीलिए हंस का मुहताज है कि भली प्रकार से विश्लेषण करके दूध-का-दूध पानी-का-पानी करके रख दे। यह ब्रह्मा के गुणों का अलंकार है अथवा सचमुच हंस उसकी सवारी है, इसे तो ब्रह्मा जाने या ब्रह्मज्ञानी। हंस आखिर ब्रह्मा की सवारी ही तो है—सवारी चलने की चीज। ब्रह्मा का सारा कारोबार इसी विश्लेषण पर चलता है। हंस आत्मा को भी तो कहते हैं। यह सूक्ष्म विचार छोड़कर, स्थूल दृष्टि से ही देखें। हंस में ऐसी विलक्षणता विश्लेपण की है। ब्रह्मा को सृष्टि चक्र को चलाये रखने के लिए इस विश्लेषण की आवश्यकता है, इसलिए वह हंस का मुहताज है। ब्रह्मा बिगड़े तो अपना ही काम बिगाड़ लेगा, पर हंस का कुछ बिगड़ेगा नहीं। हंस को जो विशेष गुण प्राप्त है, वह उसके भाग्य से ही मिला है—भाग्य, भाग उसका अपना हिस्सा। कोई उसे छीन नहीं सकता। ब्रह्मा भी हंस के इस गुण को छीन नहीं सकता। तब क्या करेगा ? वह दो ही काम कर सकता है—या तो उस हंस

को अपनी सवारी में जोते रखे, घड़ी-भर की फुरसत न दे, या तलाब को सुखा दे और हंस को कमल विहार से वंचित रखे। चाहे तो वह इतना जरूर कर सकता है, पर ब्रह्मा इतना मूर्ख नहीं कि इस तरह करके अपने ही काम में बाधा डाल ले।

इसलिए ! तुम अपनी सम्पत्ति तथा सत्ता के घमंड में ऐसी मूर्खता न करो कि ज्ञानी विद्वानों का अपमान कर बैठो। यह तुम्हारा घमंड ही तुम्हें ले बैठेगा। विद्वानों का कसूर लेशमात्र नहीं है। तुम्हें अपमानित करना उनका उद्देश्य नहीं है। यदि कुछ ऐसा दीख पड़े भी तो सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के प्रति ऐसे शब्द प्रयुक्त करके उन्होंने वास्तव में सांसारिक सत्ताधारियों का मान बढ़ाया है। कहाँ चतुर्दश भुवनों का सिरजनहार और कहाँ कण भर के यह सम्पन्न सत्ताधारी !

श्लोक १५

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ।।

शब्द विच्छेद

चन्द्रोज्ज्वला = चन्द्र + उज्ज्वला
नालंकृता = न + अलंकृता
वाण्येका = वाणि + एका
समलंकरोति = सम + अलंकरोति
वाग्भूषणं = वाक् + भूषणं

शब्दान्वय

पुरुषं केयूराणि न भूषयन्ति न चन्द्रोज्ज्वला हाराः
न स्नानं, न विलेपनं न कुसुमं न अलंकृता मूर्धजाः।

या संस्कृता धार्यते एका वाणि पुरुषं समलंकरोति
खलु भूषणानि क्षीयन्ते वाक् भूषणं सततं भूषणम् ॥

शब्दार्थ

पुरुषं = मनुष्य को
केयूराणि = कवच, कुंडल
न भूषयन्ति = नहीं सजाते
न चंद्र उज्ज्वलाः = न चंद्रमा के समान प्रकाशमान
हाराः = हार ही (सजाते हैं)
न स्नानं = न नहाने धोने से
न विलेपनं = न चंदन, सुगंध आदि के पोतने से
न कुसुमं = न फूल माला पहनने से (और)
न अलंकृताः मूर्धजाः = बालों को संवारने से (मनुष्य की सुंदरता बढ़ती है)
(परन्तु, बल्कि)

या = जो
संस्कृता = सुसंस्कृत, शुद्ध (वाणी)
धार्यते = धारण करती हैं
(सा) = वही
एका वाणी = एक मात्र वाणी
पुरुषं = मनुष्य को
सम अलंकरोति = पूर्ण रूप से सजा सकती है
खलु = (शेष) सब
भूषणानि = आभूषण
क्षीयन्ते = घिस जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं
वाक् भूषणं = वाणी वाला आभूषण ही
सततं = सदा रहने वाला
भूषणम् = आभूषण है।

भावार्थ

कोई मनुष्य कवच कुंडल पहनने या गले में जगमगाते चंद्रहार सूर्यहार पहनने से सुंदर नही बन सकता, नहा-धोकर चंदनादि पोत, बाल सँवारकर फूल गूँथने से भी उसकी सुंदरता बढ़ नहीं सकती, क्योंकि सुंदरता की यह सब सामग्री देर तक रहने वाली नहीं है। सधी हुई शुद्ध वाणी ही एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य को पूर्णरूपेण शोभायमान कर सकती है और जो सदा बनी रहती है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में मानव की शक्ति, सत्ता का निरूपण करके दिखाया गया

कि आंतरिक शक्ति अथवा विशेष गुण ही अधिक मूल्यवान है। इस श्लोक में रूप, सौंदर्य को लेकर सिद्ध किया गया है कि असली सौंदर्य किसमें है। साधारणतया लोग बाह्य रूप को देखकर प्रभावित होते हैं। सहज सौंदर्य कुछ हो या न हो, लोग संवर-सजकर अपने को अधिक रूपवान जताने की चेष्टा करते हैं। पुराने जमाने की रीति-रिवाज के अनुसार राजा महाराजा बाहों में केयूर कसते, सिर पर मुकुट किरीट धरते, कलाइयों में सोने के कड़े चढ़ाते और गले में नौलखा हार आदि डालते थे। रेशमी धोती, दुपट्टा भी पहन-ओढ़ लेते थे। किन्तु श्लोक में कपड़ों का कोई ब्यौरा नहीं दिया है। भारतवर्ष के उष्ण वातावरण में कपड़ों की आधिक्यता अनावश्यक थी ही। कपड़ों की बात आ गयी। एक कहानी सुन लीजिए।

फारस देश की कहानी है। किसी दौलतमंद के घर एक आलीशान दावत का आयोजन था। शहर के अमीर-उमरा दावत में शरीक थे। एक बड़ा आलिम विद्वान् भी वहां पहुंचा पर फटियल हालत में। दरवानों ने दरवाजे से ही धक्के देकर उसे बाहर कर दिया। आलिम किसी धोबी से अच्छे कपड़े किराये पर ले खूब सजधज कर फिर दावत में पहुंचा। बड़ी आवभगत हुई। दस्तरख्वान पर खाना चुना गया। जब खाना शुरू हुआ, तब आलिम साहब एक-एक कौर उठाकर अपने चोगे के आस्तीन, दामन पर पोतने लगे। सबने हैरान होकर पूछा तो बड़ी संजीदगी से आलिम साहब ने कहा—जनाब, इन कपड़ों की बदौलत तो मेरी यहां तक रसाई हुई। सोचा खाने की हकीकी हकदार यह पोशक ही है।

केयूर किरीट हों, बाल संवारना, फूल गूंथना हो या वस्त्र आभूषण हों, सभी दूसरों की बनाई हुई और ऊपर से जोड़ी हुई हैं। आदमी की अपनी कुछ है तो वह केवल त्रुटि, जिसे छिपाने के लिए सुनार, माली, नाई, धोबी की कारीगरी को किराये पर ले लिया और धन, सत्ता का प्रदर्शन किया। इसके विपरीत उपरोक्त ईरानी आलिम ने धोबी और उसके कपड़ों के साथ अमीर, उमरा और उनके धन-वैभव की गौणता सिद्ध करते हुए अपनी उच्चता की स्थापना की। यह है वाणी का महत्व।

वाणी विद्या को कहते हैं। श्लोक में उसी की महत्ता बखानी गयी है। किन्तु यहां जिस वेषभूषा की बात कही गयी है वह सब बाह्य रूप ही है। तब उसका विद्या के साथ क्या मिलान ? वास्तव में इस श्लोक के अंदर विद्या का भी बाह्य रूप लिया गया है। संस्कृतावाणी अर्थात् संवरी हुई भाषा से यहां यही अभिप्राय है। जिस प्रकार पहला प्रभाव देखनेवालों पर रूप, सौंदर्य और वेषभूषा का पड़ता

है उसी प्रकार सुनने वालों पर बातचीत का पड़ता है। इस प्रकार बाह्यालंकार में भी वाणी का उच्च स्थान सिद्ध किया गया है।

दूसरी ओर विद्वानों को चेतावनी दी गयी है कि राजदरबार से भौतिक सुख सामग्री के प्रलोभन में फंसना न चाहिए। पिछले श्लोक के परमार्थ की सिद्धि हो अथवा न हो, स्वयं विद्या ज्ञान भी कम सुखदायी नहीं है।

श्लोक १६

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः।।

शब्द विच्छेद

रूपमधिकं = रूपम् + अधिकम्

शब्दान्वय

विद्या नाम नरस्य अधिकम् रूपम् (विद्या) प्रच्छन्न गुप्तं धनं
विद्या भोगकरी, (विद्या) यश, सुखकरी, (विद्या) गुरुणां गुरुः
विदेश गमने विद्या बन्धुजनः, विद्या परा देवता
राजसु विद्या पूज्यते, धनं न हि (पूज्यते), विद्या विहीनः पशुः ।।

शब्दार्थ

विद्या नाम = विद्या नाम की जो वस्तु है, वह
नरस्य = मनुष्य की
अधिकम् रूपम् = बड़ी सुंदरता है
(विद्या) प्रच्छन्न गुप्तं = गुप्त रूप से छिपा हुआ
धनं = धन है,
विद्या भोगकरी = विद्या शरीर और इन्द्रियों को सुख देने वाली है
विद्या यशः सुखकरी = विद्या कीर्ति फैलाने वाली और कीर्ति से मन को सुख देने वाली है
विद्या गुरूणां गुरुः = विद्या विद्याबोध कराये हुए गुरुओं से भी बड़ी है
विदेश गमने = परदेश जाने पर
विद्या बन्धुजनः = विद्या सगे, रिश्तेदारों के समान सहारा देने वाली है
विद्या परा देवता = विद्या इष्ट देव के समान सभी कामनाओं को पूरा करनेवाली है
राजसु = राजाओं के बीच, राज सभाओं में
विद्या पूज्यते = विद्या अर्थात् विद्वान् का सम्मान होता है।

भावार्थ

विद्या मनुष्य का सुन्दर आभूषण है। विद्या सुरक्षित धन के समान है। विद्या सें सुख-शांति तथा ख्याति मिलती है। विद्या महान गुरू के समान है। विद्या विदेश में बेगानों को यगाना बनाती है। विद्या से राज सम्मान की प्राप्ति होती है। विद्या स्वयं ईश्वर है। धन में यह महिमा नहीं है। अतः विद्याविहीन मानव पशु के समान है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि कवच केयूरादि वास्तविक आभूषण नहीं हैं, विद्या ही सच्चा आभूषण है। इस श्लोक में कहा गया है कि विद्या केवल आभूषण ही नहीं उससे कहीं बढ़कर है और जो विद्या से वंचित हो वह पशु है।

वास्तव में अपने शरीर में जो भद्दापन महसूस हो उसे छिपाने के लिए आभूषण से ढकने की चेष्टा की जाती है। यदि आभूषणों का शौक ही है तो कहता है कि वह बहुत आसानी से मिल सकते हैं। आभूषण खरीदने बनवाने के लिए धन चाहिए,

सो है ही विद्या धन और यह धन ऐसा है कि रहता है पर किसी के द्वारा अपहरण करने योग्य नहीं है। धन मानो बैंक में रखा है जब चाहे निकाल लो और चाहे जो वस्तु खरीद लो। धनी भी भोग विलास करता है जरूर पर बदनाम भी होता है, किंतु विद्वान् भोग विलास के साथ यशोवान बनता है और गुरुजन भी उसकी मान मर्यादा करते हैं। विद्या ऐसी वस्तु है कि जिन गुरुओं के पास एक विद्यार्थी के रूप में शिक्षा ग्रहण करता है वही विद्यार्थी विद्वान् बनकर स्वाध्याय से उन गुरुओं से भी बढ़ जाता है और स्वयं गुरु ही उसकी अद्वितीय योग्यता को मानने लगते हैं— 'गुरुणां गुरुः'। परदेश में भी उसे सब अपनायेंगे और राजदरबारों में उच्च आसन मिलेगा। यह सब हैं पर हैं अत्यन्त तुच्छ। क्योंकि अंत में विद्या को 'परा देवता' कहा है यानी वह जो सभी ऐहिकामुष्मिक फल प्रदान करे। 'न हिं धनं' कहकर धन और विद्या का तारतम्य बताया गया है कि संसार में धन द्वारा प्रत्येक वस्तु प्राप्त की जा सकती है, किन्तु सभी उपरोक्त वस्तुएं एक साथ प्राप्त नही की जा सकतीं। धन से कुरूप सुरूप बन नहीं सकता। धन से भोग विलास भले ही करें कलंक से नहीं बच सकते। इन सब बातों को छोड़ दें, किसी धनी को गुरु का स्थान कहीं भी नहीं मिला है। धनी देवता के नाम पर धन भले ही खर्च दे, किन्तु दैव भी उनसे उतना ही प्रसन्न हुआ हो, इसका सबूत मिल नहीं सकता।

अंत में 'विद्याविहीनः पशुः' यह कई जगह कहा गया है, किन्तु यहां पर विद्वान् मूर्ख जन की चर्चा नहीं है। यहां चर्चा है धन और विद्या की। धन द्वारा उपरोक्त सभी भोग किसी धनी को यदि प्राप्त हों तो वह निरा पशु भोग मात्र है। कोई-कोई राजा और धनी अपने घोड़ों और कुत्तों को भी उतनी मर्यादा देते हैं। जनता को खाना, कपड़ा, रहने की जगह, काम, दवादारू की सुविधाओं का प्रलोभन आजकल सभी राजनीतिक दल दिया करते हैं। किंतु ये चीजें पशुओं के लिए भी जरूरी मानते हैं और करते हैं। तब मानव और पशु में अंतर क्या रहा ? क्या सभी राजनीतिज्ञों ने जनसामान्य को पशु ही समझ रखा है। लगता तो यही है। भारत में तीन चौथाई लोग अपढ़ हैं। उनको पढ़ा-लिखा बना दें, अक्षरज्ञान ही करा दें, इसकी चिंता किसी पार्टी को नहीं है। क्या वे लोगों को पशु बनाये रखना चाहते हैं और दाना-चारा मात्र देकर दोहन करना या सवारी करना चाहते हैं ? विद्या, अक्षरज्ञान ज्ञान का पहला सोपान है और उससे वंचित हैं करोड़ों स्त्री-पुरुष। पशु बने हुए हैं—विद्याविहीनः पशुः। यह हुई निरक्षरों की दशा। साक्षर विद्वानों की स्थिति पशु से बदतर है।

पशु हाड़तोड़ मेहनत करते हैं और भूसा-चारा खाते हैं। मगर हमारे विद्वान् कहाने वाले डिग्री होल्डर काम पर लगने पर तन मन से काम नहीं करते या काम

न मिलने पर समाज पर बेकार बोझा बने रहते हैं। उनको शिक्षित बनाने में समाज पर बोझ पड़ा वह अलग है। समाज की व्यवस्था चलने के लिए और सरकारी योजना को पूरा करने के लिए जिस प्रकार इतने बैल चाहिए, इतने घोड़े-गधे चाहिए उसी तरह पढ़े-लिखे चाहिए—इतने इंजीनियर, इतने डाक्टर इत्यादि तैयार किये गए। मगर उनके लिए नौकरी नहीं है, इसलिए बेकार हैं। विद्या को बेकारी से क्या सम्बन्ध ? विद्वान के माने हैं जहां कुछ न हो उसमें से कुछ पैदा करना, नया काम निकालना, खुद करना और दूसरों को भी काम देने लायक बनना। इसलिए आजकल के विद्वान भी अविद्या से ग्रसित हैं। अंग्रेजों की शिक्षा को दूषित कहा करते थे कि केवल क्लर्क पैदा होते थे। स्वाधीन भारत ने क्लर्क भी निकम्मे निकाले, निपुण भी निकम्मे। शिक्षितों की संख्या बढ़ी तो बेरोजगारी की फौज बढ़ी। क्या शिक्षा को विमुक्त मोड़ देने वाला कोई शिक्षा-विशेषज्ञ पैदा ही नहीं हुआ ?

आजकल की विद्या का तीसरा दोष है अपराधों में वृद्धि। अपराध के लिए विद्या और विज्ञान का उपयोग होता है। आज की विद्या लुटेरू-विद्या है या बटोरू-विद्या। विद्या नहीं, धन ही हमारे लिए "परा देवता" हो गया है। बांटने से बढ़ने वाले विद्या-धन का दरवाजा बंद है और जेब काटने की विद्या का बोलवाला है। राज भी यही करते हैं। प्रजा भी यही करती है। दोष किसका ? क्या विद्या, विज्ञान का ? नहीं। दोष विद्या तथा विज्ञान को सत्ताधारियों के हाथ बेचने वाले नामधारी विद्वान तथा वैज्ञानिकों का है। घूस देने वाला अपराधी, लेने वाला अपराधी। इसी तरह विद्या का दुरुपयोग करने वाले, कराने वाले दोनों पापी। इसीलिए पिछले श्लोकों में विद्वानों की स्वतंत्रता पर इतना सारा जोर दिया गया। और इसीलिए कहा गया है—सा विद्या या विमुक्तये। भय से, लालच से मुक्ति जिस विद्या से मिले वही सच्ची विद्या है और वैसी विद्या ही में श्लोक में गिनाये गए गुण पाये जाते हैं।

श्लोक १७

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम्।
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्यानवद्या यदि
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ।।

शब्द-विच्छेद

क्षान्तिश्चेत्कवचेन = क्षान्तिः + चेत् + कवचेन
किमरिभिः = किम् + अरिभिः
क्रोधोऽस्ति = क्रोधः + अस्ति
चेद्देहिनां = चेत् + देहिनां
ज्ञातिश्चेदनलेन = ज्ञातिः + चेत् + अनलेन
सुहृद्दिव्यषौधैः = सुहृत + दिव्य + औषधेः
सर्पैर्यदि = सर्पैः + यदि
धनैर्विद्या = धनैः + विद्या
चेत्किमु = चेत् + किं
यद्यस्ति = यदि + अस्ति

शब्दान्वय

देहिनां क्षांतिः चेत् कवचेनं किं फलम्, क्रोधः अस्ति चेत् अरिभिः किंफलम् ज्ञातिः अस्तिचेत् अनलेन किं फलं, यदि सुहृत् अस्ति दिव्य औषधेः किं फलं, यदि दुर्जनः सन्ति सर्पैः किं फलं, यदि अनवद्या विद्या अस्ति धनैः किं फलम्, व्रीडा चेत् भूषणैः किं फलं, यदि सुकविता अस्ति राज्येन किं फलं ?

शब्दार्थ

देहिनां = शरीरधारी को अर्थात् मनुष्य को (स्त्री हो अथवा पुरुष)
क्षान्तिः चेत् = क्षमा, सहनशक्ति हो तो
कवचेन = जिरा बख्तर से
किं फलं = क्या प्रयोजन, क्या काम?
क्रोधः = गुस्सा

अस्ति चेत् =हो तो
अरिभिः =शत्रुओं की
किं फलं =क्या जरूरत
ज्ञातिः =पटैत्, भागीदार
अस्ति चेत् =हो तो
अनलेन =अग्नि से
किं फलं =क्या काम
यदि =अगर
सुहृत् =सच्चा मित्र
अस्ति चेत् =हो तो
दिव्य औषधैः =उत्तम औषधियों से
किं फलं =क्या काम
यदि =अगर
दुर्जनाः =बुरे लोग
सन्ति =हैं। (तो)
सर्पैः =सांपों की
किं फलं =क्या जरूरत
यदि =अगर
अनवद्या =दोष रहित, निष्कलंक
विद्या अस्ति =विद्या हो (तो)
धनैः =धन से
किं फलं =क्या काम
व्रीडा =लज्जा
अस्ति चेत् =हो तो
भूषणैः =आभूषणों की
किं फलं =क्या आवश्यकता
यदि =अगर
सुकविता =अच्छी कविता, साहित्यिक योग्यता
अस्ति =हो (तो)
राज्येन किं फलं =राज्य से क्या काम ?

भावार्थ

यदि मनुष्य के अन्दर सहनशक्ति हो तो उसकी रक्षा के लिए किसी कवचादि की आवश्यकता नहीं है, वह सहनशक्ति ही उसे सब विपत्तियों से रक्षा करेगी। यदि क्रोध हो तो उसे किसी शत्रु का होना जरूरी नहीं है। स्वयं क्रोध ही अनेक शत्रुओं के समान आपदग्रस्त कर देगा। पटैत् अर्थात् सम्पत्ति का भागीदार दावेदार रहे तो अलग से किसी आग की आवश्यकता नहीं है। पटैती के झगड़ों में ही सारी सम्पत्ति स्वाह हो जायेगी। सच्चा साथी यदि रहे तो किसी सिद्ध औषधि को साथ रहने की जरूरत नहीं। साथी ही सारे रोगों से बचा लेगा। दुर्जनों से दोस्ती रखें तो सांप को पालने की क्या जरूरत ? दुर्जन ही एक दिन सांप बनकर डसेंगे। निष्कलंक विद्या साधी हो तो धन जुटाने की आवश्यकता नहीं, विद्या से ही सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। लज्जा मात्र रहे बस है, शोभा बढ़ाने के लिए किसी आभूषण की आवश्यकता नहीं। विद्या ही वशीकरण का सर्वोत्तम

साधन है। लोगों को अपने वश में रखने के लिए विद्वान को किसी राज्याधिकार की जरूरत नहीं है। अपनी निष्कलंक विद्या द्वारा सारे संसार को वह अपने वश में कर लेगा।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक पर चर्चा करते हुए अन्त में जो शंका उठायी गई थी उसी का इसमें समाधान है कि वास्तविक विद्वान के लिए धन भोगादि की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। आते हैं, भोग लेता है, नहीं आते तो उनके लिए लालायित नहीं रहता। विद्वान के लिए धनादि की आवश्यकता को जताते हुए साथ ही श्लोक के अन्दर उन बातों का संकेत भी है जो एक वास्तविक विद्वान के लिए अवश्यमेव चाहिए। उसे चाहिए कि विपत्तियों को सहन करे, अपमानित होने पर क्रोधित न हो, सदा सत्संगत में रहे, दुर्जनों से दूर रहे, अपनी विद्या को दोष-रहित बनावे, और अहंकार त्यागकर सुन्दर युवतियों का-सा क्वचित् लज्जा-भाव अपनावे। ऐसे विद्वान के सामने संसार सिर नवायेगा और उसकी आवश्यकताओं को समाज पूरा करेगा।

दूसरी ओर इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि राज्याधिकारी अस्त्र,शस्त्र, कवचादि से अपनी रक्षा का प्रबन्ध इसलिए करते हैं कि उनमें आत्म-विश्वास का अभाव होता है अथवा न्यूनता। इसी से वे सदा सशंक रहते हैं। इसके विपरीत विद्वान निश्शंक बना रहता है। अधिकारी तनिक-सी बात पर तुनुक उठते हैं, जिससे शत्रु अधिक बनते हैं। तुनुकमिजाजी से बचने पर ही कोई विद्वान वास्तविक विद्वान बन सकता है। तब ऐसे विद्वान के सभी प्रशंसक हो जाते हैं। विद्वान स्वयं विद्यार्थी भी बना रहता है। इसलिए कभी अपने से अच्छों से डाह नहीं रखता, बल्कि उनसे कुछ सीखता ही है। इसके विपरीत अधिकार-सम्पन्न सदा अधिकार के भूखे होते हैं। इसलिए वे सभी से डाह रखते हैं। समानता के साथ सुहृदयता रहती है। राज्यभोगी अपने को सबसे ऊँचा समझते हैं। तब वह दूसरों को अपने समान कैसे देख सकेंगे। स्वार्थी स्तुतिपाठक ही उन्हें घेरे रहते हैं। खुशामदपसन्दी ऐसा महारोग है कि सभी सिद्ध औषधियां निरर्थक सिद्ध होती हैं। इसके विपरीत विद्वान सभी से सहानुभूति रखता है और सभी से सहानुभूति पाता है। राज्याधिकारी के दरबे में दुर्जनों के रूप में सैकड़ों सांप पलते हैं जो उसे एक दिन डस जायेंगे। इसके विपरीत विद्वान सदा सत्संग में जीवन बिताता है। उसे तब डर किसका ? आडम्बरी जीवन के लिए राज्याधिकारी को धन की आवश्यकता होती है और उस धन के लोभ में शत्रु, दायादि, स्वार्थी, दुर्जन घेरा डाले रहते हैं। विद्वान को न वह साज-सामान चाहिए और

न उसके लिए वह धन। दूसरों को आकृष्ट करने के लिए नहीं तो कम-से-कम अपने शरीर की शोभा के लिए आभूषण तो चाहिए। सो साफ कह दिया है कि सहज लज्जा ही सर्वोत्तम आभूषण है। अर्थात् लज्जाविहीन ही आभूषणों की शरण लेते हैं।

तो क्या राज्याधिकार-सम्पन्न व्यक्ति निर्लज्ज होते हैं? आडम्बर ही इसका प्रमाण है। दिल में डरते रहते हैं और ऊपर से रुआब जमाते हैं। क्रोध शत्रु बना मन में बैठा है मगर बाहर के दुश्मनों पर दांव चलाते हैं। राजमहल के भीतर राजदार बनकर राज हड़पने की ताक में लोग बैठे हैं। स्वार्थ साधने के लिए दरबार में खुशामदी जुटे हैं। दुर्जन राज्य-तन्त्र का नियन्त्रण करते हैं। क्या यह सब निर्लज्जता की निशानियाँ नहीं हैं?

लज्जा की बात आ गई। इस पर भी दो शब्द। लज्जा किसे कहते हैं? जो चीज मौजूद हो उसे कुछ-कुछ छिपाना ही लज्जा है। लज्जा स्त्रियों का विशेष गुण है। किसी बात को दिल से चाहती हुई भी नारी आँखें नीची कर लेती है। इससे उसकी शोभा दूनी हो जाती है। यदि समाज में पुरुषों में भी स्त्रियोचित लज्जा का कुछ अंश आजाय तो उनका पुरुषार्थ द्विगुणीकृत हो जाय। अकसर आदमी इसी गुण से समाज में आकर्षण के केन्द्र बन जाते हैं। इसी प्रकार हमारी स्त्रियों के अन्दर से लज्जा की आधिक्यता कुछ कम हो जाय तो वे समाज के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होंगी। अर्थात् मर्द लोग अपनी बेहयाई कम करें और स्त्रियों में कुछ पौरुष पैदा हो।

शूरता, वीरता का जो लोग आडम्बर रचते हैं उनकी अपेक्षा उन गुणों को कुछ छिपा रखने की चेष्टा करनेवाले अधिक शूरवीर सिद्ध होते हैं। लज्जा यदि रही हुई चीजों को कुछ छिपाने की चेष्टा है तो जो अपने में नहीं उसे रचकर दिखाने की चेष्टा करना निर्लज्जता है।

श्लोक १८

दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥

शब्द विच्छेद

विद्वज्जनेष्वार्जवम् = विद्वत् + जनेषु + आर्जवम्
चैवं = च + एवं
कुशलास्तेष्वेव = कुशलाः + तेषु + एव

शब्दान्वय

स्वजने सदा दाक्षिण्यं परिजने दया दुर्जने शाठ्यं
साधुजने प्रीतिः नृपजने नयः विद्वज्जनेषु आर्जवं
शत्रुजने शौर्यं गुरुजने क्षमा नारी जने धूर्तता
च ये पुरुषाः एवं कलासु कुशलाः तेषु एव लोक स्थितिः।

शब्दार्थ

स्वजने = अपनों के साथ,
सदा = हमेशा
दाक्षिण्यं = मुरव्वत, सद्व्यवहार
परिजने = नौकर-चाकर के साथ
दया = सहानुभूति
दुर्जने = दुष्टों के साथ
शाठ्यं = कठोरता
साधुजने = सन्त सत्पुरुष के साथ
प्रीति = प्रेम
नृप जने = अधिकारियों के साथ
नयः = नीति

विद्वज्जनेषु = विद्वानों के साथ
आर्जवं = नम्रता
शत्रुजने = दुश्मनों के साथ
शौर्यं = वीरता
गुरुजने = गुरुजन, बुजुर्गों के साथ
क्षमा = सहनशीलता
च = और
नारीजन = स्त्री के साथ
धूर्तता = शरारत, उद्दण्डता
(इस प्रकार)
ये = जो

पुरुषाः = लोग
एवं = ऐसी
कलासु = कलाओं में
कुशलाः = चतुर, पटु हैं।

लोक = संसार में, समाज में
स्थितिः = निभाव
तेषु एव = उन्हीं का है।

भावार्थ

जो व्यक्ति इस संसार में अपने बन्धु-मित्रों के साथ उदारता बरतते हों, नौकर के साथ दया भाव दर्शाते हों, अर्थात् उनकी छोटी-मोटी भूलों को देखी-अनदेखी करते हों और समय पड़ने पर सहायता करते हों, दुष्टों के साथ कठोरता बरतते हों और शिष्टजनों के प्रति प्रेम, आदर दर्शाते हों, राज्याधिकारियों के साथ कुशल नीति का पालन करते हों और ज्ञानी विद्वानों के प्रति विनम्र रहते हों, वैरी के साथ वीरता का परिचय देते हों और गुरुजनों के प्रति विनम्र रहते हों, और नारियों के साथ उद्दण्ड बनते हों, वही लोग इस संसार में सुन्दर निभाव कर सकते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में अधिकारसम्पन्न तथा धनसम्पन्न अथवा विद्यासम्पन्न अर्थात् उत्तम श्रेणी के व्यक्तियों को लक्ष्य करके कहा गया था। इसमें जन-साधारण को सामने रखते हुए कहा गया है कि जो बड़ी-बड़ी आकांक्षाएं न लेकर केवल संसार में येनकेन प्रकारेण जीवन-निर्वाह करना चाहते हैं—और संसार में अधिकांश लोग ऐसे ही होते हैं—उनके लिए श्लोक में कहा गया है कि वह भी एक निश्चित नीति का अनुकरण करने से सुखी रह सकते हैं। उच्च श्रेणी के लोगों में अधिक बुराइयां होती हैं और उन ही की देखा-देखी मध्यम तथा निम्न श्रेणी के लोग उन बुराइयों को अपनाते हैं। इसीलिए उच्च श्रेणी के लिए अधिक श्लोक लिखे गये, और निम्न, मध्यम श्रेणी के लिए एक ही श्लोक में सब कुछ कह दिया गया है। समाज की स्थिरता के लिए अत्युच्च तथा अति निम्न का अन्तर जितना कम हो उतना ही लाभदायक है। मध्यम श्रेणी ही इनका माध्यम बन सकती है। इसलिए मध्यम श्रेणी के लिए जो बातें उपयुक्त होंगी वे उच्च तथा निम्न श्रेणी पर भी समान रूप से लागू होती हैं। किन्तु उच्च श्रेणी की बातें मध्यम श्रेणी अथवा निम्न श्रेणी पर लागू नहीं हो सकतीं। यह और बात

है कि निम्न अथवा मध्यम श्रेणी के लोग उच्च श्रेणीवालों की वेषभूषा या व्यवहार की नकल करके अपने को बड़ा सिद्ध करने की चेष्टा करें। भले ही न बन पड़े, पर उनकी मनोवृत्ति वही है, जो अधिक भयानक है, खुद उनके लिए भी और समाज के लिए भी।

अब सर्वसाधारण निम्न श्रेणी की बात। प्राय: सभी के बन्धु, बिरादर होते हैं। उनके साथ निभाव करने का एक ही उपाय है कि या तो उन्हें अपने मत का बना लें या खुद ही उनका दृष्टिकोण अपनावे। अपनी अलग ढपली बजाने से वह बिरादरी से फट जायेगा और उनकी सहानुभूति खो बैठेगा। अकेला कुछ न कर पायेगा। यहां तक कि उसके लिए जीवन दूभर हो जायेगा।

इसके बाद उच्च मध्यम श्रेणी आती है। ये खाते-पीते लोग होते हैं। अपने कारोबार या घरेलू काम-काज के लिए नौकर-चाकर रखते हैं। नौकर-चाकर न रहें तो इनके सारे कारोबार ठप्प हो जाते हैं। घर में चूल्हे में आग भी नहीं जलती। यह नहीं तो दूसरा नौकर रखेंगे, इस प्रकार समझ लेने से भी काम नहीं चलता। नौकर को आये दिन बदलते रहें तब भी काम नहीं चलेगा। ऐसों के पास नौकरी करना भी लोग पसन्द नहीं करते। इनको नौकर पक्का चाहिए तो उनको नौकरी भी पक्की चाहिए। परिवार के ही समान नौकर को मानना चाहिए। घरवालों से गलतियाँ होती ही हैं। नौकरों से भी हुआ करेंगी। हर छोटी-मोटी गलती पर झाड़-फटकार करने पर कोई नौकर सह नहीं सकेगा। आपके घर में कभी विवाह रचता है और कभी मौता उठता है। कभी कोई रोगी हो जाता है, किसी दिन किसी पर मातम छा जाता है। ठीक उसी प्रकार नौकर के घर में भी होता है। जो आप अपने लिए करते हैं नौकर के लिए भी हैसियत के मुताबिक ठीक वैसे ही करना होगा। इससे नौकर मालिक के बीच अपनापन हो जाता है और इसी में दोनों की भलाई है।

समाज में रहने के बाद सज्जन दुर्जन दोनों से वास्ता पड़ता है। सज्जन के साथ प्रेम-व्यवहार रखने पर निम्नतर श्रेणी उन सज्जनों से अधिक लाभान्वित होती है और दुष्ट से कठोरता बरतने पर निम्न श्रेणी उससे सुरक्षित रहती है।

अब रहे गुरुजन तथा सरकार या सरकारी अधिकारी। गुरुजनों अर्थात् माता, पिता, पुरोहित आदि, इनकी अभिलाषा होती है कि आप शाश्वत सुख पावें। अब थोड़ी असुविधा हो तो वह आगे सुखकारी हो। इसलिए इनके प्रति नम्रता दिखाना और उनकी बात मानना और मनन करना जरूरी है। सरकारी अधिकारियों से तुरन्त लाभ या हानि होती है। इसलिए इनके साथ नीति अर्थात् कूटनीति अपनानी चाहिए कि हो सके तो लाभ अधिक हो पर हानि होवे कम।

किन्तु इसका अभिप्राय झूठा व्यवहार करने का कदापि नहीं है। ऊपर की दूसरी बातों पर अमल करनेवाला व्यक्ति धूर्त बन ही नहीं सकता।

अंत में रही नारी की बात। नारीजन के प्रति धूर्तता का उपदेश दिया गया है। वारांगना के साथ तो ठीक है. पर अब संसार से वारांगना की प्रथा को उठा दिया गया है या उठाया जा रहा है। परदे की आड़ में होता हो, उसे छोड़िए। नारी के अर्थ यहां स्वनारी ही लेना चाहिए। स्वनारी तो अर्धांगिनी है और घर की पूरी मालिकिन। अपने आधे शरीर और मालिकिन से धूर्तता करके कोई पुरुष पनप नहीं सकता। जिस भर्तृहरि ने बन्धु मित्र के साथ उनके मतानुसार चलने की शिक्षा दी है, वह स्वनारी के साथ ऐसा अत्याचार बरदाश्त नहीं कर सकता। 'याम् चिंतयामि सततम्' वाले श्लोक का आसरा लेकर इस पर आक्षेप करने की आवश्यकता नहीं। नारी के साथ धूर्तता की अनुमति प्रकृति-जात स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के सिवा अन्य कुछ नहीं हो सकता। इसमें पुरुष को जो आजादी है स्त्री को भी वही स्वतन्त्रता है। ऐसे अवसर पर धूर्तता की बराबर छूट है। शायद स्त्री इस स्वतन्त्रता का अधिक शोभनीय उपयोग करती है और पुरुष की धूर्तता कुछ भद्दी होती है। नारी की धूर्तता सम्मोहक होती है जबकि पुरुष की संघातक।

श्लोक १९

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

शब्द विच्छेद

मानोन्नतिं = मान + उन्नतिं
पापमपाकरोति = पापम् + अपाकरोति

शब्दान्वय

सत्संगतिः पुंसाम् धियः जाड्यं हरति, वाचि सत्यं सिंचति
मान उन्नतिं दिशति, पापं अपाकरोति
चेतः प्रसादयति, कीर्तिं दिक्षि तनोति
किं न करोति कथय ।

शब्दार्थ

सत्संगतिः = संतजनों का साथ
पुंसाम् = मनुष्य को (के)
धियः = मन की, बुद्धि की
जाड्यं = जड़ता को
हरति = हटाती है
वाचिः = बोली (को)
सत्यं = साँच (से)
सिंचति = सानती है
मान = मान-मर्यादा की
उन्नतिं = बढ़ौती को
दिशति = देती है
पापं = पाप को
अपाकरोति = मिटाती है
चेतः = मन को
प्रसादयति = प्रसन्न रखती है
कीर्तिं = यश को
दिक्षि = दिशाओं में
तनोति = फैलाती है
कथय = बताओ तो (संत्संग)
किं = क्या
न करोति = नहीं करती अर्थात् सब कुछ करती है ।

भावार्थ

सत्संग से मनुष्य की बुद्धि की जड़ता कटती है। वह सदा सच बोलने की चेष्टा करता है। पाप से दूर रहता है। चारों ओर उसका यश फैलता है और वह सदा प्रसन्नचित्त रहता है। भला बताओ तो सत्संगति से कौन बात नहीं बनती? सब कुछ तो सिद्ध होता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में अधिकारसम्पन्न और धनसम्पन्न विद्वान और सर्वसाधारण के गुण-दोषों का वर्णन करते हुए कर्त्तव्य-विधि का निरूपण किया गया था। शंका उठती है कि लोगों की अपनी-अपनी आदतें हैं और उनकी मजबूरियाँ भी हैं। फिर वे इस रास्ते पर लगें कैसे? लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। किन्तु श्लोक में सबके लिए एक ही रास्ता बताया गया है। वह है सत्संग। और सत्संग से मानव के सभी मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं। पर एकाएक नहीं। एक-एक

परत हटता है। और एक-एक पग आगे बढ़ता है।

श्लोक में सत्संग की प्रधानता है। उसके अनेक फलों में से दो मुख्य हैं। एक आरम्भ है और दूसरा है अंत। पहला है मन की जड़ता को मिटाना और अन्तिम है सदा प्रसन्नचित रहना। प्रशान्त और प्रसन्न मन ही जीवनधन का महान साधन है, और यह सत्संग से ही साध्य है। एक-एक बात को लें और देखें कि एक से दूसरे की सिद्धि कैसे होती है और अन्त में जीवन का चरम लक्ष्य चित्त-शान्ति कैसे प्राप्त होती है।

१—**सत्संग**—आजकल भी सत्संग बहुत होते हैं, विशेषकर शहरों में। मगर शहरों में किसी को शान्त-चित्त पाना असम्भव-सा है। कोई महात्मा आते हैं। उपदेश देते हैं। भद्र समाज बैठकर सुनता है। बस सत्संग हो गया। समझ लिया पाप धुल गया। सत्संग में प्रवचन-मात्र नहीं है और थोड़ी देर आंख मूंदकर या कान खोलकर सुनना मात्र नहीं है। सत्संग है संत, साधु पुरुषों के साथ रहना। साथ रहने पर ही पता लगेगा कि उपदेशक कहां तक सन्त हैं और कहां तक धूर्त। प्रवचन और आचरण में कितना सामीप्य है। बोल और चाल में जितना अधिक मेल होगा उतना वह बड़ा संत। ऐसे ही महात्माओं के सत्संग से मन को शान्ति प्राप्त होगी।

२—**जड़बुद्धि**—सत्संग का पहला काम है जड़ता की जड़ काटना। जड़ता दो प्रकार की होती है। ऊपर के श्लोकों में उनकी चर्चा की गयी है। साधारण जनता चीजों को बहुत ज्यादा समझती नहीं है। उन्हें जैसे-तैसे जीवन के दिन काटने हैं। लोन तेल जुटाने में लगे रहते हैं। वे अच्छों की बातें जितनी अच्छी तरह सुनते हैं बुरों की बातों में आकर बुराई पर भी उतनी ही जल्दी तुल जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जिन पर भले बुरे, किसी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। या तो वे पत्थर की मूर्ति हैं या महात्मा। दोनों हालतों में चिंता की कोई बात नहीं। सच्चा सन्त मिले तो वे बहुत जल्द सन्मार्ग पर चल पड़ते हैं। हम देखते भी हैं कि भोले लोग साधुओं के चेले जल्द बन जाते हैं। दूसरे प्रकार के जड़ मनुष्य बड़े चालाक होते हैं। अपने को बड़ा समझदार गिनते हैं। सत्संग में भी लम्बी-चौड़ी शंकायें उठाते हैं। सवाल-जवाब के बाद कुछ दिनों में ये भी रास्ते पर लग जाते हैं। बहुत दूर न जायें। श्री रामकृष्ण परमहंस महात्मा थे। नरेन्द्र कालेज के प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे। नरेन्द्र संत की ओर से शंकाशील रहते थे। पर क्या हुआ? वही नटखट नरेन्द्र स्वामी विवेकानन्द बन गये जिन्होंने सारे संसार में अध्यात्म की ज्योति जगा दी। सत्संग से जड़ता सबकी दूर होती है। सहज श्रद्धा से हो या शंका समाधान के लिए, पर करें सत्संग। सुनें भी और साथ में रहें भी।

३—**सत्यपरायणता**—बुद्धि की जड़ता दूर होने पर आदमी असलियत को समझने लगता है। सच को झूठ से अलग छांट सकता है। धीरे-धीरे सचाई को अपनाता है, झूठ को त्यागता है। सत्परायणता में सत्याचरण भी शामिल है।

सत्य क्या है झूठ क्या ? सदा रहनेवाले परमात्मा को सत्य और एक दिन मिटनेवाले जगत को मिथ्या कहते हैं। होगा, पर संसार में भी जो सामने है और जब तक है तब तक उसकी सत्यता को झुठलाना निभाव का मार्ग नहीं है। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था अन्त में यह जीवन, सभी जानेवाले हैं तो क्या हम इन्हें मिथ्या समझें। स्थिर भी सत्य है। अस्थिर भी सत्य है। स्थिर को अस्थिर कहना, या अस्थिर को स्थिर मानना, यही असत्य है। जैसे जिसको समझें, वैसे ही कहें और वैसे ही करें, यही सत्य है। पर अपने सत्य को मानाने के लिए दूसरे के साथ दुराग्रह करना या कष्ट देना यह असत्य है, और अपने विश्वास के लिए कष्ट सहना सत्य है। असल बात यह है कि वाक्शुद्धि आचरणशुद्धि पर निर्भर है। और तब पाप का निराकरण आप-ही-आप हो जाता है।

प्रसन्न मन—यह अंतिम ध्येय है। सो दोनों को प्राप्त होता है, नाम मान के भोगी को भी और ध्यान ज्ञान के योगी को भी। पर अन्तर यह है कि पहला दूसरों को अधिक दिखाई पड़ता है और दूसरा अपने-आपमें अनुभव किया जाता है। ज्ञानी प्रायः देखनेवालों को दुःख सहते दीख पड़ता है किंतु वह उसमें ही परम सुख का अनुभव करता है। दुःखों की वे परवाह नहीं करते और अगर आवश्यकता पड़े तो उनका स्वागत करते हैं।

इस प्रकार सत्संग से दोनों ही प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं। दीनदारों की दीन सुधरती है और दुनियादारों की दुनिया संवरती है।

श्लोक २०

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ।।

शब्दान्वय

सुकृतिनः ते रस सिद्धाः कवीश्वराः जयन्ति
येषां यशः काये जरामरणजं भयं नास्ति ।

शब्दार्थ

सुकृतिनः = उत्तम ग्रन्थ रचे हुए, अच्छे कार्य किये हुए
ते = वे जो
रससिद्धाः = रसों को सिद्ध किये हुए
कवीश्वराः = कवीन्द्र कविराज (हैं)
जयन्ति = (सदा) विराजमान है
येषां = इनके
यशःकाये = यश रूपी शरीर को
जरा = बुढ़ापे, (और)
मरणजं = मृत्यु का
भयं = भय
नास्ति = नहीं है

भावार्थ

उत्तम ग्रन्थ रचे हुए वे जो रसों को सिद्ध किये हुए कवीन्द्र जन हैं वे इस संसार में सदा विराजमान रहेंगे । इनके यश-रूपी शरीर को बुढ़ापे अथवा मृत्यु का कभी कोई भय नहीं है । सदा नव यौवन को प्राप्त होंगे ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक की चर्चा में कहा गया था कि सत्य की प्रतिष्ठा की स्थापना करते हुए ज्ञानी विद्वान भी सभी प्रकार के कष्टों को प्रसन्नता से सहते हुए रह सकते हैं । किसी भी दुष्ट द्वारा किसी भी प्रकार का कष्ट दिये जाने पर वे तनिक भी विचलित नहीं होते । ऐसे वे कैसे कर पाते हैं, वही इस श्लोक में बताया गया है । उन कवीश्वरों ने ऐसी सिद्धियों को साध लिया है कि उन्हें मरने या बूढ़े और कमजोर होने का भय ही नहीं है । वे सदा अमर भी हैं और युवा भी । इसके दो कारण दिये हैं । "रस सिद्धाः" एक वे रसों को सिद्ध किये

हुए हैं, "सुकृतिनः" उत्तम ग्रन्थ छोड़ गये हैं, और वे कवीश्वर हैं। ये तीनों ही शब्द द्वन्द्वार्थक हैं। कविता रचनेवाले को कवि (कवीश्वर) कहते हैं। वैद्य को भी कवि (कविराज) कहते हैं। वैद्य और कवि दोनों हो रसों को सिद्ध करते हैं। औषधि बनानेवाले कविराज पारे आदि धातुओं को फूंककर उनका सार निकाल लेते हैं। कविता करनेवाले शृंगार, रौद्र आदि रसों की कल्पना करते हैं। वैद्य औषधि द्वारा शरीर की रक्षा करते हैं और कवि वर्णन से शरीरधारी के चित्र को ज्यों-का-त्यों खींच देते हैं। दोनों ही अच्छे कार्य हैं—"सुकृतिनः"। वे बुढ़ापे से नहीं डरते, ये मृत्यु को पार कर गये। परन्तु कवीश्वर के वर्णन को कभी कोई वर्णहीन नहीं कर सकता। इसलिए यही श्रेष्ठ है। इसमें से जो सिद्धि को प्राप्त हुए ऐसी आत्मा तो स्वयं परमात्मा है। वर्तमान, भूत, भविष्य वह सभी कुछ जानता है। कवीश्वर को त्रिकालदर्शी भी कहते हैं। यह संसार रहे या न रहे, परमात्मा तो रहेगा। उसी प्रकार इस संसार में कोई प्राणी रहे या न रहे, वाणी तो बनी रहेगी। इन विद्वान ज्ञानी कवीश्वरों की कृतियां कभी जीर्ण-शीर्ण न होंगी। कीड़े-मकोड़े इन पन्नों को चाट नहीं सकते। रस स्वाद को भी कहते हैं। कविताओं का आस्वादन सदा कर सकते हैं।

द्वितीय दशक का सारांश

श्लोक ११. प्रतिभावान विद्वानों का समादर न हो तो प्रभु का ही दोष है, प्रतिभावान का नहीं।

,, १२. प्रभुजन प्रतिभावान विद्वान से स्पर्धा न करें।

,, १३. ज्ञानी विद्वानों को धन द्वारा वश में नहीं ला सकते।

,, १४. प्रभुजन अप्रसन्न होकर प्रतिभावान की प्राकृतिक प्रतिभा को हर नहीं सकते।

,, १५. कलंक-रहित विद्या ही सबसे सुन्दर आभूषण है।

,, १६. ज्ञानी विद्वान का आदर-सत्कार सभी जगह होता है।

,, १७. विद्या राज्याधिकार से बड़ी वस्तु है।

,, १८. संसार में सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति ही सफल हो सकता है।

,, १९. सत्संग से सभी सुगुण सुलभ हो जाते हैं।

,, २०. विद्या ज्ञान अनश्वर है।

मानशौर्य पद्धतिः

श्लोक २१

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।
मत्तेभेन्द्र विभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृहः
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥

शब्द विच्छेद

क्षुत्क्षामोऽपि = क्षुत् + क्षामः + अपि
कृशोऽपि = कृशः + अपि
शिथिल प्रायोऽपि = शिथिल + प्रायः + अपि
कष्टां दशामापन्नोऽपि = कष्टां दशाम् + आपन्नः + अपि
दीधितिरपि = दीधितिः + अपि
प्राणोऽपि = प्राणः + अपि
नश्यत्स्वपि = नश्यत्सु + अपि
मत्तेभेन्द्र = मत्त + इभ + इन्द्र
ग्रासैक = ग्रास + एक
तृणमत्ति = तृणम् + अत्ति
महतामग्रेसरः = महताम् + अग्रेसरः

शब्दान्वय

मत्तेभेन्द विभिन्न कुम्भ पिशित ग्रास एक बद्धस्पृहः
मान महतां अग्रेसरः केसरः क्षुत् क्षामः अपिः
जरा कृशः अपि शिथिल प्रायः अपि
कष्टां दशां आपन्नः अपि विपन्न दीधितिः अपि
प्राणः नश्यत्सु अपि किं जीर्णं तृणम् अत्ति !

शब्दार्थ

मत्त = मस्त
इभइन्द्र = गजराज के
विभिन्न = चीरे हुए, फाड़े हुए
कुम्भ = कुम्भस्थल, मस्तक के
पिशित = मांस के
ग्रास एक = कौर ही पर
बद्धस्पृहः = चित्त लगाया हुआ
केसरी = सिंह
क्षुत् = भूख से
क्षामः अपि = दुबलाने पर भी
जरा = बुढ़ापे से
कृशः अपि = कमजोर होने पर भी
शिथिल प्रायः अपि = ढीला पड़ने पर भी,
कष्टां दशाम् = कठिन स्थिति को
आपन्नः अपि = प्राप्त होने पर भी
विपन्न = बिगड़ी हुई, खोई हुई
दीधितिः अपि = तेज पर भी (अर्थात् कांतिविहीन होने पर भी)
प्राणः अपिः = जान भी
नश्यत्सु अपिः = निकलने को हो तब भी,
जीर्णं = गले, सड़े, सूखे
तृणं = घास के तिनके को
अत्ति किं = खायेगा क्या ?

भावार्थ

मस्त हाथी के मस्तक को चीर उसके मग़ज़ के मृदुमधुर मांस पर मन लगाया हुआ महामानी सिंह क्या गले-सड़े सूखे घास पर मुँह डालने की इच्छा करेगा (तैयार होगा) ? भले ही कई दिनों से भूखा रहकर दुबला पड़ गया हो, बूढ़ा होकर ढीला पड़ गया हो, बड़ी दुरवस्था को प्राप्त हो चुका हो और इस कारण सारा तेज खो चुका हो, यहाँ तक कि जान पर आ बनी हो, वह कदापि सामने पड़ा-गला घास खाकर गुजारा करने की चेष्टा नहीं करेगा ।

विशेषार्थ

भर्तृहरि की अपनी विशेष पद्धति है । यह उपदेश प्रायः छोटे-छोटे बच्चों के लिए नहीं, बल्कि बड़ों के लिए हैं जिन्हें अच्छे-बुरे का आभास होता है । छोटे-छोटे बच्चों को पहले अच्छी बातों का आभ्यास कराकर बाद में आवश्यकता पर बुरी बातों से बचने की शिक्षा देनी ठीक है । किन्तु बड़ों के लिए ऐसा करने में कोई विशेष लाभ शायद नहीं है, क्योंकि समाज में सम्पर्कदोष से वह बहुत कुछ जाने-माने हुए होते हैं, बल्कि खुद करते भी रहते हैं । इसीलिए भर्तृहरि ने पहले बुराई का खंडन करके, उससे बचने का उपदेश देकर बाद में अच्छाई की शिक्षा

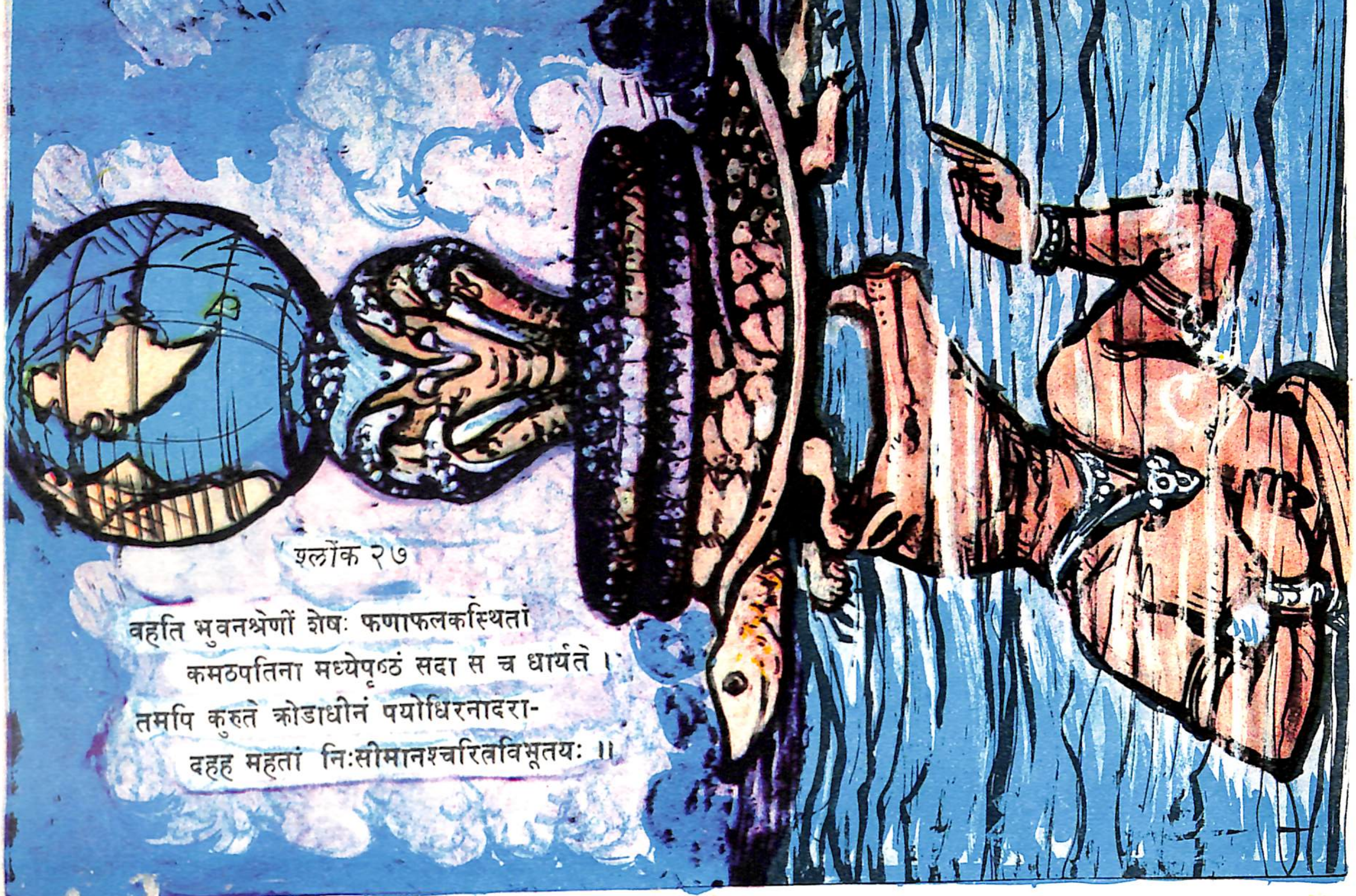

श्लोक २७

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स च धार्यते ।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह महतां निःसीमानश्चरितविभूतयः ॥

देने की पद्धति अपनायी है। पहले दशक में मूर्ख पद्धति पर कहकर विद्वत् पद्धति पर लिखा। मूर्खों में निपट मूर्ख के अतिरिक्त जानकार भी स्वार्थ सिद्धि के लिए मूर्खता करते हैं। सोतों को जगाकर और जागते हुए भी सोते बने हुओं को झंझोड़ कर और तब विद्वत् पद्धति को लिया गया है। विद्वत् पद्धति को पहले इसीलिए उठाया गया कि लोग पहले जान जायें कि वास्तविक विद्या क्या है। वास्तविकता को जानने के बाद उसे सिद्ध करने के लिए क्या-क्या साधना करनी पड़ती है, उस पर क्रमेण कहते जाते हैं।

साधना को मान शौर्य पद्धति से आरम्भ किया गया है। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लगन चाहिए और लगन के साथ मान-अभिमान का ध्यान भी जरूरी है। इन दोनों की रक्षा करते हुए आगे बढ़ने पर पग-पग पर बाधाएं आती हैं। उन बाधाओं को झेलते हुए लक्ष्य की ओर बढ़ना पड़ता है। इसके लिए सिंह का उदाहरण दिया गया है। सिंह शक्तिमान भी है और स्वाभिमानी भी। या तो हाथी का मस्तक चीर कर उसका भेजा खायेगा, या भूखा मरेगा। मनुष्य को भी सिंह का अनुकरण करना चाहिए। पहले अपना उद्देश्य निश्चित कर ले। तब उस उद्देश्य की सिद्धि पर जुट जाए। रास्ते में इधर-उधर भटके नहीं। थकने पर दम ले, पर पग पीछे न हटाये। बाधाओं से बचते हुए और अगर जरूरत पड़े तो उनसे जूझते हुए दम तोड़ दे, पर लक्ष्य से न डिगे। सफलता कभी जल्दी मिलती है, कभी देर से भी मिलती है। और कभी-कभी अन्त तक सफलता तक पहुंच नहीं पाते। फिर भी किया हुआ काम व्यर्थ नहीं जाता। आगे दूसरा कोई जुट जाता है और अधूरे काम को पूरा कर देता है। जिस प्रकार कोई काम दिन-भर में पूरा नहीं होता तो रात आराम करते हैं, दूसरे दिन उसी काम को जहाँ से छोड़ा था वहाँ से उठाते हैं, उसी प्रकार एक जीवन में यदि लक्ष्य की सिद्धि नहीं हुई, तो दूसरे जीवन में पूरा कर सकते हैं। संसार में जो सफल हुए हैं, या होते हैं क्या पता वे पिछले के जीवनों का संस्कार साथ रखते हैं। इसीलिए किसी को निराश होने का कोई कारण नहीं है।

लोग कहते हैं कि कहीं सभी लोग बड़े-बड़े काम करेंगे। जानना चाहिए कि कोई काम बड़ा या छोटा नहीं होता। सभी काम बराबर हैं और बड़े हैं। काम ईश्वर का स्वरूप है। काम करते हुए ही ईश्वर ने दुनिया के करोबार चला रखे हैं।

सिंह को पैदा करने वाला भगवान क्या मच्छर, मक्खी को पैदा नहीं करता? उसके लिए सभी काम समान हैं। मनुष्य की दशा भी यही है। चाहे चपरासी हो अथवा अफसर, किसान हो अथवा राजा, कुली-मजदूर हो अथवा कारखानेदार, सभी का यही दृष्टिकोण होना चाहिए। नित्य कर्मों में भी यही दृष्टिकोण

अपनाना चाहिए। एक मिनट का काम अथवा एक जीवन का, घर का निजी काम या सारे संसार का, सबमें यही सिद्धान्त काम करता है।

श्लोक २२

स्वल्पस्नायुवसावसेकमलिनं निर्मांसमप्यस्थि गौः
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न च तत्तस्य क्षुधाशान्तये।
सिहो जम्बुकमंकमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्॥

शब्द विच्छेद

वसावसेक = वसा + अवसेक
निर्मांसमप्यस्थि = निः + मांसम् + अपि + अस्थि
तत्तस्य = तत् + तस्य
जम्बुकमंकमागतमपि = जम्बुकम् + अंकम् + आगतम् + अपि
गतोऽपि = गतः + अपि
सत्त्वानुरूपं = सत्त्व + अनुरूपं

शब्दान्वय

श्वा स्वल्प स्नायु वसा अवसेक मलिनं निर्मांसं गौः अस्थि अपि
लब्धा परितोषं एति च तत् तस्य क्षुधा न शान्तये।
सिहः जम्बुकम् अंकम् आगतम् अपि त्यक्त्वा द्विपं निहन्ति
कृच्छ्र गतः अपि सर्वः जनः सत्व अनुरूपं फलं वाञ्छति।

शब्दार्थ

श्वा = कुत्ता
स्वल्प = तनिक से
स्नायु = रंगों से युक्त
वसा = चरबी से
अवसेक = सने हुए
मलिनं = गन्दे
निर्मांसम् = मांस रहित
गौःअस्थि अपि = बैल की हड्डी भी
लब्ध्वा = पाकर
परितोषं = सन्तुष्ट
एति = हो जाता है
च = और (हालांकि)
तत् = वह (हड्डी)
तस्य = उस (कुत्ते) की
क्षुधा = भूख को
न शान्तये = मिटा नहीं सकती, अर्थात् पेट नहीं भरता
सिंह = (मगर) सिंह
जम्बुकम् = लोमड़ी के
अंकम् = गोद में, पास में
आगतम् अपि = आ जाने पर भी (उसे)
त्यक्त्वा = छोड़कर (दौड़-धूप करके)
द्विपं = हाथी पर
निहन्ति = आघात करता है,
कृछ् = संकट में
गतः अपि = पड़ जाने पर भी
सर्व जनः = सभी लोग
सत्त्व अनुरूपं = (अपने-अपने) स्वभाव के अनुसार
फलं वांछति = फल की इच्छा करते हैं।

भावार्थ

एक उच्च जाति का सिंह है, दूसरा नीच जाति का कुत्ता है। कहीं गला पड़ा गन्दा हड्डी का टुकड़ा पायेगा तो कुत्ता बहुत खुश हो जायेगा और उसे चबाने लगेगा, यद्यपि उस सूखी हड्डी से उसका पेट नहीं भरता। किन्तु सिंह को लीजिए कि मोटी तगड़ी लोमड़ी आकर पास में बैठ जाय तब भी उस पर पंजा नहीं मारता। दौड़-धूप करेगा। कहीं किसी मस्त हाथी को मारेगा और उसका मगज चखकर शान्त होगा। संसार का यहीं नियम है कि सभी लोग अपनी-अपनी मानमर्यादा के अनुसार ही जीवन निर्वाह करेंगे।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में उदाहरण देकर बताया गया था कि सिंह उसी चीज को खायेगा जो उसका निश्चित आहार है और उसे भी स्वयं कृषि से हस्तगत करके। अब एक कुत्ते की मिसाल देकर दिखाया गया हैं कि उसे जो भी और जैसी भी

चीज मिले खाने से मतलब। मनुष्य भी दोनों प्रकार के होते हैं। बहुतेरे ऐसे होते हैं जिन्हें अपनी मर्यादा का कोई ध्यान नहीं। किन्तु ऐसे भी कम नहीं जो जान की अपेक्षा मान की अधिक परवाह रखते हैं। संसार ऐसे मनस्वी पुरुषों को ही मानव मानेगा।

मगर सिंह, श्वान तथा मानव के सम्बन्ध में यह जो साधारण धारण बना ली गयी है उसमें कुछ अतिशयोक्ति की झलक दिखायी देती है। यह तो ऐसा ही लगता है जैसे शुतुरमुर्ग का आग निगलना या फाखते का कंकर चबाना। पौराणिक हंस के समान कोई साहित्यिक सिंह होता हो। अफ्रीका के जंगलों के सिंहों को सिनेमाओं में दिखाया जाता है। बहुत से सरकस कम्पनियों के यहां सिंह होते हैं। जहां इतने सिंह हों वहां हाथी कितने चाहिए रोज मरने के लिए ? न वहां के जंगलों में होंगे इतने हाथी और न यहां सिंहों को हाथी का नाश्ता कराया जाता है। इसी प्रकार कुत्ते भी ऐसे बहुत मिलते हैं जो निश्चित रातब के सिवा कोई और चीज दें तो सूंघकर छोड़ देते हैं। कुछ कुत्ते तो निश्चित वारों और तिथियों पर साप्ताहिक तथा पाक्षिक उपवास भी करते हैं। वह बातें साहित्य में हों तो हों, यह बातें प्रत्यक्ष देखी हुई हैं।

मान लीजिए कि जन्तु जाल में दोनों अपवाद हो सकते हैं। परन्तु मानव-जाति में ये गुण स्वाभाविक हैं। कौन गुण ? सिंह के अथवा कुत्ते के ? कोई जाति का हो, संसार के किसी कोने का हो, स्त्री हो अथवा पुरुष, बच्चा हो अथवा बूढ़ा, मनुष्य के भीतर श्लोक में वर्णित सिंहोचितगुण स्वभाव से ही पाये जाते हैं। किन्तु हम जो देखते हैं कि धनी जो चाहता है वह खाता है और दरिद्र जो मिल जाय उसी पर गुजारा कर लेता है और भाग्य को कोसता अथवा सन्तुष्ट रह जाता है। दोष इसमें मनुष्य का नहीं, बल्कि समाज की व्यवस्था का है। इस दूषित व्यवस्था में किसी किसी को सबका भाग हड़प कर आप भाग्यवान कहाने की छूट है और बाकी सबको इसी जन्म का, आज की अपनी मेहनत का न्यायोचित भाग 'मावजा' खोकर पुराने जन्मों की सजा भोगने की शिक्षा घुट्टी में घोटकर गले के नीचे उतारी जाती है, जो हलाहल बनकर दिल व दिमाग को पंगु बना देती है। ऐसी व्यवस्था में सभी कुत्ते बन जाते हैं, कोई गवर्नर का टैंगर है और कोई गलियारे की कुतिया। संसार चक्र को भगवान चला रहा है अच्छा या बुरा। हम उसे पकड़ नहीं सकते, पूछ नहीं सकते। पर इस समाज चक्र की इस दुरवस्था के कारक सामने खड़े हैं और समाज के कर्ताधर्ता भी इस चक्र के कल-पुरजे बने हुए हैं। क्या साम्यवादी समाज में भी यही होता है या होगा ? जवाब है, इस व्यवस्था में कुत्ते टैंगर बन कर गरज सकते हैं और उस व्यवस्था में कुतिया की बोलती भी बन्द रहती है।

मतलब यह है कि मानव को पशु न समझिए। मानव मानव है। इस संसार में मानव भगवान का प्रतिनिधि है। मानव भी सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता तथा लयकर्ता है। पहला रूप प्रत्यक्ष है। दूसरा रूप पामाल किया जा रहा है। परिणाम क्या होगा ? तीसरा विकराल रूप सामने आयेगा।

मानव के मुकाबले बेचारा सिंह क्या चीज है ? कुतिया कहो ही नहीं। सिंह केवल मारता है। मानव पैदावार करता और पोषण करता है। श्लोक के अन्दर सिंह, कुत्ते की जो उपमा दी गयी है वह उपमा मात्र है। मानव भी यदि एक पशु है तो वह सिंह के समान रहे। स्वाभिमान को हाथ से न जाने दे और अपनी मेहनत आप खावे। मुफ्तखोरी न करे, बस।

श्लोक २३

लांगूलचालनमधश्चरणावघातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च
श्वापिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुंक्ते।

शब्द विच्छेद

चालनमधश्चरणावघातं = चालनम् + अधः + चरण + अवघातं
वदनोदर = वदन + उदर
गजपुंगवस्तु = गजपुंगवः + तु
चाटुशतैश्च = चाटु + शतैः + च

शब्दान्वय

पिंडदस्य श्वा लांगूल चालनं अधः चरण अवघातं
च भूमौ निपत्य वदन उदर दर्शनं कुरुते
तु गजपुंगवः धीरं विलोकयति च चाटु शतैः भुंक्ते।

शब्दार्थ

पिंडदस्य = खिलाने वाले के (सामने)
श्वा = कुत्ता
लांगूल चालनं = पूंछ हिलाता (तथा)
अधः = नीचे जमीन पर
चरण अवघातं = पैर मारता
च = और
भूमौ = धरती पर
निपत्य = (चित) पड़कर
वदन = मुंह (और)
उदर = पेट
दर्शनं = दिखाया
कुरुते = करता है
तु = परन्तु
गज पुंगवः = गजराज, हाथी (अपने खिलाने वाले महावत को)
धीरं = गम्भीरता से
विलोकयति = देखता है, घूरता है
च = और
चाटु शतैः = सैकड़ों मीठी बातों से (पुचकारे जाते हुए)
भुंक्ते = खाता है ।

भावार्थ

पालतू कुत्ता रोटी के टुकड़े के लिए अपने मालिक के सामने पूंछ हिलायेगा । अगले पैरों से धरती खरोचेगा । फिर जमीन पर चित पड़ कर अपना मुंह और पेट दिखायेगा कि खाने को दो । इसके विपरीत हाथी जब उसके सामने रातब रखा जायेगा तब महावत को गम्भीरता से घूर कर देखेगा और जब महावत हाथी को मीठी-मीठी बातों से पुचकारेगा तब कहीं धीरे-धीरे खाने लगेगा ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में उत्तम तथा नीच जंतुओं के उदाहरण दिये गये थे और बताया गया था कि जंगल के सिंह और गलियारे की कुतिया के व्यवहार में क्या अंतर होता है । इस श्लोक में पालतू पशुओं की मिसालें दी गयी हैं । किसी-किसी के यहां पालतू हाथी भी होता है और कुत्ते बहुतों के पास होते हैं । जंतु-जाति के गुणावगुणों के सम्बन्ध में पीछे काफी चर्चा हो चुकी है । आदतें सभी की होती हैं । अपवाद भी काफी होते हैं ।

किन्तु सवाल यहाँ जानवरों का नहीं है। मानव-स्वभाव का है । मनुष्य के लिए पशुओं की मिसाल जचती नहीं । मिसालें भी लें तो पशुओं में एक जाति की लेनी चाहिए । सिंह से सिंह का, हाथी से हाथी का और कुत्ते से कुत्ते का मिलान हो सकता है । इसी प्रकार मानव-स्वभाव का विवेचन मनुष्य मनुष्य से मिलान

करके ही करना चाहिए। सब कुत्तों की एक जाति, सब सिंहों की एक जाति। इसी प्रकार सब मनुष्यों की एक जाति। मनुष्य के ही एक अंग का दूसरे अंग से अर्थात् कान से नाक की तुलना नहीं की जा सकती। तब मानव की अन्य जंगली जंतुओं से या पालतू जानवरों से क्या तुलना ? इसके अतिरिक्त पशुओं के जो गुण हैं वे हेय नहीं हैं। वे भी अपनी-अपनी जगह अत्यन्त उपयोगी हैं। कुत्ता भी उपयोगी, हाथी भी उपयोगी और सिंह भी उपयोगी। प्रश्न है उपयोग का। न हाथी का काम सिंह से ले सकते हैं और न सिंह का काम कुत्ते से। ट्रेनिंग देने से सभी जानवर सभी काम सीख सकते हैं। किन्तु परिश्रम अधिक, परिणाम कम। इसलिए उपयोगिता को समझकर शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करना होता है। मानव की भी यही स्थिति है। मनुष्य स्वभाव से ही उन्नतिशील होने के कारण वह स्वयं ही अच्छी बात सोचता और अच्छा काम करने के लिए उद्यत रहता है। वह दिमाग से जो सोचता है उसे हाथ से कर सकता है। इसलिए स्वयं सोचकर या दूसरों को देखकर आगे बढ़ने की चेष्टा करता है। फिर जिस प्रकार के समाज और परिस्थितियों के बीच वह रहता है वैसा ही बन जाता है। शिक्षा-दीक्षा और परिस्थितियां अच्छी मिलें तो वह अच्छा बनेगा। कुत्तों से और सिंहों से कहीं अधिक उपयोगी बनेगा। शिक्षा-दीक्षा की बात छोड़ भी दें तो क्या मानव सिंह से अधिक स्वाभिमानी और अधिक शूरवीर नहीं है ? क्या मनुष्य कुत्तों से अधिक कृतज्ञ नहीं है ? किन्तु मनुष्य और पशु में भारी अन्तर यह है कि पशु एक लीक पर चलता है और मनुष्य प्रगतिशील होने के कारण बढ़ता और बदलता रहता है। पीछे भी हटता है और आगे भी बढ़ता है। गिरता भी है और उठता भी है। समाज का कर्त्तव्य है कि उसे उठने और आगे बढ़ने की सुविधाएँ प्रदान करे। मनुष्य को कुत्ते के समान कृतज्ञी बनने के लिए भी अवसर चाहिए और सिंह के समान शूर बनने के लिए भी। उसे शूरता दिखाने का अवसर न दिया जायेगा तो वह कृतघ्न ही बनेगा और जो वीर होगा वह विनम्र भी होगा। विनम्रता में वीरता होती है। उसे जंगली शेर भी न बनाइए और गली की कुतिया भी न बनाइए। और, मनुष्य के प्रति जितनी सद्भावना हो उतना ही कुत्तों और शेरों की कद्र भी हो। किसी को एकदम घटिया या बढ़िया न समझें, समान मानें। इसी में समाज का कल्याण है।

अन्त में, कुत्ते हों या शेर केवल रोटी या जीभ के स्वाद के लिए दुम हिलाते या झपटते नहीं हैं। एक प्रेमातिशय को प्रकट करता है और दूसरा शौर्यातिशय को। मनुष्य में ये दोनों गुण हैं और अच्छे गुण हैं। जिसमें जिस गुण की प्रधानता हो उसका समुचित रूप से पोषण करना समाज का कर्त्तव्य है। हाथी में अभिमान

अधिक है तो क्या हम उसे नहीं पालते ? तब सीना तान कर चलने वाले को क्यों हम बदमाश समझें ? बड़े-से-बड़े बदमाश को अवसर दिया जाय तो वह समाज के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। इसी प्रकार हम कुत्तों को भी घृणा से न देखें। विनम्र जनता से अधिक काम बनेगा और वह अधिक संख्या में होते हैं। हमें चाहिए कि शेर और बकरी को एक नांद में खाने और एक जंगल में विचरने की सुविधा प्रदान करें।

इस टिप्पणी में श्लोक से विपरीत ध्वनि गूंजती-सी लगती है। पर पूर्णतया विचार करने पर विरोधाभास का अवकाश नहीं है।

श्लोक २४

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥

शब्द विच्छेद

समुन्नतिम् = सम + उन्नतिम्

शब्दान्वय

परिवर्तिनि संसारे जायते कः वा न मृत:
सः जातः येन जातेन वंशः समुन्नतिं याति।

शब्दार्थ

परिवर्तिनि = सदा बदलती हुई
संसारे = दुनिया में
जायते = पैदा होने (के बाद) पर
कः वा = कौन (है) जो
न मृतः = मरा नहीं (किन्तु)
येन = जिसके
जातेन = जन्म लेने से
वंशः = कुल
समउन्नतिं = अच्छी उन्नति
याति = पावे
सः = वह ही
जातः = जन्मा है, यानी उसी का जन्म सफल है, या उसी की गिनती है।

भावार्थ

यह संसार परिवर्तनशील है। सदा एक ही स्थिति में यह रहेगा नहीं। मनुष्य का रूप भी जन्म से ही बदलता रहता है और एक दिन मर जाता है। यह जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहेगा। न जाने रोज कितने मरते हैं और कितने पैदा होते हैं। पर संसार, समाज का कल्याण उन्हीं से होता है जो अच्छे काम करते हैं। ऐसे कुल, परिवार को लोग बहुत दिनों तक याद रखते हैं, ऐसे लोग मरने पर भी नहीं मरते। उनका काम जीवित रहता है। बाकी सब आये गये, हो जाते हैं। किसी गिनती में नहीं होते।

विशेषार्थ

इस श्लोक में भी हमने वह अर्थ नहीं लिये जो पिछले सब विद्वानों ने लिये हैं। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार पैदा होना, कुछ करना, और मरना यह सब लगा रहता है। मरने के बाद कर्मफल को भोगने के लिए फिर जन्म लेना, सो ठीक है। किन्तु श्लोक के द्वितीय चरण के अनुसार इसी जन्म को सार्थक बनाने की बात कही गयी है। तब हमें प्रथम चरण का भी उसी दृष्टि के साथ अन्वय करना होगा कि जो पैदा होगा वह मरेगा, मगर मरने से पहले कुछ करेगा भी। जीते जी ही कुछ ऐसे काम कर जायें कि मरने पर भी नाम बना रहे। उस परिवार का आगे के लोग मान करें या न करें, खुद उस परिवार के लोग तो नाम लेते रहेंगे कि हमारे पुरखों ने ऐसे-ऐसे पुरुषार्थ किये थे। उस पुरुष विशेष से जितने अधिक लोगों को लाभ पहुँचा हो उतने ही अधिक लोग उन्हें याद करेंगे। किन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं जो समूचे समाज के लिए और सदा के लिए कल्याणकारी उदाहरण छोड़ जाते हैं। ऐसे लोग सदा के लिए अमर हो जाते हैं।

श्लोक में वंशोन्नति की बात कही गयी है। जहाँ उन्नति वहाँ अवनति भी सम्भव है। यह उन्नति-अवनति मानव जाति के लिए सम्भव है, पशु जाति के लिए नहीं। कुत्ता सदा वफादार ही रहेगा, चाहे कितने भी युग बीत जायें और इसी प्रकार शेर वीर ही रहेगा। जंतु जाति कोई ऐसा काम कहीं कर सकती जिससे उसके कुल को कलंक लगे या विशेष नाम होवे। परन्तु मानव उल्टी-सीधी दोनों दिशाओं में चलता है। कभी बहुत अच्छा करता है और कभी बहुत बुरा। जनसाधारण सदा सिधाई की ओर ही झुका रहता है। व्यक्ति विशेष लम्बी डग

मारता है। वह भी भलाई की ओर ही पग बढ़ाना चाहता है। उसमें अड़चन आ पड़ने पर प्रतिकार के रूप में वह उल्टी ओर चलता है। उस व्यक्ति विशेष से विशेष लाभ उठाने के लिए समाज में विशेष व्यवस्था होनी चाहिए। इसी से मानव-वंश का उद्धार होगा। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—सारा संसार एक परिवार है क्यों न मानव चिन्तन और आचरण से मानव-जाति का नाम ऊँचा ही ऊँचा करता जाय। समाज का दृष्टिकोण ही ऐसा बन जाय तो व्यक्ति विशेष द्वारा बीच-बीच में ऊँची और लम्बी कूद भी सम्भव होगी और इस प्रकार मानव-वंश की उत्तरोत्तर उन्नति होती जायेगी।

जो पैदा होता है वह कुछ करने के लिए पैदा होता है मरने के लिए नहीं। मरना ही उद्देश्य होता तो ज्यों ही पैदा होता त्यों ही वह मर भी जाता। कुछ करने के लिए वह श्वास रोककर खड़ा होता है। उसे करने दो। बाधक न बनो। साधक बनो। जब मरेगा वह अपने लिए मरेगा, मगर जब तक जीवित रहेगा आप सबके लिए करता रहेगा। सबको मारकर अपने लिए करनेवाले की कभी चली नहीं। जो सबके लिए करके विशेष काम के लिए मरा है वह सदा अमर रहा है। मानव मात्र को सबके लिए करने का अवसर देकर उसे संसार में अमर बनना है। कदाचित् देवगण इसीलिए अमर कहाते हैं। मानव उस देव-देवता से कम कैसे है!

श्लोक २५

कुसुमस्तवकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा।।

शब्द विच्छेद

वृत्तिर्मनस्विनः = वृतिः + मनस्विनः

शब्दान्वय

कुसुम स्तवकस्य इव मनस्विनः द्वयी वृत्तिः
वा सर्व लोकस्य मूर्ध्नि, वा वन एव शीर्यते।

शब्दार्थ

कुसुम = फूल के
स्तवकस्य = गुच्छे की
इव = तरह
मनस्विनः = समझ से काम लेने वाले को, यानी मानव की
द्वयी = दो ही
वृत्तिः = काम, स्थितियां हैं
वा = या तो
सर्वलोकस्य = सब लोगों के
मूर्ध्नि = सिर पर रहे
वा = या
वन एव = वन ही में
शीर्यते = मुरझा जाय ।

भावार्थ

मनस्वी तथा आत्मवान व्यक्ति फूल के समान होते हैं। लोग फूल को पेड़ से तोड़कर अपने सिर में गूँथ लेते हैं। अगर किसी ने देखा नहीं, और देखकर भी नहीं लिया तो फूल अपनी जगह खिला रहता है, फिर मुरझाकर झड़ जाता है। मानी पुरुष की भी यही स्थिति है। यदि लोगों ने उसके गुणों को पहचाना तो उसे अपना मुखिया बना लेते हैं। अगर लोगों ने नहीं पहचाना और पहचान कर भी अनदेखा कर गये तो वे चुपचाप रहेंगे और एक दिन मर जायेंगे।

विशेषार्थ

महापुरुष के लिए पिछले श्लोकों में सिंह व हाथी की उपमाएं दी गयी थीं। यहां पर फूल से उपमा दी गयी है। दोनों ही जगह ऐसे पुरुषों को ऊंचा स्थान दिया गया है। फिर भी भारी अन्तर है। दोनों उपमाओं में अर्थात् सिंह, हाथी तथा फूल में अन्तर है तो महापुरुषों में भी अन्तर है। वहां जानवरों से उपमा दी गयी, सिंह और हाथी से जो दूसरों को हानि भी पहुंचा सकते हैं। यहां फूल की उपमा दी गयी है जिससे किसी को कोई खटका नहीं। महापुरुष भी दोनों प्रकार के होते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो अपने पराक्रम से, बाहुबल से सब बाधाओं को हटाकर अपने लक्ष्य तक पहुंच जाते हैं और अपनी प्रभुता मनवा लेते हैं।

कुछ महान आत्माएं फूल के समान कोमल होती हैं, जिन्हें समाज ने माना तो माना न माना तो न माना। उन्हें अपने मनवाने की कोई चिन्ता नहीं। वे अपने दिनचर्या में मग्न रहते हैं। कुछ महात्मा बनकर गुफाओं-कंदराओं में रहते हैं। समाज से नाता तोड़ लेते हैं और आत्मदर्शन में तल्लीन रहते हैं। कुछ ऐसे

भी होते हैं जो जीवन-निर्वाह के लिए अपने पेशे में लगे रहते हैं। ये फूलों के समान हैं। इस साधुता से क्या समाज का कोई कल्याण होगा ? जरूर होगा। यह समाज का दुर्भाग्य है कि जितना होना चाहिए उतना कल्याण तुरन्त हो नहीं पाता। जंगल के फूल को किसी ने सिर में नहीं चढ़ाया। फिर भी वह फूल अपनी सुगन्धि को हवा में फैला देता है और सुगन्धित हवा दूर-दूर तक फैलती है। फूल को लोग देख नहीं पाते, किन्तु सुगन्ध उनके नथनों में प्रवेश करती है। कंदराओं में छिपे कुछ उन महात्माओं की तपस्या भी व्यर्थ नहीं जाती। फूल को हाथ में न लेने पर वह अपनी सुगन्धि भेजता है। ये महात्मा भी अपने तपोबल से समाज को लाभान्वित करते रहते हैं। यह हुई एकतरफा बात महात्माओं की। अब दूसरी ओर समाज की बात सोचिए।

सामान्य जनता साधारणतया हिंसा तथा सत्ता के सामने झुक जाती है। जिन्हें पहले डाकू, वंचक कहती थी उन्हीं को राजा और नेता मानने लगती है। दूसरी ओर साधु प्रवृत्तिवाले की हँसी उड़ाती है और यदि वह अपने सिद्धान्तों पर अड़ गया तो उसे कुचल डालने में और प्राण तक लेने में भी पीछे नहीं हटती। किन्तु क्या यह अनुचित नहीं है ? शेर से डरना तो ठीक हो सकता है, पर फूल को पैरों तले रौंदना कहां का न्याय है। सचमुच फूल को पैरों तले न कुचलें भले ही, पर महात्माओं का मजाक उड़ाने में लोग पीछे नहीं हटते, और यह काम अनजान जनता नहीं बल्कि जानकार लोगों की ओर से होता है। जनता को जितना ज्यादा अंधकार में रखने में सत्ता-सम्पन्न सफल रहें उतने ही इन साधु-सन्तों की अधिक दुर्गति होती है। इसी प्रकार साधुजन अपनी एकनिष्ठ साधना से जनता को जितना जाग्रत करते हैं उतने ही अधिक शिरोधार्य वह बनते जाते हैं। मजा तो यह है कि मजाक उड़ाने वाले स्वार्थी जन ही सबसे बड़े चेले बन जाते हैं। आत्मवान पुरुष की कठोर परीक्षा होती है, अपूर्व सफलता मिलती है।

श्लोक २६

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः संभाविताः पञ्चषा-
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते ।
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ
भ्रातः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषीकृतः ।।

शब्द विच्छेद

सन्त्यन्येऽपि = सन्ति + अन्ये + अपि
पञ्चषास्तान्प्रत्येष = षञ्चषा + तान प्रति + एष
राहुर्न वैरायते = राहुः + न वैरायते
द्वावेव = द्वौ + एव
शीर्षावशेषीकृतः = शीर्ष + अवशेषीकृतः
दिनेश्वर = दिन + ईश्वर

शब्दान्वय

बृहस्पति प्रभृतयः पञ्चषाः अन्य संभाविताः सन्ति
तान् प्रति विशेष विक्रमरुचि राहुः न वैरायते,
पश्य भ्रातः एष शीर्ष अवशेषीकृतः दानवपतिः
भास्वरौ दिनेश्वर निशा प्राणेश्वरौ द्वौ एव पर्वणि ग्रसते ।

शब्दार्थ

बृहस्पति प्रभृतयः = बृहस्पति (गुरु) आदि
पञ्चषाः = पांच-छै
अन्ये अपि = दूसरे भी
सम्भावितः = पूज्य (ग्रह)
सन्ति = हैं
तान् प्रति = उनसे
विशेष = अधिक, खास
विक्रम रुचि = पराक्रम प्रेमी अर्थात् अपनी बड़ाई जताने के लिए
राहुः = राहू ग्रह
न वैरायते = वैर नहीं करता (किन्तु)
पश्य = देखो
भ्रातः = भाई
एष = यह
शीर्ष = सिर (मात्र)

अवशेषी कृतः = शेष रखा गया
दानवपतिः = राक्षसेश्वर
भास्वरी = तेजोवान
दिनेश्वर = दिनपति सूर्य
(तथा)
निशा = रात के
प्राणेश्वरः = पति
अर्थात् चन्द्रमा
द्वौ एव = दोनों को ही
पर्वणि = पर्वकाल अर्थात् अमावस्या के दिन सूर्य को और पूर्णिमा की रात चन्द्रमा को
ग्रसते = ग्रसता है, निगल डालता है।

भावार्थ

बृहस्पति आदि पाँच-छः तेजोमयीताराग्रह आकाश में हैं। किन्तु पराक्रमशील राहु ग्रह उन सभी से वैर नहीं करता। देखो भाई, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन सिर मात्र जिसका रह गया है ऐसा धड़विहीन दानवराज यह राहु सूर्य और चन्द्रमा को ही ग्रसता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में महापुरुषों की तुलना फूल से की गयी थी। फूल को कोई न पूछे, ऐसा नहीं होना चाहिए। किन्तु संसार में ऐसे लोगों की अधिक गत बनती है। ऐसे सत्पुरुषों का सत्कार की अपेक्षा इस दुनिया में तिरस्कार अधिक होता है। क्यों ! इसी का समाधान इस श्लोक में दिया है। तारागण की गतिविधि से इस बात को समझाया गया है।

आकाश में लाखों-करोड़ों झिलमिल तारे हैं। उनमें सबसे अधिक प्रकाशमान हैं सूर्य और चन्द्र। सूर्य के आगे एक भी तारा यहाँ तक कि चन्द्रमा भी नहीं टिक पाता और उस चन्द्रमा की उपस्थिति में बाकी तारे मध्यम पड़ जाते हैं। कुछएक तब भी चमकते रहते हैं। उनमें गुरु, शुक्र, शनि, मंगल, बुध आदि अन्य तारों की अपेक्षा अधिक प्रकाशमान हैं। राहु ग्रह उन सबको कभी नहीं छेड़ता और पीछे पड़ा रहता है सूर्य और चन्द्र के। क्यों ?

पुराणों में एक गाथा है। जब विष्णु भगवान् देवताओं को अमृत बाँट रहे थे तब रूप बदलकर राहु-केतु भी पंगत में बैठ गये। जब विष्णु भगवान मोहिनी के रूप में अमृत-कलश लेकर राहू-केतु तक पहुंचे तब सूर्य-चन्द्र ने सचेत किया कि यह तो राक्षस हैं। भगवान ने चक्र प्रयोग करके उनका सिर धड़ से जुदा किया। तब से राहु और केतु सूर्य-चन्द्र के वैरी बन गये।

गाथा कुछ हो। हमें असल मतलब से वास्ता है। सूर्य, चन्द्र, राहु, केतु और अन्य ग्रह भी आकाशगामी तारे हैं। सब एक ही जगह रहते हैं, पर परस्पर वैर रखते हैं। और वैर उनका बड़ों से है छोटों से नहीं। राहु-केतु नीच ग्रह हैं। सूर्य-चन्द्र उच्च ग्रह हैं। रात में चन्द्र से अधिक प्रकाशवान दूसरा कोई नहीं। दिन में सूर्य के तेज के आगे कोई टिकता नहीं। राहु-केतु अपनी नीच प्रवृत्ति के कारण सूर्य-चन्द्र से डाह रखते हैं। उन्हें तेजोविहीन करने की टोह में लगे रहते हैं और वार भी ठीक ऐसे समय करते हैं जब वे सब दिनों से अधिक तेजवान हों—पूर्णिमा को चन्द्रमा पर और अमावस्या को सूर्य पर। किस वैर पर ? इसी पर कि सूर्य, चन्द्र के कारण उनके धड़ उखड़ गये और सिर मात्र रह गये।

मानव समाज में भी राहु-केतु होते हैं। सारी जनता आकाश मंडल की नहीं, भूमण्डल के झिलमिलाते तारे हैं। सूर्य-चन्द्र की तरह कुछ सज्जन इनमें से जगमगा उठते हैं। राहु-केतु के समान कुछ दानवपति धूर्तराज बिगड़ पड़ते हैं कि यह सब लोग हमें ही मानते थे, परन्तु जब से यह आया है, हमें कोईपूछता नहीं। अब भी समाज के सिरमौर बने रहना चाहते हैं, परन्तु उनके पैर समाज में से उखड़ चुके हैं अर्थात् सिर धड़ से अलग हो चुका है। ये धड़ कटे रुण्ड-मुण्ड ही अधिक बवण्डर उठाते हैं। समझते हैं कि ये काँटे हटा दिये जायें तो हमारा चौपट राज ज्यों का त्यों चले, इस अंधेर नगरी में यह दीपक क्यों ? ज्यों-ज्यों सत्पुरुषों का प्रभाव बढ़ता है त्यों-त्यों उनका रोष बढ़ता है। अन्तिम वार वे तब करते हैं जब वे उच्चतम स्थान पर पहुंच जाते हैं। सज्जनों के लिए दुर्जनों की ओर से बाधाओं का होना अवश्यम्भावी है। जितनी बड़ी बाधा उतना ही बड़ा वह महापुरुष। महापुरुष सूर्य-चन्द्र से बड़े हैं। इनके कष्ट भी उनसे बड़े हैं। लगातार ग्रहण लगें तब भी महीने में दो ही ग्रहण आ सकते हैं, चन्द्र पर एक और सूर्य पर एक —केवल अमावस्या और पूर्णिमा पर। किन्तु सज्जनों के पग-पग पर ग्रहण हैं। सूर्य-चन्द्र राहु-केतु के मुंह से छूट निकलते हैं। मगर समाज के राहु-केतु न जाने कितने सूर्य-चन्द्रों को निगल गये। और डकार भो नहीं ली।

श्लोक २७

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स च धार्यते ।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥

शब्द विच्छेद

तमपि = तम् + अपि
क्रोडाधीनं = क्रोड + अधीनं
पयोधिरनादरादहह = पयः + धि + अन् + आदरात् + अहह
निस्सीमानश्चरित्र = निः + सीमानः + चरित्र

शब्दान्वय

शेषः फणाफलकस्थितां भुवन श्रेणीं वहति,
सः च कमठपतिना पृष्ठं मध्ये सदा धार्यते,
तम् अपि पयोधिः अनादरात् क्रोड अधीनं कुरुते,
अहह महतांचरित्र विभूतयः निः सीमान् ॥

शब्दार्थ

शेषः = भगवान आदि शेष
फणा = फनों के
फलक = पाटियों पर
स्थितां = धरे हुए
भुवन = भूमण्डलों की
श्रेणीं = टोलियों को
वहति = ढोये हुए हैं
सः च = वह (शेष) को भी,
कमठ पतिना = कच्छप राज द्वारा
पृष्ठं मध्ये = पीठ पर
सदा = हमेशा

धार्यते = थामे हुए है ।
तम् अपि = उसे भी, कच्छपराज को भी
पयोधिः = समुद्र
अनादरात् = बेपरवाही से
क्रोड अधीनं = शूकर राज के दांत के वश में
कुरुते = कर देता है
अहह = आश्चर्य है (कि)
महतां = बड़ों के
चरित्र विभूतयः = कार्यों की महानता
निःसीमान् = अपार है, बेहद है ।

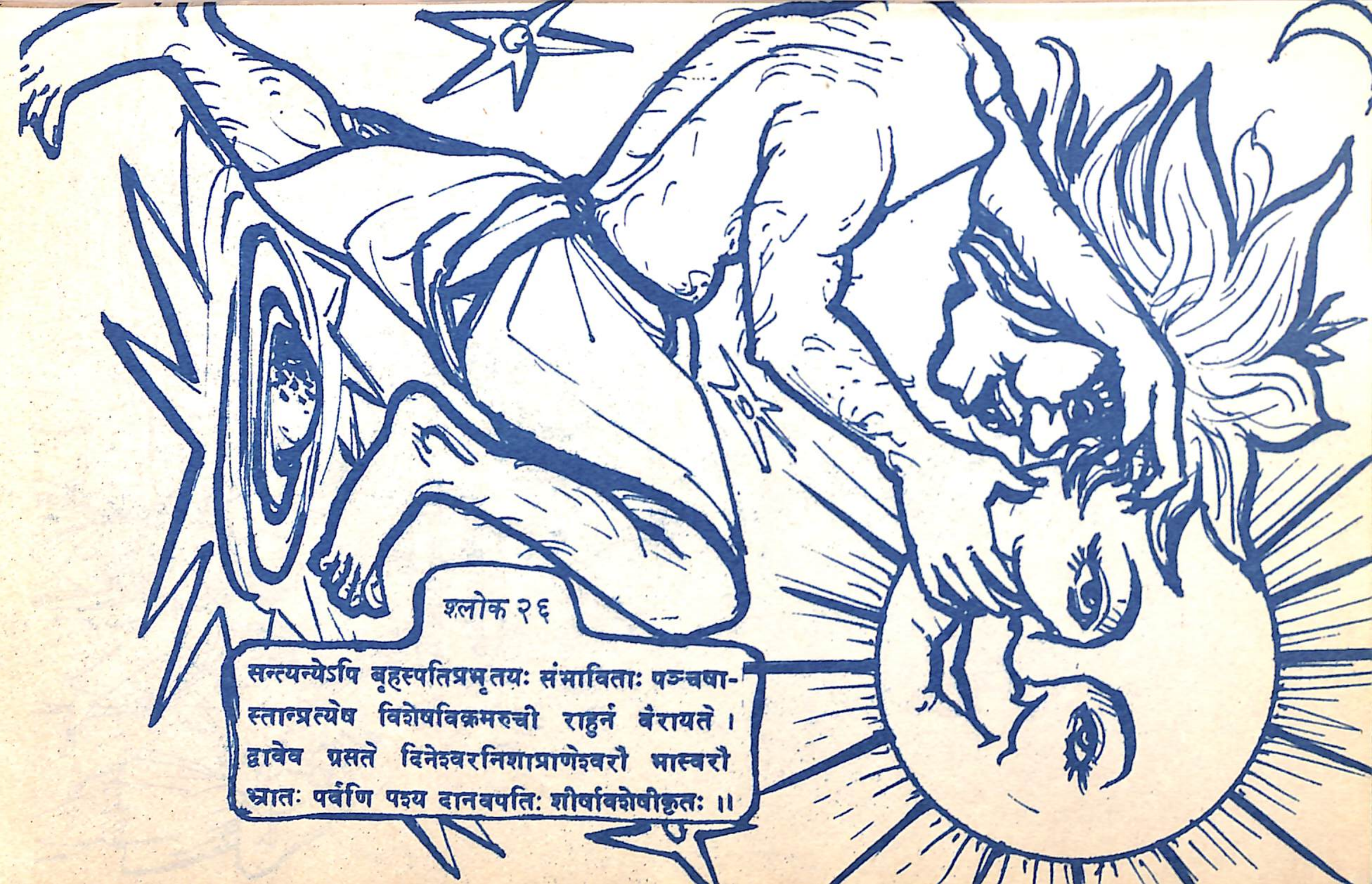

श्लोक २६

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः संभाविताः पञ्चषा-
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते ।
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ
भ्रातः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषीकृतः ॥

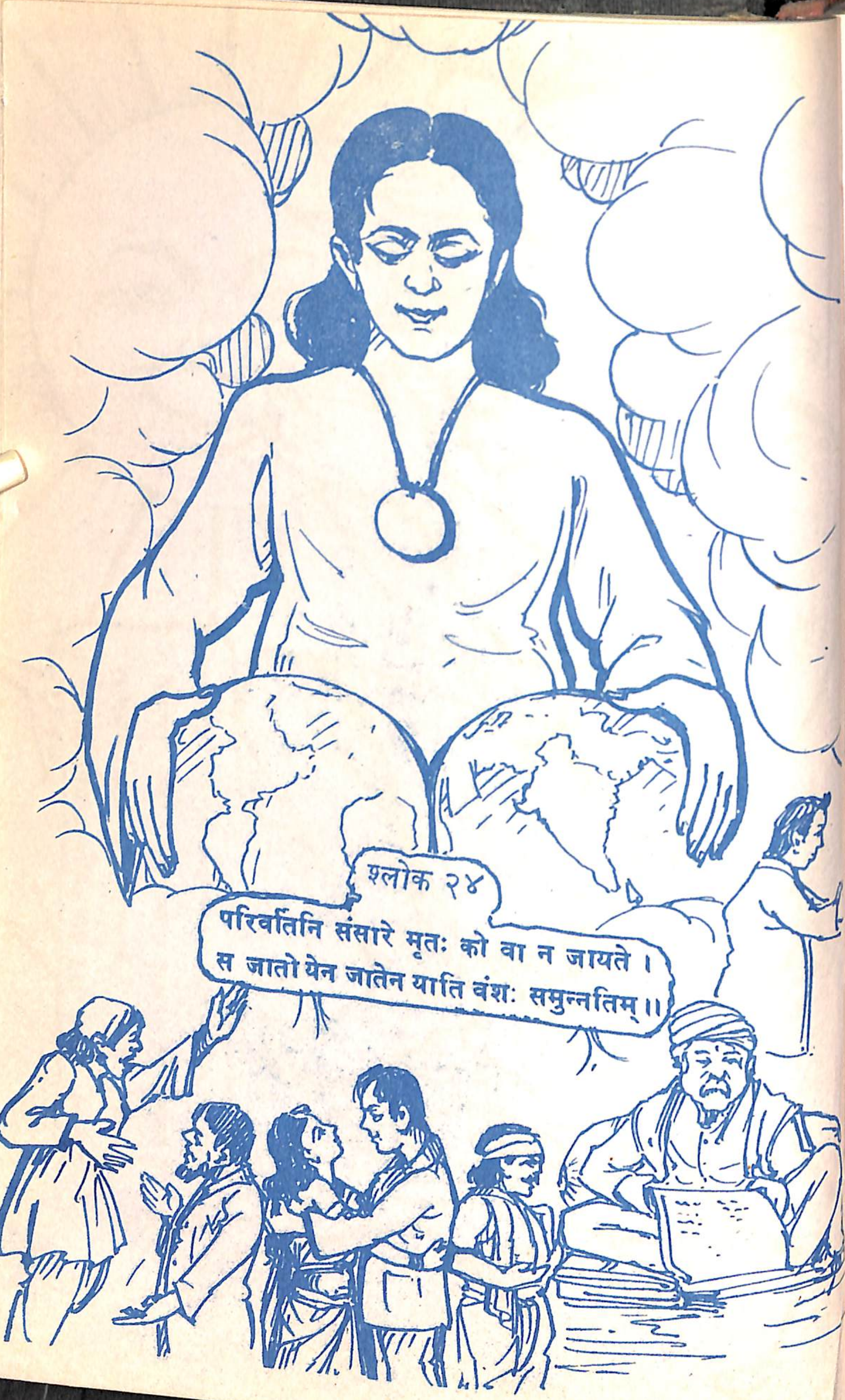

श्लोक २४

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥

भावार्थ

भगवान आदि शेष अपने विशाल फन पर सकल भुवनों को थामे हुए हैं। उस आदिशेष को कच्छपराज अपनी पीठ पर सम्हाले हुए हैं। समुद्र पर तैरते हुए उस कच्छपराज को शूकरराज अपने क्रोड पर उठाये हुए हैं। एक-से-एक बड़ी इन महान विभूतियों के क्रिया-कलापों की सीमा अपरम्पार है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में महान् आत्माओं की विशिष्टता का उल्लेख किया गया था। नीच प्रवृत्ति के लोग उनके साथ कैसा अशिष्ट व्यवहार करते हैं, इसकी भी चर्चा की गई थी। इस श्लोक में महान् से महानतर तथा महानतम विभूतियों का वर्णन है। इसका भी विशेष कारण है। लोकोत्तर विभूतियों को गर्व का अनुभव न हो, इस विचार से प्रमाणों के साथ कहा गया है कि महानता की भी कोई सीमा नहीं है। इस संसार में एक-से-एक बड़े भरे पड़े हैं। जिन्हें हम महान आत्मा मानते हैं वे भी तो इसी भूमण्डल पर खड़े हैं। पर इस विशाल भूमण्डल की क्या स्थिति है ? एक सर्प के फन पर इसका आलम्बन है। सर्प को देखें तो उसे एक कच्छप ने पीठ पर लाद रखा है। कच्छप को समुद्र अपनी छाती पर तैरा रहा है। इन सबको शूकर ने अपने क्रोड पर थाम रखा है। किसे बड़ा कहें ? अपने को सबसे बड़ा मानने की गुंजाइश कहाँ है ? विभूतियों को विनम्रता ही शोभा देती है।

यहां पर सृष्टि-क्रम का संकेत मिलता है। सबसे पहले पृथ्वी जलमय थी। उसमें सर्प जाति अथवा मीन (मछली) जाति का प्रादुर्भाव हुआ। तब चतुष्पाद जल-जन्तु कछुए का रूप प्रकट हुआ। उसके बाद भूगार्मी प्राणी शूकर का जन्म हुआ। इसी को हमारे पुराणों में मच्छ, कूर्म, वराह अवतार कहा गया है। नरसिंह अवतार पशु में नर-रूप का प्रवेश है। रामचन्द्र अवतार पूर्णरूपेण मर्यादा पुरुषोत्तम कहाये। कृष्ण बलदाऊ के साथ गोपालन तथा हल से जमीन जोतकर खेती करने की सूचना मिलती है। बुद्धावतार में बुद्धि को प्रधानता मिली। इसके बाद क्या होगा ? कलकि अवतार को हिंसा का प्रतीक बताया गया है। हिंस्रक शस्त्रास्त्र के प्राबल्य का आज का युग संसार को कहाँ ले जायेगा ?

श्लोक २८

वरं प्राणोच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्बहुलदहनोद्गार गुरुभिः ।
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेश विवशे
न चासौ संपातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥

शब्द विच्छेद

प्राणोच्छेदः = प्राणः + उच्छेदः
मघवन्मुक्त = मघवत् + मुक्त
प्रहारैरुद्गच्छद्बहुल = प्रहारैः + उत् + गच्छत् + बहुल
दहनोद्गार = दहन + उद्गार
तुषाराद्रेः = तुषार + अद्रेः
सूनोरहह = सूनः + अहह
चासौ = च + असौ
पत्युरुचितः = पत्युः + उचितः

शब्दान्वय

समद मघवत् मुक्त कुलिश उद्गच्छत् बहुल उद्घार दहन
गुरुभिः प्रहारैः तुषार अद्रैः सूनः प्राणाः
उच्छेदः वरं । पितरि क्लेश विवशे पयसां पत्युः
पयसि असौ सम्पातः रु उचितः ।

शब्दार्थ

समद = गर्वाभिमानी
मघवत् = इन्द्र द्वारा
मुक्त = छोड़े हुए
कुलिशः = वाज्रयुध से
उद्गच्छत् = ऊपर उठते हुए
बहुल = बहुत

उद्गार = उगलते हुए
दहनः = आग की लपटों की
गुरुभिः = दुस्सह
प्रहारैः = मार से
तुषार अद्रैः = हिमपर्वत के
सूनः = पुत्र

प्राणाः = प्राण
उच्छेदः = छोड़ना
वरं = उचित था (किन्तु)
पितरि = पिता के
क्लेश = कष्ट, दुख से
विवशे = बेसुध रहने पर

पयसां पत्युः = जलपति समुद्र के
पयसि = जल के भीतर
असौ = इस प्रकार
सम्पातः = छिपाये डाले रखना (उसे)
न उचितः = उचित न था

भावार्थ

मदोन्मत्त इन्द्र ने हिमालय पर्वत पर वज्रायुध से प्रहार किये। उसकी मार से हिमालय विह्वल हो गया, बेहाल हो गया। तब उसका बेटा मैनाक पिता को उसके हाल पर छोड़ स्वयं मारे डर के समुद्र के जल के भीतर जा छिपा रहा और इस प्रकार अपने प्राण बचा लिये। पिता को अधमरा छोड़ भाग पड़ना कितनी बड़ी नीचता है ? मैनाक अपनी जान बचाने की चेष्टा करने की अपेक्षा उसी पर्वतराज के शिखर से औंधे मुंह गिरकर मर जाता तो ज्यादा श्रेयस्कर होता ।

विशेषार्थ

पौराणिक गाथा है कि प्राचीन काल में पर्वतों के पंख थे। तब वे जहां चाहे उड़-उड़कर बैठ जाते और गांव के गांव और शहर के शहर उनके नीचे दब जाते। हाहाकार मचा। इन्द्र ने जब अपने वज्रायुध से सबसे बड़े पहाड़ हिमालय के पंख काट डाले और हिमालय बेहाल पड़ा रहा तब उसका बेटा मैनाक मारे डरके भाग गया और समुद्र में डूबकर छिपा रहा।

इस दशक में भर्तृहरि ने मान व शौर्य पर लिखा है। विद्या धन से विभूषित मानव जब कार्यक्षेत्र में उतरता है तब उसे सबसे पहले मान-मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए। प्राण भले ही जाएं, पर मान को आंच न लगे। पेट पालना बहुत बाद आता है। मान रक्षा में केवल अपना ही नहीं, अपने कुल-परिवार की मर्यादा भी सम्मिलित है। पिछले श्लोकों में वंशगत मर्यादा की बात कही गई है। माता-पिता गुरुजनों और भाई-बन्धुओं को संकट में छोड़ भाग पड़ना अनीति है। "मैं ही न रहूंगा तो मेरी मर्यादा कहां रहेगी," इस प्रकार सोचना भूल है। हो सकता है साहस करने पर आप भी रहें और स्वयं आप और आपके वंशजों की मान-मर्यादा और भी बढ़े। मगर भाग निकलने पर आप की मर्यादा भी उसी दम आपको छोड़

गई, पर आपकी भीरुता के कारण आपके बहादुर पूर्वजों को कलंक लग गया। यह आत्मरक्षा नहीं, बल्कि आत्मघात है। अपना ही नहीं अपनों का भी ध्यान रखना सच्चा स्वाभिमान है।

श्लोक २९

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते॥

शब्द विच्छेद

यदचेतनोऽपि = यत् + अचेतनः + अपि
सवितुरिनकान्त = सवितुः + इनकान्त
तत्तेजस्वी = तत् + तेजस्वी

शब्दान्वय

यत् अचेतनः अपि इनकान्तः सवितुः पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति
तत् तेजस्वी पुरुषः परकृत निकृतिं कथं सहते।

शब्दार्थ

यत् = जिस प्रकार अर्थात् जब
अचेतनः अपि = जड़ होते हुए भी
इनकान्त = सूर्यकान्त मणि
सवितुः = सूर्य के
पादैः = पैरों से, किरणों से
स्पृष्टः = छू जाने पर
प्रज्वलति = जल पड़ता है, जगमगा उठता है

तत् = उसी प्रकार, तब
तेजस्वी पुरुष = स्वाभिमानी व्यक्ति
परकृत = पराये का किया
निकृतिं = अपमान
कथं = कैसे
सहते = सहन करेगा अर्थात् कदापि सहन नहीं करेगा

भावार्थ

जब एक बेजान कंकड़ सूर्यकान्त मणि ही सूर्य के समान तेजस्वी के पैर लग जाने पर यानी सूरज की किरण पड़ जाने पर जल पड़ता है अर्थात् जगमगा उठता है, तब एक शूरवीर मनस्वी व्यक्ति किसी और से अपमानित किये जाने पर कैसे चुपचाप रह सकेगा अर्थात् दूसरे के अनादर का प्रतिकार करेगा ही।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक से यह भान होता है कि बड़ों में ही बड़े होते हैं, तो क्या छोटों की कोई गिनती नहीं ! इसी शंका का समाधान इस श्लोक में है। छोटे भी अपने को छोटा न समझें, यही शिक्षा इससे मिलती है। जो दूसरों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखते, वह बड़े हैं ही। यह कोई अहंकार की बात नहीं है। अहंकार में तो दूसरों का तिरस्कार होता है। कंकड़ का सूर्यरश्मि को सहन न करना अपने असली मूल्य पर निर्भर रहना मात्र है। यों भी प्रकाश की छाप से झलकने वाला कंकड़ कोई मूल्य नहीं रखता।

इस श्लोक का दूसरा भाव यह भी है कि कोई व्यक्ति ऊँची स्थिति पा जाने के कारण नीचे रहने वालों को नीचा न समझे। सूर्य अत्यन्त तेजवान है, पर उसे कंकड़ को अपमानित करने का कोई अधिकार नहीं है। परन्तु समाज में अधिकतर यही होता है। इसी कारण कई जीवट व्यक्तियों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है या स्वाभिमान को त्याग कर जड़ता को अपनाना पड़ता है। प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच जन्म लेकर प्रभुओं को धिक्कारें, ऐसे लोग बहुत कम मिलते हैं। किन्तु प्रभुता पाकर गर्व-अहंकार में चूर रहने वाले अक्सर मिलते हैं। इस श्लोक में अप्रत्यक्ष रूप से उन्हीं लोगों पर चोट की गई है और दूसरी ओर निम्नतम प्रतिभा को भी प्रोत्साहन दिया गया है।

स्वावलम्बन तथा आत्मनिर्भरता सदा सर्वदा हितकर है। यदि सफल हो तो समाज का लाभ होता है, मगर असफल रहे तो मात्र उसी व्यक्ति की हानि हो सकती है। सफलता के लिए समाज ने सहायता दी तो उसी का लाभ अधिक है। इसी प्रकार असफल बनाने की चेष्टा यदि की गई तो समाज ही की अधिक हानि होगी। इसके विपरीत ऐसे जीवट व्यक्तियों का यदि कोई विरोध करता है तो वह परमस्वार्थी होगा, इसमें तनिक संदेह नहीं है। प्रायः इस प्रवृत्ति से वह स्वयं लाभ उठा सके या न उठा सके, उस जीवट व्यक्ति को नुकसान पहुंचाने के

साथ-साथ समाज का भी अहित करता है ।

सूर्य कह सकता है कि हमारी लाखों-करोड़ों किरणों में एक-आध के छू जाने से उस कंकड़ की मर्यादा और भी बढ़ जायेगी, इसमें उसकी क्या हानि होगी ? कंकड़ के कण भी चमक उठते हैं जरूर, पर इससे लाभ क्या ? वास्तविक गुण जो है वही रहेगा । किरण वहाँ से हट गई और उसकी चमक चली गई । मनुष्यों की यही बात है । कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति-विशेष की उचित या अनुचित कृपा से कुछ बड़ी स्थिति को पहुँच जाता है । यदि उसमें वास्तविक गुण न हो तो जहाँ सिर पर से वह हटा कि दो कौड़ी का हो गया । और उन दो दिन की चांदनी से समाज को कोई लाभ नहीं होता, बल्कि अधिकतर हानि ही होती है । जो गुणी है वह स्वाभिमानी भी होता है । सूर्य हो या उससे बड़ा कोई व्यक्ति; किसी दूसरे व्यक्ति को उसके चरण पकड़ कर उठने की चेष्टा करे, यह कोई पसंद नहीं करेगा । लतियानेवाले को पतियाओ मत, प्रतिभावान को हाथों हाथ उठाना, जरूरत पड़े और योग्य हो तो सिर पर बिठा लेने में भी आनाकानी नहीं करनी चाहिए । समूचे समाज का और समाज के कर्णधारों का यही कर्तव्य है ।

श्लोक ३०

सिंह शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभितिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ।।

शब्द विच्छेद

शिशुरपि = शिशुः + अपि
प्रकृतिरियं = प्रकृतिः + इयं
वयस्तेजसो = वयः + तेजसः

शब्दान्वय

सिंह शिशुः अपि गजेषु मदमलिन कपोल भित्तिषु निपतति
सत्ववतां इयं प्रकृतिः तेजसः वयः हेतुः न खलु (भवति)

शब्दार्थ

सिंह = सिंह
शिशु:अपि = बच्चा होते हुए भी
गजेषु = हाथी के
मदमलिन = मस्ती से कलुआए
कपोल = गालों वाले
भित्तिषु = गंडस्थल पर
निपतति = झपटता है
सत्ववतां = प्रतिभावानों का
इयं = यह
प्रकृतिः = स्वभाव है
तेजसः = प्रतिभा के लिए अर्थात् प्रतिभावान के लिए
वयः = आयु का
हेतुः = कारण (ही)
न खलु = सब कुछ नहीं होता

भावार्थ

बाल सिंह भी मतवाले हाथी पर झपटता है। तेजोवान का स्वाभाविक गुण है। तेज को आयु से कोई वास्ता नहीं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जड़ पदार्थ सूर्यकान्त मणि का उदाहरण दिया था कि वह भी सूर्य जैसे तेजोमयी वस्तु द्वारा भी अपना अपमान नहीं कर सकता। तब मानव जन्म लेकर मनस्वी होकर किसी अधिकार अथवा धन-सम्पन्न व्यक्ति द्वारा सहायता पाना अथवा लाभान्वित होना कदापि पसन्द नहीं करेगा। इस श्लोक में उससे भी बड़ी बात कही गयी है। वह क्या ?

पिछले श्लोक में मूल्यवान मणि रत्न हो अथवा साधारण कंकड़ या बालू का कण, वह अपनी जगह पर पड़ा रहता है। सूर्य की किरण आप ही उसके पास पहुँचकर अपने चरणाघात करते हैं और समझते हैं कि हम उन तुच्छ कणों को संसार में चमचमा रहे हैं। ठीक है, वह चमक उठते हैं। किन्तु दूसरों द्वारा इस प्रकार अपमानित होकर संसार में जगमगा उठना वह पसन्द नहीं करते। वह क्षणिक उधार जगमगाहट उनकी रोष-ज्वाला है।

प्रस्तुत श्लोक में निर्जीव पदार्थ का नहीं बल्कि एक जीवधारी बाल-जंतु का उदाहरण दिया गया है। सिंह शावक आयु में छोटा हो, उतना बल भी उसमें न हो, फिर भी वह हाथी पर झपटेगा। यह उसका स्वाभाविक गुण है। जब जन्तु-जाति का यह स्वभाव है तब सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ मानव का क्या होगा ? ऐसे प्रतिभावान न जाने प्रत्येक दिन कितने जन्म लेते हैं। कितने ही ऐसे होते हैं जो जन्म

से ही बालार्क-प्रतिभा उनके मुखों पर झलकती है। बाल्यावस्था से वह ऐसी बातें कह जाते हैं और ऐसे कार्य कर गुजरते हैं कि दाँतोंतले उँगली देनी पड़ती है। वह बड़े-बड़ों से जूझ पड़ते हैं और कभी हार नहीं मानते। हम उन्हें उद्दण्ड समझते हैं और कान मरोड़कर तमाचा जमा देते हैं। क्या इस सजा का उनपर कोई असर होता है ? कदापि नहीं। उस अन्याय का प्रतिकार करने के लिए वे द्विगुणीकृत चेष्टाएँ करने लगते हैं। माता-पिता, समाज तथा समाज के कर्णधारों के लिए एक समस्या बन जाते हैं। उसका हल बहुत सरल था। छोटे बच्चों की प्रतिभा को स्वीकार करते और उचित रूप में प्रोत्साहन देते तो वह समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते। ऐसा आपने नहीं किया। वह गुण्डे-डाकू बन गये। कोई व्यक्ति जन्म से गुण्डा या डाकू नहीं होता। समाज की मूर्खता से समाज की खेती में काँटे बोये जाते हैं। बालरूपी उस उर्वर भूमि में विष-वृक्ष आपने रोपे हैं। मान लिया जाय कि उस सिंह के बच्चे को मतवाला हाथी सूंड़ से उठाकर पटक देगा। भले ही मर जाय, पर वह बाल-सिंह भागेगा नहीं और दम बाकी रहने तक गुर्रायेगा।

फिर बच्चा ही ऐसा करे, यह ज़रूरी नहीं है। गरीब, मजदूरों, किसानों क्लर्कों, सिपाहियों, विद्यार्थियों, अध्यापकों, सभी क्षेत्रों में ऐसे प्रतिभावान पाये जाते हैं। अधिकारियों और धनियों के सामने वह बच्चे हों, या बड़े। आपका रौब, दबदबा और आपके डर या मूर्खता से प्रभावित होकर अपने जन्मजात बाघाम्बर को उतार फेंक नहीं सकते।

पीछे श्लोक २५ में फूल की उपमा दी गयी कि वह या तो सिर पर चढ़ेगा या जंगल में मुरझा जायेगा। सात्त्विक वृत्ति के व्यक्ति समादर न होने पर गुफाओं में तपस्या करते हैं या अपनी वृत्ति में चुपचाप जीवन व्यतीत करते हैं। इस श्लोक में राजसी वृत्ति के व्यक्तियों का वर्णन है। राजसी वृत्ति का समाज में सत्कार न होने पर वह तामसी वृत्ति में भी परिणत हो सकती है। सत्वः, रजत, तमस के तिराहे पर कौन राही कौन राह पकड़ता है इसकी जिम्मेदारी अधिकांश रूप में समाज पर है या समाज के कर्णधारों पर जहाँ जनता अनजान है।

द्वितीय दशक का सारांश

श्लोक २१—महान कभी हीन न बने।
,, २२—हीन कभी महान न बने।
,, २३—चापलूस, नीच, ऊंच, गम्भीर।
,, २४—नामी कभी न मरे।
,, २५—नामी होवे या न जाने कोय।
,, २६—शूर ही वीर से वैर करे।
,, २७—सेर का सवा सेर।
,, २८—मान जावे जान क्या बचावे।
,, २९—चरण छूकर चमकना भी बेकार।
,, ३०—शेर बच्चा कभी नहीं कच्चा।

॥ अर्थपद्धतिः ॥

श्लोक ३१

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छतां
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं॥
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता अमी॥

शब्द विच्छेद

जातिर्यातु = जातिः + यातु
गुणगणस्तस्याप्यधो = गुणगणः + तस्य + अपि + अधः
शैलतटात्पतत्वभिजनः = शैलतटात् + पततु + अभिजनः
वज्रमाशु = वज्रं + अशु
निपतत्वर्थोऽस्तु = निपततु + अर्थः + अस्तु
येनैकेन = येन + एकेन
गुणगणास्तृण = गुण गणाः + तृण

शब्दान्वय

जातिः रसातलं यातु गुण गणः तस्य अपि अधः गच्छतां
शीलं शैलतटात् पततु अभिजनः वह्निना संदह्यतां
वैरिणि शौर्यं वज्रं आशु निपततुः, न केवलम् अर्थः अस्तु
येन एकेन विना अमी समस्ता गुणाः तृण लव प्रायः।

शब्दार्थ

जातिः = जाति, कुल
रसातलं = पाताल
यातु = पहुंचे
गुण गणः = सद्गुणों का समूह, सारे सद्गुण
तस्य अपि = उससे भी
अधः = नीचे
गच्छतां—चले जायें
शीलं = सदाचार
शैलतटात् = पहाड़ की धार से
पततु = गिर पड़े
अभिजनः = बन्धु बिरादर
वह्निना = आग से
संदह्यता = एकदम भस्म हो जायें
वैरिणि = शत्रु
शौर्ये = वीरता पर
वज्रं = बिजली, गाज
निपततु = गिरे (चाहे कुछ हो)
नः = हमें (तो)
केवलम् = सिर्फ
अर्थः = धन
अस्तु = मिले, चाहिए
येन = जिस
एकेन = अकेले के
विना = न होने पर
समस्ता = सभी
गुणाः = गुण, सद्गुण
तृणलव = तिनके के टुकड़े, छोटे तिनके के
प्रायाः = समान हैं।

भावार्थ

जाति, कुल रसातल पहुँचे, सद्गुण उससे भी गहरे धँस जायें, सदाचार पर्वत से गिरकर चूर-चूर हो जायें, बन्धु-बांधव भस्म हो जायें, वीरता पर वज्र गिरे, भले ही सब-कुछ हो जाय, पर हमें पैसा मिले, क्योंकि पास पैसा न होने पर यह सभी गुण घास के तुच्छ तिनके के समान हैं।

विशेषार्थ

मानव के लिए स्वाभिमान एवं शौर्य-पराक्रम चाहिए। यह दैवी गुण है।

इनसे मानव देवत्व को प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु जीवधारी तो संसार का कीड़ा है। इसी जगत् में जीवन यापन करना है और इसके लिए धन चाहिए—"धन-मूलमिदम् जगत्"।

धन ऐसे-वैसे नहीं मिलता। ईश्वर को तिलांजलि देने पर ही ऐश्वर्यवान धनवान बनता है। भीरु न बनना, बन्धु-बिरादर का ध्यान रखना, सदाचारी बनना, सदगुणों को अपनाना, कुल का ख्याल रखना इत्यादि ईश्वरीय गुण हैं। इन सब गुणों को भाड़ में झोंकिये और कोठार भर लीजिए। क्या सचमुच ऐसा ही है ?

"हां ठीक ऐसा ही है। एक-एक शब्द को लीजिए। जाति क्या ? क्या ब्राह्मण, ठाकुर, क्या पांडे, त्रिपाठी या माध्व रामानुज ? यह सब बीच में आई हुई हैं। वास्तव में यह सब किसी एक की चलाई हुई हैं। आदि में नहीं थीं। जाति माने जिसमें जन्म लिया यानी जिस वंश में, यानी खानदानी। खानदानी किसे कहते हैं ? एक घटना सुन लीजिए। मैं (लेखक) स्कूल में पढ़ रहा था अपने जन्म-स्थान से बहुत दूर जिले में। एक शाम फुटबाल खेलने जा रहा था। एक आदमी सामने से आता हुआ मिला। पचास से ऊपर थी उसकी आयु। कहा—एक बीड़ी पीने को दो। मैंने कहा—नहीं पीता। एक-दूसरे को काटते हुए आगे बढ़ गये हम दोनों एक-दूसरे की विपरीत दिशा में। बीस कदम बढ़ने पर मेरा एक दोस्त मिला, सहपाठी भी, साथी खिलाड़ी भी और बीड़ी पीने वाला भी। मैंने पूछा— दोस्त, एक बीड़ी दो। बीड़ी ली और पीछे लौटा और दौड़कर उस बूढ़े को बीड़ी दे दी। वह मेरा चेहरा घूरने लगा। पूछा कौन हो ? किसके बेटे हो ? मुझे विश्वास था कि न मैंने उसे कभी देखा था और न उसने कभी मेरे पिताजी को देखा है। फिर भी मैंने पिताजी का नाम बता दिया। उसने आश्चर्य से कहा—आप उनके बेटे हैं। तभी तो इतनी कोशिश से मुझे बीड़ी ला दी। और कहा मैं एक साईस हूं (साईस हमारी ओर चमार होते हैं) उसने गोया मुझे खानदानी कहा। परन्तु सच यह है कि मैं भी उसे खानदानी समझता हूं। आज से कोई पैंतालीस वर्ष पहले यही समझता था कि पक्का ब्राह्मण होते हुए और आज एकदम भ्रष्ट होते हुए भी यही मानता हूं। तभी तो यह घटना और उसकी सूरत-शक्ल की याद आज भी है हालांकि फिर कभी उसे देखने का मौका नहीं मिला। जाति इसे कहते हैं और हम दोनों की जाति एक। वास्तविक जातीयता शायद यही है। और शायद इसी जातीय भावना के कारण वह बूढ़ा बे-बीड़ी था और मैं बूढ़ा बेघर उधार खाता हूं। शायद इसी जातीयता के गुण श्लोक में गिनाये गये हैं जो उस साईस में थे और थोड़ी-बहुत मात्रा में मुझमें भी हैं।

इसी प्रकार अन्य गुणों पर भी मिसालें देकर साबित किया जा सकता है ये सब घर फूंक हाथ तापने के लच्छन हैं।

वास्तविक बात यह है कि जीवन के अनेक उद्देश्यों में से पैसा कमाना भी एक अच्छा उद्देश्य है। धनोपार्जन करना घृणित कार्य नहीं है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकाग्रता आवश्यकीय है, ठीक उसी तरह जिस तरह मत्स्य-यंत्र-भेद में अर्जुन ने कहा था कि मुझे मछली की उस आंख को छोड़ कोई गुरु, पितर, बन्धुजन या जन-समूह कुछ दीख नहीं रहा है। जब उस कृष्ण-भक्त अर्जुन के लिए तुच्छ मछली इतनी बड़ी चीज हो तो सारे संसार-व्यापार के मूलभूत धन के प्रति दत्तचित्त होना कैसे अधर्म हो सकता है। चतुर्विध मुक्तियों में से धनोपार्जन भी मुक्ति का एक धर्मयुक्त साधन है। धन को कमाने की विधि में शायद पाप का समावेश नहीं, बल्कि खर्च करने की विधि में पाप लगता है। 'पापी' के माने 'खर्च' न करने वाला भी है।

धन को घृणा से देखना एक प्राचीन प्रथा थी तो धनी को गाली देना अर्वाचीन फैशन है। त्यागी महात्माओं का अनुकरण करने वाला, मौखिक ही सही, तब आदर का पात्र समझा जाता था। और अब कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट बनकर—केवल बनकर—कैपिटलिस्टों को नहीं तो कम-से-कम कैपिटलिज्म को गाली देने में गर्व का अनुभव किया जाता है।

एक दम थोड़ी बात। धन ही पर यह तोहमत क्यों? अधिकार भी तो धन का सगा भाई है, बराबर का पट्टीदार है। अधिकार से हमदर्दी क्यों? क्या डर लगता है? ऊपर जितनी बातें कही गयी हैं या कही नहीं गयी हैं, उन सबको अधिकार-पिपासु भी उतने ही घृणित रूप में करते हैं बल्कि उससे भी वीभत्स ढंग पर करते हैं। राजनीति अर्थनीति की संगिनी है। धन और अधिकार, दोनों को या इनमें से किसी एक को प्राप्त करने की चेष्टा करना इतना पाप-कर्म नहीं है जितना उनका पूर्णतया सदुपयोग न करने में। निजी उपभोग के लिए धन कमाना या स्वेच्छाचार के लिए अधिकार प्राप्त करना दोनों महापाप हैं। धन के साथ कृपणता और अधिकार के साथ अन्याय वाममार्गी लक्षण हैं।

चोरों, डकैतों और कत्ल के मुकदमे अगर चलाये जायें तो दोनों पर चल सकते हैं। ऐसा लगता है कि समाज में छिपी चोरी, कानूनी डकैती और अहिंसक कत्ल की आम इजाजत है, हमेशा रही है, शायद हमेशा रहेगी।

श्लोक ३२

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति ।।

शब्द विच्छेद

यस्यास्ति = यस्य + अस्ति
कांचनमाश्रयन्ति = कांचन + आश्रयन्ति

शब्दान्वय

यस्य वित्तं अस्ति स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतवान्, स गुणज्ञः,
स एव वक्ता, च स दर्शनीयः,
सर्वे गुणाः कांचनम् आश्रयन्ति ।

शब्दार्थ

यस्य = जिसके पास
वित्तं = धन
अस्ति = है
स नरः = वह मनुष्य
कुलीनः = उच्च कुल का है, खानदानी
स पण्डितः = वह पंडित है, विद्वान है
स श्रुतवान् = वह शास्त्रों का जानकार
स गुणज्ञः = वह गुणों का पारखी है, गुणी है
स एव = वह ही
वक्ता = भाषण करने वाला है, अच्छा भाषण देता है
च = और
स दर्शनीयः = वह दर्शन करने योग्य है, सुंदर है
सर्वे गुणाः = सभी गुण (अच्छे)
कांचनं = सोने या धन का
आश्रयन्ति = शरण लेते हैं ।

भावार्थ

संसार में सभी सद्‌गुण धन की शरण लेते हैं । जो व्यक्ति धनी हो उसे लोग कुलीन मानते हैं, उसी को विद्वान् समझते हैं, उसी को

शास्त्रज्ञ कहते हैं, उसका भाषण या बातें सुनने को लालायित रहते हैं, उसके दर्शनाभिलाषी होते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में भी और इस श्लोक में भी दोनों में धन की महिमा गायी गयी है। किन्तु दोनों में अंतर है। पिछले श्लोक में बताया गया था कि धन के न होने से क्या हानि है और इसमें धन के लाभ बताये हैं। पैसे के दोनों पहलू मूल्यवान हैं, चित भी, पट भी।

पिछले श्लोक के अनुसार धन के न होने की हानियां थीं कि उच्च कुल में जन्मा है पर दरिद्र है इसलिए दर-दर धक्के खायेगा। गुणी है पर गली में उसे भीख भी नहीं मिलती। सदाचारी है पर सज्जन भी उसके साथ उठना-बैठना पसंद नहीं करते। कुछ बड़ाई दिखाई कि सरे-बाजार खोपड़ी तुड़वायेगा। इसलिए कहा था, सब छोड़ दो और धन कमाओ। अरे छोड़ने की क्या बात है, सभी तो उसे छोड़े हुए हैं।

अब इस श्लोक में सभी आपसे आप पास आने लगते हैं, जो नहीं हैं वह भी आते हैं धन के कारण। क्या इसमें कोई शक है? सब कुछ छोड़ा तभी तो धन जुटा है। कुल, गुण, सदाचार, सगे रिश्तेदार सभी को छोड़कर एक धन को साधा —एक साधे सब सधें। नतीजा यह है कि जिनको स्वयं छोड़ा वह भी आते हैं और जो कभी उसमें नहीं थे वह स्वयमेव आ जाते हैं।

धनी बन जाने पर अब तक कुल पर जो काथी चढ़ी थी वह छिल जाती है। आज के धनी के पूर्वजों का कोई नाम भी नहीं जानता था, अब पुण्यवशात या पापवशात धनी हो गया तो उसके पापी पुरखे भी तर जाएंगे गयाजी में पिंड दान करने से। आगे कई पीढ़ियों तक उच्च कुल के माने जाएंगे। जो नाम चला गया था वह भी आ गया और जो नाम कभी नहीं था वह अब मौरूसी बन गया। इसी प्रकार जहां शील-सदाचार की धनाभाव के कारण पूछ नहीं थी वहां गांव-शहर के सदाचारी सज्जन बैठक बनावेंगे। पुराने रिश्तेदार आयेंगे ही, नये बन जायेंगे। इस प्रकार कुल, शील, गुण, गाम्भीर्य सभी मिल जाते हैं।

अब इस श्लोक के अनुसार धन के करामात और भी बढ़ जाते हैं। काला अक्षर भैंस बराबर, मगर लोग उसको महापडित मानने लगते हैं, पाण्डित्य उनके कर की चेरी बन जाती है। विद्वान लोग की दरबारदारी करते हैं। उसकी कोठी पर सांझ-सबेरे पाठ चलता है, शास्त्रार्थ की सभाएं लगती हैं। हजार अवगुण हों पर लोग उसे गुण और गुणग्राही मानते हैं। गुणियों को गुजारे के लिए नौकरी और

कहां मिलेगी। कोई समारोह हो सभापति वह। भाषण सभापति से अच्छा किसका हो सकता है ? सभी धुरंधर वक्ता उसी का गुण बखान करने में अपना भाषण समाप्त करते हैं। और तो और धनवान को लोग रूपवान भी मानते हैं, भले ही वह बेहद भद्दी शक्ल का हो। इसके अतिरिक्त साधारणतया रूपवती युवतियां भी उस काले-कलूटे, लंगड़े-लूले पर लट्टू हो जाती हैं, जबकि वही सुंदर-सुडौल पर दरिद्र युवक पर लानत भेजती हैं।

अन्त में रूप, लावण्य, धन, दौलत, कोठी, घोड़ा, गाड़ी, यह सब निरर्थक हैं किसी निर्जन प्रदेश के एकाकी के लिए। इनका उपयोग तो देखने-दिखाने की हद तक है। इसीलिए समाज में धन की प्रधानता है।

पिछले श्लोक के निष्कर्ष को यहाँ भी दुहराइए। धन सत्ता एक ही कोख के जाई हैं जुड़वा भाई। ऊपर की सब बातें धनाधीश और सत्ताधारी दोनों पर समान रूप से लागू होती हैं।

श्लोक ३३

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः संगात्सुतो लालना-
द्विप्रो नध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
ह्लीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेह प्रवासाश्रया-
न्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्यागात्प्रमादाद्धनम् ।।

शब्द विच्छेद

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति = दुः + मन्त्रयात् + नृपतिः + विनश्यति
संगात्सुतोः = संगात् + सुतः
विप्रोऽनध्यनात्कुलं = विप्रः + अनध्ययनात् + कुलं
कुतनयाच्छीलं = कुतनयात् + शीलं
खलोपासनात् = खलः + उपासनात्।
ह्लीर्मद्यादनवेक्षणादपि = ह्लीः + मद्यात् + अनवेक्षणात् + अपि
प्रवासाश्रयान्मैत्री = प्रवास + अश्रयाल् + मैत्री

चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्यागात्प्रमादाद्धनम् = च + अप्रणयात् + समृद्धिः + अनयात् + त्यागात् + प्रमादात् + धनम्

शब्दान्वय

नृपतिः दुः मन्त्र्यात् विनश्यति, यतिः संगात् (विनश्यति)
सुतः लालनात् (विनश्यति), विप्रः अनध्ययनात् (विनश्यति)
कुलं कुतनयात् (विनश्यति), शीलं खलः उपासनात् (विनश्यति)
ह्रीः मद्यात् (विनश्यति), कृषिः अपि अनवेक्षणात् (विनश्यति)
स्नेहः प्रवासाश्रयात् (विनश्यति), च मैत्री अप्रणयात् (विनश्यति)
धनम् समृद्धिः अनयात् त्यागात् प्रमादात् विनश्यति।

शब्दार्थ

नृपतिः = राजा (राज)
दुः मन्त्रयात् = दुष्ट मंत्रियों से
विनश्यति = नष्ट होता है, तबाह, बरबाद होता है
यतिः = संन्यासी
संगात् = संगत से, आसक्ति से (तबाह होता है)
सुतः = पुत्र
लालनात् = लाड़ से (तबाह होता है)
ह्री = लज्जा
मद्यात् = नशा करने से (तबाह होती है)
कृषिः अपि = खेती भी
अनवेक्षणात् = देखरेख न करने से (तबाह होती है)
स्नेहः = प्रेम
प्रवासआश्रयात् = परदेश में बस जाने से (तबाह होता है)
मैत्री = दोस्ती
अप्रणयात् = बेमुरव्वती से (तबाह होती है)
समृधिः = खुशहाली
अनयात् = ढिठाई से (तबाह होता है)
धनम् = धन
त्यागात् = त्याग से तथा
प्रमादात् = बेपरवाही से
विनश्यति = तबाह हो जाता है
विप्रः = ब्राह्मण, वेदपाठी
अनध्ययनात् = पठन-पाठन छोड़ने से (तबाह होता है)
कुलं = वंश
कुतनयात् = कपूत से
शीलं = सदाचार
खलः = दुर्जनों का
उपासनात् = साथ देने से (तबाह होता है)

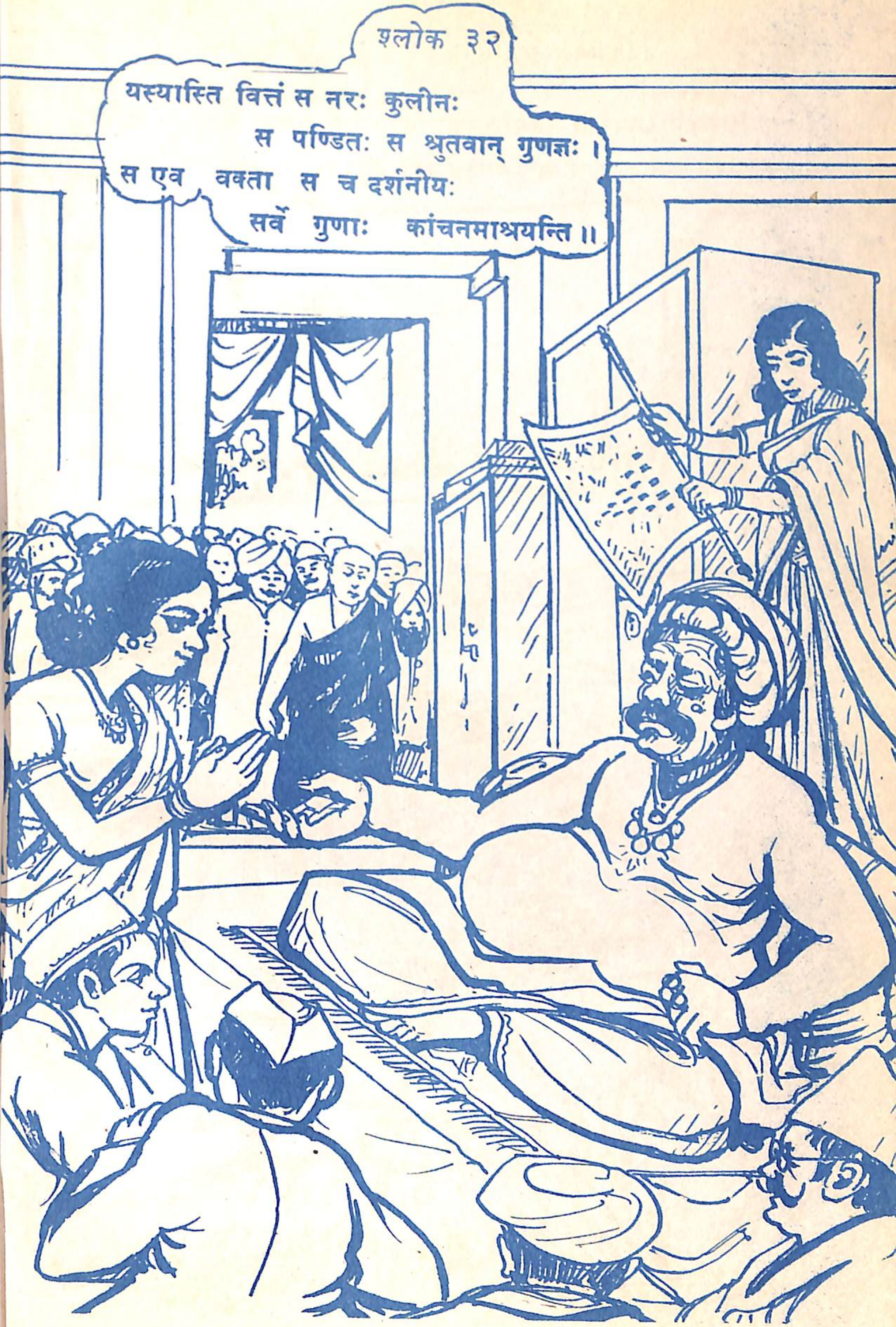

श्लोक ३२

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति ॥

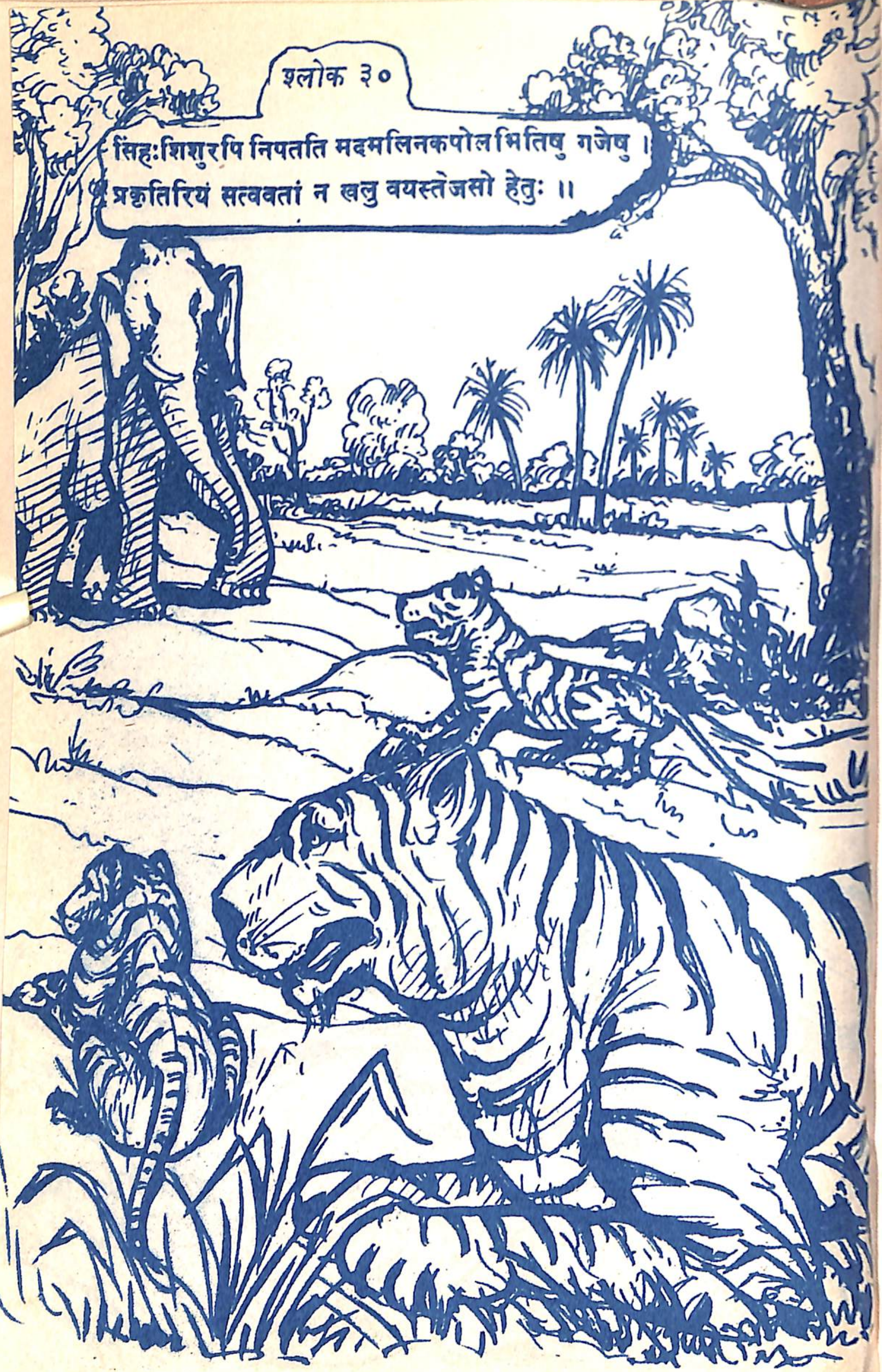

श्लोक ३०

सिंहःशिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभितिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥

भावार्थ

दुष्ट मन्त्रियों से राजा तबाह होता है। इसी प्रकार आसक्ति से यति, लाड़-प्यार से संतान, अध्ययन छोड़ने से ब्राह्मण, कुपुत्र से वंश, बुरों की सोहबत से सदाचार, नशा करने से लज्जा, देखभाल न होने से खेती, परदेशवास से प्रेम, मुरव्वत न रखने से दोस्ती, ढिठाई से खुशहाली, त्याग तथा बेपरवाही से धन तबाह हो जाता है।

विशेषार्थ

इस श्लोक में यद्यपि यति, विप्र, कुपुत्र, शील, लज्जा, खेती, प्रेम, दोस्ती आदि कई बातों की चर्चा है किन्तु वास्तव में केवल दो ही बातों पर विशेष जोर है : पहला राज अंतिम धन। धन की तबाही के दो कारण बताकर यह और भी स्पष्ट कर दिया गया है। जिस प्रकार यति आदि संग आदि विनाश को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार धन का विनाश हो जाता है त्यागशीलता तथा प्रमाद से। त्याग तथा प्रमाद का अभिप्राय लेन-देन के मामलों में त्यागशीलता दिखाना नहीं चाहिए, हिसाब-किताब ठीक रखना चाहिए। 'पहले लिख पीछे दे, भूल पड़े कागज से ले' पुरानी कहावत है। श्लोक में निषेधात्मक उपदेश मात्र है। धन के लिए त्याग प्रमाद का निषेध है किन्तु दान त्याग का निषेध नहीं हो सकता। "हिसाब को रत्ती, दान को हत्ती—हाथी।"

श्लोक ३४

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

शब्द विच्छेद

नाशस्तिस्रः = नाश + तिस्रः
गतिर्भवति = गतिः + भवति

शब्दान्वय

वित्तस्य तिस्रः गतयः भवन्ति—दानं, भोगः, नाशः,
यः न ददाति, न भुंक्ति तस्य तृतीय गति भवति ।।

शब्दार्थ

वित्तस्य = धन के
तिस्रः = त्रिधारी
गतयः = रास्ते
भवन्ति = होते हैं
दानं = दान
भोगः = उपभोग (तथा)
नाशः = नाश
यः = जो व्यक्ति
न ददाति = दूसरों को दान नहीं करता है (या स्वयं उनका)
न भुंक्ति = उपभोग नहीं करता है
तस्य = उसके धन की
तृतीय गतिः = तीसरी गति
भवति = होती है, अर्थात् नाश हो जाता है

भावार्थ

धन की तीन ही गतियाँ हैं, एक दान, दूसरा भोग, तीसरा नाश। जो धनी दूसरों को दान नहीं करता और स्वयं आप भी उपभोग नहीं करता, उसके धन को तीसरी गति प्राप्त होगी अर्थात् उसका सारा धन बरबाद होगा।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में धन कमाने और उसे बचाने की विधियों पर चर्चा की गई थी। इस श्लोक में उसे खर्च करने की विधि की बात उठायी गई है। सबसे पहले धन की चंचलता की बात मान ली गई है कि वह एक जगह रहेगा नहीं। किसी-न-किसी रूप में चला जायेगा। स्वयं जानेवाली चीज को आप ही चलता बना देना उचित है। इसकी दो ही विधियाँ बतायी गयी हैं, एक दान, दूसरा उपभोग। यह दोनों विधियाँ स्वयं कमाने वाले के अधीन हैं। धनी अपने धन को जिस काम के लिए और जिस व्यक्ति को चाहे दान कर सकता है, या जिस रूप में चाहे अपने ऊपर खर्च कर सकता है। दान देने पर उस धन को खर्च करने वाला दूसरा व्यक्ति होता है और अपने ऊपर खर्चने पर अपने हाथ से खर्च करता है। कमायें हम और खर्च करें दूसरे, इसे श्रेष्ठ माना गया है। तभी दान को प्रथम स्थान दिया

गया है। दान साधारणतया धर्मार्थ कामों में होता है और वह धन भी दूसरे के हाथ से खर्च होता है धर्म के मार्ग पर। दान शब्द के साथ ही सुपात्र दान का अभिप्राय लगा हुआ है। इसलिए जिसे दिया जाय उसके द्वारा पाप-कार्य में लगाने की आशंका नहीं है। अतः दानी पाप से बरी रहा ही। तब धनोपार्जन के सम्बन्ध में श्लोक (३१) में जो कुछ कहा गया था, वह इतना अनुचित न लगेगा, जितना पहले लगता था। यह है धन के खर्चने की उत्तम विधि।

अब मध्यम विधि को लीजिए—स्वयं उपभोग करना। दूसरों को दे डालें और वह भी परोपकार में तो जरूर अच्छी बात हो सकती है। उसे उत्तम कहिए, उत्तमोत्तम कहें तो भी कोई हर्ज नहीं। किन्तु यह अपने-आप खर्च करना भी कोई प्रशंसा की बात है? जरूर है। हाँ, उतना नहीं जितना मुक्त दान की है। इसमें कम-से-कम इतना तो मान ही लिया गया कि पैसे को चलता कर दो, दूसरों के हाथ न सही अपने ही हाथ से। मनमाने खर्च करे और मनमाने भोग-विलास करे तो यह पाप नहीं और क्या है? यह शंका तभी उठ सकती है जब हम पिछले श्लोक की बातों को अगले श्लोक में ही भुला डालें। पिछले श्लोक के अन्त में स्पष्ट कहा गया है कि पैसे के मामले में हाथ को ढील न छोड़ें और सदा सावधान रहें। पिछले श्लोक के सारे-के-सारे शब्दों को असम्बद्ध या भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों को उद्देश्य करके कहे गये मानना भी भूल है। उन सबका व्यय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। उसी के साथ स्पष्ट रूप में कहा गया है कि समृद्धि में विनम्र बना रहे, ढिठाई न करे, बन्धु-मित्रों के साथ मुरव्वत बरते, धनोपार्जन के लिए प्रवास करना पड़े तो सम्बन्धियों से स्नेह सम्बन्ध न टूटे, लज्जा न त्यागे, नीचों से सोहबत न करे, कपूत न बने इत्यादि इत्यादि। इन सब बातों का पालन करते हुए अपना धन आप स्वयं खर्च करे तो वह भोग-विलास कैसे होगा और मनमानी कैसे? अगर हुई भी तो मर्यादा के भीतर होगी और लांछन के योग्य न होगी। ध्यान से देखने पर पता लगेगा कि ऊपर की बातों पर अमल करने वालों का अधिकांश खर्च दूसरों को संतुष्ट करने में ही होगा। फिर भी वह दान नहीं है। इसमें खर्च का स्वामित्व धनी को प्राप्त रहता है और जिन लोगों को देता है वह व्यक्तिगत रूप में देता है और लेनेवाले को भान रहता है कि अमुक व्यक्ति उन्हें दे रहा है। फिर यह लेनेवाला भी स्वभावतया उपरोक्त उपदेशों पर आबद्ध रहेगा। अपने-आप खर्च करने का एक रूप यह हुआ। अब दूसरा रूप देखिये।

उदाहरण से बात ठीक समझ में आवेगी। एक व्यक्ति है, एक लाख रुपया महीना कमाता है। वह लाख पचास-हजार रोज खर्च करे भी तो क्या खर्च

करेगा ? भारतीय स्तर से तो कोई भी स्वयं अपने ऊपर दस-बीस से अधिक खर्च कर ही नहीं सकता। बढ़कर खर्च किया तो जितना खर्च होगा वह दूसरों पर होगा, स्वयं उस पर नहीं। खायेगा, पियेगा, पहनेगा, यात्रा करेगा, सिनेमा-ड्रामा देखेगा, बस, और क्या करेगा ? इतना करने वाले के नौकर-चाकर होंगे, घरवाले होंगे, दोस्त होंगे, संगी-साथी होंगे। इन पर अगर खर्च किया तो आप पर तो न हुआ। स्वयं सदाचारी (पिछले श्लोक के अनुसार) रहकर दूसरों पर जो खर्च करेगा वह कदाचार में कभी सम्भव नहीं है। कोई है जो ऐसा खर्च नहीं करता, बल्कि बिल्डिगें बनवाता है, कारखाने खोलता है, जमीन-जागीर खरीदता है, बाग-बगीचे लगवाता है और यह सब अपने लिए करता है। तब भी उसका खर्च सराहनीय है, क्योंकि वह अपने ही नाम पर यह करे, इसके करने-कराने के लिए सैकड़ों-हजारों को काम में लगाता है उनको पारिश्रमिक रूप में वेतन देता है। अन्ततोगत्वा सब खर्च दूसरों पर होता है और नाम अपना होता है। करता वही है जो दान में करता है, यानि दूसरों पर खर्च करता है और दूसरों के द्वारा ही खर्च करवाता है। फिर भी वह दान का उत्तम स्थान प्राप्त न करके मध्यम स्थान को प्राप्त होता है, क्योंकि स्वामित्व नहीं छोड़ता।

आप शंका उठाएंगे कि—हाँ, हम यह सब मानते हैं किन्तु आपने पिछले श्लोक में सब शब्दों को लेकर समाधान दिया, पर शुरू के राजा को ही क्यों छोड़ दिया और यति-सुत को क्यों नहीं लिया ? इसलिए कि आपकी वह व्याख्या उन पर बैठ नहीं सकती।

नहीं, यह बात कदापि नहीं। हमने जान-बूझकर उन्हें बचा रखा था कि अन्त में लेंगे। चलो, अन्तिम शब्द सुत ही पहले लें। जब उस धनी को दूसरों के साथ इतनी सावधानी से जीवन बिताना है तब स्वयं अपने पुत्र के लिए क्या कुछ नहीं सोचेगा। वह ख़ूब जानता है कि अपने बेटे को—जो बाद में सारी कमाई का मालिक बनने वाला है—लाड़-प्यार से रखेगा तो सारा धन्धा चौपट हो जायेगा। इसलिए अपनी जैसी ट्रेनिंग उसे भी देगा।

अब रही यति और राजा की बात। दोनों ही दूसरों का धन लेनेवाले हैं, एक दान के रूप में और दूसरा डंडे के जोर से। दूसरों का धन चाहे वह राजा हो या संन्यासी मनमाना खर्च नहीं कर सकते। यति और राजा या अधिकारी उतनी भी मनमानी नहीं कर सकते जितनी मनमानी धनी कर सकता है। राजा को या राजकाज चलाने वालों को सुमंत्रणा पर चलना होगा। और यति-संन्यासी सब कुछ खर्च कर डाले और किसी से कोई आसक्ति न रखे, न अपनों से न पराये से। राजा सब कुछ होते हुए भी संन्यासी के समान रहे, और संन्यासी कुछ न

होते हुए भी राजाओं से बढ़कर सबल रहे। संन्यासियों के सम्बध में यह धारणा साधारण जनता में आज भी बनी हुई है। मुसलिम फकीरों को शाह साहब (अर्थात् बादशाह) कहते भी हैं। किन्तु राजाओं के लिए फकीर या संन्यासी का शब्द प्रयुक्त नहीं होता। यद्यपि जनकादि चक्रवर्ती राजाधिराज भी साधु-संत का जीवन व्यतीत करते थे। राजा शिबि ने एक कपोत के लिए अपने एकमात्र पुत्र का किस प्रकार बलिदान किया था? प्रागऐतिहासिक गाथाओं को छोड़कर अर्वाचीन इतिहास में भी ऐसे ज्वलंत उदाहरण मिलते हैं।

ख़लीफा उमर फ़ारुख हजरत मुहम्मद के बाद दूसरा खलीफा था जो सारे इसलामी संसार का बादशाह था। फारुख इसीलिए नाम पड़ा था कि जिधर वह गया उधर उसकी फतह-ही-फतह रही। सारा यूरोप उसके अधीन आ चुका था। उसकी कितनी ही कहानियाँ पढ़कर दाँतों उँगली देनी पड़ती है। आम दरबार लगा था। जनता में से एक ने उठकर पूछा--क्यों खलीफा, हम पब्लिक में से सबके आधे बाँह का कुड़ता है और आप पूरे बाँह का लबादा कैसे पहन रखे हैं? उमर ने अपने बेटे से उसका जवाब दिलाया, जिसने भरे दरबार में खड़े होकर कहा कि यह देखो मेरे कुड़ते में बाँह ही गायब हैं। कपड़ा तो आपको, हमको और खलीफा को बराबर ही मिला था—सबको आधे बांह का। मैंने अपने उसी आधे बाँह का कपड़ा निकालकर अपने पिता—खलीफा पिता को पूरे बाँह का बना दिया है। सब चुप।

अस्तु। धनी अपने धन को दान-भोग में खर्च न करे तो उस धन का विनाश होगा किसी और रूप में। तब वह दान के पुण्य और भोग के सुख दोनों से वंचित रहेगा।

श्लोक ३५

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितो
मदक्षीणों नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नराः ॥

शब्द विच्छेद

शाणोल्लीढ़ः=शाण+उल्लीढ़ः
सरिदाश्यान=सरित्+आश्यान
शेषश्चन्द्रः=शेषः+चन्द्र
विभवाश्चार्थिषु=विभवाः+च+अर्थिषु

शब्दान्वय

शाण उल्लीढ़ः मणिः, हेति दलितः समरविजयी,
मदक्षीणः नागः, शरदि आश्यान पुलिना।
कला शेषः चन्द्र, सुरत मृदिता बाल वनिता,
च अर्थिषु गलित विभवान्नराः, तनिम्ना शोभन्ते।

शब्दार्थ

शाण=खराद पर
उल्लीढ़ः=चढ़ा, घिसा हुआ
मणिः=रत्न, नग
हेति=अस्त्रों से
दलितः=घायल होकर
समर विजयी=युद्ध में जीता हुआ,
मदःक्षीणः=मस्ती उतरा हुआ
नागः=हाथी
शरदिः=शरत्काल में, जाड़ों में
आश्यान=सूखी
पुलिना=रेतवाली
सरिता=नदी

कला शेषः=थोड़ी सी कलावाला अर्थात् द्वितीया का
चन्द्रः=चन्द्रमा
सुरत=सम्भोग में
मृदित=पिली पड़ी
बालवनिता=नवयुवती
च=और
अर्थिषु=जरूरतमन्दों को देकर
गलित विभवाः=मालमता खोये हुए
नराः=लोग
तनिम्मा=दुबलाने पर भी
शोभते—शोभा देते हैं।

भावार्थ

नग खराद पर चढ़कर घिसता है, पर निखर उठता है। वीर समर में मार खाकर भी विजयी होता है। मतवाला हाथी मस्ती भर कर सवारी देता है। जाड़ों में नदी सूखती है पर उसके बालू के बिछावन मनों को हरते हैं। चन्द्रमा की कलाएँ शुक्ल पक्ष में दिन-प्रतिदिन

बढ़ती हैं किन्तु दूज की पतली रेखा की बड़ी महिमा है। बाला युवती सम्भोग में निढाल होकर भी अधिक सुंदर लगती है। धनवान सर्वस्व दान कर दानवीर कहाता है। इन सबका हाल पतला हो जाता है, लेकिन बोलबाला होता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जितनी बातें बतायी गयीं उन सबमें धन जुटता नहीं बल्कि घटता है। खर्च करने में मन को दुख हो सकता है। किन्तु खर्च के लिए घबड़ाने की बात नहीं। इतनी सारी मिसालें देकर समझा दिया गया है। हीरे को पत्थर समझ कर उसे खराद पर न काटें और उसका मैल निकाल न दें तो अन्दर की चमक झलकेगी नहीं। वीर की पहचान तभी होगी जब वह युद्ध में जूझ पड़ेगा। औरों को काट सकता है, खुद भी कट सकता है। कट कर मर गया तो वीरगति को प्राप्त होगा और सदा उसका नाम अमर रहेगा। अगर विजयी हुआ तो जयमाल पहनेगा और राज्य-सुख भोगेगा। युद्ध में क्षत-विक्षत होने से जो खून बहेगा वह रंग लायेगा। खिला-पिलाकर हाथी को मोटा-तगड़ा बना देते हैं। उसे मस्ती चढ़ जाती है। अपने पराये का भेद न कर वह सबको रौंद डालता है। किन्तु मस्ती कम हो तो कैंचुल उतरे नाग के समान झपट्टा मारेगा और रणभूमि में सवार को विजयी बना देगा। बरसात में वर्षा से और गरमियों में बरफ के पिघलने से नदियाँ भरपूर रहती हैं, किंतु शरतकाल में जल कम होने लगता है। तब भी वर्षा की बाढ़ ने बालू का जो पाट बिछा रखा था वह चाँदनी में चमक उठता है और रमणीक दृश्य प्रस्तुत करता है। जल गया, पर सुन्दरता बढ़ी। शुक्ल पक्ष का प्रथम चन्द्र हीन-क्षीण होने पर भी पवित्रता तथा परिवृद्धि का सूचक है। प्रेमिका का क्लांत रूप प्रेमी युवक को कितना आकर्षक लगता है, यह उसका मन ही जान सकता है। वह मधुमय घड़ियां उन पृथक् पार्थिव शरीरों को कैसे एकात्म कर देती हैं। दान का आनन्द उन लक्ष्मी-पुत्रों से पूछिए जो कंचन में तुल कर अकिंचन बन गये। नदी में से हर्दम पानी बहा जाता है तो क्या उससे नदी को क्षोभ होता है। पानी के बह जाने में नदी की शोभा है। धन छूट जाय तो आनन्द कैसे होगा, ऐसी शंका हो सकती है, पर ऐसी शंका उठाने का हक किसे है? 'नंगा भाई चंगा', ऐसी बात कह भी कैसे सकेगा। वीर बहादुर के अंग-प्रत्यंग से रक्त-बिंदु टपकते देख कर तमाशाइयों को तरस आ सकता है, पर इस प्रकार तरस खाने का हमें अधिकार कहां से है। सहानुभूति के शब्द सुनकर उसकी वीर आत्मा

सिहर उठेगी। पति-पत्नी के प्रथम समागम में आनन्द है कि क्लेश ! उस नव-वधू को लोग आशीर्वाद देंगे न कि वर को शाप। जब यह सब सही हैं तो धन-दौलत लुटा देने में भी आनन्द है। परन्तु सब-किसी को सब आनन्द भोगने का सौभाग्य नहीं मिलता। उपरोक्त उदाहरणों में से यदि एक का भी आनन्द उठाने का अवसर मिला हो तो समझ लो कि बाकी बातों का आनन्द भी उसी प्रकार होता है।

सभी उदाहरणों को लोग मान लेंगे, पर धन या धनी की बात आने पर लोग मानने को तैयार नहीं होते। यह धनियों के प्रति अन्याय है। धनियों में भी दानवीर होते हैं। स्वयं निर्धन रहकर किसी धनी की मनोवृत्ति को नापना हमारे लिए असम्भव है। जो धनियों पर लांछन लगाते हैं, क्या लांछन में लोभ-लालच का अंश नहीं है ? किसी धनी का गुप्त धन शरीर के गुप्तांग से कहीं अधिक गोपनीय है। योग्य वधू वर के मिलने पर ही अलग शरीर एक-दूसरे को अर्पित होते हैं। इन धनियों को इसी प्रकार प्रतीक्षा में रहना चाहिए कि उनके धन का सदुपयोग करने वाला कोई मिले। समाज में ऐसे धनी भी होते हैं।

ऊपर धन और अधिकार को एक ही सिक्के केदो पहलू बताया गया है। धनी साधारणतया उस प्रकार दान न करते हों जिस प्रकार के दान की बात कही गयी है। तो क्या सरकार भी नहीं करती ? सबको मानना पड़ेगा कि सरकार सदा इस टोह में रहती है कि खर्च के क्या-क्या नये उपाय खोज निकाले। सरकारी बजट खर्च के आधार पर ही तैयार होता है, आय के आधार पर नहीं। वास्तव में उसे खर्च से निपटने के लिए आय के मार्ग ढूंढ़ने पड़ते हैं। धनी को न मानों तो कम-से-कम धनियों के बाबा सरकार को तो मानो कि वह आय से बढ़कर खर्च करने में ही अपनी शोभा मानती है।

सरकार को धनियों की सरकार कहना भी आजकल एक फैशन बन गया है। सरकार को सबसे बड़ा धनी न मानकर धनियों की सरकार कहना भी अन्याय है। पूंजीवादी देशों के सम्बन्ध में इस प्रकार लांछन लगाने की गुंजाइश हो भी तो समाजवादी देशों के सम्बन्ध में क्या कहोगे ? आदर्श समाजवाद में धनोत्पादन के सारे साधन सरकार के हाथ में होते हैं। क्या वह सबसे बड़ी धनी नहीं हुई ? बल्कि वह एकमात्र धनी है। इसलिए हमारा मंतव्य ही बदल जाना चाहिए।

धनियों की बात पर सरकार की बात उठी है—सरकार भी धनी। इसीलिए हमें यहाँ धनियों से ही निपटना है। धनियों, तुम लक्ष्मी-पुत्र हो। अर्थात् लक्ष्मी तुम्हारी माता। माता का केवल स्तन पान कर सकते हो वह भी बाल्यावस्था में। जवान बनकर माता की सेवा करना मात्र तुम्हारा पुनीत कर्त्तव्य है। माता का

उपभोग नहीं कर सकते। स्पष्ट भाषा में माता के साथ सम्भोग कोई नहीं करता। धन का अपने लिए उपभोग करना माता के संग सम्भोग करने के बराबर है। परन्तु धनी को लक्ष्मी-पुत्र कहना ही गलत है। जो जिसको पैदा करे वह उसका बाप कहाता है। धनी अपने पुरुषार्थ से धनी बनते हैं। धन को वह पैदा करते हैं। इस प्रकार धन-लक्ष्मी उनकी पुत्री है। प्यारी पुत्री को योग्य वर को सौंपना ही प्रत्येक पिता का परम कर्तव्य है। अपनी बेटी की शादी अपने ही बेटे के साथ कोई नहीं करता। बाहर का वर ही उसका स्वामी होगा। हे 'लक्ष्मी-पुत्रो' ! अपनी पुत्री लक्ष्मी के लिए योग्य वर ढूंढ़ो, नहीं तो वह अपने आप ढूंढ़ लेगी और तुम देखते रह जाओगे। और बाद में पछताओगे !

श्लोक ३६

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये
स पश्चात्सम्पूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम्।
अतश्चानेकान्ता गुरुलघुतयाऽर्थेषु धनिना—
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च॥

शब्द विच्छेद

कश्चित्स्पृहयति = कश्चित् + स्पृहयति
पश्चात्सम्पूर्णः = पश्चात् + सम्पूर्णः
अतश्चानेकान्ता = अतः + च + अनेकान्ता
लघुतयाऽर्थेषु = लघुतया + अर्थेषु
धनिनामवस्था = धनिनाम् + अवस्था

शब्दान्वय

कश्चित् परिक्षीण यवानाम् प्रसृतये स्पृहयति
सः सम्पूर्णः धरित्रीं तृण समाम् कलयति

अतः च अर्थेषु गुरु लघुतया अनेकान्तता धनिनां अवस्था
वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ।

शब्दार्थ

कश्चित् =कोई
परिक्षीण =एकदम गरीब बनकर
यवानाम् =जौ के दाने के
प्रसृतये =पसर भर के लिए
(अर्थात् पसर भर जौ के लिए)
स्पृहयति =लालायित रहता है
सः =वह, वही
सम्पूर्णः =सम्पदा पाकर
धरित्रीं =सारी धरती को
तृण समाम् =तिनके के समान
कलयति =गिनता है, समझता है

अतः च =इसलिए (और इसलिए)
अर्थेषु =धन में
गुरु लघुतया =बड़प्पन, छुटपन, अधिकता, कमी से
अनेकान्ता =विविध, अलग-अलग
धनिनां =धनियों की
अवस्था =दशा
वस्तूनि =वस्तुओं (के मूल्य को)
प्रथयति च =चढ़ाती है और
संकोचयति च =घटाती भी है

भावार्थ

गरीबी में एक आदमी पसर भर जौ के लिए लालायित रहता है, किन्तु यदि वही व्यक्ति संयोग से सम्पन्न बन गया तो सारे संसार को तिनके बराबर गिनता है। इसलिए इस संसार में वस्तुओं का मूल्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न होता है। दरिद्र के लिए जो वस्तु अत्यन्त मूल्यवान है उसी वस्तु का धनी के लिए कोई मूल्य नहीं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में सम्पन्न व्यक्तियों को त्यागशीलता की शिक्षा दी गयी थी। संसार में सम्पन्न व्यक्ति कम ही होते हैं। साधारणतया गुजारा-भर कमा लेते हैं और बहुतेरे तो ऐसे होते हैं जो रात-दिन लगे रहने पर भी एक जून पेट भर नहीं पाते। तब यह शंका हो सकती है कि जो कुछ परोपकार आदि करना है वह केवल धनियों को करना है। बाकी सबको इन बातों से कोई मतलब ही नहीं है। अर्थात् ये लेने के अधिकारी हैं और देना इनके कर्तव्य-क्षेत्र से बाहर की चीज है। अगर यही अर्थ लिये जाएँ तो सभी लेनदार बन जायेंगे। हरएक अपने को दूसरे

के मुकाबले में गरीब ही देखेगा। इसलिए दूसरे की चीज को पाने का अधिकारी समझेगा। वैसे न मिले तो छीना-झपटी पर उतारू हो जाय। मगर छीना-झपटी में होता क्या है ? सदा कमजोर ही लुटता है। जिसकी लाठी उसकी भैंस। मुकम्मल जंगल का कानून। एक नारा यह भी है—गरीबो एक हो जाओ ! दुनिया के गरीबो एक हो जाओ। दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ। एक होकर क्या करो ? धनियों ने तुम्हें लूटा है। तुम उन्हें लूटो। दोनों ओर से लूट-मार मचे। जिस बुराई को मुट्ठी-भर करते थे अब वही बुराई सब करें। फिर अमीर-गरीब की क्या कसौटी ! अमरीका का, या छोटे देश कुवैत का एक साधारण नागरिक भारत के बड़े अफसर से अधिक कमाता है। वहाँ का दरिद्र जो फेंकता है यहाँ का धनी उसे बटोरता है। यह अतिशयोक्ति नहीं, वास्तविकता है। हमारे गाँव में एक महाजन है। सबको कर्ज देता है। फसल पर दूना लेता है। गाँव के दूसरे लोगों से उसकी आमदनी सौ गुना। मगर वह क्या खाता, पहनता है ? वही मकरे की रोटी, वही मैली धोती। बताओ यह महाजन धनी है कि वह मजदूर। क्या वह मजदूर इस महाजन के साथ एक होकर संघर्ष करेगा ? या यह अफसर उस मजदूर के साथ सुर-में-सुर मिलाकर नारा लगायेगा ? वह लूट की मनोवृत्ति भ्रामयिक और यह छीना-झपटी की कार्य-प्रणाली अक्रियात्मक।

भर्तृहरि की सामाजिक व्यवस्था ही भारतीय परम्परा के अनुकूल है और वही संसार भर के लिए श्रेयस्कर है। लेन की प्रवृत्ति वर्जनीय और देन की मनोवृत्ति वांछनीय। समाज के लिए भी—व्यक्ति के लिए भी यही यशोमार्ग है। पर दे कौन ? वही जिसके पास देने को हो। धनी को देना चाहिए। दरिद्र क्या देगा। भर्तृहरि इस धनी-दरिद्र की भावना को ही निराधार मानते हैं। धनी क्या है ? व्यक्ति नहीं, उसकी वस्तुएं हैं। वस्तुएँ हैं इसलिए वह धनी। कम-अधिक का सवाल नहीं है, क्योंकि देश, काल और व्यक्तिगत परिस्थिति के अनुसार यह बात बदलती रहती है। जिसके पास जितनी वस्तु है उस समय उस जगह उतने का वह धनी और उस समय उस जगह उस धन को वह देने में लगाये। इस प्रकार सभी लोग धनी और सभी देनदार। वास्तविक व्यवहार में यही होता है। हर गरीब अपने घर में यही करता है। घर का मालिक एक, खानेवाले सब मेहनत करने वाले हट्टे-कट्टे भी और मेहनत न करके खटिया पर पड़े हुए बूढ़े और पालने में पड़े हुए बच्चे भी। और अकाल-सकाल आ टपका हुआ अतिथि भी। धनी के घर भी यही होता है। सारा संसार ही समान रूप से घर है। और इस संसार-घर के सभी लोग समान।

जब यह दृष्टि अपनायी जायेगी तब वस्तुओं के गुण और उनकी मात्रा का

प्रश्न उठ जायेगा। परिणाम यह होगा कि जहां और जिसके पास जितना अधिक होगा उतना ही उसका मूल्य कम और मूल्य की कमी के कारण प्रदान में अपार उदारता। सभी उदारचरित हो जायेंगे। संतोष बढ़ेगा, असंतोष घटेगा और संसार का कार्य निष्कंटक रूप से चला करेगा।

श्लोक ३७

राजन्दुधुक्षासि यदि क्षितिधेनुमेनां
तेनाद्य वत्समिव लोकमिमं पुषाण।
तस्मिश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः॥

शब्द विच्छेद

धेनुमेनां = धेनुं + एनां
तेनाद्य = तेन + अद्य
वत्समिव = वत्सम् + इव
लोकमिमं = लोकम् + इमम्
तस्मिश्च = तस्मिन् + च
सम्यगनिशं = सम्यक् + अनिशं
कल्पलतेव = कल्प + लत + इव

शब्दान्वय

राजन् एनां क्षिति धेनुं यदि दुधुक्षसि तेन अद्य इमं लोकं वत्सम् इव पुषाण, च तस्मिन् अनिशं सम्यक् परिपोष्यमाणे भूमिः कल्पलत इव नाना फलं फलति।

शब्दार्थ

राजन्=हे राजा !
एनां=इस
क्षितिधेनुं=धरती रूपी गौ को
यदि=अगर
दुधुक्षसि=दुहना चाहता है (तो)
तेन=उसके लिए
अद्य=अब
इमं लोकं=इन लोगों को
वत्सम् इव=बछड़े की तरह
पुषाण=पोषण कर

तस्मिन्=उन लोगों के (उनके)
अनिशं=दिन-रात, सदा
सम्यक्=भलीभाँति
परिपोष्यमाणे=पोषण पाने पर
भूमिः=धरती
कलपलत इव=कल्पलता की तरह
नाना फलं=भाँति-भाँति के फल
फलति=फलेगी, फल देगी
च=और

भावार्थ

हे राजन्, यदि तू इस धरती-रूपी गौ को दुहना चाहता है तो तू इस धरती पर रहनेवाले इन मनुष्यों को दुधार गौ के थन में खूब दूध छोड़कर बछड़े का भलीभाँति पालन-पोषण कर। जनता सुखी, समृद्ध रहे तो पृथिवी माता कल्पतरु बनकर तुझे मुँह-माँगा फल देगी ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में धनियों तथा जनसाधारण को यह कहने के बाद कि अपना धन किस प्रकार खर्च करें इस श्लोक में राजा या राज्य से कहा गया है कि जनता का शोषण न करे। जनता में जनसाधारण के साथ धनी भी शामिल हैं। राजा को या शासन को धनियों से अलग करने का कारण यह है कि राज ही सबसे बड़ा धनी है और उसे शोषण से रोकने के लिए कोई अंकुश नहीं है। लोकतंत्र में तो जनता के प्रतिनिधि ही शासन चलाते हैं। तब जनता के लिए और भी कठिनाई आ पड़ती है। जनता बिगड़ पड़े, यही एक मार्ग रह जाता है। राजतन्त्र में भी मन्त्रिमण्डल आदि होते ही हैं। राज्य-व्यवस्था किसी प्रकार की रहे, जनता का शोषण तो रहेगा ही। लोकतन्त्र में शायद और भी अधिक शोषण होता है, क्योंकि शासन यन्त्र का लोकतन्त्र में अधिक फैलाव होता है। वेतन में, भत्ते में अधिक खर्च होता है। जनजीवन तथा सरकारी नौकरों के वेतनों में सामूहिक रूप से इतना बड़ा अन्तर आ जाता है कि करों का अधिकांश भाग वेतनों में चला जाता है। जनतन्त्र में जनता मालिक और शासक उसके नौकर। अगर निम्नतम सर-

कारी नौकर चपरासी का वेतन साधारण नागरिक से अधिक हो तो मालिक का खून निचोड़ कर पीना नहीं तो और क्या है ? सरकारी नौकरों को आजकल जो सुविधाएं प्राप्त हैं, क्या किसी नागरिक को प्राप्त हैं ? सरकारी कर्मचारियों का वेतन जनता के जीवन-स्तर से सैकड़ों गुना अधिक होता है फिर बाहर जाने पर भत्ता अलग, सवारी का खर्च अलग, वह भी जितना वास्तविक भाड़ा है उससे अधिक, मामूली अफसरों को भी जीप की सवारी, साल में कम व वेश तीन महीने बिना हाजिरी के पूरी तनख्वाह उठाना, बीमा, प्राविडेण्ट की अलग किस्त देकर नौकरी से हटने के बाद भी सूद समेत एकमुश्त रकम, पेन्शन अलग। १०-२० वर्ष काम करो तो जीवन-भर का ठेका, बीमार पड़ो तो दवा मुफ्त, सबसे बड़ा डाक्टर मुफ्त, सबसे अच्छी दवा मुफ्त, सिर्फ सरकारी नौकर ही को नहीं उसके बाल-बच्चों को और रिश्तेदारों को भी। बीमारी के नाम पर बाजार से दवायें लेकर बेच लेने का अलग धन्धा। उनके बच्चों की शिक्षा का भी अच्छा प्रबन्ध हो जाता है कि नौकरियां मौरूसी बन जायें। रहने के लिए अच्छा मकान, निजी मकान बनवाना चाहो तो हजारों रुपये उधार। एक जगह से दूसरी जगह बदली हो तो खर्च से कई गुना मुआवजा। यह सब दिया जाता है जनता के नौकरों को। मालिकों को क्या इनमें से एक भी सुविधा प्राप्त है ? शासकों को फिकर नौकरों की है मालिक की नहीं। मालिक भाड़ में जायें बला से पर नौकर नाराज न हो। इसलिए जनता का खून चूसकर नौकर को इंजेक्शन-पर-इंजेक्शन दिये जाओ कि शासन चलता रहे और शासक बने रहें। जब तक यह नीति है तब तक शोषण रहेगा। इसीलिए सभी राजनीतिक दार्शनिकों ने शासन के अभाव को ही सर्वोत्तम शासन-प्रणाली कहा है। अस्तु।

भर्तृहरि भी यह मानकर चलते हैं कि शासन का असली निशान शोषण है। राजा नहीं रहे, पर राज तो रहेगा ही। इसलिए भर्तृहरि के शब्द अब राजा की जगह राज पर लागू होने चाहिए। स्पष्ट है कि भर्तृहरि राज के विरोधी नहीं हैं, शोषण के भी वह इतने विरोधी नहीं। वह चाहते हैं कि इस गौ को दुहते रहना चाहिए, पर बछड़े के लिए दूध छोड़कर कि मालिक भी दूध पीता रहे और बछड़ा भी तगड़ा बने, जो बैल बनकर उसी का खेत जोते। यह भी शोषण है पर पोषण के साथ। पोषणयुक्त शोषण को शोषण नहीं कहना चाहिए। पर हो पोषण अधिक और शोषण कम। शोषण का अधिकांश भाग पोषण पर खर्च हो। सरकारी करों का कम भाग सरकारी नौकरों पर और अधिक भाग जनकार्य में लगे। जनकार्य में उतना ही अधिक लगेगा जितना कम कर्मचारियों पर खर्च हो। कर्मचारियों का वेतन-स्तर भी बहुत कम नहीं हो सकता। वेतन का मापदंड जनजीवन के स्तर

के अनुरूप होना चाहिए। उच्च कर्मचारी और तुच्छ कर्मचारी के वेतनों में और जनता के आम स्तर में अधिक अन्तर न हो। जनता तथा सरकारी कर्मचारियों को प्राप्त सुविधाओं में समानता आ जाय तो सारा झंझट समाप्त हो सकता है। नहीं तो पोषण की अपेक्षा शोषण की सम्भावना अधिक है। शिक्षा, रोग-निवारण तथा न्याय में एकदम समानता लाना परमावश्यक है। खलीफा उमर का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है। उनकी एक घटना सुन लीजिए।

उमर एक बार एक शहर जा रहे थे। सवारी के लिए एक ऊँट और एक ऊँटवान गुलाम (दास) साथ था। रास्ते-भर उमर आप दो मील ऊँट पर सवार होते तो अगले दो मील तक गुलाम को सवार कराते थे। अन्त में जब उस शहर के पास पहुँचे तो सवारी की बारी गुलाम की आयी। गुलाम ने बहुतेरा कहा कि आप ऊँट पर सवार होकर शहर में प्रवेश करें। उमर ने न माना और गुलाम को ऊँट पर जबरदस्ती सवार करा आप उसकी नकेल थामकर शहर में दाखिल हुए। ऐसे हुकुमरान के हाथ में लोग जबरदस्ती हकूमत सौंपेंगे। सरकारी करों के लिए भारतीय साहित्य में दो उदाहरण मिलते हैं। जनता से कर इस प्रकार लें जैसे हवा फूल से सुगन्धि लेती है कि हवा भी महक उठे और दूर-दूर तक उसकी सुगन्धि फैल जाय, फिर भी फूल को कोई हानि न पहुँचे। दूसरा उदाहरण मधुमक्खियों का है। फूलों को नुकसान पहुंचाये बिना हर फूल से रस चूसती हैं और उस रस को मधु के रूप में परिणत करती हैं।

कसाई की गाय न बनाकर जनता-जनार्दन को कामधेनु बना लो, कल्पलता बना लो कि नाना प्रकार के फल भोग सकें—जनता भी और जनसेवक भी।

श्लोक ३८

सत्यानृता च पुरुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥

शब्द विच्छेद

सत्यानृता = सत्य + अनृता
दयालुरपि = दयालुः + अपि
चार्थपरा = च + अर्थपरा
वारांगनेव = वारांगना + इव
धनागमा = धन + आगमा
नृपनीतिरनेक = नृपनीतिः + अनेक

शब्दान्वय

सत्य असत्य च परुषा च प्रियवादिनी
हिंस्रा अपि दयालुः च अर्थपरा वदान्या
नित्यव्ययी च नित्य प्रचुर धन आगमा, वारांगना इव
नृप नीतिः अनेक रूपाः ।

शब्दार्थ

सत्य असत्य = सत्य भी बोलें और असत्य भी
च—और
पुरुषा प्रियवादिनी = कड़ी झिड़की भी दें और मीठी-मीठी बातें भी करें।
हिंस्रा दयालुः अपि = दण्ड भी दें और दयालु भी बने रहें
अर्थपरा च वदान्या = धन लोभी भी हों और दानशील भी
नित्यव्ययी = सदा खर्च भी रहे
च = और
नित्य धनागमा = सदा आय भी होती रहे (इस प्रकार)
वारांगना इव = वेश्या की भाँति
नृपनीतिः = राजनीति
अनेक रूपाः = विभिन्न रूप धारण करती है, बहुरूपिया

भावार्थ

कहीं सच और कहीं झूठ, कभी गरम और कभी नरम, किसी पर जुल्म और किसी पर रहम, कहीं लूटना और कहीं लुटाना, आमदनी की हद नहीं और खर्च की हद नहीं। इस प्रकार वेश्याओं की तरह राजाओं की नीति के भी अनेकानेक रूप होते हैं।

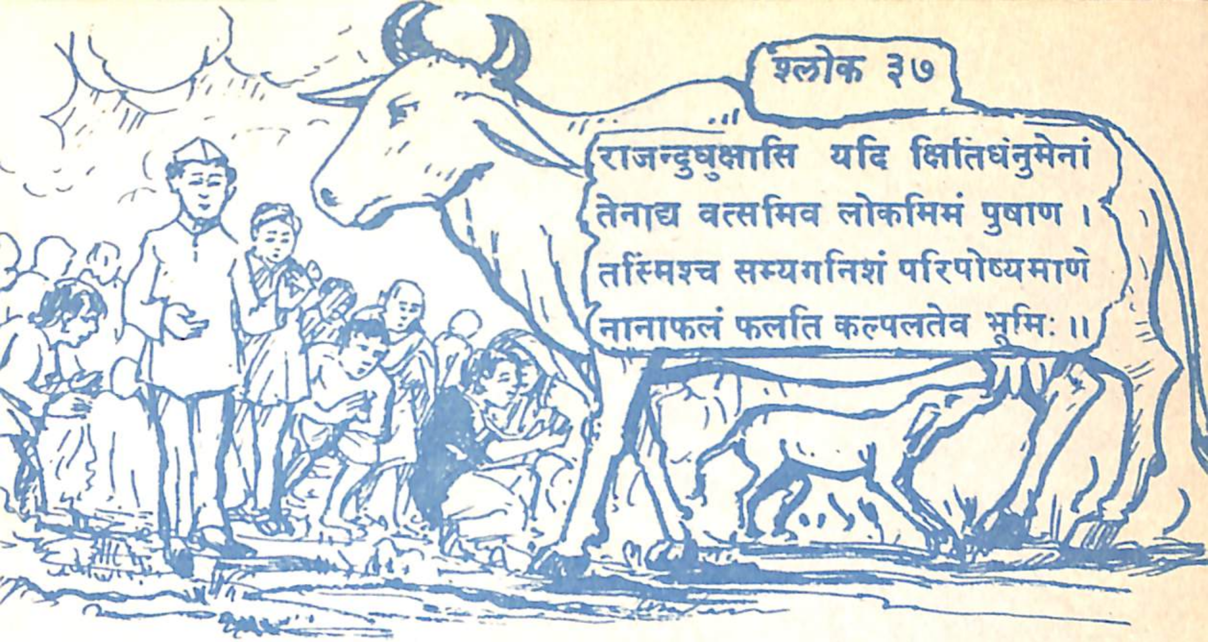

श्लोक ३७

राजन्दुधुक्षासि यदि क्षितिधेनुमेनां
तेनाद्य वत्समिव लोकमिमं पुषाण ।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः ।।

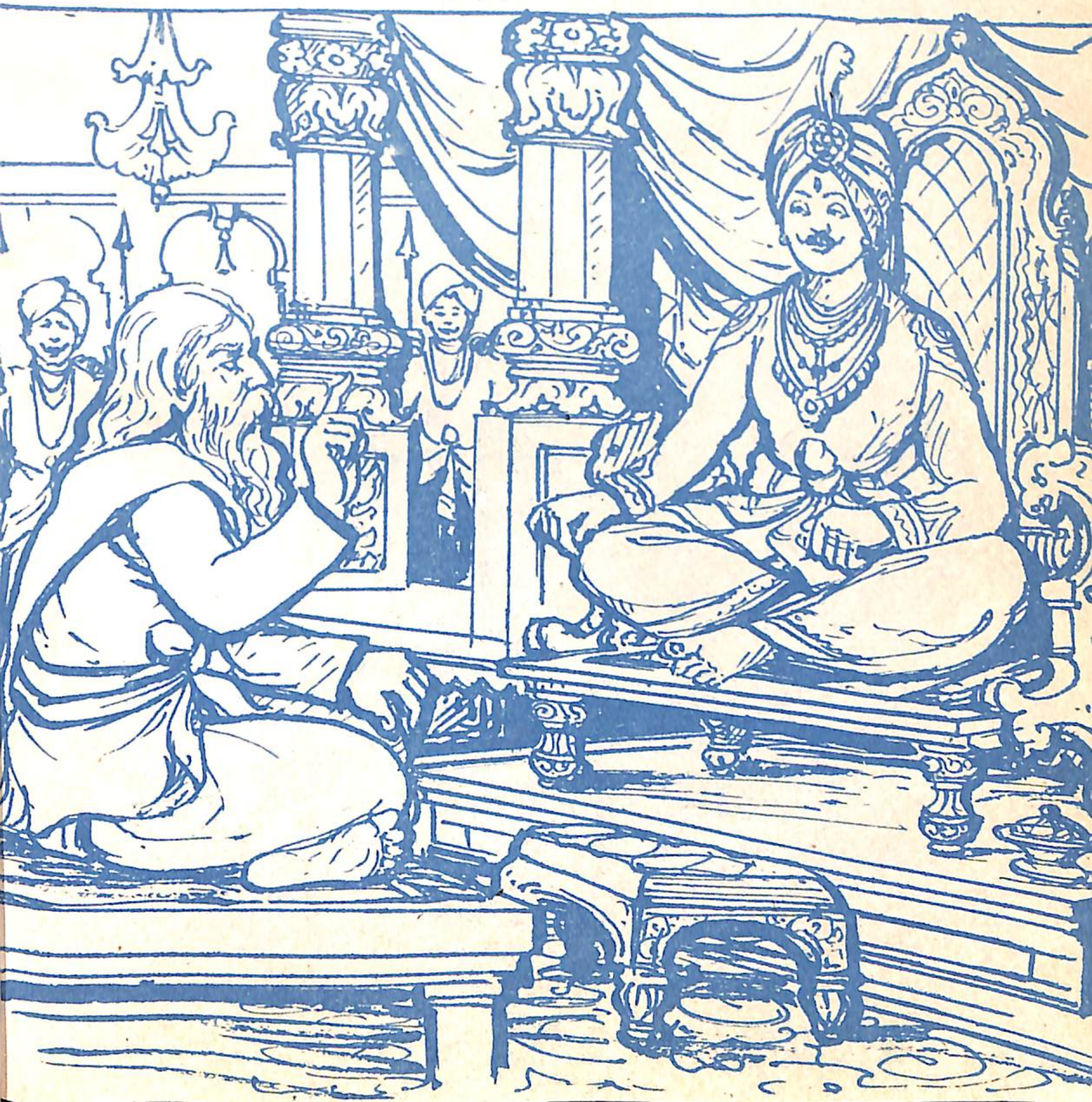

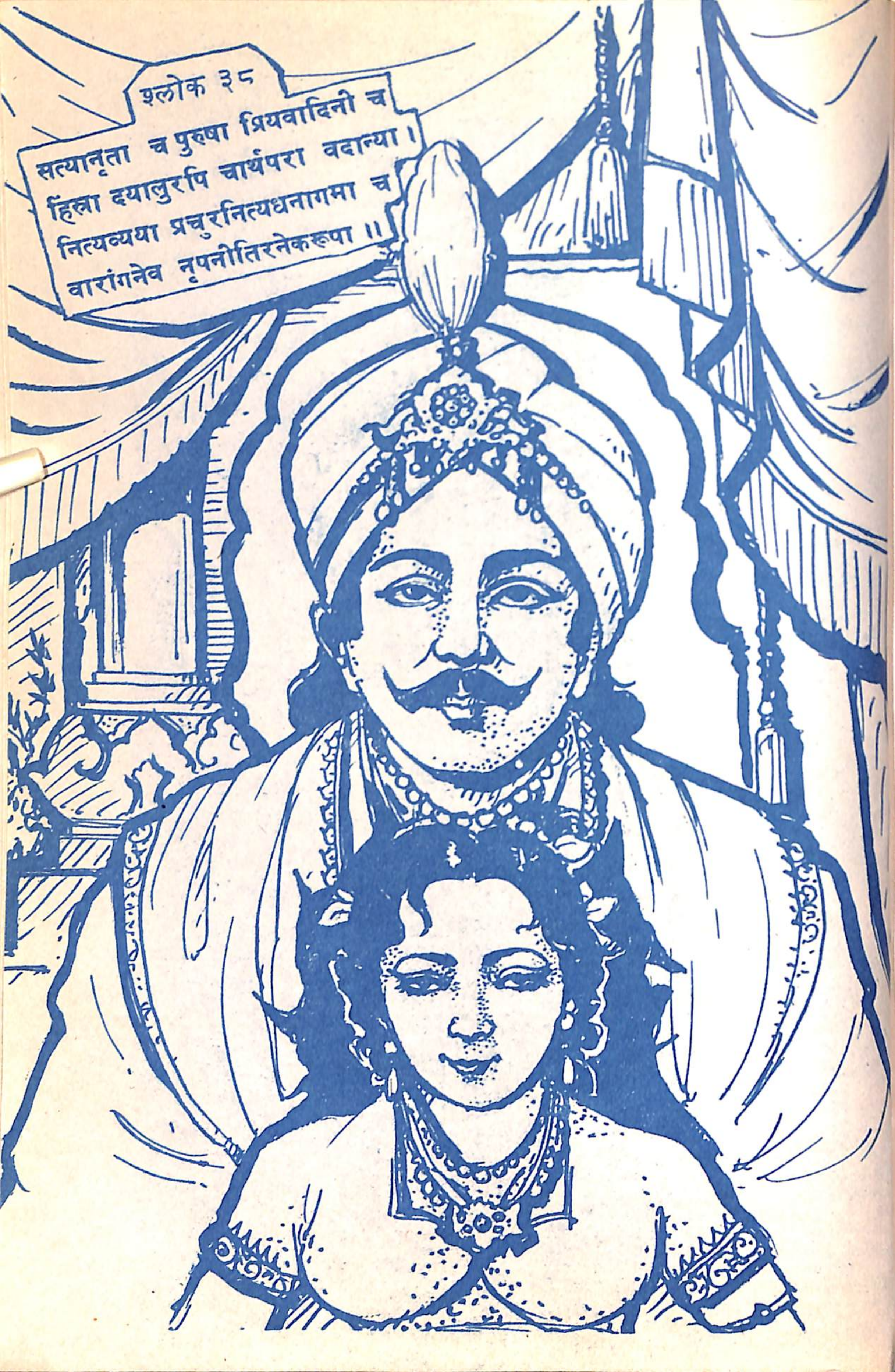
श्लोक ३८
सत्यानृता च पुरुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥

विशेषार्थ

तो क्या राजनीति का यही आदर्श है कि कोई भी बात विश्वसनीय न हो? राजनीति है ही ऐसी। सत्य ही को लीजिए। बहुत अच्छी चीज। पर क्या राजा हरिश्चन्द्र सत्यवादी बनकर राज्य को निभा सके? उनके सत्य से उनके सारे सुख स्वाहा हो ही गये, साथ ही जनता को क्या-क्या दुःख उठाने नहीं पड़े होंगे? असत्य से भी राज टिके नहीं हैं। कुछ दिन वाहवाही रही हो तो और बात है। राज सत्य पर भी टिका नहीं है और असत्य पर भी नहीं। अगर टिका है तो इन दोनों के बीच ही टिका है। मित्र-राज्यों को शंका भी रहे और शत्रु-राज्यों को विश्वास भी, ऐसी ही राजनीति अधिक सफल रहती है। इसी प्रकार नरम गरम, रहम जुल्म, देन भी खूब और लेन भी खूब। इससे लोगों को आशा भी लगी रहती है और आशंका बनी रहती है। परस्पर सम्बन्ध एकदम टूटने नहीं पाते। इससे एक लाभ तो है ही खुद को संभलने का अवसर मिलता है। इसमें कम-से-कम जोखिम है। लाभ हो या न हो, हानि का डर कम रहता है। और हानि से बचकर जो थोड़ा-बहुत कर लें, वह लाभ-ही-लाभ है। यह ऐसा सौदा है जिसमें सब जोड़-जुड़ाकर नफा-ही-नफा है।

राजा को या राजनीतिज्ञ को वेश्या कहा गया है। वेश्या के इन सब रंगों में रसिक जन रस लेते हैं साथ ही उसमें चटक-मटक भी होती है। कुशल राजनीतिज्ञ के लिए इस चटक-मटक की जरूरत न हो, सो बात नहीं है। वेश्या को ऐसे इसलिए करना पड़ता है कि उसे सबको खुश रखना है। राजनीतिज्ञ की भी यही दशा होती है। वेश्या के लक्षण अनेक भले ही हों, पर लक्ष्य एक ही होता है प्रेमान्ध से अर्थ-लाभ करना। सो राजनीतिज्ञ भी स्वार्थसिद्धि के लिए सब-कुछ करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि एकांतिक उच्च लक्ष्य किसी राजनीतिज्ञ का नहीं होता किन्तु ऐसे राजनीतिज्ञों में भी कहनी और करनी में काफी अन्तर रहता है। अपवाद तो हर क्षेत्र में हो सकते हैं।

वेश्या के लिए श्लोक में 'वारांगना' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द की व्युत्पत्ति क्या है? वार—अंगना अर्थात् वार अर्थात् एक दिन की स्त्री। वेश्या-वृत्ति प्राचीन काल से चली आयी है, पर पतिव्रता धर्म भी प्राचीन हो सकता है। मानव समाज में भी समभौगिक सम्पर्क सनातन काल से नहीं रहा। फिर भी पतिव्रत्य की प्रतिष्ठा के बाद ही वेश्यावृत्ति को स्थायित्व प्राप्त हुआ है और वेश्याओं ने भी पतिव्रत्य का पालन किया है और ऐसी वेश्यायें मुक्ति की अधिकारिणी बनी हैं इसके प्रमाण पुराणों में मिलते हैं। इन्हीं को वारांगना कहते हैं। एक दिन के

लिए अथवा निश्चित समय के लिए किसी एक पुरुष को अपना पति मानती थीं और उसके साथ पतिव्रता धर्म का पालन करती थीं। इस बीच में उस पुरुष का देहान्त हो जाय तो उसके साथ सती भी हो जाती थीं। ऐसी वारांगनाएँ शायद अब नहीं रहीं, पर ऐसे राजनीतिज्ञ अब भी बहुत हैं जो जब तक जिस पार्टी में रहें, भले-बुरे में साथ देते हैं और साथ ही सहगमन भी करते हैं। साथवाले को धुतकारकर पराये को पास करनेवाले वारांगना नहीं, बल्कि क्षणांगना हैं, न जाने कौन क्षण किसके बगल में जा बैठे। इस दृष्टि से वेश्याओं से राजनीतिज्ञ कहीं बढ़े-चढ़े हैं।

यह सत्य है कि समाज को समुन्नत बनानेवालों के लिए मिथ्याचरण शोभा नहीं देता। राजनीतिज्ञों के मस्तक पर यह भारी कलंक है। चन्द्रमा में भी कलंक है, पर क्या उस कलंक से चन्द्रमा की शोभा घटती है? चन्द्रमा रोज घटता-बढ़ता रहता है, पर क्या इस घटी-बढ़ी से उसकी मर्यादा में अन्तर पड़ता है? वास्तव में राजनीति की अस्थिरता में ही राज की स्थिरता है। सत्य कालांतर में अमरत्व को प्राप्त हो सकता है, यह भी हो सकता है कि असत्य निरन्तर पार न पड़े, परन्तु असत्य-सत्य अर्थात् अर्ध-सत्य इस संसार में सदा-सर्वदा सफल रहता है और राजनीति में यह अकाट्य सत्य है।

श्लोक ३९

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां दानं
भोगो मित्रसंरक्षणं च।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः कोऽर्थस्तेषां
पार्थिवोपाश्रयेण॥

शब्द विच्छेद

येषामेते = येषाम् + एते
कोर्थस्तेषां = कः + अर्थः + तेषां
पार्थिवोपाश्रयेण = पार्थिवः + उपाश्रयेण

शब्दान्वय

आज्ञा कीर्तिः पालनं भोगः ब्राह्मणानां दानं च मित्र संरक्षणम्
एषाम् एते षट्गुणाः न प्रवृत्ताः तेषां पार्थिवः उपाश्रयेण कः अर्थः ।

शब्दार्थ

आज्ञा=कानून, शासन
कीर्तिः=यश
पालनं=प्रजापालन
भोगः=उचित सुखों का भोग
ब्राह्मणानां दानं=ब्राह्मणों को दान धर्म
च=और
मित्र संरक्षणं=साथियों की सहायता
एषाम् (पार्थिवः)=जिन राजाओं में
एते षड्गुणाः=यह छः गुण
न प्रवृत्ताः=न हों
तेषां पार्थिवः=उन राजाओं का
उपाश्रयेण=आश्रय लेने से
कः अर्थः=क्या लाभ ?

भावार्थ

सत्ताधारी और राजाओं में ये छः गुण होने चाहिए, सुशासन हो सभी उनका गुण गावें, प्रजा-पोषण हो, सुपात्रों को दान-धर्म मिले, स्वयं वह उचित सुखादि का भोग करें तथा सभी साथियों के सुख-दुख का ध्यान रखें । जिन राजाओं में ये छहों गुण न हों, उनकी शरण में रहना व्यर्थ है ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में राजाओं के अर्थात् सत्ताधारियों के वर्तमान लक्षण बताये गये थे । कई प्रकार के व्यक्तियों और समस्याओं से उन्हें नित निपटते रहना पड़ता है, इसलिए उनके वह गुण वांछनीय न होने पर भी सहनीय हो सकते हैं । इस श्लोक में बताया गया है कि सहन किये जा सकते हैं बशर्ते कि उनमें साथ ही आज्ञा, कीर्ति आदि छः गुण विद्यमान हों । 'आज्ञा' का अर्थ हुक्म की अपेक्षा कानून लेना उपयुक्त होगा । पुराने जमाने में राजा की आज्ञा ही प्रायः कानून का हुक्म रखती थी । आजकल निरंकुश तानाशाही में भी शासक की आकांक्षाओं को कानूनी रूप देकर ही शासन चलाया जाता है । फिर उस आज्ञा या विधि-कानून से सत्ता का यश बढ़ना चाहिए न कि त्राहि-त्राहि मचे । तीसरा शब्द पालन को पोषण के अर्थ में लें तो प्रजा का शोषण नहीं बल्कि पोषण होना चाहिए । चौथा शब्द ब्राह्मणों

का है। ब्राह्मणों का काम ज्ञानोपार्जन तथा ज्ञानोपदेश है। सृष्टि मात्र को सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का स्वरूप मानकर परोपकार में जो भी प्रवृत्ति रहे वह ब्राह्मण वृत्ति का पालन करते हैं। प्राचीनकाल में भी जन्मना ब्राह्मण होने मात्र से सभी ब्राह्मण यही वृत्ति अपनाते रहे हों, यह अविश्वसनीय है। तब भी व्यक्ति-विशेष ही इस प्रकार पठन-पाठन आदि में लगे रहते थे। जातिगत न सही, व्यक्तिगत रूप से अब भी बहुतेरे इस प्रकार के सेवा-कार्यों में तल्लीन रहते हैं। शासन की ओर से जनसामान्य की शिक्षा-दीक्षा के लिए जो कुछ प्रबन्ध हो और वह बहुत अच्छा भी हो, तब भी ऐसे स्वतन्त्र सेवकों की उचित सहायता सरकार की ओर से होनी ही चाहिए। सरकार का काम भारी पैमाने पर होता है और व्यक्ति अथवा संस्था का काम छोटे पैमाने पर। किन्तु छोटे पैमाने का यह काम सरकार के लिए नमूना बन सकता है। इसलिए व्यक्तियों को पूर्णरूपेण स्वाधीन छोड़ना चाहिए। सरकारी सहायता उनके लिए बन्धन न बने। वास्तव में ऐसे कार्य गवेषणात्मक होते हैं, प्रयोगात्मक होते हैं, इसलिए सरकारी विशेषज्ञों को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सरकारी विशेषज्ञ प्रायः अपने विषय में विशेष जानकारी रख सकते हैं, किन्तु यह स्वतन्त्र कार्यकर्ता अपने खोजी स्वभाव के कारण ऐसी खोज में पागल बने रहते हैं, जो अभी तक वजूद में न हो। यदि वह राजनीतिक प्रवृत्ति के होते तो पहले अधिकार को हथियाने की चेष्टा करते और अपने प्रयोगों को कार्यान्वित करते। सरकार अपने अनुसंधानों पर अरबों-खरबों खपा सकती है तो इन खोजियों पर पूंजी लगाने में क्यों आनाकानी करे। इसलिए ऐसे ब्राह्मण-प्रवृत्ति के व्यक्तियों को आदर-सम्मान के साथ अनुदान प्रदान करना ही शासन का प्रधान कर्तव्य है।

याद रहे भोग तथा मित्र-संरक्षण अन्त में दिया गया है। मित्र-संरक्षण को आजकल की भाषा में कुनबा-परवरी कहिए। जो व्यक्ति खुद उपभोग न करे, उसके लिए कुनबा-बिरादरी की ओर ध्यान देना भी कठिन है। इसीलिए इन दोनों को अन्तिम स्थान दिया गया है। जो सत्ताधारी इन्हीं दो बातों से अपना शासन आरम्भ करते हैं, उनके लिए यह कभी नहीं कहा जा सकता कि भर्तृहरि के गिनाये हुए छः गुणों में से दो तो हैं, चलो तिहाई नम्बर से पास, बल्कि उल्टे दोष गिने जायेंगे।

राजा में राज्याधिकारियों में ये छहों गुण पर्याप्त मात्रा में पाये जाने पर भी विशेष व्यक्तियों का वह विरोध कर सकते हैं। आपकी विशेषताएं उनकी स्वार्थसिद्धि में साधक बनें या कम-से-कम बाधक सिद्ध न हों। स्वार्थ ही नहीं, परस्पर के स्वाभिमानों में टकराव भी न हो, या वे राही मूल्यांकन न कर सकें, उनसे

किसी लाभ की आशा रखनी चाहिए। स्वच्छन्द और स्वाभिमानी व्यक्तियों के लिए अगला श्लोक प्रस्तुत है ।

श्लोक ४०

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ च नातोऽधिकम् ।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः
कूपे पश्च पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥

शब्द विच्छेद

यद्धात्रा = यत् + धात्रा
महद्वा = महत + वा
तत्प्राप्नोति = तत् + प्राप्नोति
मरुस्थलेऽपि = मरुस्थले + अपि
नातोऽधिकम् = न + अतः + अधिकम्
तद्धीरो = तत् + धीरो
पयोनिधावपि = पयोनिधौ + अपि

शब्दान्वय

स्तोकम् वा महत् धात्रा यत् धनं निज भाल पट्ट लिखितं
तत् मरुस्थले अपि नितराम् प्राप्नोति च मैरौः (अपि) न अतो
अधिकम् प्राप्नोति ।
तत् धीरः भव, वित्तवत्सु वृथा कृपणां वृत्तिं माकृथाः,
पश्य, घटः कूपे अपि पयोनिधौ अपि तुल्यं जलम् गृह्णाति।

शब्दार्थ

स्तोकम्=कम
वा महत्=या अधिक
धात्रा=ब्रह्मा द्वार
यत् धनं=जो धन
निज=अपने
भाल पट्ट=मस्तक की तख्ती पर, ललाट पर
लिखित=लिखा गया है
तत्=वह
मरुस्थले अपि=ऊसर में
नितराम्=निश्चय ही
प्राप्नोति=प्राप्त होता है
च=और
मेरौःअपि=मेरु पर्वत पर भी
अतः अधिकम् व=उससे बढ़कर नहीं मिलेगा
तत्=इसलिए

धीरः भव=धीर बन, धीरज धर
(और)
वित्तवस्तु=धनियों के यहां
वृथा=बेकार
कृपणाम्=दीन-हीन
वृत्ति=व्यवहार
मा कृथाः=मत करो
(क्योंकि)
घटः=घड़ा
कूपे अपि=कुएं में भी
(और)
पयोनिधि अपि=सागर में भी
तुल्यं=समान
जलं=जल
गृह्णाति=ग्रहण करता है, भर सकता है।

भावार्थ

भगवान ने जो जिसके भाग्य में लिखा है वह हर हालत में मिलेगा। ऊसर में पड़े रहें तब उससे कम नहीं मिलेगा और स्वर्ण पर्वत पर जा बैठें तब भी उससे बढ़कर नहीं मिलेगा। इसलिए धनियों के दरवाजे दीन-हीन बनकर कुछ पाने की चेष्टा करना बेकार है। क्योंकि एक घड़े को चाहे छोटे-से कुएं में भरें या बड़े सागर में, पानी उतना ही भरेगा जितना उसमें समा सकता है।

विशेषार्थ

भगवान ने जिन्हें धन दिया है, अधिकार दिया है, उन्हें चाहिए कि शक्तिभर दूसरों की सहायता करें। पिछले श्लोकों का सारांश यही है। इस श्लोक में दानियों को नहीं बल्कि अर्थियों के प्रति लक्ष्य करके कहा गया है कि तुम्हारे पास कुछ नहीं है और तुम्हें अवश्य मिलना चाहिए, किन्तु अपनी आवश्यकताओं के

लिए स्वाभिमान को तिलांजलि देकर, दीन-हीन बनकर दूसरों से मांगना भी उचित नहीं है। विशेषकर पिछले श्लोक में जिन ब्राह्मणों के सम्बन्ध में कहा गया है, उन्हें इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। एक ओर आत्मा, परमात्मा तथा ज्ञान-विज्ञान की बातें कहें ओर दूसरी ओर दीन हीन बन जाना उन्हें शोभा नहीं देता। और जहां हीनता को स्वीकार किया वहीं ज्ञान का उद्गम भी सूख जायेगा। स्वाभिमान है, स्वच्छन्दता है तभी उन्हें यह ज्ञान प्राप्त हो सका है। तब उसी को निभायें। अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए और उससे बढ़कर दूसरों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उन्हें धन अवश्य चाहिए। यदि धनी अधिकारी उनकी अवहेलना करते हैं तो करने दें। उन्हें यह विश्वास रखना चाहिए कि जितना उनके भाग्य में है या जितने के वह अधिकारी हैं, अवश्य मिलेगा। समय परिपक्व होने पर भगवान छप्पर फाड़कर देगा। उसके यहां देर सही, अन्धेर नहीं है।

ऊसर में भी आसन जमावें तो हथेली में आकर पड़ेगा, और जो भाग्य में ही न हो तो स्वर्ण पर्वत पर चढ़कर भी खाली हाथ उतर सकते हैं। यह कोई काल्पनिक बात नहीं है। वास्तव में ऐसा नित्य ही होता है। बहुतों का यह अनुभव भी है। ऊसर की रेत कुरेदने पर क्या सोने, हीरे या तेल की खानों की सम्भावना नहीं है? वहां भी किसी-किसी के ऊपर-ऊपर ही सोना मिल जाता है, और किसी-किसी को हजारों गज नीचे खोदकर भी आखिर में निराश हो जाना पड़ता है। आप जगह खोदें वहीं वह चीज हो भी, पर एक फुट इधर-उधर हो गया और आप उससे वंचित रहे। साधारण कुआं खोदते हैं, कहीं पानी निकलता है और कहीं पत्थर। कई ऐसे भी देखे गये हैं कि पत्थर को बरमों पर बरमे लगाकर तोड़ते गये और तब भी पत्थर-ही-पत्थर निकला। निराश होकर छोड़ दिया। दूसरे ने वही जमीन खरीदी और उसी कुएं में एक हथोड़ा मारा, पानी का फव्वारा छूट निकला। शायद पहले वाला भी एक-दो बरमे और लगा देता तो शायद पानी निकल आता; पर उसके भाग्य में न था।

तो क्या भाग्य पर भरोसा करके हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहें? प्रयास करना चाहिए। यहां केवल दीन-हीन बनने से सावधान किया गया है। काम करना है तो धन चाहिए। चाहे अपना आश्रम राजस्थान के बीहड़ ऊसर में बनाइए या हिमालय की बरफानी चोटियों पर। आप अपनी जगह बैठे काम किये जाइए। धन अपने-आप जल-धारा की भांति बहकर आपके चरणों में आयेगा चाहे समुद्र से भाप बनकर मेघ बनकर आप पर बरसे या भाखड़ा बांध की नहरों से पहुंचे, पर पहुंचेगा जरूर, इतने दृढ़ विश्वास के साथ कार्यक्षेत्र में उतरना चाहिए।

हो सकता है संसार के यह सम्पन्न और सत्ताधारी विषय की जानकारी न होने के कारण या अहंकार के कारण अन्धे बनकर या स्वार्थी बनकर उन्हें न देख सकें तो भी हताश न हों।

तृतीय दशक का सारांश

श्लोक ३१—मान भले जाय पर जान जरूर पाय।
" ३२—धनी ही गुणी गिना जाय।
" ३३—बे परवाही से धन बर्बाद जाय।
" ३४—धन का प्रयोजन दान-धर्म है या उपभोग।
" ३५—दानी से दरिद्र बन जाय तब भी शोभा।
" ३६—धन का दरिद्र या मन का भागवान।
" ३७—जहां प्रजा संतुष्ट तहां राजा सुखी।
" ३८—राजनीति, वेश्यावृत्ति एक-समान।
" ३९—दान मान जहां न हो वहां न खोओ जान।
" ४०—जो लिखा ललाट में वह फाट पड़े आपो आप।

॥ दुर्जनपद्धतिः ॥

श्लोक ४१

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धिमिदं हि दुरात्मनाम् ॥

शब्द विच्छेद

अकरुणत्वमकारण=अकरुणत्वम्+अकारण
बन्धुजनेष्वसहिष्णुता=बन्धुजनेषु+असहिष्णुता
सिद्धमिदं=सिद्धम्+इदम्
दुरात्मानाम=दुः+आत्मनाम्

शब्दान्वय

अकरुणत्वम् अकारण विग्रहः परधने च परयोषिति स्पृहा
सुजनेषु बन्धुजनेषु असहिष्णुता दुरात्मनाम् इदम् प्रकृति सिद्धम् ।

शब्दार्थ

अकरुणत्वं = निर्दयता
अकारण = बिना कारण
विग्रहः = नाराज होना
परधने = पराये धन पर
च = और
परयोषिति = परायी स्त्री पर
स्पृहा = लालायित होना

सुजनेषु = सज्जनों
(तथा)
बन्धुजनेषु = सगे सम्बन्धियों से
असहिष्णुता = ईर्ष्या करना
दुरात्मनाम् = दुष्टों के लिए
इदम् = यह
प्रकृति सिद्धम हि = स्वाभाविक ही है

भावार्थ

दुष्टों में दया का नाम नहीं होता। बिना कारण वे दूसरों से झगड़ पड़ते हैं। उनका चित्त सदा पराये धन पर तथा पराई स्त्रियों पर लगा रहता है। सज्जनों तथा सगे सम्बन्धियों से भी डाह रखते हैं। अर्थात् बुराई करना उनका स्वभाव है। वे किसीके साथ भलाई नहीं कर सकते।

विशेषार्थ

पिछले दशक के अंतिम श्लोक में धनिकों के सामने दीन बनकर धन की आशा रखने को निरर्थक बताता था। जहाँ हीनता दिखानी पड़े वहीं समझ लेना चाहिए कि दुष्टों से पाला पड़ा है। इस श्लोक में उन्हीं दुष्टों के गुण गिनाये गये हैं और कहा गया है कि ये दुर्गुण उनके स्वभाव में ही मिल गये हैं। स्वभाव को बदलना कठिन ही नहीं असम्भव होता है। ऐसे लोगों के सामने अर्थी बनकर प्रार्थना करके उन्हें परखने की चेष्टा करना व्यर्थ है। अगर परखना ही है तो प्रार्थना करने से पहले देख लो कि वह दूसरों पर अत्याचार तो नहीं करता, बात-बात पर नाराज होता और झगड़े पर उतारू तो नहीं होता, दूसरों का माल-मता हड़पता तो नहीं है, पराई स्त्रियों के पीछे पड़ा तो नहीं रहता, बन्धु-जनों के साथ बेतुकी बातें तो नहीं करता और अन्त में ऐसे सज्जनों को भी सताने से नहीं हिचकता। यह सब

बुराइयां एक ही में या एक ही समय में होना जरूरी नही हैं। अगर एक भी बुराई हो तो समझ लेना चाहिए कि बाकी बुराइयां भी उसके अन्दर हैं जो समय पाने पर सिर उठायेंगी। बताइए ऐसे धनी से किस प्रकार दान की आशा की जा सकती है ? ऐसों के सामने दीनता दिखायेंगे तो हीनता के सिवा कुछ हाथ न लगेगा।

सवाल उठता है ऐसे व्यक्ति धनी या अधिकार-सम्पन्न कैसे बने ? हो सकता है यह बड़प्पन उनका पुश्तैनी हो और इसी पर वह गुलछर्रे उड़ा रहे हों। पुश्तैनी न भी हो ऐसे व्यक्ति को धनी बनने में क्या देर लगती है। पहले निर्दयता के गुण को ही लीजिए। मन में दया न हो तो लोगों पर जुल्म ढाने और लूटने खसोटने में अड़चन ही क्या है। भले ही दूसरे पर गाज गिरे, पर इनका हाथ गरम जरूर होना चाहिए। जैसे लेने में निर्दयता जरूरी है उसी प्रकार न देने में निर्दयता अनिवार्य है। किसी के दुःख को देखकर दिल पसीजे तभी तो हाथ ढिलाते हैं। जो पैसे की खातिर आफत ढानेवाले को सचमुच कोई दुखी मिल जाय तो उसके लिए पकापकाया माल मिल गया। सहायता के सब्ज दिखाकर उसकी रही-सही इज्जत ही पर हाथ मारेगा। अपनी फीस की वसूली किस्त बहू, बेटी या घरवाली से वसूल करेगा। अगर किसी भले आदमी ने टोका तो झगड़ा और उल्टे उसी पर तोहमत। ऐसे से कुछ पाने की आशा वही रखेगा जो पक्का गुण्डा होगा। जिसकी सहायता से उसका कारोबार और चमकेगा। देख लिया न निर्दयी धनी कैसे बनते हैं ? सत्ता का अधिकार भी इसी तरह मिलता है या निभता है। इन सोने के पहाड़ों से कोई सीधा-सादा सेवा वृत्तिवाला व्यक्ति क्या पायेगा ? और उसकी आत्मा ऐसे के पास जाने की अनुमति कैसे देगी।

श्लोक ४२

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्यायालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥

शब्द-विच्छेद

विद्यालंकृतोऽपि = विद्या + अलंकृता + अपि
किसमौ = किम् + असौ

शब्दान्वय

दुर्जनः विद्या अलंकृत सन् अपि परिहर्तव्यः
सर्पः मणिना भूषितः सन् असौ किं न भयंकरः

शब्दार्थ

दुर्जनः = दुष्ट
विद्या अलंकृत = विद्या से विभूषित, विद्वान
सन् अपि = हो भी (तो वह)
परिहर्तव्यः = त्यागने योग्य है, (इसीलिए कि)

सर्पः = साँप
मणिना भूषितः = मणि पहने हुए
सन् = होने से
असौ = यह (साँप)
किं = क्या
न भयंकरः = भयंकर नहीं (होगा)

भावार्थ

दुष्ट व्यक्ति यदि महान विद्वान भी हो तो उससे दूर ही रहना चाहिए। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी मणि या साँप से; क्योंकि ऐसा साँप और भी अधिक भयंकर होता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में ऐसे धनी या सत्ताधारी की बात कही गयी थी जो दुष्ट हो। इस श्लोक में इस बात से स्पष्ट किया गया है कि केवल धनी या सत्ताधारी दुष्ट स्वभाव के नहीं होते, वह भी दुष्ट हो सकते हैं जिनमें बड़े कहलाने के कोई भी और गुण वर्तमान हों। विद्या भी एक गुण है और उत्तम गुण है। इसीलिए उसे विद्या-धन कहा गया है। इससे भी लोगों में मान-प्रतिष्ठा बढ़ती है। यहाँ सावधान कर दिया गया है कि विद्वान मात्र होने से कोई व्यक्ति मान-मर्यादा का अधिकारी नहीं है। विद्या के साथ उसमें सौजन्यता होनी चाहिए। दुष्ट को यदि साँप मान लें तो विद्या एक मणि के समान है। मणि मूल्यवान वस्तु जरूर है किन्तु यदि वह सर्प के सिर पर हो तो वैसा सर्प अधिक क्रोधी और अधिक विषैला होता है। यही बात दुष्ट विद्वान पर लागू होती है।

कहा जाता है कि नाग (साँप) यदि हजार वर्ष तक जीवित रहे तो उसके सिर में एक मणि उत्पन्न हो जाती है जो रात में खूब जगमगाती है और दूर तक उसकी रोशनी पड़ती है। ऐसा साँप रात में निकलता है। मणि को एक जगह

रखकर उसकी रोशनी में जो कीड़े वहाँ पहुँचते हैं, उन्हें साँप हजम कर जाता है। विद्या भी एक मणि के समान है। लोग विद्वान को ज्ञानी मानकर सलाह-परामर्श के लिए जाते हैं। अपनी गुप्त बातें उसे बता देते हैं। अपने लड़के-लड़कियों को उसके यहाँ पढ़ने बिठाते हैं। यदि वह विद्वान दुष्ट हुआ तो अपने इस अवकाश का दुरुपयोग करेगा। अभिप्राय यह कि दुर्गुणों के साथ यदि सद्‌गुण भी हों तो सत्‌गुणों का वह दुरुपयोग ही होगा। दुष्ट धनी से इतना धोखा नहीं है जितना दुष्ट अधिकारी से, और दुष्ट विद्वान इन सबका दादा है। इसके कारण हैं।

विद्यार्जन करने वाले अधिकतर मध्यम श्रेणी से आते हैं। वह गरीब होते हैं, पर धनी बनने की कामना करते हैं। ऐसे लोगों के लिए विद्या धनोपार्जन का एक साधन है। ध्येय उनका विद्या नहीं बल्कि धन है। धनी और सत्ताधारियों को अपने कारोबार चलाने के लिए साधारण उच्च शिक्षित लोग चाहिए। इन्हें वह अपने यहाँ नौकर रखते हैं और वही काम जिसे उन्हें खुद करना पड़ता था, झूठ, धोखा, बेईमानी इनके द्वारा करवाते हैं। शिक्षा का ध्येय जब धन-कमाना हो गया है तो और बदमाशियों की तरह विद्या को भी बदमाशी का साधन बना लिया जाता है। आजकल जो यह आम शिकायत है कि शिक्षा-स्तर गिर गया, लड़के बिगड़ गये। इसका मूल कारण है शिक्षा का ध्येय। जब ध्येय धन है और धन दौर्जन्यता से एकत्र होता है तो शिक्षा दौर्जन्यता का माध्यम हुआ। शिक्षक शिक्षा विभाग में आता है पैसा कमाने के लिए। वह देखता है दूसरों को अधिक पैसा मिलता है और शिक्षक को कम। उस कमी को पूरा करने के लिए वह सभी दुर्गुणों को अपनाता है जिससे अधिक पैसा मिले। शिक्षक मणिया सर्प बन गया। शिक्षक ही तक नहीं शिक्षितवर्ग की सारी-की-सारी यही दशा है। स्कूल, यूनिवर्सिटी की बात तो हम कहते हैं किन्तु इन दूसरे विभागों की दशा इससे अच्छी है? समी विभागों में पढ़े-लिखे हैं और सभी ने धन कमाने के उद्देश्य से पढ़ना सीखा है। नर्मदा के पानी की रगड़ से सभी रोड़े शिवलिंग बन गये।

शिक्षितवर्ग ही क्यों, साधु-समाज कम जहरीला साँप नहीं है। दुष्ट साधु सबसे बड़ा धूर्त होता है। गेरुआ वस्त्र के धोखे में भोले-भाले स्त्री-पुरुष उनके चंगुल में फँस जाते हैं। धूर्तता करना, धन कमाना और धन कमाकर धूर्तता करना यह उनका क्रम है।

अभिप्राय यह कि धन, विद्या, ज्ञान, तपस्या सभी अच्छी वस्तुएँ हैं किन्तु तभी तक अच्छी हैं जब तक व्यक्ति अच्छा है। व्यक्ति यदि बुरा है तो वही अच्छी चीजें और भी अधिक घातक सिद्ध होती हैं। साधु, संत, विद्वान, विशेषज्ञ, धनी

अधिकारी अगर दुष्ट हों तो इनसे दूर ही रहना चाहिए। यह जनसाधारण के लिए ही जरूरी नहीं बल्कि धनीवर्ग, अधिकारीवर्ग, विद्वानवर्ग, सभी को इस ओर से सावधान रहना चाहिए। सज्जन सत्ताधारी दुर्जन विद्वान को जगह न दे। सात्विक धनी दुष्ट साधु को आश्रय न दे।

श्लोक ४३

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैवतं
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनी।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तव्यशक्तिः स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत्सुगुणिनां यां दुर्जनैर्नांकितः।।

शब्द विच्छेद

प्रियालापिनी = प्रिय + अलापिनी
तेजस्विन्यविलिप्तता = तेजस्विन् + अविलिप्तता
तत्को = तत् + कः
भवेत्सुगुणिनां = भवेत् + सुगुणिनां
दुर्जनैर्नांकितः = दुर्जनैः + न + अंकितः

शब्दान्वय

दुर्जनः ह्रीमति जाड्यं गण्यते, व्रतरुचौ दम्भः (गण्यते)
शुचौ कैवतं (गण्यते)
शूरे निर्घृणता (गण्यते), मुनौ विमतिता (गण्यते),
प्रियालापिनी दैन्यं (गण्यते)
तेजस्विन् अविलिप्तता (गण्यते), वक्तव्यशक्तिस्थिरे
मुखरता (गण्यते)
तत् सुगुणिनां यः गुणः दुर्जनैः न अंकितः सः को नाम भवेत्

शब्दार्थ

दुर्जनैः = दुष्टों द्वारा
ह्रीमति = लज्जाशीलता
जाड्यं = जड़ता, मूढ़ता
गण्यते = गिनी जाती है
(अर्थात् दुष्टजन लजीले व्यक्ति को मूढ़ कहते हैं)
व्रत शुचौ: = निष्ठावान को
दम्भ: = दम्भी
शुचौ = सदाचारी को
कैतवं = कपटी
शूरे = शूरवीर को
निर्घृणता = निर्दयी
मुनौ = मौनी को
विमतिता = पागल
प्रियालापिनी = मीठी बोली बोलने वाले को
दैन्यं = दीन, डरपोक
तेजस्विन् = प्रतिभावान को
अविलिप्तता = घमंडी
वक्तव्य शक्ति: = वक्ता को
मुखरता = बकवासी (गिनते हैं)
तत् = तब
सुगुणिनां = सज्जनों के
यः गुण: = जो गुण, जिस गुण को
दुर्जनै: = दुर्जनों द्वारा, दुर्जनों ने
न अंकित: नाम धरा न हो
स = वह
को नाम भवेत् = क्या नाम हो सकता है ? अर्थात् सभी गुणों को कोई-न-कोई नाम धर ही देते हैं।

भावार्थ

दुष्टजन सज्जनों के सभी गुणों की निन्दा करते हैं। यदि कोई लज्जाशील हो तो जड़ मूढ़ कहेंगे, यदि निष्ठावान हो तो उसे दम्भी कहेंगे, शीलवान हो तो कपटी कहेंगे, शूरवीर हो तो निर्दयी कहेंगे, मौनधारी हो तो पागल कहेंगे, मीठी वाणी बोलेगा तो डरपोक कहेंगे, प्रतिभावान हो तो घमण्डी कहेंगे, धुआँधार वक्ता हो तो बकवासी कहेंगे। इस प्रकार सज्जनों के सभी गुणों का वह जरूर कोई-न-कोई नाम धरेंगे। अर्थात् किसी गुण की प्रशंसा वे करेंगे ही नहीं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में कहा गया था कि दुर्जनों से दूर ही रहना चाहिए और दुर्जनों में कोई गुण हो तो भी वह वर्जनीय है। वह बात सज्जनों की ओर से कही गयी है और साधारण जनता को लक्ष्य करके कही गयी है कि वे दुष्टों से बचें। तब दुष्ट कैसे चुप रहेंगे ?

दुष्टों को भी संसार में रहना है और अपनी दुष्टता को चालू रखने के लिए जनसाधारण को अपने साथ रखना है। इसलिए वह सज्जनों की निन्दा करते रहेंगे। उनके सुगुणों को रंग चढ़ाकर दुर्गुण बतायेंगे। सज्जन की ओर से दुर्जन के विद्या आदि की निन्दा की गयी है कि दुष्ट जन अपने सुगुण का भी दुरुपयोग करते हैं। किन्तु दुर्जन की ओर से जो प्रचार होगा वह और ही प्रकार का होगा। वह उस पर रंग चढ़ायेंगे और उल्टे मतलब लगायेंगे। पूजा-पाठ, व्रतनियम को कहेंगे, ढोंग रचा है लोगों को ठगने के लिए। मीठी बातों को कहेंगे कैसी चिकनी-चुपड़ी बातें बनाता है लोगों को छलने के लिए इत्यादि-इत्यादि। मतलब यह है कि सज्जनों का दुर्जनों के साथ निभाव हो ही नहीं सकता। दुष्टों के पास धूर्त ही एकत्र हो सकते हैं। और उस धूर्त-मण्डली में अपनी सारी विद्या और वीरता को इसी प्रकार धूर्तगीरी में खर्च किया जाता है। इसीलिए पहले ही जता दिया गया कि दुर्जन से दूर ही रहें।

एक पक्ष इसका दूसरा भी है। इसमें सज्जनों के लिए भी शिक्षा है कि कोई काम दिखावे के लिए न करें। व्रत-नियमों का पालन दिल से करो। शूरवीर हो तो अपनी जान पर खेलकर कमजोरों की रक्षा करो। विद्वान हो तो अपने ज्ञान-अध्ययन का परिचय दो। इतना ही नहीं, उसके साथ कुछ और भी करना है। जैसे, अपनी मूर्खता को मौन से छिपाने की चेष्टा न करो, डरकर मीठी बात न कहो, शूरता दिखाने के लिए अत्याचार न करो। बेतुकी इज्जत से वक्ता होने का दावा न करो। यदि कोई प्रतिभा तुममें हो तो नम्रता न छोड़ो और अन्त में दूसरे नाम धरते हैं यह समझकर या डरकर अपने सद्गुणों तथा सदाचार को कदापि मत त्यागो। अगर त्याग दिया तो दुर्जन सच्चे और तुम झूठे। साधारण जनता भी यही समझेगी। तुम कहीं के न रहोगे। धूर्तराज चलेगा। और जनसाधारण उसी का अनुकरण करेंगे। तब बेबसी में कहोगे, यह 'कलियुग' है। तुम क्रियाशील नहीं और दोष मढ़ दिया कलि-महाराज के सिर। इसलिए जब समाज में दौर्जन्य बढ़े और दुर्जनों का बोलाबला हो तो सज्जन सजा से बच नहीं सकते। सज्जन सौजन्यता का ढोंग रचें और दौर्जन्यता से मोर्चा न लें तो समझना चाहिए कि सौजन्यता का जामा पहने हुए यह सज्जन वास्तव में दुर्जनों के साथी हैं। और होता भी यही है कि जब दुष्ट अपना सिक्का जमा लेते हैं तब यह सोचकर कि कहीं मुकाबले में कोई डबल दुष्ट उठ न खड़ा हो और इसके पैर उखड़ जाएँ, इस विचार से इन नामधारी सज्जनों को अपनी सभा में सम्मानित करते हैं। यह भजन-कीर्तन करते हैं, वे बदमाशी करते हैं। दोनों समाज को लूटते हैं।

सच्ची सौजन्यता की कसौटी तब है जब दौर्जन्य अपनी चरम सीमा पर हो। नोआखाली के अत्याचार में गांधीजी ने सारे इलाके की पदयात्रा की। जो प्रभाव पड़ा उसे दुनिया जानती है। मगर हैदराबाद के इतने बड़े इलाके में रजाकार अत्याचार चला। गांधी का नामलेवा कोई उस समय वहाँ क्यों नहीं गया? कोई साहस करके गया और जाकर वह काम किया जो किसी ने नहीं किया। तब भी क्या हुआ और क्यों हुआ? वही सज्जन-दुर्जन की मिलीभगत। यह सवाल सदा रहेगा, जब तक समाज में सच्चाई तथा सात्विकता का सिक्का चालू न हो।

श्लोक ४४

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं निजैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना।।

शब्द विच्छेद

लोभश्चेदगुणेन=लोभः+चेत्+अगुणेन
यद्यस्ति=यदि+अस्ति
चेत्तपसा=चेत्+तपसा
सद्विद्या=सत्+विद्या
धनैरपयशो=धनैः+अपयशः

शब्दान्वय

लोभः चेत् अगुणेन किं, पिशुनता यदि अस्ति पातकैः किम्,
सत्यं चेत् तपसा च किं, शुचि मनः यदि अस्ति तीर्थैन किम्,
सौजन्यं यदि (अस्ति) बलेन किं, महिमा अस्ति यदि मण्डनैः किम्,
सत्विद्या यदि अस्ति धनैः किं, अपयशः यदि अस्ति मृत्युना किम्।

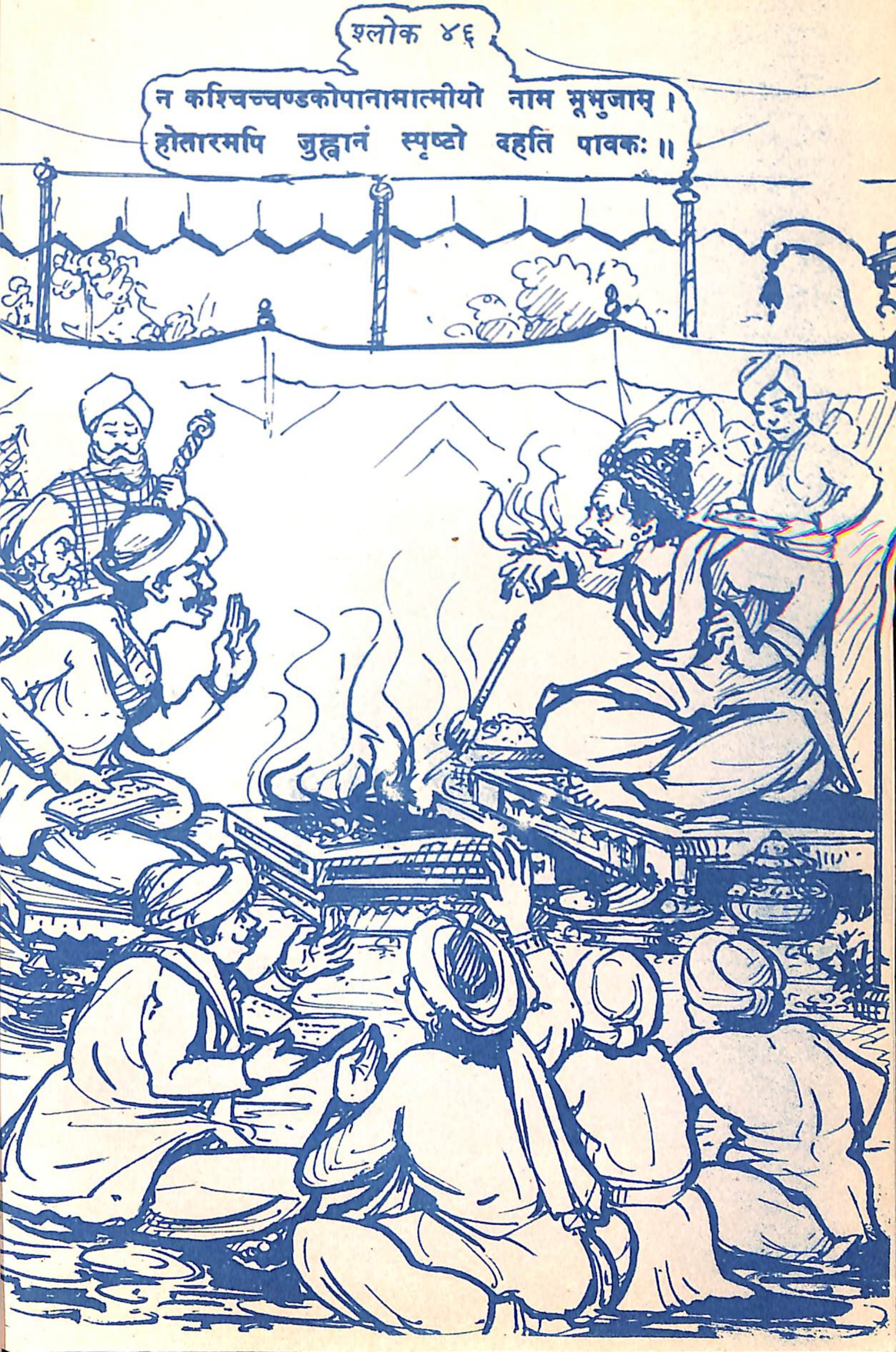

श्लोक ४६
न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥

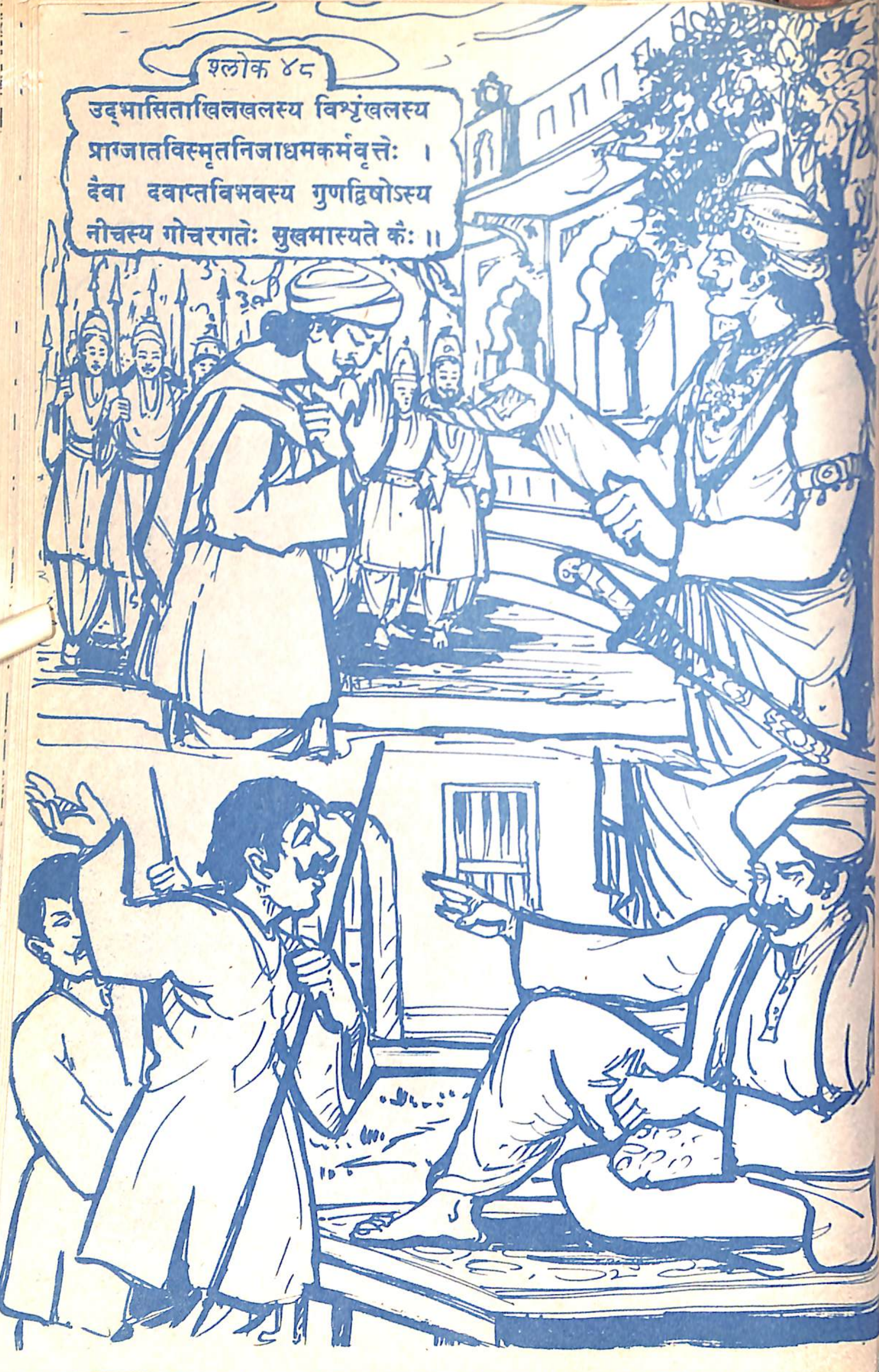

श्लोक ४८

उद्भासिताखिलखलस्य विशृंखलस्य
प्राग्जातविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ।
दैवा दवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतेः सुखमास्यते कैः ॥

शब्दार्थ

लोभः चेत्=लालच हो तो
अगुणेन किं=(और) दुर्गुण क्यों, अर्थात् लालच ही सबसे बड़ा दुर्गुण है
पिशुनता=बद पीछे कहने की आदत
यदि अस्ति=अगर है तो
पातकैः किम्=और किसी पाप की क्या आवश्यकता, अर्थात् बदगोई सबसे बड़ा पाप है,
सत्यंचेत्=सचाई हो तो
तपसा च किम्=अन्य किसी तपस्या की जरूरत नहीं, अर्थात् साँच ही सबसे बड़ी तपस्या है,
शुचि मनः=शुद्ध मन
यदि अस्ति=अगर हो
तीर्थेन किम्=तीर्थयात्रा की आवश्यकता नहीं, अर्थात् शुद्ध मन ही सबसे बड़ा तीरथ है,
सौजन्यं यदि=भलमनसाहत अगर हो तो
बलेन किं=किसी बाहुबल की जरूरत नहीं, अर्थात् भलमनसाहत ही सबसे बड़ा बल है
महिमा=चमत्कार, विशेषता
अस्ति यदि=हो मगर
मण्डनैः किम्=आभूषण की क्या आवश्यकता अर्थात् कोई विशेषता रखना ही सबसे बड़ा आभूषण है
सत्‌विद्या=सत्य विद्या
यदि अस्ति=अगर है तो
धनैः किम्=धन-दौलत से क्या काम, अर्थात् सत् विद्या ही सबसे बड़ा धन है
अपयशः=अपयश, बदनामी
यदि अस्ति=अगर है तो
मृत्युना किम्=मौत की क्या जरूरत अर्थात् जहाँ नाम को कलंक लगा वहीं उसकी मृत्यु हो गयी।

भावार्थ

लोभ सबसे बड़ा अवगुण है। इस एक दुर्गुण के होते और कोई अवगुण न हो तब भी मनुष्य का पतन निश्चित है। पीठ-पीछे किसी की बुराई करना सबसे बड़ा पाप है। इस एक आदत के होते और कोई पाप न करे तब भी वह नरकगामी होता है। मनुष्य में साँच एक हो तो उसे किसी कठोर तपस्या की आवश्यकता नहीं। इसी से वह तर जायेगा। मन शुद्ध हो, अर्थात् मन में भी कोई बुरी बात सोचता न हो तो पाप-मुक्ति के लिए किसी तीर्थ-यात्रा की जरूरत नहीं। पवित्र मन ही सबसे बड़ा तीरथ है—मन चंगा तो कठौती में गंगा। भलमनसाहत यदि है तो सभी उसकी सहायता के लिए सदैव तैयार रहते हैं,

किसी दल-बल की उसको आवश्यकता नहीं। विद्या ही सर्वोत्तम धन है, ज्ञानी विद्वान् को किसी धन की कोई आवश्यकता नहीं। अपयश मृत्यु के बराबर है, कलंक का टीका माथे पर लेकर जीना भी मरने के समान है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि दुर्जन सज्जन को क्या-क्या कहते हैं। इस पर चर्चा करते हुए यह लिखा था कि दुर्जन क्या कहते हैं, उसकी ओर ध्यान न देकर अपने को सज्जन समझने वाले स्वयं अपने-आपकी टोह लेकर देखें। इस श्लोक में जो कुछ कहा गया है, वैसे देखने में दुर्जन के लक्षण दीख पड़ते हैं, वास्तव में वह बात नहीं है। सज्जन कहानेवालों को लक्ष्य करके यह श्लोक कहा गया है। श्लोक ४२ में ऐसे विद्वान् की चर्चा है जिसमें एक विद्या को छोड़ सभी अवगुण हैं, अतः उसकी विद्या का भी दुरुपयोग होगा। पर इस श्लोक में उसके एकदम उल्टी बात कही गयी है। इस श्लोक में जितने अवगुण गिनाये गये हैं, वे सब-के-सब एक ही में होने जरूरी नहीं हैं। अलग-अलग व्यक्तियों में कोई-न-कोई एक अवगुण है और बाकी सब लक्षण, सुन्दर हैं। लोग कहेंगे—बड़े सज्जन हैं, सभी अच्छे गुण हैं, केवल एक ही दोष है। कहा करें। क्या चन्द्रमा में कालिमा नहीं होती ? इस श्लोक में इसी भावना का खण्डन किया गया है। कहा है कि यदि एक ही दोष हो पर यदि वह इतना भयंकर हो तो उसकी दुर्जनों में ही गिनती है। लीजिए एक-एक अवगुण पर विचार करें।

लोभ—लाभ की इच्छा ही तो लोभ है। उचित मात्रा और उचित रीति से लाभ उठाया जाय तो कोई उसे बुरा नहीं मानता। किन्तु अनुपयुक्त और अनधिकार लाभ की इच्छा करना लोभ है। इसके लिए अनुपयुक्त तथा अनधिकृत उपाय भी अपनाना होगा। ताँता चलता ही जायेगा शैतान की आँत की तरह। श्लोक के ही अन्य सभी सद्गुण उसमें वर्तमान हैं। तपस्वी है, हर साल तीर्थयात्रा पर जाता है, धन हैं, आभूषण हैं, बन्धु-मित्रों का आदर-सत्कार भी करता है, पर है लोभी। तो वास्तव में इन बातों से अपने को सज्जन दिखा कर वह टट्टी की आड़ में शिकार खेलता है। वह सज्जन बड़ा चालाक दुर्जन हुआ। इसी प्रकार पिशुनता। दूसरा एक व्यक्ति जो उपरोक्त सभी सद्गुणों से आभूषित है, पर एक ही दुर्गुण है कि लोगों की पीठ-पीछे बुराई करता फिरता है। यही एक पाप काफी है उसको मँझदार में डुबोने के लिए। केवल असत्यवादी है, झूठा है, पर बाकी सब सद्गुणों से परिपूर्ण है। बड़ा ही तपोधन का आडम्बर किये हुए है। भिन्न-

भिन्न वार, तिथियों के व्रतों के अतिरिक्त चन्द्रमा की घटती-बढ़ती के साथ रोज एक कौर घटाता-बढ़ाता हुआ चान्द्रायणादि व्रतों से अपने शरीर को काँटा बना रखा है। पर झूठ बोलता है। तब उसके तमाम व्रत कैसे सच्चे हो सकते हैं ? सच बोलने और झूठ बोलने के परिणामों पर विचार कीजिये। सत्यवादी को सत्य की खातिर तरह-तरह के कष्ट भोगने पड़ते हैं जैसे राजा हरिश्चन्द्र के साथ हुआ। पर झूठ बोलनेवाला क्या करता है ? अपने झूठ से लोगों पर विपदाएँ ढाता है। सत्य बोलने में खुद को तपना पड़ता है और झूठ बोलने में दूसरों को तपाना। दूसरों को जलाकर भस्म कर देना और आप उस आग में हाथ तापना। कितना बड़ा सज्जन है, झूठमात्र बोलता है ! तीर्थयात्रा—गंगा नहाया पाप धोया, समझते हैं न लोग ? पापही न करें तो उसे धोने की क्या जरूरत ? गंगा में तो शरीर धोते हैं। नहाने से पसीने की बदबू चली गयी। पाप का अंकुर तो मन में उगता है। शरीर पर उसके डाल-पात फैलते हैं। मन की शुद्धता मूलमन्त्र है। इसीलिए तो कहते हैं—मन चंगा तो कठौती में गंगा।

दलबल—परिवार का भी और परिजनों का भी। क्यों ? समय पड़ने पर काम आएंगे। कैसा समय ? कुसमय ! कुमार्ग पर चलेंगे तभी तो कुसमय आयेगा। लोग समझते हैं कि कितना भला आदमी है ? कितनों की परिवरिश कर रहा है। वास्तव में सारा दलबल अपनी रक्षा के लिए है। अपनी करनी का उसे डर है इसीलिए इन सबकी परवरिश।

सद्विद्या—क्या विद्या असत् भी होती है ? तुरन्त बाद ही तो कहा है—कि धनैः। धन कमाने के लिए विद्या प्राप्त करना और बाद में उसी विद्या को धन के बदले बेचना यही असत् विद्या है। विद्या का दुरुपयोग है। विद्वान् है, विशेषज्ञ है। समाज-संसार को क्या लाभ उससे। बम बनाता है घातक से घातक। अपने चुटकुले को पेटेन्ट कर लिया है। कौड़ी का माल देकर करोड़ों की लूट करेगा।

भला यह सब सज्जन कैसे ? सज्जन तभी तक है जब तक परदाफाश न हो। जहाँ खुले वहाँ गुरूघण्टाल कहलाये।

श्लोक ४५

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।

प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतिः सज्जनो
नृपांगणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ।।

शब्द विच्छेद

स्वाकृतेः=सु+आकृतेः
मुखमनक्षरं=मुखं+अनक्षरं
प्रभुर्धनपरायणः=प्रभुः+धनपरायण
दुर्गतिः=दुः+गतिः
नृपांगण=नृप+अंगण

शब्दान्वय

दिवस धूसरः शशी, गलित यौवना कामिनी,
विगत वारिज सरः ,सुआकृते अनक्षरं मुखं,
धन परायणः प्रभुः सतत दुर्गतिः सज्जनः,
नृप अंगण गतः खलः मे मनसि सप्त शल्लानि ।

शब्दार्थ

दिवस=दिन का
धूसरः=फीका
शशी=चांद
गलित=गली हुई, ढली हुई
यौवना=जवान
कामिनी=स्त्री
विगत वारिज=गये हुए कमल का (कमल विहीन)
सरः=सरोवर, तालाब
सु आकृते=सुन्दर स्वरूप में
अनक्षरं मुखम्=निरक्षर मुख अर्थात् अनपढ़
धन परायणः=धन पर मन लगाया हुआ लालची
प्रभुः=राजा
सतत=सदा
दुर्गतिः=बुरी दशा में पड़ा हुआ
सज्जनः=भला आदमी
नृप अंगण=राजा के आँगन में
गतः=पहुँचा हुआ
खलः=दुर्जन (ये सात)
मे भनसि=मेरे मन में
सप्त शल्लानि=सात काँटे हैं, अर्थात् काँटों की भाँति खटकते हैं

भावार्थ

दिन का फीका-फीका चन्द्रमा, जवानी ढली हुई युवती, कमल-रहित तालाब, अशिक्षित सुन्दर पुरुष, लोभी प्रभु, दरिद्री सज्जन, राजा के दायें-बायें दुष्ट जन, ये सातों सात कांटों की भांति मेरे मन में खटकते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि दिखावे के अच्छे सचमुच अच्छे नहीं होते उनमें बुराइयां भी बहुत होती हैं। इस श्लोक में दिखाया गया है कि अच्छे लोग बुरे कैसे बन जाते हैं।

चन्द्रमा सुन्दर वस्तु है। रात में सब का मन लुभाता है, पर वही चन्द्रमा दिन के समय सूर्य के प्रकाश में फीका पड़ जाता है। अपने से अधिक प्रकाशमान सामने आ गया तो फिर अपनी सूरत लेकर रह गया। कामिनी शब्द स्त्री के लिए तो है किन्तु यहां विशेष प्रकार की स्त्री से सम्बन्ध है। यौवन ढलने के बाद भी वह ऐसी बात न सोचे। कमल सरोवर तो है, पर फूल गायब। इसी प्रकार सुन्दर पुरुष है पर निरक्षर भट्टाचार्य, राजा है पर लोभी, सज्जन है पर दरिद्र। सभी अच्छे हैं, कोई बुराई उनमें नहीं, केवल कमी है। कमी रह जाने से भी आदमी काम का नहीं बनता।

इस श्लोक में एक और सुन्दर साम्य भी है—शशी के साथ कामिनी, दोनों फीके पड़ गये हैं। सुन्दर सरोवर के साथ सुन्दर पुरुष पर दोनों में कमी है। एक में कमल नहीं जो उसकी सुन्दरता को बढ़ाता, एक में विद्या नहीं कि सोने पर सुहागा हो जाता। राजा के संग संग रहता है, परन्तु राजा लोभी है इसलिए सज्जन को दरिद्रता भोगनी पड़ रही है। प्रभु का परामर्श दुष्टों से है, क्या इसी से सब कला-विहीन हो गये? इसका कुछ समाधान अगले श्लोक में मिलेगा।

श्लोक ४६

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम्।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः॥

प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतिः सज्जनो
नृपांगणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ।।

शब्द विच्छेद

स्वाकृतेः=सु+आकृतेः
मुखमनक्षरं=मुखं+अनक्षरं
प्रभुर्धनपरायणः=प्रभुः+धनपरायण
दुर्गतिः=दुः+गतिः
नृपांगण=नृप+अंगण

शब्दान्वय

दिवस धूसरः शशी, गलित यौवना कामिनी,
विगत वारिज सरः, सुआकृते अनक्षरं मुखं,
धन परायणः प्रभुः सतत दुर्गतिः सज्जनः,
नृप अंगण गतः खलः मे मनसि सप्त शल्लानि ।

शब्दार्थ

दिवस=दिन का
धूसरः=फीका
शशी=चांद
गलित=गली हुई, ढली हुई
यौवना=जवान
कामिनी=स्त्री
विगत वारिज=गये हुए कमल का (कमल विहीन)
सरः=सरोवर, तालाब
सु आकृते=सुन्दर स्वरूप में
अनक्षरं मुखम्=निरक्षर मुख अर्थात्, अनपढ़

धन परायणः=धन पर मन लगाया हुआ लालची
प्रभुः=राजा
सतत=सदा
दुर्गतिः=बुरी दशा में पड़ा हुआ
सज्जनः=भला आदमी
नृप अंगण=राजा के आँगन में
गतः=पहुँचा हुआ
खलः=दुर्जन (ये सात)
मे भनसि=मेरे मन में
सप्त शल्लानि=सात काँटे हैं, अर्थात् काँटों की भाँति खटकते हैं

भावार्थ

दिन का फीका-फीका चन्द्रमा, जवानी ढली हुई युवती, कमल-रहित तालाब, अशिक्षित सुन्दर पुरुष, लोभी प्रभु, दरिद्री सज्जन, राजा के दायें-बायें दुष्ट जन, ये सातों सात कांटों की भांति मेरे मन में खटकते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि दिखावे के अच्छे सचमुच अच्छे नहीं होते उनमें बुराइयां भी बहुत होती हैं। इस श्लोक में दिखाया गया है कि अच्छे लोग बुरे कैसे बन जाते हैं।

चन्द्रमा सुन्दर वस्तु है। रात में सब का मन लुभाता है, पर वही चन्द्रमा दिन के समय सूर्य के प्रकाश में फीका पड़ जाता है। अपने से अधिक प्रकाशमान सामने आ गया तो फिर अपनी सूरत लेकर रह गया। कामिनी शब्द स्त्री के लिए तो है किन्तु यहां विशेष प्रकार की स्त्री से सम्बन्ध है। यौवन ढलने के बाद भी वह ऐसी बात न सोचे। कमल सरोवर तो है, पर फूल गायब। इसी प्रकार सुन्दर पुरुष है पर निरक्षर भट्टाचार्य, राजा है पर लोभी, सज्जन है पर दरिद्र। सभी अच्छे हैं, कोई बुराई उनमें नहीं, केवल कमी है। कमी रह जाने से भी आदमी काम का नहीं बनता।

इस श्लोक में एक और सुन्दर साम्य भी है—शशी के साथ कामिनी, दोनों फीके पड़ गये हैं। सुन्दर सरोवर के साथ सुन्दर पुरुष पर दोनों में कमी है। एक में कमल नहीं जो उसकी सुन्दरता को बढ़ाता, एक में विद्या नहीं कि सोने पर सुहागा हो जाता। राजा के संग संग रहता है, परन्तु राजा लोभी है इसलिए सज्जन को दरिद्रता भोगनी पड़ रही है। प्रभु का परामर्श दुष्टों से है, क्या इसी से सब कला-विहीन हो गये ? इसका कुछ समाधान अगले श्लोक में मिलेगा।

श्लोक ४६

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम्।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः॥

शब्द विच्छेद

कश्चिच्चण्ड=कश्चित् + चंड
कोपानामात्मीयो=कोपानाम् + आत्मीय:
होतारमपि=होतारम् + अपि

शब्दान्वय

चण्ड कोपानाम् भूभुजानाम् कश्चित् आत्मीय: न नाम
अग्नि जुह्वानं होतारम् अपि स्पृष्ट: दहित ।

शब्दार्थ

चण्ड=भीकर, भारी
कोपानम्=क्रोधी
भूभुजानाम्=राजा के
कश्चित्=कोई
आत्मीय:=अपना
न नाम=नहीं होता, नाम को नहीं (जैसे)
पावक:=अग्नि
जुह्वानं=घी आदि आहुति देनेवाले
होतारम् अपि=हवन करने वाले को भी
स्पृष्ट:=छू जाने पर
दहति=जला डालता है ।

भावार्थ

अग्निदेव को तृप्त करने की इच्छा से अग्निहोत्री जन घृत आदि से हवन करते हैं, किन्तु उसी हवन करनेवाले का हाथ यदि अग्नि को छू जाय तो वह उसे तुरन्त जला डालता है। इसी प्रकार क्रोधी प्रभु का अपना कहानेवाला कोई नहीं होता। रात-दिन अपनी ही सेवा में लगे हुए सेवकों पर वह बात-बात पर बिगड़ पड़ते हैं और उसका घर-द्वार बिगाड़ देते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में दुर्जनों, सज्जन, जैसे दीख पड़नेवाले दुर्जनों तथा बुरी गत बने हुए सज्जनों की चर्चा करने के बाद इस श्लोक में दुर्जन प्रभु की चर्चा की गयी है। दुष्ट राजाओं के पास दुष्टों का ही निभाव हो सकता है, सज्जनों का नहीं, ऐसा समझना भी भ्रम है। इसी प्रकार सज्जन भी यदि यह सोचे कि राजा दुष्ट सही, हमें तो सहायता चाहिए। सच्चे हृदय से सेवा करके प्रसन्न रखने की चेष्टा

करेंगे, तो यह भी भूल है। उसकी क्रोधाग्नि में सभी को भस्म होना पड़ता है, क्या अच्छा, क्या बुरा और क्या सेवक, क्या सहायक किसी को अपना मानकर छोड़ना जानता ही नहीं। राजा का क्रोध अग्नि के समान है। जंगल की आग में तो सभी जल जाते हैं, किन्तु यज्ञ-हवन के पवित्र अग्निदेव भी इसका ध्यान नहीं रखते। होता अग्निदेव को तृप्त करने के लिए समिधा, सामग्री, घृत आदि ज्वालाओं पर 'स्वाहा' के मंत्रों के साथ छोड़ते जाते हैं। अग्निदेव समिधा आदि को स्वाहा करने तक तो ठीक है, पर होता का हाथ क्यों जला देता है? यही न कि उनका हाथ लग गया। क्या पता होता का हाथ ही अधिक नीचे गया या ज्वाला अधिक ऊपर आ गयी। गलती किसी की हो जलेगा हाथ होताजी का ही। राजा लोग भी सेवा से तृप्त होकर बैठ थोड़े ही जायेंगे और भी अधिक चढ़ेंगे, ज्वालाओं की भांति। राजाओं की इस क्रोधाग्नि की ज्वाला किस-किस की ओर लपकेगी और कौन-कौन उसकी लपेट में आ जायेगा? क्या पता सज्जन सेवक ही स्वाहा हो जाय और दुर्जन भी बचे नहीं।

अब पिछले श्लोक ४५ की शब्दावली पर जरा ध्यान दें। चन्द्रमा का शीतल प्रकाश भी मनोहर होता है, पर सूर्य भगवान यह कब बरदाश्त कर सकते हैं कि उनके सामने चन्द्रमा भी चमका करे। विज्ञान की दृष्टि से चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य का दिया हुआ है। सूर्य प्रसन्न होते कि यह तो मेरा अपना है। यह नहीं होता। इसी प्रकार कामिनी ने किसी कामुक की कामना ही पूरी की होगी, पर यह कान्ति-विहीन बन गयी। चन्द्रमा के समान दूसरों से सहायता पाना भी बुरा और कामिनी के समान दूसरे को तृप्त करना भी बुरा। सरोवर की भांति खिले कमल का खोना भी बुरा और सुन्दर युवक की तरह विद्या प्राप्त न करके मन को विकसित न करना भी बुरा। राजा का लोभी होना भी बुरा और लोभ-लालच से परे होकर कष्ट सहना भी बुरा। तब क्या सभी निन्दनीय नहीं? 'राजा राष्ट्र कृतं पापं' सारा दोष राजा का जो दुष्ट परामर्श का अनुसरण करके सबको कष्ट देता है और जो साहस करके सच्ची सलाह दे उसकी गरदन नापता है।

यहां दुष्ट राजा को अग्नि की उपमा दी गई है। क्या अग्निदेव दुष्ट हैं? अग्निदेव के दुष्ट होने का प्रश्न नहीं। अग्नि का स्वभाव है जलाना, जो चीज सामने पड़े उसे भस्मीभूत कर देना। दुष्ट प्रभु का भी स्वभाव इसी प्रकार का है कि कमर कसकर सेवा करनेवाले ही उसकी क्रोधाग्नि की आहुति हो जाते हैं। दूर से हाथ बचाकर सेवा करो।

श्लोक ४७

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वाचको जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे भवति च वसन्दूरतोप्यप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥

शब्द विच्छेद

मौनान्मूकः=मौनात्+मूकः
प्रवचनपटुर्वाचकः=प्रवचनपटुः+वाचकः
वसन्दूरतोप्यप्रगल्भः+वसन्+दूरतः+अपि+अप्रगल्भः
भीरुर्यदि=भीरुः+यदि
नाभिजातः=न+अभिजातः
योगिनामप्यगम्यः=योगिनाम्+अपि+अगम्यः

शब्दान्वय

सेवा धर्मः परम गहनः, योगिनाम् अपि अगम्यः
मौनात् मूकः भवति, प्रवचन पटुः वाचकः वा जल्पकः भवति
पार्श्ववसन् धृष्टः भवति च दूरतः अपि अप्रगल्भः भवति,
क्षान्त्या भीरु भवति, यदि न सहते प्रायशः न अभिजातः भवति

शब्दार्थ

मौनात्=चुप रहें तो
मूकः=गूंगा
भवति=बनता है, कहाता है
प्रवचन पटुः=धुरंधर वक्ता है तो
वाचकः=बातूनी
वा जल्पकः=या बकवासी
(कहाता है)
पार्श्व=बगल में, पास
वसन्=रहने पर
धृष्टः=धृष्ट, ढीठ
(कहाता है)
च=और
दूरतः अपि=दूर (रहने पर) भी
अप्रगल्भः=निकम्मा
भवति=बनता है, कहाता है,
क्षान्त्या=सहनशीलता से
भीरु=डरपोक (कहाता है)
(और अगर)

न सहते=सहन न करे तो
प्रायशः=प्रायः, साधारणतया
न अभिजातः=उच्चकुल का अजन्मा अर्थात् नीच जाति
भवति=कहाता है

सेवा धर्मः=सेवा का कार्य
परम गहनः=अत्यन्त गम्भीर है
योगिनाम् अपि=ज्ञानी योगियों के भी
अगम्यः=समझबूझ से बाहर है

भावार्थ

सेवावृत्ति करनेवाले की बुरी गत होती है। प्रभु के कुछ कहने पर चुप साध ले तो कहेंगे क्या गूंगा है? जबान कट गयी? कुछ बोले तो कहेंगे—जवाब देता है, जीभ लम्बी हो गयी। हाथ जोड़कर पास खड़े हों तो कहेंगे बदतमीज। दूर रहेगा तो कहेंगे कामचोर है। गाली-गलौज सहेगा तो कहेंगे डरपोक है, न सहेगा तो कहेंगे, अकड़ू है। किस प्रकार सेवा करेंगे तो प्रभु प्रसन्न रहेंगे, यह समझना असम्भव है। सर्वज्ञ योगिराज के लिए भी राजाओं की मनोवृत्ति को समझ पाना कठिन है। साधारण सेवक उन्हें क्या समझ सकेगा।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में राजा को आग कहा गया जो होता के हाथ भी जला देता है। इसी प्रकार दुष्ट राजा कौन कितना अच्छा काम कर रहा है इसका ध्यान न रखे बिना सभी पर बरस पड़ता है। यह शंका उठ सकती है कि राजा को आग कहने से क्या लाभ। सेवा करने पर कोई क्यों बिगड़ेगा। इसमें बताया गया है कि जब बिगड़ना ही उनका स्वभाव है तो बहाने हजार मिल जायेंगे।

सेवक को बड़ी कठिनाई का सामना करना होता है। केवल ड्यूटी बजा लाने से काम नहीं बनता। काम कौन देखता है? न पुराने जमाने में काम को कोई देखता था, न आज कोई देखता है। काम अच्छा किया तो कोई शाबाशी नहीं मिलेगी, पर कुछ बिगड़ा तो लानत बरसेगी, लातें खानी होंगी। उन्हें नाराज ही होना है तो उस अच्छे काम में भी कोई नुक्स निकालेंगे। काम अच्छा करने से ही काम नहीं बनता। काम इस प्रकार करो कि उनको अच्छा लगे। पानी पिलाना, जूते सीधे करना ही काम नहीं है। हजार काम और होते हैं। कोई किसी की शिकायत ले आया। आपको कहा गया, देखकर रिपोर्ट दो। अपनी दृष्टि से आप अपनी रिपोर्ट पेश नहीं कर सकते। पता नहीं प्रभु किसकी सहायता करना चाहते हैं। आजकल

भी यही होता है। फिर काम करने के बाद बातें बनाना, सुनना यह भी आना चाहिए। बोले मुसीबत, न बोले मुसीबत, सामने हाजिर रहें तो मुश्किल, आड़ में बैठे रहें तो मुश्किल। कौन क्या कहना चाहता है, तुम सिर पर क्यों खड़े हो। कोई है ? जी हां, 'हुजूर' कहने से पहले ही गालियों की झड़ी लग जायेगी, हरामखोर न जाने कहां मरे रहते हैं। अगर आड़ में ऐसे खड़े रहें कि लगे कोई खड़ा है और न दिखाई भी पड़े तो कहा जायेगा, भेदिया है। कोई बड़ा प्रतिभावान कोई बहुत अच्छी योजना या कार्यपद्धति प्रस्तुत करेंगे। समझेंगे यह हमसे होशियार बनता है। हंसी उड़ाकर भगा देंगे। भले ही आप खुद कुछ दिन बाद उसी की अधूरी नकल पेश करके बड़े देशोपकारक कहलावें। कहने का अभिप्राय यह कि सीधे-सादे सज्जन को सेवावृत्ति दुखदायी है, सेवावृत्ति स्वीकार करेंगे तो निभेगी नहीं। अपनी सौजन्यता और स्वाभिमान को तिलांजलि देनी होगी और पशुवृत्ति अपनानी होगी।

आप कहेंगे, काम भी करना चाहिए और समझबूझ से भी काम लेना चाहिए। सो कहा गया है कि योगिराज भी राजा का मन समझ नहीं सकते। योगी के दो प्रधान गुण हैं—एक आंख बंद करके भगवान को भी देख लेते हैं और यह भी समझ जाते हैं कि भगवान अब आगे क्या करेंगे। ऐसे योगिराज भी राजाओं को समझ नहीं पायेंगे। दूसरा गुण सांसारिक है। उन्हें कोई कुछ कहेगा, उनके साथ कुछ भी करेगा, मारेगा, मैला फेंकेगा, उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एकदम चुप साधे रहते हैं। कहता है कि समझ भी हो, सहन भी हो, तब भी प्रभुओं को प्रसन्न रखना असम्भव है। तब साधारण सज्जन क्या करेंगे—'यहां कहां सज्जन कर वासा'। सज्जन चाहे देश की सेवा करें या व्यक्ति की, उनकी यही गत बनती है।

श्लोक ४८

उद्भासिताखिलखलस्य विशृंखलस्य
प्राग्जातविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ।
दैवा दवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतेः सुखमास्यते कैः ॥

शब्द विच्छेद

उद्भासिताखिल = उद्भासित + अखिल
प्राग्जात = प्राक् + जात
निजाधम = निज + अधम
दैवादवाप्त = दैवात् + अवाप्त
गुणद्विषोऽस्य = गुणत् + विषः + अस्य
सुखमास्यते = सुखम् + आस्यते

शब्दान्वय

निज प्राक् जात विस्मृत कर्म अखिल खलस्य उद्भासितस्य विश्रृंखलस्य
दैवात् अवाप्त विभवस्य गुणद्विषः अस्य नीचस्य गोचर गतैः कैः सुखम् आस्यते।

शब्दार्थ

उद्भासित = ऊंचे
अखिल = सभी
खलस्य = नीचों के साथ
विश्रृंखलस्य = मनमानी करनेवाले
प्राक् जात = पहले का जीवन
विस्मृत = भुलाकर
निज = अपने
अधम कर्म = नीच कार्यों में
वृत्ते = प्रवृत्त होकर
दैवात् = संयोग से

अवाप्त = प्राप्त हुए
विभवस्य = धन वैभववाले
गुणद्विषस्य = सद्गुणों की निंदा करनेवाले
अस्य नीचस्यः = ऐसे नीच के
गोचर गतैः = सामने पड़कर
कैः = किसके द्वारा
मुखम् आस्यते = सुख पाया जा सकता है अर्थात् कौन सुख पा सकता है

भावार्थ

जो व्यक्ति अपनी पूर्व स्थिति को एकदम भुलाकर हीन तथा घृणित मार्ग को अपनाता है और अपने उस घृणास्पद उद्देश्य की सिद्धि के लिए नीचता करता है, नीचों की सहायता लेता है और उन नीचों को उच्च पदवियों पर बिठाकर उचित-अनुचित का ध्यान न रखकर मनमाने ढंग से काम करता है और जब संयोग से अपने

उद्देश्य में सफल हो जाता है तब समझता है कि उसको अपनी चतुराई से ही सब-कुछ हुआ है और सभी सज्जनों तथा सद्गुणों के साथ द्वेष करता है। भला बताओ ऐसे दुष्ट के सामने पड़कर कौन सज्जन सुखी रह सकता है। ऐसे दुष्ट प्रभुओं से दूर-दूर रहना सज्जनों के लिए श्रेयस्कर है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि दुष्ट प्रभु सीधे-सादे और सच्चे सेवक को कैसे-कैसे नाम धरते हैं और एक दिन मारपीट कर भगा देते हैं या सेवक स्वयं ही भाग खड़े होते हैं। तब उन प्रभुओं का काम कैसे चलेगा ? यही बात इस श्लोक में बतायी गई है। जैसा प्रभु वैसे ही सेवक उसके पास टिक जाते हैं। मालिक नाराज होकर कहेगा—क्या गूंगा है ? जवाब तैयार, हां अन्नदाता, मैं क्या मेरा बाप तो गूंगा भी था और पागल भी। मालिक बहुत खुश। वह ऐसे ही लोगों को ऊंची-से-ऊंची पदवी देता जाता है, क्योंकि वह नीच से भी नीच काम करने को सदा कमर कसे रहते हैं। नीचों को साथ रखनेवाला और नीच काम करनेवाला प्रभु भी नीच होगा ही। इसी नीचता से—उसकी चतुराई के कारण नहीं, संयोग से कोई धनी बन गया, राजा बन गया। तब वह अपनी पुरानी स्थिति को एक दम भूल जाता है कि वह पहले क्या था, क्या काम करता था और कैसा खाता-पहनता था। वह तो समझे बैठता है कि नीचता, क्रूरता और धूर्तता से ही वह बड़ा आदमी बन गया है और यह उसकी विशिष्टता है। स्वभावतया ऐसा व्यक्ति सीधे-सादे लोगों को बेवकूफ समझेगा और सज्जनों से घृणा करेगा। किसी भी सच्ची और न्यायोचित बात पर आग-बबूला हो जायेगा। बात पर ही बिगड़ पड़नेवाला व्यक्ति किसी गुणी को सामने देखकर सहन कैसे करेगा ? इसीलिए श्लोक में कहा गया है कि उनकी सेवा करके पुरस्कार पाने की इच्छा ही मत करो, बल्कि नजर के सामने न पड़ो, नहीं तो उल्टे दंड पाओगे।

श्लोक में 'दैववशात्' बड़े होने की बात कही गयी है। अर्थात् नीचता के परिणामस्वरूप कोई बड़ा बन नहीं सकता। प्रायः सभी को नीचा देखना पड़ता है। यदा-कदा कोई सफल हो जाता है, तो वह उसका भाग्य समझना चाहिए, जो पिछले पुण्यों का फल भी हो सकता है या इस जन्म के दुष्कर्मों का घोर दण्ड उसे आगे भोगना पड़ेगा।

आजकल भी हमलोग देख रहे हैं कि नीच तथा धूर्त आगे बढ़ जाते हैं। सत्ता

प्राप्त करते हैं। धनी बन जाते हैं। देखादेखी दूसरे लोग भी वही साधन अपनाते हैं। परन्तु सब-के-सब बड़े नहीं बन पाते। बात यह है कि जब धूर्तता तथा नीचता का ही बोलबाला है तब उनमें जो सबसे बढ़-चढ़कर नीचता करेगा, धूर्तताई करेगा वही बाजी मार लेगा। कभी-कभी ऐसे धूर्त किसी सज्जन कहानेवाले के इर्दगिर्द इकट्ठे हो जाते हैं कि उसकी सौजन्यता से अपने क्रियाकलापों पर परदा पड़ा रहेगा और सरदार की सौजन्यता को पूरा लाभ मिलेगा। दूसरी ओर वह सज्जन सरदार समझता है कि बागडोर मेरे हाथ में रहेगी तो सब-कुछ ठीक कर लूंगा। इस विचार से धूर्तों के सहारे को गनीमत समझता है। धूर्तों का सहारा पाने के लिए उस सरदार सज्जन को भी वास्तविक सज्जनों से कतराना पड़ता है। उनका विरोध भी करना पड़ता है। चंडाल-चौकड़ी का वह एक मोहरा-मात्र रह जाता है। अंत में चलकर उसका स्वप्न टूटता है। पौ फटते आंख मलने तक चहुं ओर उजाला फैल जाता है। सभी स्वार्थी गिने जाते हैं। स्वार्थ, धूर्तता तथा नीचता की जननी है। स्वार्थी हों अथवा धूर्त और नीच, यदि वह केवल एक बात कर पाते कि अपनी पिछली दशा को न भूलते। अपनी असलियत को भूल जाते हैं, यही सबसे बड़ी भूल करते हैं। अपनी असलियत को भूलनेवाले का सारा खोल नकली होता है—कागज की नाव, काठ की हंडिया।

श्लोक ४९

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्!
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्।।

शब्द विच्छेद

पूर्वार्ध=पूर्व+अर्ध
परार्ध=पर+अर्ध
छायेव=छाया+इव
वृद्धिमुर्पति=वृद्धिम्+उपैति

शब्दान्वय

दिनस्य पूर्व अर्ध छाया इव खलानाम मैत्री आरम्भ गुर्वी च क्रमेण क्षयिणी (भवति) च, सज्जनाम मैत्री दिनस्य पर अर्ध भिन्न: छाया इव पुरा लघ्वी च पश्चात् वृद्धिम् उपैति ।

शब्दार्थ

दिनस्य=दिन के
पूर्व अर्ध=पहले आधे, दोपहर से पहले की
छाया इव=छाया की भांति
खलानाम=दुर्जनों की
मैत्री=मित्रता
आरम्भ गुर्वी=आदि में बड़ी
च क्रमेण=और धीरे-धीरे
क्षयिणी=घटती हुई
भवति=होती है
सज्जन मैत्री=सज्जनों की मित्रता

दिनस्य=दिन के
पर अर्ध=बाद के आधे, दोपहर के बाद की
भिन्ना=उलटी
छाया इव=छाया की भांति
पुरा=पहले
लघ्वी=छोटी
च पश्चात्=और बाद
वृद्धिम्=वृद्धि को
उपैति=प्राप्त होती है

भावार्थ

सज्जनों तथा दुर्जनों की मित्रता दिन में दोपहर से पहले और दोपहर के बाद की छाया की भांति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। दुर्जनों की दोस्ती सुबह की छाया की तरह पहले बहुत लम्बी और गाढ़ी होती है, पर ज्यों-ज्यों दिन बढ़ता है, छोटी हो जाती है। उसी प्रकार दुर्जनों की दोस्ती दिन-पर-दिन घटती जाती है और ठीक दोपहर में छाया की तरह एकदम गायब हो जाती है। परन्तु सज्जनों के स्नेह आरम्भ में केवल परिचयात्मक होता है, पर धीरे-धीरे सन्ध्या की छाया की भांति उनकी मित्रता दीर्घ तथा प्रगाढ़ हो जाती है और आत्मीयता में बदल जाती है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि दुष्ट प्रभु दुष्टों और नीचों को ही बढ़ावा देते हैं और सज्जनों से द्वेष करते हैं। यह शंका हो सकती है कि क्या दुर्जनों का

ही सदा बोलबाला रहेगा और सज्जनों का कहीं ठिकाना नहीं रहेगा ? इस श्लोक में इस शंका का समाधान है।

दुष्ट प्रभु यदि दुर्जनों को साथ रखें और उन्हें बढ़ावा दें तो चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है। दुष्टों की मित्रता सुबह की छाया के समान है। शुरू-शुरू में बहुत गाढ़ी होती है, पर धीरे-धीरे घटने लगती है अर्थात् उन दुष्टों की मित्रता स्थायी नहीं होती। आखिर इसका कारण क्या है ? दुष्ट योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए दुष्ट ही तो जल्दी तैयार होंगे, इसलिए उनकी दोस्ती जल्दी हो जाती है। दुष्ट योजना में उनमें से हरएक अनुचित लाभ उठायेगा और जिसके द्वारा उस अनुचित लाभ को उठाने में अधिक सहायता मिलेगी, उसी को बड़ी पदवी के लिए लालायित होकर एक से बढ़कर एक दुष्टता अधिक करेगा। इस प्रकार मित्रता घटने लगती है। इसलिए कि उनमें से हरएक यही समझेगा कि काम तो मैंने अधिक किया, पर बड़ा बनाया गया दूसरा, परस्पर डाह बढ़ेगा। यह तो कार्यकर्ताओं का हुआ। दूसरी ओर सबका नेता जो अब प्रभु बना है उसे फिक्र बनी रहती है कि कहीं उसके दुष्ट साथी उन्हीं दुष्ट योजनाओं को खुद उसके विरुद्ध प्रयोग न करें और षड्यन्त्र रचकर उसी को समाप्त न कर दें, इसलिए वह उन्हें आपस में एक-दूसरे से भिड़ाता रहेगा। और अगर जरूरी समझे तो एक-आध का खात्मा करा देगा। जिन्हें वह प्रतिस्पर्धी समझता हो उन्हें गिरवायेगा, मरवायेगा। वह मरेंगे, गिरेंगे और तथाकथित दुष्ट भले ही खत्म हो जायें, पर दुष्टता बनी रहेगी और वह चुप नहीं रहेगी और अन्त में स्वयं उन्हें भी खत्म कर देगी।

इसी श्लोक में सज्जनों की मित्रता का भी वर्णन है। आरम्भ में बहुत अधिक न होगी, पर धीरे-धीरे सायंकाल की छाया की तरह बढ़ती ही जायेगी। सौजन्यता में समय अधिक लगता है। उसमें स्पर्धा की भावना नहीं होती कि एक-दूसरे से बढ़-चढ़ जायें। उनके काम स्थायी होते हैं, और योजनाएं दूरगामी होती हैं। वहां जल्दबाजी का सवाल उठता ही नहीं है। इसलिए वे दुर्जनों की तरह जल्दी नहीं मचाते। दौर्जन्यता में डर लगा रहता है कि देरी हो जाने से भांडा फोड़ हो जाये और सब षड्यन्त्र धरा-का-धरा रह जाये। सौजन्यता में बाधाएं आ सकती हैं, पर भांड़ा फूटने का डर एकदम नहीं रहता। सात्विक कार्य जितने भी हों जिस सीमा तक पहुंच जाते हैं, वह व्यर्थ नहीं जाते। पूरे न भी हों तो जमा की हुई पूंजी सात्विकता की ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। फिर जब अवसर मिले उसी जगह से आगे बढ़ाये जा सकते हैं। इसलिए सज्जनों की मित्रता टूटती नहीं है। उत्तरोत्तर उसमें वृद्धि ही होती है।

यह कहा जा सकता है कि फायदा क्या, दोनों की भी दोस्ती मिटती ही है। दुर्जनों की दोपहर में तो सज्जनों की शाम में। मगर दोनों में भारी अन्तर है। दुष्टों की दोस्ती दोपहर तक घटती-घटती एकदम मिट जाती है। सज्जनों का स्नेह बढ़ते-बढ़ते अन्त में एकदम बड़ा होकर मिट जाता है। दुर्जन भिखारी बनकर, बदनाम होकर खत्म होते हैं और सज्जन समृद्धि, सन्तोष तथा शान्ति में अन्तिम सांस लेते हैं। अन्तिम दिन एक निश्चित है तो जीवन भी तो निश्चित है। दुर्जनों का दिन अथवा जीवन अभी बाकी रहता है कि बदनाम होते और मिट जाते हैं। इसके विपरीत सज्जन जीवनान्त सुखी रहते हैं। दुष्ट जीते-जी मर गये और सज्जन मरने पर भी अमर रहते हैं।

श्लोक ५०

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणमेव वैरिणो जगति॥

शब्द विच्छेद

निष्कारणमेव=निष्कारणम्+एव

शब्दान्वय

विहित तृण वृत्तीनाम् मृगानाम्, जल वृत्तीनाम्
मीनानाम् (तथा)
संतोष वृत्तीनाम् सज्जनानाम् जगति (क्रमेण) लुब्धक, धीवर
(तथा) पिशुना, निष्कारणं एव वैरिणः।

शब्दार्थ

विहित=निश्चित, नियम
तृण वृत्तीनाम्=घास पर जीवन निर्वाह करनेवाले
मृगानाम्=हिरन आदि जंतुओं के
जल वृत्तीनाम्=जल में जीवन बिताने वाले
मीनानाम्=मछलियों के (और)
सन्तोष वृत्तीनाम्=प्राप्त वस्तुओं पर

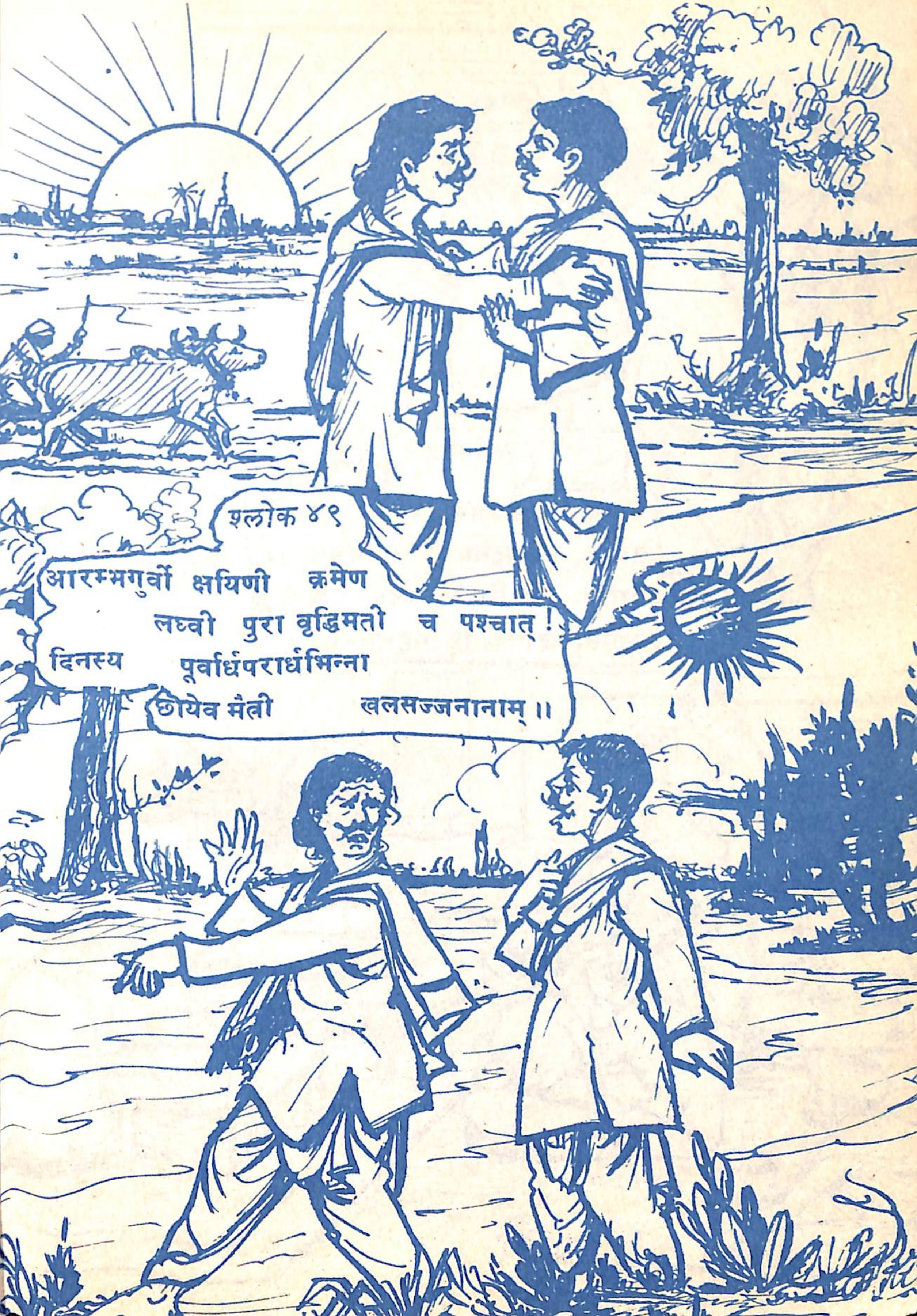

श्लोक ४१

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् !
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ।।

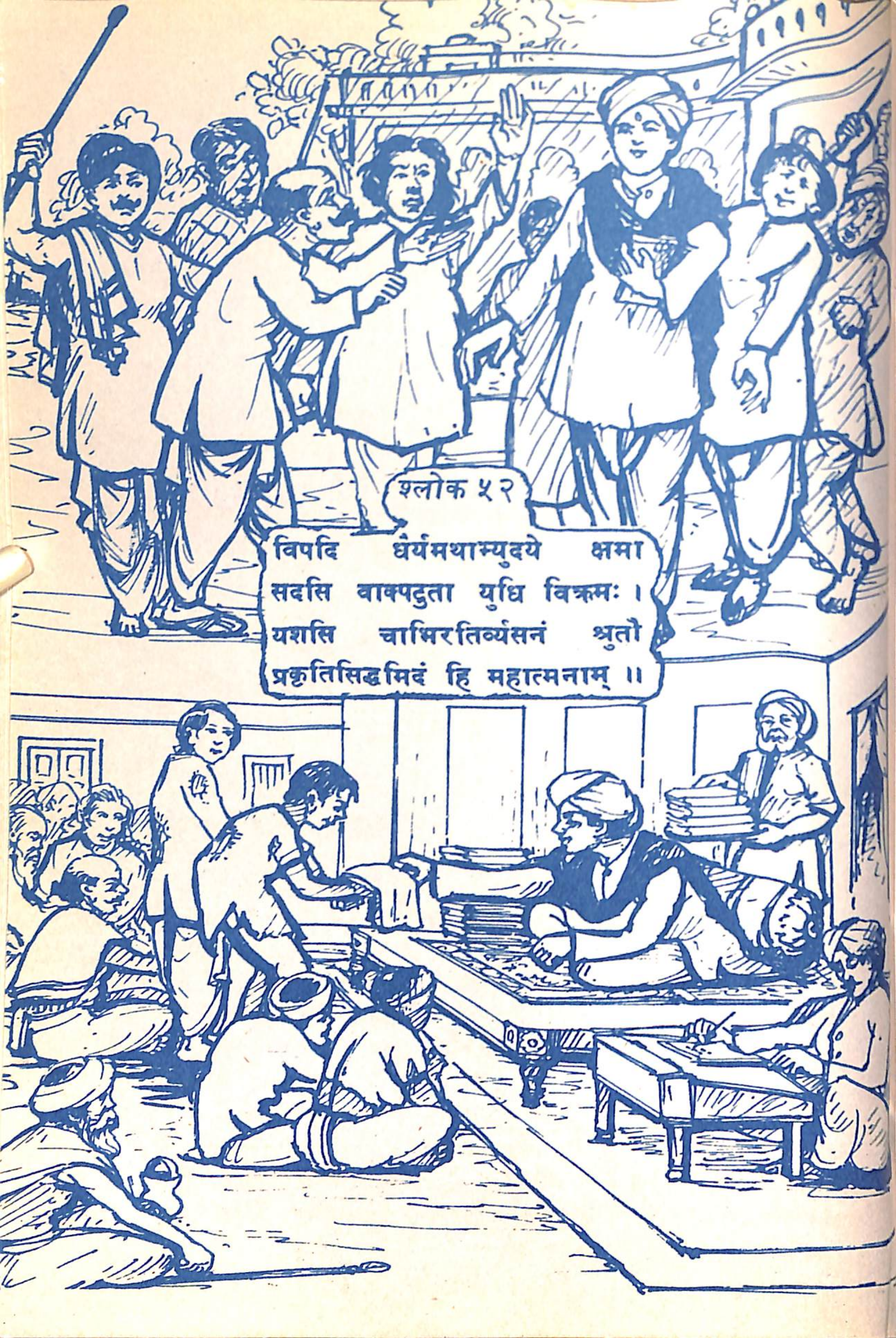

श्लोक ५२

विपदि धैर्यमथाम्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरतिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ।।

सन्तोष करके निर्वाह करने वाले
सज्जनानाम्=सज्जनों के, भले लोगों के
जगति=संसार में
(क्रमेण)
लुब्धक=शिकारी
धीवर=मछेरे (और)
पिशुनाः=पीठ पीछे बुरा कहनेवाले
निष्कारणम् एव=अकारण ही
वैरिणः=बैरी बनते हैं

भावार्थ

पशु जंगल की घास चरकर गुजारा करते हैं, मछलियां पानी पर निर्वाह करती हैं और सज्जन जो कुछ निरापद रूप से प्राप्त होता है उसी पर सन्तोष करके जीवन निर्वाह करते हैं। तीनों ही अपने लिए किसी प्राणी को कष्ट नहीं देते। फिर भी इस संसार में बिना कारण शिकारी जन्तुओं को मारते हैं, धीवर मछलियों पर कांटा फेंकते हैं और बदगोई करनेवाले सज्जनों की बुराई करते फिरते हैं। यह संसार की रीति है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा था कि सज्जनों की मित्रता उत्तरोत्तर बढ़ती है और स्थायी होती है। सज्जन किसी का बुरा करते ही नहीं तो उनके शत्रु क्यों होने लगे ? इस श्लोक में दृष्टान्त देकर बताया गया है कि बिना बुराई किये भी लोग शत्रु बन जाते हैं। हिरन जंगल में रहता है। किसी का प्राण नहीं लेता, घास चरता है। वह घास भी फिर अंकुर देती है कि हिरन फिर चुग सके। हिरन भूलकर भी आबादी में नहीं आता। परन्तु शिकारी अपना घर छोड़कर उसके जंगल में जाते हैं और उस पर तीर-बन्दूक छोड़ते हैं। इसी प्रकार मछली जल में रहती है। जल मछली के साथ और मछली जल के साथ नाचती, उछलती और बहती रहती है। कभी वह पानी से बाहर नहीं आती। भूमि पर रहनेवाले मछेरे जल में जाते हैं। जाल, काँटा फेंकते हैं और बिचारी मछलियों को फांसते हैं। संसार में सज्जनों का भी यही हाल है। वह किसी को बाधा नहीं देते, फिर भी उनके बाधक बहुत होते हैं।

मृग के लिए तृण आहार है और मीन के लिए जल। मगर सज्जन का असली आहार सन्तोष है। उपवास आदि रखने पर भी मनुष्य का स्वास्थ्य गिरने की जगह सुधरता है। सन्तोष में वह शक्ति है कि दूब-घास के अंकुर के समान सदा हरियाता रहता है और जल के समान सदा स्वच्छ बहता रहता है।

चतुर्थ दशक का सारांश

श्लोक ४१—दुष्टता दुर्जन का स्वभाव है।
,, ४२—दुर्जन के गुण भी भयावह होते हैं।
,, ४३—दुर्जन को सज्जन के गुण भी दोष ही लगते हैं।
,, ४४—सज्जन की दुरवस्था खटकती है।
,, ४५—सौजन्यता-विहीन सौन्दर्य व्यर्थ है।
,, ४६—दुर्जन से सहायता लेना भी घातक है।
,, ४७—दुर्जन की सेवा करना भी दुष्कर है।
,, ४८—आज के बने अपने ही भूल जायें।
,, ४९—दुर्जन पहले बढ़े, पर पीछे गिरे।
,, ५०—दुर्जन निरापद पर भी विपदा ढाते हैं।

॥ सुजनपद्धतिः ॥

श्लोक ५१

वाञ्छा सज्जनसंगमे परगुणो प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलै—
रेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो महद्भ्यो नमः॥

शब्द विच्छेद

प्रीतिर्गुरौ=प्रीतिः+गुरौ
रतिर्लोकापवादाद्भयम्=रतिः+लोकः+अपवादात्+भयम्
शक्तिरात्म=शक्तिः+आत्म
खलैरेते=खलैः+एते
गुणास्तेभ्यो=गुणाः+तेभ्यो

शब्दान्वय

सज्जन संगतो वांछा पर गुणे प्रीतिः गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिः लोक अपवादात् भयम्
शूलिनि भक्तिः आत्म दमने शक्तिः खलैः संसर्ग मुक्तिः
एते निर्मल गुणाः येषु वसन्ति तेभ्यः महद्भ्यः नमः ।

शब्दार्थ

सज्जन संगतौ = सज्जनों के साथ उठने-बैठने में
वांछा = इच्छा हो
पर गुणे = दूसरों के सद्गुणों में
प्रीतिः = प्रसन्नता अनुभव कर
गुरौ नम्रता = गुरुजनों के प्रति नम्र होकर रहे
विद्यायां = विद्या सीखने-सिखाने में
व्यसनं = आसक्ति हो
स्वयोषिति = अपनी स्त्री के साथ
रति = रमण करे
लोक अपवादात् = लोगों में बदनामी होने से
भयम् = डरे
शूलिनि = शिवजी में
भक्तिः = भक्ति, श्रद्धा रखे
आत्म दमने = मन और इन्द्रियों को वश में रखने में
शक्तिः = समर्थ हो
खलैः = नीचों की
संसर्ग मुक्तिः = संगत से दूर रहे
एते = ये
निर्मल गुणाः = पवित्र गुण
येषु = जिनमें
वसन्ति = हों, रहते हों,
तेभ्यः = उन
महद्भयः = महापुरुषों को
नमः = प्रणाम है

भावार्थ

सज्जनों के साथ उठना-बैठना, पराये गुणों से प्रेम करना, गुरुजनों तथा बड़ों के प्रति विनम्र रहना, पठन-पाठन में तल्लीन रहना, अपनी पत्नी के साथ रमण करना, लोगों में बदनामी से डरना, भगवान में श्रद्धा रखना, अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखना और नीचों से दूर रहना, मानवमात्र के लिए महान गुण हैं। इन महान गुणों से विभूषित महापुरुषों को प्रणाम ।

विशेषार्थ

पिछले दशक में दुर्जनों के दुर्लक्षण गिनाकर सज्जनों को उनसे दूर रहने की शिक्षा दी गयी थी। इस दशक में सज्जनों के लक्षणों पर चर्चा की गयी है। प्रथम

श्लोक में सज्जनों के साधारण लक्षण बताये गए हैं। सभी लक्षणों का सभी सज्जनों में पाया जाना कठिन है और यदि हों भी तो उनकी परख कठिन है। किन्तु श्लोक में गिनाये गये लक्षणों में से प्रथम तथा अन्तिम लक्षण की पहचान के लिए अधिक छानबीन की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। वह है सज्जनों की संगत करना और दुर्जनों से दूर रहना। यह ऐसे गुण हैं कि सभी लोग देखते हैं और समाज में उसका ढिंढोरा पिट जाता है। सत्संग में सदा वेद-पुराण का कथन-कीर्तन, गुरुभक्ति तथा माता-पिताओं में श्रद्धा, भगवदभजन तथा इन्द्रियनिग्रह आदि की चर्चा रहती है। दुस्संगत से बचने से पर-नारी और पर-धन पर मन नहीं खिंचेगा और फलस्वरूप लोकापवाद से बचे रहेंगे। कुछ चतुर चालाक दोनों नाव में सवार रहते हैं। उधर सत्संग भी करते हैं और इधर धूर्तमण्डली बटोरते भी हैं। जो इस प्रकार दोनों ओर अपने को दिखाने की चेष्टा करता है, वास्तव में धूर्तराज है। अपनी मूर्खता पर परदा डालना चाहता है। साधु-संत भी ऐसे ढोंगी हो सकते हैं, विद्वान धनवान भी ऐसे दुष्ट हो सकते हैं। अत: सौजन्यता की परख सत्संग से इतनी सुदृढ़ नहीं हो सकती जितनी दुस्संगत से दूर रहने पर हो सकती है। वास्तव में दुर्जन न होना ही सज्जन होना है। जब वह सज्जन सिद्ध हुआ तभी उसके सत्संग, पठन-पाठन, श्रद्धा, नम्रता, पति-भक्ति बल्कि पत्नी-भक्ति का प्रथम पाठ आरम्भ होता है। अन्त में इन्द्रियनिग्रह। यह कभी भी किसी बाहरी कसौटी पर कसी नहीं जा सकती। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका मन ही साक्षी है।

उपरोक्त गुणों से विभूषित व्यक्ति को हमने साधारण सज्जन कहा है, क्योंकि इन गुणों से स्वयं उसी व्यक्ति का अधिक लाभ होता है। सज्जन-श्रेणी इसलिए है कि वह दुर्जन नहीं है, दूसरों का अपकार नहीं करती। परन्तु भर्तृहरि ने ऐसे सज्जनों को महापुरुष कह कर प्रणाम किया है। सज्जन से समाज का हित होता है। किन्तु किसी का अहित न करना भी समाज की बहुत बड़ी सेवा है। इसी प्रकार समाज का अहित न करते हुए उससे लाभान्वित होना भी समाज की सेवा है। इसीलिए ऐसे सज्जन वन्दनीय अवश्य हैं।

सोचने का विषय यह है कि क्या साधारणतया मनुष्यों को इस प्रकार वंदनीय बनना कठिन है ? हमने सभी जगह इस श्लोक में वर्जित गुणों के साथ साधारण का शब्द जानबूझ कर जोड़ दिया है। यह कोई असाधारण या कष्टसाध्य नहीं है। सावधानी के साथ अभ्यास करने पर यह सभी गुण सरलतापूर्वक साधे जा सकते हैं। इसमें किसी अलौकिक प्रतिभा अथवा घोर तपस्या की आवश्यकता नहीं है। यह सभी बातें मानव-स्वभाव के अन्दर पायी जाती हैं। जो लोग मानवता से

गिरते हैं या मानव होकर भी पशुवत जीवन व्यतीत करते हैं उन्हीं लोगों में यह गुण लुप्त हो जाते हैं । अच्छी संगत में बैठने, पढ़ने-पढ़ाने, माता-पिता तथा गुरुजनों के प्रति नम्रता दिखाने, सहधर्मिणी से स्नेह रखने, अपवाद से बचने की इच्छा किसमें नहीं होती । जो इनका पालन नहीं करते वह वास्तव में आलस्य तथा निर्लज्जता से अपनी इच्छा के प्रतिकूल आचरण करते हैं । केवल आत्मदमन ही ऐसा है जिसमें साधना करनी पड़ती है, परन्तु उपरोक्त सभी बातों का ध्यान रखने पर यह अन्तिम गुण आप-ही-आप विकसित होने लगता है ।

श्लोक ५२

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरतिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ।।

शब्द विच्छेद

धैर्यमथाभ्युदये = धैर्यं + अथ + अभ्युदये
चाभिरतिर्व्यसनं = च + अभिरतिः + व्यसनं
सिद्धिमिदं = सिद्धम् + इदम्

शब्दान्वय

महात्मनाम् विपदि धैर्यं अथ अभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः
यशसि अभिरतिः च श्रुतौ व्यसनं
इदम् प्रकृति सिद्धम् हि ।

शब्दार्थ

महात्मनाम् = महान आत्माओं में
विपदि = कष्ट-काल में
धैर्यं = हिम्मत न हारना
अथ = और
अभ्युदये = सम्पत्काल में
क्षमा = सहनशीलता
सदसि = सभाओं में
वाक्पटुता = अपनी बात सिद्ध करना
युधि विक्रम: = रणभूमि में पराक्रम दिखाना
यशसि = जस, नाम पाने की
अभिरुचि: = कामना करना
श्रुतौ = शास्त्रों में
व्यसनं = लवलीन होना
इदम हि = यह सब (गुण)
प्रकृति हि = स्वभाव से ही
सिद्धम् = पाये जाते हैं

भावार्थ

महापुरुषों का जम्मजात स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह विपत्तियों में घिर कर घबराते नहीं। जब सम्पत्तिवान बनते हैं तो घमंड नहीं करते। सभाओं में वाद-विवाद हो तो ज्ञान तथा तर्क से अपनी बात सिद्ध करते हैं। रण-भूमि में शत्रु का सामना हो तो पराक्रम दिखाते हैं और सदा शास्त्रों का अनुकरण तथा अनुशीलन करते रहते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में साधारण सज्जनों का वर्णन था। इस श्लोक में उनसे उच्चकोटि के सज्जनों का वर्णन है। साधारण परिस्थितियों के बीच वे सौजन्यता बरतते ही हैं और विशेष परिस्थितियों में भी वे अपने विशेष गुणों का प्रमाण देते हैं। यही उनकी विशिष्टता है। इसीलिए इन्हें महात्मा कहा गया है। साधारणतया साधु-सन्त को ही महात्मा कहा जाता है। परन्तु भर्तृहरि ने बता दिया कि किस प्रकार के लोगों की आत्मा महान होती है। महान आत्मा की परख की छः परिस्थितियाँ और उन परिस्थितियों में उनकी मन:स्थिति और आचरण-विधि सूचित की गयी है। परन्तु इन छः परिस्थितियों का विश्लेषण करें तो मूलत: तीन ही निकलती हैं। इसी प्रकार मनोस्थिति भी तीन ही प्रकार की होती हैं। विपदा और संपदा एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। इसी प्रकार धीरज और क्षमा भी एक ही चीज के दो रूप हैं। इसी प्रकार श्लोक के दूसरे चरण में युद्ध की परिस्थिति है। एक शास्त्र-युद्ध है और दूसरा शस्त्र-युद्ध। चाहे कोई युद्ध

हो उसमें विजयी होने के लिए आत्मविश्वास ही प्रधान होता है। तीसरे चरण की यश की कामना और शास्त्र-व्यसन भी एक-दूसरे पर बहुत कुछ निर्भर करती हैं। यश को भी शास्त्र-सम्मत होना चाहिए। विज्ञानशास्त्र भी इसमें आ सकते हैं।

पिछले श्लोक में साधारण सज्जनों और इस श्लोक में विशिष्ट सज्जनों अथवा महान आत्माओं का अन्तर स्पष्ट किया गया है। सज्जन होते हुए भी विपदायें आ पड़ने पर सौजन्यता न छोड़े एवं धीरज न खो बैठे। सम्पदा प्राप्त होने पर हिंसक न बने पर सहनशीलता का अभाव या न्यूनता हो सकती है, सत्यवादी हो सकते हैं, पर आपत्काल में असत्य को वांछनीय समझ सकते हैं। सज्जन होते हुए भी मरने-मारने के साहस से वंचित हो सकते हैं, यश की कामना रखते हुए अपयश के सामने भीरु बन सकते है, शास्त्रों का आदर-सम्मान कर सकते हैं, पर आचरण से उनकी मर्यादा स्थापित करने की शक्ति उनमें न रहे। साधारण सज्जन जो आ पड़े उसे चुपचाप भोगते हैं और इस विशिष्ट श्रेणी के लोग साहस से उनका सामना करते हैं और असाध्य को साधते हैं। इसीलिए ये महान हैं।

श्लोक ५३

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतं च श्रवणयो-
र्विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ।।

शब्द विच्छेद

श्लाघ्यस्त्यागः=श्लाघ्यः+त्यागः
भुजयोर्वीर्यमतुलं=भुजयोः+वीर्यम्+अतुलम्
श्रुतमधिगतं=श्रुतम्+अधिगतम्

श्रवयणयोर्विनाप्यैश्वर्येण = श्रवणयोः + बिना + अपि + ऐश्वर्येण
मण्डनमिदम् == मण्डनम् + इदम्

शब्दान्वय

प्रकृति महतां विना ऐश्वर्येण अपि करे श्लाघ्यः त्यागः इदम् मण्डनम् शिरसि गुरु पाद प्रणयिता मण्डनम्, मुखे सत्यावाणी मण्डनम्, भुजयोः विजयि अतुलं वीर्यं मण्डनम्, हृदि स्वच्छा वृत्तिः मण्डनम्, श्रवण्योः अधिगत श्रुतं मण्डनम्।

शब्दार्थ

प्रकृति महतां = स्वभाव से ही जो महान हैं, उन्हें
विना ऐश्वर्येण अपि = बिना धन-संपत्ति के ही
करे == हाथों में
श्लाघ्यः = प्रशंसनीय
त्यागः = दान त्याग (जो होता है)
इदम् मण्डनम् = यही हाथों का आभूषण है
शिरसि = सिर पर
गुरु पाद = गुरुजनों के चरणों में
प्रणयिता = प्रणाम ही
मण्डनम् = आभूषण है
मुखे = मुँह में
सत्या वाणी = सच्ची बात
मण्डनम् = आभूषण है
भुजयोः = बाँहों में
विजयि = जीतने वाला
अतुलं = बेजोड़
वीर्यं = बल ही
मण्डनम् = आभूषण है
हृदि = दिल में
स्वच्छा = पवित्र
वृत्तिः = विचारधारा ही
मण्डनम् = आभूषण है
श्रवणयोः = कानों में
अधिगत = पारंगत, पूर्ण
श्रुतं == शास्त्रों का ज्ञान हो
इदं मण्डनं = यही (उनके) आभूषण हैं।

भावार्थ

जिनका स्वभाव महान होता है वह बिना धन के ही शोभायमान रहते हैं। जो कुछ उनके पास है उसे वह दिल खोलकर जरूरतमन्दों को दे डालते हैं। यही उनके हाथों की शोभा है। उनके सिर नम्रतापूर्वक गुरुजनों के चरणों में झुके रहते हैं। यही उनके सिरों की शोभा है। मुँह से सच्ची बात बोलते हैं, यही उनके मुख की शोभा है। उनकी बाँहों में जो बेजोड़ शक्ति है वही उनकी भुजाओं की

शोभा है। पवित्र मन और विचार ही उनके हृदय की शोभा हैं। उनके कान सदा शास्त्रीय श्रवण में लगे रहते हैं और यही कानों की शोभा है। इस प्रकार उन महापुरुषों का सारा शरीर सदा देदीप्यमान रहता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में संयोग से सम्पन्न बने हुए कुछ निकृष्ट व्यक्तियों के दोष गिनाये गये थे। इस श्लोक में 'प्रकृति महताम्' अर्थात् उनके बारे में बताया गया है जो स्वभाव के सज्जन और जन्म के सम्पन्न हैं। सज्जन बनने पर सम्पन्न व्यक्ति सम्पन्न बने रह सकते हैं और संयोग से निर्धन भी बन सकते हैं। सम्पत्ति जाय पर ऐसे व्यक्तियों की सौजन्यता जा नहीं सकती। धन नहीं रहा, इसलिए अब वहाँ दान-दक्षिणा भी नहीं है। फिर भी उनका द्वार सबके लिए सदा खुला रहता है। बेखटके कोई भीतर जाये बाहर आए। पहले धन से सहायता करते थे, अब हाथ से सेवा करते हैं। सिर पर पुराना शिरस्त्राण नहीं है, पर वह अब भी नम्रता से शोभायमान हैं। उनका विनय धन होने पर भी था और धन न होने पर भी है। बोली उनकी पहले भी कर्कश नहीं थी अब भी उसमें चिड़चिड़ापन नहीं है। सच बोलते हैं। साधारणतया लोग अपने को स्पष्टवादी घोषित करते हुए दिल दुखाने की बात कहते हैं। सत्य वचन में यदि सहायता का अंश न हो तो वह असत्य आवरण ग्रहण करता है। सत्य में सहानुभूति सम्मिलित है। पीड़ित को बचाने के लिए उसके पास लाव-लश्कर नहीं है, पर स्वयं उसकी भुजाओं में शक्ति और मनोबल उसका साथी है। वह स्वयं पीड़ा निवारण के लिए उठेगा।

श्लोक 'त्याग' शब्द से आरम्भ होता है। महापुरुष का जीवन आदि से अन्त तक त्यागमय है। देना मात्र वे अपना कर्त्तव्य मानते हैं। देते हैं और भरपूर देते हैं। भरसक या शक्तिभर का अर्थ उनके लिए सारा धन, साधन देने के बाद शरीर में रंच-भर शक्ति रहने तक परोपकार करना और अन्त में उसी में शरीर त्यागना भी शामिल है। उस सीमा तक यदि वह न कर सके तो उसके लिए मन में शर्मिंदा होते हैं। यह उनके लिए कोई बनावटी बात नहीं है। जहाँ बनावट नहीं वहीं सचाई है। सच्चाई के साथ दिल की सफाई रहेगी ही। वह सदा अच्छी बात सुनेगा अच्छी बात कहेगा और अच्छा काम करेगा। वहाँ सब अच्छाई ही अच्छाई होगी। परिणामस्वरूप वहाँ का वातावरण प्रशान्त तथा प्रेरणादायक होगा।

श्लोक ५४

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषान् ।
तृष्णास्रोतोविभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ।।

शब्द-विच्छेद

प्राणाघातान्निवृत्तिः = प्राण + आघातात् + निवृत्तिः
सर्वभूतानुकम्पा = सर्वभूत + अनुकम्पा,
शास्त्रेष्वनुपहत = शास्त्रेषु + अन् + उपहत
श्रेयसामेष = श्रेयसाम् + एष

शब्दान्वय

प्राण आघातात् निवृत्तिः, परधन हरणे संयमः, सत्य वाक्यं,
काले शक्त्या प्रदानं, परेषाम् युवतिजन कथा मूक भावः,
तृष्णा स्रोतः विभंगः, गुरुषु विनयः, सर्वभूत अनुकम्पा,
सर्वशास्त्रेषु अनुपहत सामान्यं विधिः, ऐष श्रेयसाम् पन्थाः ।

शब्दार्थ

प्राण आघातात् = जीव हिंसा से
निवृत्तिः = मन को हटाना
परधन = परधन को
हरणे = हड़पने में
संयमः = अपने को रोकना
सत्य वाक्यं = सच बोलना

तृष्णा = लोभ के
स्रोतः = झरने को
विभंगः = तोड़ देना, बंद कर देना
गुरुषः = गुरुजनों के प्रति
विनय = नम्रता दिखाना
सर्वभूतः = सभी प्राणियों के साथ

काले = समय पर
शक्त्या = भरसक
प्रदानं = दान देना
परेषाम् = परायी
युवतिजन = स्त्रियों की
कथा = बातों में
मूक भावः = चुप हो जाना
तृष्णा = लालच के

अनुकम्पा = सहानुभूति रखना
सर्वशास्त्रेषु = सभी शास्त्रों, मत मतांतरों में
अनुपहत = हिचक के बिना
सामान्यं = समान
विधिः = बर्तावा करना
एष = ये
श्रेयसाम् = श्रेय, परमार्थ के
पन्थाः = मार्ग हैं

भावार्थ

जीव हिंसा न करना, पराया धन न हड़पना, सदा सच बोलना, दूसरों की भरसक सहायता करना, परायी स्त्रियों के सम्बन्ध में चुप्पी साधना, लालच को मारना, गुरुजनों के सामने विनम्र रहना, सब जीवधारियों से सहानुभूति रखना और सब शास्त्रों तथा धर्मों के साथ समभाव रखना, यह सब परमार्थ के मार्ग हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि मनुष्य अपना कुछ देकर धन दौलत और आवश्यकता पड़े तो प्राण भी देकर—सुशोभित रह सकता है। यह शंका होती है कि सब कुछ दूसरों को दे दिवाकर 'नंगा भाई चंगा' हो जाय तो अपना क्या होगा! एक श्लोक को पढ़ते हुए दूसरे श्लोकों को भूलना न चाहिए। श्लोक (५२) में 'अभ्युदय' के लिए प्रयास की आवश्यकता को मान लिया गया है। अपने लिए कमाते हैं तो दूसरों के लिए खर्च करना भी सीखें। कमाई न हो तब भी खर्च करने में वास्तव में अपने से अधिक दूसरों के सुख का अधिक ध्यान रखना होता है और दूसरों के कष्ट के निवारण के लिए स्वयं दुःख सहने पड़ते हैं। शरीर को दुःख होता जरूर है, पर उससे बढ़कर दूसरों को सुखी देखकर मन को को सुख मिलता है। सुख दो प्रकार का हुआ—एक अपने सुख से सुखी मानना, दूसरा, दूसरों के सुख में आप सुखी अनुभव करना। इसी को शास्त्रीय भाषा में प्रेय और श्रेय कहा गया है। प्रेय के माने जो अपने शरीर को प्रिय लगे। और श्रेय के माने जो आत्मा को प्रिय लगे। शरीर इसी जीवन के साथ है और आत्मा इस जीवन से परे भी है। दूसरों को जो सुख पहुँचाया जाता है, वह इसी शरीर से दूसरे शरीर को सुख पहुँचाना ही तो है। इस शरीर को कष्ट देकर उस

शरीर को सुख देते ही इस शरीर के अन्दरवाली आत्मा तृप्त होती है। शरीर नाशवान है और आत्मा अनादि और अनंत है। अतः उस अनंत आत्मा का सुख भी अनंत होगा और यही श्रेय है। हम स्वयं देखते हैं कि श्रेय पारमार्थिक वस्तु होते हुए भी इसी जीवन में और इसी समय उस परमार्थ की प्राप्ति होती है जिसके लिए हजारों जन्म लेने और घोर तपस्याएं करनी पड़ती हैं। प्रस्तुत श्लोक में इसी परम श्रेय की अनुभूति का आश्वासन दिलाया गया है। जो व्यक्ति इस खुले रहस्य को हृदयंगम कर लेगा, वह कभी नहीं समझेगा कि उसे दुःख हुआ या उसकी सुख-सामग्री चली गयी। किसी साधु-संत को तीन-तीन दिन भूखे रहने के बाद किसी भक्त ने खाना ला दिया, इतने में कोई आकर कहता है — भूखा हूँ, या एक कुत्ता सामने आकर दुम हिलाने लगता है, वह सत पुरुष उस भूखे मनुष्य का निरादर न करने और उस कुत्ते के प्रेम का समादर करने के लिए खाना उन्हें खिला देता है और आप भी कुछ खा लेता है या यों ही सो रहता है और मीठी नींद सोता है। श्रेय में ही वह शक्ति है और ऐसा सुख है। यह बातें कहने-सुनने में समझ में नहीं आतीं। ये स्वयं करके अनुभव करने की बाते हैं।

परन्तु इस श्लोक में इतने घोर त्याग को ही श्रेय नहीं कहा गया है। श्रेय का भी सरल मार्ग सुझाया गया है। वह मार्ग साधारण व्यक्ति के लिए भी असाध्य नहीं है। पहला शब्द लीजिए—प्राणाघात न करो। इसका सीधा मतलब है अपना पेट भरने के लिए दूसरे के प्राण न लो। अनादि काल में लोग नरमांस खाते थे। बाद में पशुपक्षी का भक्षण करने लगे, फिर नाज और शाकफल। श्लोक में बस शाकाहारी बनने की बात कही गयी है और इसे भी श्रेय का एक मार्ग बताया गया है। बताओ कौन कठिन मार्ग है श्रेय का और इस श्रेय की प्राप्ति के लिए कौन जन्म-जन्मांतर की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अब दूसरा शब्द 'परधन हरण'। जिस प्रकार अपना पेट भरने के लिए दूसरे का प्राण न लो, उसी प्रकार अपना घर भरने के लिए दूसरे का घर न लूटो। आप स्वयं परिश्रम करके धनोपार्जन करने की बात मात्र कही गयी है। इसके बाद 'सत्य' वाक्य आता है। यहाँ सत्य की परिभाषा में न पड़कर केवल इतना ही देखें कि सत्य का प्रयोग किस संदर्भ में हुआ है। संदर्भ है यहाँ धनोपार्जन का। धन कमाने में झूठ न बोलो। पराये धन को हड़पने में झूठ बोलना ही पड़ता है। जब परधन की मनाही है तब यह 'सत्य' स्वार्जन के लिए ही आना चाहिए। उदाहरण के लिए किसी वस्तु की लागत मानो एक रुपया है। फुटकर में एक आना रुपया मुनाफा लो तो कोई आपत्ति नहीं करेगा। परन्तु उसी का सवा रुपया लागत बताकर फिर एक आना मुनाफा लिया तो यह असत्य हुआ।

यहां पर सत्य वाक्य का सम्बन्ध केवल कमाई से ही नहीं है, खर्च से भी है। आगे ही कहा है 'शक्या प्रदानं'। आपके पास कोई हाजतमंद आगया। आपकी जेब में पैसे हैं। किन्तु आप कह देते हैं कुछ नहीं। यह झूठ है। शक्ति भर दो। सब मत दो, पर शक्तिवंचना न करो। भरसक सहायता करना भी श्रेय में है। क्या यह किसीके लिए अशक्य है ? इसी प्रकार जैसे पराया धन वैसी परायी स्त्री, जैसे अर्थी को देना वैसे गुरु-चरणों में अपना सबकुछ अर्पित करना। प्राणाघात का जहां निषेध किया गया वहीं 'सर्वभूतानुकम्पा' की बात कही गयी है। परन्तु लोगों से, सज्जनों से भी इस सर्वभूतानुकम्पा के सम्बन्ध में बड़ी भूल होती है। अपनी बिरादरी की सेवा में दूसरे बिरादरों से मुठभेड़ भी लेते हैं। द्वेष का प्रचार करते हैं। खूले रूप में न भी करें तो दूसरे बिरादरी के विरुद्ध विद्वेष होता ही है। ब्राह्मण सभा, क्षत्रिय सभा, वैश्य समाज, क्रिस्तान, मुसलमान, सिख, पारसी सभी भिन्न-भिन्न संगठनों के पीछे यही मनोवृत्ति काम करती है। इसीलिए आगे सर्वशास्त्र समानता का उपदेश है।

इस प्रकार श्रेय मार्ग के जो कई एक मार्ग यहां गिनाये गये हैं, वह सब परस्पर ऐसे गुंथे हुए हैं कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। सब का सूक्ष्म विश्लेषण करना सबके लिए असम्भव है। सब असम्भव हो, पर एकाध तो सम्भव है। उपरोक्त गुणों में से केवल एक को साधो और उसी एक को साधो जो आपको सबसे अच्छा और सरल जंचे। शेष अपने-आप सध जायेंगे। आपको उनके लिए चिंता या विशेष प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

श्लोक ५५

सम्पत्सु महतां चित्त भवत्युत्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम्॥

शब्द विच्छेद

भवत्युत्पल = भवति + उत्पल

शब्दान्वय

महतां चित्तं सम्पत्सु उत्पल कोमलम् भवति,
च आपत्सु महाशैल शिला संघात कर्कशम् (भवति)।

शब्दार्थ

महतां चित्तं = महान पुरुषों का मन
सम्पत्सु = समृद्धि के समय
उत्पल कोमलम् = कमल के समान कोमल
भवति = होता है
च = और
आपत्सु = विपत्ति में, विपदाओं में घिर जाने पर
महाशैल = एक बड़े पहाड़ के
शिला संघात = चट्टानों के समूह के (समान)
कर्कशम् (भवति) = कठोर हो जाता है

भावार्थ

महापुरुषों का मन सर्ववस्तु-सम्पन्न होने पर कमल की भांति अति कोमल हो जाता है और संकटापन्न होने पर पहाड़ की चट्टान की तरह दृढ़ और कठोर हो जाता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि धनी सम्पन्न होने पर वह सबसे सहानुभूति दिखावें और दिल खोलकर दूसरों की सहायता करें और उनका दुःख दूर करें। परन्तु ऐसा भी तो होता है कि उनकी इस दिलखोल नीति के कारण वह धनी से दरिद्र बन जाते हैं और उन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। प्रश्न उठता है वह इन कष्टों से कैसे निपटते हैं ? क्या वे समृद्धि के समय अपनी धन-सम्पत्ति भविष्य के भय से छिपा रखते हैं ? या, क्या विपदाग्रस्त होने पर दूसरों के सामने दीनता से हाथ पसारते हैं ? क्या उन्हीं लोगों की सहानुभूति प्राप्त करते हैं जिन्हें ऐसे ही आपत्काल में खुद उन्होंने सहायता की थी ? नहीं। उनकी महानता इनमें से किसी को स्वीकार नहीं करती। सम्पत्काल में यदि वह आगे के लिए निकाल रखने की चेष्टा करते तो उन्हें दूसरों की ओर ध्यान देने का अवसर ही न मिलता। दूसरों के कष्टों को देखकर उनका हृदय कभी न पसीजता। अर्थात् वह कठोर हृदय बनते। इस कठोरता के साथ-साथ उनमें एक प्रकार की दुर्बलता भी आ जाती कि आगे कष्ट-काल में संभलने का शायद साहस न रहे, यह भय उन्हें लगा रहता। आत्म-विश्वास ही खो बैठते। तब वह महान कैसे बन पाते ? इसी प्रकार यदि कष्ट-काल में दूसरों का सहारा ढूंढ़ने तक भी वह महान कहाने के अधिकारी न रहते। महान का स्वभाव ही विचित्र होता है। उसमें वैचित्रताओं तथा वैपरीत्यों का ऐसा सम्मिश्रण होता है कि क्या है या क्या नहीं है, कहना

कठिन है। श्लोक में कमल और शिला की उपमा देकर कठिनतम तथा कठोरतम के बीच की सभी अवस्थाओं को घेर लिया गया। इस परिधि का आदि-अंत नहीं है। इसीलिए वह महान है।

इसके विपरीत तुच्छ व्यक्तियों की दशा एकदम उलटी होती है। सम्पन्न बने तो मदोन्मत्त हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि सारा मानव-समाज उनके सामने मच्छरों का झुण्ड मात्र है। वे दूसरों की सहायता क्या करते हैं। कहते हैं हमारी तरह पुरुषार्थ करो, वे पुरुषार्थ करते हैं कि दौर्जन्य, दुनिया जानती है। फिर अपने को इतने बड़े पुरुषार्थी मानकर भी दूसरों की सहायता करने में असमर्थ बताते हैं। यह कौन पुरुषार्थ है ? यह भी कहते हैं कि क्या ऐरे-गैरे निकम्मों को दे-दिलाकर हम भिखारी बनें ? कल क्या होंगे, पता नहीं, पर सब-कुछ होते हुए वे आज ही भिखारी की टोकरी ओढ़े ले रहे हैं। आन पड़े तो हम फिर कमा लेंगे, यह आत्मविश्वास उनमें नहीं होता। आगे होने वाली संतान के नाम पर दया रखनेवाले अपने बच्चों को इतने निकम्मे मानकर चलते हैं कि वह अपने पैरों पर खड़े होने लायक कभी न बन सकेंगे। यह हीनता के लक्षण हैं, महानता के नहीं।

श्लोक ५६

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसकुरं
त्वसन्तो नाभ्यर्थाः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ।
विपद्युच्चैः स्थैर्यं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥

शब्द विच्छेद

वृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकरं = वृत्तिः + मलिनम् + असुभंगे + अपि + असुकरं
त्वसन्तो = तु + असन्तः
नाभ्यर्थाः = न + अभ्यर्थाः
सुहृदपि = सुहृत् + अपि
विपद्युच्चैः = विपदि + उच्चैः
पदमनुविधेयं = पदम् + अनुविधेयं
केनोद्दिष्टं = केन + उद्दिष्टं
विषममसिधाराव्रतमिदम् = विषमम् + असिधाराव्रतम् + इदम्

शब्दान्वय

न्याय्यावृत्तिः प्रिया, असुभंगे अपि मलिनम् असुकरम्
असन्तः तु न अभ्यर्थाः, सुहृत् अपि कृश धनः न याच्यः
विपदि उच्चैः स्थैर्यं, च महताम् अनुविधेयं पदम्
सतां इदम् विषमम् असिधारा व्रतं केन उद्दिष्टम्।

शब्दार्थ

न्याय्या वृत्तिः = न्याय मार्ग
प्रिया = प्रिय है
असुभंगे अपि = प्राण जाने पर भी
मलिनम् = बुराई, बुरे काम
असुकरं = करते नहीं
असन्तः = दुर्जनों के (से)
न अभ्यर्थाः = शरण में नहीं जाते, नहीं मांगते
सुहृत् अपि = मित्रों से भी
कृशधनः = धनहीन होने पर
न याच्यः = नहीं मांगते
विपदि = विपदाओं में
उच्चैः = ऊंची, अच्छी
स्थैर्यं = स्थिरता, धीरता (दिखाते हैं)
महताम् = बड़ों, महान
अनुविधेयं = आत्माओं के अनुकूल
पदम् = मार्ग पर चलते हैं
सतां = सत्पुरुषों के लिए
इदम् = यह
विषमम् = कठोर
असिधारा व्रतं = तलवार की धार पर चलने का व्रत
केन = किसने
उद्दिष्टम् = सिखाया है ! किस लिए है !

भावार्थ

सत्पुरुषों को न्याय मार्ग ही सदा प्रिय है, जान पर भी आ बने तब भी वह बुराई पर उतारू नहीं होते, दुर्जनों से किसी प्रकार की प्रार्थना नहीं करते, हीन दशा को प्राप्त होने पर मित्रों से भी कुछ मांगते नहीं, विपदाओं में घिर जाने पर धीरतापूर्वक डटे रहते हैं, और सदा बड़ों के चरणों में विनम्र बने रहते हैं, और महापुरुषों का अनुकरण करते हैं। इस प्रकार तलवार की धार पर चलने का व्रत उन्हें किसने सिखाया है ?

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया है कि महापुरुषों का मन अत्यन्त कोमल होते हुए भी कष्टकाल में वह शिला के समान अत्यन्त कठोर हो जाते हैं। इस श्लोक में उनके कठोर आचरण के उदाहरण दिये गये हैं। ज्ञात रहे कि पिछले श्लोक में मन

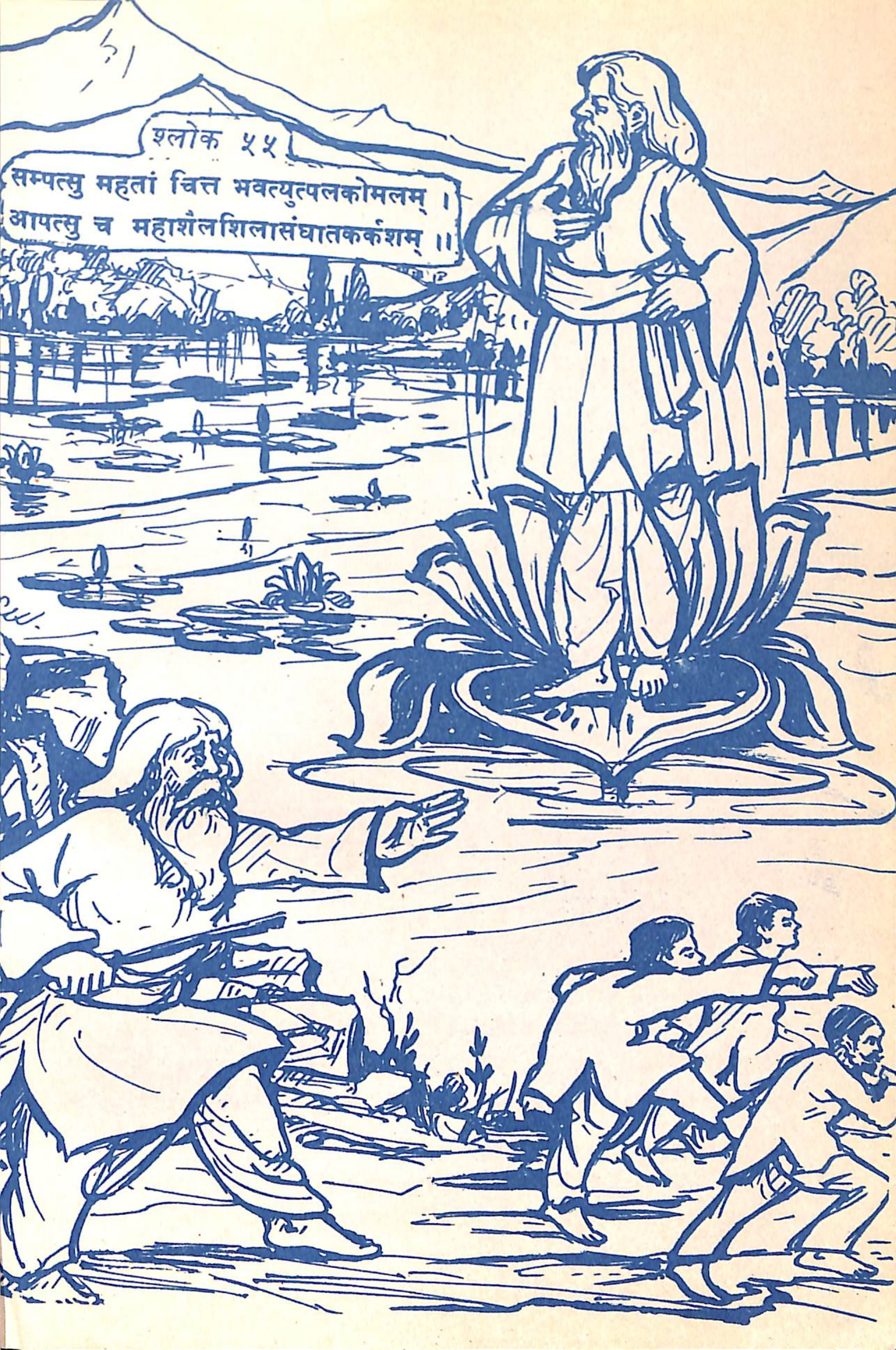

श्लोक ५५

सम्पत्सु महतां चित्त भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥

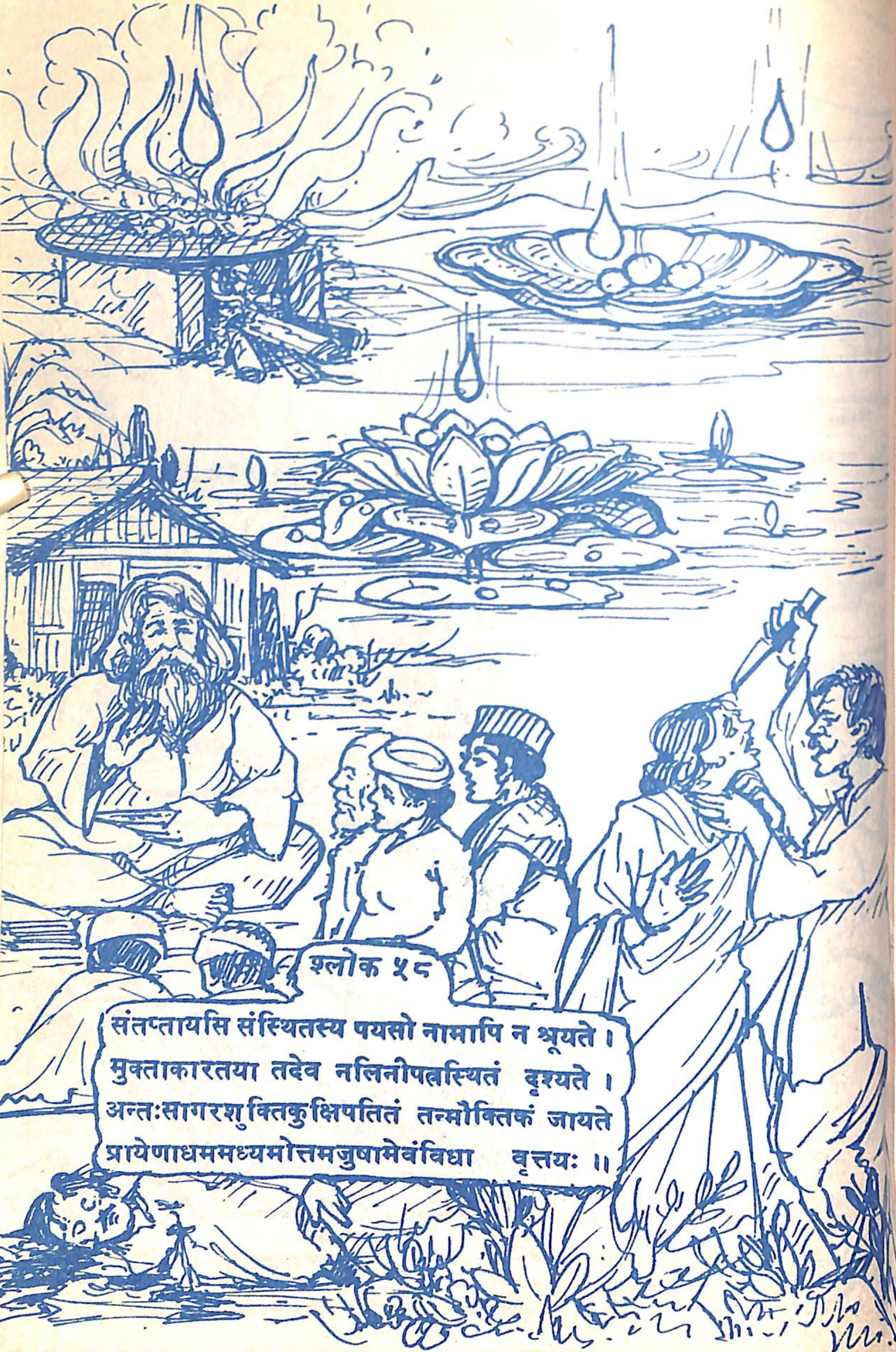

श्लोक ५८

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न श्रूयते ।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं दृश्यते ।
अन्तःसागरशुक्तिकुक्षिपतितं तन्मौक्तिकं जायते
प्रायेणाधममध्यमोत्तमजुषामेवंविधा वृत्तयः ।।

की स्थिति अथवा विचार-शैली का वर्णन था और इस श्लोक में आचरण का वर्णन है। अर्थात् विचार तथा आचरण की एकरूपता। इस आचरण को व्रत कहा है। व्रत भी महाकठोर व्रत—तलवार की धारा का व्रत। यह असिधारा व्रत क्या चीज है ? और क्या उपरोक्त आचरण सचमुच असिधारा व्रत है। यह श्लोक भी प्रश्नात्मक है कि इस घोर व्रत का उपदेश उन्हें किसने दिया ? इसी प्रश्न के अन्तर्गत एक प्रश्न और भी है कि इस कठोर व्रत पर दृढ़ रहने की शक्ति उन्हें कहाँ से मिली ? एक-एक बात पर विचार कीजिए।

असिधारा व्रत—असि=तलवार, धारा=धार अर्थात् तलवार की धार और यह 'व्रत' है यानी कभी व्रत का उल्लंघन नहीं होता। व्रत टूटता नहीं। कहा जाता है कि गृहस्थ धर्म में रहते हुए पति-पत्नी इस व्रत को लेते हैं। पति-पत्नी एक ही बिस्तर पर लेटते हैं, पर बीच में एक नंगी तलवार रखते हैं। दुधारी तलवार हो सकती है। एक धार पुरुष की ओर और दूसरी धार स्त्री की ओर रहती है। रात-भर उस धार को पार कर परस्पर स्पर्श नहीं करते। तलवार कुछ करे या न करे, पर यह व्रत खुद कितना घोर व्रत है। पति-पत्नी पास-पास लेटते हैं और मिलते नहीं। मन को कितना कठोर करना पड़ता है, यह करने पर ही जाना जा सकता है। तलवार भले रखें। व्रत को तलवार-रूप सिर पर टाँगे रखना, गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन करना अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्याश्रम से अधिक कठोर है। ब्रह्मचर्याश्रम इकधारी तलवार है, पर विवाहित पति-पत्नी का ब्रह्मचर्य, वह भी एक बिस्तर पर दुधारी तलवार है। उससे भी बढ़कर है। अतिक्रम, आक्रमण किसी भी ओर से हो सकता है। आक्रमण पर प्रत्याक्रमण न हो, तभी व्रत पूरण होता है।

असिधारा व्रत को तलवार की धार पर चलना भी कहते हैं। तलवार की धार पर चला कैसे जायेगा ! धार पर पैर रखें तो शरीर का डेढ़-दो मन वजन उसे दबा देगा। तलवार की तेज धार तलुओं में धँसेगी और हड्डी तक की खबर लेगी। पैर तलवार से अलग न हो सकेंगे तन-मन में तनाव होगा और पग-पग आगे बढ़ना भी होगा। जीवन-भर यह क्रम चलता ही रहेगा। पति-पत्नी की परीक्षा केवल शय्या पर क्षण-भर नहीं जीवन-भर परीक्षा है। दिन-भर काम-काज में चूर शरीर बिस्तर पर पड़ते ही बेसुध भी हो सकते हैं। परन्तु उपरोक्त नियमों को व्रत के रूप में आचरण में लानेवालों को दिन के चौबीस घण्टे, और घण्टे के एक-एक मिनट यही करना है और जीवन-भर करते रहना है।

क्या श्लोक में वर्णित न्यायप्रियता, दुर्जन को सिर न झुकाना, मित्र से न माँगना, विपदा में धीरज दिखाना, जान का जोखिम हो पर जीते-जी कुपथ न चलना

और साथ ही सदा बड़ों की बात रखना, यस सब 'असिधारा व्रत' के समकक्ष हैं ? क्या पति-पत्नी के बीच में तलवार रखकर सोने के समान है ? यह तो तलवार से तलुए छिलने के बराबर है ? इन दोनों उदाहरणों में सामने एक विरोधी शक्ति भी क्रियाशील रहती है । सपाट तलुए में तलवार की तेज धार धसती है । पति-पत्नी को अलग रहते हुए भी आलिंगन की आकांक्षा एक-दूसरे को आकृष्ट करती है। उपरोक्त व्रतों पर आचरण करना ठीक ऐसा ही है ।न्याय में एक पक्ष सदा अपने पर अन्याय मानेगा, दुष्ट के वशीभूत न होने पर वह सदा शत्रुवत् व्यवहार करेगा, थोड़ा-सा मन को मना लें तो प्राण बचेंगे, थोड़ी-सी याचना से मान बच सकता है, धैर्य दिखाने से दुःख अधिक हो सकता है और अन्त में क्या पता अपने हीबड़े बुजुर्गों से आमना-सामना हो जाय, इस न्याय के पालन में । तब दोनों को निभाना कितना कठिन है ? यह सब तलवार की धार पर चलना नहीं तो और क्या है ?

सत्पुरुष चलते हैं और तलवार की धार पर ही चलते हैं । कैसे चलते हैं ? वही समझ सकते हैं जो चलते हैं । देखनेवाले बस तमाशाई हैं । बहुत हुआ तो समझेंगे जादू है । कुछ कहेंगे धोखा है । पर तलवार की चाल से इनकार किसी को न होगा । तो छोड़ दो इन तमाशाइयों को जो अधिक-से-अधिक बाहरी आचरण को देखेंगे, पर मन को टोह न सकेंगे ।

परन्तु योगिराज भर्तृहरि भी चकित रह जाते हैं कि यह चमत्कार इन सत्पुरुषों को किसने सिखाया ? मानो वह स्वयं अपने को इसी घोर व्रत का अनधिकारी और असमर्थ मानते हैं । भोगी रह चुके हैं, योगी भी हैं, तब भी वह आश्चर्यचकित हैं ? क्यों ? यों कि वह जानते हैं कि जनसाधारण में भी ऐसे सत्पुरुष सैकड़ों देखने में आते हैं । इन सैकड़ों-हजारों सन्तजनों को जनसाधारण में वही देख सकता है जो भर्तृहरि-जैसी योग-दृष्टि रखता है । वरना हम सब तो न जाने अपने दैनिक जीवन में कितने ऐसे सन्तजनों को अनदेखे आगे बढ़ जाते हैं । आखिर उन्हें किसने सिखाया ? योगिराज भर्तृहरि अपने को असमर्थ मानते हैं । महापुरुष की यही तो निशानी है । अन्तिम समाधान यही है कि साधक के लिए स्वयं उसकी आतमा ही उसका गुरु है, स्वभाव से या साधना से अनायास उसके चरण उस अलौकिक आचरण के अनुगामी हो जाते हैं ।

श्लोक ५७

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ।
अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ।।

शब्द विच्छेद

गृहमुपगते = गृहम् + उपगते
चयुपकृतेः = च + अपि + उपकृते
अनुत्सेको = अनु + उत्सेकः
निराभिभव = निः + अभिभव
केनोद्दिष्टं = केन + उद्दिष्टं
विषममसि = विषमम् + असि
व्रतमिदम् = व्रतम् + इदम्

शब्दान्वय

प्रच्छन्नं प्रदानं, गृहम् उपगते संभ्रम विधिः, प्रिय कृत्वा मौनं,
अपि च उपकृतेः सदसि कथनं, लक्ष्म्यां अन् उत्सेकः,
परकथाः निः अभि भवसाराः,
इदम् असिधारा व्रतम् सतां केन उद्दिष्टम् ।

शब्दार्थ

प्रच्छन्नं = गुप्त
प्रदानं = दान देना
गृहम् = घर को
उपगते = आने पर
संभ्रम = प्रसन्नता से
विधिः = उपचार करना

प्रियकृत्वा = (किसी का) भला करके

मौनं = (किसी से) न कहना
अपि च = और
उपकृतेः = (दूसरों द्वारा) उपकार किये जाने पर
सदसि = सभाओं में, सबके सामने
कथनं = कहना
लक्ष्म्यां = लक्ष्मी प्राप्त होने पर, सम्पन्न बनने पर

अन् उत्सेकः = घमंड न करना
निः अभिभवसाराः = बिना निन्दा तिरस्कार का मिर्च-मसाला लगाये
पर कथाः = दूसरों के सम्बन्ध में कहना
सतां = सत्पुरुषों को
केन उद्दिष्टं = किसने सिखाया ? अर्थात् यह उनके स्वभाव-सिद्ध गुण हैं

भावार्थ

गुप्त रूप से दान-धर्म करना, कोई अपने दरवाजे आये तो उसका आदर-सत्कार करना, लोगों का भला करना और किसी के सामने अपनी बड़ाई न जताना, पर दूसरों ने कुछ उपकार किया तो सबके सामने उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना, धन-सम्पत्ति पाने पर अभिमान न करना, दूसरों की निन्दा या तिरस्कार न करना, तलवार की धार पर चलने की ऐसी चाल सत्पुरुषों को न जाने किसने सिखाई ?

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में महान् आत्माओं के कुछ लक्षणों का वर्णन किया गया है। इस श्लोक में भी उन्हीं का वर्णन है। पर दोनों में भारी अन्तर है। पिछले श्लोक में बताया गया था कि विपत्ति काल में महापुरुषों का व्यवहार किस प्रकार का होता है। इस श्लोक में कहा गया है कि सम्पत्काल में उनका आचरण कैसा होता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि सम्पत्काल का वर्णन पहले करके बाद में विपत्काल का दिया जाता तो क्या अच्छा न होता ? अच्छा तो वह भी जरूर होता मगर इतना अच्छा हरगिज न होता। विपदा मनुष्य की कसौटी है। इस कसौटी पर जो खरा उतरे वही महापुरुष कहा जा सकता है। सम्पन्न व्यक्ति भी सज्जन हो सकता है और उपरोक्त सभी गुण भी उसमें हो सकते हैं। किन्तु महापुरुष की पदवी उसे तभी मिलेगी जब वह विपद्ग्रस्त होकर भी उन गुणों की रक्षा कर सके। पिछले श्लोक में वर्णन इसी के अनुसार था।

अब इस श्लोक के शब्दों पर थोड़ा-सा विचार कर डालें। गुप्त दान तो साधारणतया ऐसे दान को कहते हैं जिसमें दानी अपना नाम नहीं प्रकट करता। फिर भी लेने वाले को पता रहता है कि वह दान किसने दिया। इसमें दानी की महत्ता बढ़ती ही है। असली गुप्त दान वह है जिसमें सुपात्र की आवश्यकता निराटंक रूप से पूरी हो जाय और उसे पता भी न लगे कि किसने वह धन उसके पास भेजा और किसके हाथ भेजा। मानो भगवान ने ही गुप्त रूप से उसके पास पहुंचा दिया।

ऐसा दान दानी को भगवान बना देता है। दायें हाथ से दे पर बायें हाथ को पता न रहे, यह तो कहावत ही बन गई है। यह भी न हो सके तो कम-से-कम अपने आप कहता न फिरे कि मैंने अमुक व्यक्ति की अमुक परिस्थितियों में अमुक सहायता की है। इससे अपना बड़प्पन जताने के साथ-साथ दूसरों का अपमान करने का पाप भी सिर चढ़ जाता है।

किसी के घर आने पर उससे प्रेम से मिलना और आदर-सत्कार करना और जिस काम के लिए वह आया हो उसे पूरा कर भेजना और फिर उसकी किसी से चर्चा न करना, यह सब एक-दूसरे से गुंथे हुए हैं। किसी को दूर से देखकर दरवाजा बन्द कर लेना, या कहलवा देना कि घर में नहीं या दीख पड़ने पर भौं सिकोड़ लेना या मुस्कराना पर दिल में कुढ़ना, या काम में कोई अड़चन गिना देना, करें भी तो अनमने करना, या शक्ति भर न करना, अपने धन का घमण्ड करना और निन्दा भी करना, अपनी अनिच्छा बल्कि नीचता दिखाने के ऐसे पचासों ढंग हैं। आप जब दूसरों के लिए कुछ करते हैं तो उसकी चर्चा फैलाते हैं, मगर जब स्वयं दूसरों से लेते हैं तो किसी से जिक्र नहीं करते, छिपाते हैं, यह कृतघ्नता है। इन तमाम पाप-प्रवृत्तियों से बचे रहें तभी सौजन्यता की पदवी पाने के अधिकारी बनेंगे।

श्लोक ५८

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न श्रूयते।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं दृश्यते।
अन्तःसागरशुक्तिकुक्षिपतितं तन्मौक्तिकं जायते
प्रायेणाधममध्यमोत्तमजुषामेवंविधा वृत्तयः॥

शब्द विच्छेद

संतप्तायसि = संतप्त + अयसि
नामापि = नाम + अपि

मुक्ताकार = मुक्त + आकार
तदेव = तत् + एव
तन्मौक्तिकं = तत् + मौक्तिकं
प्रायेणाधम = प्रायेण + अधम
मध्यमोत्तम = मध्यम + उत्तम
जुषामेवं = जुषाम् + एवं

शब्दान्वय

पयसः संतप्त अयसि संस्थितस्य नाम अपि न श्रूयते
तत् एव नलिनी पत्र स्थितं मुक्त आकारतया दृश्यते,
तत् अंतःसागर शुक्ति कुक्षि पतितं मौक्तिकं जायते,
प्रायेण अधम मध्यम उत्तम जुषां एवं विधाः वृत्तयः।

शब्दार्थ

पयसः = पानी
संतप्त = खूब तपते हुए
अयसि = लोहे पर (में)
संस्थितस्य = रखने पर, डालने पर
नाम अपि = नाम भी
न श्रूयते = नहीं सुनाई पड़ता, नाम व निशान भी नहीं रह जाता
तत् एव = वही (पानी)
नलिनी पत्र = कमल के पात पर
स्थितं = रहकर
मुक्त = मोती के
आकारतया = रूप में
दृश्यते = दिखाई देता है
तत् = वह (पानी ही)
अंतःसागर = समुद्र के भीतर
शुक्ति = सीप के
कुक्षि = पेट में
पतितं = पड़कर
मौक्तिकं = मोती
जायते = बन जाता है
प्रायेण = प्रायः, साधारणतया
अधम = नीच
मध्यम = बिचौले
उत्तम = ऊँच के
जुषां = संगत पानेवाले के
एवं विधा = इसी प्रकार
वृत्तयः = स्वभाव बन जाते हैं

भावार्थ

पानी की एक बूँद है, जो यदि तपते तवे पर पड़ जाय तो उसका नाम-रूप तक मिट जाता है। किन्तु वही बूँद यदि कमल-पात पर पड़

जाय तो मोती की भाँति जगमग करने लगती है और अगर कहीं समुद्र में सीप के मुंह में जा पड़े तो सच्चा मोती बन जाती है। इस प्रकार पानी की एक ही बूंद के अलग-अलग मेल से तीन अलग-अलग दशाएं बन गयीं। इसी प्रकार मनुष्य भी जैसी नीच, मध्यम या उत्तम संगत में पड़ जायेगा वैसा ही वह बन जायेगा।

विशेषार्थ

पिछले दो श्लोकों में महान् आत्माओं के लक्षण बताये गये थे। बहुत अच्छे हैं वे लोग। किन्तु क्या सभी ऐसे बन सकते हैं ? इस श्लोक में इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है। पानी की एक बूंद का उदाहरण देकर समझाया गया है कि वही एक बूंद भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के साथ होकर भिन्न-भिन्न दशाओं को प्राप्त हो जाती है। मनुष्यों की भी यही बात है। साधारणतया सभी मनुष्य एक ही प्रकार के होते हैं। गुण-दोष भी उनमें प्रायः समान ही होते हैं। किन्तु जो जैसे के साथ पड़ जाता है वैसा ही वह बन जाता है। अच्छों की संगत में रह गया तो अच्छा बन गया। बुरों की संगत में घिर गया तो बुरा बन गया। बिचौली-संगत का साथ हो गया तो उसमें कुछ अच्छाइयां भी होंगी और साथ ही बुराइयां भी। लोग साधारणतया मध्यम वर्ग के होते हैं। किन्तु उत्तम वर्ग और नीच वर्ग के भी लोग समाज में होते हैं। बहुत अच्छे होने मात्र से वह अच्छे नहीं रह सकते। यदि बहुत अच्छे, बुरों की संगत में पड़ गये तो बहुत ही बुरे बन जाते हैं। इसी प्रकार पक्के गुंडे होते हुए भी यदि अच्छी संगत में आ गये तो वही गुंडे बहुत बड़े सज्जन बन सकते हैं। इस प्रकार संगत ही सबसे बड़ी वस्तु है। संगी-साथी को बहुत छान-बीन के बाद बनाना सबके लिए सरल नहीं है। सामूहिक रूप से समाज की जो दशा होगी साधारणतया लोगों को वैसी ही संगत मिल जाती है। जहाँ समाज में बुराई जड़ पकड़ जाय वहाँ बहुत सावधानी से संगत खोज निकालनेवाला भी साधारणतया असफल हो जाता है, और अकेला रह जाता है। जब समाज की यह स्थिति हो जाती है, तब अच्छा मनुष्य चाहे वह किसी क्षेत्र में हो, नौकरी में, व्यापार में, अध्यापन में, वकालत में या सार्वजनिक जीवन में उसे असफलता-ही-असफलता रहेगी। समाज उस सच्चे को झूठा बना देगा। उसका जीवन-निर्वाह कठिन हो जायेगा। इस कठिन परीक्षा में यदि वह खरा निकला तो सम्भव है कि अन्त में समाज उसका सम्मान करे और जहाँ तक हो सके उनका अनुकरण भी करे। इसीलिए समाज हीन अवस्था को पहुंच जाता

है तभी उसमें महापुरुषों का प्रादुर्भाव होता है। किन्तु यह महापुरुष भी उसी समाज की देन है। अगर समाज उतना न गिरता तो इतना बड़ा महापुरुष उसी में से उठ नहीं सकता था।

समाज गिरे, उठे या समावस्था में रहे, हर परिस्थिति में मनुष्य समाज का उत्पादन है। संगत ढूंढ़ना वास्तव में उस बड़े समाज में से अपने लायक छोटे समाज को खोज निकालना है, न हो तो निर्माण करना है और उस निर्माण को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए सारे समाज को ही वैसा बना देना है।

अब तक मानव की बात कही गयी थी। अब धन, सत्ता की बात लें; क्योंकि यह भी मानव के पास होती हैं और मानव के लिए होती हैं। इसलिए धन, सत्ता को भी ऊँचा स्थान प्राप्त है। पर ये दोनों चीजें, जैसा श्लोक ४८ में कहा गया है, यदि नीच के पास जुट जायें तो तपते तवे पर पानी की बूंद के समान उड़ जायेंगी और कमल-पत्र पर पड़ जायें तो मोती के समान चमकेंगी, लोगों को धन और सत्ता का आभास मात्र देंगी, पर वह हवा के एक झोंके की मोहताज हैं, पानी पानी में मिल जायेगा और पत्ता साफ रहेगा या वह भी टूट-फूटकर झोंके में निकल जायेगा। और यदि समुद्र के सीप में स्वाति की बूंद बनकर पड़ें तो मोती बनेंगी। और वह स्थायी होंगे, गोताखोर बाहर लायेंगे और बाजार में उसका मोल लगेगा, अर्थात् धन सत्ता के लिए भी नैतिकता का आधार चाहिए।

अब सीप की बात। कहते हैं कि स्वाति नक्षत्र में समुद्र में सीप मुँह खोलकर पानी पर तैरते रहते हैं। स्वाति की वर्षा की जितनी बूंदें उस सीप में पड़ती हैं, वह मोती बन जाती हैं। सभी सीप मुँह बाये रहेंगे, मगर सबमें तो स्वाति-बिन्दु पड़ता न होगा। न पड़े भले ही, पर अच्छी वस्तु की आस में रहते हैं, यही बड़ी बात है उनके लिए। सूना सीप भी अपना मूल्य रखता है। दुर्भाग्य उस स्वाति-बिन्दु का है जो सीप में पड़ता तो मोती बन जाता। इसी प्रकार यदि सज्जनों के हाथ सत्ता या लक्ष्मी न आए तो उस सत्ता या धन का दुर्भाग्य होगा, न कि उस अलौकिक सौजन्यता का।

श्लोक ५९

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य-
देतत्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥

: १६९ :

शब्द विच्छेद

प्रीणयेत्सुचरितैः = प्रीणयेत् + सुचरितैः
यद्भर्तुरेव = यत् + भर्तुः + एव
हितमिच्छति = हितम् + इच्छति
तन्मित्रमापदि = तत् + मित्रम् + आपदि
यदेतत् = यत् + एतत्

शब्दान्वय

यः सुचरितैः पितरं प्रीणयेत् स पुत्रः
यत् भर्तः एव हितम् इच्छति तत् कलत्रम्,
यत् आपदि सुखेच सम क्रियं तत् मित्रं,
एतत् त्रयं जगति पुण्यः कृतः लभन्ते।

शब्दार्थ

यः = जो व्यक्ति
सुचरितैः = अच्छे आचरण से
पितरं = पिता (माता-पिताओं को)
प्रीणयेत् = प्रसन्न रखता है
स पुत्रः = वही पुत्र है
यत् = जो (स्त्री)
भर्तृ : एव = पति ही की
हितम् = भलाई
इच्छति = चाहती है
तत् = वही

कलत्रम् = पत्नी है
यत् = जो (मित्र)
आपदि = विपदा में
सुखे च = और सुख में
सम क्रियं = समान व्यवहार करता है
तत् मित्रं = वही मित्र है
एतत् त्रयं = ये तीनों
जगति = संसार में
पुण्यः कृतः = पुण्य किये हुए, भाग्यवान
लभन्ते = पाते हैं

भावार्थ

जो पुत्र अपने आचरण से माता-पिता को प्रसन्न रखे वही पुत्र है, जो पत्नी सदा अपने पति के हित का ध्यान रखे, वही पत्नी है और जो मित्र सुख तथा दुःख में समान रूप से साथ दे वही मित्र है। इस संसार में महान पुण्यवान को ही यह तीनों सुख प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में संगत के गुण-दोष गिनाये गये थे। इस श्लोक में प्रधानतया

ऐसा प्रसंग आया है जो प्रायः सभी को प्राप्त है । पुत्र, पत्नी तथा मित्र साधारणतया सबके होते हैं । श्लोक में इन तीनों को जिस क्रम से दिया है, उसे यदि उलट दें तो अधिक उपयुक्त होगा । पहले मित्र, फिर पत्नी और तब पुत्र । बच्चे से बड़ा हुआ । संगी-साथी बनाये ।जीवन-संगिनी ढूंढ़ ली । तब बाल-बच्चे वाला बना ।

बच्चा ज्योंही ही होश संभालता है कोई-न-कोई मित्र उसे मिल ही जाता है । वैसे छुटपन से ही बच्चे दूसरे बच्चों के साथ खेलने-कूदने लगते हैं, परन्तु वह मित्र नहीं कहा सकते । अपने हमजोलियों में से किसी-किसी में अपनत्व का अनुभव करना कुछ देर में ही आरम्भ होता है । बच्चे के रूप में माता-पिता की गोद में घुसना या 'पुत्रं मित्र वदाचरेत्' की आर्योक्ति के अनुसार पिता वास्तविक मित्र का स्थान नहीं ले सकता । हमजोली से ही असली मित्रत्व की शुरुआत होती है । यह शुरू की दोस्ती अगर आखिर तक बनी रहे तो क्या ही अच्छा हो । यह कैसे हो ? सुख में आप उसे समान भागीदार बनाकर साथ रखो तभी दूसरा अपने को दोस्त मानेगा । आप स्वयं बड़े आदमी बन गये । पर आप ऐसे समय अपने पुराने साथी-संगियों का ध्यान नहीं रखें तो कौन आपको अपना दोस्त मानेगा ? समय के साथ जो नये दोस्त बनते हैं उसका कारण स्वार्थ हो सकता है । दोस्ती निभाने की पहली जिम्मेदारी अपनी होती है । सुख में आप न भूलें तो आपका कर्तव्य पूरा हुआ । पर दूसरा भी उतना ही कर्तव्यपरायण है कि नहीं, इसकी परख तो अवसर पड़ने पर ही हो सकती है । इस विचार से किसी को अपने दोस्त की दोस्ती को परखने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए । सुख के समय तो आपकी परख है, दोस्त की नहीं । दुःख के समय भी दोस्त के पास न जाने की बात पीछे कही जा चुकी है । कष्ट-काल में आप अपने मित्र से मुँह छिपायें और वह खोजता हुआ आपकी सहायता के लिए पहुंचे, तभी वह दोस्त है । आप उसे अपने सुख का भागीदार बनाते हैं और वह दुःख का भागीदार बनता है ।

यहाँ पर श्लोक के शब्द 'सुख-दुःख में समान व्यवहार' अव्यावहारिक हो जाते हैं । सुख के समय आपका व्यवहार ऐसा होना चाहिए जिससे आपके दोस्त का दिल न दुखे । आप अपने सुखों में उसे भी साथी बनाये रखेंगे तो उसके दिल को सुख मिलेगा । यहाँ तक तो आपकी दोस्ती ठीक है । पर ज्योंही आप पर दुःख आ पड़े आप सुख की खोज में दोस्त का दरवाजा खटखटाने लगे और तकाजा करने लगे अपनी दोस्ती का दाम चुकाने का, तो आप स्वार्थी । समान व्यवहार के माने यहाँ यह होना चाहिए कि दुःख में हम अपने दोस्त से दूर रहें । उसे पता ही न लगे कि हम पर क्या बीत रही है, वह यही समझता रहे कि सब ठीक-ठाक होगा और इस प्रकार आपके सुख की भावना उसके दिल को सुख पहुँचायेगी । आप

अपनी ओर से मानो दुख में भी दोस्तों के सुख का ध्यान रख रहे हैं। इसी प्रकार आप मित्रों के प्रति अपना कर्तव्य-पालन कर सकते हैं। कर्तव्य-पालन में दूसरे पक्ष के कर्तव्य की कोई चिन्ता न रखें। इसके विपरीत चलकर आप अपने को किसी का मित्र बनने का दम भर नहीं सकते। अब दूसरा भी आपका मित्र है कि नहीं, वह आप दे अपना सुबूत। दूर रहने के कारण जब आपके दुःख का उसे पता नहीं रहा तब तक कोई बात नहीं, पर ज्योंही पता लग जाय तब वह कैसा व्यवहार करता है इसीसे उसकी असलियत का पता लगेगा। अलिफ लैला में एक कहानी है। आधी रात को एक व्यक्ति ने अपने दोस्त का दरवाजा खटखटाया। दोस्त ने भीतर से सांकल खोली तो उसके साथ एक लौंडी थी हाथ में चिराग लिये हुए और वह खुद एक हाथ में अशर्फियों की थैली और दूसरे में तलवार टाँगे था। कहने लगा—दोस्त, तुम जो इतनी रात गए मेरे यहाँ आये तो मैं समझा कि रात में तुम अकेलापन महसूस कर रहे हो, सो यह लौंडी तैयार है तुम्हारा दिल रखने के लिए, या पैसों की जरूरत है तो यह अशर्फियों की थैली है, या तुम पर कोई दुश्मन चढ़ आया है, तो इस तलवार को लेकर अपनी जान भिड़ाने को मैं हाजिर हूँ। यह है दोस्त, और दोस्ती निभती है इस तरह।

यह कहानी अलिफ लैला—हज़ार दास्तां की है, पर यह सब पर और सभी जगह लागू होती है। हमारे श्लोक की पत्नी और पुत्र पर भी ठीक-ठीक बैठती है। पत्नी अपने पति से या पुत्र अपने पिता से अलिफ लैला के शब्द नहीं दुहरायेगा, किन्तु व्यवहार में उन्हें यही सब करना है। पति या पिता के सुख, सहायता तथा मनोरंजन का पूरा ध्यान रखना ही पत्नी तथा पुत्र का धर्म है। जीवन-भर दुःख देकर मरने के बाद श्राद्ध करना, गयाजी में पिंड-दान करना और ब्रह्म-भोज करवाना वास्तव में यह श्रद्धा नहीं बल्कि स्वार्थ है कि समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनी रहे।

श्लोक ६०

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः
स्वार्थान्संपादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे ।
क्षान्त्यैवाक्षेपरुक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्जनान्दुःखयन्तः
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः ।

शब्द विच्छेद

नम्रत्वेनोन्नमन्तः = नम्रत्वेन + उन्नमन्तः
स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः = स्वान् + गुणान् + ख्यापयन्तः
स्वार्थात् = स्व + अर्थात्
पृथुतरारम्भ = पृथुतर + आरम्भ
परार्थे = पर + अर्थे
क्षान्तत्यैवाक्षेप = क्षान्त्या + एव + आक्षेप
रूक्षाक्षर = रुक्ष + अक्षर
साश्चर्य = स + आश्चर्य
नाभ्यार्चनीया = न + अभि + अर्चनीयाः

शब्दान्वय

नम्रत्वेन उन्नमन्तः पर गुण कथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः
परार्थे वितत पृथुतर आरम्भ यत्नाः स्व अर्थान् सम्पादयन्तः ।
आक्षेप रूक्ष अक्षर मुखर मुखान् दुर्जनान् क्षान्त्या एव दुःखयन्तः
सआश्चर्य चर्याः सन्तः जगति बहुमतः कस्य न अभ्यर्चनीयाः ॥

शब्दार्थ

नम्रत्वेन = नम्रता से
उन्नमन्तः = उन्नति को प्राप्त होने वाले लोग
परगुण = दूसरों के गुणों का
कथनैः = बखान करते हुए
स्वान् गुणान् = अपने गुणों को
ख्यापयन्तः = प्रगट करते हैं
परार्थ = दूसरों के कार्यों में
वितत = विस्तृत (तथा)
पृथुतर = महान
आरम्भ = प्रयास उठाकर आरम्भ करते हुए

स्व अर्थान् = अपने कार्यों को
सम्पादयन्तः = साध लेते हैं, अर्थात् दूसरों के कार्य में शुद्ध बुद्धि से सहायक बनकर अपने लिए सद्भावना का सम्पादन करते हैं
आक्षेप = निन्दा (तथा)
रूक्ष = कठोर
अक्षर = शब्द
मुखर = प्रयोग करनेवाले
मुखान् = मुँहवाले
दुर्जनान् = दुष्टों को
क्षान्त्याएव = शान्ति से सहते हुए ही
दुःखयन्तः = (उन्हें) दुखी बनाते हैं
स आश्चर्य = वे (ऐसे) अद्भुत
चर्याः = आचरणवाले
सन्तः = सन्त जन
जगति = संसार में
बहुमताः = मर्यादा के अधिकारी बनकर
कस्य = किसके लिए
न अभ्यर्थनीयाः = पूजनीय नहीं होते अर्थात् सभी उनका आदर करते हैं

भावार्थ

सन्त सज्जन का स्वभाव विचित्र होता है, उनका आचरण उससे भी बढ़कर आश्चर्यजनक होता है और उनका प्रभाव विलक्षण होता है। वे सदा दूसरों की प्रशंसा ही करते हैं अर्थात् वे कभी पराये की निन्दा नहीं करते। परिणाम यह होता है कि दिनोंदिन समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति कोई कार्य आरम्भ करता है तो प्राणपण से उसका हाथ बंटाते हैं। परिणाम यह होता है कि दूसरे लोग भी उनके कामों में सहायक बन जाते हैं। इस प्रकार परोपकार तथा पराये की प्रशंसा में दुष्टों से भी पाला पड़ता है जो उसे पाखण्डी तथा दम्भी कहने में नहीं हिचकते और ये सत्पुरुष उन परुष वचनों को शान्ति से सह लेते हैं अर्थात् भड़क नहीं जाते। परिणाम यह होता है कि कठोर वचन कहनेवाले को ही खिन्न होना पड़ता है। सभी को ऐसे सन्तजनों की मान-मर्यादा करनी पड़ती है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में साधारण जन का वर्णन था अर्थात् ऐसे लोगों का जो सामान्य गृहस्थ जीवन बिताते हैं। इस श्लोक में उच्च कोटि के पुरुषों का वर्णन है। इन्हें हम सन्त-महात्मा भी कह सकते हैं। सन्त-महात्मा केवल संसार-बन्धन-मुक्त संन्यासी ही नहीं, साधारण गृहस्थों में भी ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं। यह

भी हो सकता है कि सभी सन्त-महात्मा कहलानेवालों में ऐसे गुण हों ही नहीं। भले ही समाज उन्हें सन्त-महात्मा न कहे और भले ही सभी के समान जीवनोपार्जन करनेवाला साधारण व्यक्ति ही क्यों न हो, यदि उसमें उपरोक्त गुण पाये जायें तो जल्दी नहीं तो देर में समाज को उसकी महानता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। परन्तु प्राय: ऐसी पदवी उसे देर ही में मिलती है। दोष इसमें उस सन्त पुरुष का कम होता है। जो लोग धन या अधिकार के कारण समाज में प्रतिष्ठा पाये रहते हैं उन्हें ऐसे व्यक्ति की मान-मर्यादा सहन नहीं होती। वे ऐसे व्यक्ति को अपने रास्ते का काँटा मानते हैं, या धन और अधिकार के घमण्ड के कारण उस सत्पुरुष के गुणों को आँक नहीं सकते। समाज के दूसरे लोगों को अपने स्वार्थों की रक्षा के हेतु उन तथाकथित प्रतिष्ठित जनों का हामी बनना पड़ता है। इस प्रकार नये और छोटे लोगों को सद्‌गुण तथा सदाचार के बावजूद समाज की मर्यादा के पात्र बनने में देर लग जाती है। पर इस देरी से हानि नहीं, बल्कि साधक को लाभ ही अधिक होता है। आत्मशोधन का अवसर अधिक मिलता है और सच्चा साधक हर बाधा के साथ मानसिक रूप से आगे ही बढ़ता जाता है। इसी प्रकार जो कमजोर दिल के होते हैं या जो सचाई को भी अपनी उन्नति का एक साधन बनाना चाहते हैं उनकी कलई खुल जाती है। इस प्रकार समाज की ओर से खरे-खोटे की परख करना आवश्यकीय भी है।

यहाँ पर एक शंका उठायी जा सकती है कि तत्काल समय पर खरा रह जाता है और खोटा आगे बढ़ जाता है। समाधान इसका बहुत सरल है। वास्तव में समाज के अन्दर जो प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है वह सचमुच उस समाज का प्रतीक होता है। अगर खोटे को प्रतिष्ठा मिलती है तो इसका मतलब यह है कि स्वयं समाज में खोट अधिक है या समाज पर खोट का आधिपत्य है। सर्वसाधारण को निर्दोष होते हुए भी खोट का प्रतिफल भोगना ही पड़ेगा। उस समाज को खरा बनने के लिए आग में और अधिक समय तक तपना पड़ेगा। तभी वह खोट खरी को परख सकेगा और खरे का आदर कर सकेगा। अंततोगत्वा यह क्रिया-प्रतिक्रिया समाज की दृष्टि से भी और व्यक्ति की दृष्टि से भी हितकर ही सिद्ध होगी।

सत्पुरुष की परख की कसौटी क्या है ? यह भी बहुत सरल है। जिस व्यक्ति की कथनी और करनी में अन्तर न हो और उससे किसी स्वार्थ का सम्बन्ध न हो वही सौजन्यता का प्रतीक है। पिछले श्लोक में पिता-पुत्र, पति-पत्नी, मित्र-बन्धु के जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें किसी-न-किसी प्रकार का स्वार्थ-सम्बन्ध है। अमुक सम्बन्धों के कारण अमुक क्रियायें कर्तव्य के अन्दर आ जाती हैं।

कर्तव्यकर्म को करने में कोई महानता नहीं है। हाँ, न करने में हीनता अवश्य है। कर्तव्यकर्म करके या अपनी विहित ड्यूटी पूरी करके व्यक्ति किसी पुण्य का संचय नहीं करता। मगर न करे तो वह अपने पाप की गठरी का बोझ जरूर बढ़ाता है।

किन्तु सन्त पुरुष की बात एकदम दूसरी है। उसके कोई पिता-पुत्र नहीं है, पति या पत्नी नहीं है, बन्धु-मित्र भी नहीं है, और अगर है तो सभी लोग अवस्थानुसार उसके पिता-पुत्र और बन्धु-मित्र हैं। इतना ही नहीं, उसके स्वयं पिता-पुत्र हों, सहोदर हों, सुहृद हों, तो भी जो उसके कुछ भी न हों, अर्थात् जिनके साथ कोई रक्त-सम्बन्ध या अन्य कोई सम्बन्ध न हो, उनके साथ भी उसका व्यवहार ठीक वैसे ही रहेगा जैसे अपने माता-पिता और पुत्र-मित्र के साथ होगा। साधारणतया उसकी इस मनोस्थिति का ज्ञान जनसामान्य को नहीं हो सकता। फिर भी किसी-न-किसी भाग्यशाली महापुरुष को इसका परिचय देने का कभी-न-कभी अवसर भी मिल जाता है। कोई स्थानीय वाद-विवाद ऐसा उठ सकता है जिसमें उस सन्त व्यक्ति को अपनी निष्पक्ष तथा समान भावना प्रकट करने का मौका मिल जाता है। न्याय के लिए वह अपने पिता-पुत्रादि के विरुद्ध अन्यान्य जनों का पक्ष लेता है और उस अग्नि-परीक्षा में सच्चा उतरता है। इसी पर लोग उसकी महानता को मानने लग जाते हैं। यदि ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो तो बहुत अच्छा है। परन्तु इसको इतना महत्त्व देना भी अनुचित है। ऐसा अवसर मिलना या न मिलना ठीक वैसा ही है जैसे एक महान विद्वान है, पर उसके पास कोई डिग्री या उपाधि किसी महाविद्यालय की नहीं है। परीक्षा से दूसरे लोग जरूर जान जाते हैं। किन्तु दूसरों का जानना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना स्वयं उसको अपने मन की स्थिति का ज्ञान होना। जिसका मन इस विषय में परिपक्व हो चुका है, उसके लिए परीक्षा का अवसर मिलना और उसमें उत्तीर्ण होना कोई महत्त्व नहीं रखता।

नम्रत्व सबके साथ दिखाना, अपने से बड़ों से ही नहीं छोटों से भी, बड़े विद्वानों से नहीं, मूर्खों के सामने भी विनम्र बनना, इसी प्रकार, पराये गुणों का बखान करना, दुर्जनों से भी उनके सत् गुणों की खोज कर उन्हें उजागर करना, अपने में दुर्गुणों को देखने की चेष्टा करना और पराये कार्यसाधन में तल्लीन होना, स्वकीय कार्यों को भुला जाना, बल्कि अपना बिगाड़ कर दूसरों का बनाना, यह सब महान आत्मा के लिए स्वाभाविक होते हैं और इसके लिए उसे आजीवन साधना करनी पड़ती है, और संघर्ष करना पड़ता है।

मान लिया जाय ऐसे महान आत्मा से संसार का कल्याण होता है। पर

इसकी क्या गारन्टी कि श्लोक में जैसा कहा गया है संसार उसका गुणगान करे और समाज उसके कार्यों को पूरा करे। जरूर समाज और संसार करेगा। पर न करने पर भी उस सन्त पुरुष के आनन्द में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह ऐसी बातें हैं जिन्हें स्वयं करके देखने पर ही अनुभव होगा कि अपना आप नुकसान करके, अपमानित होकर भी दूसरों को सुख तथा आनन्द की उपलब्धि कराने में क्या आनन्द मिलता है, यह तो करके देखने की बातें हैं।

पंचम दशक का सारांश

श्लोक ५१—सज्जन अथवा सौजन्यता को नमस्कार है।
श्लोक ५२—धैर्य तथा साहस सौजन्य के सोपान हैं।
श्लोक ५३—सम्पत्ति जाय पर सौजन्यता सदा रहे।
श्लोक ५४—धन जाय, पर दानशीलता न जाय।
श्लोक ५५—सज्जन समृद्धि में दयालु और संकट में कठोर होता है।
श्लोक ५६—सौजन्यता को निबाहना तलवार की धार पर चलना है।
श्लोक ५७—अपनी बड़ाई को छिपाओ और औरों की बड़ाई करो।
श्लोक ५८—संगत ही मानव को गढ़ती है।
श्लोक ५९—सुपुत्र और सन्मित्र के लिए भी सत्संग चाहिए।
श्लोक ६०—औरों की भलाई में ही अपनी भलाई निहित है।

॥ परोपकार पद्धति ॥

श्लोक ६१

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्न-
वाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

शब्द विच्छेद

नम्रास्तरवः = नम्रा. + तरवः
फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्दूर = फल + उद्गमैः + नव + अम्बुभिः + दूर

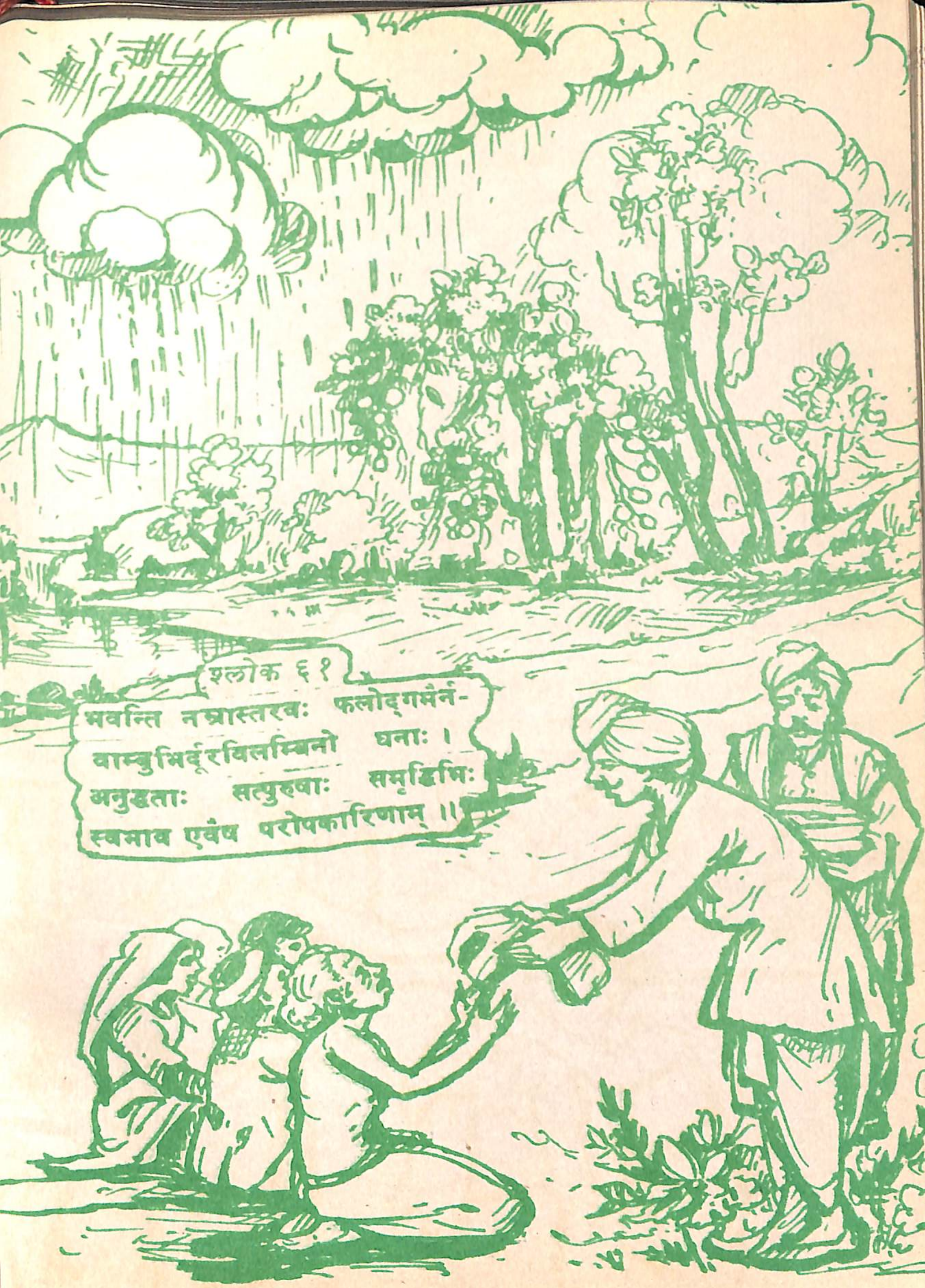

श्लोक ६१

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्न-
वाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

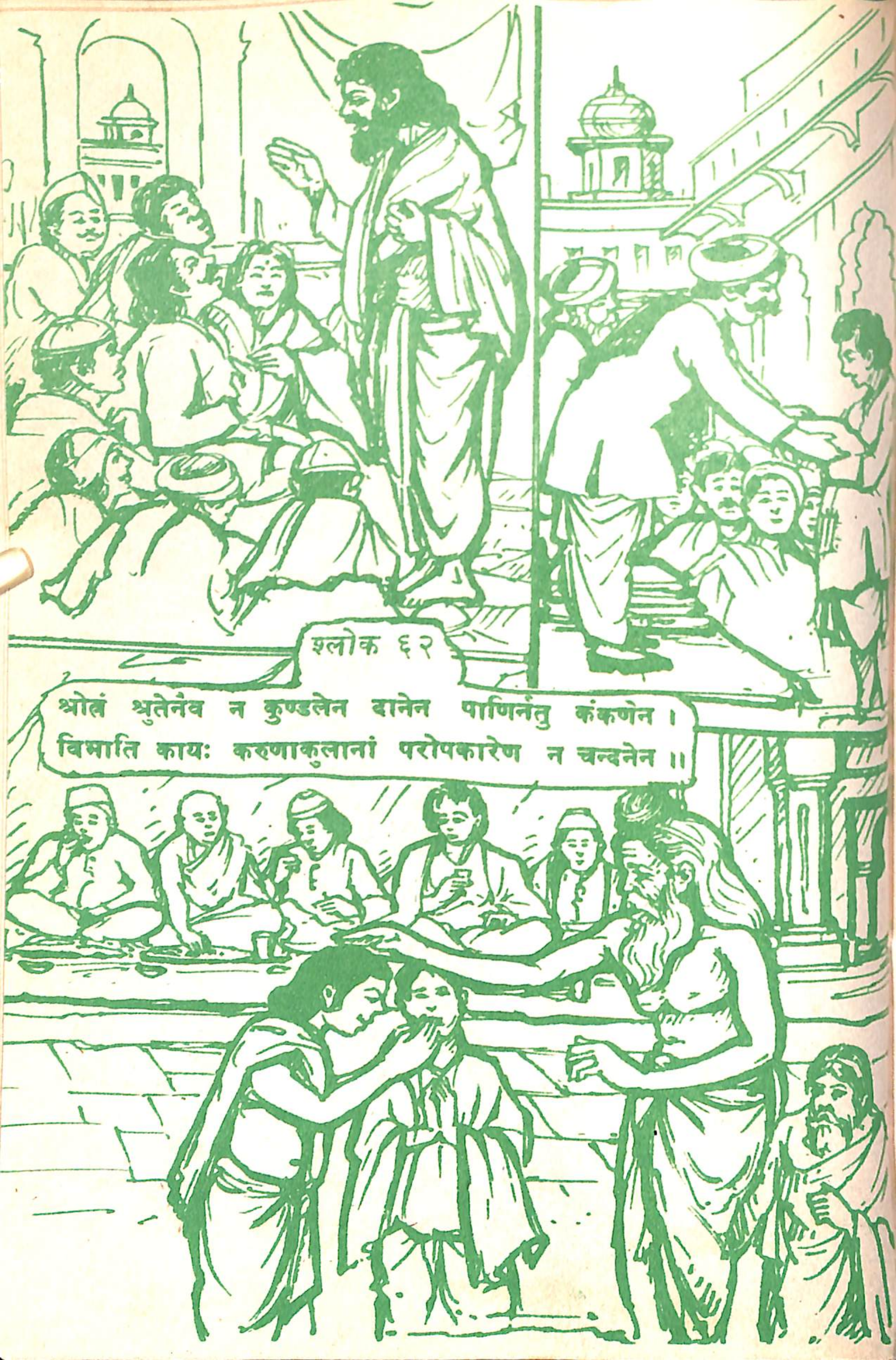

श्लोक ६२

श्रोतं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्नतु कंकणेन ।
विभाति कायः करुणाकुलानां परोपकारेण न चन्दनेन ।।

एवैष=एव+एष
परोपकारिणाम्=पर+उपकारिणाम्

शब्दान्वय

तरवः फल उद्गमैः नम्राः भवन्ति,
घनाः नव अम्बुभिः दूर विलम्बिना भवन्ति
सत्पुरुषाः समृद्धिभिः अनुद्धताः भवन्ति
परउपकारिणाम् एष स्वभाव एव।

शब्दार्थ

तरवः=वृक्ष, पेड़
फलउद्गमैः=फल से लद जाने पर
नम्राः=झुके हुए
भवन्ति=बन जाते हैं, अर्थात् झुक जाते हैं
घनाः=मेघ, बादल
नव अम्बुभिः=नये जल से (भर कर)
दूर विलम्बिनः=दूर तक फैले हुए, आकाश को घेरे हुए
(भवन्ति=बन जाते हैं)
सत्पुरुषा=सज्जन लोग
समृद्धिभिः=सम्पदाओं से, सम्पन्न हो जाने पर
अनुद्धताः=गर्वरहित, विनीत
(भवन्ति=रहते हैं)
परउपकारिणाम्=परोपकारी जनों के लिए
एष=यह
स्वभाव एव=स्वाभाविक ही है

भावार्थ

पेड़ फलों से लद कर झुक पड़ते हैं। आकाश के बादल पानी से भर जाने पर धरती पर दूर तक बरस जाते हैं। सज्जन धन-दौलत पाकर कोमल बन जाते हैं। पराये हित में रत मानव स्वभावतः विनम्र होता है।

विशेषार्थ

पिछले दशक में सज्जन के आचरण की चर्चा हुई थी। इस दशक में परोपकारी पुरुष के गुण गाये गये हैं। सुजनता से शुरू हुआ और परोपकार में परिणत हुआ। सौजन्य साधन है और परहित साध्य। सज्जन साधक है, परोपकारी सिद्ध। सिद्ध पुरुष के दो लक्षण है—१. नम्रता, २. दानशीलता। जब तक यह दोनों बातें स्वाभाविक न बनें तब तक वह कोरी सौजन्यता है।

साधारणतया सिद्ध पुरुष ऐसे महात्माओं को माना जाता है, जिनके आशीर्वाद फलते हैं। किसी के सामने आते ही वे उसकी सारी परिस्थिति समझ जाते हैं और पात्रानुसार उसकी कामना पूरी कर देते हैं। दर्शन मात्र से धन्य हो गये।

परन्तु इस श्लोक में उन महात्माओं की बात नहीं कही गयी है। धनी सज्जन की बात कही गयी है। धनी कोई है तो सज्जन कहाने के योग्य यह तभी है जब वह स्वयं नम कर बात करे और बिना माँगे उसकी आवश्यकता पूरी करे। 'अनुद्धता सत्पुरुषाः' की जगह 'अनर्थिता, अयाचिता' का पाठान्तर भी है। और यह ठीक है। मानव को फलने वाले पेड़ और बरसनेवाले बादल बन जाने का विधान है।

सिद्धि आत्मदर्शन तक ही सीमित नहीं है। सिद्धि प्रत्येक प्राणी को प्राप्त हो सकती है और संसार की प्रत्येक वस्तु में अर्थात् जिसके पास जो भी है उसमें सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। किसी धनी के यहाँ जायें अगर खाली हाथ लौटना पड़े, किसी अधिकारी के दर पर जायें और जूतियाँ चटखाते घूमना पड़े, किसी ज्ञानी महात्मा के दर्शन पा लें और मूर्खराज बने रहें, यह सब एक समान ही हैं। वह धनी दुर्जन है, वह अधिकारी दुष्ट, और वह महात्मा पाखण्डी है। दौर्भाग्य अथवा अयाचन का दोष देना विडम्बना है। फल होने पर किस पेड़ की डाल तनी खड़ी रही है? घनघोर बादल अकड़कर आकाश की ओर कहाँ उड़ जाते हैं ?आप ही आप झुकते हैं और आपको फल, पानी देते हैं। जो खुले हाथ दान न करे वह कभी धनी कहाने का अधिकारी नहीं। केवल धन ही नहीं, मान-मर्यादा सभी का दान करें। स्वभाव में दान रम जाय। दोनों हाथ देते जाएं वही हैं सिद्धराज। बाकी सब मूरखराज, भले ही सौजन्यता का केंचुल ओढ़े रहें, पर वास्तव में वह स्वार्थी हैं।

एक छोटी-सी कहानी है। एक गरीब था, पर था बड़ा सज्जन। उसके पिछवाड़े एक कद्दू की बेल उग आयी। उसमें अनगिनित कद्दू लगे। उस गरीब सज्जन ने अपने घरके सारे कद्दू गाँव-भर में बाँट दिये। आयु पूरी करके एक दिन वह चल बसा। पिछले जन्म के दान-पुण्य के प्रभाव से उसने धनी के घर जन्म लिया। होनी की बात, उसे पूर्वजन्म का ज्ञान बना रहा। वह सोचने लगा कि मैं कद्दू बाँट कर गरीब से धनी बन गया। चलो खेत के खेत कोंहड़े के बाड़े बना डालें और खूब कोंहड़े दान करें। हजारों-लाखों कोंहड़े बाँटे उस धनी सज्जन ने। पर जब मरा तब फिर गरीब के घर ही उसे जन्म लेना पड़ा। बात क्या है ? जब कुछ न था तब कोंहड़ा देना ठीक था, पर जब सब-कुछ हो गया तब भी कोंहड़ा ही दें तो काछी के घर जन्मना ही था।

आजकल ऐसे सज्जन बहुतेरे पाये जाते हैं जो किसी प्रकार आप बड़े हो गये हैं। वे सौजन्यता का सफल अभिनय करते हैं। मीठी बात करके लोगों को चलता कर देते हैं और भीतर-ही-भीतर शतरंज की चालें चलते रहते हैं। वास्तव में न वह बड़े हैं, न सज्जन ! अभिमान भी रखें, अभिनय भी करें, फिर सिद्ध सज्जन कैसे बनेंगे, अगर बने तो असली नहीं, बने हुए मात्र रहेंगे।

श्लोक ६२

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्नतु कंकणेन ।
विभाति कायः करुणाकुलानां परोपकारेण न चन्दनेन ॥

शब्द विच्छेद

श्रुतेनैव = श्रुतेन + एव
पाणिर्न = पाणिः + न
करुणाकुलानां = करुण + आकुलानां

शब्दार्थ

करुणाकुलानां = दयावानों के लिए
श्रोत्रं = कान
श्रुतेन = सुनने से
विभाति = शोभायमान होते हैं
कुण्डलेन न = कुण्डल, बाली पहनने से नहीं
पाणिः = (उनके) हाथ
दानेन = दान से
विभाति = शोभायमान रहते हैं
कंकणेन तु न = कंगन पहनने से नहीं
कायः = (उनका) शरीर
पर उपकारेण = परोपकार से
विभाति = शोभायमान रहता है
चन्दनेन न = चन्दन आदि पोतने से नहीं

भावार्थ

करुणावान के लिए कानों की शोभा सुनने में है, हाथों की शोभा देने में है और शरीर की शोभा परोपकार में है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में परोपकारी पुरुष के लक्षण गिनाये थे कि विनम्र बनकर अपने पास जो कुछ है दूसरों को नम्रतापूर्वक अर्पित करे, और उस नम्रता तथा दान में स्वाभाविकता हो। इस श्लोक में उसी स्वाभाविकता के अभाव की ओर संकेत है।

श्लोक में कुण्डल, कंकण तथा चन्दन की चर्चा है। शोभा की यह वस्तुएँ देश-काल के अनुसार बदलती रहती हैं। सिर पर खादी की टोपी और कलाई पर घड़ी भी उतनी ही शोभा की वस्तु हो सकती है जितनी कुण्डल, कंगन। इसी प्रकार श्रुति तथा शास्त्र श्रवण का है। देश-काल के अनुसार इसका भी भिन्न-भिन्न स्वरूप हो सकता है। इन बाह्य चिह्नों का महत्व कुछ भी नहीं है। स्नोपाउडर पोतने और भभूत रमाने में विशेष अन्तर नहीं मानना चाहिए। दोनों ही फैशन हो सकते हैं और अभिमान ही उनका प्रेरक हो सकता है, स्त्री के रूप में हो अथवा साधु की शक्ल में। वेश का महत्त्व नहीं, भावना प्रधान है। हमें हमेशा परोपकार के मापदण्ड से ही इन्हें नापना चाहिए।

परउपकार अर्थात् दूसरे का भला करना। पहले श्रुति ही लीजिए। परोपकार स्वयं शास्त्रसम्मत है। इसलिए शास्त्रादि श्रवण की कौन बात है! दूसरा कोई पास आए तो उसकी बात श्रद्धाभाव से सुनना, पहली शर्त है। पास बिठाकर ध्यान से सुनेगा ही नहीं तो कोई पास से उठाकर क्या देगा? संसार में सबको सभी से काम पड़ता ही है। लोग एक-दूसरे के पास जाते ही हैं। किंतु उस जानेवाले से कहना यही है कि पहले मिलन पर ही ताड़ जाने में कल्याण है। उस अभिमानी से बिना एक शब्द कहे चुपके से लौट आओ। उस अभिमानी के लिए इतना अपमान पर्याप्त है। दूसरी ओर अपने स्वाभिमान की रक्षा भी इसी में है। ऐसे दानी भी होते हैं जो आपको समय देकर बुलाते हैं और आपके पहुंचते ही टोपी संभालकर खड़े हो जाते हैं और कहते हैं—कहिए, हमें अर्जेण्ट काम पर जाना है। अक्सर बड़े आदमियों के कारिंदे, प्राइवेट और सरकारी सचिव कह देते हैं—साहब बहुत व्यस्त हैं। फुरसत नहीं है, फिर कभी आना। बेचारे यह सचिव नहीं जानते कि वह क्या-क्या कहे जा रहे हैं। वास्तव में वह अपने साहब को निकम्मा और निखट्टू कह रहे हैं, साहब इतने अयोग्य हैं कि वह अपने काम से निबट नहीं पाते या कोई काम ही नहीं करते। साहब हों या सचिव, जो काम करनेवाले हैं वह कभी कार्य-भार का बहाना नहीं बनाते।

ऐसे लोगों को अभिमानी कहा जाय या बेईमान। जब किसी को समय दिया तब उस समय के आप स्वामी कहाँ से रहे, वह तो कभी का उस याचक या आगं-

तुक के यहाँ गिरवी हो चुका है। इसलिए पहले शांति से सुनो। अपने पहनाव, पोशाक, दरबार और चोबदार को भूल जाओ या चन्दन, टोपी का आडंबर न दिखाओ ! यह याचक, आगन्तुक का पहला आर्डर है। अब दूसरा आर्डर ! 'विभाति कायः'। सारे शरीर से सेवा करो। याद रहे, काय अर्थात् शरीर के साथ 'करुणाऽकुलानां' का विशेषण है । शरीर के अंग-प्रत्यंग से ही नहीं, बल्कि अन्तःकरण की शुद्धि के साथ उसका काम कर डालो। बड़े बनो, और बहानेबाज़ी करो, यह शोभा नहीं देता । बहानेबाज़ी छोड़ो तभी तुम भले आदमी हो। और जो भले और बड़े आदमी होते हैं वह सब काम करते हैं और सबके लिए समय निकाल लेते हैं।

श्लोक ६३

पद्माकरं दिनकरो विकचं करोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः ॥

शब्द विच्छेद

नाभ्यर्थितः = न + अभ्यर्थितः
जलधरोऽपि = जलधरः + अपि
विहिताभियोगाः = विहित + अभियोगाः

शब्दार्थ

दिनकरः = सूर्य
न अभ्यर्थितः = बिना माँगे
पद्माकरं = कमल सरोवर को
विकचं = विकसित
करोति = कर देता है
(कमल खिलाता है)
चन्द्रः = चन्द्र
न अभ्यर्थितः = बिना माँगे

कैरवचक्रवाल = कंवल समूह को
विकासयति = खिला देता है
जलधर: अपि = मेघ भी
अनभ्यर्थित: = बिना प्रार्थना किये
जलं ददाति = जल देता है
सन्त: = सन्त जन
स्वयं = आप ही आप
परहिते = दूसरों की भलाई में (को)
विहित अभियोगा: = संकल्प किये
रहते हैं, अपना कर्तव्य मानते हैं

भावार्थ

कमल-कुमुदिनी की प्रार्थना की अपेक्षा न कर सूर्य-चन्द्र उन्हें विकसित करते हैं। याचना बिना ही बादल बरस पड़ते हैं और त्रस्त जगत को तृप्त कर देते हैं। सन्त, सत्पुरुष सामने जो पड़े उसकी सहायता के लिए सदा तैयार रहते हैं। उन्हें याचना की प्रतीक्षा नहीं होती, बल्कि सहायता की उत्कण्ठा रहती है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि शरीर की शोभा शृंगार में नहीं, अपितु सेवा में है। सेवा सहायता कोई हमसे ले भी तो, यों कुछ लोग कह देते हैं। इस श्लोक में इसी का समाधान है। अवसर उपस्थित होने या याचक के प्रस्तुत होकर प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं। सूर्य-चन्द्र को देखो, वह अपने आप उगते हैं और सब पर अपनी शीतल, तेजोमयी किरण का प्रसार करते हैं। जहाँ बरसना है वहाँ बादल अपने-आप हवा में उड़कर जाते हैं। पीछे लिखा गया है कि प्रथम मिलन में ही परिणाम का आभास मिल जाना चाहिए, नहीं तो अर्थी को बिना कहे लौट जाना चाहिए। 'बिना रोये माता भी बच्चे को दूध नहीं पिलाती' के समान लोकोक्तियों की यहाँ खिल्ली उड़ा दी गयी है। देनेवाला बिना माँगे देकर रहेगा। कहे बिना भी उसकी आत्मा सब-कुछ सुन लेती है। कोई किसी के पास जाय और उसका कारण न मालूम हो, ऐसा बहुत कम होता है। इसके अतिरिक्त साधन-सम्पन्न व्यक्ति के लिए कोई कार्य असाध्य नहीं होता, अर्थात् उस आगन्तुक का कार्य स्वयं कर सकता है या दूसरों से कह-सुनकर करा सकता है। किस-किस का क्या-क्या करें, ऐसी बातें भी वही लोग करते हैं जो किसी दूसरे का कुछ भी करना या करवाना नहीं चाहते और अगर वह किसी का कुछ कर देते भी हैं तो वास्तव में वही कार्य करते हैं, जिसके पीछे उनका गहरा स्वार्थ छिपा होता है। परहित जिसकी नस-नस में समाया हुआ है वह कभी समयाभाव का या उपयुक्त

अवसर न होने का बहाना नहीं करता। कभी ऐसी बात कहने का अवसर उपस्थित हुआ तो वह समझते हैं कि हम अपने कर्तव्य से गिर गये। 'विहिताभियोगा:' स्पष्ट सूचित करता है कि किसी का कुछ काम निकालकर तुम उस व्यक्ति का विशेष उपकार नहीं करते, बल्कि उल्टे उस व्यक्ति का उपकार मानो कि उसने ऐसा अवसर दिया। सच भी यही है कि लेनेवाला देनेवाले पर एहसान करता है और दाता को याचक का उपकार मानना ही चाहिए। कितने ही ऐसे देखने में आते हैं कि देनेवाला खुशी से देता है और बिना माँगे देता है, पर वह जिसे देना चाहता है वह लेने से इंकार करता है और हजार मनाये नहीं मानता और प्रेम से समझाता है कि मुझे इस समय इसकी आवश्यकता नहीं, बिना इसके भी मेरा काम चल जायेगा। इसमें किसी की हार-जीत का सवाल नहीं है। यह वह युद्ध है जिसमें दोनों ओर विजय ही विजय है। इसलिए दिये जाओ, चाहे कोई ले या न ले। इसमें एक बड़ा लाभ यह है कि अधिकारी याचक वंचित नहीं रह जाता और अनधिकारी अनुचित लाभ नहीं उठाता। बात उल्टी लगती है, पर वास्तविक स्थिति यही है। पात्र-अपात्र का जहाँ अधिक विचार होता है वहीं सुपात्र को कम मिलता है, अपात्र को अधिक और कुपात्र को उससे भी अधिक। कारण स्पष्ट है। जहाँ देनेवाला सोचेगा वहाँ स्वयं उसका स्वार्थ उसमें सम्मिलित रहेगा। ऐसे दानी अर्थी से कहीं बढ़े-चढ़े स्वार्थी हैं। राजनीति में तो यह साफ दीखता है।

श्लोक ६४

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

शब्द विच्छेद

सामान्यास्तु = सामान्याः + तु
परार्थमुद्यमभृतः = परार्थ + उद्यमभृतः

स्वार्थाविरोधेन = स्वार्थं + अविरोधेन
तेऽमी = ते + अमी

शब्दान्वय

ये स्वार्थान् परित्यज्य पर अर्थं घटकाः एते सत्पुरुषाः
ये स्वार्थ अविरोधेन परार्थं उद्यमभृतः ते तु सामान्याः ।
ये स्वार्थाय परहितं निघ्नन्ति ते अमी मानुष राक्षसाः
ये तु निरर्थकं परहितं निघ्नन्ति ते के न जानीमहे ॥

शब्दार्थ

ये = जो व्यक्ति
स्वार्थान् = अपने लाभ को
परित्यज्य = छोड़कर
पर अर्थं = दूसरों को लाभ
घटकाः = पहुँचाते हैं
एते = ऐसे (लोग)
सत्पुरुषाः = सत्पुरुष हैं, उत्तम पुरुष हैं
ये = जो
स्वार्थ = अपने लाभ को
अविरोधेन = जोखिम में न डालते हुए
परार्थ = दूसरों के लाभ के
उद्यमभृतं = कार्यों में लगे रहते हैं
ते तु सामान्याः = वे तो साधारण (कोटि के लोग) हैं

ये = जो
स्वार्थाय = अपने लाभ के लिए
परहितं = दूसरों के हितों पर
निघ्नन्ति = आघात करते हैं
ते अमी = ऐसे वे (लोग)
मानुष राक्षसाः = मनुष्य के रूप में राक्षस हैं
ये तु = किन्तु जो
निरर्थकं = बिना कारण, व्यर्थ ही
परहितं = दूसरों के हितों का
निघ्नन्ति = हनन करते हैं
ते के = वे कौन, कैसे लोग हैं
न जानीमहे = मैं नहीं जानता। अर्थात् राक्षसों से भी गये-बीते परम नीच हैं

भावार्थ

सत्पुरुष अपने हितों का बलिदान करते हुए भी दूसरों का हित साधते हैं। साधारण जन अपना काम सँभालते हुए दूसरों का भी काम कर देते हैं। ऐसे भी लोग होते हैं जो अपना काम बनाने के लिए दूसरों के कामों को बिगाड़ डालते हैं। ऐसे लोगों को मनुष्य नहीं राक्षस कहना चाहिए। किन्तु कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो बेमतलब

दूसरों को हानि पहुँचाने में लगे रहते हैं। ये इतने नीच हैं कि इनके लिए किसी नीच-से-नीच नाम की कल्पना करना भी कठिन है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में सत्पुरुष तथा सूर्यचन्द्रादि में सादृश्यता दिखाई गई थी। परहित ही उनका जीवन होता है। परन्तु सभी मनुष्य ऐसे नहीं हो सकते। पिछले श्लोक पर लिखते हुए मनुष्य के स्वार्थी स्वभाव पर कुछ प्रकाश डाला गया था। इस श्लोक में उसी स्वार्थ के आधार पर मनुष्यों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है—उत्तम, मध्यम, निकृष्ट।

उत्तम वह जो अपने लिए घर-गृहस्थी का विचार छोड़कर केवल जनसेवा में जीवन बिताते हैं। तपोधन महात्मा तथा सेवाधर्म निभानेवाले साधु-सन्त इस श्रेणी में आते हैं। ऐसे सत्पुरुषों की संख्या कम होती है और यह स्वाभाविक है।

मध्यम श्रेणी में वे लोग आते हैं जो अपने जीवन-निर्वाह के लिए कोई-न-कोई रोजगार-धन्धा या सेवावृत्ति को अपनाते हैं और अपनी गृहस्थी को चला लेते हैं। समाज में ऐसे लोगों की संख्या अत्यधिक होती है। ये लोग दूसरों के काम करते हैं, पर उसी से उनका काम भी किसी तरह चलता है। वकील, डाक्टर, व्यापारी, नौकरीपेशा, किसान, मजदूर सब इसी मध्यम श्रेणी में सम्मिलित हैं। श्लोक के अनुसार यदि ये प्रशंसनीय नहीं हैं तो निन्दनीय भी नहीं हैं।

अब तीसरी श्रेणी निकृष्टों की है। यह लोग मनुष्यों के बीच में मनुष्य का नाम धरकर रहते हैं, पर अपने समान मनुष्यों को हानि पहुँचाकर आप मौज करना चाहते हैं। चोर, डाकू, गुण्डे, पाकेटमार, व्यभिचार तथा कुटनी का धन्धा करनेवाले इस श्रेणी में आते हैं। खुद कोई उत्पादक-कार्य न कर दूसरों की कमाई को हथियानेवाले ऐसे लोगों को राक्षस कहा गया है।

उपरोक्त तीनों प्रकार के लोग मनुष्य ही हैं, परन्तु यही मनुष्य स्वार्थत्याग करके उत्कृष्ट श्रेणी में जाकर देवता बन गये अर्थात् मानव-रूपी देवता। इसी प्रकार कुछ लोग निकृष्ट श्रेणी में आकर राक्षस बन जाते हैं अर्थात् मानव-रूपी दानव। बीच के सभी लोग साधारण मनुष्य हैं। इन्हें देवता नहीं कह सकते, पर दानव भी नहीं कह सकते। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि यदि वह देव श्रेणी तक न पहुँच सके तो मानव बना रहे। समाज का कुछ-न-कुछ काम करे और अपना निर्वाह करे। किन्तु जो उत्पादक-कार्य न करके छीना-झपटी में लग जाते हैं वे दानव बन जाते हैं और यह मानव के लिए शोभा नहीं देता। इन्हें मनुष्य नहीं, पशु कहना चाहिए, वह भी क्रूर जन्तु।

इन तीनों के अतिरिक्त एक चौथी श्रेणी के लोगों को भी यहाँ गिनाया गया है। ऐसे लोग अपने किसी स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए नहीं बल्कि दूसरों को त्रास देना मात्र उनका उद्देश्य होता है। अपना कोई लाभ न हो तब भी दूसरों को हानि पहुँचाना उनके लिए जरूरी होता है। बदमाश, गुंडे भी कुछ ऐंठने के लिए ऐसा करते हैं। क्रूर जन्तु भी अपना पेट भरने के लिए दूसरों की हिंसा-हत्या करते हैं। ऐसे लोग राक्षसों से गिरे हुए, गुण्डे-बदमाशों से गिरे हुए और हिंसक जन्तुओं से भी गये-गुजरे हैं। मानव, दानव और जंगली जानवरों में से किसी की उपमा देना स्वयं उन राक्षसों तथा क्रूर जानवरों का अपमान करना है। चुगलखोरी और छेड़छाड़ करनेवाले तथा डाह करनेवाले ऐसे ही लोग होते हैं। चुगली में किसे क्या मिलता है ? छेड़छाड़ में कौन क्या पाता है ? फिर भी करते हैं। बिचारे मजबूर हैं अपनी आदत से।

यह सब-कुछ श्लोक के शब्दों का अर्थ, अभिप्राय मात्र हुआ। देखना यह है कि समाज इसके कुप्रभाव से बचे कैसे ! उपाय एक ही है। समाज का नेतृत्व पहली श्रेणी के सत्पुरुषों को करना चाहिए। इससे समाज के बहुसंख्यक निरापद जन अर्थात् मध्यम श्रेणी के जनसाधारण को अपने-अपने कामों को चला लेने में सुविधा होती है और साथ ही तीसरी-चौथी श्रेणी के नीच तथा निरंकुश व्यक्तियों पर अंकुश रहता है। पर अगर कहीं सत्पुरुषों ने समाज का नेतृत्व नहीं सम्हाला तब क्या होगा ? नेतृत्व का स्थान खाली नहीं रहेगा। मध्यम श्रेणी के निरापदजन कभी नेतृत्व ग्रहण नहीं करेंगे। तब आगे बढ़ेंगे नीच श्रेणी के राक्षस प्रवृत्ति के लोग। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इनका काम दूसरों को कष्ट देकर अपना इष्ट सिद्ध करना मात्र है। यह क्रूर होते ही हैं। इनके मन्त्री तथा सलाहकार बनेंगे चौथी श्रेणी के वह निकम्मे तथा परम नीच जिनको दिन-रात दूसरों के घर-द्वार जलाकर भस्म करने की चिन्ता सताती रहती है। अब बताइए संसार सुखी कैसे रहेगा। इस सर्वव्यापी दुःख का जिम्मेदार कौन ?

इसकी जिम्मेदारी साधारणतया मध्यम श्रेणी के' निरापद लोगों पर डाली जाती है। पंचायती राज में अवश्य करके इन्हीं के सिर दोष मढ़ा जाता है। आजकल के प्रजातन्त्र में ही नहीं, सभी तन्त्रों में यही होता है। पर यह धारणा एकदम निराधार है। इस मध्यम श्रेणी पर कोई जिम्मेदारी नहीं है, न अच्छे की और न बुरे की। निकृष्ट तथा निकृष्टतम श्रेणी पर भी जिम्मेदारी नहीं है। इनसे बुराई जरूर फैलती है परन्तु पूर्णतया वही जिम्मेदार नहीं है।

जिम्मेदारी नेतृत्व के सिर पर है। नेतृत्व साधारणतया दूसरी श्रेणी के लोगों के हाथ रहता है। दूसरी श्रेणी का बोलबाला होते हुए भी नेतृत्व का सेहरा

किसी सत्पुरुष के सिर बाँधा जाता है। नेतृत्व के लिए सिद्धान्तों का सहारा लेना ही पड़ता है। सिद्धान्तों की दुहाई दिये बिना समाज का नेतृत्व किसी श्रेणी के हाथ नहीं रह सकता। सिद्धान्त के साथ सत्पुरुष का होना भी अनिवार्य है। तीसरी श्रेणी अर्थात् राक्षस प्रवृत्ति के लोग सिद्धान्तों की दुहाई देकर किसी सत्पुरुष की आड़ में अपना उल्लू सीधा करने की कोशिश करेंगे। यहीं आकर उस सत्पुरुष की परख होती है। यदि नेतृत्व करने वाले सत्पुरुष में कुछ भी कमजोरी रही, और वह कमजोरी कई प्रकार की हो सकती है, अभिमान और आत्म-प्रतिष्ठा का लोभ भी एक बड़ी कमजोरी है। वह या यो यह समझता है कि मेरे रहते यह बुरे लोग कुछ न कर पायेंगे या अपने प्रतिष्ठा के लिए उन शक्तियों का उपयोग भी आवश्यक समझता है। इस प्रकार अमृतघट के चारों ओर विष-बेल फैल जाती है। सारी व्यवस्था विषाक्त हो जाती है। सेवकवृन्द में भ्रष्टाचार की बीमारी फैल जाती है। नेतृत्व चेष्टाविहीन हो जाता है। समाज में हाहाकार मच जाता है।

परन्तु इसकी जिम्मेदारी अकेले उस सत्पुरुष पर ही नहीं है जो साहस करके नेतृत्व ग्रहण करता है। सत्पुरुषों से संसार खाली नहीं है। ऐसे सत्पुरुष भी पर्याप्त मात्रा में सदा विद्यमान रहते हैं, किन्तु 'भलेमानुस' बनकर अलग-अलग रहते हैं और मान बैठते हैं कि हम पाप से बरी हैं। यह उनकी भारी भूल है। भगवान् ने वह सद्वृत्ति उन्हें दी पर यह उसका सदुपयोग नहीं करते। श्लोक में जैसा कि कहा गया है, उसका एकमात्र उपयोग स्वभावेन सबकी सेवा करना है और ऐसा न करना भगवान की उस महान देन का दुरुपयोग है। इस प्रकार सारी खराबियों की जिम्मेदारी इन सत्पुरुष कहानेवालों के सिर पर आती है। अलग-थलग रहकर अप्रत्यक्ष रूप से कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप में राक्षस-प्रवृत्ति की सहायता करते हैं। वास्तव में यह सज्जन उन दुर्जनों से बढ़कर धूर्त तथा दुष्ट हैं। समाज अनदेखी करे, सरकार अनसुनी करे, पर भगवान् इन पाखंडियों को कभी क्षमा नहीं करेगा।

अन्त में एक नई बात। श्लोक में उन परम नीचों तक को अलग कर दिया गया है जो अपना कुछ लाभ न देखते हुए भी दूसरों को दुःख देने की टोह में रहते हैं। वह चौथी श्रेणी के अन्दर आते हैं। एक पाँचवीं श्रेणी भी है जो बुराई में उस चौथी से भी बढ़ी-चढ़ी है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो महज दूसरों का नुकसान करने के लिए अपना नुकसान भी सहने को तैयार रहते हैं। ऐसे नमूने भी समाज में काफी मिलते हैं। ऐसे लोग क्या उन परम नीचों से भी नीचतर नहीं हैं?

श्लोक ६५

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ।।

शब्द विच्छेद

पापान्निवारयति=पापात्+निवारयति
लक्षणमिदं=लक्षणम्+इदम्

शब्दान्वय

पापात् निवारयति हिताय योजयते,
गुह्यं निगूहति, गुणात् प्रकटी करोति,
च, आपद्गतं न जहाति, काले ददाति,
सन्तः इदम् सन्मित्र लक्षणम् वदन्ति।

शब्दार्थ

सन्तः=सत्पुरुष
सन्मित्र=अच्छे दोस्त के
इदम् (इति)=यह
वदन्ति=कहते हैं, बताते हैं
(कि वह अपने दोस्त को)
पापात्=पापों से, पापाचरण से
निवारयति=बचाता है, दूर रखता है,
(और)
हिताय=अच्छे कामों में, पुण्य कामों में
योजयते=लगाता है
गुह्यं=गोपनीय बातों को, छिपाने-योग्य बुरी बातों को

निगूहति = छिपाता है, अर्थात् किसी से कहता नहीं है
गुणान् = सद्गुणों को
प्रकटी करोति = प्रगट करता है
आपद्गतं = विपत्ति में पड़े हुए को
न जहाति = तजता नहीं है
च = और
काले = समय पर
ददाति = देता है, सहायता करता है

भावार्थ

बुराई से बचाना, भलाई के लिए प्रेरित करना, रहस्य को गुप्त रखना अथवा दोषों पर परदा डालना या अनदेखी करना, गुणों का बखान करना, विपदा में विलग न होना, समय पर सहायता करना, यह सब सच्चे साथियों के लक्षण हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि सत्पुरुषों को ही समाज का नेतृत्व करना चाहिए, साथ ही यह संकेत भी दिया गया था कि नेतृत्व तो एक-आध ही के हाथ होगा किन्तु समाज में सत्पुरुष अनेक हो सकते हैं। स्पष्ट है सत्पुरुषों का परस्पर सांगत्य होगा। इन्हीं को यहाँ सन्मित्र कहा गया है।

एक ग्राम हो अथवा प्रान्त, एक देश हो अथवा सारा संसार, समाज के लिए कोई सत्पुरुष ही योग्य नेतृत्व प्रदान कर सकता है। सामूहिक नेतृत्व में समिति के रूप में अनेक व्यक्ति भी हो सकते हैं। एक हो अथवा अनेक, नेतृत्व सत्पुरुषों के ही हाथ में होना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों को समाज के अन्य सत्पुरुषों का सांगत्य प्राप्त होगा ही। नेतृत्व के प्रति अन्य पुरुषों के क्या कर्तव्य हों उन्हें यहाँ गिनाया गया है। यदि वे अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते और सच्चे साथी के समान नेतृत्व का भार उठानेवालों की सहायता नहीं करते तो वह सन्त सत्पुरुष कहाने योगग नहीं।

यह बातें जिस प्रकार सामाजिक रूप से लागू होती हैं उसी प्रकार व्यक्तिगत रूप से भी लागू होती हैं। कोई सत्पुरुष साधारण गृहस्थी चलाता है और कोई स्वच्छन्द विचरा करता है। ऐसे लोगों के प्रति सज्जन कहाने वालों का यही धर्म है। 'हमें क्या पड़ी है' का बहाना नहीं चल सकता।

यहाँ पर एक और दृष्टिकोण से भी विचार करना जरूरी है। मित्र सभी के होते हैं और सभी किसी-न-किसी के मित्र होते हैं। देखना यह है कि क्या कोई व्यक्ति उन सबको मित्र मान सकता है या क्या वे सभी लोग मित्र कहाने लायक

हैं ? व्यक्ति की परीक्षा होने के बाद उसे मित्र कहा जाय या मित्र बनाने के बाद परीक्षा की प्रतीक्षा करें ? यदि पहले ही परीक्षा लें तो शायद मित्र बनने से पहले वह शत्रु बन जाय और अगर पहले ही मित्र मान लें तो परीक्षा का अवसर आने से पहले ही काफी हानि उठानी पड़े । फिर क्या किया जाय ? समाधान सरल है । किसी को शत्रु या विरोधी न मानें और सर्वसामान्य व्यवहार रखें । तब तो जो शत्रु नहीं वे सभी मित्र । श्लोक में 'सन्मित्र' कहा है अर्थात् मित्र के साथ सत् का विशेषण लगा है । इस 'सत्' की परीक्षा में जो-जो खरे उतरें वही सन्मित्र । एक ही मित्र में श्लोक में गिनाये गये सभी लक्षण एक साथ न मिलें तो भी चिन्ता नहीं । एक भी लक्षण मिल गया तब भी काफी है । अन्य गुण अवसर पड़ने पर अपने आप प्रगट हो जायेंगे । ऐसे सन्मित्र को यत्नपूर्वक साथ रखने की चेष्टा करनी चाहिए । दूसरी ओर मित्र बननेवाले के लिए भी आदेश है कि वह अपने में सन्मित्र के गुणों को पोषण करने की चेष्टा करे । जिसका वह दोस्त बने उसे पाप-मार्ग से बचाये, शुभ कार्यों में लगाये, उसकी खूबियाँ सबके सामने बताये, दोषों को एकान्त में समझाये और खुद उसकी, आपकी या औरों की गलती से कभी उस पर आफत आ पड़े तो खुद सीना तानकर खड़ा हो जाय और अपनी सारी सम्पत्ति उस पर निछावर करने के लिए तैयार हो जाय । ऐसे ही व्यक्ति सन्मित्र कहायेंगे और संयोग से कभी वे विरोध पर बाध्य हो जायें तब भी उनकी सौजन्यता पर सन्देह न करें । ऐसे समय पर आपकी सौजन्यता भी कसौटी पर होती है । इकतरफा फतवा नहीं दिया जा सकता ।

श्लोक ६६

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः ।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवदृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ।।

शब्द-विच्छेद

क्षीरेणात्मगतोदकाय = क्षीरेण + आत्मगतः + उदकाय
तेऽखिलाः = ते + अखिला

क्षीरोत्तापमवेक्ष्य = क्षीर + उत्तापम् + अवेक्ष्य
स्वात्मा = स्व + आत्मा
पावकमुन्मनस्तदभवदृष्ट्वा = पावकम् + उन्मनः + अभवत् + दृष्ट्वा
मित्रापदं = मित्र + आपदम्
पुनस्त्वीदृशी = पुनः + तु + ईदृशी

शब्दान्वय

आत्मगतः उदकाय क्षीरेण पुरा ते अखिलाः गुणा दत्ताः हि
क्षीर उत्तापं अवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशनौ हुतः
तत्तु मित्र आपदं दृष्ट्वा पावकं गन्तुं उन्मनः अभवत्
तेन जलेन युक्तं (सत्) शाम्यति
पुनः सतां मैत्री ईदृशी।

शब्दार्थ

आत्मगतः = अपने में मिले हुऐ
उदकाय = पानी को
क्षीरेण = दूध द्वारा
पुरा = पहले
ते = (अपने) वह
अखिलाः = सभी
गुणाः = गुण (सफेद रंग तथा मीठा स्वाद)
दत्ता हि = दिये ही गये
क्षीर उत्तापं = (तब पानी) दूध के खौलने को
अवेक्ष्य = देखकर
तेन पयसा = उस पानी द्वारा, उस पानी ने
स्व आत्मा = अपनी आत्मा को, अपने को
कृशानौ = अग्नि में
हुतः = आहुति दी, पानी जल गया
तत् तु = वह (दूध) भी
मित्रा आपदं = मित्र की विपत्ति को
दृष्ट्वा = देखकर
पावकं = आग में
गन्तं = जाने को
उन्मनः = उत्सुक
अभवत् = हुआ (दूध में उफान आ गया)
तु = किन्तु
तेन जलेन = उसी जल से
युक्तं (सत्) = युक्त होने पर, जल का छींटा देने पर
शाम्यति = शान्त हो जाता है, उफान बैठ जाता है
पुनः = फिर, अतः
सतां = सज्जनों की
मैत्री = दोस्ती
ईदृशी = इस प्रकार (उच्च कोटि की) होती है

भावार्थ

दूध और जल भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं, रंग और रुचि दोनों की अलग-अलग है, किन्तु दोनों एक साथ मिल जायें तो जल और दूध को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। जल भी दूध के समान सफेद और स्वादिष्ट हो जाता है। यह साधारण नियम है। साधारणतया दूध को गर्म करने के बाद ही उपयोग में लाया जाता है। दूध को गरमाते समय ज्यों-ज्यों दूध खौलने लगता है त्यों-त्यों जल दूध से भी अधिक वेग से तप जाता और भाप बन कर उड़ जाता है। हम यह भी देखते हैं कि जब दूध खूब खौल जाता है तब दूध से उफान उठकर आग में गिरने लगता है। परन्तु ज्योंही पानी का छींटा दें उफान थम जाता है। इस श्लोक में इसी जल तथा दूध के सांगत्य का सज्जनों की मित्रता से मिलान किया है। सज्जन जब स्नेहबन्धन में बँध जाते हैं तब वह एक-दूसरे को अपने सदगुणों से प्लवित करते हैं और उनकी मित्रता इतनी गाढ़ी होती है कि एक-दूसरे के लिए कठिन-से-कठिन विपदाओं को झेलने के लिए तैयार होते हैं, जैसे दूध के संगत से जल भी दूध की मर्यादा को प्राप्त हो गया। दूध को आग पर खौलाया गया तो जल ने अपनी आहुति दी और भाप बन गया। दूध से यह न सहा गया और स्वयं आग में कूद पड़ा और शान्त तभी हुआ जब जल से पुनर्मिलन हुआ।

विशेषार्थ

इस श्लोक का पिछले श्लोक से मिलान कीजिए। पिछले श्लोक में सन्मित्र के लक्षण गिनाते हुए जो कुछ कहा गया था उन्हें इस श्लोक में सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है। सन्मित्र को दूध की उपमा दी गयी है और जल को साधारण व्यक्ति की। जल ने दूध का आश्रय लिया। दूध ने अपने सारे गुण उसे दिये। उसके दोषों पर परदा डाला। अर्थात् साधारण जल भी दूध के समान दीखने लगा, बेमोल जल को दूध का मूल्य मिला। विपत्ति आने पर यानी आग पर चढ़ाये जाने पर जल भाप बना तो दूध आग में कूद पड़ा। संसार में दूध कम और जल अधिक होता ही है। अधिक मात्रा वाले जल के लिए थोड़ी मात्रा वाले दूध को यही करना पड़ेगा।

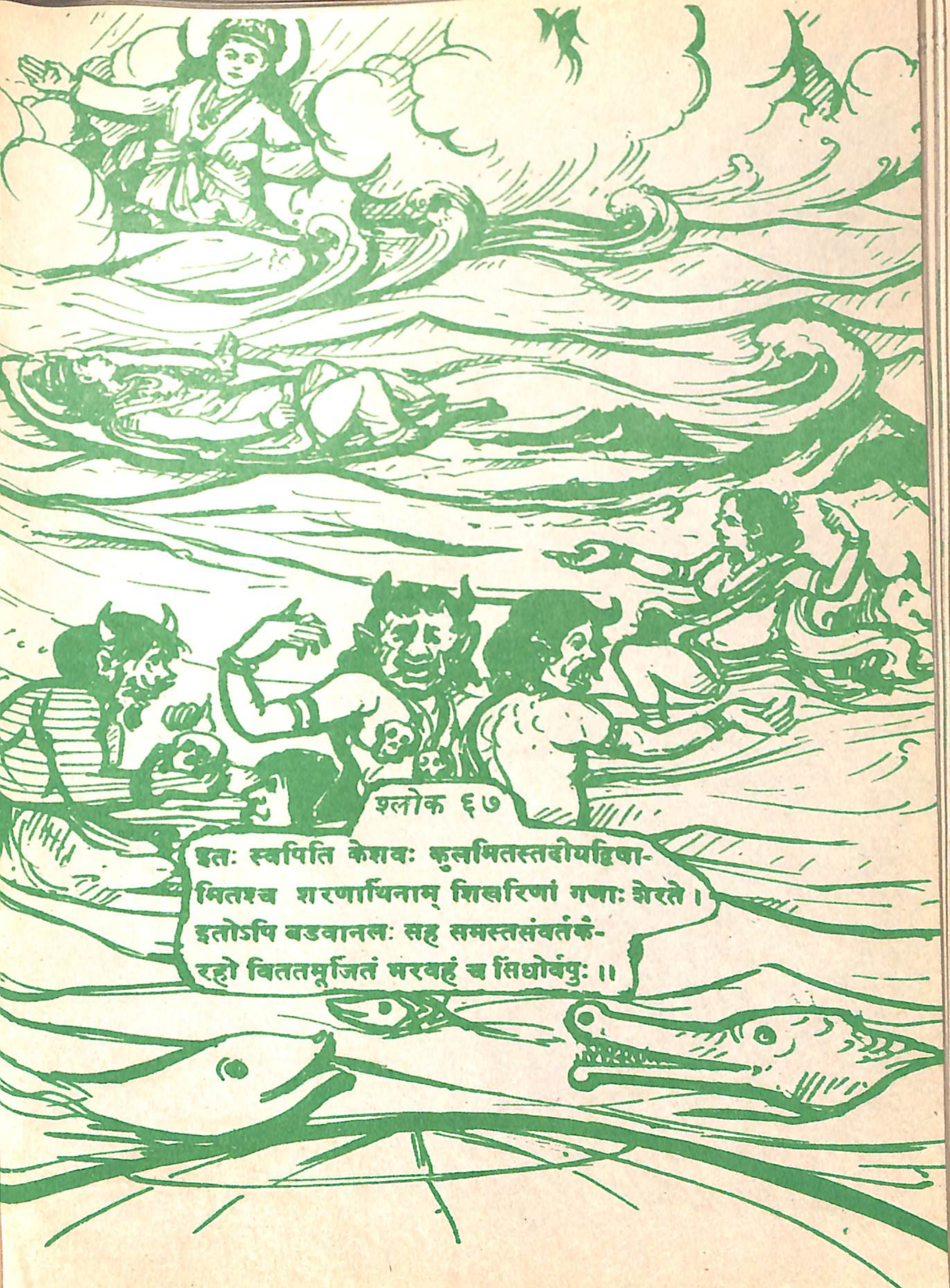

श्लोक ६७

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनाम् शिखरिणां गणाः शेरते ।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरवहं च सिंधोर्वपुः ॥

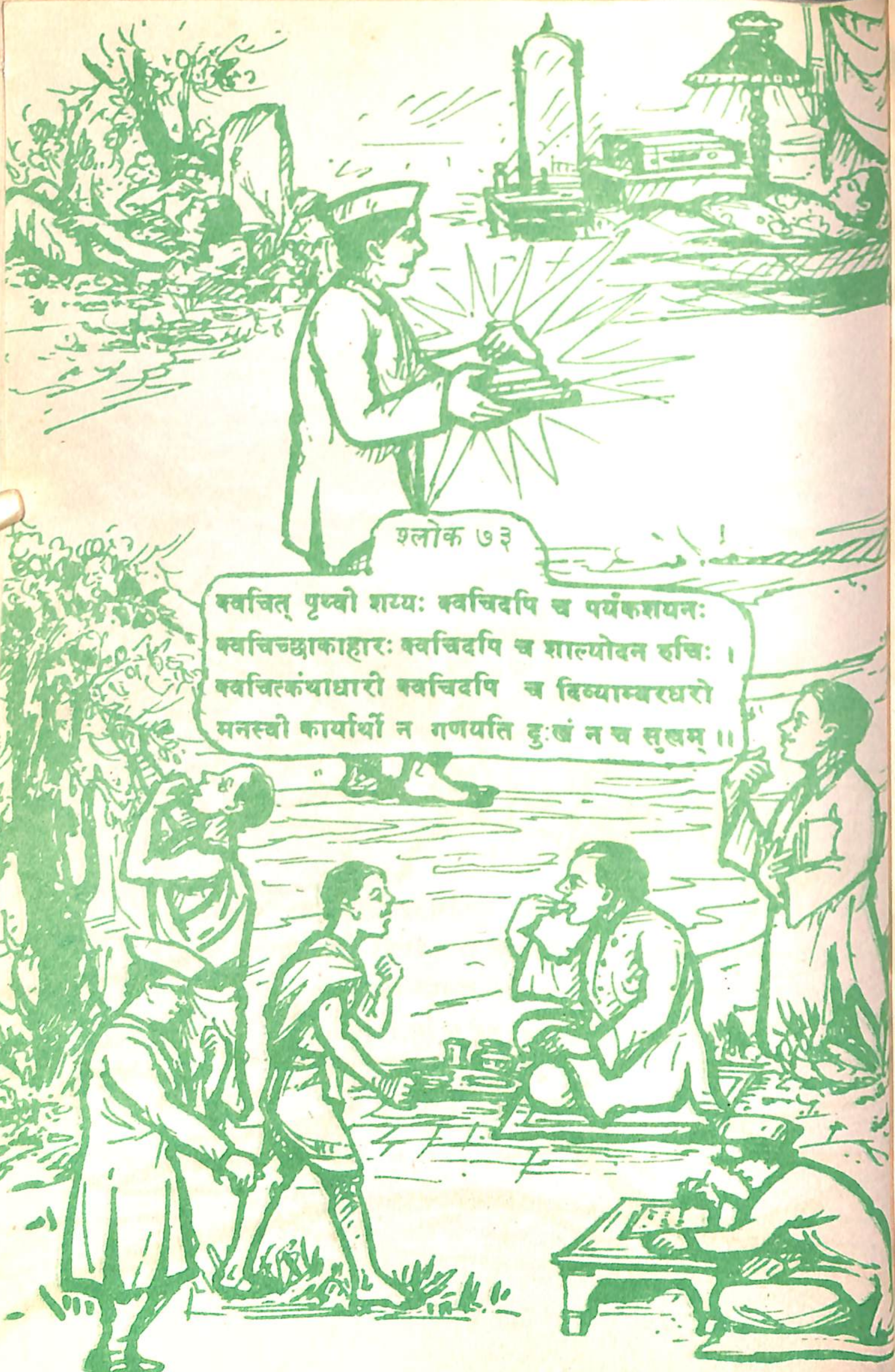

श्लोक ७३

क्वचित् पृथ्वी शय्य: क्वचिदपि च पर्यंकशयन:
क्वचिच्छाकाहार: क्वचिदपि च शाल्योदन रुचि: ।
क्वचित्कंथाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दु:खं न च सुखम् ।।

ठीक उसी प्रकार समाज में साधारण जन जल के समान अधिक होते हैं और सज्जन दूध की तरह कम। सज्जन कम भले ही हों, पर सारे समाज का भार उन्हें उठाना ही होगा। समाज का नेतृत्व करना है तो अपनी मान-मर्यादा का विचार त्यागना होगा। दूध में जल मिले तो पानी का मूल्य बढ़ा पर दूध का मूल्य तो घटा ही। पनिया दूध बना। जनता का नेतृत्व करनेवाले को जनता के स्तर की ओर झुकना होगा। उन्हीं के साथ घुल-मिलकर उनके जैसे रहते हुए उन्हें अपने रंग में रंगना होगा। हम जनता के लिए कर रहे हैं, इसका मान अथवा भान नहीं होना चाहिए। जिनके लिए आप सब करते और सहते हैं समय आने पर वे साथ छोड़ भी सकते हैं। आग पर चढ़ाये जाने पर पानी साथ छोड़कर उड़ गया। तब दूध और भी अधिक कष्ट सहने के लिए बरतन से छलक कर आग में कूद पड़ता है। नेता को उच्च आसन पर सुरक्षित बैठने के लिए नहीं बल्कि आग में कूदने के लिए तैयार रहना चाहिए।

फिर इस सज्जन, साधारण जन अथवा दूध, पानी का तारतम्य क्या चीज है। अपनी-अपनी जगह सभी अच्छे, ऊँचे हैं। पानी की खातिर दूध अपने को पानी बनाता है तो पानी भी लिपाई-पोताई के काम में अपने को गोबर में मिला लेता है। अपने को गन्दा करके गंगाजल मनुष्य के शरीर को शुद्ध कर देता है। वही जल भट्टी में तपकर धोबी के मैले कपड़ों को साफ कर देता है।

इसी प्रकार मानव श्रेणी में उत्तम पुरुष जिस सहानुभूति तथा सहनशीलता का प्रदर्शन करते हैं, उसी को मध्यम तथा निकृष्ट जन भी करते हैं। प्रत्येक माता-पिता, चाहे वे किसी कोटि के क्यों न हों, अपनी सन्तान के लिए हर प्रकार का जोखिम उठाते हैं। जिसे अपना समझते हैं उसके साथ सभी करते हैं। किन्तु किसी विशेष व्यक्ति को सज्जन इसीलिए कहते हैं कि वह सभी को अपना समझता है। अन्य सब लोग महानिकृष्ट होते हैं, इस प्रकार समझना भी भूल है। समाज जिसे महापापी और दुष्ट मानता है वह भी कभी-कभी महात्माओं के समान अनजान-से-अनजान व्यक्ति और जानी दुश्मन के साथ सहानुभूति से भी आगे बढ़कर स्वयं अपनी आहुति देते हुए देखे जाते हैं। जो मानव है उसमें मानवता भी जरूर होगी।

इसलिए सबको अपना भाई-बन्धु समझने में ही कल्याण है। जो जितना इस प्रकार समझे और आचरण करे वह उतना बड़ा सज्जन। अपने-अपने समय पर सभी करेंगे। कौन कब करे और क्या करे, वह अपने-आप देख ले। पति, पिता या नेता समझकर कोई न करे। करे मित्र मानकर, सन्मित्र के नाते। स्वामी-सेवक भी परस्पर मित्र। पति-पत्नी भी परस्पर मित्र। नेता-अनुयायी भी मित्र। समाज

में सुव्यवस्था रहे, इसके लिए नेतृत्व आवश्यकीय और नेतृत्व ठिकाने से चले इसके लिए मित्रत्व की भावना का महत्व ।

श्लोक ६७

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनाम् शिखरिणां गणाः शेरते ।
इतोऽपि बडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरवहं च सिंधोर्वपुः ।।

शब्द विच्छेद

कुलमितस्तदीयद्विषामितश्च = कुलम् + इतः + तदीय + द्विषाम् + इतः + च
इतोऽपि = इतः + अपि
संवर्तकैरहो = संवर्तकैः + अहो
विततमूर्जितं = विततम् + ऊर्जितम्
सिन्धोर्वपुः = सिन्धुः + वपुः

शब्दान्वय

केशवः इतः स्वपिति, इतः तदीय द्विषाम् कुलम् (तिष्ठति),
इतः शरणार्थिनाम् शिखरिणाम् गणाः शेरते,
इतः अपि समस्त संवर्तकैः सह बडवानलः (वसति)
सिन्धोः वपुः विततम् ऊर्जितम् भरवहं च अहो !

शब्दार्थ

केशवः = विष्णु भगवान
इतः = यहाँ
स्वपिति = सोते हैं, (तो)
इतः = यहाँ यानी दूसरी जगह, वहां
तदीय = उसके (उनके)
द्विषाम् = शत्रुओं का
कुलम् = टोली, समूह (काल केयादि राक्षस)
तिष्ठति = रहता है
इतः = यहां (किसी और जगह)
शरणार्थिनाम् = शरण लिये हुए
शिखरिणाम् = पर्वतों की
गणाः = मालाएं
शेरते = सिर छिपाये पड़े हैं
इतः अपि = किसी और जगह भी
समस्त = सभी
संवर्तकैः सह = प्रलयकारी घटाओं के साथ

बड़वानलः = बड़वाग्नि
वसति = वास किये हैं
सिन्धोः = समुद्र का
वपुः = शरीर (कितना)
विततम् = विशाल है
ऊर्जितम् = (और) बढ़ता हुआ है
भरवहं च = और भार उठाये है
अहो = (कितना) आश्चर्यजनक है।

भावार्थ

समुद्र की गम्भीरता चौंकानेवाली है। वटपत्रशायी विष्णु भगवान सागर में एक ओर आराम कर रहे हैं तो उसी सागर में उसी विष्णु भगवान के शत्रु कालकेयादि राक्षस गण बेफिक्र बसे हुए हैं। एक ओर बड़वानल के ताप से इन्द्र भगवान के दल-बादल उमड़ रहे हैं तो उसी सागर में उसी इन्द्र भगवान के वैरी मैनाक आदि पर्वत-राज विराजमान हैं। समुद्र का विस्तार इतना अधिक है बल्कि उसका हृदय इतना विशाल है कि सभी प्रकार के परस्पर-विरोधी तत्त्वों को भी वहाँ आश्रय मिल जाता है। और स्वयं आप ज्यों-का-त्यों बना रहता है। घटता, गिरता नहीं, वरन् दिन-पर-दिन भरता और उभरता रहता है। समुद्र की यह महानता आश्चर्यजनक है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में सन्मित्र के लक्षण बताये गये थे। इस श्लोक में उन गुणों से सम्पन्न वस्तु की उपमा दी गई है। इस संसार में समुद्र ही सबसे बड़ा है। सारी धरती को एक जगह करें तो उससे तीन गुना बड़ा होगा सागर। पानी में रहनेवाली मछली आदि जल-जन्तु वहाँ हैं तो धरती पर उगने वाली शश्यादि भी उसके अन्दर हैं। आग और पानी का मेल नहीं, पर सागर में पानी के साथ-साथ आग भी—बड़वाग्नि के रूप में वर्तमान है। सागर यदि इन्द्र भगवान का मित्र बनकर वर्षा के लिए बादल उत्पन्न करता है तो उसी इन्द्र के शत्रुओं को अपने यहाँ छिपने की जगह दे रखी है। पौराणिक गाथाओं में इन सबकी विस्तृत चर्चा है। यहाँ उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं। किन्तु पिछले श्लोक में जिस मित्रमय नेतृत्व की बात कही गयी है, उस पर यहाँ ध्यान देना अप्रासंगिक न होगा।

समाज का नेतृत्व करनेवालों में भी यह गुण होने चाहिए। शत्रु-मित्र की भावना से उन्हें ऊपर उठना चाहिए। यथास्थान सबको आश्रय देना चाहिए। दोस्त का दोस्त भी हमारा दोस्त, दुश्मन का दोस्त भी हमारा दोस्त। सजातीय

हमारा, विजातीय भी हमारा। तभी वह सारे समाज के नेता माने जायेंगे। चाहे जो नाम रख लें। टोली, दल के नेता समाज के नेता नहीं कहला सकते। यह हुई नेता की बात। अब अनुयायी वर्ग की बात का भी विचार कीजिए।

नेता समुद्र के समान है। उसके पास सभी प्रकार के लोग जायेंगे। साधारण जन इतने ऊँचे विचारवान नहीं हो सकते। उनके आपसी मनमुटाव की बहुत-सी बातें हो सकती हैं। परन्तु उन्हें अपनी उन आपसी बातों में नेताओं को घसीटना नहीं चाहिए। नेता ऐसी बातें करेंगे जो उनकी समझ से बाहर होंगी। नेता ऐसे लोगों को भी अपने यहाँ आने-जाने देंगे जिन्हें आप फूटी आँख से देखना नहीं चाहते। फिर भी नेता पर शंका उठाना या उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचना समाज की व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करना है। इसलिए अनुयायी वर्ग को धुन्ध नहीं मचानी चाहिए। साथ ही नेतृत्व को भी चाहिए कि अन्धा न बने। आंख खोलकर चले--सबको साथ लेकर चले।

श्लोक ६८

जातः कूर्मः स एकः पृथुभुवनभरायार्पितं येन पृष्ठं
श्लाघ्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमति नियमितं यत्र तेजस्विचक्रम् ।
संजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणे नोपरिष्टान्न चाधो
ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवदपरे अन्तवो जातनष्टाः ॥

शब्द विच्छेद

भरायार्पितं = भराय + अर्पितं
नोपरिस्टान्न चाधो = न + उपरिष्टात् + न + च + अधः
ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवदपरे = ब्रह्माण्ड + उदम्बर + अन्तः + मशकवत् + अपरे

शब्दान्वय

पृथुभुवन भराय येन पृष्टं अर्पितं स कूर्म एकः जातः
यत्र तेजस्वि चक्रं नियमितं भ्रमति सः ध्रवस्य जन्म श्लाघ्यं

अपरे जन्तवः परहितकरणे व्यर्थ पक्षाः संजात उपरिष्टात् न
अधः च न, ब्रह्माण्ड उदुम्बर अंतः मशकवत् जात नष्टाः

शब्दार्थ

पृथु = बड़े भारी
भुवन = पृथ्वी आदि लोकों का
भराय = भार सहने के लिए
येन = जिसके द्वारा (अपनी)
पृष्टं = पीठ
अर्पितं = दी गयी
सः = वह
कूर्म = कच्छप (अवतार)
एकः = अकेला ही
जातः = जन्मा है, अर्थात् जन्म उसका सार्थक है
यत्र = जहाँ, जिसके चारों ओर
तेजस्वि = जगमगाता
चक्रं = तारामंडल
नियमितं = नियमानुसार
भ्रमति = चक्कर काटता है (उस)
ध्रुवस्य = ध्रुव का
जन्म = जन्म
श्लाघ्यं = प्रशंसनीय, बखानने योग्य है (किन्तु जो)
अपरे = अन्य सभी
जन्तवः = प्राणी
परहित = परोपकार के
करणे = लिए
संजात = पैदा होकर भी
व्यर्थ = बेकार, निस्सार
पक्षाः = पक्ष रखते हैं, अर्थात् निरर्थक जीते हैं (ऐसे सभी प्राणी)
न उपरिष्टात् = न (ध्रुव की तरह) ऊपर हैं
न अधश्च = न (कच्छप की तरह) नीचे हैं (वरन्)
ब्रह्माण्ड = ब्रह्माण्ड रूपी
उदुम्बर = गूलर के फल के
अन्तः = भीतरवाले
मशकवत् = मच्छर, कीड़ों की तरह (बेकार)
जात नष्टाः = जनमते और मरते हैं।

भावार्थ

संसार में जन्म मात्र दोनों का सार्थक है, एक उस कच्छप का जो सबसे नीचे आँखों से ओझल कहीं बैठकर अपनी पीठ पर सात-सात--चौदह लोकों का भार थामे हुए है अथवा उस ध्रुव तारा का जो ऊपर आकाश में सबके सामने जगमगा रहा है और जिसके चारों ओर नक्षत्रमंडल नियमित रूप से चक्कर काट रहा है। शेष सबका जीवन निरर्थक है। वे न नीचे ही हैं न ऊपर, गूलर के मच्छरों के से जनमते मरते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक की टिप्पणी से इस श्लोक का गहरा सम्बन्ध है। वैसे इसमें दो ही बातें कही गयी हैं। ऐसे काम करो कि तुम्हें कोई जाने या देखे नहीं और तुम सबके काम किये जाओ, या अगर जनाना, दिखाना ही है तो ऐसे प्रचण्ड रूप से करो कि सभी चकित होकर देखते रह जायें। श्लोक के 'परहित करणाय' के शब्द समाज के नेतृत्व की ओर संकेत करते हैं। पिछले दोनों में नेतृत्व करनेवालों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह यहाँ एकदम ठीक बैठता है। जन-सेवा की एक ही विधि बताई गयी है—बस किये जाओ, निःस्वार्थ भाव से सेवा किये जाओ, परवाह न करो कि मान्यता मिलती है कि नहीं। मान्यता मिले या न मिले, परिणाम दोनों का एक ही होगा। समाज का भार ढोना कोई साधारण प्राणी का काम नहीं है और अगर मान्यता प्राप्त होती है तो सभी अपने सिर पर बिठाएँगे। मानो सेवा का मूल्य मिल गया, और अगर नहीं मिला तो तुम्हारी सेवा मानो अमूल्य है।

यहाँ प्रश्न उठता है 'गूलर के मच्छर' किनको लक्ष्य करके कहा गया है? साधारणतया इसका अभिप्राय लिया जायेगा जनसाधारण से, क्योंकि वे पैदा होते, खाते-पीते और मर जाते हैं। किंतु इस तरह सोचना भारी भूल है। पिछले श्लोकों में हमने देखा कि जनसाधारण की नहीं, बल्कि विशिष्ट प्रकार के लोगों की चर्चा चल रही है, ऐसे लोगों की जो सज्जन हैं और समाज की चिन्ता रखते हैं। श्लोक के पूर्वार्ध में कच्छप तथा ध्रुव का उल्लेख उसी को इंगित करता है। पर उत्तरार्ध में भ्रम उत्पन्न होने की संभावना है। इस भ्रम का निवारण आवश्यकीय है।

पके गूलर के कीड़ों का अभिप्राय यदि जनसाधारण से होता तो उनके लिए श्लोक में 'परहित करणे' के शब्द कभी प्रयुक्त न होते। परोपकार तथा जन-सेवा का ढोंग रचने वालों को ही गूलर के कीड़े कहा गया है। गूलर का पेट फाड़ दो, सैकड़ों छोटे-छोटे परदार कीड़े दीखेंगे और बाहर की हवा लगी कि देखते-ही-देखते सब मर जायेंगे। नामधारी स्वयंभू नेता जगह-जगह बरसात के कीड़ों की तरह जो उभरते हैं वही ये गूलरवाले मच्छर हैं। चोरी-छिपे इनका व्यापार जब तक चला चला, परन्तु ज्यों ही भांडा फूटा और कलई खुल गयी कि कौड़ी के महंगे हो गये। गूलर खुला, लीडर मरे।

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है। झूठे और पाखंडी ही सही, नेताई के चार दिन ही सही, वाहवाही पायी, सत्ता पायी, धन भी जुटाया, पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक काम पक्का हो गया। जब ऐसे लोगों को भी गूलर का कीड़ा कहा गया तब

उन सीधे-सादे जनसामान्य को क्या कहा जायेगा ? समाधान स्पष्ट है। सामान्य जन के लिए कोई जोखिम नहीं है, वह नेताई का स्वप्न देखते ही नहीं। उनके लिए गिरने का अवसर आता ही नहीं है। हाँ ऊपर उठने का अवसर प्राप्त हो सकता है। श्लोक में मार्ग-दर्शन किया गया है। विशेष प्रतिभा, वाक्पटुता या सगठन की क्षमता भले ही न हो, पर विद्यमान हो सेवा की भावना तो कच्छप के समान चुपचाप सेवा-कार्य यथायोग्य करता जाय और मान्यता की चिंता न करे। उसी प्रकार जिसमें अपनी कार्यकुशलता के साथ औरों से भी यथायोग्य काम लेने की प्रतिभा हो तो उसे ध्रुव-नक्षत्र जैसी ख्याति प्राप्त हो सकती है। कभी यह भी हो सकता है कि कई एक कारणों से सेवा का मूल्य आँकने या मूल्य चुकाने की योग्यता समाज में नहीं होती। ऐसी दशा में सच्चे सेवक को निराशा भी नहीं होती। ऐसी आशा वह रखता भी नहीं। वह आत्म-संतोष रूपी अमूल्य आनंद का अनुभव करने लगता है कि उसके आगे संसार के धन, मान तुच्छ लगेंगे।

इस प्रकार स्वार्थी, दम्भी, पाखण्डी को छोड़कर सभी के लिए सेवा का राजमार्ग खुला है।

श्लोक ६९

तृष्णां छिन्दि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्य विद्वज्जनम् ।
मान्यान्मानय विद्वषोऽप्यनुनय प्रख्यापय प्रश्रयं
कीर्तिं पालय दुःखते कुरु दयामेतत्सतां चेष्टितम् ॥

शब्द विच्छेद

ब्रूह्यनुयाहि = ब्रूहि + अनुयाहि
विद्वज्जनम् = विद्वत् + जनम्
मान्यान्मानय = मान्यान् + मानय
विद्विषाऽप्यनुनय = विद्विषः + अपि + अनुनय
दयामेतत्सतां = दयाम् + एतत् + सताम्

(हे मानव तू)
तृष्णां=लालच को
छिन्दि=काट फेंक
क्षमां=सहनशीलता को
भज=अपना ले (अपने अंदर)
मदं=गर्व अहंकार का
जहि=मार
पापे=पाप कर्मों में
रति=लगाव
माकृथाः=मत कर, मत रख
सत्यं=सच
ब्रूहि=बोल
साधु=संतजनों के
पदवीं=मार्ग का
अनुयाहि=अनुसरण कर
विद्वज्जनम्=विद्वानों की
सेवस्य=सेवा कर

मान्यान्=पूज्य जनों का
मानय=आदर कर
विद्विषः अपि=शत्रुओं का भी
अनुनय=मान रख (गुरुजनों से)
प्रश्रयं=नम्रता
प्रख्यापय=दिखा
कीर्ति=ख्याति की
पालय=रक्षा कर
दुःखिते=दुखी जनों पर
दयाम्=दया
कुरु=कर (क्योंकि)
एतत्=ये, इस प्रकार
सताम्=सत्पुरुषों द्वारा
चेष्टितम्=आचरण किया जाता है, अर्थात् सत्पुरुष इस प्रकार आचरण करते हैं

भावार्थ

लालच त्यागना, सहनशील बनना, पाप कर्मों से दूर रहना, मन से भी उनका विचार न करना, सच बोलना, महापुरुषों के मार्ग पर चलना, विद्वानों की सेवा-शुश्रूषा करना, बड़ों का आदर करना, शत्रुओं के साथ भी प्रेम का व्यवहार करना, स्वाभिमान की रक्षा करना, दीन-दुखियों पर दया करना, यही सब सत्पुरुषों के लक्षण हैं। वे इसी प्रकार आचरण करते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में साधु पुरुष तथा पाखंडी की अंतिम दशा का वर्णन था कि पहला कैसे बढ़ता और दूसरा कैसे गिरता है। इस श्लोक में पतन से बचकर उन्नति को प्राप्त होने का मार्ग निर्देशन किया गया है। वह मार्ग कौन है ? वही जो महापुरुषों का है। सभी जन समान ही-से होते हैं। कुछ कठिन परिश्रम तथा निरंतर साधना से महानता को प्राप्त हो सकते हैं। उस महानता की प्राप्ति के

उपाय एकदम सरल हैं और उनका ब्यौरा ऊपर दिया है। शब्द भी सरल हैं। अभिप्राय भी स्पष्ट है। फिर भी उन पर आचरण करने के लिए घोर परिश्रम करना पड़ता है और निरंतर करना पड़ता है। एक पग भी बे-राह चलें तो उन्नति को प्राप्त होने वाला अवनति के गड्ढे में गिर पड़ता है। अतः सावधानी की आवश्यकता है।

अवनति का पहला फंदा लालच है। इसी लालच के कारण पिछले श्लोक में जैसे कहा गया है कि पाखंडी जन गूलर के कीड़ों की मौत मरते हैं। ढोंगी नेता इसी लालच के वश जाल रचते हैं। अंत में भांडा फोड़ होता है और दो कौड़ी के आदमी रह जाते हैं।

पराये माल को हड़पने की इच्छा करना लालच है। लालच से सहनशीलता अथवा संतोष की भावना मिट जाती है। उचित उपायों से उन्नति किये हुए से ईर्ष्या करके स्वयं अनुचित उपायों से आगे बढ़ने की चेष्टा करते हैं। दूसरों को बदनाम कर, लूटने और मार डालने की साजिश करते हैं। उन पापकर्मों के दण्ड से बचने के लिए नाना प्रकार के झूठ बोलते और बुलवाते हैं। बड़े बुजुर्ग ऐसे लोगों को चेताते हैं। बदले में ये लोग उन गुरुजनों की निंदा करते हैं। विद्वानों का अपमान करते हैं। उपदेशकों को धिक्कारते हैं। शत्रु तो दूर रहा, मित्रों के साथ भी दुर्व्यवहार करने लगते हैं। ऐसे मनुष्य भला दीनदुखियों से क्या सहानुभूति दिखायेंगे, जबकि उन्होंने सुखी तथा निरापद जनों को ही कष्ट तथा पीड़ा के गर्त में धकेलने को ही अपना पेशा बना रखा है।

सन्मार्ग की वांछा करनेवालों को इन्हीं बुराइयों से बचना है। सो तो बहुत सरल है यदि इच्छा-बल उत्कट हो। साधना कठिन और कठिनतर इसलिए है कि स्वयं उपरोक्त दुर्गुणों से दूर रहकर सद्गुणों को अपने अंदर पनपाने की चेष्टा करते हुए दुष्टों से मोरचा भी लेना पड़ेगा। 'हमें क्या पड़ी है दूसरों से,' यह समझ कर चुप्पी साध लेना अप्रत्यक्ष रूप से उन दुष्टों के साथ सहयोग करने के समान होगा। कोई तटस्थ बनकर चुपचाप रह भी नहीं सकता। वे रहने नहीं देंगे। कीचड़ उछालेंगे। अन्य सब बातों को छोड़कर केवल 'सत्य पालन' ही को लें। बिना झूठ, पाखण्ड का भांडा फोड़ किये सत्य का पालन कैसे होगा। दुष्टों से दुश्मनी मोल लेनी पड़ेगी। लंबे न जाकर श्लोक के अंतिम शब्द 'शत्रुओं से भी प्रेम का व्यवहार' इस पर ध्यान दें। आप सच बोलें, पाप और पाखण्ड का प्रतिरोध करें। इन सब कारणों से यदि वह आपको अपना शत्रु माने और शत्रु का-सा व्यवहार करे, तब भी आप उससे प्रेम का ही बरतावा रखें। यदि आप शत्रु के साथ मित्रवत् व्यवहार करने में समर्थ हो गये तो निश्चय ही आप सिद्ध हो गये,

संत हो गये, महापुरुष हो गये।

अंत में यह भी स्पष्ट हो जावे कि साधक के लिए यह पदवी सामर्थ्य के बाहर की वस्तु नहीं है। समर्थ के लिए सरल है तो साधारण जन के लिए यह उससे भी सरल है, बशर्ते कि साधक थके न और हार मान कर बैठ न जाय।

स्वार्थ सत्य का शत्रु है और परमार्थ साधक की पतवार है। स्वार्थ के अंधकार को चीर कर बाहर पड़ने पर परमार्थ आप ही प्रकट होता है और बेड़ा पार लगाता है।

श्लोक ७०

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

शब्द विच्छेद

पूर्णास्त्रिभुवनमुपकार=पूर्णाः+त्रिभुवनम्+उपकार

शब्दान्वय

मनसि वचसि काये पुण्य पीयूष पूर्णाः
त्रिभुवनम् उपकार श्रेणिभिः प्रीणयन्तः
परगुण परमाणून् पर्वती कृत्य
नित्यं निज हृदि विकसन्तः सन्तः कियन्तः सन्ति।

शब्दार्थ

(जो)
मनसि=मन में
वचसि=वाक्, बोल में (और)
काये=शरीर में
पुण्य=पवित्र
पीयूष=अमृत से
पूर्णाः=भरे हुए (और)
त्रिभुवन=तीनों लोकों पर
उपकार=भलाई के

श्रेणिभिः=समूह से, अर्थात् भलााई ही भलाई करते हुए
प्रीणयन्तः=प्रसन्न होते हैं (और)
परगुण=पराये गुणों के
परमाणून्=छोटे-से-छोटे अंश को भी
पर्वतीकृत्य=पहाड़ बनाकर बखानते हुए
नित्यं=सदा
निज=अपने
हृदि=मन में
विकसन्तः=आनन्दित रहते हैं (ऐसे)
सन्तः=सन्त जन
क्रियन्तः=कम ही
सन्ति=होते हैं

भावार्थ

जो मनसा-वाचा-काया सत्कर्मरूपी अमृत से भर कर तीनों लोकों की भलाई में लगे रहते हैं और सदा दूसरों की छोटी-से-छोटी भली बात को बढ़ा-चढ़ा कर बखान करने में ही आनन्द मानते हैं, ऐसे सन्त पुरुष इस संसार में बहुत कम पाये जाते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया कि सन्मार्ग पर अग्रसर करने के लिए क्या-क्या करना होगा, जैसे तृष्णा त्याग, सत्य-पालन इत्यादि। वह सब कच्चे सोने से खोट को काट फेंकने के उपाय मात्र थे। यह काम अथवा साधना सर्व-साधारण की सामर्थ्य से बाहर नहीं है। थोड़े-घने रूप में अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार प्रायः सब लोग करते भी हैं। तपते-तपते सोने को कुन्दन बनने का सौभाग्य कुछ ही को प्राप्त होगा। उन्हीं को यहाँ सन्त कहा गया है और कहा है कि ऐसे सन्त कुछ ही होंगे। ऐसे सन्त पुरुष की पहचान क्या? केवल जबान से सदुपदेश देने या लेकचर झाड़ने वाला सन्त या सज्जन नहीं कहा जा सकता। सज्जन, सन्त वही है जो मन में भी बिना किसी भेदभाव के सदा सबकी भलाई की कामना करता रहता है और तन उसका सदा ऐसे शुभ कार्यों में लगा रहता है। यही नहीं संत पुरुष स्वयं तो इतना बड़ा काम करता है पर अपना या अपने काम का बखान कभी नहीं करता है और जब करता है तब दूसरों का ही बखान करता है। जिन लोगों का रात-दिन बखान करता है, वे सब न इतने बड़े होते हैं न इतने सच्चे। फिर भी थोड़ा भी यदि उन्होंने अच्छा काम किया उनकी तारीफ के पुल बाँध देते हैं। उनके इस प्रकार करने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि अपनी अच्छाई का घमंड खुद अपने मन में न उभरे और दूसरों को भी यह भान न हो कि

महाराज अपने को बड़े पवित्र और पुण्यात्मा माने लेते हैं। संतों के लिए यह बहुत जरूरी भी है, क्योंकि ज्योंही अपने को पवित्रात्मा मानने लगे त्योंही औरों के प्रति पापात्मा, नीचात्मा मान लेने की भावना उत्पन्न हो जाती है और यह भावना मात्र ही पाप का प्रतीक है। दूसरे, संत तो लोककल्याण के लिए जीते हैं। लोककल्याण तब ही होगा जब सभी लोग कल्याणकारी काम करते रहेंगे। यह कैसे होगा ? यदि कोई कुछ अच्छा करे तो उसकी अच्छाई को मान्यता दो। इसीलिए संत जन अन्य जनों की साधारण-सी बात की प्रशंसा करते हैं ताकि वे और भी अच्छे काम करें और उनकी देखादेखी दूसरे भी करने लगें। इस प्रकार स्पष्ट है कि परोपकार की भावना तथा आचरण स्वयं उन्हें शक्ति प्रदान करता है, अमृत के समान काम करता है जो सदा बना रहता है और सामान्य जन के लिए उनकी प्रशंसा इंजेक्शन का काम करती है और यह इंजेक्शन बराबर लगते रहना चाहिए। ऐसे सत्पुरुष ही ससाज का नेतृत्व कर सकते हैं, जो सब को देते ही जाते हैं और लेने का लालच नहीं करते।

इतनी बातों पर विचार करने के बाद भी वस्तुस्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं होती। संत और त्रिकरण शुद्धि के शब्द भारतीय संस्कृति में इतने घुल-मिल गये हैं कि 'सन्त' और त्रिकरण शुद्धि का वास्तविक रूप धूमिल हो गया है। बाह्य रूप मात्र रह गया है और बाह्य रूप प्रायः धोखे की टट्टी होता है। घर-गृहस्थी के जंजाल से दूर हो, परिश्रम से छुट्टी पा ले, उपदेश, प्रवचन करते हुए भ्रमण करे या मठाधीश बनकर चेले मूंड लिया करे, बस साधारणतया ऐसे लोग सन्त कहे जाते हैं। परन्तु श्लोक में इस प्रकार का एक भी शब्द नहीं है। श्लोक में संत के लिए दो ही काम गिनाये गये हैं। करे तो परोपकार, बोले तो पराया बखान। यह हुए उनके 'वाचा', 'काया' कर्म। तीसरा करण 'मन' उनका क्या करता है ? उसी परोपकार तथा पराये बखान में आनन्द मनाता है। मानो कि किसी के मन को कोई दूसरा देख नहीं सकता। वचन और कर्म तो प्रत्यक्ष दीखते हैं। परन्तु लोग उस वचन और कर्म पर भी ध्यान नहीं देते। ध्यान देते हैं केवल आडम्बर पर, ठाठ-बाट पर या चीथड़ों पर, कुटिया पर। जनसेवक कहानेवाले नेताओं को नापने का भी जनता के यहाँ यहीं मापदण्ड चलता है, परन्तु अंततोगत्वा उस नेता तथा इस जनता को उस पाप का दण्ड भोगना ही पड़ेगा। नेता का स्थान महँगा पड़ सकता है परन्तु संत का स्थान सरल भी है और सस्ता भी है। जब संत की पहचान परोपकार तथा पराया बखान है तो सभी तरह के लोग संत-श्रेणी के हो सकते हैं। सीधे-सादे घर-गृहस्थी चलानेवाले गाँव-शहर के लोग हो सकते हैं। किस स्तर के संत बनते हैं, यह दूसरी बात है, पर निश्चय ही वे धूर्त और पाखण्डी नहीं

हैं। और जो धूर्त नहीं, वही सज्जन। इस प्रकार समाज स्वभावतया सज्जन-प्रधान होता है।

अब मनसा, बाचा, कर्मणा लीजिए। इन तीनों में अर्थात् सोचने, बोलने और करने में तालमेल होना चाहिए। इन तीनों में जितनी समानता और समीपता होगी उतना ही वह संत बड़ा। जो संत पूर्णावस्था को पहुंचा हो उसे प्रयत्नपूर्वक सोचने, कहने या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। जो काम वह करे, अंततोगत्वा अच्छा ही होगा। मुख से जो बात निकले वही बात, सच होकर रहेगी। मन उनका दुर्विचारों की ओर जा ही नहीं सकता, इसीलिए कभी-कभी असंगत लगनेवाले शब्द और कार्य भी मंगलकारी सिद्ध होते हैं।

समाज में सभी जनसेवकों की स्थिति कुछ भिन्न जरूर है। उसे समाज में सभी तरह के लोगों से काम लेना पड़ता है। इसलिए उसे सभी तरह की बातें करनी पड़ती हैं। जब युधिष्ठिर महाराज को ही महाभारत में झूठ बोलना पड़ा तब इन्हें भी इतनी छूट जरूर रहनी चाहिए। जननायक, तुम जो चाहे दिल में सोचो जैसे चाहे कहो, पर काम तो तुम्हारा ठिकाने का हो। शायद इसीलिए इस मृत्यु लोक को 'कर्म-भूमि' कहा गया है। अपने उपयुक्त कार्य में जिन अलग-अलग प्रकार के लोगों से सहयोग लेनी पड़े उनसे अलग-अलग भाषा में बात करो, और अगर उन सबके साथ एक-साथ बात करना पड़े तो आपको आजादी है कि ऐसी गोल-मोल भाषा बोलो कि सब अपना मतलब आप लगा लें, परन्तु अंत में जब असली काम होने लगे तो सबके मुँह बन्द ही रहें, यानी आपके शब्दों को लेकर विरोध न कर सकें। इतनी चातुरी कैसे आएगी ? उसका एक ही उपाय है और वह है आपका मन ठिकाने रहे ! किसी की बुराई की कल्पना आपके अन्दर न हो। मन इतना बलवान है कि आपका ठीक से मार्ग-दर्शन भी करता रहे और दूसरों की मार से बचाता भी रहे। इस प्रकार मन की साधना संत के लिए जिस प्रकार आवश्यकीय है उसी प्रकार जननायक के लिए भी जरूरी है। संत पुरुष की प्रवृत्ति सदा सात्विक होगी तो राजनीतिज्ञ या सांसारिक व्यक्ति की प्रवृत्ति राजसी होगी। फिर भी राजसी का उद्देश्य सात्विक ही होना चाहिए, तामसिक कदापि नहीं।

अब उपरोक्त सज्जन-प्रधान समाज की ओर ध्यान दीजिए। बिना किसी संकोच के मानना पड़ेगा कि समाज में दौर्जन्यता की बढ़ोत्तरी धूर्त नेतृत्व के कारण हो जाती है। धरती पर यह विष-वर्षा आकाश के काले मेघों से होती है।

षष्ट दशक का सारांश

६१ वाँ श्लोक परोपकारी विनम्र होते हैं।
६२ ,, मानव के लिए अलंकार नहीं बल्कि उपकार प्रधान है।
६३ ,, बिना माँगे लोगों का उपकार करो।
६४ ,, पराये हित के लिए अपना हित त्यागना उत्तम है।
६५ ,, सज्जन की संगत करो।
६६ ,, सच्चा संगी वही जो देवे सुख और लेवे दुःख।
६७ ,, संत वह जो मित्र तथा शत्रु को समान आश्रय दे।
६८ ,, संत खूब चमकेगा या एकदम छिपा रहेगा।
६९ ,, संत सबके मीत।
७० ,, बिरले होवें संत।

॥ धैर्य पद्धति ॥

श्लोक ७१

रत्नैर्महाब्धेस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां बिना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः॥

शब्द विच्छेद

रत्नैर्महाब्धेस्तुतुषुर्न = रत्नैः + महाः + अब्धेः + तुतुषुः + न
प्रययुर्विरामं = प्रययुः + विरामम्
निश्चितार्थाद्विरमन्ति = निश्चित + अर्थात् + विरमन्ति

शब्दान्वय

देवाः महाब्धे रत्नैः न तुतुषुः, भीम विषेण भीति न भेजिरे।
सुधां विना विरामं न प्रययुः धीराः निश्चितार्थात् न विरमन्ति॥

शब्दार्थ

देवाः = देवगण (सागर मंथन में)
महाब्धे = महासागर में
रत्नैः = रत्नों से कौस्तुभ आदि श्रेष्ठ वस्तुओं से)
न तुतुषुः = संतुष्ट नहीं हुए (इसी प्रकार)
भीम = भयंकर, घोर
विषेण = विष, कालकूट विष से

भीतिं = भय को
न भेजिरे = प्राप्त नहीं हुए + डरे नहीं
सुधां विना = अमृत के (पाये) बिना
विरामं = छुट्टी (आराम)
न प्रययुः = नहीं पाया
धीराः = धीर जन
निश्चित = ठाने हुए
अर्थात् = उद्देश्य से
न विरमन्ति = हटते नहीं, टलते नहीं, अर्थात् उद्देश्य को प्राप्त करके ही दम लेते हैं।

भावार्थ

देवताओं ने अमृत को प्राप्त करने के उद्देश्य से सागर-मंथन किया। उसमें पहले जब कौस्तुभ, कल्पवृक्ष आदि सुख-सामग्री प्रकट हुईं तब उन पर सन्तोष करके वे बैठे नहीं गये और फिर जब कालकूट विष-जैसी भयंकर वस्तुएं निकलीं तब भी उन्होंने हार नहीं मानी। अंत में जब अमृत प्रकट हुआ तब ही वे सन्तुष्ट हुए। धीर पुरुष सदा लालच और भय से परे रहकर अपने उद्देश्य की सिद्धि में लगे रहते हैं।

विशेषार्थ

पिछले दशक में मनुष्य के लिए, संत हो अथवा सांसारिक, परोपकार ही जीवन का लक्ष्य बताया गया था। इस दशक में बताया गया है कि नर हो अथवा नारी, धीर व्यक्ति ही अपने लक्ष्य को प्राप्त हो सकते हैं। 'धीरता' में केवल क्षणिक साहस या दुस्साहस नहीं वरन् यत्नपूर्वक सतत-साहस सम्मिलित है। इसी बात को पौराणिक गाथा के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

देव तथा दानवों ने मिलकर एकबार अमृत-मंथन किया। क्षीर सागर को दूध का मटका बनाया, मंथर पर्वत को मथानी और वासुकी सर्प को उस रई की रसरी। रसरी को अर्थात् वासुकी सर्प को मंथर पर्वत पर लपेटा गया। दानवों ने वासुकी को मुंह की ओर से थामा और देवताओं ने दुम की ओर से। मथाई होती गयी और एक-एक चीज निकलती गयी। घोड़ा, हाथी, कल्पवृक्ष, कामधेनु, कोस्तुभ मणि और कई चीजें निकलीं। बड़े काम की चीजें निकलीं पर मंथन चलता ही रहा, क्योंकि अमृत अभी नहीं निकला। इन तमाम सुख-सामग्री पर संतोष न करने पर अंत में कालकूट विष निकला। कालकूट विष से सारा संसार भस्म हो जाता। इसलिए महादेव शिव ने उस विष को अपने गले में उतार कर सृष्टि को बचाया। और मंथन हुआ और अमृत-कलश प्रकट हुआ जिसे सब देवगण पान कर अमर बन गये।

इसी प्रकार संसार में किसी व्यक्ति को अपना लक्ष्य सिद्ध करने के लिए कठिन साधना करनी पड़ती है। उस साधना-मार्ग पर कई पड़ाव पड़ते हैं। कहीं सुख भोगने को मिलता है और कहीं दुख झेलने पड़ते हैं। साधक को सुख-सामग्री की परवाह नहीं होती। उन्हें वह दूसरों के लिए छोड़ देता है, जिस प्रकार देवता अश्व, ऐरावत, कामधेनु, कल्पतरु इत्यादि को आप न लेकर लक्ष्मी और कौस्तुभ मणि को भी इन्द्र और विष्णु भगवान को अर्पित करते गये। जब देवताओं ने ऐसी-ऐसी अलौकिक सुख-सामग्री को औरों के लिए छोड़ दिया तभी कष्टदायक कालकूट से बचाने के लिए महादेव स्वयं सामने आ गये। सुख में फंसे नहीं और मंथन प्रक्रिया को छोड़ा भी नहीं। तब कहीं देवताओं को अमृत की प्राप्ति हुई। एक और बात। अमृतमंथन में कार्य-आरम्भ से बाधाएं नहीं बल्कि सुविधायें मिलती गयीं। पहले जो वस्तुएं प्राप्त हुईं वे कष्टदायक नहीं बल्कि सुखदायक थीं—हाथी, घोड़ा, कामधेनु, कलपतरु, कौस्तुभ मणि और साक्षात् लक्ष्मी। इन प्रलोभनों में न फंस कर अध्यवसाय को लक्ष्य में रख अमृत पाने की चेष्टा में कालकूट विष सामने आया। देवताओं ने सुख-सामग्री को अपने-आप छोड़ दिया तो कालकूट से बचाने के लिए भगवान महादेव आप ही आ खड़े हुए। सुख की आप परवाह न करो तो दुःख की देखरेख भगवान करेगा।

तीसरी बात इसमें ध्यान देने योग्य एक और है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें शुरू से छोटी-मोटी सफलताएं मिलती जाती हैं। यदि वे इन छोटी सफलताओं में फूले न समाये तो उनकी उन्नति वहीं रुक जाती है। बिन रुके कुछ आगे बढ़ने पर कठिनाइयां आयीं तो चलो लौटकर जो है उसीका सुख भोगें। परन्तु ऐसे लोग उन पूर्व-प्राप्त वस्तुओं से भी वंचित रहेंगे। संतोष न हो तो साहस के साथ स्थिरता भी हो, तभी उद्देश्य की सिद्धि की आशा की जा सकती है।

श्लोक ७२

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्ननिहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैर्मुहुर्मुहुरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥

शब्द-विच्छेद

विघ्नैर्मुहुर्मुहुरपि = विघ्नैः + मुहुः + मुहुः + अपि
प्रारब्धमुत्तम = प्रारब्धम् + उत्तम

शब्दान्वय

नीचैः विघ्न भयेन न प्रारभ्यते,
मध्याः प्रारभ्य विघ्न निहताः विरमन्ति,
उत्तमगुणाः विघ्नैः मुहुः मुहुः प्रतिहन्यमानाः
अपि प्रारब्धम् न परित्यजन्ति ।

शब्दार्थ

नीचैः = नीच अथवा निकम्मे लोगों द्वारा
विघ्न = रुकावटों, कठिनाइयों के
भयेन = डर से
(कोई उत्कृष्ट कार्य)
न प्रारभ्यते = आरम्भ भी नहीं किया जाता अर्थात् निकम्मे लोग कोई नया काम उठाते ही नहीं
मध्याः = बिचौली श्रेणी के लोग
प्रारभ्य = कोई काम एक बार शुरू करके बाधाओं से घबड़ाकर
विरमन्ति = (आरम्भ किये काम को अधूरा ही) छोड़ देते हैं,
(परन्तु)
उत्तम गुणाः = श्रेष्ठ मानव
विघ्नैः = बाधाओं से
मुहुः मुहुः = बार-बार
प्रतिहन्यमानाः अपि = पिट-पिटकर भी
प्रारब्धम् = एक बार शुरू किये हुए काम को
न परित्यजन्ति = (पूरा किये बिना) नहीं छोड़ते

भावार्थ

कहीं कठिनाइयां खड़ी न हो जायें, इस डर से कुछ व्यक्ति कभी कोई कार्य उठाते ही नहीं। ऐसे लोग निचली श्रेणी में आते हैं और निकम्मे हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो जोश में आकर काम में पिल तो पड़ते हैं, किन्तु ज्योंही बाधाएं आ जाएं हारकर बैठ जाते हैं। ऐसे लोग बिचौली श्रेणी के उफानी होते हैं। तीसरे तूफानी वे होते हैं जो कदम-कदम पर कठिनाइयों से मोरचा लेते हैं और थपेड़ों पर थपड़े खाने के बाद भी हार नहीं मानते और प्रयास किये ही जाते हैं। ऐसे ही लोग उत्तम श्रेणी में गिने जाते हैं।

विशेषार्थ

यह श्लोक पिछले श्लोक का उलटा है। वहां ऐसी उपमा दी गई जहां आरम्भ में अच्छाइयां प्रकट हुई थीं। या कहिए ऐसे लोगों की बात थी जिन्हें शुरू से ही कुछ-कुछ सफलता मिलती गई या आशाओं को लेकर उठे और आरम्भ में आशा-भंग नहीं हुई। यों कहिए कि वे आशावादी थे।

इस श्लोक में निराशावादियों को पहले लेकर उन्हें निकम्मा कह दिया गया है जिनसे समाज का या खुद उनका कुछ बनता-बनाता नहीं है। जो काम उठाने से पहले काल्पनिक कठिनाइयों से डरते हैं उनसे कभी कुछ नहीं होने का। ये वे लोग हैं जिन्हें लोग अपने यहां खूंटे से बांधकर सूखा, हरा चारा चरने को देते हैं और डंडा चलाकर काम लेते हैं। इनमें उद्यम का उत्साह नहीं होता। वे जानवरों का-सा जीवन बिताते हैं।

दूसरी श्रेणी के वे हैं जिनमें उत्साह तो होता है पर दूध के उफान के समान होता है कि खुद भी गिर गया और आग को भी बुझा दिया। काम उठाया। बाधा आ गई। आप बैठ गये। किया-कराया भी रह गया। देखा-देखी दूसरों के उत्साह पर भी पानी फिर गया। छेरी बहुत उछल-कूद करती थी। कसाई ने हलाल करके कीमा बना दिया। समाज में प्रायः यही होता है। किसी को उभारा नहीं जाता, उलटे दबाया जाता है। चाहिए यह कि ऐसे उत्साह को उचित रूप से उभारा जाय और मार्गदर्शन किया जाय। इस मुर्गी के पेट से सोने का अण्डा न निकले भले ही, पर साधारण अण्डा तो देगी ही यह मुर्गी। ये इतने ऊंचे न हों, पर इतने गिरे हुए भी नहीं होंगे।

अब तीसरी श्रेणी के, उच्च श्रेणी के व्यक्ति। ये बड़े काम के होते हैं। कठिनाइयों से नहीं डरते। कठिनाइयों से मुठभेड़ होने में आनन्द का अनुभव करते हैं। ऐसे लोग अक्सर कठिनाइयों को खुद खड़ा कर लेते हैं और उन्हें आश्चर्यजनक ढंग से हल भी कर लेते हैं। यह बात नहीं कि उनके लिए सरल और सुखमय मार्ग खुले न हों, या उन्हें सुख-सामग्री की आवश्यकता न हो, या अपने आगे-पीछे रहनेवालों की खबर-फिकर न हो। यह सब कुछ है और खूब है। फिर भी वे अपने लक्ष्य से डिग नहीं सकते। समाज में इतनी योग्यता होती ही नहीं कि उनका मार्गदर्शन कर सके जबकि इन उत्तम पुरुषों को अपना मार्ग बहुत दूर तक शीशे की तरह दीखता रहता है। बहुत-सी आनेवाली कठिनाइयों को वे पहले ही से जाने रहते हैं। जो अनजानी कठिनाइयां आयेंगी उनको झेलने के लिए पहले ही से तैयार रहते हैं। कोई उन्हें कितना ही समझाये—बाबा छोड़ो इसे—वे मानेंगे नहीं। समाज का कर्तव्य है कि ऐसे लोगों के लिए रास्ता खुला छोड़ दे, रोड़े

न अटकाये। हो सके—बहुत-कुछ हो सकता है—तो उनकी यथाशक्ति मदद करे। आप स्वयं सोच नहीं सकते कि उन्हें क्या चाहिए तो कम-से-कम उनके स्वयं आकर कहने पर तो जरूर कीजिए। आप यह न कहें—हमारे पास समय नहीं है तुमसे बात करने के लिए। उसका समय तुमसे अधिक मूल्यवान है, आप यह न भूलें। हमारे पास कुछ नहीं है, यह भी न कहें। आपके पास बहुत कुछ है। आपका कुछ भी उसके लिए बहुत है। आप नहीं सुनते, नहीं करते, तो उसे आपकी परवाह भी नहीं है। उसे परवाह है केवल अपने कार्य-साधन की। कहीं और खोज लेगा वह अपने साधन। अन्त में यदि करते-करते वह थक जाय, हार जाय, मर जाय, तब भी उसका किया काम बेकार नहीं जायेगा। कोई माई का लाल फिर उठेगा और उसे पूरा कर देगा। ये वे लोग होते हैं जिन्हें समाज जीते-जी तरसा-तरसाकर मार डालता है और मरने के बाद श्राद्ध, शताब्दी मनाता है और मूर्ति गढ़कर थापता है।

ये शताब्दी, समारोह, पूजा, उत्सव सभी एक धोखा है। जिस व्यक्ति के लिए यह सब किया जाता है उसे तो यह मिलता नहीं। न वह इनका भूखा है। उस भावना और उसके कार्य को मान्यता देना ही यदि इन पूजा, समारोहों का उद्देश्य है तो हर गांव, मुहल्ले में उस श्रेणी के व्यक्तियों की मदद कीजिए जो अपनी-अपनी औकात के अनुसार कठिनाइयों से चुपचाप मोरचा ले रहे हैं।

पिछले श्लोक और इस श्लोक दोनों में वर्णित उच्च व्यक्ति आदरणीय हैं। फिर भी शुरू से ही सफलता की सीढ़ियों पर चढ़ते जानेवाला सम्मान का अधिकारी भले ही हो, परन्तु आरम्भ से ही अड़चनों से जूझनेवाला और जूझते ही जानेवाला सम्मान के साथ सहायता का भी अधिकारी है। यह बात व्यक्ति-विशेष की दृष्टि से ही नहीं वरन् समाज की दृष्टि से भी श्रेयस्कर है। यहां पर व्यक्ति की सेवा स्वयं समाज की सेवा है और यह स्थायी सेवा है। इसलिए कि सफलता-पर-सफलता प्राप्त करनेवाला राह से बेराह भी हो सकता है, परन्तु वह धीर-वीर पुरुष जो कठिनाइयों से टक्कर लेता रहा है, कभी डिगेगा नहीं।

श्लोक ७३

क्वचित् पृथ्वी शय्यः क्वचिदपि च पर्यंकशयनः
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदन रुचिः ।
क्वचित्कंथाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ।।

शब्द विच्छेद

क्वचिदपि = क्वचित् + अपि
क्वचिच्छाकाहारः = क्वचित् + शाक + आहारः
शाल्योदन = शालि + ओदन
दिव्याम्बर = दिव्य + अम्बर
कार्यार्थी = कार्य + अर्थी

शब्दान्वय

क्वचित् पृथ्वी शय्यः च क्वचित् अपि पर्यंक शयनः
क्वचित् शाक आहारः च क्वचित् अपि शालि ओदन रुचिः
क्वचित् कन्थाधारः च क्वचित् दिव्य अम्बर धारः
कार्यार्थी मनस्वी दुःखं न गणयति न च सुखम् ।।

शब्दार्थ

क्वचित् = कभी, कहीं
पृथ्वी = धरती
शय्यः = बिछौना (है)
च = और
क्वचित् अपि = कभी तो, कहीं तो
पर्यंक = पलंग (पर)
शयनः = सोना है
क्वचित् = कभी
शाक = कंदमूल, साग-पात
आहारः = खुराक है
क्वचित् अपि = और कभी
शालि = शाली चावल को
ओदन = भात (का)
रुचिः = स्वाद (लेता है)
क्वचित् = कभी
कंथाधारः = कथरी ओढ़े है
च = और
क्वचित् = कभी
दिव्य = उत्तम, मूल्यवान
अम्बर = वस्त्र, पोशाक

धारः=धारण किये है, पहने है
कार्यार्थी=कार्य को साधनेवाला
मनस्वी=विचारवान पुरुष
दुखं=दुख, कष्ट को
न गणयति=नहीं गिनता
न च=और न
सुखम्=सुख की
(परवाह करता है)

भावार्थ

किसी महान् उद्देश्य को लेकर काम करनेवाला व्यक्ति कार्य-साधना में सुख-दुख को गिनती में न लाकर अपने उद्देश्य की ओर बढ़ता रहता है। इस दौरान में जैसा अवसर पड़े वैसे गुजारता है। किसी जंगल-देहात में ऊबड़खाबड़ धरती पर ही थकान मिटता है तो कहीं महलों में तोषक-पलंग पर आराम करता है। यहाँ कंदमूल, साग-पात से पेट भरा तो वहाँ सुमधुर भोजन का स्वाद लिया। इसी तरह कभी कथरी ओढ़कर गुजारेगा तो कभी मूल्यवान साज-सामान और वेषभूषा के साथ रहेगा। वह न कभी दुःख को दुःख मानता है और न सुख को सुख। वह तो सदा अपने ध्येय के ध्यान में मगन रहता है।

विशेषार्थ

किसी बड़े उद्देश्य को लेकर चलनेवाले के लिए पिछले दो श्लोकों में एक में सुखमय रास्ते का वर्णन किया गया था और दूसरे में दुखमय मार्ग का व्यौरा। इस श्लोक में बताया गया है कि एक ही व्यक्ति को इन दोनों ही मार्गों में से निकलना पड़े, ऐसा भी हो सकता है। कँकरीली धरती और मुलायम तोषक रजाई कंदमूल और स्वादु भोजन, कथरी और दिव्याम्बर इन सब में दो-दो पक्ष हो सकते हैं। एक गरीबी और दूसरा अमीरी। अमीरी-गरीबी के भी न जाने कितने दरजे हैं। उसी तरह शहर और जंगलों में भी अनगिनत अन्तर है। जहां तक कल्पना की जा सकती है श्लोक में अच्छी-से-अच्छी और खराब-से-खराब वस्तु तक को गिनाया मात्र गया है, परन्तु वास्तव में उन दोनों अवस्थाओं के बीच और उनके बाहर की भी कल्पनातीत दशायें भी हो सकती हैं। धरती पर सोना ही लीजिए कहां ? शहर में, गाँव में या जंगल में, पहाड़ों पर या मैदानों में ? बड़े शहर में पटरी पर सोने पर पुलिस पकड़ती है। जंगल में शेर-चीता खा जाता है। गाँव में धान का पैरा बिछाकर जाड़ों में उसी घास-पैरा को ओढ़ भी सकते हैं।

पहाड़ पर जहाँ बर्फ पड़ती है वहाँ क्या होगा ? कंदराओं में धरती भी नहीं होती, ऊबड़खाबड़ पत्थर होते हैं। इसी प्रकार लँगेटी, कथरी, धोती, पजामा, पैंट, कोट और वह सब नाना रंग-रूप के। खाने में सागपात से शुरू किया है श्लोक में, पर जहाँ वह भी न मिले ? जनाब, कहीं-कहीं पानी भी नहीं मिलता मीलों तक और पग उठाने की शक्ति नहीं रह जाती। रास्ता तय करने में भी पैदल से हवाई जहाज की उड़ानों तक न जाने कितने दरजे हैं और कैसे-कैसे जोखिम।

साधक की साधना के सम्बन्ध में इस गरीबी-अमीरी और शहर-जंगल में भी विपरीति परिस्थितियों में से होकर निकल सकता है। शहर में रहता है तो लगता है दरिंदे आकर दबोच रहे हैं और जंगल में लगता है साँप सेवा कर रहे हैं और शेर-चीता तीमारदारी। शहर में मिठाई कि दुकानों पर से भूखा निकल रहा है और जंगल में कई दिनों से खाया नहीं, फिर भी मस्त है । किसी कोठी में मेज-कुरसी पर आदर से बैठाया गया है, पर लगता है कि कुरसी पर कांटे बिछे हैं और दिल में इतना मलाल है कि निवाला गले नहीं उतरता, जबकि किसी जंगल में सूखी रोटी हाथ पड़ती है। प्यास से गला सूखा है। रोटी का टुकड़ा जीभ से लिपटकर रह जाता है । फिर भी एक कौर को एक-एक घड़ी चबा-चबाकर दूध-सा बना लेता है । जो अमृत बनकर आप ही गले से सटक जाता है। महल में नीचे गद्दा और ऊपर लिहाफ पड़ा है पर उसे लगता है कि अंगारों में पड़ा है। और उधर जंगल में कंकड़-पत्थर पर बेखबर सोकर सुख के स्वप्न देख रहा है। एक ही शहर में वह कई रूपों में रहता है। बहुरूपिया बनकर धोखा देने के लिए नहीं बल्कि बेनाम बनकर अपने काम को बनाने के लिए। सूट-बूट कोट-अचकन में देख लीजिए। धोती-कुरते में भी पाइए । पैदल नंगे पैर भी और मोटर, हवाईजहाज पर भी। भीड़ में है पर भीड़ से बेखबर। एकाकी घूम रहा है पर सबसे सम्बद्ध ।

कहाँ तक कहा जाय। सौ बात की एक बात यह है कि साधक की गति को साधक ही जान सकता है वह स्वयं या उस समान यदि कोई और हो । कभी-कभी वे स्वयं भी नहीं जानते अपने-आपको। तब सीधा-सादा सांसारिक चाहे वह बड़ा सम्पन्न, सत्ताधारी हो अथवा साधारण भिखारी, सच्चे साधक को समझना उसकी कल्पना के बाहर है ? अक्सर पक्के साधक भी सम्पत्तिमें अपनी आपबीती भूल जाते हैं, तब वे पराई बीती को क्या पहचानेंगे।

साधारण आदमी को साधक कैसे मानें, क्या सच्चा साधक कहीं छिप सकता है, या समझने की जरूरत ही क्या है ? इस प्रकार के प्रश्न उठाये जाते हैं। समाधान सरल है । हर आदमी बड़ा हो या न हो, हर काम तो जरूर बड़ा है और वह

काम जिसके लिए कठिन साधना की आवश्यकता है वह सबसे बड़ा काम है। इसलिए हर साधक बड़ा है। साधक पहचाना आप ही जाता है, यह भी भ्रम है। साधारण गुप्तचर या खुफिया पुलिसवाले पहचान नहीं पड़ते तो साधक तो बड़े गहरे गोते लगाताहै। जानने की जरूरत इसलिए है कि साधक समाज-कल्याण में लगा है। ऐसों को यदि मदद न कर सकें तो कम-से-कम पैरों-तले रौंद तो न डालें।

श्लोक ७४

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

शब्द विच्छेद

यथेष्टम् = यथा + इष्टम्
अद्यैव = अद्य + एव
मरणमस्तु = मरणम् + अस्तु
युगान्तरे = युग + अंतरे
न्याय्यात्पथं = न्यायात् + पथं

शब्दान्यय

यदि नीति निपुणाः निन्दन्तु वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु वा यथेष्टम् गच्छतु वा
अद्य एव मरणम् अस्तु वा युगान्तरे अस्तु वा
धीराः न्यायात् पथः पदं न प्रविचलन्ति।

शब्दार्थ

यदि = अगर
नीति निपुणः = नीतिकुशल जन
निन्दन्तु = निंदा करें
वा = या
स्तुवन्तु = प्रशंसा करें
वा = या
लक्ष्मी = धन
समाविशतु = खूब आए, मिले
वा = या
यथा = जैसी, जिधर
इष्टम् = इच्छा हो
गच्छतु = चली जाए

वा = या
अद्य एव = अब ही
मरणम् = मौत
अस्तु = हो
वा = या
युगान्तरे = किसी दूसरे युग में
(अस्तु = हो)
धीराः = धीर जन
न्यायात् पथः = न्याय-मार्ग से
पदं = पग
न प्रविचलन्ति = हरगिज नहीं हटाते

भावार्थ

नीति-कुशल जन निंदा करें अथवा प्रशंसा करें, जितना चाहे धन मिल जाय या जो कुछ है वही जहाँ चाहे निकल जाय, यहाँ तक कि मौत सिर पर खड़ी हो जाय या बरसों, युगों तक टल जाय, धीर जन जिस न्याय-मार्ग पर चल पड़ते हैं उससे एक पग भी इधर-उधर नहीं होते।

विशेषार्थ

पिछला श्लोक सुख-दुःख के साथ समाप्त हुआ था। यह श्लोक नीति शब्द से आरम्भ होता है और 'न्याय' शब्द पर समाप्त होता है। जहाँ अन्त वहीं आरम्भ। फिर भी, आरम्भ है पर अंत अपरम्पार है। पिछले श्लोक में सुखमय परिस्थितियों का भी वर्णन था और दुखमय परिस्थितियों का भी। इन परस्पर भिन्न परिस्थितियों में साधक को किन-किन स्थितियों का सामना करना पड़ता है, उनका ब्यौरा यहाँ दिया गया है।

बीच रास्ते पर पड़ा है। कथरी पीठ से टंगी है। हाथ में झूठा पत्तल है या कोई कच्चा डंठल चबा रहा है। लोगों को ग्लानि होती है। कोई ठोकर मारकर अपने रास्ते चल देता है। कोई बगल होकर निकल जाता है। सभी कहते हैं— चाण्डाल है, पागल है। वही चाण्डाल और पागल जब तोषक-लिहाफ़ में लेटा था,

शानदार पोशाक में राजसी भोजन का स्वाद ले रहा था, तब 'महाराज, महाराज' कहकर चारों ओर घिरे रहते थे। एक ही व्यक्ति की निन्दा भी है और स्तुति भी। दुख में निन्दा, सुख में स्तुति। दुनिया की चाल उलटी। यहाँ असाधारण जन की चर्चा नहीं है। इसलिए होना यह चाहिए कि जब कोई अध्यवसायी साधक दुःख में हो तब उसकी स्तुति की जाय, कम-से-कम उसके पिछले साहस की। वह तो सुखी रह सकता था। केवल अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसने यह कठिन राह अपनायी। दुखों का स्वागत ही नहीं बल्कि उन्हें आमंत्रित किया। यदि ऐसा व्यक्ति भोग-विलास में भूला हो तो उसकी निन्दा करना बुरा नहीं है क्योंकि स्तुति घातक सिद्ध हो सकती है। पराये स्थान पर अजनबी लोगों के बीच निन्दा स्तुति का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उसका न समाज पर स्थायी प्रभाव पड़ता है और न उस साधक सज्जन पर।

पिछले श्लोक में ब्यौरा विशेषतया पराये स्थान और अपरिचित समाज का है और बीती हुई बातों का वर्णन है। परन्तु यह श्लोक वर्तमान को प्रस्तुत करता है और जाने-पहचाने व्यक्तियों के व्यवहार को जाहिर करता है। इस प्रकार का व्यवहार गांव-घर के लोग करते हैं, प्रदेश के लोग करते हैं और करते हैं संगी-साथी और सगे-सम्बन्धी। शत्रु भी यही करते हैं। शत्रु कौन ? वही जिसके साथ मित्रता के डोर बिखरे हों। तब तो शत्रुता का मूल आधार भी मित्रता है। ऐसी परिस्थितियों में शत्रु, मित्र में अन्तर करना कितना कठोर है। पर-स्थान और परदेश में अजनबी कहानेवालों के द्वारा भी इस तरह का व्यवहार होता है पर तभी जब वह उस स्थान और समाज का एक प्रकार का अंग बन जाता है। परदेश भी स्वदेश हुआ और गैर भी अपने।

श्लोक में गिराने या उठाने के तीन स्तर गिनाये गये हैं—एक तोहमत लगाना—तारीफ करना, दूसरे धन-दौलत देना—जो कुछ पास है उसे उतार लेना और तीसरे मारना, मार डालना—बचाव या बीच-बचाव करना। इन तीनों में आदि से अन्त तक सब-कुछ आ गया। ये तीनों बातें चालू व्यवहार में शामिल हैं। मानो चालू सिक्का है—चित्त भी खरा, पट भी खरा। न निन्दा करनेवाले को शत्रु कह सकते हैं और न स्तुति करनेवाले को मित्र मान सकते हैं। इसी प्रकार धन देना या ले जाना और मारना या बचाना दोनों दृष्टियों से हो सकता है। यदि मनःपूर्वक न हो तो भी परिणाम-स्वरूप यही निष्कर्ष निकलता है।

निन्दा, स्तुति, प्रलोभन—लूट लेना, मारना और बीच-बचाव करना, इन तीनों परिस्थितियों में साधक को सावधान रहना जरूरी है। साधना में बाधा पहले बातों से शुरू होगी। मित्र की स्तुति हो या शत्रु की निन्दा, साधक जहाँ

इन्हें बुरा समझा या भला माना तहाँ उसे अपने लक्ष्य से डिग जाने का खतरा है। इस निन्दा-स्तुति से प्रभावित न होकर अपनी साधना में लगे रहने पर भी छेड़छाड़ बन्द न होगी। अब चाँदी का जूता चलेगा। चाहे कोई धन दे या जो कुछ है उसी को उठा ले जाय, नतीजा दोनों का एक होगा। प्रायः ले जानेवाला शत्रु अंततोगत्वा मित्र सिद्ध होगा और देनेवाला मित्र वास्तव में शत्रु प्रमाणित होगा, यह भी सम्भव है। कांचन से कामिनी का प्रयोग भी इसी श्रेणी में आता है। उपरोक्त दोनों फंदों में गला नहीं फँसा तो ताड़ना की नौबत आती है। सोचते हैं, गले को फाँसना क्या उस गर्दन ही को उड़ा दो। मार-पीट से मार डालने तक सब कुछ हो सकता है। साधक एक बार गहरी चिन्ता में पड़ जाता है। सोचता है मरेंगे तो क्या होगा, जीते रहेंगे तो कुछ-न-कुछ कर ही लेंगे। जहाँ उसने इस प्रकार सोचना-भर शुरू किया वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। असली साधक मरेगा और उसकी लाश चलती-फिरती रहेगी। हिंसा की पराकाष्ठा पर जो न डिगे वही अमर होगा। उसने मृत्यु पर विजय पा ली। इस सारी यात्रा में साधक को तीन स्तरों पर मृत्यु से मोर्चा लेना पड़ता है। निन्दा-स्तुति में पहला मोर्चा, लक्ष्मी से दूसरा मोर्चा और तीसरा यमदूत से। यदि पहले मोर्चे पर बातों में फिसल गया तो वह पहले ही मर गया। कामिनी-कांचन में फँस गया तो गयाजी का पिंडदान हो गया और यदि दोनों मोर्चों को जीतकर तीसरे मोर्चे पर सचमुच मार डाला गया—समाज की उपेक्षा के कारण ही अथवा दैवात् मर गया हो तो भी वह आप मरा नहीं बल्कि मार डाला गया। दोनों अवस्थाओं में तीसरे मोर्चे पर मरनेवाला सदा अमर रहेगा।

भर्तृहरि—सुभाषितम् के सागर में 'निन्दन्तु नीतिनिपुणा' यह श्लोक मानो अमृत-कलश बनकर तैर रहा है। भारत के युवक-युवतियों को चाहिए कि फाँदकर उस पर हाथ मारें। उसे जीभर चखकर एकदम छक जायें और राहु-केतुओं का अंतर न मानकर उस अमृत-रस को संसार-भर में बखेर दें। यह कैसे होगा? भर्तृहरि के सभी श्लोक व्यावहारिक हैं। एक-आध पर आचरण करो, अन्य गुण स्वयं उत्पन्न हो जायेंगे।

इस विशेषार्थ के आरम्भ में जिस नीति तथा न्याय की ओर इंगित किया गया था उस पर भी दो शब्द। 'नीति-निपुण' कहीं निंदा करते हैं? नैतिकता में निंदा निषिद्ध है। नीति-निपुणता का अभिप्राय है केवल कूट-नीति अर्थात् तात्कालिक सफलता के लिए चालाकी बरतना। 'यह मारा, वह मारा', ये सब स्वार्थांधों की डींगें हैं। इनसे 'न्याय' का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस नीति-निपुणता के पीछे तुच्छ स्वार्थ छिपा होता है। नीति, न्याय ये शब्द समष्टि-पोषक हैं।

श्लोक के अन्दर इन दोनों शब्दों के बीच प्रयुक्त किये गये निन्दा, स्तुति, लक्ष्मी, मृत्यु आदि उपकरणों का प्रयोग न्याय के विरुद्ध होता है और समाज-विरोधी तत्वों द्वारा होता है । अस्तु ।

श्लोक ७५

कन्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशाः
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ।।

शब्द विच्छेद

विषयाश्च = विषयाः + च
कृत्स्नमिदम् = कृत्स्नम् + इदम्

शब्दान्वय

यस्य चित्तं कान्ताकटाक्ष विशिखाः न लुनन्ति
कोप कृशानुतापः न निर्दहति
भूरि विषयाः लोभ पाशाः न कर्षन्ति
सः धीरः कृत्स्नम् लोकत्रयं जयति ।

शब्दार्थ

यस्य = जिसके
चित्तं = मन को
कान्ता = नारी की
कटाक्ष = तिरछी निगाह के
विशिखाः = तीर
न लुनन्ति = न छेदते हों, (और)
कोप = क्रोध रूपी
कृशानु = आग की
तापः = लपक
न निर्दहति = नहीं जला पाती हो,
भूरि = सभी
विषयाः = रूप, शब्दादि विषय
लोभ पाशाः = लुभावने फंदे
न कर्षन्ति = न फँसाती हों
स धीरः = वह वीर (ऐसा वीर)
कृत्स्नम् = तमाम
लोकत्रयम् = तीनों लोकों को
जयति = जीत लेता है

भावार्थ

जो वीर पुरुष कामिनी की तिरछी निगाहों का शिकार न होता हो, जो क्रोध में आगबबूला होकर खुद ही न जल जाता हो, और जो किसी प्रकार के लोभ-लालच में न फँसता हो, ऐसा वीर सारे लोकों को जीत सकता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में धीर-वीर पुरुष को न्यायोचित मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा थी। इस श्लोक में उस पुरुषोचित मार्ग में जो-जो बाधाएं आ सकती हैं उनसे बचने पर जोर दिया गया है। पिछले श्लोकों में बताया गया था कि क्या-क्या करना चाहिए तो इसमें बताया गया है कि क्या न करना चाहिए। वह सकारात्मक और यह निषेधात्मक। वह औषधि तो यह पथ्य। औषधि पहले ली जाती है और पथ्य साथ ही किया जाता है, फिर भी पथ्य का नम्बर बाद में आता है।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है। माता-पिता बच्चों को पहले सच बोलने की आदत डालें और जब ऐसा अवसर आ जाय तब ही कहें कि झूठ न बोलना चाहिए। शुरू में ही झूठ न बोलने का उपदेश देते रहें तो सत्य में आस्था होने की अपेक्षा झूठ में रुचि हो जाने का खतरा अधिक है। बड़ों में जो पवित्र आत्मा बनने का अधिक आडम्बर रचते हैं वह प्रायः उनका दिखावा मात्र होता है। क्रियात्मक साहस अथवा शक्ति के लुप्त हो जाने के बाद वे ऐसा आवरण अपना लेते हैं। वास्तव में यह परिणाम उसी बाल्यावस्था का है जब उन्हें नकारात्मक उपदेश अधिक मिला है। बच्चे क्या समझें, यह समझकर माता-पिता और गुरुजन अपनी कथनी और करनी में जो अन्तर बरतते हैं उसका परिणाम यही होता है। साधारणतया नेतागण मंच पर खड़े होकर अथवा उपदेशक व्यास-पीठ पर बैठकर यही करते हैं। जनसाधारण भी उसी दुरंगी चाल को बिना आवरण के खुल्लम-खुल्ला अपनाते हैं। भर्तृहरि ने शायद इसीलिए पहले सकारात्मक मार्ग लिया और बाद में उस मार्ग में आनेवाले गड्ढों और गर्तों की चर्चा की है। वह गड्ढे कौन हो सकते हैं उन्हीं की ओर इस श्लोक में संकेत है।

काम, क्रोध, लोभ—इन तीनों को रास्ते के गड्ढे कहा गया है। पहला और सबसे घातक गड्ढा काम-वासना है। कामिनी की तिरछी निगाहें खूब खिंची हुई कमान से छूटनेवाले तेज और तीखे तारों के समान हैं जिनके लगते ही शिकार

बेदम गिर पड़ता है। धीर-वीर शिकारी बनकर जो चला था वही स्वयं शिकार बन जाय तो वह गम्य स्थान पर कैसे पहुँचेगा ? इतिहास ऐसी अनेक घटनाओं से भरा हुआ है जिनमें साहसी वैरी से निपटने की आशा न होने पर कामनियों द्वारा काम लिया गया है। जब कोई बड़ी कामना लेकर चल पड़ा हो तब उसे कामिनी के चक्कर में पड़ना ही न चाहिए।

क्या पुरुष ही सब-कुछ करने-धरनेवाला है और स्त्री कामिनी और पुरुष को फँसानेवाली मात्र है ? यहाँ पुरुषार्थ से मतलब है। स्त्रियाँ भी पुरुषार्थी हो सकती हैं। वे भी अपने किसी उच्च उद्देश्य के लिए अग्रसर हो सकती हैं। उद्देश्य की सिद्धि होने तक उन्हें भी काम-वासना में न फँसना चाहिए। स्त्रियाँ भी वह सभी असाध्य कहानेवाले कार्य कर सकती हैं जिन्हें पुरुष कर सकते हैं। स्त्रियाँ एक काम और अधिक कर सकती हैं जिसे पुरुष करने में असमर्थ हैं। वे ऐसी स्त्रियों तथा ऐसे पुरुषों को जन्म दे सकती हैं।

काम के बाद क्रोध का गर्त है। क्रोध कब आता है ? क्रोध उसी समय आता है जब कार्य-सिद्धि में बाधा पड़ती है। बाधा से तभी क्रोध आता है जब उस बाधा को हटाने में अपने को असमर्थ समझते हैं। समर्थ व्यक्ति बाधा उपस्थित होने पर मुस्करा जाता है और चुटकियाँ बजाते हुए उस बाधा को पार कर जाता है। अतीव समर्थ होते हुए भी कुछ वीर क्रोध के वशीभूत अधीर हो जाते हैं। उनकी आतुरता क्रोध में परिवर्तित हो जाती है। ऐसी ही दशा में क्रोध आग बनकर स्वयं को भस्म कर देता है। जितनी शीघ्रता से सिद्धि चाहते थे उतना ही विलम्ब हो जाता है और उसी मात्रा में क्रोध बढ़ता है और साथ ही बाधा बढ़ती है। विचार कर देखा जाय तो अत्यन्त समर्थवान का क्रोध भी भय के कारण होता है। भय के वश में न होना ही धीरता है।

भय का दूसरा रूप ही लोभ है। लुभावनी वस्तुओं के लालच में फँसना लोभ है। लुभाव क्षणिक है। ऊपर की कामिनी भी लुभावनी। यहाँ का कांचन भी मन लुभाने वाला। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, सारे शरीर और मन को थोड़ी देर के लिए सुख का आभास देनेवाली सभी चीजें लोभ में आती हैं। इसी की रस्सियों की जकड़ या फाँस, फंदा कहा गया है। जो रास्ते में ही फँस के रह गया वह मंजिल पर न लग सकेगा।

साधक को काम, क्रोध, लोभ में कहीं न फँसना चाहिए। अपने लक्ष्य की ओर निर्भीक और निश्शंक होकर बढ़ते ही जाना चाहिए। क्या पाओगे परिणाम में ? श्लोक में कहा गया है कि इसका कोई अन्त नहीं है। साधक अपना लक्ष्य जितना बड़ा बनायेगा उतना ही वह पायेगा। बड़ा-से-बड़ा लक्ष्य भी छोटी-सी वस्तु

जँचेगी । जिस संसार में हम रहते हैं, उसके साथ ऊपर जो स्वर्गलोक है या नीचे जो पाताललोक है उन लोकों को और उनमें उपलब्ध सभी वस्तुओं को भी प्राप्त कर सकते हैं ।

स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति को इस जीवन के बाद माना जाता है । कदाचित् कुछ शरीर स्वर्ग पहुँच जाते हैं । मरने के बाद क्या पायेंगे, इसकी बात छोड़ दें । इसी समाज में हम से जो लोग ऊपर हैं, या जो नीचे हैं वे भी तो बहुत-सी आश्चर्यजनक वस्तुओं के स्वामी हैं। सच्ची बात भी यह कि साहसी के लिए ऊँच-नीच से कोई मतलब नहीं । ऐसी उच्च स्थिति पर नीच जैसी कोई वस्तु न रहती है और न जँचती है ।

श्लोक ७६

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न—
शक्यते धैर्यगुणं प्रमाष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः
शिखा यान्ति कदाचिदेव ।।

शब्द विच्छेद

कदर्थितस्यापि = कदर्थित + अस्य + अपि
धैर्यवृत्तेर्न = धैर्यवृत्तेः + न
अधोमुखोस्यापि = अधोमुखः + अस्य + अपि
वह्नेर्नाधः = वह्नेः + न + अधः
कदाचिदेव = कदाचित् + एव

शब्दान्वय

कदर्थित अस्य अपि धर्यवृत्तेः
धर्यगुणः परमाष्टुम् न शक्यते,
वह्ने शिखाः अधो मुखस्य कृतस्य अपि
कदाचित् एव अधः न यान्ति ।।

शब्दार्थ

कदर्थित = कद, कदूरत से, गिराये गये, अपमानित किये गये
अस्य अपि = होते हुए भी
धैर्य वृत्तेः = धीर प्रवृत्तिवाले पुरुष के
धैर्य गुणः = धैर्य के गुणों की
परमाष्टुम् = झाड़ फेंकना, मिटाना
न शक्यते = असम्भव है
वह्नि शिखाः = धधकती आग की ज्वालाए
अधो मुखस्य = नीचे की ओर
कृतस्य अपि = उलटे करने पर भी
कदाचित् एव = कभी भी
अधः = नीचे की ओर
न यान्ति = नहीं जातीं (ऊपर ही को उठती हैं)

भावार्थ

जिस धीर-वीर पुरुष में उत्तम गुण जड़ पकड़ चुके हों, उसे धोखाधड़ी से नीचे गिराने तथा अपमानित करने की चेष्टा करने पर भी उस धीर पुरुष के उन सद्गुणों को मिटा डालना असम्भव है। वह तो धधकती आग के समान है जिसे उलटे थामें तब भी लपटें ऊपर की ओर ही उठा करेंगी।

विशेषार्थ

साहसी तथा अध्यवसायी पुरुष को कठोर परीक्षाओं में से उत्तीर्ण होना पड़ता है। पिछले श्लोक में कामिनी और कांचन के प्रलोभन से बचने की बात कही गई थी। धीर पुरुष में क्रोध का अंश होता है, परन्तु वह उस क्रोध का शक्ति का उपयोग कार्यसिद्धि में लगाता है। साहसी को इस क्रोध-शक्ति का आभास होता ही है। सत्तावान समझते हैं कि उनका क्रोध साहसी साधक पर नहीं चलेगा। इसलिए साधक को चिढ़ाकर उसे क्रोधित करने की चेष्टा करते हैं। इसी से सावधान किया गया था कि क्रोध में आकर स्वयं भस्म न हों और अपना काम आप ही न बिगाड़ लें।

पिछले श्लोक के इस आशय को सामने रखते हुए श्लोक पर विचार करना चाहिए। श्लोक शुरू होता है शब्द 'कदर्थि' से। कद, कदूरत, कुत्सित व्यवहार, यह सब नीच व्यक्ति ही कर सकते हैं। साहसी,सत्ताधारी जब अपने को असमर्थ पाते हैं तब वे नीचता पर उतारू हो जाते हैं। भले ही वे नीचता पर उतारू हों, किसी आदर्श के लिए आगे बढ़नेवाला निष्ठावान व्यक्ति कभी पीछे की ओर

देखेगा क्यों और नीचे उतरेगा क्यों ? उसे तो ऊँचा ही ऊँचा चढ़ना है। इस दशक के प्रथम श्लोक से बराबर यही ध्वनि निकल रही है। रत्नों से प्रसन्न नहीं होते, विष से डरते नहीं, बार-बार बाधाओं से जूझते हैं। कथरी अथवा शाल, कन्द-मूल अथवा मिष्ठान्न, स्तुति-निन्दा, यहाँ तक कि तुरन्त मृत्यु अथवा अमर जीवन, सभी को साध्य की सिद्धि में साधक या बाधक माने बिना कार्यरत रहते हैं। ऐसे धीर पुरुषों को अन्त में यदि कुत्सित लोगों से काम पड़े तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। क्या शत्रु, क्या मित्र सभी इस प्रकार कर सकते हैं। रजोगुण-प्रधान सात्विक जन भी ऐसे कार्य कर सकते हैं। और तो और सच्चे साथी भी सहानुभूतिवश इस प्रकार का व्यवहार करने लगते हैं, क्योंकि वे उस धीर पुरुष के धैर्य की पराकाष्ठा को पहुँच नहीं पाते। वे अपने अज्ञान से उस धीर को जलती लकड़ी की लुकटी समझकर उसे उलटे टाँगते हैं, उलटी बातें करते है। पर आँच की लपट सदा ऊर्ध्वमुखी ही रहेगी। लुकटी अधिक तेजी से जलेगी और सम्भव है। लकुटी को उलटी थामने वाले का हाथ ही जल जाय। लकुटी की कौन चिन्ता ? वह तो जल ही रही है और भी तेज जलेगी।

श्लोक ७७

वरं तुंगाच्छृंगाद्गुरु शिखिरिणः क्वापि विषमे
पतित्वायं कायः कटिनदृषदन्तर्विदलितः ।
वरं न्यस्तो हस्तः फणिमतिमुखे तीक्ष्णदशने
वरं वह्नौ पातस्तदपि न कृतः शीलविलयः ।।

शब्द विच्छेद

तुङ्गाच्छृङ्गाद्गुरुः = तुङ्गात् + शृङ्गत् + गुरु
क्वापि = क: + अपि
दृषदन्तर्विदलितः = दृषत् + अन्तः + विदलितः
पातस्तदपि = पातः + तदपि

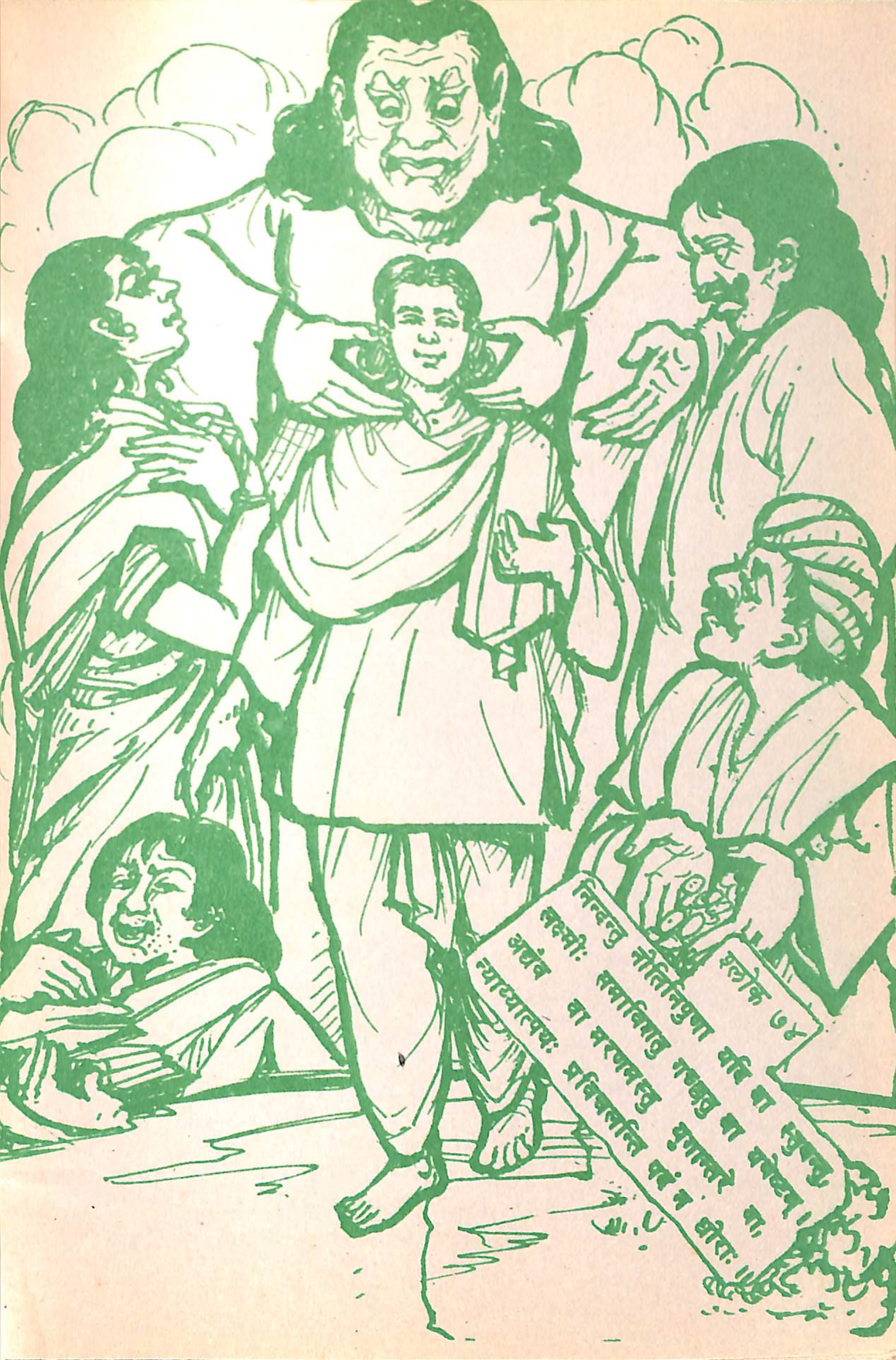
श्लोक ७४
निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः

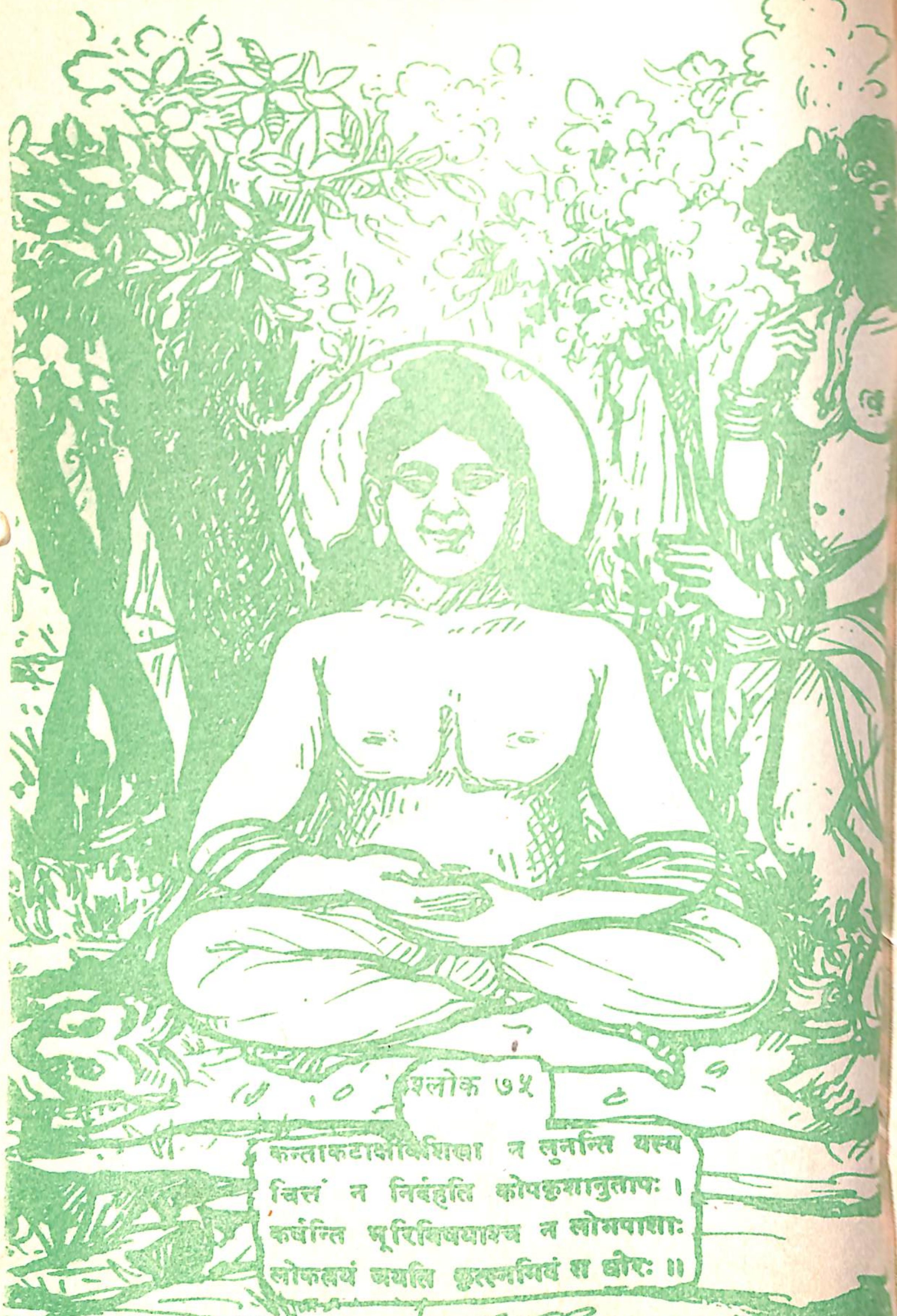

श्लोक ७५

कन्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशाः
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥

शब्दान्वय

अयं कायः गुरु शिखिरिणः तुङ्गात् शृङ्गात्
क्वापि विषमे कठिन दृषत् अन्तः पतित्वा विदलितः वरम्
फणिपतिमुखे तीक्ष्ण दशने हस्तः न्यस्तः वरम्
वह्नौ पातः वरम् तदपि शील विलयः न कृतः।।

शब्दार्थ

अयं कायः = यह शरीर
गुरु शिखिरिणः = बड़े पहाड़ के
तुङ्गात् = ऊँचे
शृङ्गात् = चोटी से
क्वापि = किसी
विषमे = ऊबड़खाबड़
कठिन दृषत् = कठोर चट्टान के
अन्ते = पास, ऊपर
पतित्वा = पड़कर
विदलितः = चकनाचूर हो जाए
वरम् = (वह) अच्छा है
फणिपति = नागराज के
मुखे = मुँह में (के)
तीक्ष्ण = तेज, तीखे
दशने = दाँतों के बीच
हस्तः = हाथ
न्यस्तः = देना, रखना
वरम् = अच्छा है, बेहतर है
वह्नौ = आगी में
पातः वरम् = पड़ जाना अच्छा है
तदपि = फिर भी
शील = सुशील व्यवहार का
विलयः = त्याग
न कृतः = न किया जाना चाहिए
(शरीर भंग हो, पर शीलभंग न हो)

भावार्थ

पहाड़ की ऊँची चोटी से गिरकर शरीर को चकनाचूर करना पड़े तो पीछे न हटो। जहरीले साँप के मुँह में हाथ देना पड़े तो संकोच न करो। दहकती आग में पड़कर राख होना पड़े तो न हिचको। सुशीलता को त्यागकर उद्दण्ड बन जाने से तो इस प्रकार देह-त्याग करना कहीं अच्छा है।

विशेषार्थ

अध्यवसायी के लिए शील-सदाचार की बात क्यों कही गई, इसे समझने के लिए पिछले श्लोक की ओर ध्यान देना होगा। पिछले श्लोक में कुत्सित प्रवृति से प्रेरित होकर कुछ लोग साधक को हतोत्साहित करने की चेष्टा करते हैं। ये सब

विरोधी करते हैं। संगी-साथी भी कर सकते हैं। विरोधियों के विरोध का सामना करना सरल है। किन्तु संगी-साथियों और सम-आदर्श रखने वालों का विरोध सहना कठिन होता है। क्रोध ऐसे लोगों के प्रति ही अधिक आता है। स्नेह भी दिखावें और साथ ही साहस को तोड़ने की चेष्टा भी करें, यह कुत्सित प्रवृत्ति का ही परिणाम हो सकता है। किन्तु ऐसा भी तो हो सकता है कि आपके साहस को वह दुस्साहस समझते हों और साध्य को असाध्य समझते हों। आपकी सचाई से प्रभावित होकर सम्भव सहायता करना चाहते हों। जिसे वे आपका दुस्साहस और दुराग्रह मानते हों, उससे विरत होकर आपको चाहते हों कि कुछ सम्भव कार्य पर लगाने के लिए आवश्यक सुविधाएँ भी देने को तैयार हों। ऐसे सज्जनों पर क्रोध दिखाना कहाँ तक उचित है ? यदि आप समझते हैं कि वे आपकी मनोदृढ़ता को मापने में गलती कर रहे हैं तो आपको चाहिए कि उनके प्रति तरस खायें, क्षमा करें और उनकी सहानुभूति के लिए अपनी कृतज्ञता प्रकट करें।

मान लिया जाय कि उनकी नीयत ठीक नहीं है, जो बहुत कम होता है, तब भी आपको अपनी नीयत बिगाड़नी नहीं चाहिए। औरों की नीयत पर शक करना भी क्षुद्रता है। उद्दंडता दिखाना तो दोष है ही। अनुकूल परिस्थिति हो, अथवा विपरीत वातावरण, हर हालत में अपने शील, सदाचार को हाथ से न जाने देना चाहिए।

सुशीलता में दोनों प्रकार से लाभ ही है। इससे एक स्नेही विरोधी नहीं बनेंगे और आपको घमण्डी नहीं कहेंगे। दूसरी ओर देखेंगे कि जिन पर आप क्रुद्ध हो रहे थे या होने जा रहे थे वे आपका पहले से भी अधिक आदर करते हैं। यह तो स्नेहीजन की बात हुई। उनका स्नेह बना रहा और बढ़ा। सुशीलता से विरोधियों का विरोध भी इतना कटु न होगा। सम्भव है वे भी स्नेही बन जायें। न भी बनें तब भी मन में आपकी मर्यादा का मान ही करेंगे। वे यदि आपके साधक न रहेंगे तो कम-से-कम बाधक तो नहीं बनेंगे। इस सौदे में दोनों ओर सूद-ही-सूद मिलता है। जुर्माना कहीं देना नहीं पड़ता।

जुर्माना इसलिए नहीं कि आप अपने आदर्श पर अटल हैं। उसके लिए मरने तक को तैयार हैं। अनादर हो तो परवाह नहीं। पहाड़ से गिरने, साँप के मुँह में हाथ देने या आग में कूदने में आप सहज साहस का ही परिचय देंगे। यदि शील, साहस का लोप हो गया तो वह साहसी साधक जो आपके अन्दर था वह मर ही गया। तब सचमुच उसका मर जाना ही अच्छा है। साधना का संकल्प त्यागने के बाद वह जीते हुए भी मृतक के समान है। सदा मन मसोसता रहेगा। रोज

मरता रहेगा। बहादुर एक बार मरता है और कायर मरता है रोज—कई-कई बार।

श्लोक ७८

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा—
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरंगायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्यांगेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति॥

शब्द विच्छेद

वह्निस्तस्य = वह्निः + तस्य
तत्क्षणान्मेरुः = तत्क्षणात् + मेरुः
यस्याङ्गेऽखिल = यस्य + अंगे + अखिल
समुन्मीलति = सम + उन्मीलति

शब्दान्वय

यस्य अंगे अखिल लोकवल्लभ तमं शीलं सम उन्मीलति
तस्य वह्निः जलायते जलनिधिः कुल्यायते
मेरुः तत्क्षणात् स्वल्प शिलायते,
मृगपतिः सद्यः कुरंगायते, व्यालः माल्यगुणायते
विषरसः पीयूष वर्षायते।

शब्दार्थ

यस्य = जिसके
अंगे = शरीर में
अखिल लोक = सभी लोगों के प्रति
वल्लभ तमं = उत्तम प्रेम
सम उन्मीलति = पूर्णतया प्रकाशित होता है, सराबोर होता है
तस्य = उसके लिए

वह्निः=जलती आग
जलायते=शीतल जल बन जाता है
जलनिधिः=समुद्र
कुल्यायते=नाला बन जाता है
मेरुः=(सबसे ऊंचा) मेरु पर्वत
तत्क्षणात्=उसी दम
स्वल्प=छोटा-सा
शिलायते=सिल बन जाता है
मृगपतिः=सिंह
सद्यः=तुरन्त
कुरंगायते=हिरन बन जाता है
व्यालः=सर्पराज
माल्य=फूलमाला का
गुणायते=डोर बन जाता है
विषरसः=विष का रस, जहर मुंह
पीयूष=अमृत
वर्षायते=बरसाता है

भावार्थ

जिस व्यक्ति का मन सभी के लिए प्रेम से सराबोर होता है उस सुशील पुरुष के लिए घोरातिघोर क्रूर व्यक्ति भी सरस हो जाते हैं। जलानेवाली अग्नि ठंडक देनेवाला जल बन जाती है, अपार समुद्र छोटा-सा नाला बन जाता है, अत्यन्त ऊंचा पर्वत एक शिलाखण्ड-सा मात्र बन जाता है, क्रूर सिंह कुरंग बन जाता है, सांप गले का हार बन जाता है, और विष से अमृत की वर्षा होने लगती है। और मृत्यु की जगह अमर जीवन प्रदान करता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जिन घोर घातक वस्तुओं की ओर संकेत था इस श्लोक में भी उस-जैसी ही वस्तुओं का वर्णन है। न वह सुखकारक थीं और न ये हैं। फिर सुख-स्वप्न दिखाये गये हैं। दुखकारक से सुखकारक कैसे बन सकते हैं, यही इसमें बताया गया है और कहा गया है कि वह अपूर्व वस्तु है सुशील स्वभाव। शालीनता को छोड़ने पर ही सुख मिल सके तो ऐसे सुख की कामना करने की अपेक्षा मरना अच्छा है। और उस मरने में पहाड़ से गिरना पड़े या आग में जलना पड़े। पिछले श्लोक से यह स्वर निकलता है कि आपकी प्रगति अथवा प्रयास को सहन न कर सकने के कारण क्षुद्र बुद्धि से इस प्रकार के डर दिखावें तो सम्भव है कि आप भी क्रोध में आकर कुशब्दों पर उतर आयें। ऐसी दशा होने पर कहा गया है कि उन कष्टों को सहते हुए मरने को तैयार हो जाओ पर अपनी शालीनता न छोड़ो।

श्लोक में उसी सन्दर्भ को लेते हुए बताया गया है कि सबसे प्रेम रखते हुए

उन कुत्सित व्यक्तियों के प्रति सदव्यवहार करने पर उसका प्रभाव ऐसा क्रान्तिकारी होता कि आग-जैसी जलानेवाली वस्तु अपने जलाने की शक्ति को खो देगी, पहाड़, पत्थर चोट नहीं पहुंचायेंगे, समुद्र भी राह देगा। और विष भी पीलोगे तो मरोगे नहीं, उलटे अमर हो जाओगे।

अमरत्व के कई रूप हो सकते हैं। सचमुच सत्कार्य में सहन करते हुए प्राण त्यागने पर लोग ऐसे व्यक्ति को मरने पर भी याद रखते हैं, अनुकरण करते हैं, अधूरे रहे कार्य को पूरा करते हैं। उसी समय वही लोग न करें तो बाद के लोग करते हैं। मरने पर भी नाम जीवित रहता है और कार्य भी पूरा होता है। अमरत्व का यह एक दृष्टिकोण है।

दूसरा पक्ष भी है। अत्यन्त क्रूर व्यक्ति भी तो मानव ही है। स्वयं उसके अन्दर भी सुप्त मानवता जाग्रत हो सकती है। केंचुल से निकले हुए साँप की भाँति उस नव-जाग्रत मानवता में वेग भी अधिक हो सकता है और वही व्यक्ति जो आपकी जान का भूखा था आपका सहायक तथा साथी बन सकता है और तभी या आगे कभी ऐसी विपत्तियाँ आ खड़ी हों तो उन्हें स्वयं झेलकर आपको पार लगा सकता है।

तीसरा पक्ष भी है। श्लोक में मरण का यह वर्णन कोरी कल्पना नहीं है। ऐसे सन्दर्भ साधारण व्यक्तियों के जीवन में भी आते हैं। साधारण दीखनेवाले व्यक्ति भी ऐसे उच्च आदर्शों के अनुगामी होते हैं। शालीनता भी उनमें कूट-कूट कर भरी होती है और अपने साहस तथा शालीनता से साँप के समान डसने वाले व्यक्तियों को सचमुच ही गले का हार बना लेते हैं। शेर की माँद में जाने पर वह दुम हिलाते हुए उसके तलुए चाटने लगता है। शत्रु भी साथी बनते हैं। यह अनुभव करके देखने की बात है। अपने बीच में रहनेवालों को हम देख नहीं सकते, इसलिए हमें उनके गुण और परिणाम दिखायी नहीं देते। इसका कारण स्वयं अपने अन्दर आत्मविश्वास का अभाव ही होता है, जो रूप बदल कर दूसरों पर अविश्वास के रूप में प्रकट होता है। घमण्ड या हेटी का अनुभव करने पर भी ऐसा होता है।

रामायण को प्रायः सभी मानते हैं। क्या हनुमान के लिए समुद्र नाला नहीं बना था ? क्या लंका-दहन में उनका शरीर जला था ? जो हनुमान के लिए साध्य था, वह हर मानव के लिए भी सम्भव है।

श्लोक ७९

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।
इति विमृशन्तस्सन्तः संतप्यन्ते न विप्लुता लोके ।।

शब्द विच्छेद

छिन्नोऽपि = छिन्नः + अपि
क्षीणोऽप्युपचीयते = क्षीणः + अपि + उपचीयते
पुनश्चन्द्रः = पुनः + चन्द्रः
विमृशन्तस्सन्तः = विमृशन्तः + सन्तः

शब्दान्वय

तरुः छिन्नः अपि पुनः रोहति
चन्द्रः क्षीणः अपि पुनः उपचीयते
इति विमृशन्तः सन्तः लोके विलुप्ता न संतप्यन्ते ।।

शब्दार्थ

तरुः = पेड़
छिन्नः अपि = कटने पर भी
पुनः = फिर से
रोहति = अंकुराता है
चन्द्रः = चन्द्रमा
क्षीणः अपि = घटने पर भी
पुनः उपचीयते = फिर से उभरता है

इति = इस प्रकार
विमृशन्तः = विचारकर
सन्तः = सत्पुरुष
लोके = संसार में
विलुप्ता = कष्ट सहते हुए भी
न संतप्यन्ते = दुःखी नहीं होते

भावार्थ

सन्तजन संसार में विभिन्न विपदाओं को झेलते जाते हैं परन्तु तनिक भी दुखी नहीं होते, क्योंकि वे भली-भाँति जानते हैं कि पेड़ कटता भी है तो वह फिर से अँकुराता है और इसी प्रकार चन्द्रमा घटता है तो फिर से बढ़ता भी है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि साधक यदि स्थिरता के साथ अपनी साधना में लगा रहे तो चल-चलाकर बाधाएं ही उसकी साधना में सहायक सिद्ध होती हैं। आग शीतल हो जाती है। सिंह हिरन बन जाता है, इत्यादि। अभिप्राय यह है कि अभी सिद्धि प्राप्त नहीं हुई। साधना अभी चल रही है। पहले कठोर परिश्रम करना पड़ता था। अब सरलता से आगे बढ़ रहा है। पिछले श्लोक का दूसरा पक्ष भी है। साधक को सफलता मिल चुकी है अथवा वह उसके समीप पहुँच चुका है। बाधाएँ अब भी आ सकती हैं, पर उसे उनकी परवाह नहीं है। इन दोनों पक्षों को लक्ष्य में रखते हुए प्रस्तुत श्लोक कहा गया है।

दो उदाहरण प्रस्तुत हैं, एक आकाशगामी चन्द्रमा, दूसरा धरती पर स्थिर तरुवर। अमावस्या के घोर अन्धकार से गुजरकर बाल-चन्द्र बढ़-बढ़कर पूर्ण चन्द्र हो गया। सूखी धरती पर बीज जमकर रूख बन गया। एक दिन किसी ने कुल्हाड़ा चलाकर रूख के सारे डाल काट डाले। पूर्णिमा की दूसरी रात से चन्द्रमा का आकार कुछ घट गया और घटते-घटते गायब हो गया। पेड़ में डाल नहीं। आकाश में चन्द्रमा नहीं। साधक के लिए दिन की धूप में छाया नहीं। रात के अन्धकार में प्रकाश नहीं। फिर भी साधक की साधना जारी है। किस बल पर चल रही है उसकी साधना ? यह बल उसे उसी धरती से मिल रहा है जो ठूंठ से मंजुल निकालती है और उसी आकाश से जो अन्धकार में से बालचन्द्र को उभारता है।

अभिप्राय यह है कि पूर्णता पर फूले न समाओ। सफलता भी विफलता में परिणत हो सकती है, जैसे हरा-भरा पेड़ कटा और पूर्णचन्द्र घटा। दो शब्दों में, निश्चिन्त न बनो तो निराश भी न होओ। यह हुई अपूर्ण सफलता अथवा अधूरी यात्रा की बात।

किसी काम के परिणाम दो ही तो होंगे—सफल या विफल। ऐसी धारणा साधारण जन की होती है। साधक सदा असाधारण व्यक्ति होता है। परिणाम कुछ भी हो, उसकी उसे परवाह नहीं। प्रयास से वह कभी नहीं चूकता। इस श्लोक में बताया गया है कि साधारणतया जिसे लोग असफलता कहते हैं, उस स्थिति में साधक का दृष्टिकोण क्या होता है। अब अगले श्लोक में पढ़िए, सफलता में उसका उद्देश्य क्या होता है।

श्लोक ८०

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजिता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥

शब्द-विच्छेद

ज्ञानस्योपशमः = ज्ञानस्य + उपशमः
प्रभवितुर्धर्मस्य = प्रभवितुः + धर्मस्य
सर्वेषामपि = सर्वेषाम् + अपि
कारणमिदं = कारणम् + इदम्

शब्दान्वय

ऐश्वर्यस्य सुजनता विभूषणं, शौर्यस्य वाक् संयमः विभूषणं,
ज्ञानस्य उपशमः विभूषणं, श्रुतस्य विनयः विभूषणं,
वित्तस्य पात्रे व्ययः विभूषणं, तपसः अक्रोधः विभूषणं,
प्रभवितुः क्षमा विभूषणं, धर्मस्य निर्व्याजिता विभूषणं,
सर्वकारणं इदं शीलं सर्वेषाम् अपि परम् भूषणम् ॥

शब्दार्थ

ऐश्वर्यस्य = सम्पदा-समृद्धि के लिए
सुजनता = सज्जनता
विभूषणं = आभूषण है
शौर्यस्य = शूरता के लिए
वाक् संयमः = कम बोलना, डींग न हाँकना
विभूषणं = आभूषण है
ज्ञानस्य = ज्ञान के लिए
उपशमः = शान्ति
विभूषणं = आभूषण है

श्रुतस्य = पांडित्य के लिए
विनय. नम्रता
विभूषणं = आभूषण है
वित्तस्य = धन के लिए
पात्रे व्ययः = सुपात्र पर खर्च करना
विभूषणं = आभूषण है
तपसः = तपस्या के लिए
अक्रोधः = क्रोध का न होना
विभूषणं = आभूषण है
प्रभवितुः = समर्थ, प्रभु के लिए

क्षमा=बर्दाश्त, माफ़ी
विभूषणं=आभूषण है
धर्मस्य=धर्म के लिए
निर्व्याजिता==आडम्बर का न होना, सादगी

विभूषणं=आभूषण है
सर्व कारणं=सबका मूल
इदम् शीलम्=यह सदाचार
सर्वेषाम् अपि=इन सबसे भी
परम् भूषणम्=उत्तम आभूषण है

भावार्थ

सम्पदा के लिए सौजन्यता आभूषण है अर्थात् सम्पन्न व्यक्ति को सज्जनता शोभा देती है। शूरवीर पुरुष को मितभाषी होना शोभा देता है और ज्ञानी को इन्द्रियों का दमन-उपशमन शोभा देता है। इसी प्रकार विद्वान् को विनय, धनी को दान, तपस्वी को शान्ति, प्रभु को क्षमा, धर्म को निराडम्बर शोभा देते हैं। यह सभी उत्तम गुण हैं, पर शील-सदाचार उत्तमोत्तम है और सभी के लिए सभी के प्रति परमावश्यकीय है।

विशेषार्थ

सप्तम दशक का यह अन्तिम श्लोक है। पिछले श्लोकों में विशेष व्यक्तियों के सम्बन्ध में चर्चा थी। इस श्लोक में सभी को सम्बोधित करके कहा गया है। सम्पन्न, शूर, ज्ञानी-विज्ञानी, विद्वान, धनी, तपस्वी, प्रभु, पुजारी तथा धार्मिक व्यक्तियों का उल्लेख करते हुए अन्त में 'सर्वेषाम्' के साथ मनुष्य मात्र के लिए उपदेश है। इसमें साधारण जन भी आ जाते हैं, कोई बचता नहीं है।

जिन साधारण को अन्त में लिया गया है उन्हीं को पहले लिया जाय। सर्वसाधारण के लिए जो बात कही गई है वह सब पर समान रूप से लागू होती है। ऊपर जिन सम्पन्न, वीर, विद्वानों के बारे में विशेष गुणों का वर्णन है, वे सर्वसाधारण के लिए भी आवश्यकीय हैं। गुणों में अपवाद नहीं हो सकता। बड़ा हो या छोटा, विद्वान हो या मूर्ख, राजा हो अथवा रंक, सबके लिए शील-सदाचार आवश्यकीय है। सत्ताधारी, वीर, विद्वान आदि को भी स्वेच्छाचारी बनने की छूट नहीं है। धन, विद्या, शक्ति, सत्ता, यहाँ तक कि सर्वज्ञ ज्ञानी को भी आचार-संहिता में अपवाद प्राप्त नहीं हो सकता। अपने अधीनस्थ कर्मचारी हो, या बाहर का कोई व्यापारी या गाँव का गँवार, सबके साथ सब का सभ्यता एवं सदाचार का व्यवहार होना ही चाहिए। इसीलिए सदाचार सर्वोपरि आभूषण है, जेवर है।

जेवर सँवारने की वस्तु है। सभ्यता के माने भी सँवारने के हैं। अतः जिनमें सदाचार नहीं वह असभ्य हैं, भले ही वे वीर, विद्वान या सत्तावान हों। गाँव के गरीब अपढ़ में यदि इसका अभाव या न्यूनता हो तो क्षम्य है, परन्तु बड़ों की असभ्यता और उद्दण्डता कैसे बर्दाश्त की जा सकती है।

यहाँ शंका उठती है कि जब यह उत्तमोत्तम आभूषण सबके लिए आवश्यकीय हैं, इसके बिना काम चल नहीं सकता और इसके साथ-साथ यदि कोई व्यक्ति वीर, विद्वान, धनवान आदि है तो ये स्वयं अतिरिक्त गुण हुए। नहीं, यही भ्रम है। वास्तव में जितने अधिक गुण हों मनुष्य के लिए उतनी ही अधिक सावधानी की जरूरत है। मानलो, किसी युवती के सिर पर लम्बे, घुंघराले और काले बाल हैं, पर न कभी तेल लगता है और कंघा चलता है, तो वह बाल न होंगे बल्कि कँटीला झाड़-झंकाड़ होगा। इसीलिए विशेष व्यक्तियों के लिए विशेष अतिरिक्त गुणों की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

सम्पन्न हो तो वह सज्जन भी हो। मानलो कि एक व्यक्ति सम्पन्न है पर उसमें सौजन्यता नहीं है। तब वह क्या होगा ? वह दुर्जन होगा ! सम्पदा के साथ दौर्जन्यता न हो, इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसे सज्जन होना चाहिए, तभी उस सम्पदा का सदुपयोग होगा। इसी प्रकार जो शूरवीर डींग मारेगा वह रणभूमि में पछाड़ खायेगा। ज्ञानी बनकर ज्ञान छाँटे, पर इन्द्रियों का दास बनकर विषय-भोग में फँसा रहे तो वह व्यभिचारी से बदतर होगा। जो विद्वान विनयशील न होगा, वह घमण्डी होगा। घमण्डी वही होगा जो समझेगा कि मुझसे बड़ा विद्वान दूसरा नहीं है। अनन्त विद्या का इस प्रकार जो बाँध बाँधे, वह विद्या के क, ख, ग से अनभिज्ञ है। धन खर्च करने के लिए है, गाड़कर रखने के लिए नहीं। चलायमान धन को पंगु बनानेवाला पापी है। खर्च भी सुपात्र व्यक्ति पर करना होगा। लक्ष्मी माता है या पुत्री। इनके साथ स्वभोग या सम्भोग की स्वतन्त्रता नहीं है। तपस्वी को तपना जरूरी है। मन शीतल हो तभी बाहर की तपन को झेल सकता है। तपस्या फलती है बल्कि चलती है क्रोधाग्नि के शान्त होने के बाद। प्रभु को क्षमा इसलिए भी जरूरी है कि उसे सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं। प्रजाजन अपनी किसी असुविधा को दूर करने के लिए ही प्रभु की शरण में जाते हैं। आपद्ग्रस्त व्यक्ति को प्रभु पर क्रोध प्रकट करने का अधिकार है। किन्तु प्रभु को व्यग्र होने का कोई कारण नहीं है। “काम बहुत है”, “जिम्मेवारी भारी है”, जो इस प्रकार कहते हैं वे अपने को उस अधिकार के अनधिकारी होना स्वीकार करते हैं। एक कहानी है।

महमूद गजनवी ने अपनी सल्तनत दूर-दूर तक फैला रखी थी। एक दिन एक बुढ़िया सुल्तान के दरबार में हाजिर हुई और शिकायत की कि डाकुओं ने उसके

बेटे को मार डाला है। सुल्तान ने कहा कि वह इलाका इतना दूर है कि मैं वहाँ पहुँच नहीं सकता। बुढ़िया ने बिगड़कर कहा—जब तुम उस इलाके में अमन नहीं रख सकते तब तुम उसे अपनी सल्तनत क्यों कहते हो ? सुल्तान को बुढ़िया का गुस्सा जँचा। फौरन कूच का हुक्म दिया और उस इलाके को डाकुओं से पाक किया।

अष्टम् दशक का सारांश

श्लोक ७१—लक्ष्य की ओर बढ़नेवाले के बीच-बीच में पड़ाव नहीं पड़ते।
,, ७२—उत्तम पुरुष विघ्न-बाधाओं से जूझते हुए आगे बढ़ते हैं।
,, ७३—वे राह के सुख-दुःख समान भाव से झेलते, भोगते हैं।
,, ७४—वे तोहमत, तारीफ और धन-दारिद्रय की परवाह नहीं करते।
,, ७५—उन्हें न आकर्षण जकड़ रखता है और न धन पकड़ पाता है।
,, ७६—वे गिरने-गिराने पर भी ऊपर ही उठते हैं।
,, ७७—बड़ी-से-बड़ी बाधा पर भी वे अबाध आगे बढ़ते हैं।
,, ७८—धीर-वीर के लिए बाधक ही साधक बन जाते हैं।
,, ७९—घोर निराशाओं में भी वे घोर आशावादी बने रहते हैं।
,, ८०—सदाचार सबके लिए समान रूप से जरूरी है।

।। दैवपद्धतिः ।।

श्लोक ८१

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावतो वाहनम् ।
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलिभिद्भग्नः परैः संगरे
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ।।

शब्द विच्छेद

दुर्गमनुग्रहः=दुर्गम्+अनुग्रहः
हरेरैवातो=हरिः+ऐरावतः
इत्याश्चर्य=इति+आश्चर्य
बलान्वितोऽपि=बलान्वितः+अपि
बलभिद्भग्नः=बलभित्+भग्नः
तद्व्यक्तं=तत्+व्यक्तम्
दैवमेव=दैवम्+एव
धिग्धिग्वृथा=धिक्+धिक्+वृथा

शब्दान्वय

यस्य नेता बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सैनिकाः सुराः
दुर्गं स्वर्गः अनुग्रहः हरे खलु वाहनम् ऐरावतः
इति आश्चर्य बलान्वितः अपि इन्द्रः संगरे परैः भग्नः
दैवम् एव शरणं ननु तत् व्यक्तम् वृथा पौरुषम् धिक् धिक् ॥

शब्दार्थ

यस्य=जिसका
नेता=मार्गदर्शक
बृहस्पतिः=भृगु महर्षि हैं
प्रहरणं=हथियार (जिसका)
वज्रं=वज्रायुध है
सैनिकाः=(जिसके) सिपाही
सुराः=अमर देवता हैं
दुर्ग=कोट, किला (जिसका)
स्वर्गः=स्वर्गलोक है
अनुग्रहः=सहायक (जिसका)
हरे खलु=स्वयं विष्णु भगवान हैं
वाहनम्=सवारी (जिसकी)
ऐरावतः=ऐरावत है
इति=इस प्रकार, इतना
आश्चर्य बलान्वितः=गजब का बली है
अपि=तो भी
इन्द्रः=देवेन्द्र
संगरे=युद्ध में
परैः=पराये दानवों से
भग्नः=पिटे, हार गये
दैवम् एव=भगवान ही
शरणं=आसरा है
तत् व्यक्तम्=यह स्पष्ट है (अतः)
वृथा पौरुषं=बेकार का प्रयास
धिक् धिक्=धिक्कारने योग्य है

भावार्थ

इन्द्र भगवान स्वर्गलोक के अधिपति हैं। देवर्षि बृहस्पति उनके परामर्शदाता हैं। उनके यहाँ अमृतपान किये हुए देवताओं की सेना

है। ऐरावत हाथी उनकी सवारी है। वज्र उनका हथियार है। स्वर्ग उनका सुरक्षित कोट है। सबसे बड़ी बात है विष्णु भगवान उनके सहायक हैं। इन्द्र भगवान इतने गजब के बली हैं तब भी युद्ध में राक्षसों से उन्हें हार खानी पड़ी। इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य का पुरुषार्थ निरर्थक है और भले बुरे के लिए भगवान ही का भरोसा है।

विशेषार्थ

पिछले सभी श्लोकों पर मनन करने पर मानव का मन बढ़ता था। नया उत्साह पैदा होता था। इस श्लोक से दैव-पद्धति का आरम्भ होता है। दैव-पद्धति हो अथवा दानव-पद्धति, संसार में मानव ही सब कुछ नहीं है, और भी शूरवीर हैं। भतृहरि ने अपने उपदेशों से मानव को दानव बन जाने से रोकने तथा देव बनाने की चेष्टा की है। प्रयासपूर्वक देव बनने मात्र से मुक्ति नहीं मिलती। देवों की दुर्गति भी होती है। सो इस श्लोक में देवताओं के अधिपति इन्द्र का उदाहरण दिया गया है।

इन्द्र का वासस्थान, हमारा यह भूलोक, मृत्युलोक नहीं कि लोग नित्य जन्मते और नित्य मरते हों, स्वर्गलोक है, शायद किसी ऊँचे अन्य लोक में, जहाँ हमारी पहुँच नहीं है । फिर वे देवतागण अमृतपान कर अमर हो चुके हैं। न मरें भले ही, कष्ट तो आ ही सकते हैं। इन्द्र ने कष्ट निवारण का प्रबन्ध कर रखा है। कार्याकार्य सुझाने के लिए देवगुरु बृहस्पति हैं जो बृह अर्थात् बड़ों से भी बड़े ऋषि हैं। शत्रु आक्रमण करे तो अमर सैनिक हैं, जो युद्ध चाहे जितना लम्बा खींचे लड़ते रहेंगे, मरेंगे नहीं। खुद उनकी सवारी ऐरावत हाथी है जो अमृत-मंथन के अवसर पर समुद्र में से प्रकट हुआ था। हाथों में हथियार है। अकुंठित वज्रायुध, जिससे उन्होंने बीहड़ पहाड़ों के पर काट डाले थे। छोटे-मोटे राजा रजवाड़े नहीं, स्वयं जगत के पालनहार विष्णु भगवान उनके सहोदर हैं जो समय-कुसमय सहायता के लिए तैयार रहते हैं। सब कुछ है। किसी चीज़ की कमी नहीं। किसी प्रकार की कमजोरी नहीं। ऐसे भगवान तथा बलवान इन्द्र महाराज को भी राक्षसों के सामने बार-बार मुंहकी खानी पड़ी। तब साधारण मानव की क्या गिनती ? शील सम्पदा, मानमर्यादा, विद्या-विभव सब धरे-के-धरे रह जाते हैं। कोई बात बन नहीं पड़ती।

क्या भर्तृहरि का पिछला सारा धैर्य-शौर्य थोथा था। क्या उनका आशावाद निराशावाद में परिणत होगा ? नहीं। इन्द्र की उपमा देकर उन्होंने दो

बातें कही हैं। एक यह कि भरसक प्रयत्न करके श्रेष्ठत्व को प्राप्त करना चाहिए। दूसरे, श्रेष्ठ बनने पर भी इठलाना नहीं चाहिए। पौराणिक गाथाओं से प्रायः यही प्रमाणित होता है कि जब-जब इन्द्र ने अपने को सर्वश्रेष्ठ समझा तब-तब उन्हें पराभव का सामना हुआ। मानव को बाह्य चौकसी के साथ भीतरी पवित्रता भी अनिवार्य है।

श्लोक ८२

भग्नाशस्य करण्डपिण्डततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाऽखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
स्वस्थास्तिष्ठत दैवमेव हि परं वृद्धौ क्षये कारणम्।

शब्द विच्छेद

भग्नाशस्य = भग्न + आशस्य
तनोर्म्लानेन्द्रिय = तनुः + म्लान + इन्द्रिय
कृत्वाऽखुर्विवरं = कृत्वा + आखुः + विवरं
तृप्तस्तत्पिशितेन = तृप्तः + तत् + पिशितेन
सत्वरमसौ = सत्वरम् + असौ
तेनैव = तेन + एव
स्वस्थास्तिष्ठत = स्वस्थाः + तिष्ठत
दैवमेव = दैवम् + एव

शब्दान्वय

आखुः नक्तं विवरं कृत्वा भग्न आशस्य करंडपिडित तनोः
क्षुधा म्लानेन्द्रियस्य भोगिनः मुखे स्वयमेव निपतितः
असौ तत् पिशितेन तृप्तः तेन एव सत्वरं यातः
स्वस्था तिष्ठत हि वृद्धौ क्षये दैवमेव परम् कारणम्॥

शब्दार्थ

आखुः=चूहा
नक्तं=रात में
विवरं=छेद
कृत्वा=बनाकर, करके
भग्न आशस्य=आस छूटे हुए, निराश
करंड=टोकरी में
पिंडित=लपटे लपटाये
तनोः=शरीरवाले (और)
क्षुधा=भूख के मारे
म्लान=मुरझाये हुए
इन्द्रियस्य=अंग-प्रत्यंगवाले
भोगिनः=साँप के
मुखे=मुंह में
स्वयमेव=अपने-आप
निपतितः=जा पड़ा
असौ=वह साँप
तत् पिशितेन=उस मांस से, उसी चूहे के मांस से
तृप्तः=पेट भरकर
तेनएव=उसी से, उसी छेद से
सत्वरं=तुरंत, जल्दी
यातः=चला गया, बाहर निकल गया
स्वस्थाः तिष्ठत=स्वस्थ बैठे रहो, निश्चिंत रहो
हि=क्योंकि
वृद्धौ=बढ़ने (या)
क्षये=घटने के लिए
दैवमेव=भगवान ही
परम् कारणम्=परम कारण है, प्रधान है

भावार्थ

किसी सपेरे ने घेरघार कर एक साँप फाँसा। नया-नया तेज साँप था। ढीला पड़े इस विचार से सपेरे ने उसे टोकरी में भूखा बंद रखा। साँप तंगी में लपटे-लपटाये भूख से तड़पता रहा। रात में एक चूहा निकला। चारे के चक्कर में कुतर-कुतरकर टोकरी में छेद किया और भीतर घुस पड़ा। कुतरन की आहट पाकर जहाँ चूहा छेद कर रहा था वहीं भीतर साँप मुंह बाये रहा। चूहा सीधे साँप के मुँह में चला गया। साँप उसे गड़प कर गया। भूख की तड़प चम्पत हो गई और साँप तड़प कर उसी छेद से बाहर निकल बंधनमुक्त हो गया।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में सुरेन्द्र थे, इस श्लोक में सर्पराज हैं। सुर-राज स्वर्ग में स्वस्थ-सुखी थे। सर्पराज बंधन में हैं। वहाँ दुरात्मा राक्षस थे यहाँ बेचारा चूहा है। निराश सर्प स्वच्छन्द हुआ और निरापद मूषक को निवाला कर गया। सर्प शील-सदाचार छोड़कर सुखी रहा और चूहे का सारा पुरुषार्थ निरर्थक ही नहीं

बल्कि घातक सिद्ध हुआ। कारण क्या ? दैव-गति। क्या देव ही सब कुछ है और पुरुषार्थ कुछ नहीं ?

नहीं। कितने ही साँप पकड़े जाते और साधे जाते हैं। उसी प्रकार चूहे नित्य छेद करते हैं और पेट भरते हैं। न चूहा सदा साँप के मुँह में जाता है और न साँप टोकरी से इस तरह निकल भागता है। पुरुषार्थ का महत्व ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। कोशिश किये जाओ। कुछ मरते-खपते जरूर हैं, पर पीछे आनेवालों के लिए रास्ता बना जाते हैं। भर्तृहरि का उद्देश्य निराशावाद का प्रचार कदापि नहीं है। चेतावनी मात्र है कि ऐसा भी होता है। यदि कभी ऐसा हो तो किसी दूसरे को बुरा-भला कहने की अपेक्षा यह मानलो कि दैव की इच्छा यही थी। न साँप का कसूर न चूहे का होनहार मात्र।

श्लोक ८३

अयममृतनिधानं नायकोऽप्योषधीनां
शतभिषगनुयातः शम्भुमूर्ध्नोऽवतंसः।
विरहयति न चैनं राजयक्ष्मा शशांकम्
हतविधिपरिपाकः केन वा लंघनीयः।

शब्द विच्छेद

अयममृत = अयम् + अमृत
नायकोऽप्योषधीनां = नायकः + अपि + ओषधीनां
शतभिषगनुयातः = शतभिषक् + अनुयातः
मूर्ध्नोऽवतंसः = मूर्ध्नः + अवतंसः
चैनं = च + एनं
शशांकम् = शश + अंकम्

शब्दान्वय

अयम् शशांकः अमृतनिधानं ओषधीनां अपि नायकः
शतभिषक् अनुयातः शम्भुमूर्ध्नः अवतंसः

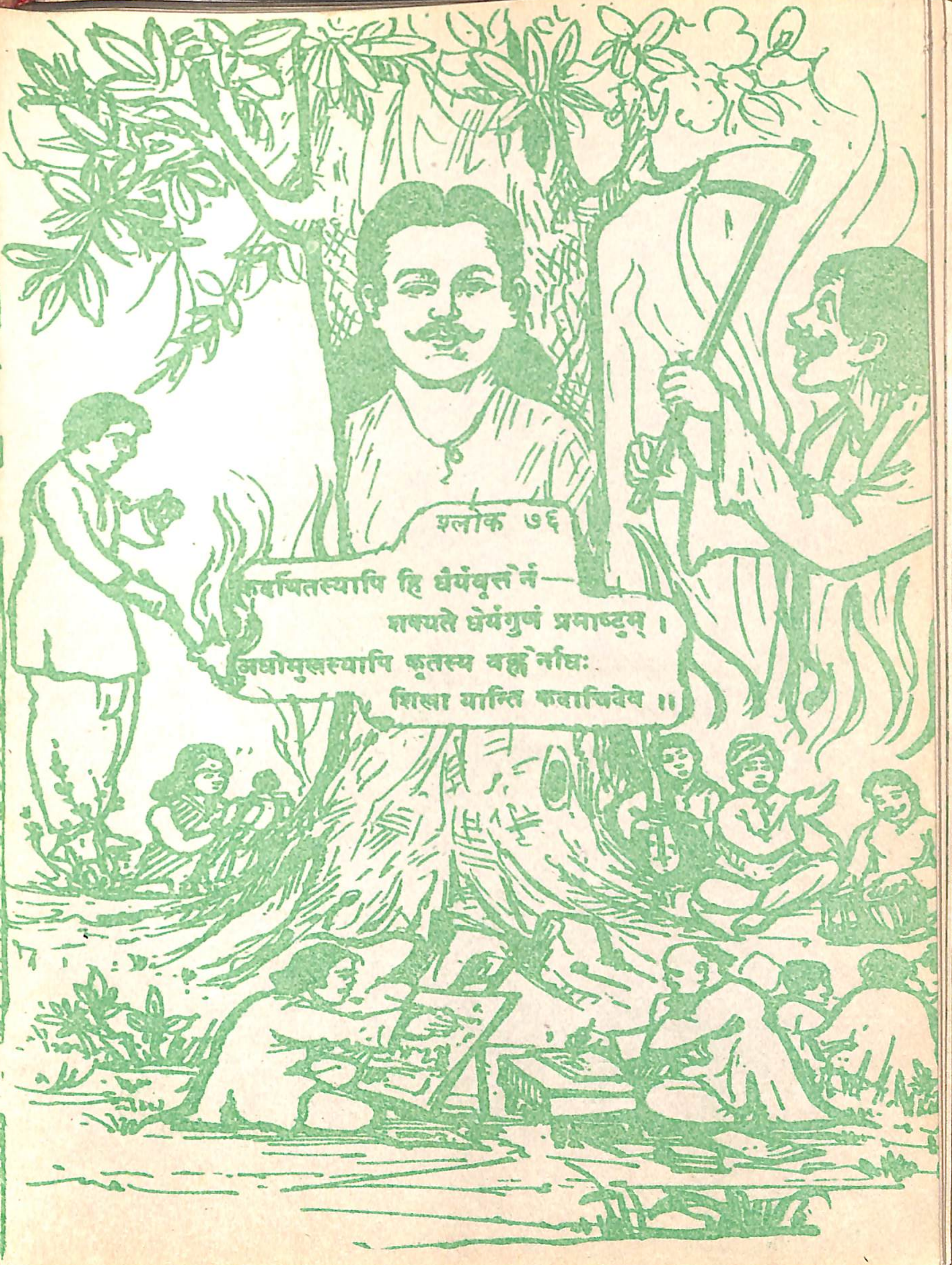

श्लोक ७६

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न—
शक्यते धैर्यगुणं प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः
शिखा यान्ति कदाचिदेव ।।

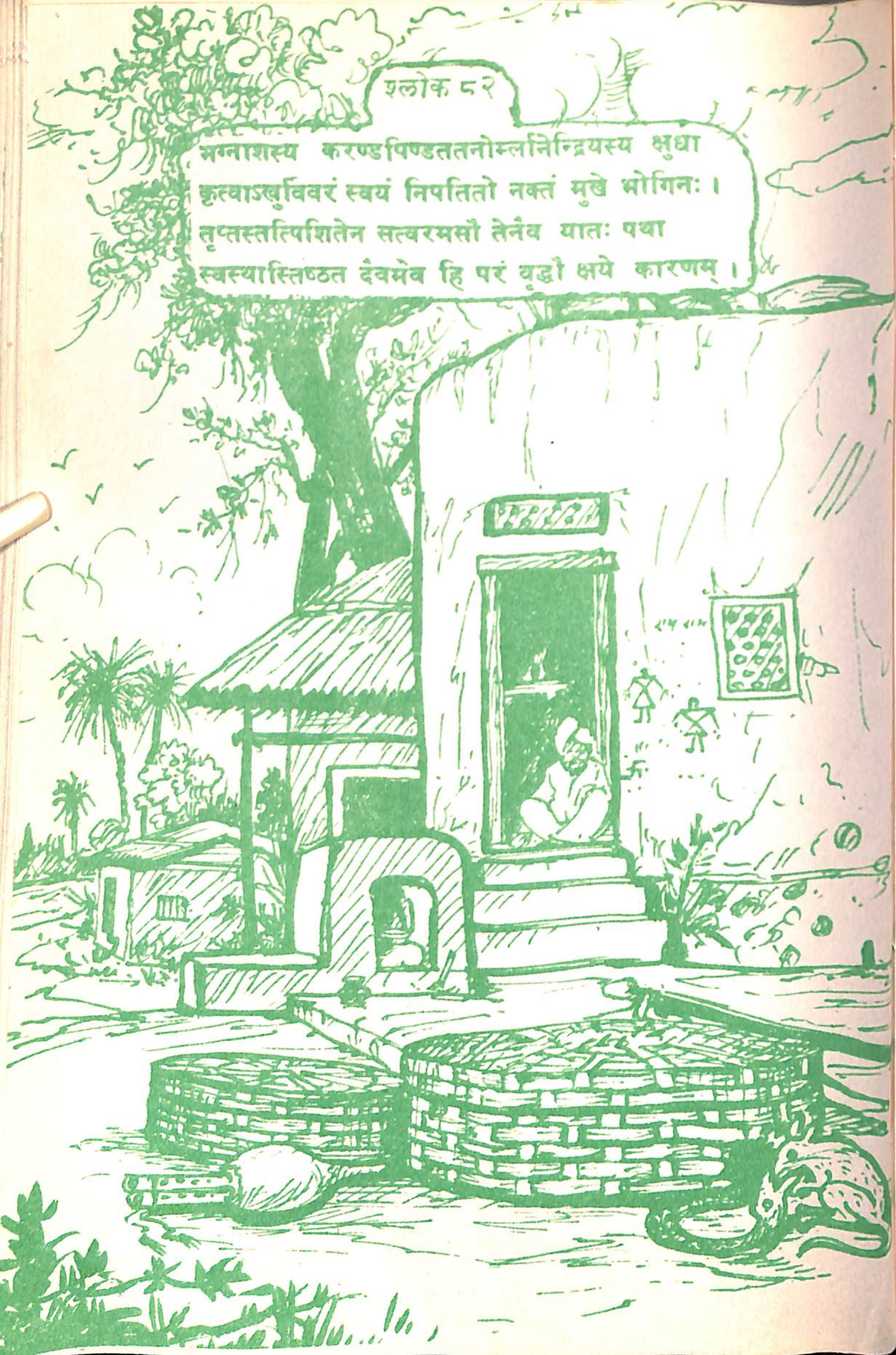

श्लोक ८२

भग्नाशस्य करण्डपिण्डततनोम्लनिन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाऽखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
स्वस्थास्तिष्ठत दैवमेव हि परं वृद्धौ क्षये कारणम् ।

एनं च राजयक्ष्मा न विरहयति
हतविधि परिपाकः केन वा लंघनीयः ?

शब्दार्थ

अयम् = यह
शशांकः = चन्द्रमा हैं (जो)
अमृतनिधानं = अमृत की खान है
ओषधीनां अपि = संजीवनी बूटी आदि के भी
नायकः = अधिपति हैं
शतभिषक् = सैकड़ों वैद्यराज
अनुयातः = संग चलते हैं
शम्भुमूर्ध्नाः = शिवजी के माथे पर
अवतंसः = आभूषण हैं
एनं च = इन्हें भी, ऐसे महान चन्द्रमा को भी
राजयक्ष्मा = क्षयरोग
न विरहयति = नहीं छोड़ता
हतविधि = बदबख्त ब्रह्मा के
परिपाकः = पक्का किये हुए भाग्य को
केन वा = क्या किसी से
लंघनीयः = टाला जा सकता है

भावार्थ

यह जो चन्द्रमा हैं सारे संसार पर अमृत-वर्षा करते हैं। सकल औषधियों के यह अधिपति हैं। सैकड़ों वैद्यराज सदा इनके संग-संग चलते हैं। सारे जगत् के पालनहार महादेव भगवान् ने इन्हें अपने माथे का आभूषण बना रखा है। ऐसे चन्द्रमा भी सदा क्षयरोग से पीड़ित रहते हैं। ऐसी दशा में बदबख्त ब्रह्मा ने जो भाग्य में लिख रखा है उसे कौन टाल सकता है।

विशेषार्थ

सरसरी नज़र से ही पता लगेगा कि लेखक ने अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति का पूर्ण प्रयोग किया है। कहीं-कहीं श्लोक-चयन तथा अनुक्रम भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं हैं। उनमें से यह श्लोक भी एक है। इसका कारण है। भर्तृहरि ने उत्कृष्टतम तथा निकृष्टतम उपमाओं से अपनी चर्चा को परिपुष्ट किया है। आकाश के साथ पाताल को मिलाकर इन दोनों के बीच की सभी बातों का समावेश किया है। पिछले दोनों श्लोकों में सुरलोक के देवेन्द्र और भूलोक के नागेन्द्र की बात थी। वे अमृत के अधिकारी और यह घोर विषधारी। प्रस्तुत श्लोक में आकाश में चमकनेवाले चांद की बात है, अगले में भूतलगामी गंजे चंदे की बात आनेवाली है। इसीलिए यह श्लोक इस स्थान पर आ रहा है।

श्लोक में चन्द्रमा को अमृतनिधान कहते हुए राजयक्ष्मा का रोगी बताया गया है। अमृत से रोग ही नहीं, मृत्यु भी भाग जाती है। चन्द्रमा अमृतधाम बनकर भी सदा-रोगी बने हुए हैं। वह भी क्या रोग? क्षयरोग—तपेदिक। क्षयरोग महारोग है। खाँसी-बुखार से धीरे-धीरे काया छीजती है और एक दिन रोगी चल बसता है। रोगी को बचा नहीं सकते, हालांकि सैकड़ों वैद्यराज संग-संग रहते हैं। शत के माने एक सौ नहीं, बल्कि सैकड़ों—लाखों। चन्द्रमा के साथ आकाश में जो सितारे चमकते हैं वही हैं ये वैद्यराज। चन्द्रशेखर अर्थात् अपने सिर पर चन्द्रमा को धारे हुए महादेव मानो उनकी रक्षा करना चाहते हैं, उस समय भी चन्द्रमा को बचाना चाहते हैं जब वे रौद्राकार धारण करके प्रलय मचा दें। इतनी सारी सुविधाएँ प्राप्त हैं चन्द्रमा को, फिर भी वह स्वस्थ दशा में नहीं रह पाते, रोज घटते-बढ़ते रहते हैं। कृष्ण प्रतिपदा से घटते-घटते अमावस्या की रात को लोप हो जाते हैं। फिर भी चन्द्रमा इतने जीवट हैं कि एक ही दो दिन में फिर उग आते हैं और दिन-पर-दिन, बल्कि रातों-रात बढ़ते जाते हैं और पूर्णिमा के दिन पूर्ण स्वस्थ हो जाते हैं। चन्द्रमा के समान जीवट प्राणी को और ऐसे प्राणी को जो सारे संसार को प्राण दान करता है यदि कोई ऐसे भगवान नीचा दिखाने की चेष्टा करता है तो संसार उस भगवान को ही बदबख्त कहेगा—हतविधि! भले ही भगवान बदबख्त बने, पर इन्सान नेकबख्त ही रहे, नीतिवान ही बने। "निन्दन्तु नीति निपुणा", यहाँ पर भगवद्भक्त भले ही निंदा करें, भला आदमी परवाह नहीं करेगा और "अद्यैव वा मरणमस्तु" का स्वागत करेगा।

श्लोक ८४

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापिते मस्तके
वाञ्छन्देशमनातपं द्रुतगतिस्तालस्य मूलं गतः।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायोगच्छति यत्र दैवहतकस्तत्रैव यान्त्यापदा॥

शब्द विच्छेद

दिवसेश्वर = दिवस + ईश्वर
देशमनातपं = देशम् + अनातपं
गतिस्तालस्य = गतिः + तालस्य
तत्राप्यस्य = तत्र + अपि + अस्य
हतकस्तत्रैव = हतकः + तत्र + एव
यान्त्यापदः = यान्ति + आपदः

शब्दान्वय

खल्वाटः दिवसेश्वरस्य किरणः मस्तके संतापिते
अनातपं देशं वाञ्छन् द्रुतगतिः तालस्य मूलं गतः
तत्र अपि पतता महाफलेन् अस्य शिरः सशब्दं भग्नं
दैवहतकः यत्र गच्छति तत्र एवं आपदः प्रायः यान्ति ।

शब्दार्थ

खल्वाटः = गंजा, जिसके सिर पर बाल न हों
दिवसेश्वरस्य = दिन के स्वामी सूरज के
किरणैः = किरणों से
मस्तके = माथे के
संतापिते = तपने पर
अनातपं = बिना धूप के, सायादार
देशं = स्थान की
वाञ्छन् = इच्छा करके
द्रुतगतिः = जल्दी पग बढ़ाकर
तालस्य = एक ताड़ के पेड़ के
मूलं = जड़ पर, नीचे
गतः = पहुंचा
तत्र अपि = वहां भी

पतता = ऊपर से गिरते हुए, झड़ते हुए
महाफलेन = भारी फल से
अस्य = उस गंजे का
शिरः = सिर
सशब्दम् = जोरकी आवाज के साथ तड़ाक से
भग्न = फट गया
देव हतकः = दैव का मारा
यत्र गच्छति = जहाँ जाता है
तत्र एव = वहीं
आपदः = विपदाएँ
प्रायः = अक्सर
यान्ति = पहुंच जाती हैं

भावार्थ

एक बटोही ब्राह्मण, सिर से गंजा, बीहड़ जंगल । कहीं कोई घना पेड़ नहीं । जहाँ-तहाँ ऊँचे-ऊँचे ताड़ ही ताड़ खड़े हैं । गरमी के दिन ।

खड़ी दुपहरी का समय। गंजा माथा तपकर तवा हो गया। बेचारे ब्राह्मण ने सोचा कि थोड़ी देर माथा ठंडा कर लें। पग बढ़ाकर एक ताड़ की जड़ पर जा खड़ा हो गया। दुर्दैव की बात, तभी ताड़ से एक बड़ा-सा फल झड़ा और ठीक खोपड़ी पर आ पड़ा। गंजी खोपड़ी तड़ाक से फटी तो खून की धारा बहने लगी। अभागा जहाँ जाये आफ़तें आन पहुँचती हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में सर्वसम्पन्न चन्द्रमा की चर्चा थी। इस श्लोक में मध्याह्न दरिद्र ब्राह्मण की गाथा है। श्लोक में ताड़वन की बात कही गयी है। ताड़ के पेड़ को सबने देखा न होगा। जैसे खजूर, सीधे आकाश की ओर बढ़ता है। डाल-वाल कुछ नहीं, अंत में खजूर से भी छोटे फाटे फूटते हैं, गिनती में भी कम। दुपहरी में ताड़ का साया उसकी जड़ तक सीमित रहता है। दिन ढलते पेड़ कहीं, साया कहीं। लम्बा जो होता है। ताड़ के फल छोटे नारियल के बराबर होते हैं। ताड़वन की जमीन बलुई होती है। जहां ब्राह्मण का माथा तपा वहाँ तलुए भी तपे होंगे। तपते बालू में जिन्हें चलने का अवसर पड़ा हो वही जान सकते हैं कि तलुए कैसे जलते हैं। तपते तवे पर नाचना होता है। ब्राह्मण का सिर नंगा रहा तो पैर में भी चप्पल न रहा होगा। ब्राह्मण ने खड़ाऊँ तो नहीं पहन रखा था। खड़ाऊं का पहनने वाला तालपत्र का टोपा क्यों नहीं पहना ? धान के खेतों में तर जमीन पर काम करनेवाले किसान भी तालपत्र का टोपा पहने रहते हैं। पीछे कहीं आया भी तो है कि छतरी से धूप को दूर किया जा सकता है। यदि महादेव मस्तक को ठण्डा रखने के लिए चन्द्रमा को शीश पर धारण करते हों तो गंजा टोपा क्यों न लगावे। उपाय सभी करने चाहिए। परन्तु यहां इन सब उपायों की बात नहीं है। बात केवल बदबख्ती की है और बदबख्ती किसी को बखशती नहीं। चन्द्रमा को सब सुविधाएं हैं, फिर भी उसकी काया छीजा ही करती है। गरीब को इतनी सान्त्वना-भर रहे, यही काफी है। गंजे को केवल एक बात याद रखनी है कि अपने ही नाखूनों से अपना ही माथा न खरोचे, नहीं तो बिन मारे खून हो जाय।

श्लोक ८५

गजभुजंगविहंगमबन्धनं
शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनम् ।
मतिमतीं च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ।।

शब्द विच्छेद

विधिरहो = विधिः + अहो
बलवानिति = बलवान् + इति

शब्दार्थ

गज = हाथी
भुजंग = साँप (और)
विहंगम = पक्षियों के
बन्धनं = फँसाव
शशि = चन्द्र
दिवाकरयोः = सूर्य के
ग्रहपीडनम् = ग्रहण
मतिमतां = बुद्धिमानों की
दरिद्रतां = दरिद्रता को
विलोक्य = देखकर
अहो = ओहो
विधिः = दैव (ही)
बलवान् = बली है
इति = यौं
मे मतिः = मेरी राय बनती है

भावार्थ

बलवान हाथियों को, ज़हरीले साँपों को, हवा से बात करने वाले पक्षियों को फँसते हुए, सूर्य-चन्द्र को ग्रहण धरते हुए और इसी प्रकार महान मेधावी मनुष्यों को दर-दर की ठोकर खाते हुए देखते हैं तो यही कहना पड़ता है कि दैव ही बलवान है और उसके आगे किसी का बस नहीं चलता ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में अलग-अलग उत्कृष्ट या निकृष्ट स्तर की उपमाएं दी गयी थीं। वह सब प्रायः एक-स्थानीय थीं और एक-जातीय थीं । इस श्लोक में भिन्न-

भिन्न जाति की बली श्रेणी गिनाई गई है। धरती पर चलनेवालों में जबर हाथी, रेंगनेवालों में जहरीले सांप और हवा में उड़नेवाले पंछियों की उपमा देने के साथ धरती से लाखों-हजारों मील ऊपर आकाश में चमकनेवाले सूर्य-चन्द्र की गति भी दिखाई गई है। अन्त में बुद्धिमानों की बात कही गयी है। धरती पर रहनेवाले प्राणियों से आकाशगामी सूर्य-चन्द्र अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु अन्त में बुद्धिमानों की बात कहने से लगता है कि धरती पर रहने पर भी मानव आकाशवर्ती सूर्य-चन्द्रादि ग्रहों से अधिक महान है।

हाँ, मानव महान है। सूंड के एक झपट्टे में दम तोड़नेवाला महावत हाथी की गर्दन पर बैठकर अंकुश मारता है। साँप के सूंघने मात्र से बेहोश होने वाला सपेरा साँपों से खिलवाड़ करता है। अब रहा पंछी। फारसी में कहावत है—

गुर्बए मिस्कीं गर पर दाश्ते
तुख्म कुंजश्क अज़ जहाँ बरदाश्ते !

अर्थात् अगर मिस्कीन बिल्ली के कहीं पंख होते तो दुनिया में पंछी का बीज भी न रह जाता। बे-पर का मानव रोज हजारों पंछियों को हजम कर जाता है। अब तो मानव के पर भी फूटे हैं। चन्द्रमा को अब तक राहु-केतु ही ग्रसते थे—घड़ी दो घड़ी के लिए महीनों, बरसों में एक-आध बार। परन्तु अब तो चन्द्रमा पर मानव का मौरूसी कब्जा होने जा रहा है। सम्भव है किसी दिन वह सूर्य को रेफ्रिजिरेटर में बन्द कर ठण्डा कर दे। सूर्य यदि अणुशक्ति का भण्डार है तो मानव उसका भण्डारी क्यों न बने। इसीलिए धरती का मानव अम्बर के ग्रहगणों से महान है और इसीलिए बुद्धिमान व्यक्तियों को तेजोमय सूर्य-चन्द्र से महान मानना चाहिए। महान की विपत्तियाँ भी महान ही होंगी। छोटी-मोटी विपत्ति महान मतिमानों के लिए अपमानजनक है। मरे कुत्ते को कोई नहीं मारता। गुर्रानेवाले पर पत्थर मारे जाते हैं, क्योंकि कुत्ते के काटने का डर उन्हें खाये जा रहा है।

श्लोक ८६

सृजति तावदशेषगुणाकरं
पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः।
तदपि तत्क्षणभंगि करोति
चेदहह कष्टमपण्डिता विधेः॥

शब्द विच्छेद

तावदशेषगुणाकरं = तावत् + अशेष + गुण + आकरं
रत्नमलंकरणम् = रत्नम् + अलंकरणम्
तदपि = तत् + अपि
तत्क्षण = तत् + क्षण
चेदहह = चेत् + अहह
कष्टमपण्डिता = कष्टम् + अपण्डिता

शब्दान्वय

विधिः तावत् अशेष गुण आकरं
भुवः अलंकरणं पुरुष रत्नं सृजति
तदपि क्षण भंगि करोति चेत् तत्
विधेः अपण्डिता अहह कष्टम् ॥

शब्दार्थ

विधिः = दैव, ब्रह्मा
तावत् = जब तक
अशेष = सम्पूर्ण
गुण = गुणों के
आकरं = समूह (तथा)
भुवः = धरती के
अलंकरणं = आभूषण
पुरुष रत्नं = श्रेष्ठ मानव को

सृजति = पैदा करता है
तदपि = फिर भी
क्षण भंगि = अस्थिर
करोति चेत् = बनाता है तो
तत् = यह
विधेः = ब्रह्मा की
अपण्डिता = मूर्खता
अहह कष्टम् = घोर कष्टकारक है

भावार्थ

दैव सकल गुण-सम्पन्न मानव को भूमाता का आभूषण बनाकर भी ऐसी श्रेष्ठ सृष्टि को स्थायी न बनाकर क्षणभंगुर जो बनाता है यह उसकी परम मूर्खता है।

विशेषार्थ

इस दशक के श्लोकों से जिस विरोधाभास का खटका था वह इस श्लोक से समाप्त हो जाता है। पिछले दशकों में मानव को जो अत्यधिक महत्व दिया

गया था उसमें कोई अत्युक्ति नहीं थी। पशु-पक्षी ही नहीं सूर्य-चन्द्र पर भी मानव को प्रभुता जो दी गई थी उसके लिए श्लोक के "अशेष गुणाकरं" शब्दों में पूर्ण आधार विद्यमान है। मानव का विकास अशेष है अर्थात् उसका कोई अन्त नहीं है। यह विशेषण जिस प्रकार मानव जाति के लिए उपयुक्त है उसी प्रकार व्यक्ति-विशेष पर भी लागू हो सकता है। कई बुद्धिमानों की कड़ियों को मिलाकर कालान्तर में जाकर जिस उन्नति की सम्भावना है वह तुरन्त हो सकती है और अधिक उत्तम रीति से हो सकती है। जो बुद्धिमान पैदा हो, वह जल्दी न मरे तो कालान्तर में होने वाली चीजों को वह आज करके दिखा देगा। ऐसे पुरुषार्थी पुरुषोत्तम पूर्णायुष्य न पा सकें तो कितने दुःख की बात है। पिछले श्लोकों में भगवान् पर जिम्मेवारी सौंपी गई तो इस गैर-जिम्मेवारी के लिए उसे दोषी ठहराना ही चाहिए। समर्थ व्यक्ति पैदा हो और उसे पूरा काम करने का अवसर न दिया जाय, यह बड़ी मूर्खता है।

समाज में भी ऐसा हुआ करता है। जब कभी और जहाँ कहीं कोई प्रतिभावान प्रकट होता है, वास्तव में वह उस सामाजिक वातावरण का उत्पादन है। उससे पूर्णरूपेण लाभान्वित होने का समाज को पूर्ण अधिकार है। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि साधन-सम्पन्न लोगों की ओर से ऐसे व्यक्तियों की उपेक्षा की जाती है या उसकी उत्कृष्ट कृति को खरीद कर फिर उसे नष्ट कर दिया जाता है। अधिकारीवर्ग की ओर से इस पापकृत्य के अनेक रूप हो सकते हैं। पर सबका एक ही जघन्य परिणाम होता है—उस प्रतिभावान की मृत्यु, अथवा सजीव मृत्यु। क्या यह अधिकारीवर्ग की मूर्खता नहीं है ?

श्लोक ८७

येनैवाम्बरखण्डेन संवीतो निशि चन्द्रमाः।
तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः ॥

शब्द विच्छेद

येनेवाम्बर=येन+एव+अम्बर
तेनैव=तेन+एव

भानुरहो = भानुः + अहो
दौर्गत्यमेतयोः = दुः + गत्यम् + एतयोः

शब्दान्वय

येन एव अम्बर खण्डेन चन्द्रमाः निशि संवीतो
तेन एव च अम्बर खण्डेन भानुः दिवा संवीता
अहो एतयोः दौर्गत्यम् !

शब्दार्थ

येन एव = जिस एक ही
अम्बर खण्डेन = आकाश वस्त्र में
चन्द्रमाः = चाँद
निशि = रात
संवीता = बिताता है
तेन एव च = उसी में ही
भानुः = सूर्य
दिवा संविता = दिन काटता है
एतयोः = इनकी
अहो = कितनी भयंकर
दौर्गत्यम् = दुर्गति है

भावार्थ

जिस एक अम्बर-चीर को चन्द्रमा ओढ़कर रात बिताते हैं, उसी चीर को सूर्य भगवान् पहनकर दिन काटते हैं। बेचारे ये चन्द्र, सूर्य कितनी घोर दरिद्रता के शिकार बने हुए हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में बुद्धिमान मनुष्यों के दुखान्त पर खेद प्रकट किया गया था। इस श्लोक में उन दारिद्र्यग्रस्त पुरुषों को सान्त्वना दी गई है। सकल संसार को जीवनदान करनेवाले सूर्य भगवान और अमृत-वर्षा करनेवाले चन्द्र भगवान भी कोई समृद्ध जीवन नहीं बिता रहे हैं। बेचारों को रात और दिन की ड्यूटी वंटी है। जब वे ड्यूटी पर जायेंगे तब उन्हें वरदी में जाना होगा। वरदी नहीं तो कुछ-न-कुछ वस्त्र ओढ़कर जाना होगा। नागा बाबा बनकर नंग-धड़ंग ड्यूटी बजा नहीं सकते। अम्बर ही उनकी पोशाक है। अम्बर के माने आकाश भी है और वस्त्र भी—पीताम्बर (पीला वस्त्र), श्वेताम्बर (सफेद वस्त्र)। सूर्य-चन्द्र अम्बर में घूमते हैं तो अम्बर उनका वस्त्र ही है। वस्त्र (आकाश) एक है और ओढ़ने

वाले दो । उस एकाम्बर (एक वस्त्र) के लिए दोनों बजारू नंगों की तरह छीना-झपटी करते हैं । इस छीना-झपटी में देखो उन्हें कितना क्रोध चढ़ जाता है, एकदम लाल मुँह बनाकर निकलते और छिपते हैं । इस जोर-आजमाई में चन्द्र भगवान सूर्यनारायण के सामने कमजोर लगते हैं । पूरे महीने में केवल एक दिन पूर्णिमा की रात चन्द्रमा खुलकर हँसते हैं । शेष दिन अपने शरीर को आड़ में छिपाकर मुँह निकाल झाँकते मात्र हैं । एक रात अमवस्या को तो वे एकदम मुँह छिपाते हैं । चाँद बड़ा बेहया लगता है । किसी-किसी दिन सूरज की ड्यूटी पूरी होने से पहले ही आ धमकता है, जिस पर सूर्य भगवान लाल-पीले हो जाते हैं। दूर से फीकी सूरत बनाये हुए चन्द्रमा की नंगई को देखकर आप ही आड़ में चले जाते हैं ।

आजकल भरे-बाजारों में मर्दों, औरतों का भी यही हाल है । बेचारे मर्द फुल-पैंट पहनते हैं, औरतें जाँघों तक नंगी रहती हैं और अपना तन तानकर मानोमर्दों पर आक्रमण करने चली हैं और मर्द बेचारे सिर नीचा कर निकल जाते हैं । जिस प्रकार पूर्ण अम्बर में पूर्णिमा का चन्द्र सुहावना लगता है, क्या उसी प्रकार पूर्णाम्बरा स्त्री सुन्दर नहीं लगती ? बेचारा मर्द लाचार अपना पैंट-कोट ही औरत को देकर आप स्वयं पतली-पतली तितली-छाप चोली-अंगिया में गुजारने पर मजबूर हो गया है । कहना पड़ता है कि औरतें अधिक प्रगतिशील हैं । पैंट पहनती हैं। सीना तानती हैं । पुरुष प्रगतिशील लेखक बन रहे हैं, प्रगतिशील कलाकार चित्रकार बन रहे हैं । प्रगतिशील पुरुष भी तो बनें वे । औरतें पैंट पहन, सीना तान प्रगतिशील या अश्लीला बनें तो मर्द भी साड़ी पहन, घूंघट काढ़ शीलवान बनने की चेष्टा करें और कोठे पर से ऐलान करें कि हम भी किसी औरत से कम नहीं हैं । औरतों के आगे बढ़ने का ग़म नहीं है बल्कि रोना मर्दों के पिछड़ जाने का है ।

वस्त्र और आभूषण दोनों सौंदर्य को बढ़ाते हैं, परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है । वस्त्र अनिवार्य हैं जबकि आभूषण विकल्प । वस्त्र लज्जा छिपाते हैं और आभूषण कई एक दृष्टि से निर्लज्जता के द्योतक हैं । लाजवन्ती, लाजपत, स्त्री, पुरुषों के नाम होते हैं । विपरीतार्थ के नामवाले नर-नारी कहीं देखने, सुनने में नहीं आते । लाजवन्ती स्त्री छुई-मुई का पौधा नहीं होती । फिर भी, लज्जा नारी का स्वाभाविक आभूषण है । पैदायशी वस्तु मृत्यु के साथ ही जाती है । यदि किसी जीवित प्राणी में से स्वाभाविक लज्जा लुप्त होने लगे तो मानना पड़ेगा कि मानवता की मृत्यु हो रही है । महिलाओं पर आक्षेप लगाना भूल है । लज्जा जिस प्रकार नारी के स्वभाव में है उसी प्रकार निर्लज्जता पुरुष की प्रकृति में है । नर-नारी दोनों को अपनी लज्जा तथा निर्लज्जता की सीमाओं के अन्दर रहना चाहिए । पुरुष

ने पहले अपनी सीमाओं तो तोड़ दिया है और उसे अपने तक सीमित न रखकर उस निर्लज्जता को नारी जाति पर लादने का अत्याचार किया है। इसका प्रतिकार कैसे हो ? पुरुष अपनी करामात में कुछ नज़ाकत लाये और स्त्रियों को योग्य पौरष प्रयुक्त करने का अवसर मिले। और इस प्रकार नर और नारी यह तितली-भेड़ियापन छोड़ दें।

क्या विषयान्तर हो गया ? कदापि नहीं। यदा-कदा चन्द्र-सूर्य के समकक्षी धनवान सत्तावानों की मुसीबतों पर भी आफ़त मचानी चाहिए। असली आफ़त यह है कि समाज में मतिमान मन मारकर कह रहे हैं और बुद्धिमान भूखे मर रहे हैं और ये इक्का-दुक्का सूर्य-चन्द्र नहीं अनगिनत हैं।

श्लोक ८८

प्रियसख विपद्दण्डाघातप्रपातपरंपरा—
परिचयबले चिन्ताचक्रे निधाय विधि खलः।
मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालव—
द्भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति॥

शब्द विच्छेद

विपद्दण्डाघात = विपद् + दण्ड + आघात
मृदमिव = मृदम् + इव
कुलालवद्भ्रमयति = कुलालवत् + भ्रमयति
किमत्र = किम् + अत्र

शब्दान्वय

प्रिय सख, खल विधिः प्रगल्भ कुलालवत्
मनः मृदम् इव बलात् पिण्डी कृत्य

विपत् दण्ड आघात परिचयबले परम्परा प्रपात
चिन्ताचक्रे निधाय भ्रमयति
अत्र किम् विधास्यति न जानीमः ॥

शब्दार्थ

प्रियसख = प्यारे दोस्त
खल विधिः = दुष्ट दैव
प्रगल्भ = निपुण, माहिर
कुलालवत् = कुम्हार की तरह
मनः = मेरे मन को
मृदम्इव = माटी की भाँति
बलात् = पूरे जोर से
पिण्डीकृत्य = मल-मलकर, कचर-कचर कर
विपत् = विपदा के
दण्ड आघात = डंडों की मार
परिचयबले = अभ्यस्थ हाथों
परम्परा = लगातार
प्रपात = प्रहार करते हुए
चिन्ता चक्रे = चिण्तारूपी चाक'पर
निधाय = धरकर
भ्रमयति = घुमा रहा है
अत्र = इसमें
किम् = क्या
विधास्यति = बनायेगा
न जानीमः = नहीं जाना

भावार्थ

दुष्ट दैव ने अपने को एक माहिर कुम्हार बनाकर मेरे मन को मामूली मिट्टी मान रखा है। लगातार विपदाओं में घेरकर ऊपर से डंडे बरसा-बरसाकर लोंदा तैयार कर चिन्तारूपी चाक पर घुमाये जा रहा है। न जाने उस दुष्ट ने क्या कुचक्र चला रखा है और मुझे क्या करने जा रहा है ?

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में आकाशगामी, सूर्य-चन्द्र की विपदा दर्शायी गई थी कि इतनी ऊंचाई पर जगमगाते हुए भी लज्जा छिपाने के लिए छीना-झपटी कर रहे हैं। इस श्लोक में मनस्वी पुरुष के मन की प्रशंसा की गई है। दुष्ट दैव दुश्मन बनकर पीछे पड़ा है। मनस्वी पुरुष को वह मिट्टी के समान समझ रहा है। लेकिन वह खूब समझता है कि मनस्वी पुरुष मिट्टी का पुतला नहीं है। उसके अन्दर महान मन है। उस मन को मारने के लिए वह सभी करतूत किये जा रहा है। कहीं से उसे खोज लाना, पानी में भिगोना, पैरों से कचरना, साँचे में लोंदा बनाना

चाक पर चढ़ाना, डंडे से घुमाना इत्यादि । ये सब कोई अनाड़ी नहीं बल्कि एक माहिर कुम्हार कर रहा है, जिसका रोज का धंधा ही यह है। अनगिनत बरतन अब तक उसने बनाये हैं । फिर भी 'किम् विधास्यति' कहकर भर्तृहरि ने कदाचित् चक्का घुमानेवाले कुम्हार को ही चक्कर में डाल दिया है, नहीं तो यही कहता कि घड़ा, गागर बनायेगा, सुखायेगा और फिर आग में तपायेगा । यह तो वह साधारण मिट्टी के साथ करता था, मनस्वी मन की मिट्टी किसी विशेष घाट की बनी है । उस माहिर कुम्हार दुष्ट दैव का अभीष्ट यहां पूरा न होगा । मानव ने स्वयं मन को मारा तभी वह मनस्वी बना । उस तपे हुए मन पर आँच कभी नहीं आयेगी ।

श्लोक ८९

विरम विरमायासादस्माद्दुरध्यवसायतो
विपदि महतां धैर्यध्वंसं यदीक्षतुमीहसे ।
अयि जड़विधे कल्पापाये व्यपेतनिजक्रमाः
कुलशिखरिणः क्षुद्रा चैते न वा जलराशयः ।।

शब्द विच्छेद

विरमायासादस्माद्दुरध्यवसायतः=विरम+आयासात्+अस्मात्+दुः+अध्यवसायतः

यदीक्षतुमीहसे=यदि+ईक्षतुम्+इहसे

नैते=न+इते

कल्पापाये=कल्प+अपाये

शब्दान्वय

अयि जडविधे यदि विपदि महतां धैर्यध्वंसं ईक्षितुं ईहसे
अस्मात् दुरध्यवसायतः आयासात् विरम विरम
एते महतां कल्पापाये निजक्रमाः व्यपेत
क्षुद्रा कुल शिखिरिणः वा जलराशयः न ।

शब्दार्थ

अयि जडविधे = हे मूर्ख दैव
यदि = अगर
विपदि = विपदाओं से
महताम् = महापुरुषों की
धैर्यध्वंसम् = हिम्मत टूटती
ईक्षितुं = देखना
ईहसे = चाहता है (तो)
अस्मात् = इस
दुरध्यवसायतः = बुरी नियत के
आयासात् = प्रयास से
विरम विरम = बाज आ, पर बाज आ एकदम बाज आ (क्योंकि)
एते महतां = यह महान पुरुष
कल्पापाये = कल्पांत में, प्रलयकाल में
निजक्रमाः = अपने नियत क्रम को
व्यपेत = भुलाये हुए, छोड़े हुए
क्षुद्रा = तुच्छ
कुलशिखिरिणः = कुल पर्वत
वा = या
जलराशयः = समुद्र
न = नहीं है

भावार्थ

हे मूर्ख दैव, क्या तूने महान आत्माओं को तुच्छ सप्त-सागर अथवा सप्तकुल-पर्वत समझ रखा है जो तेरे प्रलय मचाने पर डोल जाते या सूख जाते हैं। विपदाएँ ढाकर महात्माओं को डिगा डालने के दुस्साहस से तू बाज आ। यह तेरे लिए असम्भव है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में मनस्वी पुरुष ने अपने मित्र से कहा था कि दैव उस पर कैसे घोर अत्याचार किये जा रहा है और न जाने उसकी क्या नीयत है। उस दुष्ट दैव के कुचक्र की पराकाष्ठा क्या हो सकती है। उसका यहाँ पर्दाफाश किया गया है।

भगवान ने नाना प्रकार की सृष्टि रची। सारी सृष्टि में दो चीजें पक्की मानी जाती हैं—एक समुद्र, दूसरे पर्वत। सप्तसागर और सप्तकुल पर्वत प्रसिद्ध हैं जो सृष्टि से लय तक बने रहेंगे। सृष्टि की सारी चीजें जल्द-जल्द बदलती और मिट जाती हैं, किन्तु सप्तसागर तथा सप्तकुल-पर्वत बदलते नहीं, जैसे बने है वैसे ही बने रहते हैं। परन्तु भगवान जब प्रलय मचाते हैं तब यह अचल पर्वत और ये असोख-सागर भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। भले ही प्रलय काल तक बने रहें फिर भी प्रलयाग्नि में भस्मीभूत हो जाते हैं। इसलिए इन अचल-पर्वत तथा असोख-सागर को भी भर्तृहरि ने क्षुद्र कहा है। किसी महान को तुच्छ तभी कहा

जा सकता है जब उससे भी महान कोई और हो। प्रलय काल में सागर और पर्वत भी तहस-नहस हो जायें तब भी जो अपनी स्थिति में स्थायी रूप में बना रहे वह अवश्य महान है। और वह है मनस्वी की महान आत्मा जो अपने उद्देश्य से टस-से मस नहीं होती।

पिछले श्लोक में आश्चर्य की जो भावना व्यक्त की गई थी कि दुष्ट दैव न जाने मेरा क्या करना चाहता है, इस श्लोक में उसे हास्यास्पद ठहराकर कहा गया है कि उसका प्रस्तुत प्रयास विफल होगा ही। वह दुष्ट दैव अपनी दुष्टता न छोड़े तो वह अधिक-से-अधिक प्रलय मचा सकता है। अभिप्राय यह है कि मानव के मन को माटी बनाकर कचरने, चाक पर घुमाने, आवा में तपाने के साथ और भी अनेक अत्याचार कर-करके थकेगा, तब हताश होकर अपने ही घर को आग लगा लेगा और सारी सृष्टि को समाप्त कर डालेगा। उसके बस में इतना ही तो है। मगर मतिमान का तब भी बाल-बाँका न होगा।

इस प्रकार भर्तृहरि ने भाग्य और भगवान की दुहाई देनेवालों के गाल पर करारी चपत रसीद की है।

श्लोक ९०

दैवेन प्रभुना स्वयं जगति यद्यस्य प्रमाणीकृतं
तत्तस्योपनमेन्मनागपि महान्नैवाश्रयः कारणम्।
सर्वाशापरिपूरके जलधरे वर्षत्यपि प्रत्यहं
सूक्ष्मा एव पतन्ति चातकमुखे द्विताः पयोबिन्दवः॥

शब्द विच्छेद

यद्यस्य=यत्+यस्य
तत्तस्योपनमेन्मनागपि=तत्+तस्य+उपनमेत्+मनाक्+अपि
महान्नैवाश्रयः=महान+न एव+आश्रयः
सर्वाशा=सर्व+आशा
वर्षत्यापि=वर्षति+-अपि
प्रत्यहं=प्रति+अहं

शब्दान्वय

प्रभुना दैवेन जगति यत् यस्य प्रमाणीकृतं
तत् तस्य स्वयं उपनमेत् महान् आश्रयः
मनाक् अपि कारणं न एव ।
सर्व आशा परिपूरके जलधरे प्रति अहं वर्षति अपि
चातकमुखे सूक्ष्माः द्वित्रा पयोबिन्दवः पतन्ति ॥

शब्दार्थ

प्रभुना = सर्वाधिकारी
दैवेन = भगवान द्वारा
जगति = संसार में
यत् = जितना, जो
यस्य = जिसके लिए
प्रमाणीकृतं = निर्धारित किया गया
तत् = वह
तस्य = उसे
स्वयं = आप ही आप
उपनमेत् = प्राप्त होगा (उसके लिए)
महान आश्रयः = किसी बड़ी सहायता की
मनाक् अपि = कुछ भी
कारणं न एव = आवश्यकता नहीं है (क्योंकि)
सर्वआशा = सभी दिशाओं में
परिपूरके = भरे हुए
जलधरः = बादल
प्रति अहं = प्रतिदिन
वर्षति = बरसते रहने पर भी
चातक मुखे = चातक के मुँह में
सूक्ष्माः = छोटी-सी
द्वित्रा = दो-तीन
पयो बिन्दवः = पानी की बूँदें
पतंति = पड़ती हैं

भावार्थ

भगवान ने पहले ही सबका भाग्य बना रखा है। और वह उसे अवश्य मिलेगा। उसके लिए किसी बड़ी सिफारिश आदि की कोई ज़रूरत नहीं है। उदाहरण के लिए चातक पक्षी को लीजिए। घनघोर वर्षा के बीच दिन-रात मुँह बाये बैठे रहने पर भी उसके मुँह में छोटे-छोटे दो-तीन बूँद ही पड़ पाते हैं।

विशेषार्थ

इस श्लोक में भगवान और भाग्य की बात ज़रूर है, किन्तु ज़ोर यहाँ भाग्य या भगवान पर नहीं दिया गया है। सारा ज़ोर आश्रय अर्थात् सिफारिश पर है।

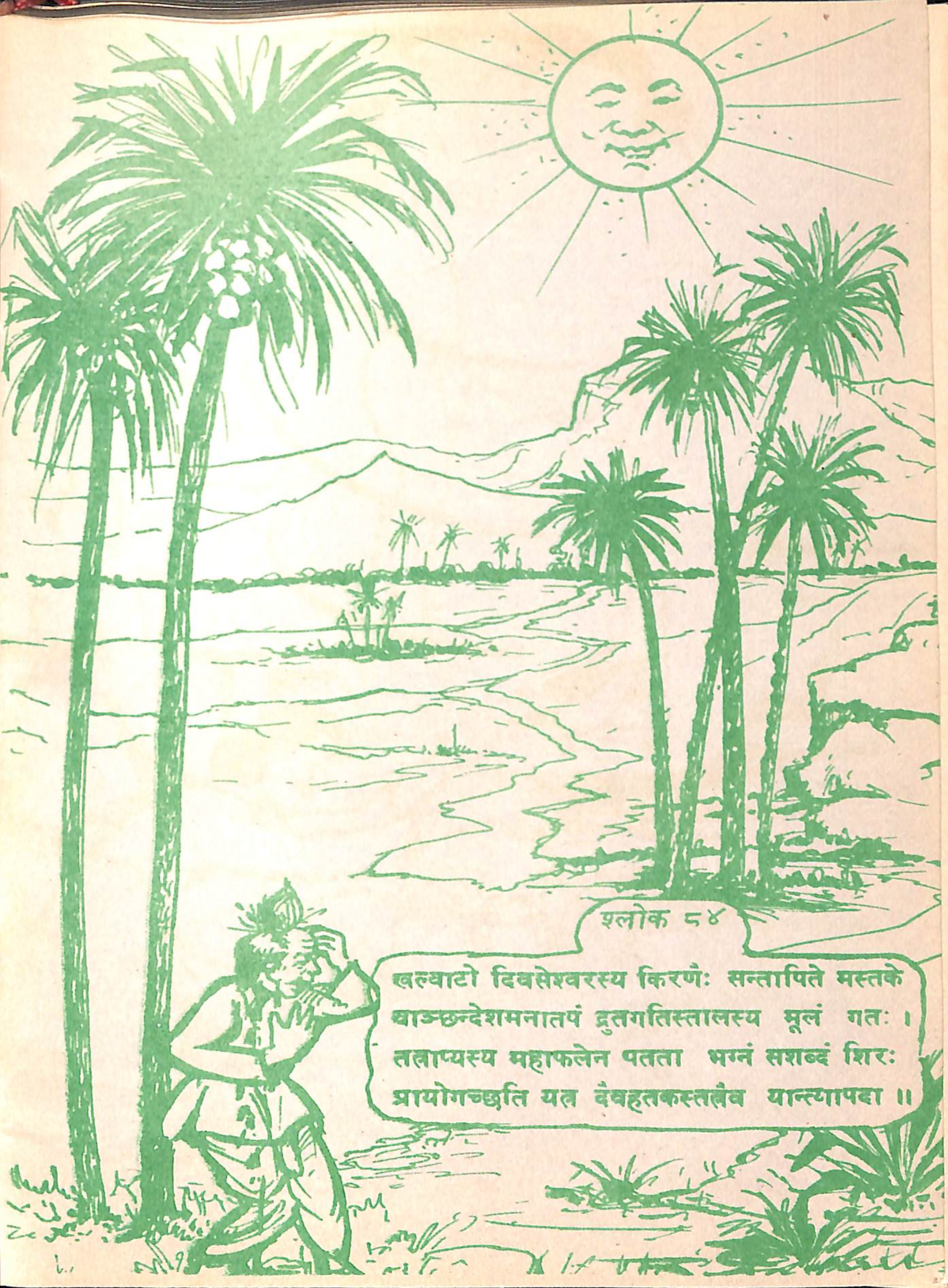

श्लोक ८४

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापिते मस्तके
वाञ्छन्देशमनातपं द्रुतगतिस्तालस्य मूलं गतः ।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायोगच्छति यत्र दैवहतकस्तत्रैव यान्त्यापदा ॥

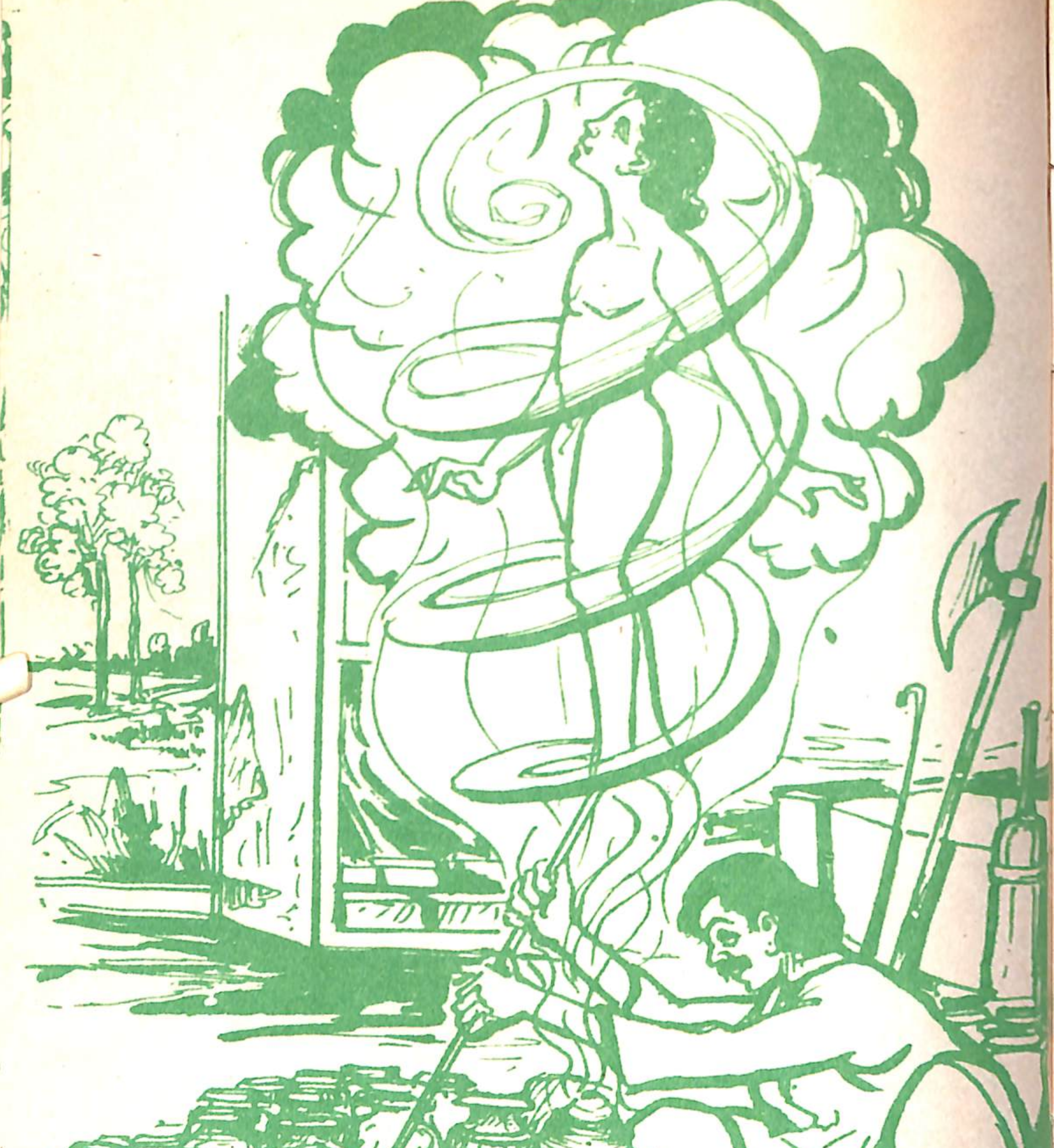

श्लोक ८८

प्रियसख विपद्दण्डाघातप्रपातपरंपरा—
परिचयबले चिन्ताचक्रे निधाय विधि खलः ।
मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालव—
द्भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥

जो कुछ घना या कम मिलता है वह साधन या सिफ़ारिश के कारण नहीं बल्कि अपने भाग्य अर्थात् संचित अधिकार से मिलता है। इसलिए कहता है, धनी-मानी लोगों की शरण में जाकर अपनी मान-मर्यादा मत खोओ। यहाँ पर मतिमानों की बात है, मूर्ख पंछी की नहीं है। चातक का पेट छटंकी-भर पानी से भर जाता। आसरा पकड़ा उसने जलधर का जिसके पास इतना पानी है कि नदी-नाले बह जाते हैं। इतने बड़े धनी को पकड़ा चातक ने, पर पाया क्या ? केवल दो-तीन बूंद। बादल का मुँह ताकने मात्र से बादल ने चातक को नहला नहीं दिया। बादल खारे सागर में दिन-रात बरसेगा। धरती पर बाढ़ बरपा देगा, पर प्यासे चातक की प्यास नहीं बुझाएगा। जिन धनी अधिकारियों की लोग शरण लेते हैं वे क्या नहीं दे-दिला सकते ? मगर वे करेंगे नहीं। तरसा-तरसाकर मारेंगे या एकआध टुकड़ा फेंकेंगे कि न जिये और न मरे बल्कि स्वाभिमान को तिलांजलि देकर टुकड़खोर बनकर पड़ा रहे। ऐसी दशा में बेहतर तो यही है कि भगवान के भरोसे घर ही रहकर भाग्य को कोसे या असीसे।

फिर भी भाग्य और भगवान की बात रह ही जाती है। इनका उल्लेख अगले श्लोकों में किया जाएगा।

नवम् दशक का सारांश

श्लोक ८१—बली भी असफल रहते हैं।
,, ८२—दुर्बल का प्रयास भी प्रतिकूल जाता है।
,, ८३—साधन-सम्पन्न भी सुधर नहीं पाते।
,, ८४—साधनविहीन भी सड़ते रह जाते हैं।
,, ८५—बलवान भटकते हैं तो मतिमान भी अटकते हैं।
,, ८६—धनवान भी दरिद्रता भोगते हैं।
,, ८७—मतिमान का मिटाना मूर्खता है।
,, ८८—मतिमान का अपरिमित मर्दन होता है।
,, ८९—महान को कोई मेट नहीं सकता।
,, ९०—प्राप्तव्य के लिए पराश्रय व्यर्थ है।

॥ कर्मपद्धतिः ॥

श्लोक ९१

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं यदि किममरगणैः किं च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥

शब्द विच्छेद

विधेस्तेऽपि=विधेः+ते+अपि
विधिर्वन्द्यः=विधिः+वन्द्यः
सोऽपि=सः+अपि
कर्मैक=कर्म+एक
कर्मायत्तं=कर्म+आयत्तं
किममरैः:=किम्+अमरैः

शब्दान्वय

देवान् नमस्यामः ते अपि हतविधेः वशगाः ननु
विधिः वन्द्यः सः अपि प्रतिनियत कर्म एक फलदः
फलं कर्म आयत्तं यद् अमरगणैः च विधिना किम्
विधिः अपि एभ्यः प्रभवति तत् कर्मभ्यः नमः

शब्दार्थ

देवान्=देवताओं को
नमस्यामः=प्रणाम करता हूँ (किंतु)
ते अपि=वे भी तो
हतविधेः=दुष्ट दैव के
वशगाः ननु=बस ही में तो हैं (तब)
विधिः वन्द्यः=दैव ही पूजनीय है (किन्तु)
सः अपि=वह दैव भी तो
प्रतिनियत=निर्धारित

कर्मएक=कर्म ही का
फलदः=फल देनेवाला है (इस प्रकार)
फल=भाग्य
कर्म आयत्तं=कर्म के अधीन है
यत्=तब
अमरगणैः=देवताओं से
च विधिना=और ब्रह्मा से
किम्=क्या काम
विधिः अपि=ब्रह्मा भी

एभ्यः = जिन (कर्मों) से	तत् कर्मभ्यः = उस कर्म को
प्रभवति = प्रभावित होता है	नमः = प्रणाम है

भावार्थ

देवताओं को पूजते, पर वे भी विधि अर्थात् ब्रह्मा के अधीन हैं। तब उस ब्रह्मा ही को क्यों न पूजें ? पर वह भी तो प्रत्येक को उसका निर्धारित फल अर्थात् भाग्य ही तो देगा और भाग्य कर्म के अधीन है। तब उस भिन्न-भिन्न देवताओं या उस देवाधिदेव ब्रह्मदेव से भी हमें क्या काम ? ब्रह्मा भी जिस कर्मफल में हेराफेरी नहीं कर सकता उसी कर्म को मेरा प्रणाम है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में दैव को बुरा-भला कहा गया था। भगवान को ही बुरा क्यों कहें, यह कहां तक उचित है ? यहां इसी प्रकार की शंका का निवारण किया गया है। लोग प्रायः देवी-देवताओं से मन्नत-मनौतियां करते हैं या किसी निश्चित रूप में किसी एक भगवान को भजते हैं। इस श्लोक में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि देवी-देवताओं से मनौतियां करना बेकार है, क्योंकि वे स्वयं पराधीन हैं, स्वयं कुछ नहीं कर सकते। तब भाग्य-रेखा खींचनेवाला कौन ? ब्रह्मा। पर ब्रह्मा भी तो स्वतन्त्र नहीं है कि जो उलटी-सीधी सूझे भाग्य में लिख दे। वह तो केवल कर्मों का फलदाता है। जिसने जो किया सो पाया, या जैसी करनी वैसी भरनी। ब्रह्मा बेचारा क्या करे ? वहां तो कर्मों का हुक्म चलता है। इस प्रकार कर्म ही प्रधान ठहरा। भाग्य कुछ नहीं। भगवान भी कुछ नहीं।

श्लोक में ब्रह्मा के लिए 'विधि' शब्द का प्रयोग हुआ है। विधि माने कानून। विधान कहिए। पर वह विधान नहीं जो नित नये रूप धारण करे या बहुमत से बदला करे। सर्वसम्मत या निरंकुश नेता भी उस विधि-विधान में परिवर्तन, परिवर्धन नहीं कर सकता। बुद्धि-बल लगाकर भिन्न-भिन्न अर्थ निकालने की उसमें गुंजाइश नहीं है। उस विधि-विधान के विरुद्ध चलकर कोई बच नहीं सकता। विधान-भंग करने पर दण्ड का निर्णय भी दूसरा नहीं दे सकता। जो दण्ड नियत है किसी अपील से वह घट-बढ़ भी नहीं सकता। कर्म का क्षेत्र ब्रह्मा की परिधि से बाहर है। कर्म का प्रभाव कितना भारी है, यह अगले श्लोक में देखिए।

श्लोक ९२

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥

शब्द विच्छेद

कुलालवन्नियमितः = कुलालवत् + नियमितः
भाण्डोदरे = भाण्ड + उदरे
विष्णुर्येन = विष्णुः + येन
दशावतार = दश + अवतार
नित्यमेव = नित्यम् + एव

शब्दान्वय

येन ब्रह्मा ब्रह्माण्ड भाण्ड उदरे कुलालवत् नियमितः
येन विष्णुः दश अवतार गहने महासकंटे क्षिप्तः
येन रुद्रः कपाल पाणि पुटके भिक्षाटनं सेवते
येन सूर्यः गगने नित्यं एव भ्राम्यति तस्मै कर्मणे नमः ॥

शब्दार्थ

येन = जिस (कर्म) ने
ब्रह्मा = ब्रह्मा को
ब्रह्माण्ड भण्ड = ब्रह्माण्ड रूपी घड़े के
उदरे = पेट के भीतर
कुलालवत् = कुम्हार की तरह, कुम्हार बनाकर
नियमितः = बांधकर रखा है
(और जिस कर्म ने)
विष्णुः = विष्णु भगवान को

दश अवतार = दस अवतारों में जन्म लेने के
गहने = घने
महासंकटे = घोर कष्ट में
क्षिप्तः = फेंक दिया
(और जिससे)
रुद्रः = महादेव शिव को
कपाल = खोपड़ी का
पाणिपुटके = करवा हाथ में लेकर

भक्षाटनं = भीख मांगा
सेवते = करता है
(और जिसके कारण)
सूर्यः = सूरज
नित्यमेव = सदा

गगने = आकाश में
भ्राम्यति = चक्कर काटता है
तस्मै कर्मणे = उसी कर्म को
नमः = नमस्कार है

भावार्थ

कर्म ने ही ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड के भीतर कुम्हार बनाकर बिठा रखा है। कर्म ने ही विष्णु भगवान को मत्स्य, कूर्म आदि दस जन्मों के घनघोर संकट में फंसा रखा है। कर्म ही ने शिवजी को कपाल में मांग खाने पर मजबूर किया है। और कर्म ही ने सूर्यनारायण को बिना किसी विश्राम के रात-दिन चक्कर काटते रहने की ड्यूटी पर लगा रखा है। जो कर्म देवादि देवों को ऐसे-ऐसे कष्ट देने में समर्थ है वही सर्वसमर्थ कर्म सेवने योग्य है।

विशेषार्थ

ब्रह्मा को सिरजनहार, विष्णु को पालनहार, महादेव शिव को शुभकर्तार और सूर्य को जीवन-शक्ति का प्रदायक माना जाता है। इसीलिए लोग उन्हें भगवान भी मानते आये हैं। काम करना और कष्ट भोगना ही जिसके भाग्य में हो वह भगवान कैसे ? रूप-रंग, जन्म-मरण, सुख-दुःख, आदि-अन्त ये सब जिसके न हों वही भगवान हो सकता है। भर्तृहरि को मूर्त रूप भगवान स्वीकार नहीं है। जब भगवान ही को नहीं मानें तब वे उसके भाग्यदान को मानेंगे ? फिर भी वे भगवान को और भाग्य को मानते हैं। मगर मानते हैं कर्म के रूप में। कर्म ही उनका जन्मदाता है और कर्म ही भाग्य-विधाता।

कर्म एक डोर है जिसके एक छोर पर भगवान है और दूसरे छोर पर भाग्य। भाग्य से भगवान तक अथवा भगवान से भाग्य तक जो चीज है, वह सब की सब छोरों समेत डोर है। सभी लोग इसी डोर के सहारे चलते-फिरते हैं। मगर सबकी एक-रुखी चाल है। या तो भगवान को पाने के लिए एक छोर की ओर आंख मूंदे चले जा रहे हैं, या दूसरे छोर की ओर भाग्य को निहारते हुए बढ़ रहे हैं। दोनों प्रकार के ही लोग छोर पर पहुंच जाते हैं। भगवान के छोर वाले भगवान को नहीं पाते पर अपने को बेराह-से पाते हैं। भाग्य की ओर भगदड़ बहुत होती है। इस राह में गिरने-पड़नेवाले भी इधर बहुत होते हैं। जो सारी मंजिलें तय कर भाग्य

के छोर पर पहुंचते हैं वे भी अपने को लाचार पाते हैं। बैठा हो कहीं तो मिले भगवान, या भाग्य कहीं पड़ा हो निश्चिन्त। न भगवान कहीं एक छोर पर बैठा है और न भाग्य दूसरे छोर पर। वास्तव में भाग्य और भगवान भी उसी कर्म की डोर पर परस्पर आलिंगनबद्ध हैं। कर्म-डोर को गोलाकार बनाओ। दोनों छोर जहां मिलेंगे वहीं भाग्य और भगवान दोनों मिलेंगे। तब उस डोर का आदि-अन्त नहीं रहेगा। उस डोर के हर तार में भाग्य और भगवान के दर्शन होंगे। कर्मडोर की यही करामत है।

वह डोर और उसके छोर मिलें या न मिलें, भाग्य-भगवान के दर्शन हों या न हों, कर्म तो सबको प्राप्त है। बिना कर्म के पल-भर के लिए कोई खाली नहीं है। जब कर्म से छुटकारा नहीं है तब उचित यही है कि तन-मन से कर्म से मार्मिक नाता जोड़ो—"तू मन शुदी, मन तू शुदम्, ता कस नगोयद बादजी, मन दीगरम तू दीगरी।" फारसी के इन चरणों के अर्थ होते हैं—तू बने मैं और मैं बनूं तू, कि कोई कह न सके कि मैं और हूं और तू और। कर्म से मार्मिक नाता इसी तरह होता है। सूर्य का नित्य-कर्म अर्थात् निरन्तर कर्म चक्कर है, ब्रह्मा का निरन्तर कार्य चाक घुमाना है। विष्णु का निरन्तर कार्य जन्म-मरण में प्रवृत्त रहना है। शिवजी का निरन्तर कार्य कपाल की खोज है। नित्य कितने पैदा हुए, कितने मरे, कैसे पैदा हो रहे हैं, कैसे मर रहे हैं और जीतेजी कैसे जी रहे हैं, यही तो ड्यूटी बजा ला रहे हैं ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सूर्यनारायण। उन्हें विश्राम कहाँ? जो कर्म से मार्मिक नाता जोड़ते हैं, अपनी सुध-बुध खोकर काम में लगे रहते हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश बन जाते हैं और सूर्य बनकर संसार पर चमकते रहते हैं और ऐसे ही जन अपना भाग्य आप बनाते हैं और भगवान बन जाते हैं। उन्हें सब प्रत्यक्ष है, पर बिरले ही दिव्य चक्षु उन्हें देख पाते हैं।

श्लोक ९३

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात्।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वांछितं
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः॥

शब्द विच्छेद

परोक्षममृतम् = परोक्षम् + अमृतम्
तामाराधय = ताम् + आराधय
व्यसनैर्गुणेषु = व्यसनैः + गुणेषु
विपुलेष्वास्थां = विपुलेषु + आस्थां

शब्दान्वय

या सत्क्रियाः तत् क्षणात् खलान् च साधून करोति, मूर्खान् विदुषः करोति, द्वेषिणः हितान् करोति, परोक्षं प्रत्यक्षं करोति, हालाहलं तक्षणात् अमृतं करोति । हे साधो वाञ्छितम् फलं भोक्तुं ताम् सत् क्रियाम् भगवतीम् आराधय, व्यसनैः विपुलेषु गुणेषु—-वृथा आस्थां माकृथाः ।।

शब्दार्थ

या सत्क्रियाः = जो सत्कर्म
तत्क्षणात् = तुरन्त
खलान् च = दुर्जनों को भी
साधून् = सज्जन
करोति = करता है, बनाता है
(और)
मूर्खान् = मूर्खों को
विदुषः = विद्वान (बनाता है)
द्वेषिणः = शत्रुओं को
हितान् = मित्र (बनाता है)
परोक्षं = जो सामने न हो या समझ से बाहर हो, उसे
प्रत्यक्षं = सामने स्पष्ट (कर देता है)
हालाहलं = विष को
तक्षणात् = तुरन्त
अमृतं = अमृत (बना देता है)

हे साधो = हे सज्जन
वाञ्छितं = इच्छित
फलं = फल को
भोक्तुं = पाने के लिए
ताम् = उस
सत् क्रियाम् = सत्कर्मरूपी
भगवतीम् = देवी की
आराधय = पूजा कर
(और)
व्यसनैः = दूषित कार्यों से, इल्लतों के
विपुलेषु = लम्बे-चौड़े
गुणेषु = विषय-वासनाओं में
वृथा = व्यर्थ
आस्थां = आसक्ति
माकृथाः = मतकर

भावार्थ

सज्जनो, बुरी इल्लतों के विषय-वासनाओं को त्याग दो और सत्कर्मरूपी भगवती की आराधना करो अर्थात् सत्कार्यों में लगे रहो ।

सत्कार्यों से दो लाभ होंगे। एक, तुम्हारी इच्छाएँ पूरी होंगी, दूसरे तुम में जो त्रुटियाँ होंगी वह दूर हो जायेंगी। क्योंकि सत्कर्म में वह शक्ति है कि दुर्जन सज्जन बन जाते हैं, उजड्ड विद्वान बन जाते हैं, अबोध को लौकिक सूझ-बूझ प्राप्त हो जाती है।

विशेषार्थ

पिछला श्लोक "नमः कर्मणे" से समाप्त हुआ था। इस श्लोक का सार है "सत्क्रियां आराधय"। पिछले श्लोक में प्रणाम था। इसमें पूजा है। प्रणाम, पूजा किसकी ? कर्मदेव की, अन्यान्य देवी-देवताओं की नहीं। पूजा प्रणाम ही करना है तो कौन देवी या देवता हुआ तो क्या हुआ ? साकार पेड़, पत्थर हो अथवा निराकार कुछ और। पूजा-प्रणाम तो वही है। फूल-पत्र से देवी-देवता को पूजना नहीं है, बल्कि सत्कार्यों में लगे रहना है। क्रिया ही प्रधान है, जब यह बात स्पष्ट हो गई तब यह विचार करना रह जाता है कि सत्कार्य क्या है, कौन करे और क्यों करे ?

श्लोक 'साधु' शब्द से शुरू हुआ है और जो कुछ उसमें कहा गया है वह इन साधुजनों को सम्बोधित करके कहा गया है। कुछ ऐसा लगता है कि असाधु को कुछ कहना-सुनना या करना-धरना नहीं है। और साधुजनों को कहने की जरूरत ही क्या ? वे स्वयं कोई बुरा काम नहीं करते। यहाँ सज्जन-दुर्जन का कोई अन्तर नहीं है। जो साधना करने की इच्छा रखें वे सभी साधु हैं। साधना की प्रवृत्ति तथा शक्ति साधारणतया सब में होती है। दौर्जन्य के लिए भी साधना करनी पड़ती है, बल्कि उसमें अधिक जोखिम लेनी पड़ती है। कौन करे, इसका कोई सवाल नहीं, सभी लोग करें।

क्या करें ? वह सत्कर्म क्या-क्या हैं ? इसके लिए भी सिर खपाने की आवश्यकता नहीं है। क्या न करें, यह जता दिया गया है। व्यसन छोड़ो, एक ही चुटकुला बता दिया गया है। जो काम अत्यधिक लुभावने लगते हैं वह सभी व्यसन हैं, वही लत है। लत भी त्रिगुणात्मक होती है। सत्य गुण, रजो गुण, तमो गुण—तीनों स्वार्थ के दरजे मात्र हैं। अतः ये सब बेकार हैं।

कैसे कार्य सत्कर्म में गिने जाते हैं, इसका संकेत पिछले श्लोक में मिलता है। भर्तृहरि ने उसी कर्म को प्रणाम किया है—नमः कर्मणे। उत्पादन ब्रह्मा का काम, पालन विष्णु का काम, शुभम् शिव का काम, जीवनदान सूर्य का काम। यदि इस दृष्टि से देखेंगे तो संसार के सारे काम-काज सत्कर्मों की श्रेणी में आते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सब सत्कर्मों में लगे हुए हैं। जिस प्रकार ब्रह्मा जुटा हुआ

है, विष्णु झेल रहा है, शिव सफाई कर रहा है, और सूर्य चमका रहा है, उसी प्रकार सभी साधु-असाधु जन इन्हीं झमेलों में फँसे हुए हैं। करते वही बड़े काम हैं पर बने रहते हैं गन्दगी के कीड़े। वह गन्दगी केवल स्वार्थ-भावना है। वकील, डाक्टर, मिनिस्टर, मास्टर, मेहतर, चपरासी, मैनेजर सभी दूसरों की आवश्यकताओं को पूरा करने में लगे हैं, मगर समझते हैं कि अपनी कमाई कर रहे हैं। 'मेरी कमाई' समझने की जगह 'मेरा काम, मेरी ड्यूटी' समझें। बस सारा मामला हल है। इतना सरल है साधु बनना, सत्कर्म करना। जो काम जिसे पसन्द हो और जिस काम में लगा हो वही काम करे, पर करे यह समझकर कि मैं दूसरों का काम कर रहा हूं। दाम जहाँ ध्येय नहीं रहा वहीं काम ध्येय बन गया, बस तहीं निस्तार हो गया।

योग्यता या सामर्थ्य का सवाल भी नहीं है। ये चीजें स्वयमेव आ जाती हैं। मूर्ख हो तो चिन्ता न करो, विद्वान हो जाओगे। काम न आवे तब भी किये जाओ, कुशल कारीगर अपने आप बन जाओगे। नम्बरी बदमाशों में नाम दर्ज हो तो फिक्र न करो। काम से ही पुलिस स्वयं नम्बर दस के रजिस्टर से तुम्हारा नाम काट देगी और नोट लिख देगी कि यह खल अब साधु हो गया है। विष है, तो अमृत बन जायेगा। शुरू में जरूर अखरेगा मगर आखिर में आसान बन जायेगा। और तब जो अब तक अप्रत्यक्ष था वह प्रत्यक्ष दिखाई देगा। आज जो असम्भव समझ रहे हो, वह सम्भव बन जायेगा। सारी शंकाएं छोड़ दो और 'सत्क्रियां भगवतीं' की शरण में जाओ।

श्लोक ९४

शुभ्रं सद्म सविभ्रमा युवतयः श्वेतातपत्रोज्वला
लक्ष्मीरित्यनुभूयते स्थिरमनुस्यूते शुभे कर्मणि ।
विच्छिन्ने नितरामनंगकलहक्रीडात्रुटत्तन्तुकं
मुक्ताजालमिव प्रयाति झटिति भ्रश्यद्दिशोऽदृश्यताम् ।।

शब्द विच्छेद

श्वेतातपत्रोज्वला = श्वेत + आतपत्र + उज्वला
लक्ष्मीरित्यनुभूयते +- लक्ष्मीः + इति + अनुभूयते

स्थिरमनुस्यूते = स्थरम् + अनुस्यूते
नितरामनंग = नितराम् + अनंग
त्रुटत्तन्तुकं = त्रुटत् + तन्तुकं
जालमिव = जालम् + इव
भ्रश्यद्दिशोऽदृश्यताम् = भ्रश्यत् + दिशः + अदृश्यताम्

शब्दान्वय

शुभे कर्मणि स्थिरं अनुस्यूते शुभ्रं सद्म सविभ्रमाः युवतयः
श्वेतआतपत्र उज्वला लक्ष्मीः इति अनुभूयते
विच्छिन्ने नितराम् अनंग कलह क्रीडा त्रुटत् तंतुकं मुक्ताजालम् इव
झटिति दिशः भ्रश्यत् अदृश्यताम् प्रयाति ।

शब्दार्थ

शुभे कर्मणि = सत्कार्यों के
स्थिरं = सदा, बिना डगमगाए
अनुसूयते = अनुसरण करने पर
शुभ्रं = सिथुरा
सद्म = कोठी
सविभ्रमाः = लुभावनी
युवतयः = स्त्रियां
श्वेत = सफेद
आतपत्र = छत्री
उज्वला लक्ष्मीः = प्रकाशमान लक्ष्मी
इति = यह सब
अनुभूयते = भोगे जाते हैं
विच्छिन्ने = (शुभ कर्मों का तांता) टूटने पर
नितराम् = घनघोर
अनंग कलह क्रीडा = मन्मथ युद्ध कामभोग की क्रीडा में (घनघोर संभोग में)
त्रुटत् = टूटते हुए
तंतुकं = धागे के
मुक्ताजालम् इव = मोतियों की झालर की भांति
झटिति = झट से
दिशः = चारों ओर
भ्रश्यत् = बिखरकर
अदृश्यम् = ओझल
प्रयाति = हो जाते हैं

भावार्थ

सदा स्थिरता से सत्कार्यों का आचरण करते रहने पर ही राज, राजमहल और रनवास का उपयोग किया जा सकता है। सत्कार्यों का तांता ज्योंही टूटा त्योंही रंग में भंग हो जाता है। राज, राज-

महल और रनवास, सब ऐसे तितर-बितर हो जाते हैं जैसे उद्रेकपूर्ण सम्भोग के अवसर पर प्रेयसी के गले का झालर टूटने पर सारे मोती इधर-उधर बिखर जाते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में सन्मार्ग पर चलने तथा सत्कार्य करते रहने का उपदेश था। इस श्लोक में उन सत्कार्यों के फल और परिणाम पर प्रकाश डाला गया है। सत्कार्यों के लौकिक और पारमार्थिक दो विभेद हैं। लौकिक कार्य वे हैं जिनसे सांसारिक सुख की प्राप्ति होती है और पारमार्थिक वे हैं जिनसे पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। इस श्लोक में सांसारिक सुख की चर्चा है। इससे स्पष्ट है कि लौकिक सुख के लिए भी सत्कार्य ही कारक हैं।

सांसारिक सुखों की मर्यादाएँ हैं। साधारण गृहस्थी से साम्राज्य तक सभी सत्कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। साधारणतया यह माना जाता है कि पिछले जन्मों में जैसे-जैसे सत्कार्य किये हों वैसे-वैसे सुख-साधन वर्तमान जन्म में भोगने को मिलते हैं। एक शंका उठती है। जो हमने पूर्वजन्म में कमाया उसे पूर्ण रूप से भोगते हैं, इसमें किसी को क्या अधिकार है आक्षेप करने का? इसमें से दूसरी बात यह भी निकलती है कि जब पूर्वजन्म से प्राप्त सुखभोग के पूर्णाधिकारी हैं तब इसी जन्म की कमाई पर हमारा पूर्ण अधिकार है ही। श्लोक में "अनुस्यूते शुभे कर्मणि" कहकर यह शर्त लगा दी गई है कि पिछले सत्कार्यों का फल इस जन्म में भोगने के लिए भी और इस जन्म के सुफल को अगले जीवन के लिए सुरक्षित रखने के लिए भी सत्कर्म का सिलसिला टूटना न चाहिए। जहाँ सत्कर्मों का ताँता टूटा वहाँ सब सम्पदा तितर-बितर हो जायेगी। पुनर्जन्म को मानने में पुण्य की प्राप्ति हो या न हो, पापाचरण तो जरूर कम होता है। जहाँ पाप नहीं वहीं पुण्य है। जहाँ कुकर्म नहीं वहीं सुकर्म है।

लोग पुण्य-संचय को मानें या न मानें, धन-संचय को तो सभी मानते हैं। धन कमाते हैं और बचाकर भी रखते हैं कि आगे काम आवे। मकान, दुकान, जमीन, जायदाद, स्त्री, सन्तान सभी से आगे सुख की आशा बनी रहती है। भर्तृहरि की नीति में इनकी मनाही नहीं है। आप स्वयं सुख भोगो, अपनी सन्तान के लिए भी प्रबन्ध करो। कहना इतना ही है कि जो प्रबन्ध हो वह पक्का हो, कच्चा न हो। सन्मार्ग पर चलो, सत्कर्म करो, बस प्रबन्ध पक्का हो गया। असावधानी बरतोगे तो न जाने कब रंग में भंग हो जाय। सांसारिक सुख में 'श्वेतातपत्र साम्राज्य' सुख की पराकाष्ठा की उपमा देकर और उसमें भी रनवास की रतिभोग के समान

अनन्य सुख की चर्चा करके स्पष्ट कर दिया गया है कि यह सब तीन-तेरह-नौ-अठारह हो जायेगा। सम्पन्न तथा समृद्ध जीवन में ऐसी आशंका कम होती है। फिर भी ऐसी घटनाएँ आँखों से देखते हुए मनुष्य को खटका नहीं होता। नित्य शव उठते हैं। श्मशान में दाह-संस्कार भी कर आते हैं, पर कभी नहीं सोचते कि हमें भी इसी तरह मरने में कौन देर लग सकती है। जहाँ स्वयं भोगी का ठिकाना न हो वहाँ भोग्य वस्तु का क्या ठिकाना ? यह सब विच्छिन्न होनेवाली हैं। फिर भी इतनी छूट दी गई है कि इस अस्थायी सुख को यदि कुछ स्थायित्व प्राप्त हो सकता है तो वह केवल सत्कर्मों के आचरण से ही सम्भव है।

नीति-वार्ता में सम्भोग की चर्चा आने पर साधु-सज्जन चौंक पड़ते हैं मानो कोई महापाप हो गया है। सम्भोग को इतना अवांछनीय, वर्जनीय तथा अकथनीय मानना भी मूर्खता है। सारी सृष्टि सम्भोग पर टिकी है। जितनी सांसारिक भोग्य वस्तु हैं उनमें सम्भोग का सर्वोच्च स्थान है। शरीर से शरीर मिले, मन से मन मिले, आत्मा से आत्मा मिले, फिर क्या कहने। अपने को भुलाकर समान आनन्द का अनुभव करें, कितनी बड़ी बात है। एकांगी भोग नहीं है यह, सम-भोग है। समाज में सम-भोग तब होगा जब सम-विभाजन होगा। सम-विभाजन तब होगा जब संचय न हो। किसी को किसी से गिला न रहे। सम्भोग में स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे से गिला नहीं रहता, क्योंकि वहाँ संचय नहीं है और सम-विभाजन है। बस आनन्द ही आनन्द है, परमानन्द।

श्लोक ९५

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ।।

शब्द विच्छेद

गुणवदगुणवद्वा = गुणवत् + अगुणवत् + वा
कार्यमादौ = कार्यम् + आदौ

परिणतिरवधार्या = परिणतिः + अवधार्या
कर्मणामाविपत्तेर्भवति = कर्मणाम् + आविपत्तेः + भवति

शब्दान्वय

कार्यं कुर्वता पण्डितेन आदौ गुणवत् अगुणवत् परिणतिः
यत्नतः अवधार्या
अतिरभस कृतानां कर्माणाम्
आविपत्तेः शल्यतुल्यः विपाकः हृदयदाही भवति ।

शब्दार्थ

कार्यं कुर्वता = कोई कार्य करनेवाले
पंडितेन = विद्वान, बुद्धिमान द्वारा
आदौ = पहले ही
गुणवत् = भला
अगुणवत = बुरा
परिणतिः = अन्त
यत्नतः = जतन से, अच्छी तरह
अवधार्या = विचारकर
(करना चाहिए, नहीं तो)
अतिरभस = बड़ी जल्दी, घबड़ाहट से
कृतानाम् = किये हुए
कर्माणाम् = कामों से
आविपत्तेः = अन्त तक, मरने तक
शल्य तुल्यः = काँटे के समान
विपाकः = उलटा
हृदयदाही = दिल दुखानेवाला
भवति = होता है

भावार्थ

मनस्वी पुरुष को चाहिए किसी काम को करने से पहले उस कार्य के भले-बुरे परिणाम का भली-भाँति सोच-विचार कर लेना चाहिए। बिना सोचे-विचारे जो काम किये जाते हैं उनका उल्टा फल निकलता है और मरते दम तक दिल में काँटे की तरह खटकता रहता है।

विशेषार्थ

इस श्लोक में वैसे तो कोई अनोखापन नही लगता। अपना भला-बुरा ही सोचने की बात हो तो यह पशु-पक्षी भी करते हैं। मनुष्य जन्म लेकर जो अपनी बात मात्र सोचता है उसकी गिनती पशु-पक्षियों में ही होगी। परन्तु इससे पहले वाले ९४वें श्लोक में जो कुछ कहा गया है उसे देखते हुए इस श्लोक की ये साधारण बातें भी महत्वपूर्ण बन जाती हैं। पिछले श्लोक में साधारण गृहस्थी से लेकर

साम्राज्य का उपभोग करने की छूट दी गयी थी। परन्तु साथ ही कहा गया था कि जो सुख भोगने को मिलते हैं वह भी पीछे किये हुए सुकर्मों के फल मात्र हैं। सत्कार्य तथा सुख साथ-साथ गुंथे हुए हैं, मानो सत्कार्यरूपी डोरी में सुखरूपी मोती पिरोये हुए हैं। उद्रेक में आने पर डोरी टूट जाएगी और सारे मोती अंधेरे में बिखर जायेंगे। अतः सत्कार्यों का ताँता टूटने न पावे, इसका सदा ध्यान रखना जरूरी है।

यह श्लोक सत्कर्मरत विवेकी व्यक्ति के सम्बन्ध में ही कहा गया है कि वह भले-बुरे परिणाम के सम्बन्ध में पहले ही खूब सोच ले। सम्पदा, समृद्धि से प्राप्त होनेवाला शारीरिक सुख अथवा अभाव तथा कष्ट भोग मात्र ही भला-बुरा नहीं है, क्योंकि न समृद्धि से ही मृत्यु पर्यन्त सदा सुख मिलता है और न कोई कष्ट सदा काँटे की तरह खटकता है। सुख-दुख दोनों ही क्षणिक होते हैं। कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी इनका अन्त होता ही है।

इस तरह सुखी व्यक्ति को भी और दुखी व्यक्ति को भी निरन्तर सत्कर्मरत रहते हुए इस खोज में रहना होगा कि वह सत्कर्म क्या है जो स्थायी सुख दे सके तथा मन को शान्ति प्रदान करे।

श्लोक ९६

स्थाल्यां वैडूर्यमय्यां पचति तिलखलं चान्दनैरिन्धनौघैः
सौवर्णैलांगलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कतूलस्य हेतोः
छित्त्वा कर्पूरखण्डान्वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्ता-
त्प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ॥

शब्द विच्छेद

चान्दनैरिन्धनौघैः = चान्दनैः + इन्धन + ओघैः
लाङ्गलाग्रैर्विलिखति = लाङ्गल + अग्रैः + विलिखति
वसुधामर्क = वासुधाम् + अर्क
वृतिमिह = वृतिम् + इह

समन्तात्प्राप्येमां = समन्तात् + प्राप्य + इमां
यस्तपो = यः + तपः

शब्दान्वय

मन्दभाग्यः तपः न चरति
यः मनुजः इमाम् कर्मभूमिं प्राप्य
सः वैडूर्यमय्यां स्थाल्या
चान्दनैः इंधन ओघैः तिलखलं पचति,
सावर्णैः लाङ्गल अग्रैः अर्कतूलस्य हेतोः वसुधाम् तिलिखति
तथा कर्पूरखण्डान् छित्त्वा कोद्रवाणां समन्तात् वृतिं कुरुते ।।

शब्दार्थ

यः = जो
मनुजः = मनुष्य
इमाम् = इस
कर्मभूमिं = कर्मभूमि को
प्राप्य = प्राप्त होकर (कर्मभूमि में जन्म लेकर)
तपः = तपस्या
न चरति = नहीं करता है
सः मन्दभाग्यः = वह अभागा
वैडूर्यमय्यां = मणिमाणिक्य के, जड़ाऊ
स्थाल्यां = बटलोही में
चन्दनैः = चंदन की
इंधन ओघैः = लकड़ियों के गट्ठर से
तिलखलं = खली (तिल की)
पचति = पकाता है
सावर्णैः = सोने के बने
लाङ्गल = हल की
अग्रैः = नोक से
अर्क = मदार की
तूलस्य हेतोः = रुई के लिए
वसुधाम् = धरती को
तिलिखति = जोतता है, (और)
कर्पूरखण्डान् = कपूर के पेड़ों के तने
छित्त्वा = काट-काटकर
कोद्रवाणां = कोदो (के खेत को)
समन्तात् = चारों ओर
वृतिं = बाड़
कुरुते = करता है, लगाता है

भावार्थ

जो मानव इस कर्मभूमि (भारत) में जन्म लेकर तपस्या नहीं करता वह बड़ा ही अभागा है कि मानो वह हीरे-जवाहर के जड़ाऊ बर्तन में चन्दन का ईंधन जलाकर खली पकाता है, मदार की रुई उगाने की खातिर धरती को सोने के हल से जोतता है और कर्पूर वृक्षों को काट-

काटकर कोदों के खेत की बाड़ घेरता है। इतना बड़ा मूर्ख है वह।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में सांसारिक सुखभोग की अनुमति देते हुए कहा गया था कि उसके लिए भी सत्कर्माचरण की निरन्तर आवश्यकता रहेगी। फिर भी सांसारिक सुख को सीमित बताया था और कहा था कि उसके विच्छिन्न हो जाने की शंका बराबर बनी रहती है। इसलिए इस श्लोक में कहता है कि उस सीमित सुखेच्छा से जो सत्कार्यों में लगे रहते हैं वह बड़े अभागे हैं क्योंकि सुकृत से या सौभाग्य से बल्कि संयोग से भी जिन उत्तम साधनों की उपलब्धि हुई है उनका वे सदुपयोग नहीं करते, जैसे जड़ाऊ बटलोही में खली पकाना, सोने के हल से मदार की खेती करना और कर्पूरवृक्ष काटकर कोदों की बाड़ घेरना।

जड़ाऊ थाल या ताज से महाराजाओं की ओर संकेत है। सोने के हल से धनियों की ओर और कोदों की खेती से सामान्य जनता की ओर। पीछे ९४ वें श्लोक में भी इन्हीं सब की तरफ इशारा था। इन दोनों श्लोकों के बीच ९५वें श्लोक में भले-बुरे परिणाम को भलीभांति सोचकर कार्यरत होने का उपदेश था। अब यहाँ ९६वें श्लोक में निर्णय दिया गया है कि धनी-मानी या सत्ताधारी ही नहीं, वरन् साधारणजन सज्जन होते हुए भी वे अपनी शक्ति तथा साधनों का निरर्थक उपयोग कर रहे हैं, क्योंकि वे स्वयं सुख का उपभोग करते हुए उसे स्थायी बनाने के लिए निरन्तर सत्कार्य किये जा रहे हैं। सुख तथा स्व-सुख निरर्थक है और इस प्रकार जीवन व्यर्थ है।

जीवन सार्थक कैसे बने और मानव सत्कार्यों द्वारा कृतार्थ कैसे बने ? इस जटिल प्रश्न का सरल समाधान श्लोक में दो ही दो अक्षरों में प्रस्तुत किया गया है—'तप'। सबके लिए एक ही उपाय। सत्तावान हो तो तप करे। धनवान हो तो तप करे। विद्वान हो तो तप करे। नौकर-चाकर हो तो तप करे। किसान-मजदूर हो तो तप करे। परन्तु बेचारे गरीब तो वैसे ही तप रहे हैं और तड़प रहे हैं, उन्हें और कौन तप बाकी रह गया ? जो लोग डर या लालचवश शारीरिक परिश्रम करते हैं या कष्ट झेलते हैं वे तप करते हुए तपोफल से वंचित रहते हैं, क्योंकि मन में डर, लालच या द्वेष भरा है। गरीब अपनी शारीरिक तपस्या के साथ मानसिक तपस्या का अभ्यास करने लगे तो उसका बेड़ा पार है। इसके विपरीत सम्पन्न, सत्तावान को दोहरा तप करना है—शारीरिक भी और मानसिक भी। ये शरीर को कष्ट देना नहीं चाहते और मन से लोभ जाता नहीं। इसलिए ये दोनों ओर से मारे जाते हैं। सम्पन्न के लिए तपोमय सत्कार्य कष्टसाध्य है और

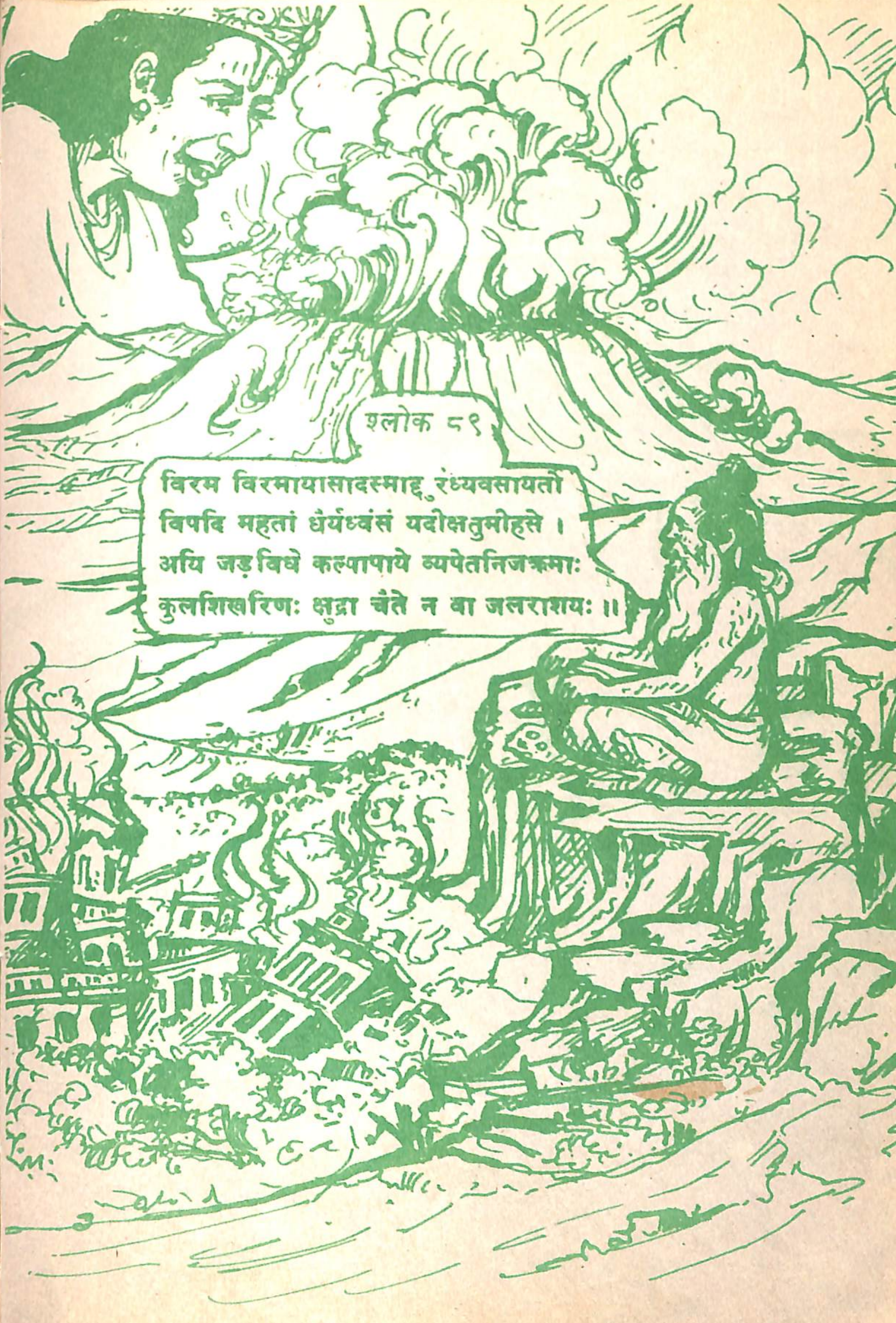

श्लोक ८९

विरम विरमायासादस्माद्दुरध्यवसायतो
विपदि महतां धैर्यध्वंसं यदीक्षतुमीहसे ।
अयि जड़ विधे कल्पापाये व्यपेतनिजक्रमाः
कुलशिखरिणः क्षुद्रा चैते न वा जलराशयः ॥

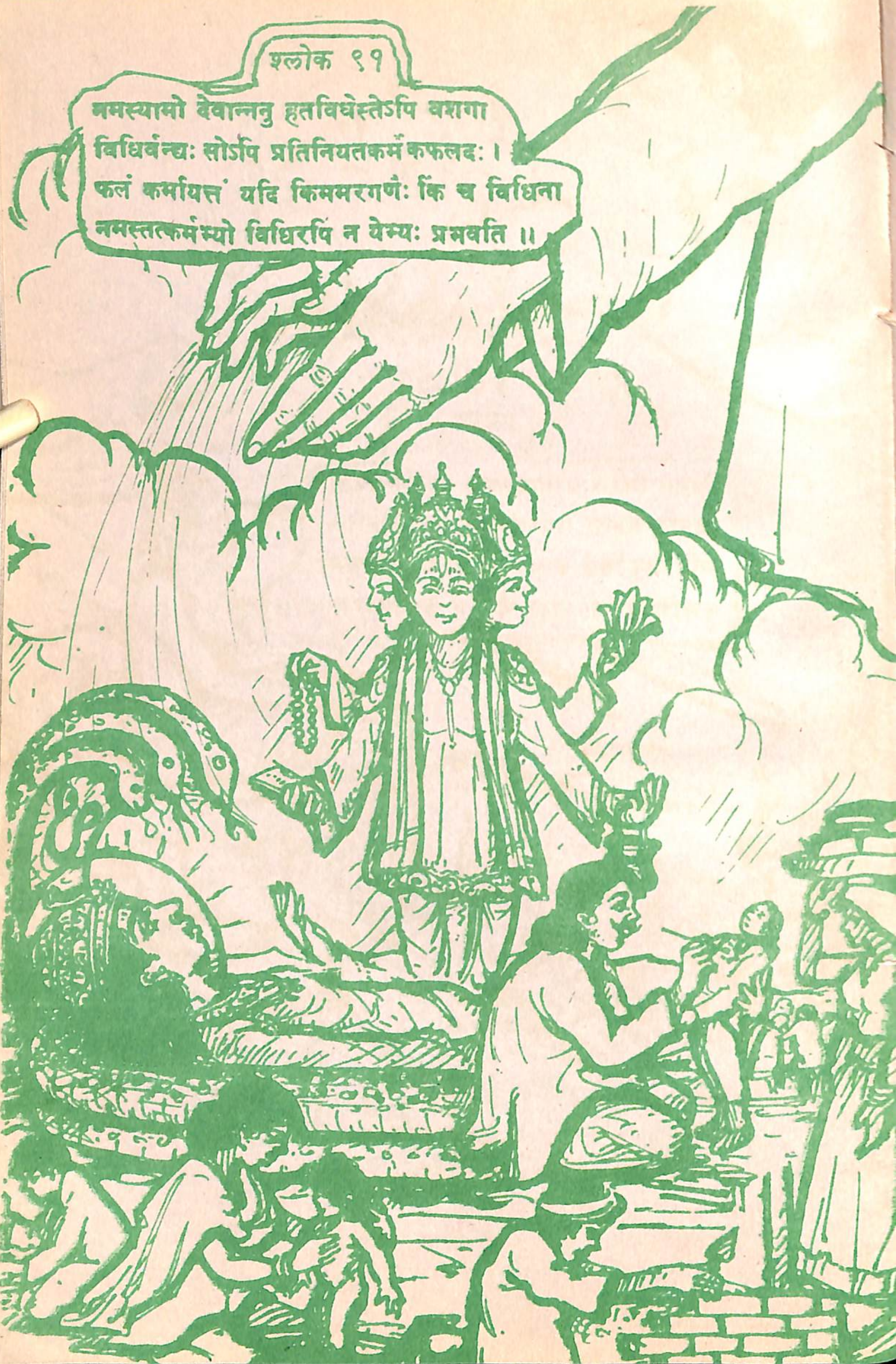

श्लोक ९१

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं यदि किममरगणैः किं च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥

गरीब के लिए वही चीज सुलभ-साध्य है। सूई की नाक में तागा पिरोना जितना आसान है गरीब के लिए संसार-सागर को तर जाना उतना ही आसान है। सम्पन्न सत्तावान के लिए वेडौल ऊँट को नकेल पकड़कर सूई की नाक में निकलना पड़ता है।

इस प्रकार तपोधन से वंचित रहनेवाले व्यक्ति को निरा अभागा कहना उचित है। तप क्या है, इस पर बार-बार चर्चा हो चुकी है। यह कर्मभूमि है। मानव के लिए कर्म ही तप है। स्वकर्म में कर्तव्यपरायणता से तन के साथ मन को भी लगाकर कार्य करना और स्वकीय लोभ से बचना और परकीय भय से मुक्त होकर स्वच्छन्द होना, बस यही तप है, जो सरल भी है और साध्य भी।

श्लोक ९७

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्यापि नैव न च यत्नकृताऽपि सेवा।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः॥

शब्द विच्छेद

नैवाकृतिः = न + एव + आकृतिः
विद्यापि = विद्या + अपि
कृताऽपि = कृता + अपि
यथैव = यथा + एव

शब्दान्वय

पुरुषस्य आकृतिः न एव फलति कुलं एव न फलति
शीलं एव न फलति विद्या अपि न एव फलति
यत्नकृता सेवा अपि न च एव फलति
यथा वृक्षाः काले फलन्ति तथा एव
पुरुषस्य पूर्वतपसा संचितानि भाग्यानि काले फलन्ति।

शब्दार्थ

पुरुषस्य=मनुष्य का
आकृति=रंग-रूप
न एव=नहीं ही
फलति=सफल होता है, काम देता है
कुलं एव=वंश, जाति भी
न फलति=सफल नहीं होता, काम नहीं देता है
शीलं एव=सदाचार भी
न फलति=सफल नहीं होता
विद्या अपि=विद्या, डिग्री भी
न एव फलति=काम नहीं देती
यत्नाकृता=मेहनत के साथ की हुई
सेवा अपि=चाकरी भी
न च एव फलति=सफल नहीं होती
यथा वृक्षाः=जिस प्रकार पेड़
काले फलन्ति=समय पर फलते हैं
तथा एव=उसी प्रकार
पुरुषस्य=मनुष्य के
पूर्वतपसा=पिछली तपस्या से
संचितानि=जुटी हुई
भाग्यानि=कमाई ही
काले फलन्ति=अपने समय पर फल देती है

भावार्थ

जीवन में रंग-रूप, कुल-गोत्र, आचार-विचार, कला-कौशल, सेवा-शुश्रूषा, इन सबसे कुछ नहीं बनता। जिस प्रकार पेड़ समय से बढ़ते और फलते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी पिछली तपस्याओं का फल पाता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में तपोमय कर्म करने का उपदेश था। इस श्लोक में तपस्या-काल में अधीर न होने की चेतावनी है। यहाँ पर मनुष्य को पेड़ की उपमा दी गई है। कर्म उसका बीज है और तपस्या उसकी सावधानी है। बीज को मिट्टी के नीचे कुछ दिन छिपना होता है। नमी पाने पर अंकुर उगता है। धूप-पानी भी उसे पर्याप्त मात्रा में मिलता रहे। ओला-पाला से बचे। भेड़-बकरी न चर जायें। जमे, बढ़े तब कहीं वह फूले फले, कोई दो-चार महीनों में और कोई दो-चार साल में। इतना प्रबन्ध हो तब कहीं फल की नौबत आवे। फल भी कोई मीठा, कोई खट्टा। आरम्भ में कसाये बाद मिठाये। किसी का फूल ही फल है। गुलाब, मोतिया से कोई फल की आशा नहीं करता। किसी की लकड़ी ही फल है जैसे शीशम। किसी का पत्ता ही फल है जैसे पान। किसी-किसी पेड़ की सभी चीजें काम की होती हैं, जैसे नारियल इत्यादि। अपनी-अपनी जगह सभी काम के होते हैं।

जब पेड़-पत्ते काम के हैं तब मनुष्य का रूप-रंग क्यों बेकार ? ऊपर गिनाये गये और वह जो नहीं गिनाये गये अनेक अन्य गुण भी मान्य हैं, केवल तभी जब उनके पीछे तपस्या हो । तपस्या के माने परकीय सुख के लिए सदुपयोग ही लिया गया है । शारीरिक सुन्दरता, घराना, सदाचार, आः धन, कलाकौशल, सत्ता, अधिकार, इन सभी का यद्यपि अपना-अपना ा-ताण्डव परन्तु उन गुणों से जो स्वार्थ साधने की चेष्टा करे उसे तापसी नहीं बलि श्लोक के ा जायेगा । और वह अन्तिम परिणाम की दृष्टि से श्रेयस्कर न हो विद्याः क

पुरुष के माने पुरुषार्थ करनेवाला—स्त्री हो अ नहीं हैं । ये ज जिस प्रकार स्त्री-पुरुष में भेद नहीं उसी प्रकार जति, कुल का सवाल भी नहीं, प्रयो ही प्रधान है ।

श्लोक ९८

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जयत्वाहवे,
वाणिज्यं कृषिसेवनं च सकला विधाः कलाः शिक्षतु ।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं,
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः ॥

शब्द विच्छेद

मज्जत्वम्भसि = मज्जतु + अम्भसि
शत्रूञ्जयत्वाहवे = शत्रून् + जयतु + आहवे
भवतीह = भवति + इह
नाभाव्यं = न + अभाव्यं

शब्दान्वय

अम्भसि मज्जतु मेरुशिरं यातु आहवे शत्रून् जयतु
वाणिज्यं कृषि सेवनं सकलाः विद्याः कलाः शिक्षतु
परं प्रयत्नं कृत्वा खगवत् विपुलं आकाशं प्रयातु
इह भाग्यवशतः अभाव्यं न भवति भाव्यस्य नाशः कुतः ।

शब्दार्थ

(कोई व्यक्ति)
अम्भसि =पानी में
मज्जतु = घुस जाय
मेरुशिखरं =मेरु पर्वत
यातु =पहुंच जाय
आहवे =युद्ध में
शत्रून् =वैरी को
जयतु =हरावे
वाणिज्यं =व्यापार (तथा)
कृषि = खेती
सेवनं =चाकरी करे
या कृषि सेवनं =खेती का धन्धा करे
सकलाः =समस्त
विद्या =शास्त्र
कलाः =कला, हुनर
शिक्षतु =सीख ले

परं =महान
प्रयत्नं कृत्वा =जतन कर
खगवत् =पंछी की तरह
विपुलं =विशाल
आकाशं प्रयातु =आकाश में उड़ जावे
(तो भी)
इह =यहाँ, इस संसार में
(अपने-अपने)
भाग्यवशतः =भाग्य के अनुसार (जो)
अभाव्यं =अनहोनी है (वह कभी)
न भवति =नहीं होगी (और)
भाव्यस्य =होनहार को
नाशः =अनहोनी, तबाही
कुतः =कहाँ है ?
(अवश्य होकर रहेगा)

भावार्थ

इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने कर्मफलस्वरूप जो कुछ प्राप्त होना है वह अवश्य प्राप्त होगा और अगर संचित भाग्य न हो तो कुछ नहीं मिलेगा। सत्कर्माचरण द्वारा अपने भाग्य का निर्माण किये बिना कोई यदि समुद्र में गोता लगाकर पाताल टटोले या पंछी की तरह उड़कर आकाश छान डाले, धरती कुरेद कर खेती करे या माल लादकर व्यापार करे, मन मारकर प्रभुओं की चाकरी करे या आँख मूँदकर पर्वतों में तपस्या करे, कहीं कुछ हाथ नहीं लगेगा।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक का एवं प्रस्तुत श्लोक का आशय समान है। दोनों में एक ही बात कही गयी है कि होनहार होकर रहेगा। और हमारे किये-कराये कुछ नहीं होगा। फिर भी दोनों श्लोकों में भारी अंतर है। पिछले श्लोक में ऐसे व्यक्तियों का वर्णन था जो अपने स्वाभाविक गुणों अथवा कार्य-कलाप से दूसरों को प्रभावित

कर प्रतिफल पाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु इस श्लोक में परावलम्बी नहीं अपितु कुछ स्वावलम्बी आकांक्षावान व्यक्तियों का वर्णन है। श्लोक में आये हुए शब्द 'कृषि-सेवनं' को अलग-अलग खेती और चाकरी न मानकर खेती के धन्धे को व्यक्त करनेवाला समासपद समझ लें तो आशय स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार इस श्लोक में प्रयुक्त कृषि, वाणिज्य, रण-ताण्डव तथा जलाकाश प्रवेश, सभी स्वतन्त्र वृत्तियां हैं। पिछले श्लोक और इस श्लोक के अंतर का एक कारण यह हुआ। अब दूसरा प्रबल कारण है—"सकलाः विद्याः कलाः" सकल विद्याओं तथा सकल कलाओं के पारंगत हैं, साधारण लोग नहीं हैं। ये जो भी काम करेंगे। उनमें अपने शास्त्र-ज्ञान तथा कला-कौशल का पूर्ण प्रयोग करेंगे। इनका जल में डूबना साधारण डूब मरना नहीं है। पंछी बनकर चारा खोजना नहीं है। नमक-तेल बेचकर माशे को तोला और तोले को माशा करना नहीं है। खेती भी उसकी निराली ही होगी। महत्तर अंतर तीसरा है। पिछले श्लोक में 'आकृति' यानी मुंह दिखाकर या बनाकर कुछ पाने की बात है। शादी-ब्याह में भी 'मुंह दिखाई' की भेंट मिलती है। उसके विपरीत इस श्लोक में मुंह छिपाना है—मज्जत्वम्भसि। शेष सभी बातें भी यहां ऐसी ही हैं। आजकल हवाई-जहाज, पन-डुब्बियां हैं तो उन दिनों 'जल-स्तम्भन' तथा 'वायु-कुम्भन' की प्रक्रियाएं थीं। उड़नखटोला नहीं तो उड़न-खड़ाऊं भी थे। यदि इन्हें कोरी कल्पना ही मानें तो भी उस कल्पना की उड़ान को तो देखिए। किसी ने एक बार कहा था—हमारे बगीचे की लम्बाई-चौड़ाई पर मत जाओ, उसकी ऊंचाई पर नजर डालो। अस्तु। इस श्लोक का बृहत्तर अंतर यह है कि इसमें सकल विद्या तथा कलाओं की बात नहीं कही गयी है बलिक सकल-जन का वर्णन है। चौदह विद्या, चौंसठ कलाओं के साथ चारों वर्णों का भी वर्णन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी का यहां समागम है। सभी अपनी-अपनी श्रेणी के श्रेष्ठ पुरुष हैं। जल तथा गुफाओं में बैठकर तपस्या करनेवाले ब्राह्मण, रणभूमि में धुंध मचानेवाले क्षत्रिय, कृषि-व्यापार करनेवाले वैश्य और शूद्र हैं, पर श्रेष्ठता में कोई किसी से हेटा नहीं।

ठीक है, सभी पुरुषार्थी हैं परन्तु हैं, भाग्य के हाथों लाचार। जहां लाचारी है वहां पुरुषार्थ से क्या प्रयोजन ? इस प्रकार की शंका ही निराधार है। "भाव्यस्य नाशः कुतः ?" कहकर भर्तृहरि ने वास्तव में सिरजनहार ब्रह्मा को भी ललकारा है कि तुम हमारे काम को बिगाड़ नहीं सकते। भर्तृहरि की खुली चेतावनी है कि भाग्य पर भरोसा करके हाथ पर हाथ धरे बैठो नहीं। उद्यम किये जाओ। पाताल में गोता लगाओ, पर्वत की चोटी पर चढ़ जाओ, संघर्ष रचो, पूरव-पश्चिम को मिलाओ, सूखी माटी से सोना उगलवाओ। क्या फल होगा, इसकी तुम परवाह

न करो, जोखिम उठाओ और किये जाओ। अगला श्लोक पढ़िए और देखिए इसकी पुष्टि कैसे होती है।

श्लोक ९९

वने रणे शत्रु जलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ।।

शब्द विच्छेद

जलाग्नि = जल + अग्नि
महार्णवे = महा + अर्णवे

शब्दार्थ

वने = वन में
रणे = युद्ध में
शत्रुमध्ये = दुश्मनों के बीच
जलमध्ये = पानी में
अग्निमध्ये = आग के घेरे में
महाअर्णवे = विपुल सागर में
वा = या
पर्वत मस्तके = पहाड़ की चोटी पर

सुप्तं = सोया हो
प्रमत्तं = बेहोश हो
वा = या
विषमस्थितं = विपरीत परिस्थितियों में घिरा हो
पुराकृतानि = पीछे किये हुए
पुण्यानि = पुण्यफल
रक्षन्ति = रक्षा करते हैं बचाते हैं

भावार्थ

अपने किये हुए सत्कर्मों के सुफल सदा साथ देते हैं। ऐसा सत्पुरुष चाहे बीहड़ जंगल में भूला-भटका हो, युद्ध में दुश्मनों के बीच घिर गया हो, मंझधार में बहा जा रहा हो, चारों ओर से आग में फंसा हो, समुद्र के तल में पड़ा हो या पहाड़ की चोटी पर खड़ा हो, यहां तक

कि ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जबकि वह मीठी नींद सो रहा हो या बेहोश पड़ा हो, पूर्वकृत सत्कार्य उसे बचा ही लेते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में साहस की शिक्षा देते हुए दुस्साहस की सीमाओं में पहुंचा दिया गया था। सफलता के सम्बन्ध में सशंक ही रहना पड़ा था कि कौन जाने काम बने या न बने। तब किस बल-बूते कोई कुछ किये जाये ? यह बल इस श्लोक में प्रस्तुत किया गया है। एक गारंटी पक्की है कि उसकी सदा रक्षा हुआ करेगी कि सत्पुरुष अपने पुरुषार्थ पर अग्रसर रहे।

पुरुषार्थी को अपनी रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करने की आवश्यकता नहीं है। पूर्ण प्रबन्ध वह कर भी नहीं सकता। मान लो, प्रबन्ध कर रखा है, परन्तु लगातार प्रयास करते-करते थक गया, शरीर ने जवाब दे दिया। ऊबड़-खाबड़ जमीन पर पड़ गया। नींद आ गयी या किसी कारण बेहोश हो गया। कहां ? वहीं जहां-जहां का पिछले श्लोक में वर्णन है। पानी में डूबा है, पहाड़ की चोटी पर है, रणांगण में पड़ा है, जंगल में है, बेहोश पड़ा है, इसलिए पानी में डूब मरेगा, आग में जल मरेगा, पहाड़ की चोटी पर से गिर पड़ेगा, दुश्मन घेर लेंगे, काम तमाम कर देंगे। नहीं, ये सब कुछ न होगा। उसके सुकृत उसे किसी-न-किसी अनिर्वचनीय रूप से बचा लेंगे और वह फिर कार्यरत होगा। ऐसी घटनाएं नित्य घटती रहती हैं। प्राचीन, अर्वाचीन कथा-कहानियां इस प्रकार के उदाहरणों से भरी पड़ी हैं।

'सुकृतानि रक्षन्ति' कहा है, 'भक्षन्ति', 'विनश्यन्ति' कहीं नहीं कहा। भगवान बचाता है, यह भी नहीं कहा। कहा है, भाग्य बचाता है। और भाग्य है सुकर्मों का सुफलमात्र।

प्रश्न यह है कि ऐसे कष्टमय जीवन को घसीटते हुए कोई बचने की वांछा क्यों करे और कोई उसे बचाये भी क्यों ? इसका उत्तर भर्तृहरि से अगले एवं अन्तिम श्लोक में सुनिए।

श्लोक १००

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वो जनः स्वजनतामुपयाति तस्य ।
कृत्स्ना च भूर्भवति संनिधिरत्नपूर्णा
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥

शब्द विच्छेद

स्वजनतामुपयाति = स्वजनताम् + उपयाति
भूर्भवति = भूः + भवति
यस्यास्ति = यस्य + अस्ति

शब्दान्वय

यस्य नरस्य विपुलं पूर्वसुकृतं अस्ति
तस्य भीमं वनं प्रधानं पुरं भवति
सर्वः जनः तस्य स्वजनताम् उपयाति
कृत्स्ना च भूः सन्निधि रत्नपूर्णा भवति ॥

शब्दार्थ

यस्य नरस्य = जिस व्यक्ति के
विपुलं = बहुतेरा
पूर्वसुकृतं = पिछले सुकर्मों का फल
अस्ति = हो
तस्य = उसके लिए
भीमं वनं = भयंकर अरण्य
प्रधानं पुरं = मुख्य नगर
भवति = बन जाता है
सर्वः जनः = सभी लोग

तस्य = उसके
स्वजनताम् = अपने आदमी
उपयाति = हो जाते हैं
च = और
कृत्स्ना = सकल, सारी
भू = धरती
सन्निधि = पास में
रत्नपूर्णा = रत्नों से भरपूर
भवति = हो जाती है

भावार्थ

जो व्यक्ति सतत सत्कार्यों में निरत रहकर पर्याप्त सुकृत-संचय कर ले उसके लिए बीहड़ जंगल बसा-बसाया शहर बन जाता है, वहां

के निवासी उसके निज-जन बन जाते हैं और वहां की धरती उसके लिए रत्न उगलने लगती है।

विशेषार्थ

पिछला तथा प्रस्तुत श्लोक, दोनों ही 'वन' शब्द से शुरू होते हैं। उस श्लोक में 'वन' का वर्णन भी था—रण-शत्रु, जल-अग्नि, पर्वत की गुफा और उसका शिखर, सभी भयंकर। वन का वर्णन इस श्लोक के 'वन' का विशेषण बन गया है—भीमं वनं। वही बीहड़ वन प्रधान नगर बन गया अर्थात् वह उसकी राजधानी और वह वहाँ का राजा। कैसे ? रण में विजयी हुआ और वही उसका राजा बना। वही शत्रु उसके स्वजन बन गये उसके शीलसौजन्य से। पहाड़ की ऊबड़-खाबड़ गुफा या चोटी की वही जगह खेती-बाड़ी और धन्धे-रोजगार की समतल धरती बनकर उसके तलुए चाटने लगी।

किसकी बदौलत हुआ यह सब ? विपुल-पूर्व-सुकृत ? सुकृत के साथ 'विपुल' तो ठीक है पर यह 'पूर्ण' क्या बला है ? इसे पूर्वजन्म न समझकर वर्तमान जीवन मानने में कौन अड़चन है ? जीवनकाल में ही लोगों ने लड़ाइयाँ लड़ी हैं, शहर बसाये हैं और धरती माता को जोत-बोकर उसे हरा-भरा वस्त्र पहनाया है और रंगबिरंगे फूल-फल के जेवर लाद दिये हैं। एक ही व्यक्ति ने एक ही दिन में ये सब काम नहीं किये। एक दिन में काम पूरा नहीं हुआ। रात आराम किया और दूसरे दिन उसी काम में जुट गये। दिनों, महीनों नहीं, वर्षों तक काम जारी है। लोग लड़ाइयाँ लड़ते-लड़ते जीत जाते हैं। शहर बसते-बसते बस जाते हैं। परिश्रम जब पूरा हो तब कहीं पर्याप्त फल मिले। पूरा परिश्रम क्या है और पर्याप्त सुकृत क्या है, इसका निर्णय कैसे हो ? आशा की सीमा नहीं, आशय का अन्त नहीं। दिन, महीना, साल क्या, सारा जीवन भी अपर्याप्त है। आज की कमाई कल तक रह सकती है तो इस जन्म की पूंजी अगले जन्म के लिए सुरक्षित रहेगी। पिछले जन्म में या जीवन के पिछले भाग में ही क्या किया या क्या नहीं किया, उसका लेखा-जोखा करने में व्यर्थ माथापच्ची करने की अपेक्षा वर्तमान को सँवारना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। भर्तृहरि ने भाग्य को रोने की बात नहीं कही है, पुरुषार्थ का उपदेश दिया है।

अब दूसरा सवाल। क्या ध्वंसात्मक युद्ध तथा राज्य-स्थापना ही पुरुषार्थ है ? नहीं। रण-कौशल का रंग सदा बदला किया है। इसी तरह राज तथा राजा के रूप बदलते आये हैं और आगे भी बदलते रहेंगे। साधारणतया समझा जाता है कि शक्तिमान तथा साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को ही ऐसे प्रयास शोभा देते हैं

अथवा फलप्रदायक होते हैं। होंगे, पर साधन-सम्पन्न की सफलता संदिग्ध भी हो सकती है, परन्तु साधन-विहीन की सफलता निश्चित है। एक घटना सुन लीजिए।

भारत स्वतन्त्र हो चुका था। सभी देशी रियासतें भारतीय संघ-शासन में शामिल हो चुकी थीं। केवल निजाम-हैदराबाद अटका हुआ था। वहां रज़ाकारों का राज था। रियासत के नेतागण, बम्बई, मद्रास राज्यों में पनाह ले रहे थे। हैदराबाद की हिन्दू जनता पर रज़ाकारों का आतंक छाया हुआ था।

भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का एक सिपाही जो २५ वर्ष से उत्तर प्रदेश में आंदोलनों में भाग ले रहा था, अपनी जन्म-भूमि हैदराबाद की जनता की बेबसी से बेकल हो पड़ा। हैदराबाद जाने के लिए उतावला हुआ। दिल्ली के बड़े-बड़े नेताओं ने बहुत समझाया, पर वह न माना और रज़ाकार-हैदराबाद में प्रवेश किया। वह अकेला था। उसे यह भी पता न था कि उसके घरवाले अब कहाँ हैं।

एक रात शहर की एक गली से गुज़र रहा था कि किसी घर से रेडियो की आवाज़ कान में पड़ी कि किसी सीमांत ग्राम में किसी जाति के कई आदमी हताहत हुए। सत्याग्रही रात भर सोचता रहा कि यही एक बात उसके कान में क्यों पड़ी। दूसरे दिन उस गाँव का अता-पता पूछ लिया और चल पड़ा।

रेल से, बस से चलने के बाद एक बैलगाड़ी को किराये पर ठहराया। जब बैलगाड़ी चलने लगी तब अचानक दो बंदूक-बंद रज़ाकार सत्याग्रही की गाड़ी पर चढ़ बैठे। गाड़ी चली। बातें चलती रहीं। रात हो गयी। सत्याग्रही निश्चित सो गया। सवेरा होते-होते मंजिल पर पहुंचे। बिस्तरा एक नीम के नीचे पटक सत्याग्रही काल-कृत्य से निबटने के लिए निकल गया। नदी का किनारा था। मनोहर दृश्य था। कुछ दूर निकल गया। घंटे भर-बाद जो लौटा तो झाड़ी-झाड़ी भाले-बरछे वाले झांक-झांक कर देख रहे थे। उसने पूछा—क्या मुझे खोज रहे हो? 'चलो', उन्होंने कहा, "अमीन साहब (थानेदार) बुला रहे हैं।"

अमीन साहब एक वरांडा-जैसी इमारत में बैठे हुए थे। सत्याग्रही सीढ़ियों पर चढ़ने लगा और अमीन साहब ने अपने पैर जमीन से मेज पर रखे। सत्याग्रही लौट पड़ा कि "हम ऐसे बदतमीज़ से बात नहीं करते"। वह सीधे नीम के नीचे अपने बिस्तर पर आ बैठा। खाना-पानी नदारद। तीन-चार बजे शाम को अमीन साहब ने आकर कहा—आप उस गाँव को देखने जा सकते हैं, पर एक शर्त के साथ, आपके साथ दो कांस्टेबल चलेंगे।

सत्याग्रही ने कहा—आपकी एक शर्त मुझे मंजूर है, आप मेरी दो शर्तें मान लें—आपके दो सिपाहियों में से एक हिन्दू होगा और, एक मुसलमान और दूसरी

शर्त यह कि किसी के साथ कोई हथियार नहीं रहेगा। अमीन साहब का जवाब था कि उनके पास कोई हिन्दू सिपाही नहीं है और कि उनके सिपाही बिना हथियार के चलने कों तैयार नहीं। अमीन साहब ने गत्यंतर न देखकर सत्याग्रही को अकेले जाने की अनुमति दे दी। बस्ती-भर इस अद्भुत घटना को देखने के लिए इकट्ठी हो चुकी थी। सत्याग्रही ने सब पर एक नजर दौड़ाई और एक को सम्बोधित कर कहा—तुम चलो मेरे साथ ! वह राज़ी हो गया और अपने टट्टू को सजा-सँवार कर साथ हो चला। बस्ती से बाहर होने पर सत्याग्रही ने उस साथी से सवाल किया—जब फौज, पुलिस के सिपाही ही घबड़ा गये तब तुम अकेले कैसे तैयार हुए ? उसने कहा—उनका डरना ठीक था। सीमापार बम्बई की सरहद से गोली चलती है। परन्तु मुझे आपके दुस्साहस को देखने की उत्सुकता हुई।

वे तीन मील चल कर उस गांव में पहुंचे जहां दाह तथा हत्याकांड हुआ था। गाँव में एक बच्चा नहीं। जले हुए घरों में से एक से आज भी कुछ-कुछ धुआं उठ रहा था। भगदड़ में जान पड़ता था एक बछड़ा खूंटे से बंधा रह गया था। सत्याग्रही ने उसे उन्मुक्त किया। निजाम राज्य का यह सीमान्त गांव था। अगला गांव बम्बई के इलाके का था। सम्भवतः यह कांड उसी गांव वालों का करतूत का परिणाम था। सत्याग्रही उसी ओर चल पड़ा। साथी जो चला था उल्टे पांव लौट गया। सत्याग्रही गांव की हद्द में पहुंचा ही था कि पुलिस के कैम्प में बिगुल बजा। बन्दूक-बन्द सिपाहियों की परेड होने लगी। सत्याग्रही सीधे वहीं पहुंचा। अपनी सारी कहानी कह सुनाई और उन्हीं का मेहमान बन ठहर गया। रात एक व्यक्ति एक हाथ में थाली थामे और दूसरे में नंगी तलवार लटकाये सत्याग्रही का खाना ले आया। पूछने पर बताया कि उस गांव में बिना हथियार कोई व्यक्ति बाहर नहीं निकलता। दो दिन तक उधर के अन्य गांवों का दौरा कर सत्याग्रही जब लौटने लगा तब बम्बई वाले हबलदार ने अपनी लम्बी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा—अगर आप जहन्नुम भी जायें तो आपके लिए कोई खतरा नहीं है, क्योंकि आपकी हर हरकत खुली है और हर बात सच्ची है।

तीसरे दिन जब निजाम राज्य के गांव की हद्द में पहुंचा तब सत्याग्रही की अगुवानी के लिए सारा गांव उमड़ पड़ा। वही अमीन साहब जो पहले दिन पैर उठाकर मेज पर धर रहे थे सबसे आगे-आगे थे और चाय-पानी के लिए अपने यहां चलने को कहा। गांव के सभी हिन्दू-मुसलमान सत्याग्रही को अपने यहां चाय पिलाने के लिए उतावले होकर अमीन साहब से झगड़ने लगे। सत्याग्रही ने कहा

—हम सबके घर चाय पियेंगे, मगर पहले अमीन साहब के घर क्योंकि सबसे पहले उन्होंने ही चाय की बात छेड़ी है। शाम तक चाय-पानी, खाना, सभा सब कुछ हुआ। गांव के हिन्दू और मुसलमानों ने मिलकर एलान किया कि वे सत्याग्रही की राय पर चलने को तैयार हैं। उनमें स्थानीय रजाकार-सालार भी शामिल थे। वह तहरीर लिख देने को तैयार हुए कि सत्याग्रही जो लिखावे उस पर सभी दस्तखत करेंगे। सत्याग्रही एक बात भी अपनी तरफ से लिखाने को तैयार नहीं। रजाकार-सालार जो वकील भी थे लिखते गये। पर आश्चर्य की बात यह थी कि सत्याग्रही अपने मन में जो बात सोचता था ठीक वही बात वकील साहब अपने मन से लिखे जा रहे थे। क्या मन को मोह लेना अथवा जीत लेना इसी को कहते हैं ? अन्त में गाँव वालों ने बैलगाड़ी जोतकर विदाई दी। जाने कैसे सब जगहों पर तार लग गया था कि लौटानी-बस में प्रत्येक अड्डे पर लोग आ-आकर सत्याग्रही से मिलने और अपना अनुराग दिखाने लगे।

ये वे दिन थे जब निजाम सरकार तथा भारत सरकार के बीच अभी कोई निर्णय नहीं हुआ था। समझौता केवल यथास्थति को कायम रखने का था। निजाम राज्य की सीमाओं पर चारों ओर भारत सरकार के सैनिक-पड़ाव पड़े हुए थे। पूरी नाकाबन्दी थी। निजाम सरकार की ओर से भी मोर्चाबन्दी जारी थी। सभी प्रमुख सीमान्त ग्रामों में रजाकारों, पुलिस और फौज तीनों के कैम्प थे। प्रायः सभी मुसलमान रजाकार सैनिक-संगठन में शामिल थे। सीमाओं पर तीन-तीन मील का क्षेत्र मानों निर्मानुष था। जिस ओर से जिसे मौका मिलता लूट-मार और मार-धाड़ का बाजार गर्म कर देता। ऐसी विकट परिस्थितियों में हमारे सत्याग्रही की यह विजय-यात्रा हुई। कैसे सम्भव हो सका ? महात्मा गांधी ने कुछ ही दिन पहले नोआखाली में पदयात्रा की थी। पश्चिम बंगाल का वह इलाका भारत के अन्तर्गत था। श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य उन दिनों बंगाल के गवर्नर थे। गांधीजी के साथ आश्रमवासियों का लाव-लशकर था। संसार-भर की आँखें उन पर लगी थीं। हमारे सत्याग्रही के दर्शक थे आकाश के सूर्य-चन्द्र तथा तारागण और धरती के पशु-पक्षी, पेड़, पात। राष्ट्रीय नेताओं ने उपेक्षा की थी क्योंकि वे सैनिक सभारम्भ में व्यस्त थे। यही नहीं, ऐसी घटनाएं और भी हुईं और इसी सत्याग्रह के कारण कम से कम ५० हजार हिन्दुओं की जानें बची हैं। एकाकी सत्याग्रही द्वारा यह सम्भव कैसे हो सका ? यह तो स्वयं भर्तृहरि से सुन लीजिए :

बने रणे शत्रु जलाग्नि मध्ये महार्णवे पर्वत मस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि॥

लगे हाथ एक अनपढ़ सत्याग्रही की करामात की कहानी भी सुन लीजिए—

गणपतसिंह एक साधारण किसान का बेटा। अनपढ़। अवध से बम्बई गया। किसी मिल में काम पर लगा। सच्चा था, मेहनती था। अच्छी तरक्की की। सौ-सवा-सौ महीना पाने लगा। गांधीजी का नमक-सत्याग्रह चला। सच्चा आदमी स्वतन्त्रता संग्राम से अलग-थलग कैसे रहता? नमक-सार पर धावा बोल दिया। लाठी चली। नौकरी गयी। घर लौटा। जिला-शहर जाकर विदेशी दुकानों पर धरना दिया। जेल के कई फेरे लगाये। अभी स्वराज दूर था। कांग्रेस में धड़ेबंदी चली उस जमाने में भी। बात १९३६ की है। कई धड़े बदले। दिल बेकल हुआ। घर गया। घरवाले नाराज। एक लुंगी, ओढ़नी के साथ, रामायण की पोथी बगल में दबा रास्ता नापा। चलते-चलते किसी दूसरे जिले में एक बड़े ऊसर में पहुंचा। दुपहरी की धूप थी। ऊसर में एक-ही-एक महुए का पेड़ खड़ा था। उसी के नीचे बैठ गया। एक, दो, तीन दिन बीत गये बिना दाना पानी के। उठने को मन न माने। अड़ोस-पड़ोस के गांव वालों ने यह देखा तो बाबा को ऊसर में महुए के तले रोटी-पानी पहुंचाने गये। गणपत बाबा ने गांव वालों से एक सब्बल और एक टोकरी मांग ली और लगा खोदने ऊसर में तालाब। अकेले बाबा ने तलाव खोद डाला। उसी मिट्टी का ईंटा बनाया। तालाब पक्का हो गया। फिर मन्दिर बनना शुरू हुआ। मन्दिर बनकर तैयार हो गया तो धर्मशाला, फिर स्कूल की बारी आयी। चारों ओर के बच्चे पढ़ने लगे। दवादारू के लिए अस्पताल भी बनने जा रहा था। पुराने साथी थे। पता लगाकर हम वहाँ पहुंचे एक दिन कड़ी धूप में। बाबा बाहर ही बैठ रोटी खा रहे थे। बाबा ने पहचाना नहीं, तो हम भी हाथ जोड़कर बैठ गये। खाने से फारिग होकर पूछा, कौन हो, कहां से आए? हमने जो ज़बान हिलायी तो उठकर गले मिले और सारा किस्सा कह सुनाया। तुलसीकृत रामायण के दोहे-चौपाइयों को जोड़-जोड़कर पढ़नेवाले अपढ़ गणपत में वह शक्ति कहां से आई कि 'भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानम्, चरितार्थ कर दिखाया।

एक गणपत बाबा क्या, जितने शहर-गाँव बसे हैं, उन सबकी यही कहानी है। आज के आबाद इलाके कल के बीहड़ जंगल ही हैं। हिमालय पर्वत पर ऊपर और ऊपर चढ़ जाइए और कैसे-कैसे बीहड़ पहाड़ों पर कैसे-कैसे सुन्दर 'पुर' बने हैं। हमारे साधन-विहीन पूर्वजों के साहस-दुस्साहस की कल्पनामात्र से अंग-प्रत्यंग रोमांचित हो जाता है। भारतीयों की वह अपूर्व प्रतिभा कहाँ लुप्त हो गई? युवको उठो, खोज लाओ जहां कहीं है उसे! उस खोज में स्वयं अपने को खो डालो। पहाड़ों की नुकीली चोटियों पर, मैदानों में दूब की जड़ों में, धरती के परत में, अथाह सागर में, अपार आकाश में और स्वयं अपने में उसकी खोज

करो। विश्वविद्यालयों में पुस्तकों के पन्ने-के-पन्ने आपने उलट दिये। अब इस सुविशाल भारत के पेड़-पेड़ की पत्ती-पत्ती में पढ़कर देखो। भूमंडल को अपने नंगे पाँव से नाप कर देखो। मानव-मानव के मन को टटोलो और अपने मन के पटल खोल डालो।

अन्त में एक बात मात्र। भर्तृ हरि ने जन्म-जन्मान्तर और स्वर्ग-पाताल की बातें कहकर 'नीतिशतक' को इसी जन्म और इसी धरती की बात पर समाप्त किया है। और यही सर्वसाधारण के लिए सरलतम साधना है और स्वानुभूति का मार्ग है। स्नानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे !

दशम दशक का सारांश

श्लोक ६१—देवी-देवता नहीं वरन् कर्म ही अराधनीय है।
" ६२—ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी कर्म के अधीन हैं।
" ६३—सत्कर्मरूपी भगवती ही पूजनीय है।
" ६४—सांसारिक सुख के लिए भी सत्कर्म ही आलम्ब है।
" ६५—कर्माचरण में फलाफल का विचार अवश्यकीय है।
" ६६—जो मानव तप न करे वह बड़ा अभागा है।
" ६७—चाम, चापलूसी नहीं फलती वरन् तपस्या ही फलती है।
" ६८—किये जाओ, होनहार किसी के टाले न टले।
" ६९—विपरीत परिस्थितियों में भी पूर्वपुण्य ही पोषण करते हैं।
"१००—कर्मवीर वन को नगरी तथा जंगली को सभ्य नागरिक बना लेता है।

शृंगार शतक

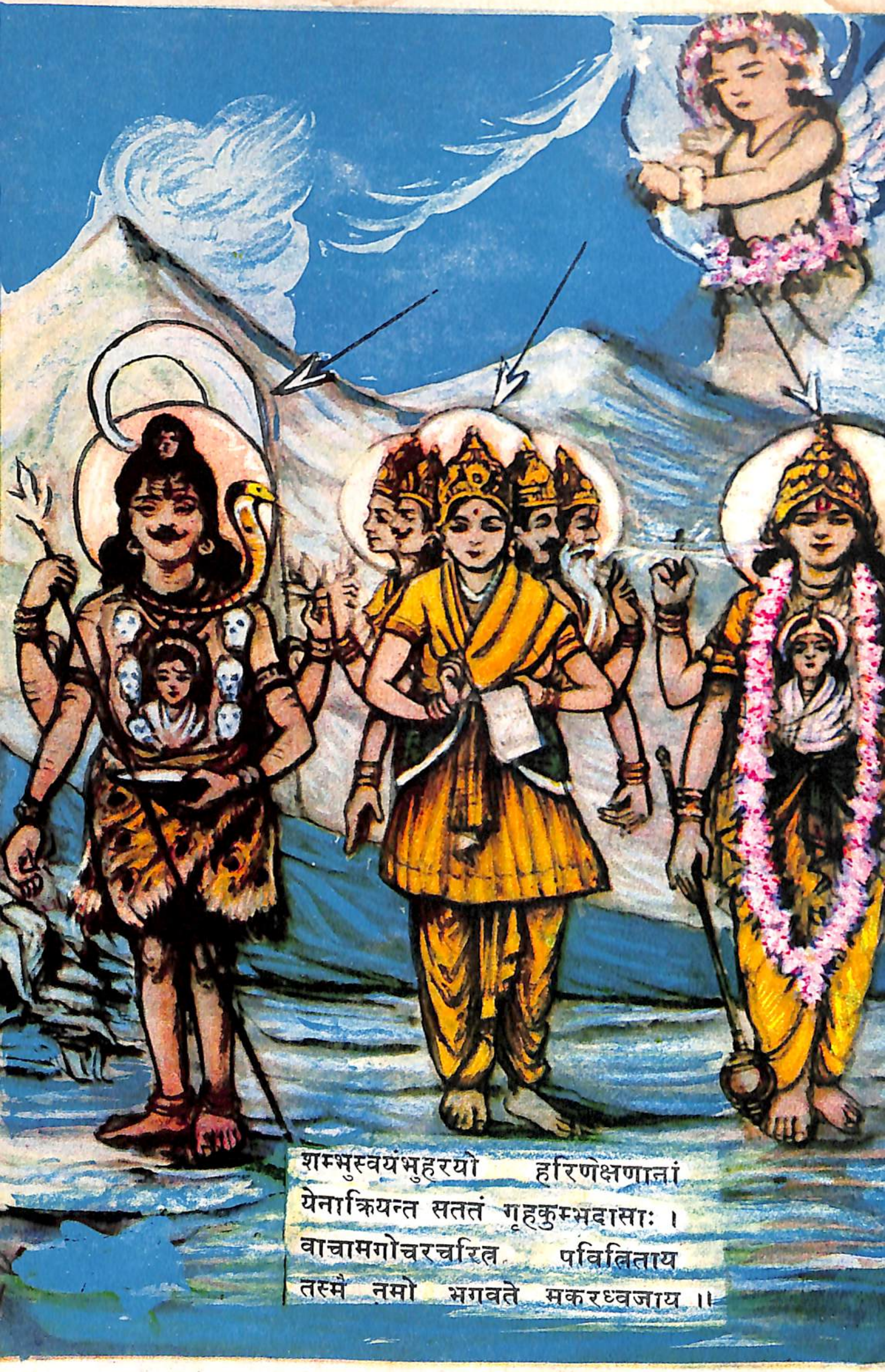

शम्भुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानां
येनाक्रियन्त सततं गृहकुम्भदासाः ।
वाचामगोचरचरित पवितिताय
तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय ॥

श्लोक १

शम्भुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानां
येनाक्रियन्त सततं गृहकुम्भदासाः ।
वाचामगोचरचरित्र पवित्रिताय
तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय ॥

शब्द विच्छेद

हरिणेक्षणानां=हरिण+ईक्षणानां
येनाक्रियन्त=येन+अक्रियन्त
वाचामगोचर=वाचाम्+अगोचर

शब्दान्वय

शम्भु स्वयंभु हरयः येन हरिण ईक्षणानां
सततं गृह कुम्भदासाः अक्रियन्त
तस्मै वाचां अगोचर चरित्र पवित्रिताय
मकरध्वजाय भगवते नमः ॥

शब्दार्थ

शम्भु=शंकर
स्वयंभु=ब्रह्मा
हरयः=विष्णु
येन=जिस भगवान मन्मथ के द्वारा
हरिण=हिरन की सी
ईक्षणानां=आंखों वाली स्त्रियों के
सततं=सदा
गृह=घरों पर
कुम्भ=पानी के घड़ों के
दासा=चाकर, सेवक, अर्थात् पानी भरने वाले, घरेलू चाकर
अक्रियन्त=बना दिये,
तस्मै=उस
वाचां=जीभ के द्वारा
अगोचर=न पाने योग्य

चरित्रिताय=आचरण वाले	भगवते=भगवान को अर्थात् कामदेव को
पवित्र=शुद्ध, पाप रहित	नमः=प्रणाम है।
मकरध्वजाय=मगर की ध्वजा वाले, जिसके झंडे पर मगर का चित्र हो,	

भावार्थ

जिस कामदेव ने सकल संसार के सिरजनहार, पालनहार, तारनहार भगवान ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को भी अपनी-अपनी पत्नी के लिए पानी भरने और घरेलू चाकरी करने पर लगा दिया, उस अगोचर तथा परम पावन मन्मथ भगवान को मेरा प्रणाम है।

विशेषार्थ

भर्तृहरि ने अपने 'श्रृंगार शतक' के मंगलाचरण में मन्मथ भगवान की महिमा गायी है। शक्ति भगवान की प्रतीक है। प्रत्येक शक्ति का एक नाम है और उसका एक काम। कामदेव भी उसी भगवान के प्रतीक हैं और कामवासना उसी की एक शक्ति। यह शक्ति इतनी बलवती है कि इसे पराशक्ति ही कहना चाहिए। तभी तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर को उसके वशीभूत होना पड़ा। सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी है, परन्तु ब्रह्मा ने उन्हें अपनी जीभ पर बिठा रखा है। पत्नी की इच्छा के बिना ब्रह्मा को अपनी जीभ हिलाने का अधिकार नहीं है। चराचर जगत के सिरजनहार को प्राणी मात्र के भाग्य की प्रेरणा भगवती सरस्वती से प्राप्त होती है। विष्णु भगवान संसार के पालनहार हैं, पर उस परम दयालु ने अपनी लक्ष्मी को हृदयासन पर बिठा रखा है। लक्ष्मी डोलायमान होती है तभी उस दयासागर के हृदय में हिलोरें उठती हैं और जगत का कल्याण होता है। तारनहार शंकर, पत्नी पार्वती को जिह्वा, हृदय न कहकर सारे शरीर पर धारण कर अर्धनारीश्वर बन गये हैं। श्मशान भूमि में बसकर भभूत रमानेवाला पत्नी को पीठ ही पर लाद चलेगा। संसार-भर के ये कर्त्ता, धर्त्ता, विधाता अपनी-अपनी पत्नी की चाकरी करते हैं और उनके इशारों पर चलते हैं और तभी वे सृजन, धारण और संहार के अपने-अपने नियत कर्त्तव्यों का निभाव कर पा रहे हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर संसार-भर के कर्ता-धर्ता हैं, पर घर पर वे अपनी-अपनी पत्नी के निरे चाकर हैं, स्वामी नहीं सेवक हैं। यों तो चाकरी को निकृष्ट माना गया है। क्या सचमुच सेवा करना नीचता का द्योतक है? ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर

को संसार बड़ा मानता है क्योंकि वे संसार-भर की सेवा करते हैं, और सेवा करते हैं अपने आप। किसी के कहे पर नहीं लगे हैं वे अपने सेवा-कार्यों पर। अर्थात् वे स्वयं-सेवक हैं। सभी महापुरुष सेवा को अपना लेते हैं और महात्मा की पदवी पाते हैं। नेता, महात्माओं की क्या, साधारण सेवा-समिति के स्वयं-सेवकों को भी लोग आदर की दृष्टि से देखते हैं। अतः सेवक-चाकर आदरणीय हैं। हां, यह सच है कि सेवा और स्वार्थ दोनों साथ-साथ चल नहीं सकते। निस्वार्थ सेवक ही अन्त तक पनपते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर संसार की एकदम निस्वार्थ सेवा किये जा रहे हैं और तभी संसार उन्हें मान्यता दे रहा है। सर्वमान्य होने पर क्या वे स्वपत्नी को तुच्छ समझें? सच्चे और निस्वार्थ सेवक ऐसी नीचता कभी नहीं कर सकते। इसीलिए ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर जिस प्रकार संसार-भर की सेवा करते हैं उसी प्रकार अपनी-अपनी पत्नी की सेवा करते हैं। पानी भरना ही क्या बर्तन मांजने, खाना पकाने, साड़ी धोने, यहां तक कि मलमूत्र उठाना पड़े तो उसके लिए भी तैयार, शायद, रहते ही हैं। परन्तु यहां सेवा के साथ सम्मान का भी संकेत है। ब्रह्मा ने सरस्वती को जीभ पर आसन दे रखा है, विष्णु ने लक्ष्मी को हृदय में बिठा रखा है और महेश्वर पार्वती की खातिर अर्धनारीश्वर बने हुए हैं। क्यों न हो, त्रिमूर्तियों का पत्नियों के साथ अपना-अपना स्वार्थ भी जुड़ा हुआ है। वे संसार की सेवा करते हैं पर इन संसारियों के साथ वे अपना स्वार्थ नहीं रखते। उनसे कोई प्रतिफल नहीं चाहते। इसलिए उन्हें संसार को सम्मान देने का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु उन त्रिमूर्तियों का पत्नियों के साथ स्वार्थ का सम्बन्ध है, इसीलिए वे पत्नियों के प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित करते हैं। दो बातें एकदम स्पष्ट हो गयीं। पहली बात यह कि स्वयं-सेवक बनकर सच्ची सेवा करें तो संसार उनका आदर-सत्कार करेगा। दूसरी बात यह है कि यदि स्वार्थ की पूर्ति के लिए सेवा-वृत्ति अपनाते हो तो स्वामी की सेवा भी करो और उसका सम्मान भी करो। जनता-राज्य में जनता की सेवा तथा सम्मान दोनों करना चाहिए।

सम्मान की बात है, इसलिए यहां इसका भी स्पष्टीकरण हो जाये। सम्मान मन से करना चाहिए, दिखावे का नहीं। ब्रह्मा सरस्वती का सम्मान करते हैं इसलिए सदा सत्य ही उनके मुख से निकलता है। सत्य केवल जबान हिलाने तक सीमित नहीं है। ब्रह्मा ने लेखनी से जिसके ललाट पर जो लिखा वह सिद्ध होकर रहेगा। इसी प्रकार विष्णु के हृदय की स्वामिनी लक्ष्मी है और लक्ष्मी का स्वभाव चंचल है। लक्ष्मी धन की स्वामिनी है। इसीलिए विष्णु भगवान अपने-पराये का भेद-भाव न कर सबके यहां लक्ष्मी अर्थात् धन भेज देते हैं और सबका पालन-पोषण

करते हैं । विष्णु संसार के साथ कृपणता नहीं बरत सकते । महादेव जी भभूत रमाये घूमते हैं पर पत्नी को नंगी नहीं रखते । पार्वती को वस्त्राभूषण की कोताही नहीं है । भोलेनाथ के मन में महिला के प्रति इतना आदर है । यह स्पष्ट रहे कि लक्ष्मी, शक्ति, सरस्वती, क्रमशः धन, सत्ता तथा ज्ञान के स्रोत हैं और ये स्रोत सबके लिए खुले हुए हैं । ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर इन स्रोतों को सदा-सर्वदा स्रावित रखते हैं और सबके लिए रखते है । परमपिता परमात्मा तो आत्मीयता से भी आगे बढ़ कर पत्नी को आदर-सत्कार की अधिकारिणी मानते हैं । पशु-पक्षियों में भी अपनी-अपनी जोड़ी के साथ कुछ ऐसा ही व्यवहार देखने में आता है । तब मानव का क्या कर्त्तव्य है स्वपत्नी के प्रति ? उत्तर के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं । पति, पत्नि दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं और दो भिन्न प्राणियों को सूचित करते हैं । भले ही शब्द दो हों, शरीर भी दो हों, परन्तु शब्दार्थ दोनों का एक ही है । 'पति' का शब्द लिंग-भेद से पत्नी बन गया । पति के माने मालिक, तो पत्नी के माने मालकिन । यह मेरी पत्नी है, इसका मतलब है यह मेरी मालकिन है । ब्रह्मलोक, विष्णुलोक तथा शिवलोक में भी हमने देख लिया पतियों पर पत्नियों का प्रभुत्व है । वहां ब्रह्मा, विष्णु, महादेव को सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती की इच्छानुसार व्यवहार करना पड़ता है और तभी वे तीनों लोकों के ईश-महेश बने हुए हैं । इसी प्रकार हमारे इस मानव-लोक में भी महिला का राज चले तो शायद संसार सुखी रहे । संसार को छोड़ो, घर की बात करो । पत्नी को घर की और अपनी मालकिन मानो । उसके कहे अनुसार चलो । गृह-लक्ष्मी पत्नी को बाल-बच्चों के पालन-पोषण में अभाव का अनुभव न होने पाये । भले ही अपने को आधा खाना-पहनना पड़े, पर मालकिन को खुश रखो । बीमारी, लाचारी में पत्नी की भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवा करने का अवसर आवे तो इसमें अपना सौभाग्य मानो । पुरुष का पुरुषत्व इसी में है । पुरुषोत्तम कहाने का सरल उपाय है ब्रह्मा, विष्णु, महेश के आदर्शों का अनुसरण । पत्नी की बात न काटो तो पति की बात चलेगी, पैसे-टके की पासवानी पत्नी करे तो अड़ोस-पड़ोस में आडम्बर बना रहेगा । मन मारकर अर्धांगिनी का मान रखोगे तो समाज में मर्यादा बनी रहेगी । अंग्रेजी शब्द का 'बेटर-हाफ' को शंकर भगवान ने चरितार्थ किया है, यह बात हम लोग भलीभांति जाने रहें ।

यह श्रृंगार शतक है । सो, यहां महिला की महिमा है । भर्तृहरि ने 'श्रृंगार शतक' के मंगलाचरण में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की दशा को दर्शाया है । संसार के कर्ता-धर्ता भी पत्नियों के सहयोग मात्र से पूर्णता को प्राप्त हो सके हैं और अपने-अपने नियत कर्म में उत्तीर्ण हो रहे हैं । हम साधारण मानव भी अत्यन्त तुच्छ होते

हुए उतने ही उच्च भी हैं। सृजन, पालन हम लोग भी कर रहे हैं और संसार को चला रहे हैं। पर सच्ची बात यह है कि सहधर्मिणी के सहयोग से ही हमारा बेड़ा पार लग रहा है। वैसे भी प्रजनन और पालन-पोषण में पत्नी ही प्रमुख है। यदि पुरुष, स्त्री के प्रजनन पोषण में सुविधाएं उपलब्ध न करे तो सम्भव है कि स्त्री रुद्र रूप धरकर संहारकारिणी सिद्ध हो जाए। जो डर गया, वह पलायन कहां करेगा ? मकरध्वज के चक्कर से कोई कैसे बच सकेगा ? कामदेव की ध्वजा पर मगर का चित्र है। मगर के दांतों में फंसकर कौन छुटकारा पा सकता है ? मगर से डरोगे जरूर, मगर मन्मथ के कुसुम-बाण मन को मोह लेते हैं। मन्मथ की महिमा अगम है, अगोचर है। अस्तु, पत्नी के साथ प्रेमपूर्वक निर्वाह के बिना निस्तार का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

अन्त में, कामदेव अगोचर जरूर हैं, पर चोर नहीं हैं कि छिपे पाप में रत रहें। वे परम-पवित्र और पावन-चरित हैं। स्वयं सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। काम-वासना में कलंक का अंश कहां से आ सकता है ? यहां तो शरीर का क्लेश अशेष हो जाता है और मन का कलंक धुल जाता है। दो भिन्न-भिन्न शरीर एकरूप होकर एकात्मा बन जाते हैं। उस स्थिति को परमात्मा में लीन होने के समान भले ही न मानें, पर परमानन्द के अनुभव में कौन कमी रह जाती है ? क्या क्षणिक आनन्द, शाश्वत आनन्द की भूमिका नहीं है ? प्रकृति और पुरुष में अंतर कहां है ? आदि शक्ति का प्रादुर्भाव पहले हुआ या आदि पुरुष की आत्मा का ? परमात्मा अगोचर है पर प्रकृति प्रत्यक्ष है। प्रकृतिं सुन्दर है और नारी का सौंदर्य सर्वोपरि है। परमात्मा सशरीर सामने न आ सका इसलिए अपने-आपको स्त्री के सुन्दर स्वरूप में ढालकर संसार में भेज दिया। परमात्मा सबको प्यारा है, इसीलिए पत्नी सबसे प्यारी है और प्यार पाप से सर्वथा परे है। प्यार से पत्नी की सेवा करो सुख पाओगे, शक्ति से करो तो मुक्ति मिलेगी। मुक्ति, मोक्ष के सम्बन्ध में पतिव्रता की बहुत-सी कहानियां सुनाई जाती हैं, परन्तु भर्तृहरि ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश का उदाहरण देकर पुरुषों को पत्नीव्रत का पाठ पढ़ाया है और बताया है कि भारयीय संस्कृति में नारी का कितना ऊंचा स्थान है; विद्या, धन और पराक्रम का स्रोत नारी है।

श्लोक २

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया पराङ्मुखैरर्धकटाक्षवीक्षणैः ।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियाः ॥

शब्द विच्छेद

पराङ्मुखैरर्ध=पराङ+मुखैः+अर्ध
वचोभिरीर्ष्या=वचोभिः+ईर्ष्या

शब्दान्वय

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया पराङ्मुखैः
अर्ध कटाक्षवीक्षणैः वचोभिः ईर्ष्या कलहेन लीलया
समस्त भावेन स्त्रियः बन्धनं खलु ॥

शब्दार्थ

स्मितेन=मुस्कान से
भावेन=हाव-भाव से
च=और
लज्जया=लज्जा से
भिया=भय से
पराङ्मुखैः=मुँह फेरकर
अर्ध=अध-खुली
कटाक्ष=कनखियों की
वीक्षणैः=नजर से

वचोभिः=बातों से,
ईर्ष्या=डाह से,
कलहेन=रूठन से
लीलया=प्रसन्नता से (इस प्रकार)
समस्त=सभी
भावेनः=भावों से
स्त्रियः=औरतें
बन्धनं=बांध लेती हैं,
खलु=यह निश्चित है

भावार्थ

कभी मन्द-मन्द मुस्करा कर और कभी चटक-मटक दिखला कर, कभी लजाकर और कभी भयभीत होने का अभिनय कर, कभी मुंह फेरकर और कभी कनखियों से ताक कर, कभी प्यार-भरी बात कर और कभी डाह-भरी तकरार कर, कभी तरह-तरह की अठरखेलियां

कर और न जाने क्या-क्या हाव-भाव दिखाकर प्रियाएं प्रेमियों को प्रेम-बन्धन में बांध रखती हैं।

विशेषार्थ

मुस्कराएं या मुंह पिचकाएं, भौं तरेरें या हाथ मटकाएं; लज्जा दिखाएं या भय का अभिनय करें, मुंह फेर लें या तिरछी चितवन से देखें, मीठे बोल बोलें या कड़वी सुनाएं, अठखेली करें या समयोचित लीला करें, सभी अवस्थाओं में प्रेम ही प्रेरक है। प्रेम का मन से सम्बन्ध है, इसलिए मन बरबस उसी ओर प्रेरित होता है। प्रेम की डोर के छोर बाराबर दूर-दूर भले ही हों, पर एक ओर से दूसरी ओर तक सूत लगे-बंधे होते हैं। डोर में ढील, तान आ जाय, पर अलगाव नहीं होता, बल्कि ढील की अपेक्षा तान की पकड़ तगड़ी पड़ती है। यही कारण है कि मुस्कान की अपेक्षा मुंह बिचकाने में अधिक आनन्द का अनुभव होता है। इसी प्रकार आंखें चार होने की अपेक्षा तिरछी चितवन में, और लजाने, भयभीत होने और हुज्जत करने में मजा अधिक आता है। अनमेल हाव-भाव मेल के कारण बनें, यह भी एक विचित्रता है। पर यह क्या कम विचित्रता है कि स्त्री-पुरुष के अंग-प्रत्यंग भिन्न होते हुए भी अभिलाषा तथा अनुभव करें, अभिन्नता और आत्मीयता का।

किसी का पक्षपोषण नहीं, किसी के साथ पक्षपात नहीं। कामदेव मन्मथ क्या केवल पुरुष का ही मन मथ डालता है। क्या स्त्री के मन है ही नहीं ? नारी की उपरोक्त चेष्टाएं जो पुरुष की ओर से भी हो सकती हैं, उनका प्रभाव स्त्री के मन पर पड़ेगा ही। परन्तु कुछ हो उस प्रभाव का वेग मन की शुद्धता के अनुरूप होगा। प्रेम की डोर छोर-छोर एक हो जाय यही असली चीज है।

डोर के छोर की बात। कितने तागों के कितने तिनके मिल-मिलाकर डोर बनती है। प्रेंम की डोर को भी कई मंजिलें तय करनी होती हैं। सुनना-सुनाना, देखना-दिखाना, बोलना बताना, आंखों से आंकना, कनखियों से परखना, रीझकर पहचानना, और रूठकर जांच करना, ऐसी अनेकों अटपटी बातें होती हैं, और करनी पड़ती हैं, झेलनी पड़ती हैं। परन्तु मन में एक बार प्रेमांकुर झलकने के बाद ही यें सब बातें होती हैं। इसलिए इस राह की कठिनाइयां जितनी कड़ी होती हैं, उसके पीछे प्रेम उतना ही गाढ़ा और गहरा होता है। स्त्री-पुरुष के झगड़ों में प्रेम की गहराई देखते ही बनती है।

यों यौवन को प्रेम का आगार माना जाता है, परन्तु श्लोक में जिन लक्षणों का वर्णन है यौवन काल से वृद्धावस्था तक की सम्मिलित हैं। प्रेम की परीक्षा में सौ प्रतिशत नम्बर पाना जरूरी है। तिहाई चौथाई नम्बर पाकर, अव्वल, द्वयम

बनने की छूट नहीं है। और यह परीक्षा भी एक बार पास होकर जीवन-भर डिपलोमा ढोये जाने की नहीं है। यह बरस के बारहों मास रात-दिन की परीक्षा है। शेर-होल्डरों की लिमिटेड कम्पनी नहीं है यह। यह सौदा आजीवन एकाधिकार का है, पुरुष के लिए भी, स्त्री के लिए भी। नवजवानों से कहीं बढ़कर बूढ़े-बूढ़ियों में डाह, तकरार जोरदार होती है।

अन्त में बन्धन की बात। स्त्री हो अथवा पुरुष, उनमें मानवोचित गुण विद्यमान होते ही हैं और उन गुणों की विलक्षणता आकर्षणीय होती है। यदि ये विलक्षण गुण ही बंधन के कारण बन जायें तो इसमें बुराई क्या है ? मानव जन्म लेने के बाद प्रत्येक स्त्री को किसी-न-किसी पुरुष के साथ और प्रत्येक पुरुष को किसी-न-किसी स्त्री के साथ बंधन में पड़ना ही पड़ता है। यदि यह बंधन किसी विशेष गुण के कारण हो तो बन्धन और पक्का हुआ। अटूट बन्धन की कामना ही सब लोग करते हैं।

साधारणतया यही कहा जायेगा कि बंधन किसी प्रकार का भी क्यों न हो, वह बन्धन है, बुरी चीज है। स्वच्छंदता वांछनीय है। फंदा किसी को पसन्द नहीं। मगर सच्ची बात यह है कि बन्धन से मुक्त कोई हो नहीं सकता। समाज में सभी लोग फंदों में फंसे रहते हैं। जितना बड़ा उन्नत समाज होगा उतने ही अधिक फंदे। और उस समाज में जितना बड़ा व्यक्ति होगा उसके गले में उतने ही अधिक फंदे पड़े होंगे। समाज में स्वतंत्रता सीमित होती है। सीमा का उल्लंघन किया कि समाज का शीराजा बिखरा और सबकी शान्ति भंग हुई। सारा कारोबार ठप्प। सामाजिक अराजकता, राजनीतिक अराजकता से अधिक घातक होती है। स्त्री-पुरुष ही तो समाज को बनाते हैं और उसकी सीमाएं बांध देते हैं। सभी स्त्री-पुरुष समाजरूपी विशाल बन्दीगृह में कैदियों की तरह रहते हैं, परन्तु प्रसन्न रहते हैं और स्वच्छंदता से विचरते हैं। इतने बड़े जेलखाने की चाबी स्त्री-पुरुषों का अन्योन्य आकर्षण है। भगवान ने बंधन को आकर्षण की वस्तु बना दी। नहीं तो न जाने दुनिया में और क्या-क्या कोलाहल मचते। पत्थर का युग गया। धातु का युग गया। भाप-बिजली-युग से समाज आगे बढ़ गया। मानव के जीवन और चिंतन का ढांचा ही बदल गया, पर परस्पर आकर्षण एक दम ज्यों की त्यों कायम है। परमपिता परमात्मा धरती के युगल किशोरों के परस्पर आकर्षण पर कभी आंच आने नहीं देगा।

श्लोक ३

भ्रू चातुर्यात्कुंचिताक्षाः कटाक्षाः
स्निग्धा वाचो लज्जितान्ताश्च हासाः
लीला मन्दं प्रस्थितं च स्थितं च
स्त्रीणामेतद्भूषणं चायुधं च ।।

शब्द विच्छेद

भ्रूचातुर्यात्कुंचिताक्षाः = भ्रूचातुर्यात् + कुचित + अक्षाः
कटाक्षाः = कट + अक्षाः
लज्जितान्ताश्च = लज्जित + अन्ताः + च
स्त्रीणामेतद्भूषणं = स्त्रीणाम् + एतत् + भूषणं
चायुधं = च + आयुधं

शब्दान्वय

भ्रूचातुर्यात् कुंचित अक्षाः कटाक्षाः स्निग्धाः वाचाः
लज्जित अन्ताः हासाः लीला मंदं प्रस्थितं स्थितं च
एतत् स्त्रीणाम् भूषणम् आयुधं च ।

शब्दार्थ

भ्रू = भवों के
चातुर्यात् = नचाने से
कुंचित = सिकुड़ी हुई
अक्षाः = आंखों की
कटाक्षाः = तिरछी नजरें
स्निग्धाः = चिकनी-चुपड़ी
वाचः = बातें
लज्जित अन्ताः = शर्माया मन
हासाः = मुसकानें
लीला = लुभावनी
मन्दं = धीमी
प्रस्थितं = चाल-चलना
स्थितं = रुक जाना
च = और
एतत् = ये सब
स्त्रीणाम् = युवतियों के लिए
भूषणम् = आभूषण (भी हैं)
आयुधं च = (और) हथियार भी (हैं)

भावार्थ

चतुराई से भवें नचाकर, पलकें झपकाकर तिरछी नजरों से ताकना, चिकनी चुपड़ी बातें बनाना, लजीली मुस्कान करना, लीला करते हुए धीमे-धीमे पग बढ़ाना और थम जाना, स्त्रियों के ये सभी स्वाभाविक गुण एक ओर आभूषण बनकर उनकी शोभा बढ़ाते हैं तो दूसरी ओर हथियार बनकर पुरुषों को घायल करते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में स्त्री पुरुषों के परस्पर आकर्षित होने तथा प्रेमपाश में बंध जाने की बात कही गयी थी। इस श्लोक में आकर्षण का विवरण देते हुए बंधन के ध्रुवीकरण की बात कही गयी है। आकर्षण के लिए आभूषण और बंधन के लिए अस्त्रों के अधिकरण का वर्णन है। आभूषण और अस्त्रायुध दो भिन्न वस्तुएं हैं। आभूषण से आंखें तृप्त होती हैं और आकर्षण अधिक हो जाता है किन्तु प्रतिपक्षी के शरीर पर शस्त्रास्त्र को देखते ही मानव पीछे हटता है या क्रोध से भर जाता है। रणांगण में ऐसा होता होगा, पर प्रेमांगण में इसके विपरीत होता है। यहां आभूषण तथा अस्त्र भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं। श्लोक में जिन वस्त्राभूषण का वर्णन है वे साधारण आभूषणों तथा शस्त्रास्त्रों से भिन्न हैं, जो किसी सोने-चांदी या लोहा-फौलाद से बनते हैं जिन्हें बाहर से लाकर शरीर पर लादते हैं। असलियत कुछ हो या न हो, दिखावा जरूर होता है। प्रेम के बाजार में दिखावे से सौदा नहीं पटता। प्रेम में बाहर की वस्तु तथा बाहरी दिखावा निषिद्ध है।

स्त्री-पुरुषों में वे क्या बातें हैं जो साथ-साथ आभूषण भी और अस्त्र भी हैं, और जो आकृष्ट करने तथा आक्रमण करने में समान रूप से सक्षम हैं? वे कोई अद्‌भुत वस्तुएं नहीं हैं। वह शरीर के साधारण अवयव मात्र हैं जो जन्मना सबको प्राप्त हैं। आंख, मुंह, हाथ, पांव आदि, बस और कुछ नहीं। इनमें एक भी ऐसी नहीं है जिन्हें बनाया किसी और ने हो और शरीर पर लाद लिया किसी और ने। किसी का दिवाला खसकाकर अपनी दिवाली मनाने की बात भी नहीं है। अपना हो तो क्या हुआ? आज है कल नहीं रहेगा, यहां इसका भी डर नहीं है। आंख से ताको, मुंह से बोलो, हाथ हिलाओ, पैर चलाओ, इसमें घाटे का खटका एकदम नहीं है। आंख में केवल देखने की क्षमता है। मुंह में मात्र बोलने-हंसने की और हाथ-पांव में चलने-चलाने की। बनानेवाले ब्रह्मा ने इन्हें एक-एक काम के लिए बनाया। परन्तु प्रेम का सामर्थ्य तो देखिए, इन इन्द्रियों में से प्रत्येक इन्द्रिय में

पंचेन्द्रिय को समो देता है। यहां आंखें भी बोलती हैं, हाथ भी हंसते हैं और पैर भी सुनते, सूंघते हैं। परमात्मा की योग-साधना मन की बंदरिया को बांध रखने में असमर्थ है, परन्तु प्रेम में शरीर के सारे अवयव, इन्द्रिय, मन और बुद्धि समेत एकाग्रता की पराकष्ठा को प्राप्त होते हैं और श्लोक में जिस स्पर्श, गंध का वर्णन नहीं है, पारदर्शी बनकर उनका भी आनंद लेते हैं। यह है उन अलौकिक आभूषणों का चमत्कार।

भ्रूचातुर्य, कटाक्ष वीक्षण, मंद मुस्कान, अवयव चालन जहां आकर्षणीय आभूषण हैं वहां अमोघ अस्त्र भी हैं। लगता है कि अण्वास्त्र हैं कि जहां तक नजर पड़ी तहां तक सभी अस्त-व्यस्त हैं। नहीं, ये तो अण्वास्त्र से भी बढ़े-चढ़े अस्त्र हैं। गुलेल का कंकड़, कमान का तीर, बंदूक की गोली, हवाई जहाज का बम, जो छूटा तो छूटा, फिर हाथ नहीं आता। परन्तु ये नजर के तीर और ये मुस्कान के बम सबको घायल भी करते हैं फिर भी अपनी जगह बने रहते हैं। सचमुच यह महात्मा गांधी के अहिंसक अस्त्र हैं जिसे घायल करते हैं वास्तव में उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। यहां अस्त्रों का गिला नहीं। निरस्त्रीकरण का झगड़ा नहीं। मन चाहता है कि यह रगड़ा यों ही बना रहे। सत्यानाश हो जानलेवा हथियारों और हत्यारों का और सदा बना रहे ये मदनोन्मत्त शिकारी और उसके मनमोहक अस्त्र-शस्त्र जो शिकार को एकदम मोह लेते हैं। प्रेमनगर की राह में सहमे-सहमे रहना पड़ता है। जहां संभले मानो वहीं फिसले। यही कारण है आभूषण के अस्त्रशस्त्र बन जाने का।

आभूषण की जगह आज फैशन ने ले रखी है। सुनार आदि कारीगरों की जगह नाई और टेलर मास्टर ने ले रखी है। मंदहास को अट्टहास ने हथिया लिया है और कोमलता को कर्कशता ने। हरित अरुणाम्बरों को त्याग दिगम्बरा भी बन जायें तो अवांछनीय क्यों मानें? गिरि कन्या पार्वती तपस्विनी बनकर महादेव शिव को प्रसन्न भी करती हैं, अर्धनारी बनकर संग-संग बिचरती हैं और काली चण्डी चामुण्डी बनकर उसी रुद्र भगवान् को पैरों तले रौंद भी डालती हैं। जब यह सब कुछ हो सकता है तो आभूषणों के अस्त्र बनने में कौन आश्चर्य है।

श्लोक ४

क्वचित्सभ्रू भङ्गैः क्वचिदपि च लज्जापरिगतैः
क्वचिद्भीतित्रस्तैः क्वचिदपि च लीलाविलसितैः ।
कुमारीणामेतैर्मदन सुभगैर्नेत्रवलितैः
स्फुरन्नीलाब्जानां प्रकरपरिकीर्णा इव दिशः ॥

शब्द विच्छेद

क्वचित्सभ्रूभङ्गैः=क्वचित्+सभ्रूभंगैः
क्वचिदपि=क्वचत्+अपि
क्वचिद्भीतित्रस्तैः=क्वचित्+भीतित्रस्तैः
कुमारीणामेतैर्मदन=कुमारीणाम्+एतैः+मदन
सुभगैर्नेत्र=सुभगैः+नेत्र
स्फुरन्नीलाब्जानां=स्फुरत्+नील+अब्जानां

शब्दान्वय

क्वचित् सभ्रूभंगैः क्वचित् अपि च लज्जा परिगतैः
क्वचित् भीतित्रस्तैः क्वचित् अपि च लीला विलसितैः
मदन सुभगैः कुमारीणाम् नेत्र वलितैः
स्फुरत् नील अब्जानां दिशः प्रकर परिकीर्णा इव ।

शब्दार्थ

क्वचित्=कहीं, कभी
सभ्रूभंगैः=भवें नचाती हुई,
क्वचित् अपि=फिर कभी कहीं
च=और
लज्जा परिगतैः=लाज से घिरकर,
क्वचित्=कहीं
भीतित्रस्तैः=भयभीत होकर
क्वचित् अपि=कहीं
लीला=सरल सहज
विलसितैः=प्रसन्नता से

मदन सुभगैः=कामरूपी
कुमारीणाम्=कन्याओं के
नेत्र वलितैः=आंखें मटकाने से
(ऐसा लगता है मानो)
स्फुरत्=खिले हुए
नील अब्जानां=नील कमलों के
दिशः=दिशाएं
प्रकर=समूह से
परिकीर्णा इव=छिटकी हुई
सी हैं

भावार्थ

युवतियां कहीं तो बिगड़कर भवें तरेरती हैं और कहीं लजाकर आंखें नीची कर लेती हैं। कहीं तो वे घबराती हुई डर-डर कर ताकती हैं और कभी एकदम सरल होकर मस्त मटकान करती हैं। युवतियां कामोद्रेक से सुंदरतर बनकर अपने नयनों से भांति-भांति की भंगिमाएं प्रदर्शित करती हैं तो ऐसा लगता है मानो चारों दिशाओं में नील कमल खिल रहे हैं।

विशेषार्थ

मृग-नयनियों का यह नयन-बखान भी विचित्र है। प्रतिकूल बनकर बिगड़ पड़ें तब भी सुंदर और अनुकूल बनकर अनुराग छिटकायें तब भी सुन्दर। खटकी निगाहें भी लुभावनी और बेखटके मटकान भी। जब काम की कजली चढ़ने लगती है उन आंखों पर, तभी उनमें मादकता आती है। जब मादकता प्रेरक हो तब क्या बिगड़ना, क्या रूठना, क्या लजाना, क्या ढिठाई दिखाना, सब में एक ही रंग झलकेगा। नयन मन के झरोखे हैं। उन नयनों की भिन्न-भिन्न चेष्टाओं से मन की परिस्थिति का परिचय मिलता है।

भ्रू-संचालन की क्रिया कामिनी की ओर से तभी होगी जब स्वयं उसकी इच्छा हो और तब उसकी वह क्रिया अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए ही होगी। भवें तरेरे या नचाये दोनों के पीछे भावना एक ही होगी। युवावस्था प्रथम चरण में पदार्पण कर रही हैं, इसलिए हावभाव का प्रदर्शन करना स्वाभाविक है। सौंदर्य-सामग्री का उपयोग वास्तव में औरों को दिखाने के लिए ही होता है। यौवन-सौंदर्य अपवाद या अस्वाभाविक नहीं है। फिर भी यौवनरूपी स्वाभाविक सौंदर्य और आभूषाणादि के सौंदर्य में भारी अंतर है। चंद्रहार पहने या फूल माला गूंथे सुंदरता बढ़ेगी, उसका उपभोग उसी तक सीमित रहता है। परन्तु यौवन की शोभा का उपभोग अन्य जन के लिए निमंत्रण है। इसीलिए युवती भ्रूभंगियों से और को आकृष्ट करने की चेष्टा करती है और आप ही लज्जा का अनुभव करती है। लजाना पश्चात्ताप नहीं, वरन अपनी सफलता पर प्रसन्नता का सूचक है। वास्तव में लज्जा का प्रदर्शन करना स्वीकारोक्ति है। इसके उपरान्त भय का अनुभव होता है। किसी को अपने आप से तो भय नहीं लगता; भय दूसरों का होता है कि कोई देख न ले। औरों को पता लगे या न लगे उसकी वे परवाह करें या न करें, स्वयं प्रेमी-प्रेमिका परस्पर आकृष्ट होते हुए भी अपने-अपने दिलों में एक प्रकार की अनिर्वच-

नीय घबराहट महसूस करते हैं। जब इस घबराहट को पार कर जाते हैं तब कहीं मेल-मिलाप और वार्तालाप की परिस्थिति उत्पन्न होती है। कमाल तो यह है कि ये सब पड़ाव आंखों द्वारा पार कर जाते हैं ! तभी तो पांचों इन्द्रियों में आंखों को प्रधान माना गया है। प्रेम-साधना में भी आंखों की प्रधानता और योग-साधना में भी। योग-साधना में दायीं तथा बायीं दोनों पुतलियों को अपने ही नासाग्र और भ्रूमध्य में एकाग्र करना पड़ता है जबकि प्रेमयोग में आंखें चार हो जाती हैं। प्रेम योग भ्रूभंगियों से आरम्भ होकर आगे बढ़ता है, जब कि योग-साधना में भ्रूमध्य में स्थिर होना पड़ता है। क्या प्रेम और योग का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है ?

नायिका तीन प्रकार की मानी जाती हैं, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा। मुग्धा वे हैं जिनकी अभी शादी नहीं हुई, पर शादी के योग्य अवस्था को प्राप्त हो चुकी हैं। मध्या वे जिनकी शादी हो चुकी, पर अभी मां नहीं बनी। प्रौढ़ा वे हैं जो स्त्रीत्व को पूर्णतया प्राप्त हो चुकी हैं। इस श्लोक में मुग्धा का वर्णन है। और तभी इस यात्रा में इतने सारे पड़ाव पड़ते हैं।

शृंगार का सम्बन्ध मात्र स्त्रियों तक सीमित नहीं है। क्या पुरुषत्व भोंडेपन में है। भोंडापन पुरुषों के लिए भी अवांछनीय है । दूसरी बात श्लोक के अन्दर वांछा, लज्जा, भय आदि को स्वाभाविक आंखों से ही प्रदर्शित किया गया है। 'ब्यूटी क्लिनीक के मेकप' की बात नहीं कही गई है। सो पुरुष के भी स्वाभाविक लक्षण ही अधिक आर्कषक हो सकते हैं। पुरुष की आंखों में भी इतना ही आकर्षण हो सकता है। पुरुषों और स्त्रियों में आकर्षण का प्रथम माध्यम आंख ही है और आंख मन के झरोखे हैं। अतः उस मन की आंखों में प्रतिबिम्बित होने पर ही परस्पर आकर्षण होता है। न रंग-रूप का इतना महत्त्व है और न धन दौलत का। रंग रूप तो दिन पर दिन घटेगा और धन-दौलत के बढ़ते रहने पर भी; घटने पर तो निश्चय ही, प्रेम के पैमाने नित नये भरे जायंगे, वास्तविक रूप में न हों तो कल्पना जगत् में ही।

श्लोक ५

वक्त्रं चन्द्रविकासि पंकजपरीहासक्षमे लोचने
वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिष्णुः कचानां चयः ।
वक्षोजाविभकुम्भविभ्रमहरौ गुर्वी नितम्बस्थली
वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनम् ।।

शब्द-विच्छेद

स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिष्णुः=स्वर्णम्+अपाकरिष्णुः+आलिनी जिष्णुः

शब्दान्वय

चन्द्रविकासि वक्त्रं पंकज परीहासक्षमे लोचने
स्वर्ण अपाकरिष्णु वर्णः अलिनी जिष्णु कचानां चयः
इभ कुम्भ विभ्रम हरौ वक्षोजौ,गुर्वी नितम्बस्थली
युवतिषु वाचां हारि च मार्दवं स्वाभाविकं मण्डनम्

शब्दार्थ

चन्द्र विकासि = चन्द्रमा के समान प्रकाशमान
वक्त्रं = मुख
पंकज = कमल
परीहासक्षमे = उपहास करने में समर्थ
लोचने = आंखें
स्वर्ण = सोने को
अपाकरिष्णुः = पछाड़ने योग्य
वर्णः = रंग
अलिनी = भ्रमरों को
जिष्णुः = पराजित करने योग्य
कचानां = सिरोज, सिर के बालों का
चयः = समूह, चोटी,
इभ = हाथी के
कुम्भ = मस्तक की
विभ्रम्हरौ = शोभा को मात करने योग्य दोनों
वक्षोजौ = छातियां
गुर्वी = भारी-भारी
नितम्बस्थली = चूतड़
युवतिषु = तरुणियों के
वाचां = बोल में
हारि = मिठास
च = और
मार्दवं = कोमलता
स्वाभाविक = जन्मजात
मण्डनम् = आभूषण हैं

भावार्थ

सौंदर्य गरिमा स्त्री जाति का जन्मसिद्ध आभूषण है। तरुणी का मुख चन्द्रमा के समान प्रकाशमान होता है। आंखें उनकी कमल को मात करती हैं। रंग उनका सोने के समान चमकता है। बाल उनके भौंरों को पछाड़ते हैं। उनकी छातियों के सामने हाथी का मस्तक हेटा लगता हैं। भारी नितम्ब तथा मीठी बोली, ये सब उन्हें जन्म से ही प्राप्त हैं। उन्हें किसी अन्य आभूषण की आवश्यकता नहीं।

विशेषार्थ

श्लोक की शब्दावली से यही लगता है कि कवि ने अपनी कल्पना में मात्र एक सुन्दर युवती का रेखाचित्र खींचा है। परन्तु वास्तव में इसमें स्पष्टतया चार बातें कही गई हैं। शरीर की बनावट अर्थात् रूप, दूसरी बात रंग, तीसरी बात वाणी और चौथी बात है बनावटी अलंकार की अनावश्यकता।

पहली बात शरीर की बनावट—सर्वस्य गात्रस्य शिर: प्रधानम्—सारे शरीर में सिर सबसे महत्त्वपूर्ण है। श्लोक में सिर में ही सारी बातें समो दी हैं—मुख प्रकाशमान हो, आंखें बड़ी-बड़ी हों, सिर पर लम्बे घने बाल हों और मुख से निकले बोल मधुर हों। सिर के बाद शेष शरीर से केवल दो चीजें ली हैं; स्तन और नितम्ब। ये दोनों भारी-भरकम ही भले लगते हैं। यह पूर्णस्वास्थ्य के भी सूचक हैं। निष्कर्ष निकला—सुहावना रंग, सुदृढ़ स्वास्थ्य और सुन्दर सरल स्वभाव। बताइए, ये किसके लिए आवश्यकीय नहीं ? जन्म से यदि किसी को ये सभी प्राप्त न हों तो निराशा का कोई कारण नहीं। स्वास्थ्य-सुधार के लिए आसन-व्यायाम करो और सादा जीवन व्यतीत करो। कम और अधिक का सवाल नहीं है, सुन्दर सभी बन सकते हैं। स्वास्थ्य और सरलता ही महत्त्वपूर्ण हैं। सुन्दर बनने की फिकर करने की भी जरूरत नहीं। जवानी खुद सुन्दर है। जीवन में जवानी से बढ़कर सुन्दर कुछ और नहीं। हर युवा स्त्री-पुरुष में सुन्दरता अपने आप निखर पड़ती है। असुन्दर कौन है ? अपने आपको कोई असुन्दर नहीं मानता। किसी भी जवान लड़के लड़की को देखिए। किस प्रकार घंटें शीशे के सामने बैठकर अपने आप पर मोहित रहते हैं। बिखरे बाल उड़ाते, चीथड़ों की चीर में वेपरवाह बनकर खेतों की पगडंडियों पर सांझ-सबेरे अपनी-अपनी परछायीं पर मुग्ध होने वाले लड़के-लड़कियों को देखपाने का सौभाग्य सभ्य कहाने वाले समाज को कहां से प्राप्त होगा ? सिर में तेल देकर बाल संवारने के लिए

श्लोक ९

कुंकुमपंककलंकितदेहा गौरपयोधरकम्पितहारा ।
नूपुरहंसरणत्पदपद्मा कं न वशीकुरुते भुवि रामा ।।

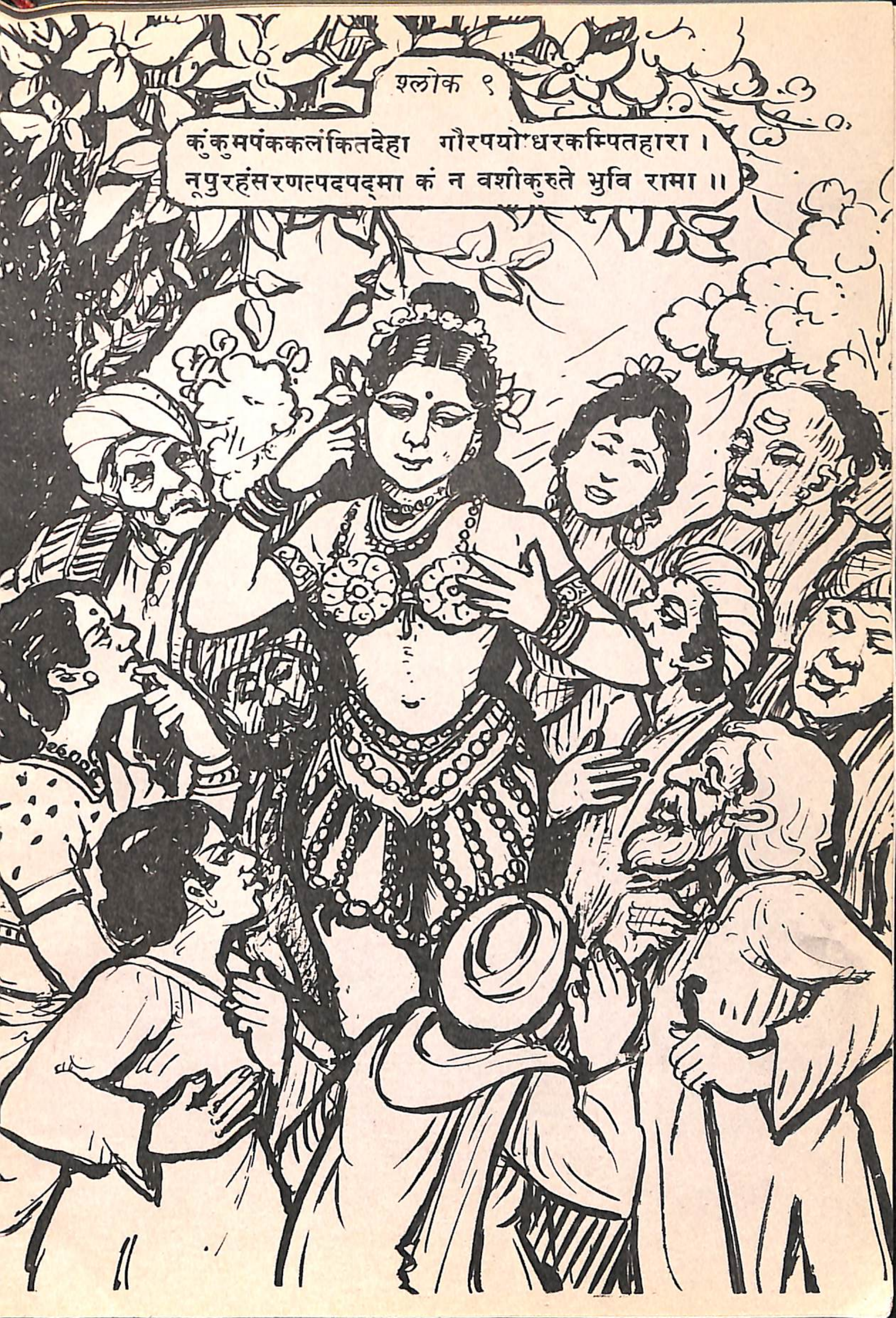

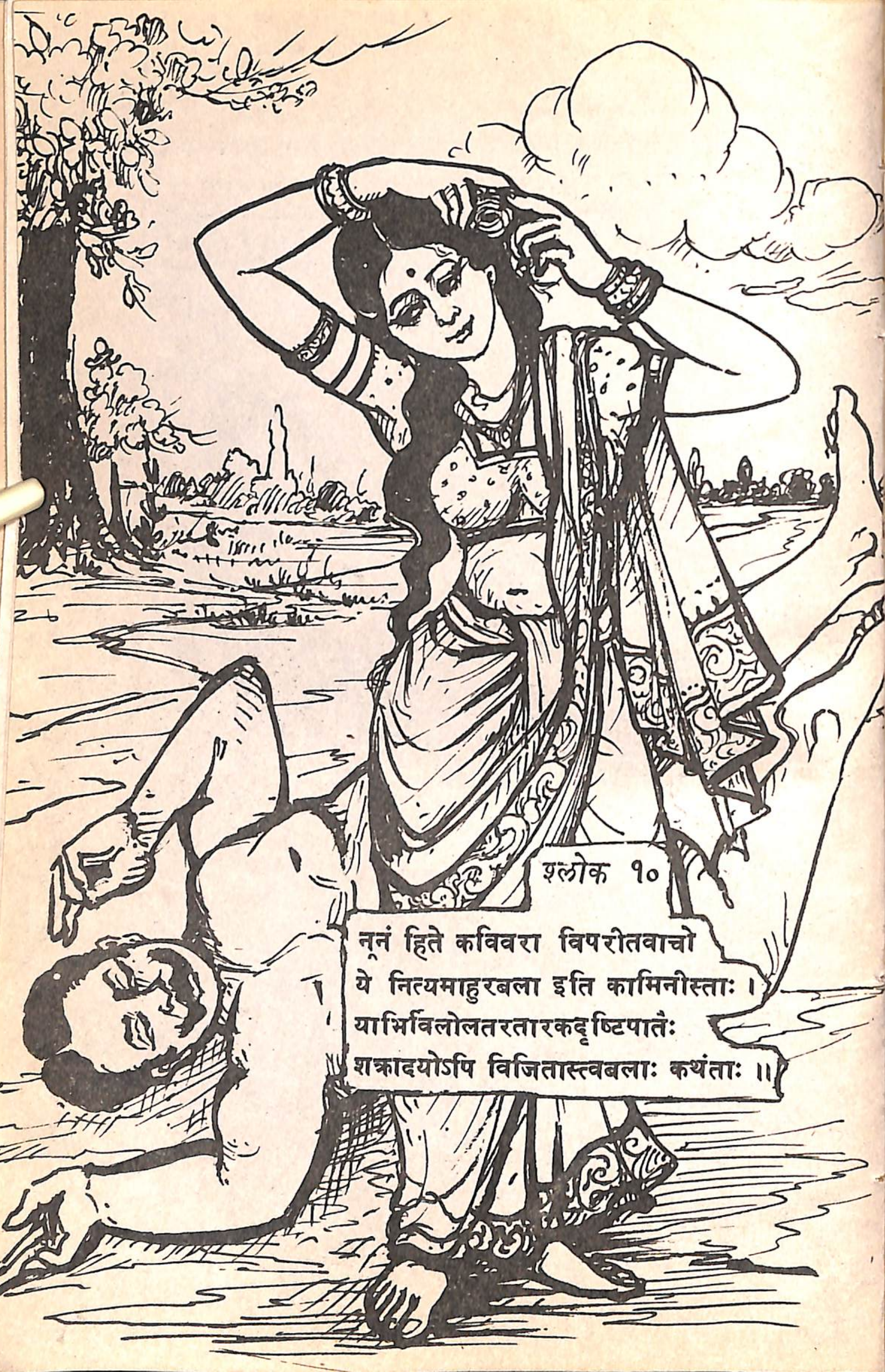

श्लोक १०

नूनं हिते कविवरा विपरीतवाचो
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीस्ताः ।
याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः
शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथंताः ॥

उनके पास समय नहीं है। लाज छिपाने के लिए लत्ता लेने को पैसा नहीं है। तो क्या हुआ ? क्या भर्तृहरि के श्लोक में वर्णित सुन्दरतम तरुणी के गुणों में से किस गुण की कमी है इस देहाती पंगडंडियों की बाला में शहरी नारी बाल बंधे हैं। पर देहाती के बाल बिखरे क्या हैं मानो सचमुच भौंरे उड़ रहें हैं कंगली बाला के सिर पर। भारी कुच नितम्ब मानो एक लोहे की छड़ पर जड़े पड़े हैं। चेहरे पर चमक है और मुख में सरलता। सुरीली बोली हवाओं में दूर-दूर तक गूंजती है।

जब यह सब कुछ है तो बनावटी बनाव-सिंगार में न पड़ो। यही वह चौथी बात है जिसपर श्लोक में एक शब्द भी न कहते हुए भी सबसे ज्यादा जोर दिया गया है। इस सत्यता को जांचना ही हो तो शहरों और धनी परिवारों में अधिक तलाशने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। मादक मोहकता को मन चाहिए, धन नहीं। धनी या निर्धन अस्वस्थ्य, असुन्दर को कोई मुंह नहीं लगायेगा, न लड़का, न लड़की।

स्वस्थ शरीर में स्वाभाविक सुन्दरता होती है। पर अपनी सुन्दरता पर इतराने या घमंड करने में स्वाभाविकता मिट जाती है। इसीलिए बनावटी लोग पैदायशी रंग-रूप से नहीं, बल्कि बनावटी सिंगार और रेशमी कपड़ों, सोने के गहनों और हीरे-मोती के जेवरों से औरों पर अपना सौंदर्य जताना चाहते हैं। इसमें घमंड अनुभव करना स्वाभाविक है। जहां घमंड हुआ वहां मृदु-मधुर बोली मुंह से निकल नहीं सकती। मधुर बोल मन के मृदुत्व के द्योतक होते हैं। जब मन ही गायब हो तब मोह कौन लेगा ? इसलिए कहा है कि शरीर स्वस्थ और साथ ही मन सरल हो। इसी को स्वभावकि सौंदर्य माना गया है।

श्लोक ६

स्मितं किंचिद्वक्त्रे सरलतरलो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव न हि रम्यं मृगदृशः॥

शब्द विच्छेद

किंचद्वक्त्रे = किंचत् + वक्त्रें
वाचामभिनव = वाचाम् + अभिनव
विलासोक्ति = विलास + उक्ति
गतानामारम्भः = गतानाम् + आरम्भः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं = स्पृशन्त्याः + तारुण्यं
किमिव = किम् + इव

शब्दान्वय

मृगदृशः तारुण्यं स्पृशन्त्याः किमिव रम्यं हि न भवति ।
वक्त्रे किंचित् स्मितं सरल तरलः दृष्टि विभवः
वाचाम् अभिनव सरस विलास परिस्पन्दः उक्तिः
गतानाम् किसलयित लीला आरम्भः एतत् सर्वं रम्यं हि भवति ।

शब्दार्थ

मृगदृशः = मृगनयनी
तारुण्यं = नवयुवावस्था के
स्पृशशन्त्याः = छू जाने पर
किम्इव = क्या कुछ
न भवति = नहीं होता,
(अवश्य होता है, जैसे)
रम्यं हि भवति = लुभावनी होती हैं
वक्त्रे = मुंह पर
किंचित् = कुछ-कुछ
स्मितं = मुस्कान
सरल = स्वाभाविक
तरलः = चंचल
दृष्टि विभवः = आंखों की अदाएं

वाचाम् = जबान पर
अभिनव नये-नये
सरस = रसीले
विलास = चटक-मटक से
परिस्पन्दः = सनी हुई
उक्ति = बोल (और)
गतानाम् = चाल का
किसलयित = नव पल्लव की
लीला आरम्भः = शोभा की शुरुआत
एतत् सर्वं = ये सब
रम्यं हि = मनहर
भवति = होता है

भावार्थ

मृगनयनियों के युवावस्था को प्राप्त होते ही उनका रह-रहकर मुस्काना, चंचल और रसीले नयनों से बार-बार ताकना, चटक-मटक

खिलवाड़ के साथ प्यार-भरी बोलियां कसना और ऐसी मंद-मंद चाल चलना मानो टहनियों में कोमल पल्लव फूट-फूटकर झाँकी जा रही हों, उनकी ये सभी चेष्टाएँ मन को मोह ही लेती हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में नारी की शारीरिक सुन्दरता का वर्णन था। युवतियों के अवयव स्वाभावतया इतने आकर्षणीय होते हैं कि उन्हें अन्य आभूषणों की आवश्यकता है ही नहीं। इस श्लोक में बताता गया है कि नवयौवन को प्राप्त होते ही उनकी सुन्दरता और भी निखर पड़ती है। शारीरिक निखार के साथ उन सुन्दर अवयवों के व्यापार—व्यवहार में विचित्र अनोखापन आ जाता है और वह अनोखापन इतना अनूठा होता है कि मन बरबस मुग्ध हो जाता है। पिछले श्लोक में नारी के जिन भिन्न-भिन्न अंगों का वर्णन किया गया था, और सिद्ध किया था कि आभूषणों की अपेक्षा स्वस्थ स्वाभाविक सुन्दरता महत्त्वपूर्ण है। यहां उन अंगों के विशिष्ट व्यापार का व्यौरा दिया गया है और सिद्ध किया गया है कि अवयव की सुन्दरता से भी उनका व्यापार अधिक मनोहारी है।

पिछले श्लोक में चांद के मुखड़े में मंद मुस्कान का सम्मिलन है। चाहे जैसा चेहरा हो मुस्काते ही उसकी सुन्दरता अवर्णणीय रूप में बदल जाती है। पता नहीं, सारे चेहरे में कहां से यह सुन्दरता आ जाती है। भड़ाक से हंस पड़ने पर वह बात नहीं आती जो मंद मुस्कान में होती है। यह भी ज्ञात रहे, वह मुस्कान भी नवयौवन की है। यौवन में भावना प्रधान है। क्या भाव है, उसकी गहराई कितनी मर्मस्पर्शी है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, अनुभव मात्र किया जा सकता है। न जाने कितनों के मनों को कितना आंदोलित कर डालती है वह नवयौवन की मस्त मुस्कान। सच तो यह है कि मन की गुदगुदी यही कहती है कि मृगनयनी के मुखड़े को चन्द्रमा की उपमा देने में नारी का अपमान है। वस्तुस्थिति यह है कि पूर्णिमा के चन्द्रमा को नारी के मुखड़े की उपमा दी जा सकती है। फिर भी नारी के मुखड़े के सामने चन्द्रमा फीका पड़ जाता है। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। चन्द्रमा की कमी यह है कि केवल पूर्णमासी की एक रात ही उतना सुन्दर लगता है, जबकि युवती सदा सुन्दर सुहागिन है। फिर चांद में वह मन्द मुस्कान कहां है जो युवती की सुन्दरता में चार चांद लगा देती है। मानिनी की मुस्कान-भर मिले बस भूख-प्यास मिट जाय, थकान दूर होकर ताज़गी आ जाय, चिंताएँ भस्मीभूत हो जाएं। इतनी सस्ती मस्ती मीन-नयना की मन्द मुस्कान ही प्रदान कर सकती है।

नयनों की बात। पिछले श्लोक में केवल पंखुड़ी से उपमा दी गयी थी। माना कि श्लोक में 'तरल' का शब्द है जो पानी के कंवल को भी प्राप्त है, पर तभी तक जब तक वह पानी में है। पानी से बाहर आवे तो कमल थोड़ी देर में कुम्हला जाय। केवल जल में ही तरल है कमल। किन्तु इस श्लोक में नयन ही तरल हैं। वहां जल में कमल है। यहां नयनों में कमल है। आंखों में पानी है सो है। हम ही देखते हैं कमल को देख हम ही प्रसन्न होते हैं, परन्तु कमल हमें नहीं देखता। मुस्कान से युवती की सुंदरता में चार चांद लग जाते हैं तो यहां आंखें चार होकर न जाने क्या-क्या बोल जाती हैं। उन आंखों की तलय्या में मन के चप्पू चपाचप चलते हैं। आंखें ओझल भी हो जायें तब भी मन का चाप चालू ही रहता है और कहां-कहां पहुंचा देता है। उन दृष्टियों का वैभव संसार-सागर से पार स्वर्ग द्वार पर ही जा ठहराता है।

इसी प्रकार पिछले श्लोक की मनोहर वाणी यहां विलासोक्ति में परिवर्तित हो जाती है। मन्दोष्ण नवयौवन से दूधिया बोलों में बलाई तैर जाती है। बोल उसके बह रहे हैं और चाट हम जाते हैं। पक्का टेप-रिकार्ड, एकान्त में सुने जाओ और सुर-में-सुर मिलाकर गुनगुनाये जाओ।

चाल है नव-पल्लव की। यौवन क्या है पतझड़ के पेड़ों में कोमल-कोमल पल्लव फूट रहे हैं। अंग-प्रत्यंग पर झीना-झीना दुपट्टा लपेट रही है। चाल में यह अपूर्व कोमलता। पल्लव है मसल न दो कहीं। पल्लव दिन-भर बढ़ते रहते हैं, पर बढ़ते हुए दीखते नहीं। नवयौवना चलायमान भी है और अचल भी। घबराएं नहीं। भले ही दिन भर बढ़ते न दीखे और रात भर न देख पायें भले ही, पर सवेरे पल्लव का पग आगे बढ़ा हुआ जरूर पायेंगे। खबरदार भाग-दौड़ न मचाना, हारकर बैठ जाओगे। मन्दगति ही मज़ेदार होती है। मज़े ले लेकर चला करो। श्लोक के शब्द-चयन के अनुसार प्रथम मन्द मुस्कान के साथ मनों को मुग्ध बना लेने वाली मन्द गति को सचमुच यात्रा का आरम्भ ही मान लें।

श्लोक ७

दृष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशः प्रेमप्रसन्नं मुखं
घ्रातव्येष्वपि किं तदास्यपवनः श्राव्येषु किं तद्वचः ।
किं स्वाद्येषु तदोष्टपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तद्वपुः
ध्येयं किं नवयौवनं सहृदयैः सर्वत्र तद्विभ्रमाः ॥

शब्द विच्छेद

किमुत्तमं = किम् + उत्तमं
घ्रातव्येष्वपि = घ्रातव्येषु + अपि
तदास्य = तत् + आस्य
तद्वचः = तत् + वचः
तदोष्ट = तत् + ओष्ट
तद्वपुः = तत् + वपुः
तद्विभ्रमाः = तत् + विभ्रमाः

शब्दान्वय

सहृदयैः दृष्टव्येषु किम् उत्तमं ? मृगदृशः प्रेमप्रसन्नं मुखम् उत्तमम् ?
घ्रातव्येषु किं ? ध्रातव्येषु अपि तत् आस्य पवनः उत्तमं
श्राव्येषु किं ? तत् वचः उत्तमं,
स्वाद्येषु किं ? तत् ओष्ट पल्लव-रसः
स्पृश्येषु किं उत्तमं ? तत् वपुः उत्तमं,
ध्येयं किं ? सर्वत्र अपि तत् विभ्रमः ध्येयं उत्तमम्

शब्दार्थ

सहृदयैः=दिल वालों के लिए
दृष्ठव्येषु=देखने योग्य वस्तुओं में
किम् उत्तमं=कौन वस्तु सर्वोत्कृष्ट है ?
मृगदृशः=मृगनयनी का
प्रेमप्रसन्नं=प्रेम से सराबोर
मुखम्=चेहरा (ही)
उत्तमम्=सर्वोत्कृष्ट है।
घ्रातव्येषु=सूंघनेयोग्य वस्तुओं में
किं=कौन वस्तु (सबसे बढ़िया होती है)
घ्रातव्येषु अपि=सूंघनेयोग्य वस्तुओं में भी
तत् आस्य=उसके मुख की
पवनं=हवा अर्थात् श्वासोश्वास ही है।
श्राव्येषु=सुननेयोग्य वस्तुओं में
किं=कौन उत्तम है ?
तत् वचः=उसके मीठे बोल ही (उत्तम होते हैं)
स्वाद्येषु किं=स्वादों में सबसे उत्तम कौन है ?
तत् ओष्ट पल्लव रसः=उसका कोमल ओठ का रस अर्थात् अधरामृत सबसे अधिक स्वादिष्ट होता है।
स्पृश्येषु किं=छूने में अर्थात् आलिंगन में ?
तत् वपुः=उसका शरीर ही सबसे अधिक सुखदायक होता है,
ध्येयं किं=सदा स्मरण करने योग्य वस्तु कौन है ?
सर्वत्रापि=सदा सर्वदा
तत् विभ्रमाः=उसकी चटक-मटक का
ध्येयं उत्तमम्=ध्यान ही सबसे अधिक आनंद दायक होता है।

भावार्थ

युवकों के लिए इस संसार में यदि कोई दर्शनीय वस्तु है तो वह केवल प्रेयसी का प्रसन्न बदन ही है। संसार की शेष सभी सुंदर वस्तुएं साधारण श्रेणी में शामिल हैं। इसी प्रकार यदि कोई सूंघनेयोग्य है तो वह है प्रेयसी का श्वासोश्वास। सुननेयोग्य उसके मृदु-मधुर बोल हैं और उसका अधरामृत ही सबसे अधिक स्वादिष्ट होता है। उसका शारीरिक स्पर्श सदा सुखदायी है। अतएव साजन को सदा साजन को सजनी के चिंतन में मग्न रहने ही में सर्वोत्कृष्ट अनंद का अनुभव होता है।

विशेषार्थ

श्रृंगार एकांगी विषय नहीं है। प्रकृति के साथ पुरुष भी है।। प्रेम पाश का एक छोर प्रेमिका को छुए है तो दूसरा छोर प्रेमी को कसे रहता है। पिछले श्लोकों में युवती का वर्णन था। इस श्लोक में युवक की दशा दर्शायी गयी है। प्राणी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वाह्य जगत की जानकारी प्राप्त करता है। श्लोक में क्रमेण पांचों ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव का वर्णन है। 'सर्वेन्द्रियाणाम् नयनं प्रधानम्' के सूत्र के अनुसार प्रथम आंख का अनुभव बताया गया है। तिस पर 'सर्वस्य गात्रस्य शिरः प्रधानं' सबसे पहले मुखदर्शन का वर्णन आया है। आंख से ही नाक चलती है। सो सुगंधी का वर्णन है। नाक से निकले ओठ और ओठों के बीच जीभ। जीभ के दो काम, चखना और बोलना। जहां बोल निकले वहां सुनने को कान खड़े हैं, जो दूर की खबर लाते हैं। इसी से कान की बात पहले और जीभ का काम बाद में आया है। अधरामृत का आस्वादन सर्वांग आलिंगन का द्योतक है। वह बद्धालिंगन अबाध बना रहे, यही इच्छा होती है, सो चिंतनीय मन को अंत में लाकर मन की एकाग्रता को स्थिरता प्रदान की गयी है।

इस श्लोक में प्रश्नोत्तरी की चातुरी केवल चतुरता मात्र नहीं है, वरन् अनुभवजन्य ज्ञान है। स्वानुभव का ज्ञान उत्तमोत्तम ज्ञान है। अन्यान्य से प्राप्त ज्ञान का स्वानुभव से क्या सम्बन्ध। कोई प्रेमिका किसी प्रेमी को कैसी जंचती है स्वयं वही जान सकता है ? उस अनुभूत ज्ञान को कोई चुनौती दे नहीं सकता। अतएव श्लोक में वर्णित गुणों की उत्कृष्टता को स्वीकार करना ही होगा। श्लोक के प्रथम चरण में ही 'प्रेम प्रसन्नं मुखं'। कहकर स्थापना की गयी है कि प्रेमानुराग दोनों ओर समान रूप से विद्यमान है। अस्तु।

ऐसे प्रेमियों को अपनी चहेती की सभी बातें स्वभावतया सबसे अच्छी लगेंगी। उसकी सुन्दरता के सामने संसार का सभी सौंदर्य फीका पड़ेगा। उसी पर टकटकी लगाकर आंखों की प्यास बुझाते रहेंगे। अन-अघाये उसकी धीमी-धीमी मीठी-मीठी बातें सुनते रहेंगे। अधरामृत छकते हुए अन्न-जल भूल जायेंगे और परस्पर चिपके रहने में अनुपम सुख का अनुभव करेंगे और अलगाव से बिदकते रहेंगे। परिस्थितियों के कारण अथवा नित्य नैमित्यिक कार्यों के हेतु यदि दो शरीर दूर-दूर हो जायें तब भी मन वहीं अटका रहेगा। वियोग में भी योग साधना। श्रृंगार-रस की महिमा महान है। काम-योग और राम-योग समान स्तर पर चल रहे हैं।

श्रीमदान्ध्र भागवतम् के प्रणेता पोतना के एक तेलुगु पाद्य का उल्लेख यहाँ असंगत न होगा, उसका सारांश है :

"वही हाथ, हाथ कहाने योग्य हैं जो हरि की अर्चना करें"
"वही जीभ, जीभ कहाने योग्य है जो विष्णु का वर्णन करे,"
वही आंख आंख कहा सकती हैं जो आदिपुरुष के दर्शन करे,"
"वही मन, मन कहाने योग्य हैं जो मधुवैरी का मनन करें,"
"वही कान, कान कहाने योग्य हैं जो कमलाक्ष की कथा सुनें,"
"वही सिर सिर है जो सृष्टिकर्ता के आगे झुके, इत्यादि"

इस पद्य के परमात्मा की पदवी श्लोक में प्रेयसी को दी गयी है दोनों में श्रद्धा ही प्रधान है।

श्लोक ८

एताश्चलद्ववलयसंहतिमेखलोत्थ—
झंकारनूपुरपराजित राजहंस्यः ।
कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्तमुग्धहरिणी सदृशैः कटाक्षैः ।।

शब्दविच्छेद

एताश्चलद्वलय=एताः+चलत्+वलय
मेखलोत्थ=मेखला+उत्थ

शब्दान्वय

चलत् वलय संहति मेखलाउत्थ झंकार
नूपुर पराजित राजहंस्यः एताः तरुण्यः
वित्रस्त मुग्ध हरिणी सदृशैः कटाक्षैः
कस्य मनः विवशं न कुर्वन्ति ।

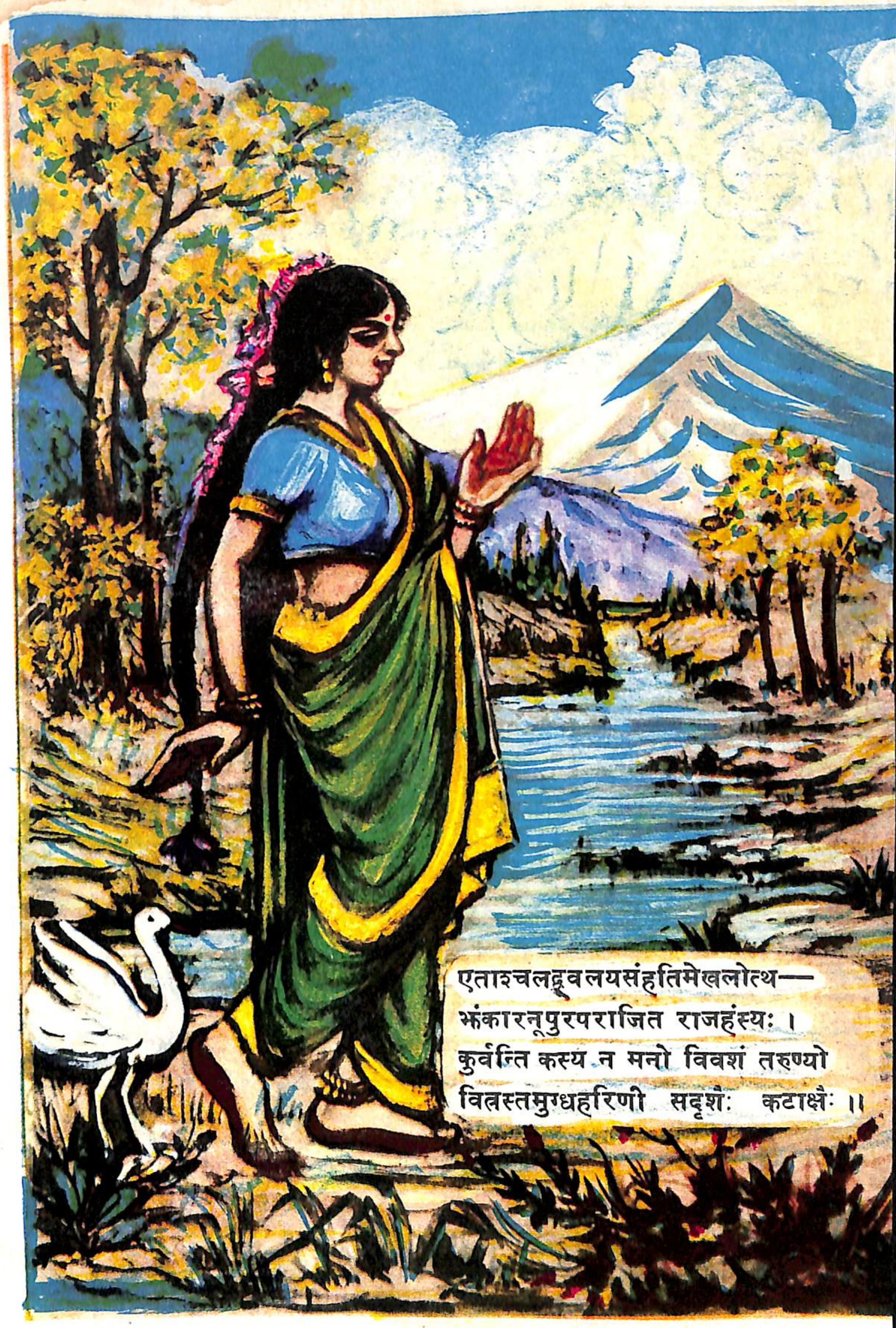

एताश्चलद्वलयसंहतिमेखलोत्थ—
झंकारनूपुरपराजित राजहंस्यः ।
कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्तमुग्धहरिणी सदृशैः कटाक्षैः ।।

शब्दार्थ

चलत् = चलते हुए, हिलते हुए,
वलय संहति = हाथ के कंगन समूह (तथा)
मेखला = कमर की करधनी से
उत्थ = उठी हुई
झंकार = झनझनाहट (तथा)
रव आहूत = ध्वनि से आकृष्ट
नूपुरं = पायल की
राज हंस्यः = राज हंसी वाली अर्थात् जिसकी चाल के साथ कंगन, नूपुर आदि की ध्वनि करे राजहंस की कलरव समझ हंसियों का दल पीछे-पीछे चले,
एताः तरुण्यः = ऐसी तरुणियां
वित्रस्त = भयभीत
मुग्ध = चकित
हरिणीस दृशैः = हिरनी समान
कटाक्षैः = कनखियों से
कस्य = किस पुरुष के
मनः = मन को
विवशं = व्याकुल
न कुर्वन्ति = नहीं करतीं अर्थात् सभी को व्याकुल कर देती हैं।

भावार्थ

तरुणियां जब हाथ हिलाती, कमर मटकाती हुई राजहंस के समान मन्द-मन्द गति से पग-पर-पग धरती चलती हैं तब हाथ के कंगन कणकणाते हैं, कमर की किंकणी झन झनाती है, पैरों की पायल छनछनाती है और इन सब आभूषणों की समूची ध्वनि को सुनकर हंस मरालियां उस तरुणी को सच-मुच राजहंस समझकर पीछे-पीछे चलने लगती हैं। ऐसी तरुणियां भयभीत हरिणी के समान जब कनखियों से ताकने लगती हैं तब बताइए किसका मन व्याकुल न होगा, अर्थात् सभी व्याकुल हो जाते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक के समान इस श्लोक में भी पुरुष की विह्वलता का वर्णन है। पुरुषों की व्याकुलता के पक्ष-पोषण के हेतु राजहँसियों के विवेक खोलने की बात कही गयी है कि उन्हें तरुणी के आभूषणों का कलरव राजहंस का कोलाहल-सा लगता है। सो उस तरुणी को ही राजहंस मान हंसिया उस पर मोहित हो जाती हैं और साथ-साथ चलती हैं। मादा का पीछा मादा करे, यह कैसी बात !

इसके दो कारण हो सकते हैं। तरुणी हंस-गामिनी है। उसकी पद चाप हंस कीसी होने के कारण हाथ, कमर और पैरों के आभूषणों के ताल-मेल से हंस की हींकार की प्रतिध्वनि-सी हो गयी और हंसियां आकर्षित हो गयीं। दूसरी बात यह की पक्षियों में मादा की अपेक्षा नर अधिक सुंदर होता है। नर अपनी मादा को रिझाने के लिए क्या-क्या खेल करते हैं, यह मोर, कबूतरों में प्रायः सभी देखते हैं। हंसियों के लिए तरुणी का सौंदर्य भी कारण भूत हो सकता है। विजातीय पशु-पक्षी जब अपनी सूझबूझ खो बैठते हैं। तब मानव का स्वाजातीय तरुणी पर विवेक-रहित बनकर नहीं, वरन् विवेक सहित भी मुग्ध हो जाना कौन अनोखी बात हुई ? फिर स्वाभाविक सौंदर्य के साथ तरुणी आभूषणों में सजी हुई तो सोने पर सुहागा। सोलह वर्ष से बीस वर्ष की आयु तक तारुण्य माना जाता है। सो, सोने-सुहागा के साथ सुगंधि भी है।

श्लोक का एक-आध पक्ष और भी है। श्लोक में राजहंसों का उल्लेख है। जल-प्रिय जंतु होने के कारण हंस के लिए ताल-तटाक अवश्य होने चाहिए, जो या तो राज महलों और उद्यानों में होते हैं या जंगलों में। श्लोकोक्त तरुणी के संग हंसों का झुंड है। यह तरुणी निश्चय ही राजमहल की हो नहीं सकती, जहां पालतू राजहंस होने और उस तरुणी से चिरपरिचित होने के कारण उन्हें, हंस होने का भ्रम नहीं हो सकता। दूसरे रनवासों में रहनेवाली को न कोई देख पाता है और न देख लेने पर मोहित होने की धृष्टता कर सकता है। किसी निश्चित प्रेमी-प्रेमिका का वर्णन होता तो सभी के मोहित हो जाने की बात नहीं कही जाती।

इसी निर्णय पर आना पड़ता है कि यहां किसी देहाती वन का वर्णन है। तरुणी फाटा जुटाने वन में जाती है। वन की तलय्या पर अठखेलियां कर घर लौटने लगती है। तभी तलय्या की राजहंसियां उसके पीछे हो जाती हैं। जंगल में मंगल है। सबको सभी को देखने-दिखाने की स्वतंत्रता है और सभी देखने वाले मोहग्रस्त हो जाते हैं। इसमें कोई बुराई भी नहीं है। सुंदर तरुणी को देखे और प्रभावित न हो तो वह मानव नहीं, वरन् मनविहीन शिला-मूर्ति मात्र है। अंधे ही सुंदर वस्तु को देख नहीं पाते। भारतीय संस्कृति में स्त्रियों के लिए परदा नहीं तो मर्दों की आंखों पर ही परदा क्यों पड़े। इसीलिए श्लोक में स्पष्टतया 'कस्य विवशं न कुर्वन्ति' अर्थात् तरुणियों को सभी देखकर सभी आनंदित हो सकते हैं। क्या कोई पिता अपनी पुत्री की सुंदरता पर या कोई भाई अपनी बहन के रंग-रूप पर गर्व नहीं करेगा ? अविवाहिता के साथ सब का यही रिश्ता है, सिवा उस एक भाग्यशाली के जिसके अनुभोग बदा हो। जब तक किसी एक की नहीं हुई है तब

तक सभी से बिदकना स्वाभाविक है, और 'वित्रस्त मुग्ध' इसी दशा का द्योतक है।

श्लोक ९

कुंकुमपंककलंकितदेहा गौरपयोधिरकम्पितहारा ।
नूपुरहंसरणत्पदपद्मा कं न वशीकुरुते भुवि रामा ।।

शब्दार्थ

कुंकुमपंक=केसरी चंदन से
कलंकित=अलंकृत किया हुआ
देहा=शरीर वाली (जिसकी)
गौर=गोरी-गोरी
पयोधर=छातियों पर
कम्पित=झूलने वाला
हारा=हार पहनी हो (जिसके)

नूपुर=पायल से
हंस रणत्=हंस कीसी ध्वनि निकले (ऐसे)
पदपद्मा=चरण कमल हों
रामा=ऐसी सर्वांग सुन्दरी
कं=किसे
न वशीकुरुते=अपने बस में नहीं करेगी—अर्थात् सभी को वश में कर लेती है।

भावार्थ

शरीर का रंग गोरा हो, केसरी चंदन का लेप किया हो, भरी छातियों पर मोतियों का हार डोल रहा हो और कमल समान कोमल तथा सुन्दर पैरों के पायल बज रहे हों, कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो ऐसी सर्वांग सुंदरी के वशीभूत न होगा, अर्थात् उसे देख सभी बेबस हो जाते हैं।

विशेषार्थ

कैसा सुन्दर चित्र खींचा है रमणी का। रामा, रमने योग्य है रमणी अथवा रमा लेने की शक्ति है उसमें। यह उस युग की रमणी है जब पूरी साड़ी, चोली

नहीं पहनी जाती थी। कमर से कदाचित् पिंडली तक परिधान समेटे है। चोली से पीठ छाती छुपी नहीं है। कदाचित् कुचाम्बर कसी है। तभी तो गोर पयोधर दृग्गेचर हैं। केसरी चन्दन रमाया है शरीर पर, जिससे गोरा रंग और भी निखरा है। वस्त्र मात्र दो तो आभूषण भी दो ही हैं। गले में माला है और पांव में पायल। मंदगामिनी चलती है तो एक ओर पायल छमछमाते हैं और दूसरी ओर छातियों पर माला मचलने लगती है, मानो माला किसी कठोर वस्तु से टकरा रही है। सुन्दर स्वास्थ्य को इससे बढ़कर और कौन सबूत दरकार है। सारे शरीर में सबसे कठोर त्वचा पांव की होती है जिसे कंकड़-पत्थर पर चलना पड़ता है, सो वह तो पद्म के समान गुलाबी रंग लिये मुलायम हैं। शेष अंग पांव से कहीं मुलायम होंगे ही। ध्वनियों पर कठोर होने का गिला नहीं हो सकता। अभिप्राय यही कि बिना चोली के भी गठी हुई छाती हैं जो तरुणावस्था की द्योतक हैं। हमारी रमणी स्वस्थता, सरलता सुंदरता की मूर्ति है।

वस्त्र नहीं, आभूषण नहीं, फिर भी अलौकिक सुंदरता। श्लोक में सारी सुंदरता को स्वास्थ्य में भर कर सामने रख दिया है। नाम के वस्त्र होंगे तो लाज ढकने मात्र हैं जो स्वाभाविक है। न्यूनतम के बखान की कौन आवश्यकता। फिर अनावश्यक हार और पायल की चर्चा क्यों की गयी? प्रश्न अवश्य टेढ़ा है, पर उत्तर एकदम सीधा है। हार पहनाया है उछल-उछल पड़ने के लिए स्वस्थ छातियों पर और छाती कठोर नहीं है इसी को सिद्ध करने के लिए पांव में पायल पहनाये हैं कि कैसे धीरे-धीरे पग धरने पर भी किस जोर से हार उछलता है। अचरज की क्या बात है जो ऐसी स्वस्थ सुन्दरी को देखकर किसी की छाती ज़ोर-जोर से न धड़के और बेबस और बेदम हो जाय। आभूषणों के बनाव-सिंगार से शुरू कर शारीरिक सुन्दरता पर ला, अन्त में सुन्दर स्वास्थ्य को सुन्दरतम सिद्ध करना भर्तृहरि की कविता चातुर्य ही नहीं, यथार्थवादी भी है।

श्लोक १०

नूनं हिते कविवरा विपरीतवाचो
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीस्ताः।
याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः
शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथंताः ॥१०॥

शब्द-विच्छेद

नित्यमाहुरबला = नित्यम् + आहुः + अबला
कामिनीस्ताः = कामिनीः + ताः
याभर्विलोल = याभिः + विलोल
शक्रादयोऽपि = शक्र + आदयः + अपि
विजितास्त्वबलाः = विजिताः + तु + अबलाः

शब्दान्वय

ये कविवरा ताः कामिनीः अबला इति नित्यं आहुः
ते नूनं हि विपरीतवाचः
याभिः विलोलतर तारक दृष्टिपातैः
शक्रादयः अपि विजिताः ताः अबलाः कथं ? ॥

शब्दार्थ

ये कविवरा = जो कविजन
ताः कामिनीः = उन युवतियों को
अबला इति = अबला, अर्थात् दुर्बल कमजोर
नित्यं आहुः = सदा कहते हैं,
ते = वे (कविजन)
नूनं हि = सचमुच ही
विपरीतवाचः = उल्टी बात कहते हैं, झूठ ही बकते हैं, (क्योंकि)
याभिः = जिन युवतियों की
विलोलतर = अति चंचल
तारक = आंखों की पुतली
दृष्टि पातैः = नजर पड़ने मात्र से
शक्रादयः अपि = इन्द्रादि देव-गण भी
विजिताः = पराजित हो जाते हैं
ताः = वैसी, युवतियां
अबला कथं = अबला या कमजोर कैसे हो सकती हैं, अर्थात् अतिशय बलवती हैं, बड़ी ही जोरावर हैं।

भावार्थ

कविगण अपनी कविताओं में कामिनियों को जो अबला कहकर कमजोर कहते हैं वे सचमुच बकवास करते हैं, झूठ बकते हैं। जो

कामिनियां कनखियों की एक तिरछी निगाह मात्र से इन्द्रादि देवताओं को बेबस कर क्रीतदास बना सकती हैं, भला वे कमजोर या अबला कैसी ? वास्तव में स्त्री-जाति अतीव बलवती और बड़ी ही जोरावर है।

विशेषार्थ

पिछले सभी श्लोकों में युवती गण की प्रशंसा की गयी है। तन कोमल, मन मोहक, बोल मधुर, रंग पसंद, अंग सुडौल, चाल चंचल इत्यादि इत्यादि के साथ सरल व्यवहार की चर्चा करते हुए युवतियों के आकर्षक व्यक्तित्व की प्रशंसा की गयी है। आठवें-नवें श्लोकों में क्रमेण शहर तथा देहात की उच्च तथा निम्न श्रेणी की रमणियों का वर्णन करते हुए कहीं भी नारी को कर्कश नहीं बताया। फिर भी नवें श्लोक के गठे शरीर पर कसे पयोधर का चित्रण विषय-परिवर्तन को सूचित करता है कि युवती में कोमलता ही नहीं, कठोरता भी है। सो उसे प्रस्तुत श्लोक में स्पष्ट कर दिया गया है।

पिछले श्लोकों में जहां-तहां पुरुषों के बरबस आकृष्ट होने तथा उनकी बेबसी का उल्लेख है, पर इस श्लोक में स्पष्टतया स्वीकार कर लिया गया है कि स्त्री पुरुषों की अपेक्षा अधिक बलवती है। स्वर्गाधिपति इन्द्रभगवान की उपमा देकर इस कथन को सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है। इन्द्र आदि का शब्द है, अर्थात् अकेले इन्द्र ही नहीं अन्य देवताओं की भी यही दुर्दशा है। शृंगार शतक के मंगलाचरण में जगत के कर्ता-धर्ता ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर को ही जब नारी के चाकर बताया गया है तब इन्द्रादि देवताओं की कौन गिनती ! देवलोक के देवताओं के साथ मृत्युलोक के अनेक महामुनियों के नाम भी जोड़े जा सकते हैं। राजा-महाराजाओं तथा शाह-शहनशाओं की लम्बी लिस्ट बन सकती है, जिनके नाम मात्र से संसार कांप उठता था और जिस ओर कदम बढ़ा विजयश्री कदम चूमकर उनका स्वागत करती थी, किन्तु वही जगत-विजेता पत्नी के सामने पराजित होकर पैरों पड़ते थे। सत्य, त्रेता, द्वापर युगों में भी असामान्य युग-पुरुषों के शत्रुओं द्वारा पराजित होने पर स्वयं उनकी पुरुषार्थी पत्नियों ने शत्रु का संहार किया और अपने पतियों को उबारा है।

क्या रणांगन में, क्या राज्यांग में, हां जहां अबला कहानेवाली औरतों ने बागडोर संभाला तहां-तहां जयमाल उनके गले में पड़ा है, और शान्ति, समृद्धि स्थापित हुई है। राजकाज तो राजाओं तथा राजनीतिज्ञों का धन्धा जरूर है, परन्तु

जन साधारण का जीवन निर्वाह भी किसी राज-काज से कम नहीं है। प्रत्येक परिवार एक छोटा-सा राज्य ही है। छोटी गृहस्थी चलाने में भी उन्हीं समस्याओं का सामना होता है जो बड़े-बड़े राज्य चलाने में होता है। परिवार में भी झगड़े निपटाने पड़ते हैं। शान्तमय वातावरण में समृद्धि की चेष्टा करनी पड़ती है। परन्तु यह गृहस्थी किसके बल पर चल रही है ? वही अबला कहलाने वाली औरत के बल-बूते सारी गृहस्थी सुख शान्ति से बीती जा रही है। 'अबला' न कहो, वह बड़ी 'बला' है। बला, जो भी उससे भिड़ जाय पछाड़ ही खायेगा। रणांगन में क्या रागांगन में भी प्रौढ़ा के समक्ष पुरुष ही ढीला पड़ता है। आदिशक्ति के आगे अपनी कौन बिसात !

श्लोक ११

नूनमाज्ञाकरस्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजः ।
यतस्तन्नेत्रसंचारसूचितेषु प्रवर्तते

शब्द विच्छेद

नूनमाज्ञाकरस्तस्याः = नूनम् + आज्ञाकरः + तस्याः
यतस्तन्नेत्र = यतः + तत् + नेत्र

शब्दान्वय

मकरध्वजः नूनम् सुभ्रुवः तस्याः आज्ञाकरः
यतः तत् नेत्र संचार सूचितेषु प्रवर्तते।

शब्दार्थ

मकरध्वजः = कामदेव
नूनम् = निश्चय ही
सुभ्रुवः = सुन्दर भवोंवाली
तस्याः = उस युवती का, स्त्रियों का
आज्ञाकरः = हुक्म का ताबेदार, सिपाही है,

यतः=क्योंकि
तत्=उसकी
नेत्र संचार=आंख की सैन
सूचितेषु=जिसकी ओर करती है, उसपर (जिसे कनखियों से ताकती है)
प्रवर्तते=सवार हो जाता है, चढ़ बैठता है।

भावार्थ

महाराज कामदेव सचमुच कामिनी के क्रीतदास हैं, क्योंकि वह जिसे ताक-भर लेती है उसी पर कामदेव महाराज चढ़ बैठते हैं। उधर तरुणी ने ताका, इधर कामदेव के प्रताप से यह बेकल हो बैठा।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि युवती को अबला कहना विडम्बना मात्र है, क्योंकि बड़े-बड़े बली भी उसके सामने बेबस हो जाते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि बली बेबस कैसे बन जाते हैं।

कामिनी के यहां एक कर्मचारी है जो सदा कमर कसे इशारे मात्र के इंतजार में रहता है। वह कर्मचारी स्वयं कामदेव महाराज हैं, देव भी हैं, और राज भी करते हैं। मकरध्वज महाराज तो हैं पर इनकी कोई रानी, महारानी या पटरानी नहीं है। हैं केवल हाज़िरबाश सिपाही हर तरुणी के। महाराज तरुणी महारानी के क्रीतदास हैं। दरबार में कमरबंद कसे सदा तैयार रहते हैं। बोलने-बतलाने की जरूरत नहीं, समझाने-बुझाने की आवश्यकता नहीं। आंख उठाकर इशारे से निशानदही भीं नहीं करतीं कामिनी महारानी। नीची आंखों में कनखी के कोण पर पुतली की ताक से कामिनी के मनोभाव को कामराज ने न जाने कब ताड़ लिया और कब झपट्टा मार कर, दबोचा, पता भी नहीं चलता। रपट कौन लिखावे ? सुधबुध खो धराशायी है खुद शिकार बनकर बल पौरुष की बड़ाई हांकनेवाला वह शिकारी। पीछे तीसरे श्लोक में कहा था कि कटाक्ष आदि कामिनी के आभूषण भी हैं और आयुध भी। न आभूषण उतरता है, न आयुध चलता है। कामदेव ही काम तमाम कर देता है।

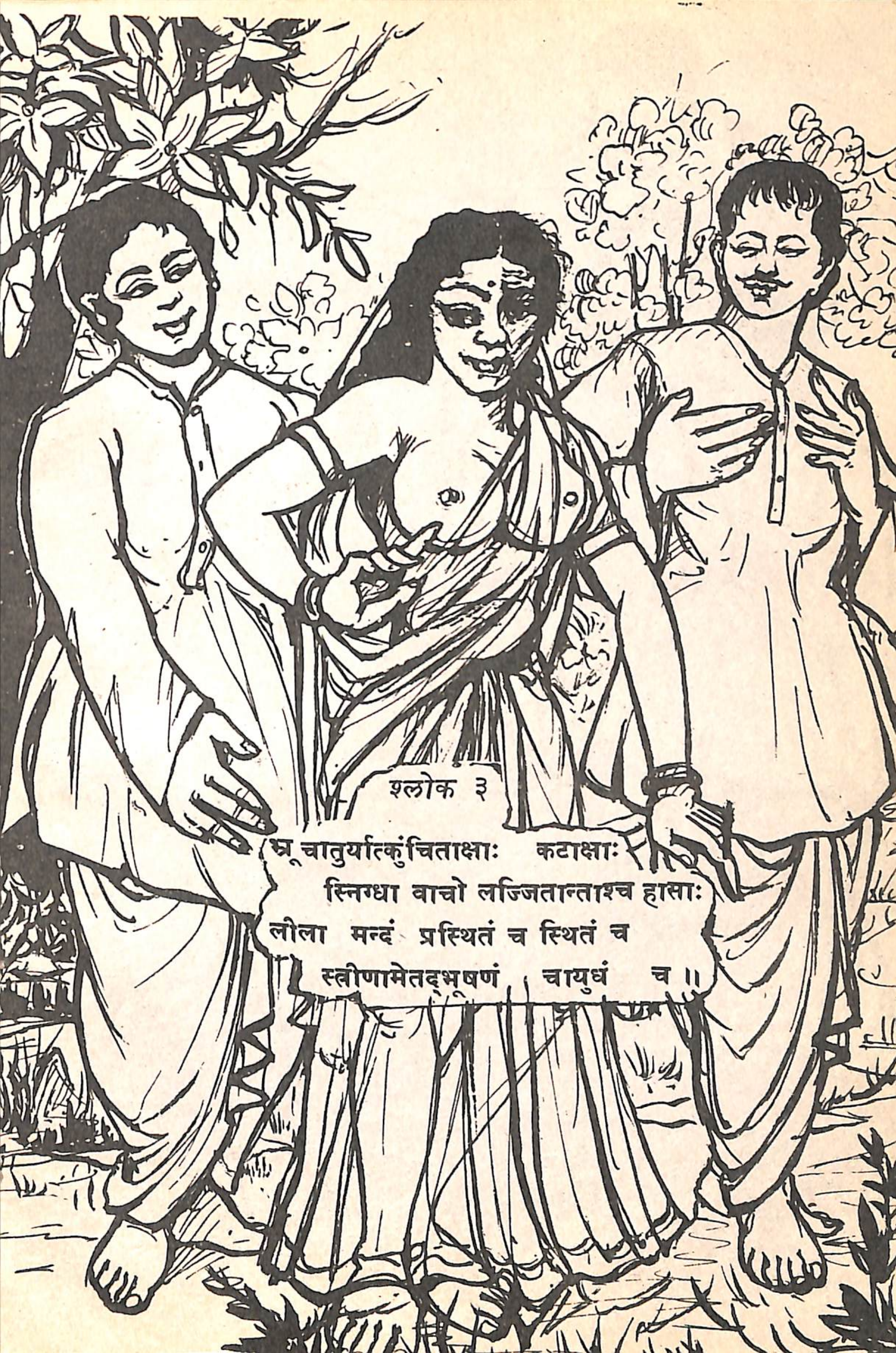

श्लोक ३

भ्रू चातुर्यात्कुंचिताक्षाः कटाक्षाः
स्निग्धा वाचो लज्जितान्ताश्च हासाः
लीला मन्दं प्रस्थितं च स्थितं च
स्त्रीणामेतद्भूषणं चायुधं च ॥

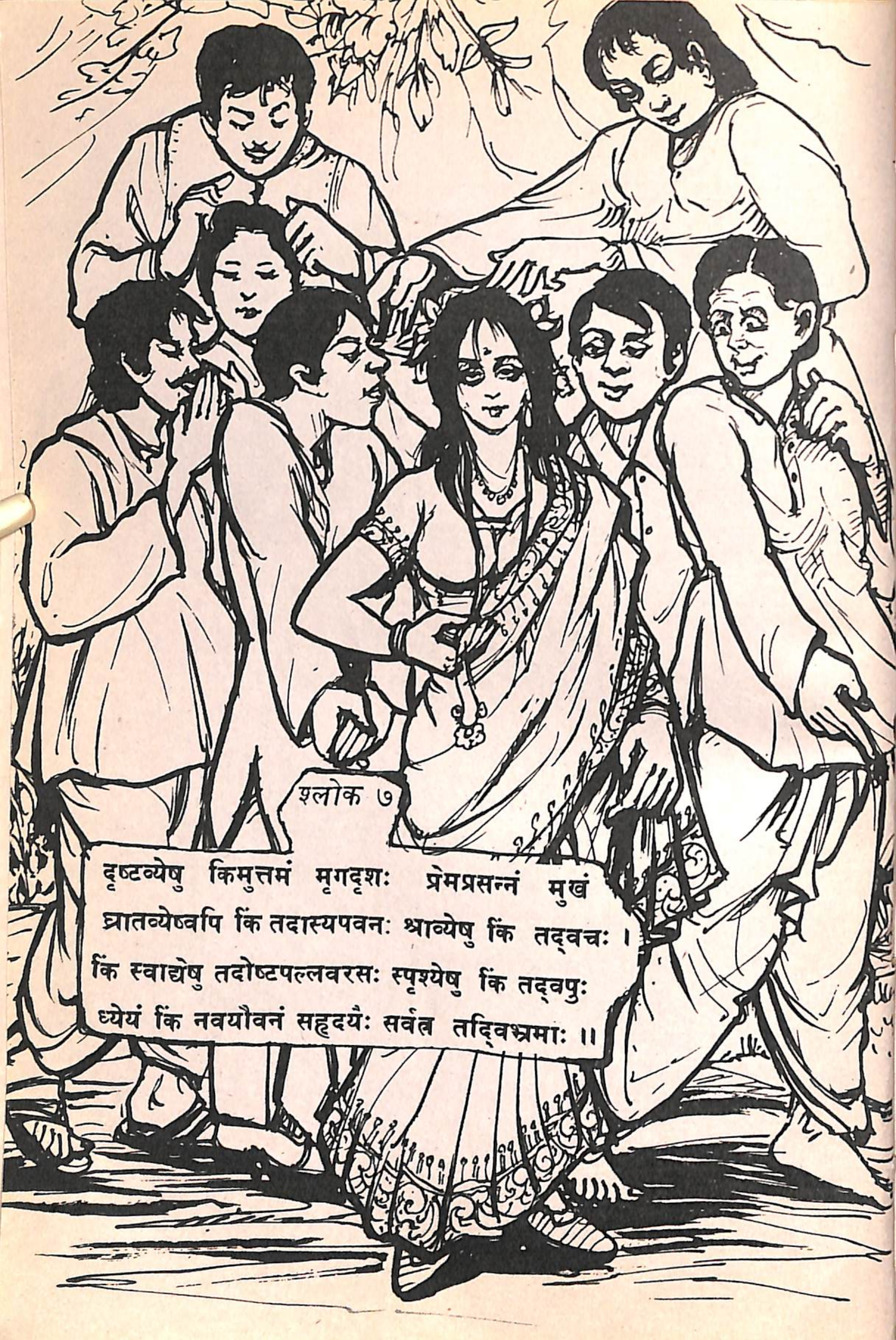

श्लोक ७

दृष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशः प्रेमप्रसन्नं मुखं
घ्रातव्येष्वपि किं तदास्यपवनः श्राव्येषु किं तद्वचः ।
किं स्वाद्येषु तदोष्टपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तद्वपुः
ध्येयं किं नवयौवनं सहृदयैः सर्वंत तद्विभ्रमाः ॥

श्लोक १२

केशाः संयमिनः श्रुतेरपि परं पारंगते लोचने
अन्तर्वक्त्रमपि स्वभावशुचिभिः कीर्णं द्विजानां गणैः ।।
मुक्तानां सतताधिवासरुचिरौ वक्षोजकुम्भाविमा—
वित्थं तन्वि वपुः प्रशान्तमपि ते रागं करोत्येव नः।।

शब्द विच्छेद

श्रुतेरपि = श्रुतेः + अपि
अन्तर्वक्त्रमपि = अन्तः + वक्त्रम् + अपि
सतताधिवास = सतत + अधिवास
वक्षोजकुम्भाविमावित्थं = वक्षोजकुम्भो + इमौ + इत्थं
प्रशान्तमपि = प्रशान्तम् + अपि
करोत्येव = करोति + एव

शब्दान्वय

तन्वि ते केशाः संयमिनः लोचने अपि श्रुतेः परं पारं गते
वक्त्रं अपि अन्तः स्वभाव शुचिभिः द्विजानां कीर्णं
इमौ वक्षोजकुम्भौ मुक्तानां सतत अधिवास रुचिरौ
इत्थं ते वपुः प्रशान्तम् अपि नः रागं एवं करोति।

शब्दार्थ

तन्वि = (हे) छरहरी छोरी
ते केशाः = तेरे सिर के बाल
संयमिनः = संवरे हुए हैं,
लोचने अपि = आंखें भी
श्रुतेः = कानों के = वेद-
पारं = एकदम अंत तक
गते = पहुंची हुई हैं,

अन्तः वक्त्रं अपि = मुख के भीतरी भाग भी
स्वभाव शुचिभिः = स्वभावतया शुद्ध और पवित्र,
द्विजानां गणैः = ब्राह्मण रूपी दांतों से,
इमौ = ये
कीर्णं = भरा हुआ है

वक्षोज कुम्भौ=स्तन मंडल
मुक्तानां=मोतियों के, मुक्तजनों के
सतत=सदा
अधिवास=निवास से
रुचिरौ=शोभायमान हैं
इत्थं=इस प्रकार
ते वपुः=तेरा शरीर
प्रशान्तम् अपि=अत्यंत शान्तमय होते हुए भी
नः=हमें
रागं एव=अनुराग, प्रेम ही
करोति=उत्पन्न करता है,

भावार्थ

हे रमणी तेरा शरीर छरहरा है, मानो तपस्वियों की तरह सूख कर कांटा हो गया है, तेरे बाल तेल-कंघा से संवर कर गुथे हुए हैं, मानो ऋषि-मुनियों की जटाजूट बंधी है, तेरे मुह के भीतर सफेद दंत-पंक्ति चमक रही है, मानो पावनचरित्र ब्राह्मणों का जमाव है। तेरे स्तनों पर मुक्ताहार विराज रहा है, मानो पर्वत शिखर पर मुक्त तपस्वी वास कर रहे हैं। इस प्रकार तेरा अंगप्रत्यंग शान्तिमय रूप धारे हुए है। फिर भी, तेरे शान्तिमय अंग हम पर विपरीत प्रभाव डाल रहे हैं, मन को शान्त बनाकर हमें शक्ति प्रदान करने के बदले व्याकुल किये जा रहे हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कुटिल कामिनी चोर-चिवतन से वार कर रही थी तो इस श्लोक में रमणी का पावन भव्य रूप प्रस्तुत किया गया है। फिर भी रूप-भेद के कारण प्रभाव में कोई अंतर नहीं है।

दुबली-पतली युवती है, मस्तानी हथिनी की तरह चरबी चढ़ी नहीं है। बाल बिखेर कर वीभत्स रूप बना नहीं रखा है। कुटिलता से आंखें नीची कर चोर—नज़र फेंक नहीं रही है। बिना बनावट के उसकी आकर्णान्त आंखें स्वाभाविक रूप से खुली हैं। मुंह में गुड़ का डला दिये बैठी नहीं है। बोलती-हंसती है तो स्वच्छ-सफेद दन्त-पंक्ति झलकती है। सीने पर मोतियों की माला खेल रही है। इस प्रकार स्वच्छ, स्वच्छन्द एवं सुन्दर स्वरूप है इस तरुणी का।

इस सुदन्दर मूर्ति की उपरोक्त एक-एक बात पर विचार करते हैं तो लगता है महा तपस्विनी मुक्तात्मा है। उसके दुर्बल शरीर से कंद मूल पर निर्वाह करते हुए

घोर तपस्या में शरीर को सुखाकर कांटा किये हुए ऋषिपत्नी का चित्र आंखों के सामने नाचने लगता है। उसने अपने बालों को तेल-कंघा आदि से संवार कर सलीके से ऊपर ले जा खोपड़ी पर बांयी ओर कुप्पी गूंथ रखी है जिसे देखकर वैरागी बाबा की जटा-जूट याद आती है। उसके सफेद दांत परम पावन ब्राह्मणजन जान पड़ते हैं कि कतार बांधकर ब्रह्म-भोज पर डटे हैं। ब्राह्मण को दुजन्मा कहते हैं, एक स्वाभाविक माता-पिता से जन्म, दूसरा जनेऊ उपनयन के साथ गुरुकुल-वास कर विद्याध्यन। दांतों के भी तो दो जन्म होते हैं। दूधिया दांत झड़ जाते हैं और पक्के दांत बने रहते हैं। प्राचीन युग के ब्राह्मणों का पवित्र जीवन-यापन और तरुणी की मुखशुद्धि में साम्यता होनी ही चाहिए। एक मजे की बात दांतों का काम खाना है ही, ब्राह्मणों की पंगत भी खाने पर टूट पड़ती है। मुक्तजन पर्वतों की घाटी गुफाओं में विराजमान रहते हैं। यहां मुक्ताहार तरुणी के सीने पर दुधार गड़वियों पर शोभायमान है।

इस तरुणी का दुबला शरीर तपस्या का द्योतक है, वेष संयम के परिचायक हैं। आंखें विद्याध्यन को सिद्ध करती हैं। दांत सरलता तथा स्वच्छता का परिचय देते हैं। यह सब शुद्ध सात्विक लक्षण हैं और मन को शान्त तथा प्रसन्न रखने वाले हैं, परन्तु देखने वाले पर इनका विपरीत प्रभाव पड़ रहा है।

विचारणीय विषय यह है कि वहां नीची आंख हुई है तो कहा कि तिरछी आंख से देख रही है और अपने कारिन्दे कामदेव को सैन दे रही है। पर यहां वह सब कुछ नहीं है। न तिरछी न सीधी, आपकी ओर नज़र भी नहीं है। तब भी आप अकुला रहे हैं। कहीं आप स्वयं व्याकुलानन्द-सरस्वती तो नहीं हैं कि शब्द-जाल रचकर अपना दोष और पर मढ़ रहे हैं।

हां, प्रीति की रीति यही है। शरारत पर रीझना और सादगी पर मरना दोनों ठीक। इस जंगल की सभी पगडंडियां उसी एक मंजिल पर पहुंचाती हैं।

श्लोक १३

मुग्धे धनुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ।।

शब्द विच्छेद

केयमपूर्वा=का+इमम्+अपूर्वा
गुणैरेव=गुणैः+एव

शब्दान्वय

मुग्धे, त्वयि का इयम् अपूर्वा धानुष्कता दृश्यते ?
यया चेतांसि गुणैः एव विध्यसि, न सायकैः ?

शब्दार्थ

मुग्धे=हे मोहिनी
त्वयि=तुझ में
अपूर्वा=अनूठा
का इयम्=यह, कैसी
धानुष्कता=धनु चातुरी
दृश्यते=दिखाई देती है,

यया=जो (जिससे) कि
चेतांसि=दिलों को,
गुणैः एव=केवल कमानी से ही
विध्यसि=छेद देती है
न सायकैः=बाणों से नहीं

भावार्थ

हे तरुणी यह तेरी तीरमारी का भी अनोखा अंदाज है कि तीर बिना केवल कमानी से ही लोगों के दिलों को छेद देती है।

विशेषार्थ

पिछले तीनों श्लोकों में गरीब तरुणी का गिला ही गिला गाया गया है। विचारी को बलवती बताकर बड़े-बड़े बलियों को बेताब किया। कुसुमाकर को उसका कसाई सिपाही बनाया। दुबले-पतले शरीर और भोली-भाली सूरत को जालिम कहा। और इस श्लोक में निहत्थी के सिर पर हथियार चलाने का दोष मढ़ा गया है। उल्टे चोर कोतवाल को डांटे।

तरुणी की तारीफ कविगण करते हैं तो आपके सीने पर सांप क्यों लोटता है ? आपका पराक्रम पराजित हुआ तो पछताना आपको चाहिए। मन आपका गुदगुदाता है तो मन्मथनाथ (कामदेव) को कारिन्दा क्यों कहते हो ? हथकंडे आप चलाते हो, फिर निहत्थों पर तोहमत बांधते हो ? यह कहां का न्याय है ?

अबलाओं के साथ अन्याय उचित नहीं। यह तो उसी भेड़िए की कहानी हुई जिसने भेड़ी पर जुर्म लगाया कि तू मुझे झूठा पानी पिलाता है ? भेड़ी ने चिरोरी करते हुए कहा—महाराज, यह तो नदी है, पानी बह रहा है, मैं आपसे नीचे की ओर आपकी जूठन पी रही हूं। भेड़िया बिगड़ कर गरजा—तू नहीं तो क्या हुआ, तेरी जाति-विरादरी में किसी ने तो पिया था कभी, इस लिए तू कसूरवार है।

श्लोक १४

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारा रवीन्दुषु ।
विना मे मृगशाबाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत् ।।

शब्द विच्छेद

सत्यग्नौ = सति + अग्नौ
रवीन्दुषु = रवि + इन्दुषु
मृगशाबाक्ष्या = मृगशाब + अक्ष्या
भूतमिदं = भूतम् + इदम्

शब्दान्वय

प्रदीपे सति अग्नौ सति तारा रवि इन्दुषु सत्सु
मृगशाब आक्ष्या विना इदं जगत् मे तमो भूतम् ।।

शब्दार्थ

प्रदीपे = दीया
सति = होते हुए
अग्नौ सति = आग होते हुए
तारा = तारे
रवि = सूर्य
इंदुषु = चांद

सत्सु = होते हुए (भी)
मृगशाब आक्ष्या = बाल-हिरण की आंखों वाली सुन्दरी के बिना
इदं जगत् = यह संसार
मे = मुझे
तमो भूतम् = अंधेरा लग रहा है।

भावार्थ

धरती पर दीये जल रहे हैं। आग प्रज्वलित है। आकाश में रात के समय तारागण तथा चन्द्रमा चमका करते हैं और दिन-भर सूर्य भगवान दमक उठते हैं। फिर भी बाल-हिरणी-सी आंखोंवाली प्रेयसी घर न होने से मुझे सारा संसार अंधकारमय लगता है।

विशेषार्थ

सूर्य भगवान दिन-भर आकाश में दमकते हुए सारे संसार को प्रकाशमान रखते हैं। सूर्यास्त के बाद जब आकाश में अंधेरा छाने लगता है तब लाखों-करोड़ों तारागण जगमग करते रहते हैं, और चन्द्रमा भी चांदनी छिटकाता है। घरों में दीये जला करते हैं। आग प्रज्ज्वलित रहती है। इस प्रकार दिन में और रात में भी उजाला रहता है। परन्तु प्रेमी को प्रेयसी के बिना सारा जगत अंधकारमय लगता है। उसके अंधकार को प्रियतमा की आंखों की ज्योति मात्र दूर कर सकती है।

चोर पकड़ा गया। जूठ सिर पर चढ़कर बोलता है। पिछले श्लोकों में जो गिला था उसका असली कारण तो यहां प्रगट होता है। प्रियतमा पास आवे, साथ वास करे, यही कामना थी। क्या कामना के पूरी न होने पर कामदेव को कोसना असंगत नहीं है ? अपना बल पराक्रम परवान न चढ़ने पर अबला को सबला बताना ही पड़ता है। नजर नीची करे तो धूर्तता करे या आंखों में आंख मिलाकर सरलता दिखावे, मगर जब तक अपनी न बने तब तक वह भले ही मुनि-कन्या बनकर मौनिन बनी रहे या राजकुमारी बनकर वाचाल बने, आकुल आत्मा के लिए दोनों बेकल बना डालते हैं। मृगनयनी मकान में आ बसे, तभी मन पर छाया हुआ अंधेरा छट जाय।

बात सच्ची है। कोठीवाल हों या कुटियावासी, सबकी यही दशा है। कोठीवाला दीपमाला और फानूसों से अंधेरी रातों को भी दिन-दुपहरी बना लेता है तो कुटियावासी सूरज चंदा के प्रकाश में और अंधेरी रातों में तारों की झिलमिल में संतोष कर लेता है। पर जहां घरवाली न हो वहां कोठी, कुटिया दोनों ही सूने-सूने लगते हैं और वे खोये-खोये-से रहते हैं। उनके मनों पर अंधेरा छाया रहता है और उस अंधेरे में वे कुछ टटोलते-से रहते हैं। घरवाली का अभाव अतीव कष्टदायक होता है। सच ही तो कहा है—'गृहिणी गृहमुच्यते।' बिना मालकिन का मकान बिन भगवान के मंदिर के समान है। मकान नहीं वह मकबरा है, घर नहीं, कबर (कब्र) है।

'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति,' सन्तानविहीन की दुर्गत बनती है, यह भी एक अयोक्ति है। होगा पहले मियां के यहां मनभाती प्रीतमा नहीं तो मां कोई कहां से बने। दीया से दीया जलाती है और तब दीपमाला की नौबत आती है। इसीलिए हिंदुओं में शुभ कार्यों में सपत्नीक सम्मिलित होने का आदेश है। सांसारिक व्यक्तियों की ही नहीं साधु-सन्त की भी मुनि-पत्नी ऋषि-पत्नी होती थीं। मियांजी, अंधेरे में टटोलते क्या हो ? चुपचाप भले आदमी बनकर घर बसालो।

तब क्या ब्रह्मचर्य का कोई महत्त्व नहीं ? अवश्य है अपनी सीमा के अंदर जो सबके लिए आवश्यकीय है, स्त्रियों के लिए भी और पुरुषों के लिए भी। ऐसे ही ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियों द्वारा दीया से दीया प्रज्वलित होता है। आजीवन ब्रह्मचर्य की गणना अपवाद मात्र है। साधारणतया आजीवन ब्रह्मचारियों या ब्रह्मचारिणियों का जीवन असंतुलित पाया जाता है। अविवाहित बैचिलर आजकल भी हैं, परन्तु देखा गया है कि उन्हें बुढ़ापे में तकिये की तलाश रहती है। किसी-किसी सौभाग्यशाली को मनभाया तकिया मिल भी जाता है अन्यथा टके का तकिया।

टकेवाला तकिया आजकल का फैशन हो गया है। होटलों की मधुशालाएं भले ही क्षण-भर लुभावनी लगती हों किंतु कोल्हू के बैल की आंखों पर तो पट्टी चढ़ी रहती है। आंखों पर से पट्टी जहां हटी, विचारा बैल अपने को जहां का तहां पाया। गाय हो अथवा बैल वही दौर-दौराँ, अंधेरे में टटोलना और उजाले में अकेले पाना। मन के अंधकार को ढकने की खातिर मेक-अप, बनाव-सिंगार से या शेकआफ से हया को धो-धाकर स्वच्छन्द विचरण से कसौटी पर खरा उतरने वाले या वाली साथी-संगिनियों की आंख मिचौली चल रही है। सच्ची बात यह है कि समाज में 'तन-सुखलाल' होटल सिनेमाओं में आवागमन करते ही रहेंगे और 'मन-सुखलाल' मुक्त जीवन बिता लेंगे।

श्लोक १५

उद्वृत्तः स्तनभार एषः तरले नेत्रे चले भ्रूलते
रागाधिष्ठितमोष्ठपल्लवमिदं कुर्वन्तु नाम व्यथाम् ।
सौभाग्याक्षरपंक्तिरेव लिखिता पुष्पायुधेन स्वयं
मध्यस्थाऽपि करोति तापमधिकं रोमावली केन वा ।।

शब्द विच्छेद

रागाधिष्ठितमोष्ठपल्लवमिदं = राग + अधिष्ठितम् + ओष्ठ पल्लवम् + इदम्
सौभाग्याक्षर = सौभाग्य + अक्षर
पुष्पायुधेन = पुष्प + आयुधेन
पंक्तिरेव = पंक्तिः + इव
मध्यस्थाऽपि = मध्यस्था + अपि
तापमधिकं = तापम् + अधिकं

शब्दान्वय

उद्वृत्तः एषः स्तन भारः तरले नेत्रे चले भ्रूलते
राग अधिष्ठितं इदं ओष्ठ पल्लवं व्यथाम् कुर्वन्तु नाम,
पुष्पायुधेन स्वयं लिखिता सौभाग्य अक्षर पंक्तिः इव
सा रोमावली मध्यस्था अपि केन वा अधिकं तापं करोति

शब्दार्थ

उद्वृत्तः = उभरी हुई
एषः = ये
स्तनभारः = भारी छातियां,
तरले नेत्रे = रसीली पानीदार आंखें
चले भ्रूलते = चपल चंचल भौंहें,
राग अधिष्ठितं = डाह से भरे
इदं = यह

ओष्ठपल्लवं = कोमल के से ओठ
व्यथाम् = व्यथा, बेकली
कुर्वन्तु नाम = दिया करें, (परन्तु)
स्वयं पुष्पायुधेन = खुद कामदेव द्वारा
लिखिता = लिखी हुई
सौभाग्य = सुहाग के
अक्षरपंक्तिरेव = अक्षरों की माला की सी

सा रोमावली=वह रोमावली
मध्यस्था अपि=निस्पक्ष तटस्थ होते हुए भी
केन वा=कौन कारण है कि
अधिकं तापं=अधिक व्यथा
करोति=उत्पन्न करती है।

भावार्थ

मान लें कि छातियों में मस्ती भरी है, आंखों में चपलता खेलती है, भौंहों में कुटिलता भरी है और कोमल ओठों में डाह की लाली झलकती है और इसीलिए वे सब अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप मन को व्यथित करते हैं। परन्तु न जाने क्यों प्रीतम की यह रोमावली जिसे भगवान कामदेव ने सुंदरी के चिर-सुहाग सूचक पेट की गोरी-गोरी पटिया पर काली-लाली अक्षरमाला स्वयं अपने हाथ से लिख रखी है अपनी तठस्थता को त्याग कर मेरे मन को सबसे अधिक संताप देती है।

इस श्लोक में 'एष' अर्थात् शब्द 'यह' ध्यान देने योग्य है। 'वह' दूर की वस्तु के लिए और 'यह' पासवाली को सूचित करता है। पेट की रोमावली पास ही से तो देखी जा सकती है। कटिवस्त्र, कुचाम्बर की बात पीछे नवें श्लोक में आयी थी। मुग्धत्व के कारण हो अथवा दूरत्व के कारण, रोमावली प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान नहीं थी। रोमावली प्रौढ़त्व को भी प्रगट करती है और स्तनान्तर से नाभी के नीचे तक चली जाती है। अस्तु, प्रेमी-प्रेयसी अब पास-पास हैं। इसीलिए यहां 'एषः, शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्रीतम गिला किये ही जायें, यह प्रीति की रीति नहीं। छलोक्ति से, अवयवों को दोष देकर युवती को दोषमुक्त बनाना कैसी युक्ति है। युवती में नहीं उसके स्तनों पर चर्बी चढ़ आयी है, इसीसे वे उद्दंडता से उछल पड़ रहे हैं। आंखें पानीदार होने से पुतली तरल पानी पर तैरती रहती है, एक जगह स्थिर नहीं रह सकतीं। यह दोष भी आंखों का है युवती का नहीं। भौंहें बनी ही टेढ़ी हैं, अपनी टेढ़ी चाल छोड़ कैसे सकती हैं। लहू चूस-चूस कर ही तो ओठ लाल बने हैं। इस प्रकार स्तन, भौहें, आंख, ओठ यह सब स्वभाव से ही दुष्ट होने के कारण कष्टदायी ही हो सकते हैं। दमन के अधिकारियों से शमन की आशा करना ही व्यर्थ है।

परन्तु रोमावली की प्रकृति स्तन, नयन आदि से भिन्न है। यह युवती के साथ जन्म से विद्यमान नहीं होती। नयन आदि के साथ दुष्ट-जन्म न लेकर बीच में

आयी हुई 'मध्यस्था' है और कृपालु कामदेव की देन है। नयन आदि को ब्रह्मा ने रचा, पर रोमावली की पंक्ति को कामदेव ने लिखा। जिस प्रकार बुद्धिमान विद्वान सफेद कागज पर काली स्याही से सुन्दर अक्षर चुन देता है, ठीक उसी प्रकार कामदेव की यह लेखा ठीक हृदयस्थान से आरंभ होकर उत्तरोत्तर गंतव्य की ओर बढ़ती जाती है। कामदेव की इस लेखा को श्लोक में सौभाग्यरेखा कहा गया है। जो प्रत्येक सुन्दरी की मनोवांछित चिर-सुहाग की सूचक है। पिया मिलन की आस। वह आस भी पूरी हो गयी। अब पास-पास हैं। दूर होने का डर नहीं। क्योंकि रोमावली में उन स्तनों की उद्दंडता है न भ्रूलताओं की चपलता, न नेत्रों की तरलता और न उन खूनी ओठों की लाली। कामदेव का लेखा ब्रह्मदेव की रेखा की पूर्णाहुति है।

सब कुछ ठीक है। फिर यह व्यथा क्यों प्रेमी के हृदय में ? यह व्यथा नहीं, आतुरता है। रोमावली प्रेयसी के हृदय-स्थान से चली है। प्रेमी के हृदय में प्रवेश कर रही है। हृदय को हृदय से मिलने की आतुरता है। रोमावली का रोम-रोम गाढालिंगन के लिए आतुर है। वह आतुरता सिंगल नहीं, डबल है और उसमें उतना ही 'बल' है जितने रोमावली में बाल।

श्लोक १६

तस्याः स्तनौ यदि घनौ जघनं च हारि
वक्त्रं च चारु तव चित्त किमाकुलत्वम्।
पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वांछा
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः॥

शब्द विच्छेद

किमाकुलत्वम् = किम् + आकुलत्वम्
तवास्ति = तव + अस्ति
पुण्यैर्विना = पुण्यैः + विना
समीहितार्थः = समीहित + अर्थाः

शब्दान्वय

यदि तस्याः स्तनौ धनौ, च जघानं हारि, च बक्त्रं चारु
चित्त तव आकुलत्वम् किम्,
यदि तव तेषु वांछा अस्ति पुण्यं कुरुष्व
पुण्यैः विना समीहित वांछा न हि भवन्ति ॥

शब्दार्थ

यदि = अगर
तस्याः = उसकी
स्तनौ = छातियां
घनौ = बड़ी, बड़ी हैं,
च = और
जघनं = जंघाएं
हारि = सिडौल हैं,
च = और
वक्त्रं = मुख
चारु = सुन्दर है (तो)
चित्त = हे मन
तव = तुझे
आकुलत्वं = आकुलता

किम् = क्यों है!
यदि = अगर
तव = तुझे
तेषु = उनमें
वांछा = इच्छा
अस्ति = है (तो)
पुण्यं = सुकर्म
कुरुष्व = कर (क्योंकि)
पुण्यैः विना = सुकर्मों के बिना
समीहित = चाही हुई
वांछा = इच्छाएं
न हि = नहीं ही
भवन्ति = होती हैं, पूरी होती हैं

भावार्थ

यदि किसी युवती के स्तन सघन हैं, जंघाएं सुंदर सुडोल हैं, और मुख मनोहर है तो तेरा चित्त क्यों चंचल हो जाता है। यदि तुझे उस रमणी से सुख भोगने की सचमुच अभिलाषा है तो तुझे उसके लिए सुकर्म करने चाहिए क्योंकि बिना सुकर्म के वैसी सुखप्रद सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती।

विशेषार्थ

सुकर्मों में सदा प्रवृत्त रहने से ही सुख-सामग्री की प्राप्ति होती है, यही श्लोक का मुख्य अभिप्राय है। सुख-सामग्री में अन्यान्य वस्तुओं के साथ सुन्दर सौभाग्य-

वती भी सम्मिलित है। इस नियम की अवहेलना आज के समाज में जितनी अधिक हो रही है, शायद पहले कभी नहीं हुई। अतः इस नियम पर मनन करने तथा उस पर आचरण करने की आज अत्यंत आवश्यकता है।

इस श्लोक में दो महत्त्वपूर्ण विषयों की ओर स्पष्ट संकेत है। पहला उद्देश्य और दूसरा उस उद्देश्य को प्राप्त होने का मार्ग—साधन, साध्य। यहां एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है। क्या जटिल समस्याओं को सम्यक् रूप से समझना और उसे समुचित ढंग से सुलझाना सब के बस की बात है? कदापि नहीं। तो क्या साधारण जन, जिनकी संख्या समाज में सदा अधिक होती है, आंख मूंद कर अंधेरे कुएं में कूदते जाएं? सुखमय जीवन बिताने की लालसा सभी को होती है। होनी भी चाहिए। अच्छे की अभिलाषा करना अच्छी बात है। अभिलाषा आकांक्षा का रूप ले, तब भी बुरा नहीं है। आकांक्षा की सिद्धि के लिए प्रयास करना पुरुषार्थ है, अतः प्रशंसनीय है। लालसा लालच का रूप ले और उस लालच में मनुष्य अंधा होकर अंधाधुंध आचरण करने लगे तो वह निश्चय ही निंदनीय है। दंडनीय भी बन सकती है। एक उदाहरण।

श्रृंगार शतक है। शादी का एक उदाहरण ठीक होगा जो सच्ची घटना है। एक युवक थे। अच्छे-खासे शिक्षित थे। यूनिवर्सिटी में एम० ए० में पढ़ते थे। एक लड़की थी जो उसी यूनिवर्सिटी में पढ़ती थी। शिक्षा अभी समाप्त नहीं हुई थी। माता-पिता ने लड़की के विवाह का निश्चय किया। बारात आयी लग्न-मंडप में विवाह रचा जा रहा था। उपरोक्त एम० ए० के विद्यार्थी वहां जा धमके और छपा हुआ पर्चा बांटने लगे कि इस लड़की से मेरा प्रेम है, मुझ पर अत्याचार है, लड़की के साथ अनाचार है और न जाने क्या-क्या छपा था पर्चे में। प्रेम था या नहीं था, एकतरफा था या दुतरफा था, माता-पिता जानते थे या नहीं जानते थे, उनके राजी न होने के कोई कारण थे या न थे, इन सब बातों को छोड़कर एक बात देखने की अवश्य है। दूलहा-दुलहिन पीढ़ों पर बैठे हुए हैं। खाक पढ़ा, उस युवक को यह तक समझ नहीं है कि जिस लड़की से अपना प्रेम जता रहा हूं स्वयं उस लड़की के साथ कितना अनाचार, अत्याचार कर रहा हूं। बाराती भी समझदार थे। ऐसी स्थिति में जो होना था वही हुआ। उपद्रवी युवक की खूब पिटाई हुई और मार-मार कर गांव से बाहर भगा दिया गया। यह घटना कोई पुराने जमाने की नहीं है। नये जमाने में भी ऐसी कारस्तानियों को कोई सह नहीं सकता।

जीवनसाथी, संगिनी का विषय ही क्या संसार के सभी कार्यों में साध्य और साधन का विचार रखना परमावश्यक है। श्लोक के अन्तिम चरण के अनुसार—

'पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः' आरम्भिक शब्द 'पुण्य' और अन्तिम शब्द 'हितार्थाः' गमनीय हैं। केवल यहां 'हितार्थ' हीलें। वह अर्थ जिसमें हित ही हित हो, स्थाई लाभ की वस्तु। स्थाई रूप से उपयोगी वस्तु की प्राप्ति के लिए, क्षणिक उपयोग ही नहीं, पुण्य कार्यों में रत रहना जरूरी है। हितार्थ में स्वार्थ-त्याग नहीं है, स्वार्थ-सिद्धि है। वही स्वार्थ जो स्थाई हो। स्वार्थ-सिद्धि के लिए भी पुण्याचरण अनिवार्य हुआ तो पुण्य में स्वार्थ सम्मिलित है। अतः जो पुण्याचरण करते हैं, सदाचारी बने रहते हैं वे इस भ्रम में न रहें कि वे बड़े परोपकारी हैं। भले कार्य करो तो तुम्हारा भला होगा। अपने ही निस्तार के लिए सदाचरण करो। जो अपनी भलाई को भी सोचता नहीं वह पापी है। पाप, पुण्य को समझना एकदम सरल है। जिस कार्य से दूसरों की हानि हो वह पाप है। इस तरह दूसरों की हानि न करते हुए अपने कार्य में लीन रहना पाप-रहित जीवन है। जिसमें पाप न हो वही पुण्य है। परोपकार को ही पुण्य कहा गया है। परोपकार न कर सको तो भी चिन्ता नहीं। परपीड़ा के बिना जो भी काम करें उसमें थोड़ा-बहुत परोपकार हो ही जाता है। कम-से-कम वह प्रवृत्ति तो विद्यमान रहती ही है और संसार-सागर में वह दीप-स्तम्भ का काम करती है।

हम यहां श्रृंगार पर चर्चा कर रहे हैं। समाज का अपने छोटे-मोटे संसार को बनाव सिंगार से सुन्दरतम बना लेना भी पुण्य कार्य है। समाज में रहते हुए उसे सजाने के हेतु जीवन में साथी, संगिनी को खोज लेना पुण्यमय पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का उपयोग केवल पुरुषों के लिए ही नहीं, स्त्रियों के लिए भी समान रूप से वांछनीय है। अतएव युवती हो अथवा युवक, दोनों को ही अच्छी तरह सोच लेना चाहिए कि मैं अपनी लालसा के नाम पर लालची तो नहीं हूं, कि अपना काम बने या न बने, कहीं दूसरे का जीवन बरबाद न हो जाय। समझ लेना चाहिए उसकी बरबादी के बाद वह स्वयं आबाद नहीं रह सकता। अस्तु।

साधन की पवित्रता का ध्यान रखने पर साध्य की प्राप्ति में पुण्य ही पुण्य होगा और स्वार्थ के साथ परहित भी सिद्ध होगा।

श्लोक १७

मुखेन चन्द्रकान्तेन महानीलैः शिरोरुहैः।
पाणिभ्यां पद्मरागाभ्यां रेजे रत्नमयीव सा॥

शब्द विच्छेद

रत्नमयीव = रत्नमयी + इव

शब्दान्वय

चन्द्रकान्तेन मुखेन, महानीलैः शिरोरुहैः ।
नखाभ्यां पाणिभ्यां पद्मरागाभ्यां सा रत्नमयी इव रेजे ॥

शब्दार्थ

चन्द्रकान्तेन = चंदा के समान छवि से,
मुखेन = मुख से, चहरे से
महानीलैः = एकदम काले, उत्तम नीलम के समान
शिरोरुहैः = सिर के बालों से
(और)
नखाभ्यां = नाखुनों से
पाणिभ्यां = हाथों से
पद्मरागाभ्यां = रक्त कमल के से पद्मरागमणि के समान लाल-लाल
सा = वह रमणी
रत्नमयी इव = रतन जड़ी हुई-सी
रेजे = शोभा देती है, झलकती है ।

भावार्थ

उस रमणी का मुख चन्द्रकान्त मणि के समान उज्वल है । उसके केश महा नीलम के समान काले हैं और उसके हाथ पद्मराग मणि के समान लाल-लाल हैं । इस प्रकार उसके सारा शरीर पर रत्न-ही-रत्न जड़े हैं ।

विशेषार्थ

श्लोक में यदि मुख, शिख के साथ नख का वर्णन होता तो शायद रमणी के सम्पूर्ण शरीर का वर्णन होता । सिर पर से काली-काली लटें लटक रही हों तो लगे कि अनेक नील मणियां जड़ी हुई हैं । नख अर्थात् नाखून जो हाथों की उंगलियों में भी होते हैं और पैरों की उंगलियों में भी । इस प्रकार हाथों के साथ पैरों की प्रशंसा हो जाती । गुलाबी छटा लिये हुए लाल-लाल नाखून लाल मणियों से चमकते उसके पैर जहां पड़ते और चमकते जंघा, कमर और छाती पर जहां उसके हाथ पड़ते । किन्तु कवि ने कर, सिर तक ही सीमित रखा है, कारण क्या हो सकता है ?

कल्पना करो कि प्रेमी, प्रेमिका आमने-सामने हैं । प्रेमी-प्रेमिका के कर-कमलों को अंजुली में लिये हुए हो । मुख पर टकटकी लगी हो और प्रेमी की आंखें सिर

चढ़ी हों, भला उसे पैरों की परवाह कैसे हो सकती है ?

पिछले श्लोक 'तस्याः स्तनौ यदि घनौ' की ताड़ना के बाद हमारे मजनूं का मिजाज बहाल हुआ है। तभी प्रशंसा के पुल बांधने लगे हैं। पहले तो सोचता रहा कि गिला हमारा गलत न था। मस्त हाथी के कुम्भस्थल रूपी स्तनों में मस्ती ही भरी होगी, कुटिल दिल के ओठ लाल ही होंगे, भ्रूलताएं हवा में अठखेलियां भरीं होंगी, चपल चित्त आंखों पर लांछन लगाने से क्या लाभ, इस प्रकार विचारते हुए पेट की रोमावली में उलझ गए थे। उसी उलझन से मुक्ति की चेष्टा में मुग्ध हो गये मुग्धा पर। इसी से अब यह प्रशंसा का प्रवाह चला है।

इस श्लोक में रमणी को मूल्यवान मणि-माणिक्य युक्त बनाकर उसकी भौतिक समृद्धि को सूचित किया गया है।

श्लोक १८

गुरुणा स्तनभारेण मुखचन्द्रेण भास्वता।
शनैश्चरभ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा॥

शब्दान्वय

सा गुरुणा स्तनभारेण, भास्वता चन्द्रेण मुखेन, च
पादाभ्यां शनैश्चराभ्यां भास्वता ग्रहमयीव रेजे।

शब्दार्थ

सा = वह रमणी
गुरुणा = भारी, बृहस्पति ग्रह के
स्तन भारेण = स्तनों के बोझ से,
भास्वता = सूर्य के समान प्रकाशमान
चन्द्रेण = चंदा-समान सुन्दर चंद्रग्रह के,
मुखेन = चेहरे से
च = और
पादाभ्यां = पांव से
शनेश्चराभ्यां = धीमे-धीमे, शनिग्रह की चाल से
ग्रहमयीव = नवग्रहों में से श्रेष्ठ ग्रहों से बनी हुई सी
रेजे = शोभायमान है।

भावार्थ

भारी-भारी स्तन, सूर्य चन्द्र के समान प्रकाशमान मुख तथा धीमी-धीमी चाल वाले पैरों से ऐसा लगता है मानो देवगुरु बृहस्पति स्तनों

में विराजमान हैं, मुख उसका दिन में सूर्य के समान, रातों में चंद्रमा के समान चमकता, दमकता है, और उसकी चाल इतनी धीमी है मानो स्वयं शनिग्रह पैरों का रूप धारे है। इस प्रकार उसके शरीर में सिर से पैर तक संसार की गति निर्धारित करने वाले मंगलकारी ग्रह प्रवेश किये हुए हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में रमणी को मणि-माणिक्य युक्त बताकर उसकी श्रीसम्पदा को सूचित किया गया था। इस श्लोक में ज्योतिष की धारणा के अनुसार समृद्धि के कारण बताए गए हैं।

स्तनों में देवगुरु बृहस्पति ग्रह विराजमान हैं। स्तन हृदय-स्थान पर होते हैं और उस हृदय स्थान पर गुरुग्रह विद्यमान हैं। बृहस्पति का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। वे दैविक गुणों की खान हैं। सूक्ष्मबुद्धि, दूरदृष्टि के साथ सौम्यता इनके स्वभाव में है। इसी प्रकार सूर्य-चन्द्र पुण्य ग्रह हैं। सूर्य जीवन में सफलता तथा प्रतिष्ठा का कारक होता है। चन्द्रमा विचार-शक्ति का उद्‌गम है और शीतल पुण्य ग्रह होने से अपने और अन्य जनों की सुख-शान्ति को बढ़ावा देने की प्रवृत्ति पैदा करता है।

शनिग्रह को लोग बुरा मानते हैं, पर वह सबके लिए सब स्थानों पर बुरा नहीं है। शनिग्रह बड़ा ही बलवान है। शनि की विशेषता धीमी चाल में है। स्थिरता की सूचक है। स्थिरता अत्यन्त श्रेयस्कर है। सोहाग की स्थिरता सबसे बड़ी चीज है। धीमी चाल सोच-समझकर पग उठाने की प्रवृत्ति को सूचित करती है। इस प्रकार पांच उत्तम ग्रहों की शुभ दृष्टि का योग है, अर्थात् वह रमणी जन्म से ही उत्तम गुणों से युक्त है। पुण्य प्रारब्ध के साथ जन्म लेने से जीवन में पुण्यों ग्रहों से प्रेरित प्राणी सदाचारी रहकर पुण्यकार्यों में रत रहता है और ग्रह-बल से उसका पुरुषार्थ भी सार्थक होता है।

श्लोक में गिनाये गये इन ग्रहों का पिछले श्लोक के रत्न-राज से क्या सम्बन्ध है और उनका क्या प्रभाव होता है, यहां उसे भी समझ लें।

गुरुग्रह का रत्न पुष्यराग अर्थात् पुखराज है। यह सम्पदा तथा वंशवृद्धि-कारक होता है। मन को शान्ति प्राप्त होती है और शत्रु का दमन होता है।

इसी प्रकार लालमणि से धन तथा अधिकार में उन्नति होती है। महानीलाभ शनि का अधिष्ठाता शनि भगवान हैं। नीलम से विपत्तियां हट जाती हैं। समाज में मान-मर्यादा मिलती है। यह शास्त्रीय मान्यतायें हैं, सो वहीं तक रहें।

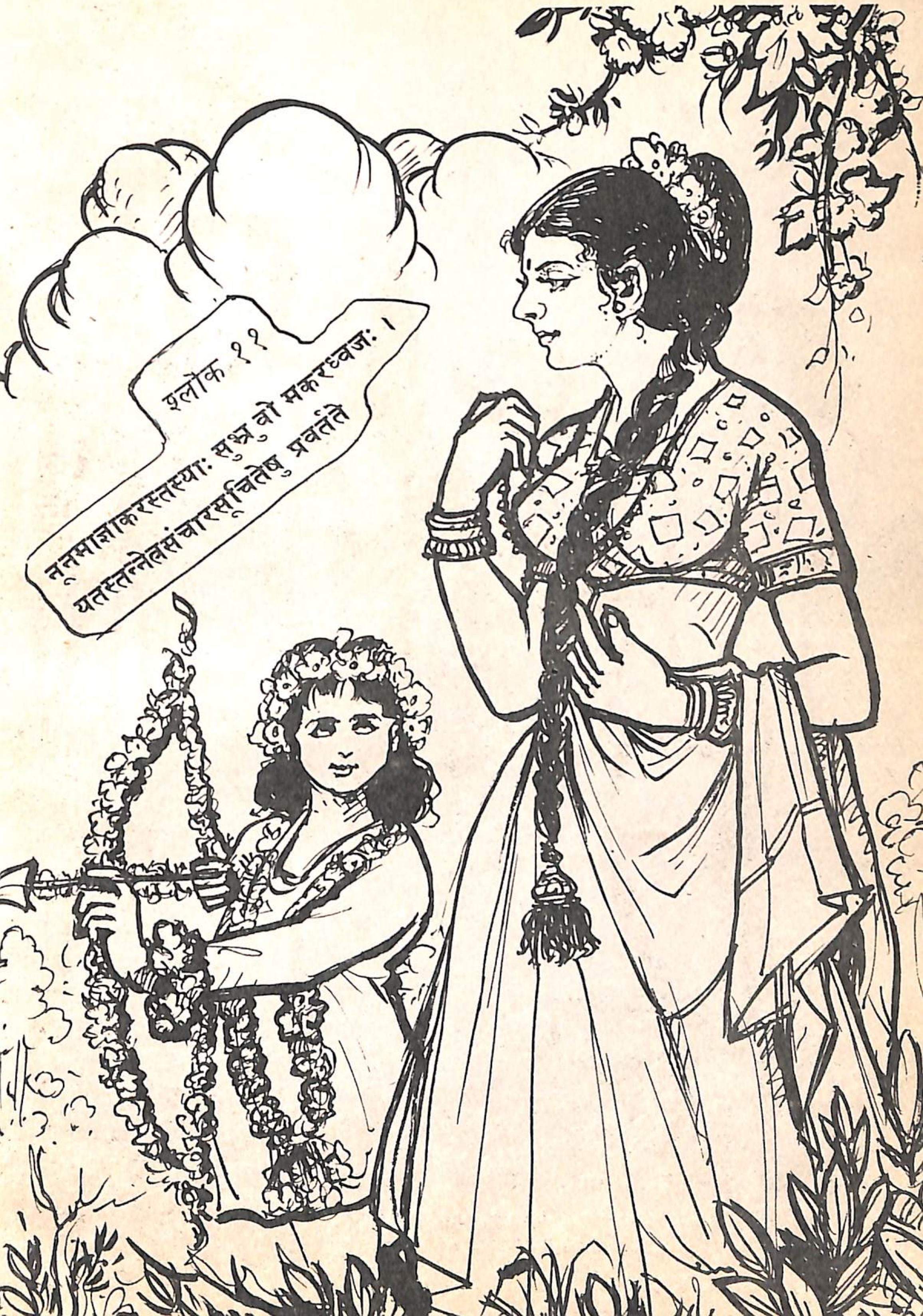
श्लोक ११
नूनमाज्ञाकरस्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजः ।
यतस्तन्नेत्रसंचारसूचितेषु प्रवर्तते

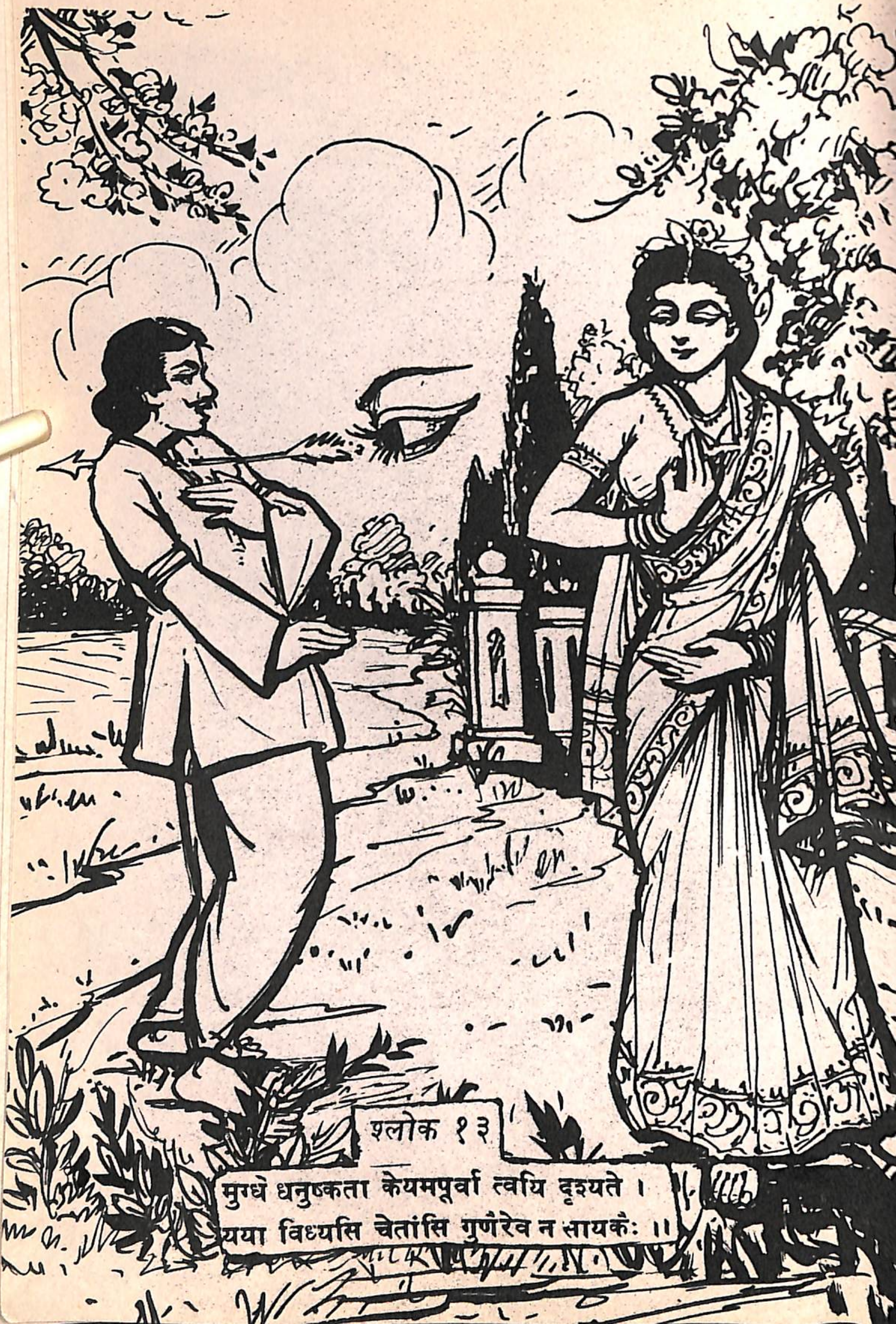

श्लोक १३

मुग्धे धनुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ।।

इन दोनों श्लोकों में रमणी को सर्वगुण सम्पन्ना भौतिक तथा दैविक सम्पत्तियों से युक्त सौभाग्यशालिनी सिद्ध किया गया है। ऐसी जीवनसंगिनी के सांगत्य का अनुभव आगे पढ़िए।

श्लोक १९

इमे तारुण्य श्रीनवपरिमलाः प्रौढसुरत—
प्रतापप्रारम्भाः स्मरविजयदानप्रतिभुवः ।
चिरं चेतश्चोरा अभिनव विकारेकगुरवो
विलासव्यापाराः किमपि विजयन्ते मृगदृशाम् ।।

शब्द विच्छेद

चेतश्चोराः=चेतः+चोराः
विकारेकगुरवः=विकार+एक गुरवः
किमपि=किम्+अपि

शब्दान्वय

तारुण्य श्री नव परिमलाः
प्रौढ सुरत प्रताप प्रारम्भाः स्मर विजयदान प्रतिभुवः
चिरं चेतः चोराः अभिनव विकार एक गुरवः
इमे मृगदृशाम् किमपि विलास व्यापाराः विजयन्ते ।

शब्दार्थ

तारुण्य श्री=यौवन संपदा की
नव परिमलाः=नई-नई सुगन्धी
प्रौढ सुरत=गाढ़ी रति क्रीड़ा की
प्रताप प्रारम्भाः=उगती हुई उग्रता,
स्मर=कामदेव को
विजय दान=जीत दिलाने में
प्रति भुवः=समर्थ, सहायक
चिरं=बहुत दिनों से
चेतः चोराः=चित-चोर बनी
अभिनव विकार=नवयौवन चपल चेष्टाओं में
एक गुरवः=एक मात्र प्रवीण

इमे = इस प्रकार की
विलास व्यापारा: = नाज नखरे,
मृगदृशाम् = युवतियों में
किम् अपि = न जाने और क्या-क्या
विजयन्ते = विद्यमान हैं।

भावार्थ

यौवन की अभूतपूर्व सुगंधियां, गाढ़ी रति क्रीड़ा की उगती हुई उग्रता, कामदेव को जयमाल समर्पण करने में सहायक बनने की समर्थता, चिरकाल से चित चुराने में अद्वितीय प्रवीणता, मृगनयनियों में इस प्रकार न जाने और क्या-क्या अकथनीय अदाएं विद्यमान हैं।

विशेषार्थ

पिछले दो श्लोकों में प्राकृतिक रंग-रूप का वर्णन करने के बाद इस श्लोक में यौवन में पदार्पण करने पर रमणियों में और जिन गुणों का प्रादुर्भाव होता है उनका बखान किया गया है।

चमेली, गुलाब की कली के खिलते ही चारों ओर उसकी सुगन्धी फैल जाती है। पत्तों की आड़ में फूल कहीं छिपा हो, भीनी-भीनी हवाएं उसकी सुगन्धी की सूचना न जाने कहां-कहां दे जाती हैं और कौन-कौन उसकी खोज में निकल पड़ते हैं। खिलती-खिलाती कली की भांति नवयुवती की चर्चा चहूं ओर फैल जाती है। भौंरे की भांति बावरे बनकर युवकगण भ्रमण करने लगते हैं। जब अपनी खोज में सफल होकर उसे देख पाते हैं तो पाते हैं कि उसमें गाढ़ी रतिक्रीड़ा की उत्कट इच्छा उत्तरोत्तर उग्र होती जा रही है। ऐसा लगता है कि कामदेव महाराज के गले में जयमाल डालने में योग्य सहायक सिद्ध होगी। परन्तु वह तो बहु काल तक युवकों की चितचोर बनी रहती है और न जाने क्या-क्या विलासोक्तियों, नये-नये नाज नखरों और अदाओं से मन को मोह लेती है। ज्ञात रहे, यौवन स्वयं शोभायमान है। वह मूल्यवान वस्त्राभूषण का मुहताज नहीं है।

यौवन परिवर्तन का सूचक है। यह परिवर्तन शारीरिक अंगों में ही प्रकट नहीं होता, मन के भीतर भी प्रवेश करता है। जिस प्रकार शरीर के अंग प्रत्यंग यौवन को बहिर्गत करते हैं उसी प्रकार मन भी यौवन को छिपाने में असमर्थ है। मन में अन्यान्य गोपनीय बातें गुप्त रह सकती हैं किन्तु यौवन के विकार दबे रह नहीं सकते। यौवन की नाक में सूंघने की शक्ति अत्यधिक होती है। जैसे कुत्ता

दूर की वस्तु का बिन देखे पता लगा लेता है उसी प्रकार जोबन जवान की तलाश में रहता है। युवक हो अथवा युवती यौवन दोनों पर समान रूप से सवार रहता है। परदों के पीछे जतनपूर्वक छिपे-छिपाये इस्पात को यौवन-चुम्बक एक-दूसरे की ओर बलात् आकर्षित कर लेता है। चुम्बक चुम्बन से वंचित कैसे रह सकता है ?

यौवन की सुगन्धी को सूंघते ही बेसुधी छा जाती है। मन पर कामराज का साम्राज्य हो जाता है और मन मन्मथ का क्रीतदास बन जाता है। 'सुरत' के प्रताप से प्रभावित हो, युव-साम्राट के गले में जयमाल डालने के लिए आतुर हो जाता है। हाड़ मास का शरीर न चित-चोर बन जाता है। चोर चोरी करने चलता है, पर स्वयं फंस जाता है। फंसने पर पश्चात्ताप नहीं करता वरन् लुभावने समाओं में लोलुप हो जाता है और इस प्रकार चोर-चोर मौसेरे भाई बन जाते हैं। कौन पकड़े, कौन बांध रखे ऐसे चोरों को !

जवानी की गुदगुदी सबको होती है और सब जगह होती है। सदा होता रहा है और सदा होता रहेगा। इसमें लिंग, जाति, धन, दारिद्रय या देश, काल का तारतम्य नहीं है। सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक है यह धन्धा।

'तस्या स्तनो' की ताड़ना से गिला जो छिड़ा तो 'गल-बाहीं' तक पहुंच गया। कितना सरल है सुपथ के राही बनने में कि भूलने-भटकने का खटका नहीं। कोई कुटिल कुपथगामी इस रास्ते में कांटे न बोवे। हां, हो सके तो फूल बिछाने की उदारता दिखावे।

श्लोक २०

प्रणयमधुराः प्रेमोद्गारा रसाश्रयतांगताः
भणितिमधुरा मुग्धप्रायाः प्रकाशित संमदाः।
प्रकृतिसुभगा विस्रम्भार्द्राः स्मरोदयदायिनो
रहसि किमपि स्वैरोलापा हरन्ति मृगीदृशाम् ॥

शब्द विच्छेद

प्रेमोद्गारा = प्रेम + उद्गारा
रसाश्रयतां = रस + आश्रयतां
विस्रम्भार्द्राः = विस्रम्भ + आर्द्राः

स्मरोदय = स्मर + उदय
स्वैरोलापा = स्वैर + आलापा

शब्दान्वय

प्रणयमधुराः प्रेम उद्गारा रस आश्रयतां गताः
भणिति मधुरा मुग्धप्रायाः प्रकाशित संमदाः
प्रकृति सुभगा विस्त्रम्भ आर्द्राः स्मर उदय दायिनः
रहसि मृगीदृशां स्वैर आलापः किम् अपि हरन्ति ।।

शब्दार्थ

प्रणय = प्रीति
मधुराः = बरसाने वाली
प्रेमउद्गाराः = प्रेम उगलने वाली,
रस आश्रयतां = अनुराग के उद्गम तक
गताः = पहुंची हुई,
भणिति = बोल की
मधुराः = मीठी,
मुग्धप्रायाः = परिपूर्ण यौवना,
प्रकाशित संमदा = मस्ती से भरी हुई,
प्रकृति सुभगा = स्वाभाविक सुन्दरी,
विस्त्रम्भ = विश्वास से
आर्द्राः = सराबोर
स्मर = काम-वासना
उदय दायिनः = जगाने वाली
रहसि = एकान्त में
मृगीदृशाम् = मृगनयनियों की
स्वैर आलापाः = स्नेह से सराबोर बातें
किम् अपि = क्या कुछ
हरन्ति = खींचे जाती है

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में यौवन की सुगंध पाकर पास पहुंच गए । इसमें एकांत वार्तालाप का आस्वादन हो रहा है ।

एकान्त वार्तालाप प्रणय का प्रथम सोपान है । दुकेलों का अकेले में मिलना वास्तव में एक-मन होना है । दोनों के मनों में एक ही विषय का ध्यान हो तभी एकान्त मिलन होता है । श्लोक में युवती का वर्णन है, किन्तु वार्तालाप युवक-युवती दोनों में है । जो बातें युवती के बारे में कही गयी हैं; एकदम वही बातें युवक पर भी लागू होती हैं । जिस प्रकार युवती की बातें युवक के मन को भाती हैं उसी प्रकार युवक की बातें युवती के मन को मोह लेती हैं ।

'प्रणय' शब्द से श्लोक आरम्भ होता है। इन स्नेह-भरी बातों में अत्यन्त आत्मीयता बल्कि एकात्मता विद्यमान होती है। दूर-दूर रहने में दुविधा में पड़े रहते थे अब एकान्त मिलन की सुविधा पाकर संतप्त मन को शान्त कर लेते हैं। प्रणय शब्द इसी अवस्था को सूचित करता है। प्रथम मिलन में परस्पर प्रेम निछावर करते हैं। ऐसा अनुभव करने लगते हैं मानो प्रेम के स्रोत को पा गये हैं, एक को दूसरे की बोली इतनी मीठी लगती है कि मानो मुंह से मुंह लगाकर प्रत्येक शब्द को इतनी निशब्दता से पी जाते हैं कि शब्दवाहक-हवा से भी अछूते रहते हैं। बालावस्था को पार कर मुग्धावस्था को प्राप्त होने के बाद ही तो कामोत्तेजना होती है और यही कारण है कि वे एक दम मुग्ध हो जाते हैं।

प्रेमनगर में वन-वे-ट्राफिक वर्जनीय है—इस नगरी में एकरुखी रास्ता एकदम बंद है। मुगधता की मोटरें पूरी पावर के साथ एकसाथ दोनों ओर से एक ही सड़क पर से गुजरती हैं। मदन की मस्ती दोनों मोटरों पर सवार है। दोनों मोटरें पूरी रफ्तार से दौड़ती हैं। बार-बार आमने-सामने होती हैं। पर आगे गुज़र जाती हैं। समझते हैं अवसर जाता रहा। फिर-फिर आती हैं। परस्पर टकरा जाती हैं। प्रेम नगरी में ट्राफिक पुलिस को हस्तक्षेप करने का हक नहीं है। टक्कर होती है, पर मरते नहीं, मिलते हैं। टक्कर से मोटर टूटते नहीं। डबल इंजन एक साथ डबल ताकत से आकाश की ओर उड़ते हैं। दुनियादारी से दूर प्रकृतरूप में प्रत्यक्ष हो जाते हैं और प्राकृतिक सौंदर्य पर मुग्ध हो जाते हैं। प्रथम मिलन की स्निग्धता में दोनों ही सराबोर होते हैं। उस सिहिरन में कामदेव के पुष्प-बाण उन्हें बेताब करते हैं। एकान्त की वह बातें किसको हर नहीं लेतीं। तपोधन मुनि-महात्मा भी मोहनांगी पर मुग्ध हो जाते हैं और आश्रमवासी ऋषि-कन्याएं भी रीझ जाती हैं। तो समाज में रहनेवाले युवा युवतियों में उद्वेग हो जाय तो आश्चर्य की कौन बात है। वे मिले हैं, आप खिसकिए यहां से, रंग में भंग न होने पावे। हम अलग हों और अगले दशक का दरवाजा खटखटाएं।

श्लोक २१

विश्रम्य विश्रम्य वने द्रुमाणां
छायासु तन्वी विचचार काचित् ।
स्तनोत्तरीयेण करोद्‌धृतेन
निवारयन्ती शशिनो मयूरवान् ॥

शब्द विच्छेद

स्तनोत्तरीयेण = स्तन + उत्तरीयेण
करोद्‌धृतेन = कर + उद् + धृतेन

शब्दान्वय

काचित् तन्वी वने कर उद्‌धृतेन स्तन उत्तरीयेण
शशिनः मयूरवान् निवारयन्ती
द्रुमाणां छायासु विश्रम्य विश्रम्य विचचार ।

शब्दार्थ

काचित् = कोई
तन्वी = तरुणी
वने = वन में, बगीचे में,
कर = हाथ से
उद्‌धृतेन = उठाये हुए
उत्तरीयेण = पल्लो से
शशिनः = चन्द्रमा के
मयूरवान् = किरणों को
निवारयन्ती = हटाती हुई,
बचाती हुई
द्रुमाणां = पेड़ों की
छायासु = छाया में
विश्रम्य विश्रम्य = सुस्ता-सुस्ता कर
विचचार = घूमती गयी ।

भावार्थ

चांदनी रात है। छरहरे बदन की एक तरुणी वन में अकेली घूम रही है। जब चलती है तब पल्लो उठाकर सिर पर तान कर चन्द्रमा की किरणों से बचने की चेष्टा करती है और बारम्बार पेड़ों की छाया में सुस्ताती है।

विशेषार्थ

रात में रमणी वन में अकेली ? जरूर कोई बात है। रास्ता तय कर रही है, पर पहुंचने की जल्दी नहीं है। पेड़-पेड़ के नीचे बैठ जाती है। लगता है कि रात काटने के लिए वन में पहुंची है। चांदनी में चमके नहीं, चेहरे पर पल्लो ओढ़े है। बार-बार अंधेरी छाया में बैठ जाती है। प्रतीत होता है किसी की प्रतीक्षा है। किस की प्रतीक्षा ? पिछले श्लोक के संदर्भ को सोचकर समझने की चेष्टा कीजिए। 'रहसि स्वैरालापः' पीछे एकबार छिपकर गुपचुप बातचीत हुई थी। क्या तय हुआ होगा तब ? चांदनी रात में चेहरा छिपा-छिपाकर पेड़ों के नीचे बैठ-बैठ कर प्रेमी की प्रतीक्षा तो नहीं हो रही है ? कहने की कौन बात है ? निश्चय ही वन-मिलन की बात हुई थी।

गांव है तो सटा हुआ जंगल हो सकता है, या बड़ी बस्ती है तो बाग-बगीचा। दूर के जगल की बात हो नहीं सकती, क्योंकि घर से देर की निकली नहीं लगती। घर दूर भी नहीं है, इसीलिए जल्दी भी नहीं है, बार-बार बैठ जो जा रही है। पेड़ों के नीचे क्यों बैठती है ? छाया में जहां चांदनी छिटकी नहीं है। घुप अंधेरा है कि कोई देख न पावे। चांदनी में चलते चेहरे पर पल्लो का आड़ लेने का भी यही मतलब है। हमारी यह नायिका अभिसारिका है, स्वेत-वसन है और शुभ्र स्वेतांगना। स्वेत वस्त्र चांदनी के उजाले से मेल खा जाता है, किन्तु उसका शुभ्र स्वेतांग चांदनी से भी अधिक उज्जवल है। चांदनी के छिप जाने या वदन के मैला होने का डर नहीं है। यहां केवल उजाले से छिपने के लिए आंचल और अंधेरे का सहारा लेना है।

क्या कोई डर खाये जा रहा है बिचारी को ? नहीं जब प्यार किया तब डरना क्या ? हां, जरूर इंतजार मारे डाल रहा है। इंतजार की बेचैनी बड़ी बुरी होती है। बार-बार उठना। झांक-झांककर देखना। फिर बैठ जाना। आस में त्रास कहां ? 'मरकर भी चैन न पाया तो क्या करें ?' बस आस पर जीते जायें। दो कदम चलें। इस पेड़ के पत्तों में झांके। उस पेड़ की छाया में बैठें। चलें तो मानो कांटों पर चल रहे हैं। बचा-बचाकर धीमे-धीमे पग उठा रहे हैं। बैठें तो मानो अंगारों पर बैठे हैं। चुभन, तपन।

विराहाग्नि असहनीय है। शीतल चन्द्र-किरण विरहाग्नि को और भी तीक्ष्ण कर देते हैं। पंखा तो है नहीं, पल्लू से ही वारण करें किरणों को और पल्लू ही का पंखा झलें। फिकर, इंतजार, एक-एक पल मानो युग-युगान्तर लग रहे हैं। क्या सचमुच देर हो रही है ! नहीं, प्रेमी भी कम पागल न हो रहा होगा पर लगाकर पहुंचने के लिए। सच्ची बात तो यह है कि कामातुर पागल ही होता है। मन देने

में तन वश में नहीं रहता। बार-बार उठना-बैठना, शीतल चंदा से गरमी महसूस करना, पल को प्रलय मानना, ये सब पागलपन ही तो है। काम शास्त्र के इसी पागलपन में लोग आत्महत्या भी कर लेते हैं। परंतु हमारी कामिनी कृतार्थ अवश्य होगी—'भामेवेध्यसि न संशयः' वरदान प्राप्त है। आगे चलिए।

श्लोक २२

अदर्शने दर्शनमात्रकामा दृष्टवा परिष्वंगरसैकलोला।
आलिंगितायां पुनरायताक्ष्यामाशास्महे विग्रहयोरभेदम्॥

शब्द विच्छेद

रसैक = रस + एक
पुनरायताक्ष्यामाशास्महे = पुनः + आयताक्ष्याम् + आशास्महे
विग्रहयोरभेदम् = विग्रहयोः + अभेदम्

शब्दान्वय

अदर्शने दर्शनमात्रकामा दृष्ट्वा परिष्वंग रस एक लोला,
आलिंगितायां पुनः आयतक्ष्यां विग्रहयोः अभेदम् आशास्महे।

शब्दार्थ

अदर्शने = देखने से पहले जब तक देखा न हो तब तक
दर्शन मात्र = देख लेने भर के लिए
कामा = लालायित रहते हैं।
दृष्ट्वा = देख लेने पर
परिष्वंग = बाहों में भर लेने के
रसएक = सुख मात्र को
लोला = तरसते हैं,
आयताक्ष्याम् = बड़ी बड़ी आंखोंवाली तरुणी को
आलिंगितायां = बाहों में भर लेने के बाद
विग्रहयोः = उन शरीरों में

पुनः = फिर कभी	बगल में रहने की
अभेदम् = अलग न होने की, सदा	आशास्महे = वांछा रखते हैं

भावार्थ

किसी युवती के बारे में सुना ही है, कभी देखा नहीं, तब तक एक बार देख-भर लेने की लालसा जोर मारती है। देख लेने के बाद एक बार बाहों में भर लेने के लिए लालायित रहते हैं। जब वह भी हो गया तब यही मनाते हैं कि फिर कभी जुदा न हों और जोड़ी सदा बनी रहे।

विशेषार्थ

श्लोक का प्रथम चरण पिछले श्लोक की ओर इंगित करता है। एक सुंदरी है जिसकी चर्चा बहुत सुनी है, पर कभी उस सुंदरी को स्वयं देखने का संयोग नहीं हुआ। एक झांकी-भर मिल जाय, यही चाह रहती है। संयोग से वह एक बार दीख पड़ती है अथवा ऐन केन प्रकारेण देख लेने पर संतोष हो जाना चाहिए। परंतु दर्शन से तृप्ति नहीं होती, वरन तृष्णा और बढ़ती है। क्यों न हो। पहले केवल सुना था, कहिए फोटो या चित्र नहीं, वरन् शाब्दिक चित्र को केवल भावना जगत में देखता था। प्रत्यक्ष होने का प्रभाव ही निराला होगा। जब भगवान की भावना मात्र से मन को शान्ति मिलती है। तब तो भगवान के साक्षात होने पर तो शाश्वत शान्ति प्राप्त होनी चाहिए। सदा उसी को देखते रहें और उसी में लीन हो जायें, यही मन करेगा। अस्तु दर्शन पाने के बाद युवती के स्पर्श-सुख भोगने की इच्छा होना स्वाभाविक है। दर्शन बड़ी चीज है। एक बार जरूर देख लो। पहले केवल मन से देखते थे। अब आंख से देख लिया। आंख-से-आंख मिल गयी तो शरीर-भर आंख-ही-आंख हो जाते हैं और सभी आंखें जहां की तहां परस्पर मिलने को लालायित होती हैं। आलिंगन की अभिलाषा का यही कारण समझिए। पिछले श्लोक से यही सिद्ध होता है।

द्वितीय दशक के अंतिम श्लोक में प्रथम मिलन का वर्णन था। मिलन एवं वार्तालाप भी दर्शन के अंतर्गत आ जाते हैं। उस प्रथम मिलन में परस्पर यही तय हुआ था कि फिर मिलेंगे और तय हुआ था निश्चित समय और निश्चित स्थान भी। निश्चित युवक करे या युवती, बाद की बातें दोनों की सम्मति से ही होती हैं। यही कारण है कि पिछले श्लोक में युवती ही वन में बेचैनी से प्रतीक्षा कर रही थी। प्रस्तुत श्लोक में दोनों गढालिगन का आनंद लूट रहे हैं। पहले मन

एक था पर शरीर दो थे, अब एक ही बने रहना चाहते हैं। मनोदान, और शरीर-दान की पुष्टि अब वाग्दान से हो रही है। उल्टी बात। बात का क्या भरोसा, जब तक उसे से पूरा न करें। शरीर का क्या ठिकाना जब तक मन से न हो। संदेह का अवकाश नहीं है। यह सब व्यापार वाचा, काया, मनसा हो रहा है। अनन्य आत्मीयता है युवा-युवती में। उत्कट इच्छा का परिणाम सदा अच्छा ही होता है। धन्य-धन्य दम्पति युगल।

श्लोक २३

मालती शिरसि जृम्भणोन्मुखी चन्दनं वपुषि कुंकुमविलम् ।
वक्षसि प्रियतमा मदालसा स्वर्ग एव परिशिष्ट आगमः ॥

शब्द विच्छेद

जृम्भाणोन्मुखी = जृम्भण + उन्मुखी
कुंकुमाविलम् = कुंकुम् + आविलं
मदालसा = मद + अलसा

शब्दान्वय

शिरसि जृम्भण उन्मुखी मालती, वपुषि कुंकुम आविलं चंदनं
वक्षसि मद-अलसा प्रियतमा, एषः स्वर्ग परिशिष्टः आगमः।

शब्दार्थ

शिरसि = सिर में, बालों में,
जृम्भण उन्मुखी = खिलते हुए
मालती = मालती फूल गुन्थी हुई,
वपुषि = शरीर में
कुंकुम आविलं = केशर मिली
चंदनं = चदन

वक्षसि = छाती पर
मद-अलसा = मस्ती से सुस्त पड़ी
प्रियतमा = प्रीतम हो
स्वर्गः एष = यही स्वर्ग है
परिशिष्टः = उपरोक्त सुख का अवशेष या अंत मात्र है।
आगमः = वेद शास्त्रों में स्वर्गीय वर्ण

भावार्थ

सिर में सुगंधित फूल माला गूंथ, शरीर में केसरी चंदन लेपकर मस्ती से अलसाई युवती छाती पर पड़ी हो, यही स्वर्गीय सुख है। वेदशास्त्रों में वर्णित स्वर्गीय-सुख ऐसे सुखानंद का अंतिम सूत्र मात्र है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कामातुर के वर्णन से पिया मिलन तक पहुंचकर शाश्वत सुयोग की कामना की गयी थी। इस श्लोक में उस प्रकार कामना करने का कारण बताया गया है।

साधारणतया संसार में जीवन यापन करते हुए जीवनांत में स्वर्गप्राप्ति की इच्छा की जाती है। हर मरने वाले को स्वर्गवासी कहना सदाचार का सूचक है। वेद पुराण इस भावना की पुष्टि करते हैं। होगा, पर इसकी गारंटी कहां है कि संसार से सीधे स्वर्ग ही में पदार्पण करेंगे। बाद क्या होगा, उसे कोई नहीं जान सकता। इस श्लोक में विपरीत बात कही गई है कि स्वर्ग संसार में है और सर्व-सुलभ है। एक नमूना—

प्रिया प्रीतम छाती से छाती सटाकर विराजमान हैं। शरीर में केसरी चंदन, बालों में फूल गुंथ रहे हैं। मुख से मुख मिले हैं। सिर पर माला है। पूर्ण विकसित फूलों की नहीं, खिलती कलियों की है। सुगंधी बासी नहीं एकदम अछूती और सुगंध छिटक रही है। सारी सुगन्धी उन ही की नाकों में बसी है। दुर्गन्ध से एकदम दूर। चेहरे दोनों के पास-पास हैं। एक-दूसरे की आंखों में वे ही वे बसे हैं। मस्ती में छातियां फूल उठी हैं। एक-दूसरे के मनों का साक्षात् सम्मिलन हो रहा है। बीच में किसी अन्य के प्रवेश का अवकाश नहीं है। अन्योन्य तन्मयता की पराकाष्ठा परमानन्द में परिणत हो रही है। स्वर्ग में भी कर्मों के अनुक्रम से कुर्सियां लगी तो होंगी। आनन्दानुभव भी क्रमबद्ध होगा सुरराज के दरबार में। समाजवाद हो, इसकी कल्पना करना दुशवार है। कौन जाने, पति स्वर्ग सिधारे और पत्नी को नरक की राह लेनी पड़े। परन्तु कामराज के दरबार में समाजवाद भी है और समान-वाद भी है और उसके साथ सम्पूर्ण स्वराज भी। यहां जो परमानन्द है वह नित्यान्द भी है। सच्ची बात यह कि संसार में स्वर्गीय सुख सर्व-सुलभ हैं। 'तस्यास्तनो यदि धनो' वाले श्लोक में कहा ही गया है कि पूर्वकृत पुण्यों से ही यहां उन-जैसी युवतियों की प्राप्ति होती है। अभिप्राय यही हुआ कि पुण्य का फल भोगने के लिए मरने की जरूरत नहीं है कि स्वर्ग में उनका उपभोग करें। भोग तो हमें यहीं उपलब्ध है और भोगों में सम-भोग सर्वोत्तम है। समान सहयोग

सम्भोग की सफलता है। ईर्षा, डाह का यहां नाम-निशान नहीं, जी चुराकर काम चोर यहां वन नहीं सकता। त्रास यहां अखरता नहीं। अत्याचार भी यहां आनन्द-प्रद होता है। सम्भोग में जो सम-आनन्द है वह किस स्वर्ग में होगा। कोई उस स्वर्ग को माने या न माने, सम-भोग को स्वर्ग का द्वार तो मानना ही पड़ेगा। दैव लोक के उस स्वर्ग तक कोई पहुंचे या न पहुंचे, यह भूलोक-स्वर्गद्वार तो सबके लिए खुला है—'स्वर्गद्वारमपावृतम्'

श्लोक २४

प्राक्मामेति मनागनागतरसं जाताभिलाषं ततः
सव्रीडं तदनु श्लथीकृततनु प्रत्यस्तधैर्यं पुनः।
प्रेमार्दस्पृहणीयनिर्भररहः क्रीडाप्रगल्भं ततो
निःशंकांग विकर्षणाधिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम्॥

शब्द विच्छेव

प्राक्मामेति = प्राक् + मा + मा + इति
मनागनागत = मनाक् + अनागत
जाताभिलाषं = जात + अभिलाषं
तदनु = तत् + अनु
निर्भर = निः + भर
निःशंकांग = निःशंक + अंग
विकर्षणाधिक = विकर्षण + अधिक

शब्दान्वय

प्राक मनाक् मा मा इति अनागत रसं, ततः जात अभिलाषं,
सव्रीडं तनुः श्लथी कृतः, पुनः प्रत्यस्त धैर्यं, प्रेम आर्द
स्पृहणीय निर्मर रहः क्रीडा प्रगल्भं,
ततः निःशंक अंग विकर्षण अधिक सुखं कुल स्त्री रतं रम्यम्॥

शब्दार्थ

प्राक् = पहले
मनाक् = थोड़ी बहुत
मा मा इति = ना, ना कर
अनागत रसं = रुचि का जाग्रत होना
ततः = बाद में
जातअभिलाषं = इच्छा उत्पन्न हो
सव्रीडं = लजाती हुई
तनु = शरीर को
श्लथीकृतः = ढिलाकर
पुनः = फिर, और
प्रत्यस्त धैर्यं = धीरज खोकर
प्रेम आर्द्र = स्नेह से सनी
स्पृहणीय = वांछनीय
निर्भर = आतुरतापूर्वक
रहः क्रीडा = एकान्त सम्भोग क्रीड़ा में
प्रगल्भं = ढिटाई करना
ततः = और तब
निःशंक = बे खटके
अंग विघर्षण = अंगों के धसर-पसर से
अधिक सुखं = अधिकाधिक आनन्द अनुभव करना (इस प्रकार)
कुल स्त्री रतं = धर्म-पत्नी के साथ सम्भोग
रम्यं = अत्यन्त आनन्ददायक होता है

भावार्थ

गरमाने से पहले ना, ना, करे और धीरे-धीरे गरमाकर लजा जाय, फिर तन ढील दे जाय और अधीर हो स्नेह में सनकर मनभाती रतिक्रीड़ा के लिए आतुरता दर्शावे और तब धसर-पसर में खूब रस लेवे। सचमुच कुलस्त्री का सम्भोग अतिशय आनन्ददायक है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में सति के साथ सांसारिक स्वर्ग के प्रवेश-द्वार पर थे और इस श्लोक में उस स्वर्गीय सुख के उपभोग का उपक्रम है।

सुहाग की पहली रात है। मान लो, रतजगी की वात है। निश्चय ही निश्चित कार्य कुछ क्षणों में पूरा हो जाय, परन्तु तैयारी में कुछ भी कसर रह जाय तो सारा मजा किरकिरा हो जाय। तैयार होकर ही तो साथ-साथ आ बैठे हैं फिर तैयारी किस बात की। आतुर न होओ, तैयारी बहुत करनी है, पहले बातों से, फिर हाथों से। कच्ची या पक्की उम्र के कोई नहीं, न दूल्हा, न दुलहिन। इसलिए कातरता का कोई कारण नहीं।

मीठी-मीठी बोल से बातचीत चले, तो भी कुछ देर वह गुमसुम ही रहेगी।

पिछली बातों की याद दिलाओ। अगली बातों का ध्यान दिलाओ। मैं, तुम से 'हम' पर आओ। अपनत्व आता जायेगा और गाड़ी आगे बढ़ेगी। अब हाथ बढ़ाओ। हौले-हौले पल्लो हटाओ। सिर पर बाल संवारो। कंधे पर बांह धरो। पहुंचा थामो। ठोड़ी पर हाथ देकर मुख ताको। मूरत की सुन्दरता बखानो। सिरजनहार की जय-जयकार करो। सिर को सूंघे। माथे को चूमो। आंखों में आंख डालो। नाक की नोक से नोक स्पर्श करो। गालों के गड्ढों में उंगली दो। ओठों पर फेर दो। ओठों से होठों का मिठास चक्खो तो सांसों की गरमाई में सुगंधी पाओगे। धीमे-धीमे बोलें, धीरज धरें। ग़ैरों का यहां जिक्र नहीं। सारी रात अपनी है। नई-नई दुलहिन की ना, ना, में हां, हां की सर-गम का तान।

हां, नया काम लुभावना भी होता है और डरवाना भी। दुल्हा, दुलहिन दोनों की भी यही दशा। धीरे-धीरे धीरज जमने लगता है। गरमाई आने लगती है, पर लाज आड़े आती है। मारे झेंप के अबला आंखें नीची कर लेती है। समझलो, मोरचा टूट गया और तुमने मैदान मार लिया। उसकी नीची निगाहों से तुम्हारी निगाहें भी मानो इशारा पाकर नीचे की ओर दौड़ीं। गले की माला छातियों पर उछल-कूद रही है। सांस जोर-जोर से चलने लगी है। ज्यों-ज्यों तुम बढ़ोगे त्यों-त्यों वह सिकुड़ती जायेगी। पीठ को सुहालो। छाती से चपका लो। शरीर में बिजली दौड़ जायेगी। अंग-अंग ढीले पड़ जायेंगे। परन्तु तुम्हारी छाती पर दाब बढ़ेगा जो मात्र मन की ढिटाई है जिसे वह छातियों से उगल रही है। दुलहिन पिघल-पनियाकर पगलाई जा रही है। तुकी बतुकी ईंट का जवाब पत्थर से दे रही है। मुक्कम-मुक्का, कुश्तम-कुश्ता। झूठ कहता कोई शायर कि 'बड़ा मजा उस मिलाप में है जो बाद जंग व जहाद के होवे' अनुभव यही कहता है कि सुहागरात सचमुच सहयोमय संघर्ष की बेला है। वह रण मचता है और उसमें जो मजा है वह स्वर्ग-पाताल में कहीं नहीं है। पिछले श्लोक ही में तो कहा गया है कि उस शास्त्रोक्त काल्पनिक स्वर्ग को इसी संसार में और इसी जीवन में वास्तविकता प्रदान की जा सकती है। गृहस्थ जीवन स्वर्गीय सुख की खान है।

श्लोक में उपयुक्त दो शब्द 'कुल' तथा 'क्रीड़ा' पर भी थोड़ी सी चर्चा हो जाय। 'कुलस्त्री', का प्रयोग धर्मपत्नी के लिए हुआ है। 'कुल स्त्री' यह नाम कैसे पड़ा ?

कुल के माने कबीला, या घराना। क्या एक स्त्री घराने-भर की या कबीले-

भर की हो सकती है ? यह शब्द उस युग का है जब लोग कबीलों में बटे रहते थे। अलग-अलग कबीलों में आपस में लड़ाई होती थी और जीतने वाला हारनेवालों के मालमता के साथ उनकी अबलाओं को भी उठा ले जाते थे। ऐसी अबलाएं निश्चय ही कबीले-भर की या किसी घराने की बन जाती थीं। एक बात और भी है। संसार में जिस प्रकार बहुपत्नी का रिवाज था और आज भी अक्सर जगहों पर है, उसी प्रकार किसी-किसी प्रान्त में बहुपति का रिवाज भी है। हिमाचल प्रदेश के सीमान्त किन्नर प्रान्त में एक ही दुलहिन उस घर के सभी छोटे-बड़े भाइयों की पत्नी होती है। लड़की की मंगनी आदि नहीं होती। स्वांग ही सही, बलात् उठा भागते हैं और घर ले जाकर शादी कर ली जाती है और एक ही मां के सब भाइयों की अकेली पत्नी बना ली जाती है। वे लोग महाभारत के पांडवों को अपने पूर्वज मानते हैं। वास्तव में यह प्रथा परिवार-नियोजन की एक प्राचीन पद्धति है। या यों कहिए, स्त्री ही घर की मालकिन और घर के लोग उसके चाकर। पत्नी ही मालकिन है घर-भर की और कुल या कबीले भर की।

अब शब्द क्रीड़ा लीजिए। क्रीड़ा के माने खेल। 'रहः क्रीड़ा' वह खेल है जो एकान्त में खेला जाय। एकांत क्रीड़ा का मतलब अकेले ही खेल लेने के खेल नहीं। दो खिलाड़ी हैं, एक पुरुष, एक स्त्री। खेल में दोनों खिलाड़ी बराबर। डीलडौल में भी और जोर-आजमाई में भी। मात्र लिंग-भेद को आलिंगन से समान कर लेते हैं। फिर ऐसे खेलते हैं जैसे लड़ते हों। मानो एक-दूसरे को खा जाने, निगल जाने पर उतारू हों। अपना-अपना जोर लगाने में कसर नहीं छोड़ते। पर एक का जोर दूसरे के जोर को और भी उभारता है। एक काटता है तो दूसरा खरोंचता है। एक मसल डालता है तो दूसरा भींच लेता है। बराबर के पहलवान अखाड़े में जूझे हैं। बाहर के पहलवान लंगोट कसकर अखाड़े में उतरते हैं तो ये उतारकर जोर आजमाते हैं। वे एक-दूसरे को मारते हैं तो ये एक-दूसरे पर मरते हैं और बराबर का मजा लेते हैं। यहां हार-जीत का सवाल नहीं, बल्कि आनंद परमानंद का समान अभिमान होता है। इसीलिए यह समभोग है और इसीलिए यह खेल-क्रीड़ा।

तेलुगु भाषा में खेल को 'आटा' कहते हैं। इस 'आटा' शब्द का प्रयोग व्यापक रूप में होता है।' खेल-कूद, हंसी-मजाक, गाली-गलौज, मार-पीट और रति-सम्भोग के साथ भी 'आटा' अनिवार्य है। 'आटा' शब्द भाषा-भाषियों की स्पोर्टिंग-स्पिरिट का सूचक है—स्पिरिट—रूह—आत्मा। अफ़सोस, अब उस 'आटा'

शब्द से आत्मा उड़ गयी है, लाश पड़ी हुयी है। बिना समान स्पोर्टिंग-स्पिरिट के बलात्कार है—सम्भोग—सम-भोग नहीं, श्रम-भोग, बल्कि शव-भोग मात्र है।

श्लोक २५

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानाम्
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम्।
उपरिसुरतिखेदस्विन्नगण्डस्थलीनाम्
अधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति॥

शब्द-विच्छेद

किंचिदुन्मीलित=किंचित्+उन्मीलित

शब्दार्थ

उरसि=छाती पर
निपतितानां=पड़ी हो,
स्त्रस्त=खुली हुई,
धम्मिलिकानां=चोटी हो,
मुकुलित=मुंदी हुई
नयनानां=आंखें हों, (किंतु)
किंचित्=कुछ-कुछ
उन्मीलिनां=खुली भी हों,

उपरि सुरति=विपरीत रति की
खेद=पसीज से
स्विन्न=गीले-गीले
गंडस्थलीनां=गाल हों, (ऐसी)
अधर मधु=अधरामृत
वधूनां=दुलहिनों के
भाग्यवंतः=भाग्यवान ही
पिबन्ति=पान करते हैं।

भावार्थ

केश खुल-खुल कर मुख पर खेल रहे हों, आंखें अधखुली हों विपरीत रति की पसीज से गाल गिलाये जा रहे हों, ऐसी स्नेहस्निग्ध अर्धांगिनी का अधरामृत पान करने का सुयोग महान पुण्यवान पुरुषों को ही प्राप्त होता है।

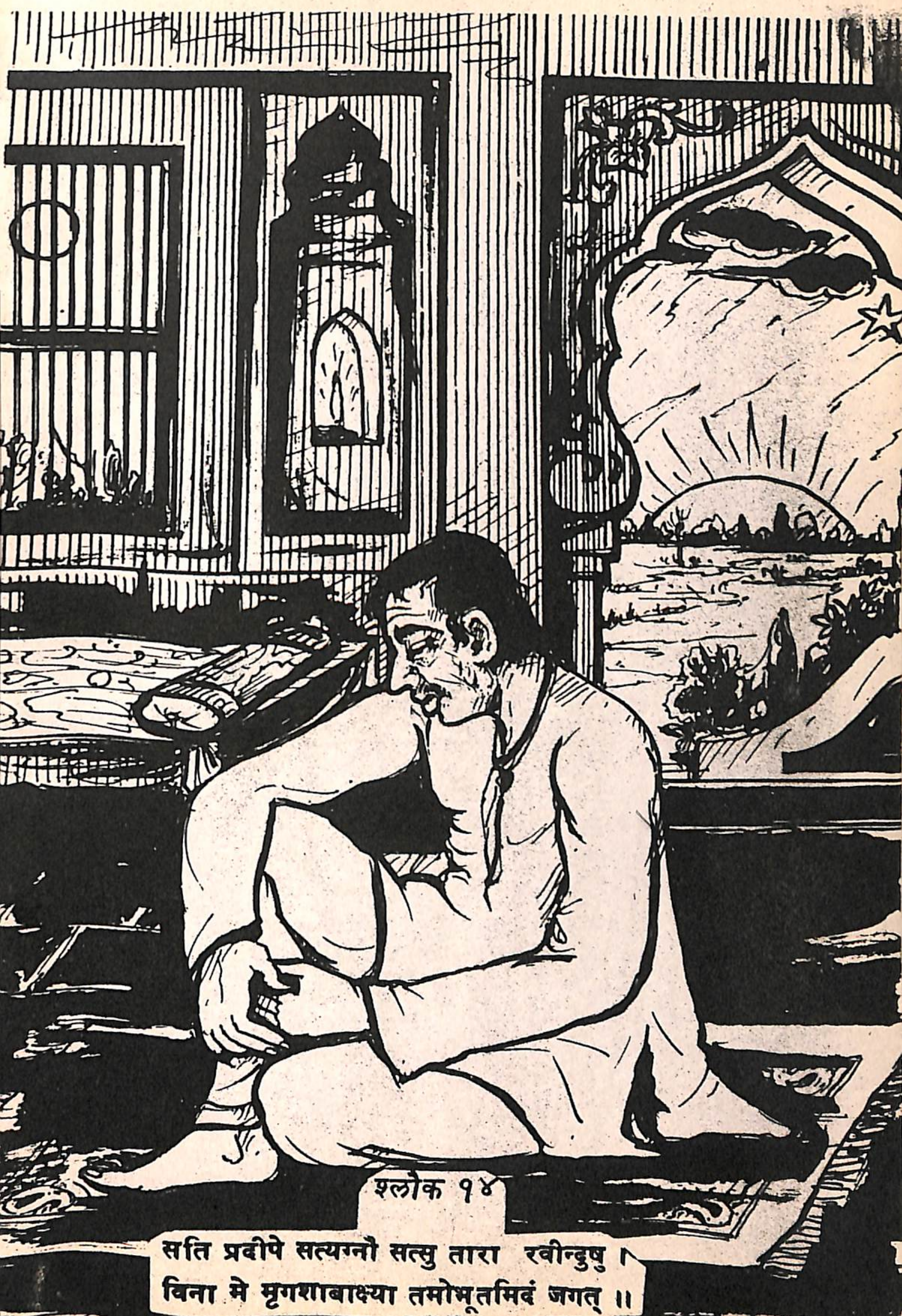

श्लोक १४

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारा रवीन्दुषु ।
विना मे मृगशाबाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत् ॥

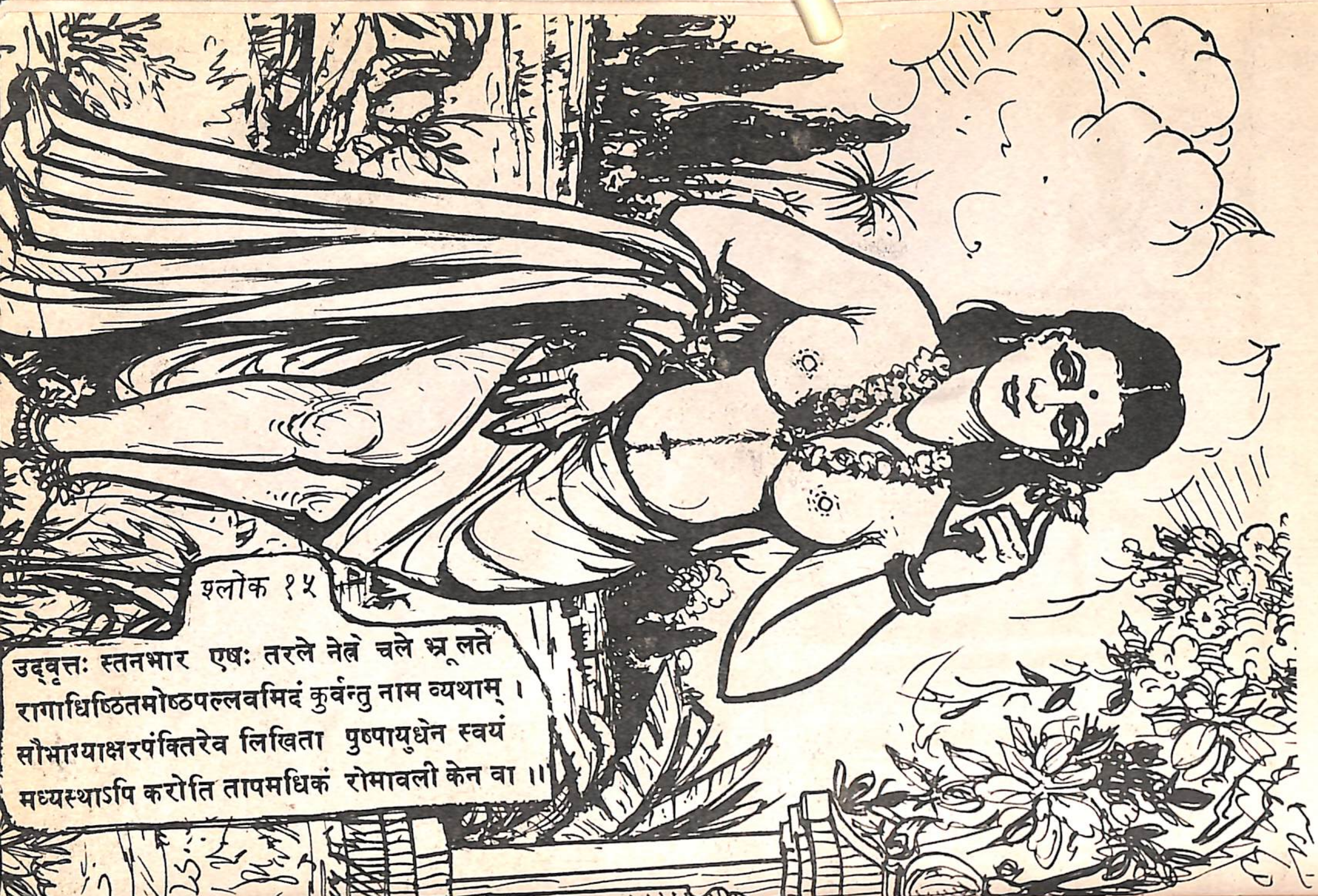

श्लोक १५

उद्वृत्तः स्तनभार एषः तरले नेत्रे चले भ्रूलते
रागाधिष्ठितमोष्ठपल्लवमिदं कुर्वन्तु नाम व्यथाम् ।
सौभाग्याक्षरपंक्तिरेव लिखिता पुष्पायुधेन स्वयं
मध्यस्थाऽपि करोति तापमधिकं रोमावली केन वा ॥

: ६५ :

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में रतिक्रीड़ा की चर्चा थी। इस श्लोक में रति के साथ-साथ शब्द 'सु' जोड़कर रति-स्तर को बढ़ोतरी दी गयी है। क्यों ? इसलिए कि यह सम्भोग की साधारण रीति नहीं है जिसमें पुरुष अधिक कार्यरत रहता है। यहां उपरि रति अथवा विपरीत रति का बखान है। विपरीत रति में स्त्री कार्यभार आप सम्भालती है। पुरुष बस चित्त पड़ जाता है। साधारण सम्भोग में भर्ता का शारीरिक भार भार्या वहन करती है। विपरीत रति में कार्य का भार स्त्री निर्वहण करती है। सच्ची बात यह है कि भार-वहन करना अधिक आनंद का धन्धा है। तभी तो यहां पुरुष छककर अधरामृत पान कर रहा है और तभी उसे भाग्यवान कहा जा रहा है। ऐसा सुयोग पूर्वपुण्यों के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होता है। मतलब हुआ कि पहले भी पुण्यवान था अर्थात् भाग्यवान था और अब महान भाग्यवान। क्या इसी कारण संसार में भागवान और भी भागवान उत्तरोत्तर बनते और अभागा दिन पर दिन और भी अभागा बनता जाता है ?

अपरिमित आनंददायी रति-क्रीड़ा के अवसर पर अभागों का नाम ही क्यों लें। विपरीत रति में रम जायें। उस विपरीत रति में रमी हुई रमणी का वर्णन तो देखो। उस कार्यरत कांता के केश क्यों खुल गये। स्त्री तो अपनी सिखाएं संवार कर सिर के पीछे बांधे रखती हैं। सम्भोग में सिर संवारने की सुध कहां ? मस्त हाथी की चालवाली यहां मानो मस्त घोड़ा बन गया है। उछलकूद मचा रखा है। सिखा खुल गयी है। पीछे पड़े रहने वाले बाल भी आवेश में आगे बढ़कर कपोलों को स्पर्श करते हुए कामिनी को कामांध कर रहे हैं। अच्छा, यह बात है। तभी उसकी आंखें मुंदी जा रही हैं। पड़ा हुआ पुरुष बुद्धू बनकर यही समझ रहा है कि बिचारी लजाकर आंखें मूंद रही है। गलत, एक दम गलत। उसकी आंखें अधखुली हैं। अपने शौर्य का परिवेक्षण कर रही है और अपनी शक्ति-सामर्थ्य का परिशीलन। वह तन-मन से जूझकर घोर परिश्रम कर रही है। देखते नहीं, खून पसीना एक कर रही है। गोरे-गोरे गालों पर उज्ज्वल मोती झलक रहे हैं। समुद्र-मंथन हो रहा है। प्रियतमा के मुख-पात्र से अमृत का स्रोत जारी है। प्रीतम हैं कि आराम से पड़े-पड़े अमृत-पान कर रहे हैं। काम करने वाला खाता नहीं, खिलाता है।

वही युवक है। वही युवती है। देखते-देखते कहां से कहां पहुंच गये। पहले केवल एक-दूसरे को जानते भी न थे। सुनी-सुनाई जानकारी हुई। एक-दूसरे को देखने के लिए तरसते रहे। देख लिया लट्टू हो गये। तय कर लिया। माता-पिता

ने ब्याह रचाया। वर की बारात आयी। वधू की डोली चली। सुहागरात की रत-जगी रही है। भाला बरछियों की चमक-दमक में खटका मिटा। अब अटपटी कैसे और आनाकानी क्यों? रण और रति में सब कुछ उचित है—आसन, अनासन भी, और विपरीत-आसन भी। काम-कला में मुग्धता से प्रौढ़ता तथा कुशलता में सिद्धहस्तता का परिचय मिलता है, जो दोनों में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है।

१. विपरीत रति की यह विधि कामशास्त्र के चौरासी आसनों में से एक है। विभिन्न आसन वधु, वर की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार उपयुक्त होते हैं। अवस्था के अतिरिक्त व्यक्तियों के गुण, स्वभाव के अनुसार ही वे अनुकूल पड़ते हैं। सम्भोग साझे का सौदा है। स्त्री-पुरुष की साझेदारी में मात्र पुरुष का एकाधिकार घोर अन्याय है। अतएव सम्भोग के परिवेश में उपरोक्त विपरीत विधि अवांछनीय नहीं है, फिर भी यह एक प्रतिक्रिया मात्र लगती है। एकांगी कार्यशीलता चाहे पुरुष के पक्ष में हो अथवा स्त्री के पक्ष में, फिर भी वह एकांगी ही है। वात्सायन के काम-सूत्रों में इसका समाधान कहां तक वर्तमान है, अनुसंधान का विषय है। समस्या सामने हो तो समाधान खोज लेना असम्भव नहीं है। अस्तु।

२. रति को क्रीड़ा कहा जाना अत्यंत उपयुक्त है। आवेश मिटाने के लिए नहीं बल्कि आनंद उठाने के लिए रति को क्रीड़ा की उपाधि दी गयी है। सम्भोग को सार्थक बनाने के लिए भी यह आवश्यकीय है कि उसे क्रीड़ा का रूप दिया जाय और तभी दोनों खिलाड़ी समान आनंद को प्राप्त हो सकेंगे। जब यह बात मान ली गयी तब असंगत विवाह, बचपन की शादी, बेजोड़ ब्याह, खरीद-दहेज, और भगाना, बलात्कार करना सदा सर्वदा वर्जनीय हैं, दंडनीय हैं।

श्लोक २६

आमीलितनयनानां यः सुरतरसोऽनुसंविदं भाति।
मिथुनैर्मिथोऽवधारितमवितथमिदमेव कामनिर्वहणम्॥

शब्द विच्छेद

रसोऽनुसंविदं = रसः + अनुसंविदं

मिथुनैर्मिथोऽवधारितमवितथमिदमेव = मिथुनैः + मिथः + अवधारितम् + अवितथम् + इदम् + एव

शब्दान्वय

आमीलित नयनानां यः सुरत रसः अनुसंविदं भाति
मिथुनैः मिथः अवधारितम् ।
इदं एव कामनिर्वहणं अवितथं

शब्दार्थ

आमीलित = अधखुली
नयनानां = आंखों-वालों को अर्थात् संभोगानंद से परवश, स्त्री पुरुष को
यः = जो
सुरत रसः = सम्भोगानंद
अनुसंविदं = पूर्णतया अनुभव ज्ञान के अनुरूप
भाति = झलके, महसूस हो, (उसी सम्भोग को)
मिथुनैः = दम्पतियों द्वारा, पति-पत्नियोंने
मिथः = परस्पर एक मत से
अवधारितम् = निर्णय दिया गया (कि)
इदम् एव = यह ही, यही
कामनिर्वहणं = सम्भोग
अवितथं = अव्यर्थ है, सार्थक है।

भावार्थ

सम्भोगान्तर आनंद परवश होकर अधखुली आंखों से जिस आनंद को पति-पत्नी दोनों ने अनुभव करते हुए संतुष्ट होकर निर्णय दिया कि आज का यह सम्भोग एकदम सार्थक हुआ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि पुण्वान पुरुष ही अधरामृत के अधिकारी होते हैं। व्याख्या के अन्तर्गत सम्भोग के व्यापार में एकाधिकार का तिरस्कार करते हुए समान अधिकार की पुष्टि की गयी थी। परन्तु जहां अधिकार की बात आयेगी वहां कर्तव्य भी सम्मिलित होंगे। कर्तव्य तथा अधिकार इस प्रकार ओत-प्रोत होते हैं कि उनको एक-दूसरे से अलग करना असम्भव-सा प्रतीत होता है। विशेषकर सम्भोग क्रीड़ा में जो अधिकार है वही कर्तव्य भी है और जो कर्तव्य है वह अधिकार भी। पिछले श्लोक में स्त्री-पुरुष के समान कर्तव्याधिकार का पक्ष-पोषण किया गया था। इस श्लोक में समान उपभोगाधिकार पर

पूरा जोर दिया गया है। वास्तविक बात भी यही है कि अन्ततोगत्वा कर्तव्यों को उपभोग की कसौटी पर कसा जाता है और वही कसौटी यहां प्रस्तुत की गयी है। किसने किया और किसने पाया, यह बात और बातों में चल सकती है, अब भी चल रही है और आगे भी किसी न किसी रूप में चलती रहेगी। मगर सम्भोग के विषय में न यह कभी चली है, न आगे चल सकेगी। आज भी चल नहीं रही है। रतिभोग के पूर्णानन्द से वंचित रहने पर स्त्री हो अथवा पुरुष रूपान्तर में उसे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों ने उस चेष्टा को अधिक विकृत रूप देने की चेष्टा की है। अलिफ़लैला-हज़ारदास्तां में शहजादे का हर रात नया निकाह करना और सवेरे उसे मरवा देना, हरम और रनवासों में कठोर पहरे में हंटर मारना इत्यादि, औरतों को अपने नैसर्गिक अधिकार से वंचित रखने की इस प्रकार की हजारों घृणित घिनावनी कारस्तानियों में से ये कुछ एक मात्र हैं। अस्तु।

श्लोक में सम्भोगानंद के उपभोग की कसौटी प्रस्तुत की गयी है। हर नर-नारी को विशेषकर विवाह-बन्धन के पारितोषितों को देख लेना चाहिए कि स्वयं आप ही नहीं आपका साझीदार भी सुरति का रसानुस्वादन पूर्णतया कर पाया कि नहीं। दोनों आमीलित नयनावस्था में अपने काम-निर्वहण को मनः-पूर्वक स्वीकार कर रहे हैं और परितुष्टि का अनुभव कर रहे हैं। यदि हां, तो पिछले श्लोक के अनुसार वे दोनों ही बड़भागी हैं; पुण्यात्मा हैं। यदि दोनों में से एक भी उस परवशता की परकाष्टा को प्राप्त नहीं है तो उन्हें समझ लेना चाहिए कि दोनों ही बड़े अभागे हैं। और अगर दोनों में से एक अतृप्त रह गया तो सम्भवतः परस्पर कटुता उत्पन्न हो सकती है और साधारणतया पापाचरण की राह खुल सकती है। तब तृप्तात्मा का कर्तव्य है कि अतृप्त आत्मा को संतृप्त होने का रास्ता प्रशस्त करे, जो उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। आत्म-संयम की बात और है। वे वास्तव में देवी देवता हैं, परस्पर पूजनीय हैं।

श्लोक २७

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः।
तदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा॥

शब्द विच्छेद

इदमनुचितमक्रमश्च = इदम् + अनुचितम् + अक्रमः + च
यदिह = यदि + इह
जरास्वपि = जरासु + अपि
स्तनपतनावधि = स्तनपतन + अवधि

शब्दान्वय

इह यत् पुंसां जरासु अपि मन्मथाः विकाराः
च तत् नितंत्बिनीनां अपि स्तनपतन अवधि जीवतं वा रतं वा न कृतम्
इदं अनुचितम् च अक्रमः च

शब्दार्थ

इह = इस संसार में
यत् = जैसे
पुंसां = पुरुषों को
जरासु अपि = बुढ़ापे में भी
मन्मथाः विकाराः = कामवासनाएं
च तत् = और तैसे
नितम्बिनीनां अपि = स्त्रियों को भी
स्तनपतन = छातियों के ढलने के
अवधि = समय तक ही
जीवितं वा = जीवित रहने या
रतं वा = सम्भोग
न कृतम् = न किया जाना (भगवान ने जो ऐसा नहीं किया)
इदम् = यह
अनुचितम् = ठीक नहीं है
च अक्रमः = और बेजा है

भावार्थ

ब्रह्मा ने यह बड़ी ही बेजा बात की है जो पुरुष बूढ़े होने पर भी कामवासना से पीड़ित रहते हैं और स्त्रियां छाती ढलने पर भी जीवित रहती हैं और सम्भोग की इच्छा रखती हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में सम्भोग-सुख की पराकाष्ठा को पाने की छुट्टी देने के बाद इस श्लोक में सम्भोग से निवृत्ति पाने का निर्देश प्रस्तुत है।

पीछे २४ व २५वें श्लोकों में रतिक्रीड़ा का ब्यौरा देकर २६वें श्लोक में

सम्भोग सुख के वांछनीय स्वरूप को प्रस्तुत किया गया था। मुग्धावस्था तथा प्रौढ़ावस्था में ही सम्भोग का सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। कच्ची उम्र या बुढ़ापे में वह आनंद मिल ही नहीं सकता। श्लोक में पक्की उम्र की बात तो कही है, परन्तु कच्ची उम्र की बात छेड़ी नहीं है। कारण यही हो सकता है कि उन दिनों बचपन की शादी का रिवाज रहा ही न हो। हजार बारह सौ वर्ष से ही भारत में बाल-विवाह की कुप्रथा चल पड़ी और जड़ पकड़ गयी थी। अब तो कानून से विवाह की कम-से-कम आयु निर्धारित है। वैसे भी अब शादियां देर से हो रही हैं। परिवार नियोजन से भी शादी का शौक घट गया है। परंतु इससे सम्भोग-सुखानुभव की प्रवृत्ति घटी नहीं है। मिटने का तो नाम ही न लीजिए। सच्ची बात यह है कि न इसे घटाया जा सकता है और न मिटाया जा सकता है। मानव बना हा कुछ ऐसा है कि अभ्यंतर रति के अयोग्य होने के बाद भी कम-से-कम बाह्य रति का इच्छुक रहता है। सुंदर चेहरों को देखने, यौवन-मूर्तियों को स्पर्श करने तथा वार्तालाप करने के लिए लालायित रहता है। मानवी-शक्ति क्या, दैवी-शक्ति के लिए भी इस प्रवृत्ति को रोकना असम्भव है। इसीलिए भर्तृहरि ब्रह्मा ही के सिर पर दोष मढ़ देता है और कहता है कि जीवन—प्रमाणमात्र प्रौढ़ावस्था तक रहे, ऐसा न कर उसने अक्रम तथा अनुचित किया है।

जन्म-मरण, यह भगवान की लीला है। जन्म से पूर्व अथवा मरण के पश्चात् मानव स्वयं भले ही कुछ न कर सके, परन्तु इस जीवन-मरण के बीच वह बहुत कुछ कर सकता है। जन्म-मरण का निर्णय यदि प्रारब्ध से ही होता हो तो इन दोनों के बीच की जीवन-अवधि को संवार लेने का श्रेय सामान्यतया पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल होने पर मानव का पुरुषार्थ फलीभूत अवश्य होता है, बशर्ते कि प्रारब्ध बाधक न हो। असाधारण पुरुषार्थी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी, प्रारब्ध जैसी कोई वस्तु हो भी, तो उससे टक्कर लेकर परिस्थितियों के साथ-साथ प्रारब्ध की लीक को भी बदल डालते हैं। मानव में ऐसी शक्ति विद्यमान है तभी तो भर्तृहरि ने ब्रह्मा पर लांछन लगाने का साहस किया है। उनका ऐसा कहना अक्रम या अनुचित नहीं जंचता। परन्तु सभी से ऐसे साहस की आशा नहीं की जा सकती। इसीलिए अनुभवी समाज-शास्त्रियों ने समाज के सुसंगठित रूप से चलने के लिए कुछ सामाजिक नियम निर्धारित किये हैं। जिन पर आचरण करने से दैव पर दोषारोपण करने के दुखदायी कार्य से छुट्टी मिल सकती है।

स्त्री तथा पुरुष के सम्बन्ध में श्लोक में जो कुछ कहा गया है, वह वास्तव में सामाजिक नियमों को आचरण में न ला सकने पर रोष प्रकट करना है। श्लोक

का अभिप्राय यही है कि जवानी के ढलने पर रति भोग की इच्छा करना अनुचित है, अक्रम है। इच्छा-शक्ति का प्रयोग करके शिथिल इन्द्रियों को वश में रखने की चेष्टा करना कोई आसाध्य कार्य नहीं है। बुढ़ापे में ऐसी बेबसी की दशा तभी बन सकती है जब मनुष्य शास्त्रोक्त नियमों को तोड़ता है। वह नियम है आश्रमधर्म।

मानव की जीवन अवधि के सौ वर्ष मानकर, उसे चार आश्रमों में विभाजित किया गया है। २५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्याश्रम, २५ से ५० तक गृहास्थाश्रम, ५० से ७५ तक वानप्रस्थाश्रम और तत्पश्चात् संन्यास। ब्रह्मचर्याश्रम विद्याध्ययन, चारित्रिक तथा शारीरिक गठन के लिए, गृहस्थाश्रम विवाह, सन्तानोत्पत्ति तथा जीवनोपार्जन के लिए, वानप्रस्थाश्रम समाज सेवा के लिए और संन्यासाश्रम चिन्तामुक्त होकर तीर्थयात्रा करने तथा जीवनमुक्त होने की चेष्टा करने के लिए। शृंगार काण्ड गृहस्थाश्रम का अंग है। सो उसके लिए पच्चीस वर्ष पर्याप्त हैं। वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते-करते सन्तान स्वयं गृहस्थाश्रम में पदार्पण कर गृहस्थी सम्भालने के योग्य हो जाती है। तब भी लोग घर को बच्चों को सौंपने तैयार नहीं होते, इसीलिए गृहणी से भी चिपके रहना चाहते हैं। कमाने की वासना छूटे तो काम-वासना भी मिटे। जवानी ढलने पर कमाई छोड़कर किसी काम में लगे रहें, वह भी पराये काम में—समाज सेवा में, तो कामवासना स्वयं झेंप जाएगी।

झेंप की बात आ गयी—जो स्त्रियों का विशेष गुण है। इसी गुण की दुहाई देते हुए स्त्रियों को लताड़ा गया है कि पचास बीत गये। पांच-सात बच्चों की मां भी हो गयीं। छातियां ढल गयीं। बच्चों के बच्चे दादी अम्मा, नानी अम्मा कहने लगे। अब भी लाज नहीं लगती प्रेमलीला से ? मरने की बात न भी हो तो चुल्लू-भर पानी में डूब मरने की बात जरूर है। यही बात पुरुषों के लिए भी है। समाज की उंगली दोनों पर उठेगी। स्पष्ट शब्दों में बुढ़ापे की रति-क्रीड़ा शव-सम्भोग के समान है।

श्लोक २८

राजन्तृष्णाम्बुराशेर्न हि जगति गतः कश्चिदेवावसानं
कोवार्थोऽर्थैः प्रभुतैः स्ववपुषि गलिते यौवने सानुरागे ।
गच्छामः सद्म यावद्विकसित कुमुदेन्दीवरालोकिनीनां-
माक्रम्याक्रम्य रूपं झटिति न जरया लुप्यते प्रेयसीनाम् ।।

शब्द विच्छेद

तृष्णाम्बुराशेर्न = तृष्णा + अम्बुराशेः + न
कश्चिदेवावसानं = कश्चित् + एव + अवसानं
कोवार्थोऽर्थैः = कः + वा + अर्थः + अर्थैः
सानुरागे = स + अनुरागे
यावद्विवकसित = यावत् + विकसित
कुमुदेन्दीवरालोकिनीनामाक्रम्याक्रम्य = कुमुद + इन्दीवर + आलोकिनी-नाम् + आक्रम्य + आक्रम्य

शब्दान्वय

राजन् कश्चित् एव तृष्णा अम्बुराशेः अवसानं न गतः हि
स्व वपुषि स अनुरागे यौवने गलिते प्रभुतैः अर्थैः अर्थः कः वा
विकसित कुमुद इन्दीवर आलोकिनीनां प्रेयसीनाम् रूपं
जरया आक्रम्य आक्रम्य झटिति यावत् न लुप्यते सद्म गच्छामः ।

शब्दार्थ

राजन् = हे राजन्
कश्चित् एव = कोई भी
तृष्णा = आशारूपी
अम्बुराशेः = (जल समूह) समुद्र के
अवसानं = अंत तक, उस पार
न गतः हि = गया ही नहीं, पहुंच ही नहीं पाया, (इसलिए)
स्व वपुषि = अपने शरीर में
स अनुरागे = प्रेम-भरी
यौवने = जवानी
गलिते = गल जाय, बीत जाय, (तब)
प्रभुतैः = विपुल, अत्यधिक
अर्थैः = धन-राशि का
अर्थः = प्रयोजन,
कः वा = क्या है ।

विकसित = खिले हुए
कुमुद इन्दीवर = उज्ज्वल कमल तथा नीलकमल समान
आलोकिनीनां = नयनोंवाली
प्रेयसीनां रूपं = प्रियतमा का रूप
जरया = बुढ़ापे से
आक्रम्य आक्रम्य = पीड़ित हो-हो
झटिति = झट से
यावत् = जब तक
न लुप्यते = लोप न हो जाय
तावत् = तबतक (उससे पहले ही)
सदम् = अपने घर
गच्छामः = जाते हैं।

भावार्थ

हे राजन्, आशारूपी सागर अपरम्पार है। कोई भी अब तक उसके आरपार न जा सका है। हमारे इस शरीर में जवानी के ढल जाने के बाद बुढ़ापे में बहुधन प्राप्त हुआ भी तब वह किस काम का ? इसलिए हे राजन्, अपनी कमल-नयनी के सुंदर रूप को कहीं बुढ़ापा घेरकर बिगाड़ न डाले, हम जल्दी से अपने घर लौट जाना चाहते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि जवानी ढलने पर रति क्रीड़ा वर्जनीय है। श्लोक वास्तव में अनुभवी विद्वानों की स्पष्टोक्ति है, जो सब पर समान रूप से लागू होती है। सदा से यह रीति चली आयी है कि विद्वानों तथा कलाकारों को धनाढ्यों तथा महाराजाधिराजाओं के दरबार में आश्रय मिलता रहा है। आश्रयदाता विद्वानों की इन उक्तियों पर प्रसन्न होते और समझते जरूर हैं कि यह सब हमारे लिए ही कहा जा रहा है। अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति यौवन की उमंगों का भरपूर आनंद लूटते हैं और जवानी के ढलने पर भी बारांगनाओं से क्रीड़ा रचते हैं। पिछले श्लोक में केवल स्त्रियों के लिए ही कहा जाना कि काश वे जवानी बनी रहने तक ही जीवित रहतीं, इसी वस्तु-स्थिति का वर्णन मात्र है, बल्कि उस पर एक प्रकार का व्यंग्य है।

प्रस्तुत श्लोक में अधिकारी वर्ग के इस भ्रम को दूर करने की चेष्टा की गयी है। हे राजन्, आप भाग्यवान हैं और हम भाग्यहीन हैं। तो क्या हुआ, जिस प्रकार आपके अंदर जवानी जोश मारती है, उसी प्रकार हमें भी होता है। धन पाने के लोभ से हम आपके दरबार के चाकर बने हुए हैं। यथेष्ट धन नहीं पाते या जो

पाते वह पुरता नहीं, और अगर कुछ बचा भी लेते हैं तो तृष्णा है कि और पाना चाहती है। सारांश यही कि दरबारदारी करते-करते कलाकार वृद्धावस्था में प्रवेश करने लगते हैं और दरिद्र ही बने रहते हैं। अब वे ऊब कर कह डालते हैं—हम विद्वान हैं तो हमारा आचरण भी शुद्ध है। हम पराई स्त्री को मां, बहन मानते हैं। स्वनारी ही हमारी प्रियनारी है। मूल्यवान वस्त्राभरण न भी हों तो उनकी आंखों में ही सारी सुंदरता समाई हुई है। कुमुद और इन्दीवर कह कर नारी की जो प्रशंसा की गयी है वह निश्चय ही अपूर्व है। दोनों कमल हैं, पर कुमुद दिन में खिलता है और इन्दीवर रात में। अर्थात् रात और दिन उनकी पत्नी अपने लिए आंखें बिछाये बैठी है। हे राजन्, आप यही चाहते हैं कि हम यहां बूढ़े होते जायें और वह वहां। अंत में हमें आप देंगे क्या और दिया तो उसका उपयोग क्या? बुढ़ापे का अर्जन निरर्थक है। इस निरर्थकता के दो कारण हैं। एक तो शरीर शिथिल होने पर धन सामग्री से कोई सुख नहीं मिलता, वरन् रख-रखाव दुःख का कारण बन सकता है। दूसरे जवानी के उपरान्त सम्भोग वर्जित है। स्त्री सन्तानोत्पत्ति के योग्य नहीं रह जाती, जो विवाह का एक मात्र नहीं तो एक प्रधान आशय अवश्य है। ऐसी निरर्थक चाकरी को दूर से नमस्कार कर घर पर बाल-बच्चों के साथ रूखी-सूखी पर गुजारना हजार गुना अच्छा है। सो, कह देता है यह लो, हम चले।

इस श्लोक का एक महत्त्वपूर्ण पहलू और है। यदि दरबारी कवियों और महाराजा, धनियों तक ही श्लोक को सीमित रखा जाय तो इससे समूचे समाज का क्या बनता बिगड़ता है? भर्तृहरि की कोई बात सारे समाज पर लागू न होवे तो भर्तृहरि भी निरर्थक हुआ, पर यह बात नहीं है। राजा महाराज ही नहीं, सभी लोग, सभी लोगों से काम लेते हैं। नौकर-चाकर सबके यहां होते हैं। छोटे-मोटे अधिकारी, साहूकार, दुकानदार, जमींदार, काश्तकार सभी को दूसरों से काम लेना पड़ता है। लोग नौकरों को रात-दिन रगड़ते रहते हैं। खेत पर पानी देना होता है। तालाब पर रात-भर पहरा देना होता है। प्रातः चार बजे उठकर बेड-टी तैयार करनी पड़ती है। डिनर में रात के बारह बज जाते हैं। कि-र-र-से घंटी बजी कि 'हाजिर-हजूर' कहना पड़ता है। रात में पेशाब लगने पर, बच्चा रो पड़ने पर, ऐसी ही हजार बातों पर 'हाजिर-हुजूर' बजा लाना पड़ता है। साहब और मेम साहब को समझ लेना चाहिए कि बेचारा नौकर भी अपने ही समान मानव है। आपके सुख का सामान तैयार करता है तो उसे भी थोड़ा सुख मिलना चाहिए। आपके बच्चों को रोने मनाने की चेष्टा करता है तो उसे अपने बच्चों को मनाने का भी मौका मिलना चाहिए। अपनी पत्नी के साथ भी दो घड़ी

सुख-दुःख की चर्चा कर लिया करे। बेचारे नौकरों को सांस लेने का अवकाश नहीं रहता। दिन-रात मेहनत से चूर देर-बदेर पड़ जायं तो क्या पड़े, मानो मुरदे बिछ गये। नौकर तो नौकर उनके बच्चों को भी अपने बच्चों की चाकरी पर लगाना कितनी बड़ी क्रूरता है। उन विद्वानों की तरह यह मूर्ख भी एक दिन साफ-साफ मुंह पर कह डालेंगे। समाज के माने समान अधिकार।

श्लोक २९

श्रृंगारद्रुम नीरदे प्रसृमरक्रीडारसस्त्रोतसि
प्रद्युम्नप्रियबांधवे चतुरवाङ्मुक्ताफलोदन्वति।
तन्वीनेत्रचकोरपार्वणविधौ सौभाग्यलक्ष्मीनिधौ
धन्यः कोऽपि न विक्रियां कलयते प्राप्ते नवे यौवने॥

शब्द विच्छेद

चतुरवाङ्मुक्ताफलोदन्वति = चतुरवाक् + मुक्ताफला + उदन्वति
कोऽपि = कः + अपि

शब्दान्वय

श्रृंगारद्रुम नीरदे प्रसृमर क्रीडा रस स्त्रोतसि
प्रद्युम्न प्रियबांधवे चतुर वाक् मुक्ताफला उदन्वति
तन्वी नेत्र चकोर पार्वण विधौ सौभाग्य लक्ष्मीनिधौ
नवे यौवने प्राप्ते कः अपि धन्यः विक्रियां न कलयते।

शब्दार्थ

शृंगारद्रुम=सिंगाररूपी पेड़ के लिए (जो)
नीरदे=बरसने वाला बादल हो,
प्रसृमर=तन-मन में पूर्णतया व्याप्त
क्रीडारस=रतिक्रीड़ा का स्रोत
स्त्रोतसि=बहाने वाला हो,
प्रद्युम्न=कामदेव का
प्रियबांधवे=प्यारा साथी हो,
चतुरवाक्=चतुरवाणीरूपी
मुक्ताफला=मोतीफल अर्थात् सीपों को
उदन्वति=उगलनेवाला समुद्र हो,
तन्वी नेत्र=तरुणियों के नेत्ररूपी
चकोर=चातक पक्षी का
पार्वण विधौ=पूर्णिमा का चन्द्रमा हो
सौभाग्य=सुहागरूपी
लक्ष्मीनिधौ=लक्ष्मी की खान हो (ऐसी)
नवयौवने प्राप्ते=नौजवानी को प्राप्त होने पर
को: अपि=कोई, बिरला ही
विक्रियां=मनोविकार को
न कलयते=नहीं प्राप्त होता अर्थात् सभी का मन डांवाडोल हो जाता है।

भावार्थ

यौवनावस्था में पदार्पण करते ही मानवमात्र में ठीक उसी प्रकार श्रंगार-रस का अंकुर उगता, बढ़ता और फैलता है, जिस प्रकार वर्षा से छोटे-छोटे अंकुर फूट कर पेड़ बनते और फल-फूल से लद जाते हैं और तन-मन में संभोगेच्छा की धारा बहने लगती है। यौवन कामदेव का लंगोटिया यार है। इसलिए ज्यों ही यौवन ने मुंह निकाल कर झांका त्यों ही कामराज कुलांचे मारने लगते हैं। भोलापन जाता रहता है और जार-चोर बनकर पेंचदार बातें करते हुए प्रेम के पीगें बढ़ाता है। इधर तरुणों पर यह रंग चढ़ता है तो उधर तरुणियों पर भी मादकता छा जाती है और चातक पक्षी की भांति वे तरुणरूपी चंद्रमा को ताकती ही रह जाती हैं। ऐसी मनमोहक यौवनावस्था में सभी के मन डोलायमान हो जाते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में उदर-पोषणार्थ राजदरबारों में सड़नेवाले विद्वानों ने

अपनी दुखद गाथा सुनायी थी और कहा था कि कुलांगनाओं से विलग हो जाने के कारण वे पापकर्मों में प्रवृत्त होते जा रहे हैं। प्राचीन युग के राज-दरबारों को ही क्यों कोसा जाय, आधुनिक युग में भी लोग पढ़-लिखकर पट्टा पाकर परदेश नौकरी-धंधा करने जाते हैं और तरह-तरह की कारस्तानियां कर गुजरते हैं। परदेश में बरसों रहते हुए और स्वदेश में संतानोत्पत्ति की मिठाइयां बांटने की कहानियां भी सुनने में आती हैं। दरबारों में चाकरी करने वालों के घरों पर राज-बिराज का होना स्वाभाविक ही है। दरबारों की रंगरलियों के चक्कर में रणवास भी फंस जाते हैं। आजकल के राजनीतिक या आर्थिक घेराव का घेरा दफ्तर तक रहता है, किन्तु कामराज अपना घेरा घर, बाहर दोनों ओर डालते हैं। इसमें किसी को दोष देने का कोई कारण नहीं। कवि-हृदय स्वानुभाव को दर्शाते हुए अपनेस्वामी के हृदय को भी संतुष्ट करने की चेष्टा करता है।

जवान हों और रेख न फूटे, यह कैसे हो सकता है। वर्षा होगी तो धरती हरियायेगी ही। बीज से अंकुर फूटेगा। पौधे से पेड़ होगा। फल-फूल लगेंगे। भौंरे चारों ओर मंडरायेंगे। राजा हो या रंक, सभी पर कामराज का एकछत्र राज होगा। रंग निखरेगा। बातचीत बदलेगी। चाल-ढाल निराली होगी। होश हवा होगी। जोश ठाठें मारेगा। छैला हो या छबेली, चातक बन चन्दा पर कमंद डालेंगे। बड़े-बूढ़े कहेंगे, आजकल बच्चे बिगड़े जा रहे हैं। आप जब जवान थे तब स्वयं आपने कौन खेल नहीं खेले थे ? मन के बंदर को खूंटी पर भी निचले न बैठना और उछल-कूद करना स्वाभाविक है। इस मन को खूंटी से बांध रखना जरूरी है। अपनी ही खूंटी पर खूब उछल-कूद करने दीजिए। बिचारे कवि महोदय अपनी खूंटी पर जाना चाहते हैं।

श्लोक के एक शब्द पर और एक चरण पर दो शब्द कह देना आवश्यक है।

'सौभाग्यलक्ष्मी' क्या है ? भाग्य लक्ष्मी को सभी पूजते हैं। भाग्यहीन को कोसते भी हैं। धनी का मन यदि दरिद्र न हो तो वे भाग्यलक्ष्मी के साथ दरिद्र नारायण की सेवा कर सकते हैं। नहीं तो दरिद्र नारायण कोसते-कोसते काटने पर उतारू होगा।

सौभाग्यलक्ष्मी एकदम विपरीत है। धन-दारिद्रय से उसे सरोकार नहीं। कोसने काटने से भी वह कोसों दूर है। शब्द शुरू ही होता है 'सु' से —माने भला, अच्छा। भलाई ही भलाई, बुराई का नाम नहीं। सुहागन को ही, 'सौभाग्यवती' कहते हैं, भले ही लाज छिपाने को भरपूर लत्ता न हो। स्त्रियों को सुहाग इतना सुहाता है। सुहाग में स्वार्थ-त्याग की भावना सभी सीमाओं को पार किया हुआ होता है। स्त्री-मात्र यह चाहती है कि पतिदेव बने रहें। पति कंगाल हो, कोढ़ी हो,

लूला-लंगड़ा अंधा हो, पागल, पापी हो, तो भी पतिदेव है, परमेश्वर है। पति को कभी किसी बात पर कोसती हैं तो क्या हुआ ? क्या लोग भगवान को नहीं कोसते। अनन्य भक्त भी भगवान को कोसा करते हैं। उतना ही अधिक कोसते हैं जितना पास समझते हैं। पत्नी के कोसे में प्यार की प्यास अधिक होती है। इसी प्रकार पत्नी की जो पूजा करे और उसे स्वयं परमेश्वरी का रूप माने, वही पति है, वरना महापापी।

अब श्लोक के शेष चरण पर ध्यान दें—

'धन्यः को पि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने' जो व्यक्ति यौवन को प्राप्त होकर विचलित न हो, ऐसे धन्यात्मा विरले ही होते हैं। अपवाद को मान्यता देने वाले बिरले ही होते हैं। इसीलिए ऊपर इसका अर्थ यही किया गया कि सभी डोलायमान होते हैं। साधारणतया सभी ऐसे ही होंगे, परन्तु उनको यहां धन्यात्मा नहीं कहा गया। पापात्मा नहीं सही, जैसे साधारण जीव-जन्तु वैसे मनुष्य भी, यही मानना पड़ेगा। 'आहार, निद्रा अथ मैथुनंच, सामान्य मेतत् पशु भिर्नराणाम्।' खाना, सोना, सम्भोग तक ही सीमित रहा तो मानव पशु के समान है। जहां मानव खाने, सोने, सम्भोग से परे पहुंचा वही धन्यात्मा है, परमात्मा है। मानव पशु होगा या परमात्मा। निरा निखालिस नर कोई नहीं। जो नर-नारी परमात्मा की पदवी को पहुंचने की चेष्टा नहीं करते वे स्वयं धोखे में हैं और दुनिया को धोखा देते हैं।

युवा भी हों, तथा पावन भी हों, ऐसे लोग कभी हुए भी हैं ? कहानियां काल्पनिक नहीं हो सकतीं ? शंकाशील स्वभाव को कौन समाधान दे। परन्तु लेखक को स्वयं ऐसे धन्यात्माओं के साथ रहने का 'सौभाग्य' प्राप्त रहा है और है। ऐसे पुरुषों को भी देखा है और स्त्रियों को भी। पुरुष के लिए अपने को मग्न रखने के कई उपाय हैं। पुरुष पापाचार करे तो भी लोग कहेंगे, क्या हुआ, मर्द है, चोरी छिनारी करे मर्द है, मार डाले मर्द है। मर्द मर्द ही है। परन्तु पावनचरिता को भी पापात्मा कहने में समाज को हिचक नहीं होती। यह सब सुन सहकर जो यौवना पावन जीवन व्यतीत करे, क्या साक्षात् भगवती नहीं है वह !

लूला-लंगड़ा अंधा हो, पागल, पापी हो, तो भी पतिदेव है, परमेश्वर है। पति को कभी किसी बात पर कोसती हैं तो क्या हुआ ? क्या लोग भगवान को नहीं कोसते। अनन्य भक्त भी भगवान को कोसा करते हैं। उतना ही अधिक कोसते हैं जितना पास समझते हैं। पत्नी के कोसे में प्यार की प्यास अधिक होती है। इसी प्रकार पत्नी की जो पूजा करे और उसे स्वयं परमेश्वरी का रूप माने, वही पति है, वरना महापापी।

अब श्लोक के शेष चरण पर ध्यान दें—

'धन्य: को पि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने' जो व्यक्ति यौवन को प्राप्त होकर विचलित न हो, ऐसे धन्यात्मा विरले ही होते हैं। अपवाद को मान्यता देने वाले बिरले ही होते हैं। इसीलिए ऊपर इसका अर्थ यही किया गया कि सभी डोलायमान होते हैं। साधारणतया सभी ऐसे ही होंगे, परन्तु उनको यहां धन्यात्मा नहीं कहा गया। पापात्मा नहीं सही, जैसे साधारण जीव-जन्तु वैसे मनुष्य भी, यही मानना पड़ेगा। 'आहार, निद्रा अथ मैथुनंच, सामान्य मेतत् पशु भिर्नराणाम्।' खाना, सोना, सम्भोग तक ही सीमित रहा तो मानव पशु के समान है। जहां मानव खाने, सोने, सम्भोग से परे पहुंचा वही धन्यात्मा है, परमात्मा है। मानव पशु होगा या परमात्मा। निरा निखालिस नर कोई नहीं। जो नर-नारी परमात्मा की पदवी को पहुंचने की चेष्टा नहीं करते वे स्वयं धोखे में हैं और दुनिया को धोखा देते हैं।

युवा भी हों, तथा पावन भी हों, ऐसे लोग कभी हुए भी हैं ? कहानियां काल्पनिक नहीं हो सकतीं ? शंकाशील स्वभाव को कौन समाधान दे। परन्तु लेखक को स्वयं ऐसे धन्यात्माओं के साथ रहने का 'सौभाग्य' प्राप्त रहा है और है। ऐसे पुरुषों को भी देखा है और स्त्रियों को भी। पुरुष के लिए अपने को मग्न रखने के कई उपाय हैं। पुरुष पापाचार करे तो भी लोग कहेंगे, क्या हुआ, मर्द है, चोरी छिनारी करे मर्द है, मार डाले मर्द है। मर्द मर्द ही है। परन्तु पावन-चरिता को भी पापात्मा कहने में समाज को हिचक नहीं होती। यह सब सुन सहकर जो यौवना पावन जीवन व्यतीत करे, क्या साक्षात् भगवती नहीं है वह !

श्लोक ३०

रागस्यागारमेकं नरकशतमहादुःखसंप्राप्ति हेतु-
मेहिस्योत्पत्तिबीजं जलधरपटलं ज्ञानताराधिपस्य ।
कन्दर्पस्यैकमित्रं प्रकटितविविधस्पष्ट दोषप्रबंधं
लोकेऽस्मिन्नह्यनर्थव्रजकुलभवनं यौवनादन्यदस्ति ।।

शब्द विच्छेद

रागस्यागारमेकं = रागस्य + आगारम् + एकं
हेतुमेहिस्योत्पत्ति = हेतुः + मोहस्य + उत्पत्ति
ताराधिपस्य = तारा + अधिपस्य
कन्दर्पस्यैक = कंदर्पस्य + एक
लोकेऽस्मिन्नह्‌यनर्थ = लोके + अस्मिन् + नहि + अनर्थ
यौवनादन्यदस्ति = यौवनात् + अन्यत् + अस्ति

शब्दान्वय

रागस्य एकं आगारं नरकशत महादुःख सम्प्राप्ति हेतुः
मोहस्य उत्पत्ति बीजं ज्ञान तारा अधिपस्य जलधर पटलं
कन्दर्पस्य एक मित्रं प्रकटित विविध स्पष्ट दोष प्रबन्धं
अस्मिन् लोके अनर्थ व्रज कुल भवनं यौवनात् अन्यत् न अस्ति हि ।।

शब्दार्थ

रागस्य = अनुराग, प्रेम का
एकं आगारं = एक मात्र स्थान
नरकशत = सैकड़ों नरकों के
महादुःख = घोर विपत्तियों के
सम्प्राप्ति = होने का
हेतुः = कारण,
मोहस्य = भ्रम का
उत्पत्ति बीजं = उपजाने वाला बीज

ज्ञान = ज्ञानरूपी
तारा अधिपस्य = ताराधिपति चंद्र के लिए
जलधर = बादलों का
पटल = समूह,
कन्दर्पस्य = कामदेव का
एक मित्रं = एक मात्र, मुख्य साथी,
प्रकटित = खुले हुए

विविध=अनेकों
स्पष्ट दोष=खुले पापों की
प्रबंधं=तैयारी करनेवाली (और)
अस्मिन् लोको=इस संसार में
अनर्थ व्रज=अनेकों विपदाओं का
कुलभवनं=खानदानी घर
यौवनात् अन्यत्=जवानी के सिवा
न अस्ति हि=दूसरी कोई है ही नहीं ।

भावार्थ

इस संसार में जवानी एक ऐसी वस्तु है जिसके कारण मनुष्य अनेकों अनर्थों का शिकार बन जाता है । जवानी ही के कारण दिल में प्रेम, अनुराग घर कर जाता है । जवानी ही के कारण मानव को पापाचरण में फंस कर घोर नरक यातनाएं भोगनी पड़ती हैं । जवानी के कारण मानव मोह में फंस जाता है और भले-बुरे की तमीज़ खो बैठता है और इसी से चंद्रमा के समान प्रकाश उत्पन्न करनेवाले ज्ञान-ज्योति पर मोहजनित अज्ञान के बादल घेर लेते हैं और आंखों पर अंधकार छा जाता है और मन को ऐसा भाने लगता है कि कामदेव महाराज हमारे परममित्र हैं और उस कामावेश में लोक-लाज को तिलांजलि देकर खुलेआम पापाचरण किया करते हैं । अतएव इस संसार में यौवन के समान दूसरी कोई अनर्थकारी वस्तु नहीं है ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में राजदरबार से विदाई लेने की बात कही गयी थी । महाराज अपने दरबारियों को वैसे ही छुट्टी कैसे देते ? विद्वानों के वचन राजाओं के लिए अमृत क्या, महापौष्टिक टानिक के समान होते हैं । राजा लोग बूढ़े हो भी जायें तो विद्वानों के टानिकरूपी वचनों से जवानी का अनुभव करने लगते हैं । इसीलिए विदाई के लिए राजी नहीं होते । जैसे पिछले श्लोक में चुटकी ली गई है कि दान-दक्षिणा से सम्मानित करने को तो टाल-मटोल करते थे । इस श्लोक में प्रभुओं की इसी प्रवृत्ति पर कवि ने मार्मिक चोट की है ।

हे राजन् हम विद्वान हैं । बेशक ज्ञान छांटते हैं । फिर भी जवान हैं और जवानी बुरी बला है । यौवन की छवि के सामने ज्ञान फीका पड़ जाता है । यौवन की मादकता हमें अंधा बना देती है । गृहणी का सहारा नहीं पायेंगे तो दरबारी

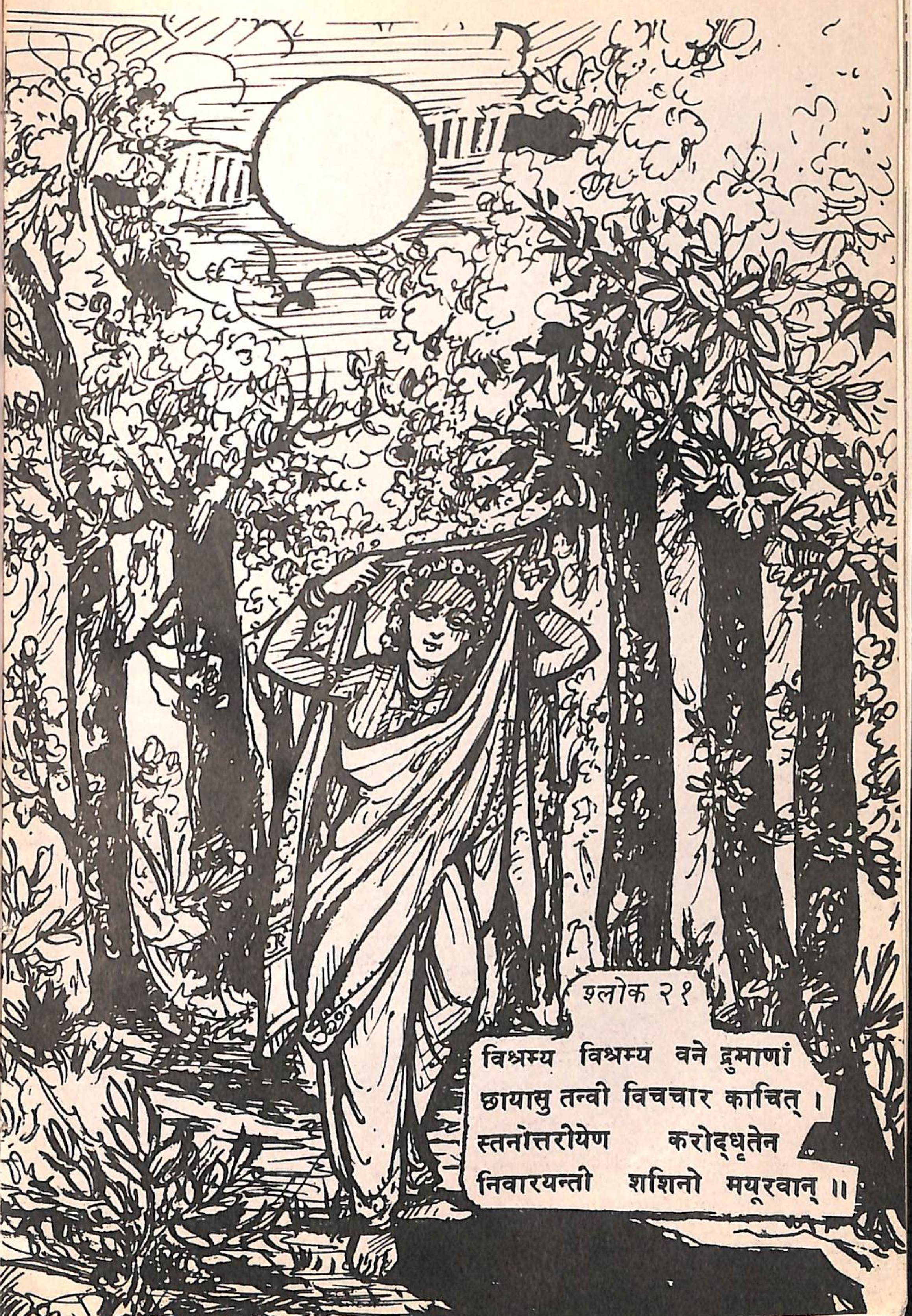

श्लोक २१

विश्रम्य विश्रम्य वने द्रुमाणां
छायासु तन्वी विचचार काचित् ।
स्तनोत्तरीयेण करोद्धृतेन
निवारयन्ती शशिनो मयूखान् ॥

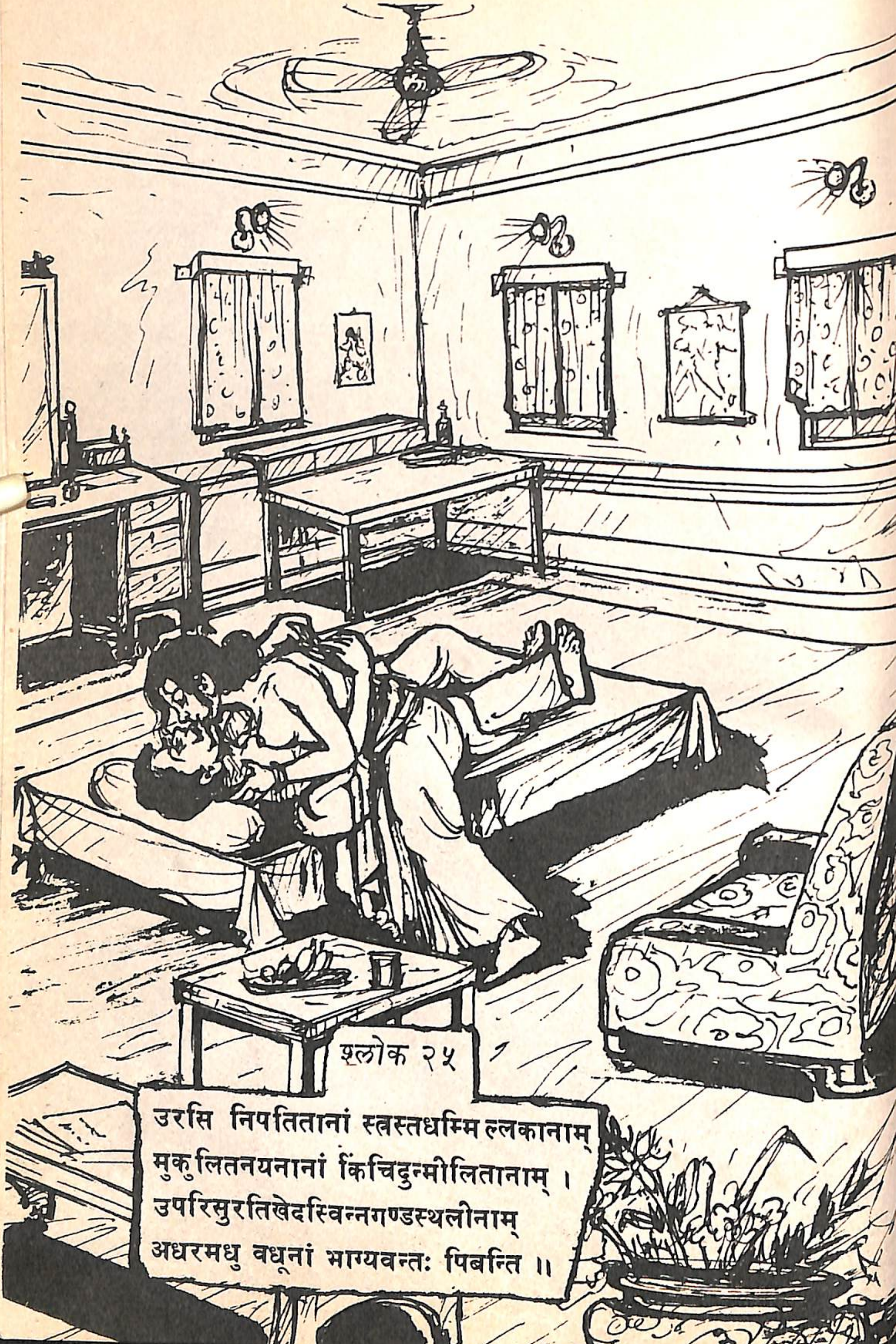

श्लोक २५

उरसि निपतितानां स्वस्तधम्मिल्लकानाम्
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।
उपरिसुरतिखेदस्विन्नगण्डस्थलीनाम्
अधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ॥

दासियों के दास बन जायेंगे। न जाने क्या-क्या पाप करेंगे और नरक-भोगी बनेंगे। कवियों की छलोक्ति भी मार्के की होती है। अप्रत्यक्ष रूप से प्रभुओं पर आरोप लगा रहे हैं कि उपरोक्त सभी अनर्थों के कारण आप हैं। भला यह भी कोई न्याय है कि आपकी सभी वांछाएं पूरी हों और हम सहधर्मिणी की संगत से भी वंचित रहें।

यौवन-अनर्थों के सम्बन्ध में जब इतना कहा गया है तब नव-यौवन के सम्बन्ध में चुप्पी साधना घोर अनर्थकारक होगा। लड़के-लड़कियां बारह-पन्द्रह वर्ष की आयु में अपने अवयवों में आश्चर्यजनक परिवर्तन पाते हैं। साधारणतया सभी इस परिवर्तन के प्रयोजन के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी रखते हैं। माता-पिता और शिक्षक यह मान बैठते हैं कि वे अभी भोले-भाले बच्चे हैं। इन बुजुर्गों की अकल पर तरस आता है। उन्हें सोचना चाहिए कि स्वयं उन्होंने उस अवस्था को पहुंचते-पहुंचते क्या-क्या खेल नहीं खेले थे। पांछ-छः वर्ष के बालक-बालिकाओं को जब ऐसे खेल करते देखा जाता है तब यौवन में प्रवेश करने के बाद वे अबोध कैसे रह जायेंगे। सत्य, त्रेता, द्वापर युगों में भी बच्चे यौनिक क्रियाओं से अनभिज्ञ नहीं रहे होंगे। ऋष्याश्रमों में, जहां ब्रह्मचर्य पर कठोर प्रतिबन्ध रहता था, वहां भी क्या पशु-पक्षियों को जोड़ा खाते हुए वे नहीं देखते थे? आज के कलियुग में नौकर-नौकरानियां, साथी-सहेलियां न जाने बच्चों को क्या-क्या सिखाते हैं और करते-करवाते हैं। इसमें सीखने-सिखाने की भी कौन जरूरत है? बच्चों का खोजी दिमाग आपस की भिन्ताकृति पर विचार न करे, यह कैसे सम्भव है? बिरला ही कोई बच्चा होगा जो उस ब्रह्मचारी के समान अबोध बना रहे जो एक गृहिणी के गीले वस्त्र से स्तन निखरते देख पूछ बैठा कि आपकी छाती पर यह क्या फोड़े फूट रहे हैं? झेंपने से काम न चलता देख गृहिणी ने समाधान दिया कि मेरे बच्चा होगा, भगवान ने अभी से उसके लिए दूध की गड़िवी भेज रखी है। 'भिक्षाम् देहि' कहने वाले किसी अनजान ब्रह्मचारी को किसी प्रकार समाधान करना किसी अन्य गृहिणी का धर्म था, तो क्या माता-पिता और शिक्षकों का यह धर्म नहीं है कि अपनी संतान तथा शिष्यों को उनकी शरीर-रचना की जानकारी से वंचित न रखें! परिपक्व प्रौढ़ कुछ कर गुजरे तो निभ जायेगा, परन्तु कच्ची उम्र में रज-वीर्य की रक्षा न करने पर शारीरिक ही नहीं मानसिक विकास में भी बाधा पड़ती है और कितनों ही को पंगु, पागल बनने और आत्म-हत्या कर लेने की नौबत आती है।

श्लोक ३१

संसारेअस्मिन्नसारे कुनृपतिभवनद्वारसेवाकलंक
व्यासंगव्यस्तधैर्यं कथममलधियो मानसं संविदध्युः ।
यद्येताः प्रोद्यदिन्दुद्युतिसिच यभृतो न स्युरम्भोजनेत्राः
प्रेंखत्कांचीकलापाः स्तनभरविनमन्मध्यभाजस्तरुण्यः ॥

शब्द विच्छेद

संसारेअस्मिन्नसारे = संसारे + अस्मिन् + असारे
कथमममलाधियः = कथम् + अमलधियः
यद्येताः = यदि + एताः
प्रोद्यदिन्दु = प्र + उद्यत् + इन्दु
विनमन्मध्यः = विनमत् + मध्य
स्युरम्भोज = स्युः + अम्भोज
मध्यभाजस्तरुण्यः = मध्यभाजः + तरुण्यः

शब्दान्वय

प्रउद्यत् इन्दुद्युति सिचय भृतः
प्रेंखत् कांची कलापाः स्तन भर विनमत् मध्यभाजः अम्भोजनेत्राः
एताः तरुण्यः न स्युः यदि अमल धियः अस्मिन् असारे संसारे
कुनृपति भवन द्वार सेवा कलंक व्यासंग व्यस्त धैर्य
मानसं कथम् सविदध्युः ।

शब्दार्थ

प्रउद्यत = पूर्णतया उगने वाले
इन्दु द्युति = चन्द्रमा की कान्ति-सी
सिचय भृतः = साड़ी पहनी हुई,
प्रैंखत् = डोलती हुई
कांची कलापाः = करधनी आदि पहनी हुई,
स्तन भर = छातियों के भार से
विनमत् = कुछ झुकी-सी
मध्यभाजः = कमर पायी हुई,

अम्भोजनेत्राः = कमलपत्र की-सी नयनवाली, कमलनयनी
एताः तरुणयः = ये नारीजन
न स्युः यदि = न होतीं तो
अमल धियः = निर्मल बुद्धिवाले लोग
अस्मिन = इस
आसारे संसारे = निस्सार संसार में
कुनृपति = दुष्ट राजाओं की
भवन द्वार सेवा = ड्योढ़ी के फाटकों की सेवारूपी
कलंक व्यासंग = कलंकी धंधे में
व्यस्त धैर्य मानसं = खोये हुए धीरजवाले मन को
कथम् सविदध्युः = किस प्रकार ठिकाने रख सकते हैं ?

भावार्थ

चन्द्रकला-साड़ी पहन, स्तन-भार से कुछ झुकी-झुकी, कमर में करधनी नचाती हुई नारीजन, यदि न होतीं तो कौन ऐसा सच्चा विद्वान होगा जो दुष्ट राजाओं की दरबारदारी का कलंक माथे पर लेकर अपने अधीर मन को सांत्वना दे सके, अर्थात् मात्र पिया-मिलन की आकांक्षा उन्हें सम्हाले हुए है।

विशेषार्थ

इस श्लोक का सन्दर्भ भली-भांति समझने के लिए पिछले २८वें श्लोक पर चलिए—'राजन् तृष्णाम्बु राशेः नहि जगति गतः कश्चिदेवावसानम् ।' दरबार के पुरस्कार की आस में पड़े रहने पर घर में स्त्री और दरबार में पुरुष दोनों एक दूसरे के लिए तरसते हुए बुढ़ाये जायेंगे। इसीलिए छुट्टी जल्दी चाहिए और छुट्टी भी दान-दक्षिण तथा आदर-सत्कार के साथ। तभी तो घर पर सुख की कल्पना की जा सकती है। २९वें श्लोक में बताया गया कि यौवन में एकाकी जीवन कितना अनर्थकारी सिद्ध हो सकता है। परदेश में पुरुष ही क्या, स्वदेश में घर पर नवयौवना युवती पर भी यही बीत सकती है। ऐसे युवा-युवतियों को दोषी ठहराने की अपेक्षा कहीं बेहतर हो जो उस सरकार या सामाजिक व्यवस्था को उत्तरदायी मानें, जहां यथा समय वेतन, पुरस्कार न मिलने पर लोग स्वाभाविक जीवन से वंचित रह जाते हैं। ३०वें श्लोक में इसी आशय को स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया गया है कि अनुकूल वातावरण तथा जीवनोपयोगी सुविधाओं के अभाव में साधारणतया सभी पतनोन्मुख हो जाते हैं। बिरला ही कोई इन्द्रियों को वश में रख सकेगा। ऐसे व्यक्ति को पुण्यात्मा अवश्य कहा गया है, किंतु यहां समझने की बात

यह है कि जो विषयेन्द्रियों के वशीभूत होते हैं उन्हें पापात्मा घोषित नहीं किया गया है। यह पिछले श्लोकों का विश्लेषणमात्र है। अब प्रस्तुत श्लोक पर विचार कीजिए।

पुण्यात्मा कहाने वाले उन पुरुषों को अपने मन को स्थिर रखने तथा इंद्रियों के वशीभूत न होने में वह शक्ति उन्हें कहां से प्राप्त होती है ? उस महान शक्ति का स्रोत है उनकी गुणवती गृहिणी। गृहिणियों के ध्यान में मग्न रहने से ही एक ओर वे कुशासकों के यहां सहनशील बने रहने और दूसरी ओर इन्द्रियों को वश में रखकर मन को स्थिर करने में सफल हो रहे हैं। अभिप्राय यह है कि जिन स्त्री-पुरुषों के मन अपने-अपने स्वामी-स्वामिनी में संलग्न हों, वे प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सदाचारी तथा शीलवान बने रहेंगे। बंदर खूंटी से बंधे रहने पर भले ही वह चरर-पों करे, पर भागेगा नहीं। स्त्री-पुरुषों की चर्चा यहीं तक रखें। श्लोक के प्रथम चरण में मन-विहीन मननशील विद्वानों का कुनृपतियों की सेवा को कलंक कहा गया है। अपने को विद्वान कहें, विशेषज्ञ और कुनृपतियों के कुचक्रों को चलायमान रखने में सहायक बनें, यह ऐसा कलंक है जो हजार धोयें कभी नहीं धुलेगा। वकील, जज, मंत्री, सचिव, चपरासी, अधिकारी, सभी जो इस कुचक्र में फंसे हुए हैं वे पाप पर पाप किये जा रहे हैं। ऐसे राज के शिक्षा-विभाग में अफसर, अध्यापक सभी महान नाटकीय हैं। श्लोक में शब्द 'अमलधिया' शिक्षक संसार-भर का गुरु है। एक-एक शिक्षक अपने जीवन-काल और सेवा-काल की अवधि में हजारों को शिक्षित करता है। उसके बहुत से विद्यार्थी अफसर-अधिकारी भी बनते और उसी कुचक्र के संचालक बन जाते हैं और गुरु महाराज हैं कि उन्हीं के सामने हाथ जोड़ खड़े हैं और हुक्म बजा रहे हैं। संसार का समुद्धर्ता शिक्षक समाज को रसातल पहुंचाने का पाप कर रहा है। क्यों भाई, ऐसा क्यों करते हो ? जवाब मिलता है बाल-बच्चों के पालन-पोषण के लिए। वाल्मीकि ने भी नारद से यही कहा था। नारद ने कहा जाओ, पूछ तो लो अपनी घरवाली से, जिसका जवाब था—मुझे क्या मतलब तुम्हारी करनी से। डाकू वाल्मीकि ने डकैती छोड़ दी, पर हमारे विद्वान, विशेषज्ञ जानते-बूझते हुए भी जन-संहार कर रहे हैं। लाखों, करोड़ों हड़प कर जाते हैं, फिर भी बीते भर का पेट उनका भरता नहीं। अन्न के नाम पर धन निगल जाते हैं और मान के नाम पर अपमानित होते हैं। ये वे बंदर हैं जो किसी खूंटी से बंधे नहीं हैं। इन बन्दरों की घुड़कियों से दुनिया बरबाद हो रही है। डाल गले में सांकल और किल्ली से कस दो। बिचारों का उद्धार हो जाय।

श्लोक ३२

सिद्धाध्यासित कन्दरे हरवृषस्कन्धावरुग्णद्रुमे
गंगाधौतशिलातले हिमवतः स्थाने स्थिते श्रेयसि।
कः कुर्वीत शिरः प्रणाममलिनं मानं मनस्वी जनो
यद्वित्रस्तकुरंगशाबनयना न स्युः स्मरास्त्रं स्त्रियः॥

शब्द विच्छेद

सिद्धाध्यासित = सिद्ध + अध्यासित
स्कन्धावरुग्ण = स्कन्ध + अवरुग्ण
यद्वित्रस्त = यत् + वित्रस्त
स्मरास्त्रं = स्मर + अस्त्रं

शब्दान्वय

वित्रस्त कुरंगशाबनयना स्मर अस्त्रं न स्युः यत्
सिद्ध अध्यासित कन्दरे हर वृष स्कन्ध अवरुग्ण द्रुमे
गंगा धौत शिलातले हिमवतः स्थाने श्रेयसि स्थिते
कः मनस्वी जनः शिरः प्रणाम मानं मलिनं कुर्वीत।

शब्दार्थ

वित्रस्त = घबराये हुए
कुरंगशाब = बाल हिरन की-सी
नयना = आंखोंवाली
स्मर अस्त्रं = काम-बाण की पत्नी
न स्युः यत् = यदि न होती (तो)
सिद्ध = तपस्वियों द्वारा
अध्यासित = बसे हुए
कन्दरे = गुफाओं वाले, (तथा)
हर वृष = शंकर की सवारी नन्दी के
स्कन्ध = कन्धे (की रगड़) से
अवरुग्ण = टूटे हुए
द्रुमे = वृक्षों वाले, (एवं)
गंगाधौत = गंगाजल से धुले
शिला तले = चट्टानोंवाले
हिमवतः स्थाने = हिमालय पर्वत के ऐसे स्थानों में
श्रेयसि = परमगति मोक्ष के
स्थिते = होते हुए
कः = कौन
मनस्वी जनः = विचारवान पुरुष

शिर: = अपना सिर
प्रणाम = (कुजनों के सामने) झुककर प्रणाम करके
मानं = स्वाभिमान को
मलिनं = मैला
कुर्वीत = कर लेता अर्थात् ऐसे अपमान को कभी न सहता।

भावार्थ

बाल-हिरन की-सी अकुलाई आंखों वाली मनमोहिनी अबलाएं यदि न होतीं तो विचारवान तथा विद्वान औरों के आगे नतमस्तक होकर स्वाभिमान को चकनाचूर कदापि न करते। वे तो सीधे हिमालय की गोद में चले जाते, गुफाओं में साधना करते, जहां अनन्तकाल से सिद्धजन समाधिस्त रहे हैं; उन वनों में विचरते जहां महादेव रमण करते रहे और जहां पेड़ नंदी के कन्धे की रगड़ से टूटे पड़े हों; उन चट्टानों पर बिराजते जो त्रिलोक पावनी गंगाजल से धुले बिछे हैं और इस प्रकार मुक्त जीवन बिताते और मोक्ष को प्राप्त होते।

विशेषार्थ

पिछले तीन-चार श्लोकों से देखने में आ रहा है कि विचारशील व्यक्ति का मन प्रिय, अप्रिय दोनों के बीच डोलायमान है। प्रिय की खातिर अप्रिय को भी अपनाये हुए हैं। पत्नी के सुख भोग के लिए कुपति की सेवा में लगा हुआ है। प्रेम निभाना चाहता है, पर दिल में द्वेष पनप रहा है। प्रेयसी से दूर है और राज दरबार में आदर-सत्कार से वंचित है। निस्तार का रास्ता खोजता है और अन्त में हिमालय पर्वत की खोहों में मुक्ति की झलक पाता है।

लौकिक मुक्ति की खोज में राजदरबार की शरण ली थी; सो खोखली निकली। सम्मान पाया नहीं। धन मिला नहीं। धन, सम्मान का अभाव जहां खटके नहीं; स्वभावतया मन वहीं जायेगा। हिमालय पर तपोमय जीवन उसका आदर्श बन सकता है। दरबार से रुष्ट होने पर उसे पहाड़ की राह सूझती है। केवल मान, अपमान और धनोपार्जन के झंझटों से मुक्त होने के लिए लालायित है। जीवन से मुक्त होने या जीवन-मुक्त होने की बात नहीं है। गुफाओं में लेटने, चट्टानों पर बैठने और वनों में स्वच्छंद विचरने में सांत्वना पाने की अभिलाषा मात्र है। अभी प्रेम पुजारी है, वैराग छुआ नहीं है। प्रेयसी की जगह प्रकृति से प्रेम करने की उत्कंठा है। प्रेमी है। प्रेम करना चाहता है। पाना भी चाहता है।

पाये या न पाये अपनी ओर से प्रेम बखेरने में बाधाएं रहें; यह उसे स्वीकार नहीं है ; वन, पर्वतों में प्रकृति के साथ प्रेम करने में बाधाओं की आशंका नहीं है।

परन्तु प्रेमी को प्रेमिका भी चाहिए। तभी उसे घर-गृहिणी से बहुत दूर हिमालय की कंदराओं में, गंगा की लहरों में कुरंग शावक, उसके भयभीत नयन और उन नयनों में मदनास्त्र का प्रहार दृष्टिगोचर होता है। गृहिणी से इतना गाढ़ा प्रेम है उस विचारे विद्वान विचारवान को।

विद्वान हों या विशेषज्ञ, घर-गृहिणी तो चाहिए ही और गृहस्थी के चलाने के लिए धन चाहिए। धनोपार्जन के लिए आढ्यों, धनाढयों का आश्रय लेता है, पर प्रताड़ित होता है। प्रताड़ित मन शायद प्रेयसी से भी प्रेम नहीं कर सकता। प्रेयसी से उसे गिला नहीं है; पर ग्लानि है धनोपार्जन की विधियों से। जीवन का साधन नहीं है। साधु बन तपस्या करना चाहता है। एक घटना याद आ गयी।

काकिनाडा बम कांड का एक अभियुक्त। युवक का प्रेम देशप्रेम में परिणत हुआ। बम चलाया। पकड़ा गया। सजा हुई। चौदह साल जेल काटी। स्वराज हुआ। रिहाई हुई। आंध्र की राजधानी हैदराबाद पहुंचा। दो-चार महीनों की सजा काटनेवालों की सरकार में आजीवन कैदी की कद्र कहां से होने चली। किसी गंदी बस्ती में एक कोठरी किराये पर ली। प्रेमी पर कंगाल देश-भक्त का किसी कलूटी से प्रेम होना ही था। परिणाम स्वरूप माता की गोद भरनी ही थी। जैसों को वैसों से दोस्ती होती है। हम से भी मुलाकात हो गयी। एक-दो बार घर गये। पत्रपुष्प अर्पित किये। तीसरी बार जब गया तो गोदी में बच्चे को लेकर औरत को रोती हुई पाया। पता चला कि देश-भक्त दो-तीन लंघनों के बाद लापता हो गये हैं।

समाज में क्या प्रेमी के लिए दो ही रास्ते खुले हैं ? या तो समाज द्वारा प्रताड़ित हो या परिवार त्याग कर पलायन करे ? ऐसा समाज समाज कहाने का अधिकारी नहीं, सभ्य समाज नहीं, प्राथमिक समाज नहीं, वह जंगली-समाज भी कहाने के लायक नहीं। सत्तावादी समाज से समतावाद की आशा कैसे की जाय।

प्रेम करना पाप नहीं है। स्त्री हो अथवा पुरुष, पलायन करना पाप है। प्रेम करना धर्मशास्त्र के अनुसार चतुर्विध पुरुषार्थ का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रेमी-युगल कदम-से-कदम मिलाकर बांह-में-बांह डालकर पुरुषार्थ करें; साहस के साथ पराभव सहें असहनीय हो तो पलायन भी साथ-साथ करें। समझे रहें कि सदा एक से दो भले। खबरदार राजा नल की तरह आधी धोती फाड़ अकेली दमयन्ती को छोड़ न भागें।

श्लोक ३३

संसार तव पर्यन्तपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा नस्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः ॥

शब्दविच्छेद

स्युर्यदि = स्युः + यदि
मदिरेक्षणाः = मदिर + ईक्षणः

शब्दान्वय

संसार तव अन्तरा दुस्तरा मदिरेक्षणाः यदि न स्युः
तव पर्यन्त पदवी दवीयसी न ।

शब्दार्थ

संसार = हे संसार ।
तव = तेरे
अन्तरा = बीच से
दुस्तरा = पार जाने में रोक डालने वाली
मदिरेक्षणाः = नशीली आंखों वाली नारी

यदि = अगर
न स्युः = न होतीं (तो)
तव = तेरा
पर्यन्त = अन्तिम
पदवी = छोर
दवीयसी न = दूर नहीं है

भावार्थ

हे संसार सागर, यदि मदभरी आंखोंवाली तरुणियां तेरे बीच न होतीं, तो तुझे पार कर जाना बहुत ही सरल है ।

विशेषार्थ

संसार को सागर कहा गया है। सागर अपार है । परले तट का पता नहीं । गंगा-जैसी नदी में जब बाढ़ आ जाती है तब भी अक्सर परला किनारा नहीं दिखायी पड़ता। बम्बई, मद्रास में समुद्र-तट पर खड़े होकर देखें तो पानी ही पानी दिखायी पड़ेगा। छोटी-छोटी किश्तियों पर जाओ, या बड़े-बड़े जहाजों पर सवार हो जाओ, ज्यों-ज्यों आगे बढ़ोगे त्यों-त्यों पानी बढ़ता ही जायेगा । थोड़ी

देर बाद जिस किनारे से गये वह भी ओझल हो गया। न उरले तट का अन्त न परले तट का अन्त—एकदम सपाट।

श्लोक में कहा गया है कि इस अपार सागर का परला तट दूर नहीं है। बहुत निकट है। रास्ता लम्बा नहीं है। कठिनाई केवल यह है कि रास्ते में तरुणी घेर लेती हैं जिनकी आंखें मछलियों की-सी मोहक हैं; अकुलाई-सी हैं, नशीली हैं और न जाने क्या-क्या जादू भरा है उन आंखों में कि अपना रास्ता ही भूल जाते हैं। अपने आपको भूल जाते हैं। हमारी आंखों में वह समा जाती है या हम ही उसकी आंखों में फंस उलझ जाते हैं। अथाह सागर को पार करने चले थे। तरुणी की तरल आंखों में तैरने लगे हैं। उसकी बरौनियां मानो भाले बनकर पहरेदारी करती हैं। पलकें छपाछप चप्पू मारकर हमें कहां-से-कहां ले जाती हैं। या यों कहिए कि हमारी ही आंखों की पुतली में उसी की पुतली भर जाती है और हमारी दशा बस यह होती है—जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है। न सागर है, न तट है, न रास्ता है, न हम ही हैं—वही वह वह है। बस तरुणी ने हमें तरने से वंचित रखा। एक नारी से नाता न जुड़ता पल भर में अपार सागर को पार कर जाते।

हमने फिर एक धृष्टता की है। श्लोक में 'मदिरेक्षणाः' के शब्द के बदले 'मीनाक्षिणाः' पसंद करते हैं। सागर में खारा पानी भरा है। खारे पानी की मदिरा में कौन नशा भरा है। पानी में सुन्दर-सुन्दर मछलियां तैरती हैं। घंटों देखे जाइये उन मछलियों की अठखेलियों को। कोई पास आयेगी पर हाथ नहीं आयेगी। बल खाके निकल जायेगी। फिर आ धमकेगी। भूख-प्यास मिट जायेगी। मछली से लौ लग जायेगी। मछली का कांटा मशहूर है। गले में फंस जाता है। गला खुला का खुला रह जायेगा। आंखें भी अधखुली रह जायेंगी।

क्या पानी में एक मछली ही है हमें रोक रखने के लिए। पानी भी अपार सागर का। भर्तृहरि ने ही अपने वैराग्य शतक में 'आशा' नाम की नदी का वर्णन दिया है। नदी के जल में बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं ? जो निगल जाती हैं। मगर-मच्छ, घड़ियाल हैं; जो हड्डियों तक को हजम कर जाते हैं। पर फैलायी पक्षियां, जो झपट्टा मार उड़ा ले जाती हैं। भंवर हैं, बवंडर हैं, बड़वानल हैं। छोटी-मोटी नदी में जब ऐसी-ऐसी भयंकर बाधाएं हैं, तब उस अपार सागर में क्या-क्या न होगा ? तब क्या नारी ही उन सबसे अधिक भयंकर है ? समाधान सरल है। वह सब भयंकर बाधाएं हैं, इसलिए उनसे बच निकलने की चिंता रहती है और यत्न-पूर्वक बच भी सकते हैं। किंतु नारी भयंकर रूप धारण करके सामने नहीं आती। वह तो मृगनयनी बनकर आप ही भयभीत लगती है और आपको तरस आता है। मीनाक्षी बनकर मन को मोह लेती है और उसकी मदिरामय आंखों से आपको

मादकता चढ़ जाती है। नारी से डरकर बचने की चेष्टा नहीं करते, बल्कि सहानुभूति से आपका मन पसीज जाता है। मोहकता से उस पर लट्टू हो जाते हैं और मादकता से होश-हवास खो बैठते हैं। श्लोक के शब्द 'दुस्तरा' अर्थात् पार नहीं पाते, का अभिप्राय यही है कि आप पार करना नहीं चाहते, फंसे रहना चाहते हैं। परला तट पास ही क्यों न हो, फांस को पसन्द करने वाला कभी पार न पा सकेगा। यह तो मन की दुर्बलता है, मदिराक्षी, मीनाक्षी का नहीं।

नर हो या नारी, सहयोग के साथ सहवास, सहवास के साथ सम्भोग, संभोग के साथ घर-गृहस्थी का खटराग। एक राग से जब षट् राग हो गये तब एक दूसरे को छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। हां, पास-पास बने रहने का प्रबन्ध होता है। इसीलिए 'दुस्तरा' कहा गया है।

श्लोक ३४

दिश वनहरिणीभ्यो वंशकाण्डच्छवीनां
कवल मुपलकोटिच्छिन्नमूलं कुशानाम् ।
शकयुवतिकपोलापाण्डुताम्बूलवल्ली—
दलमरुणनखाग्रैः पाटितं वा वधूभ्यः ॥

शब्द विच्छेद

वंशकाण्डच्छवि = वंशकाण्ड: + छवि
कवलमुपलकोटिच्छिन्न = कवलम् + उपलकोटि: + छिन्न
कपोलापाण्डु = कपोल + आपाण्डु
दलमरुण = दलम् + अरुण
नखाग्रै: = नख + अग्रै:

शब्दान्वय

वंशकाण्डः छवीनां कुशानाम्
उपलकोटि छिन्न मूलं वनहरिणेभ्या कवलम् दिश वा

अरुण नख अग्रैः पाटितं शक युवति कपोल
आपाण्डु ताम्बूलवल्ली वधूभ्य दिश ।

शब्दार्थ

वंशकांड = बांस की कोंपल केसे
छवीनाम् = रंगवाले
उपलकोटि = पत्थर की धार से
छिन्नमूलं = जड़ से काटे
कुशानाम् = घास के
वन हरिणेभ्यः = जंगली हरनियों को
कवलं दिश = चारा दे
वा = अथवा, या

अरुण = लाल-लाल गुलाबी रंग के
नख अग्रैः = नाखूनों की नोक से
पाटितं = छिला हुआ
शक युवति कपोल = शाक्य तरुणी के गालों केसे
ताम्बूलवल्ली = पीले-पीले पान की गिलौरी
वधूभ्यः दिश = पत्नी को दिया कर।

भावार्थ

या तो वनों में बासा जमा कर धारदार पत्थरों से बांस के कोंपलों के समान ताजी घास काट-काट जंगली हिरनियों को खिलाये जा, या अपने गोरे-गोरे गुलाबी नाखूनों से शाक्य कन्याओं के गोरे-गोरे गालों कीसी गिलौरी घरवाली को दिये जा ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि मृगनयनियों का चक्कर अर्थात् गृहस्थ-जीवन संसार-सागर के पार उतरने में सबसे बड़ा बाधक है । इस श्लोक में उस बाधा के निवारण का उपाय बताया गया है। वह उपाय है वन में एकान्तवास करना और हिरनियों को चारा चुगाना । उसमें सागर में तैरने की बात थी, पर यहां धरती पर दिन बिताने की बात है । सागर में तैरने की उपमा मात्र थी । घर-गृहस्थी का गोरखधंधा फैला ले या वनों में एकान्तवास कर तपस्या करे, दोनों में मानव को धरती पर ही गुजारा करना है और इस गुजारे का एकमात्र आधार है प्रेम, अपार प्रेम ।

जहां रहो, जैसे-तैसे खुद जियो और दूसरों के जीने के साधन जुटाओ । साधारण लोगों की तरह शादी-ब्याह करा लो। कोई-न-कोई रोजगार-धंधा करो । सन्तानोत्पन्न करो । शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करो । सुख से जियो । संतोष के साथ

मरो। संसार-सागर से पार उतरने का यह एक प्रशस्त मार्ग है। दूसरा मार्ग एकाकी जीवन बिताने का है जो अधिक कंटकाकीर्ण है। एकाकी जीवन समाज में सबके बीच भी बिता सकते हैं और जंगल में अकेले रहकर भी। समाज में एकाकी को अनेकों आंखों वालों या वालियों से पाला पड़ता है। पिपासु प्राणी फंसाव से घबड़ाकर वन, पर्वतों का आश्रय लेता है। प्रेम की मात्रा जिसमें अत्यधिक हो और उसे सबमें समान रूप से बखेरने में असमर्थता का अनुभव करे, साधारणतया वही पलायन करता और पर्वतों की कंदराओं में छिपने की चेष्टा करता है। बासा बदलने मात्र से वासना नहीं छूटती। चिकनी-चपटी चट्टानों से, हरे-भरे वृक्षों से, सुंदर पक्षियों से, शीतल झरनों से प्रेम करने लगता है। प्रेम प्रतिफल भी चाहता है। साथ-साथ रहे, बोले, बतलावे। मुंह से मुंह मिलावे। शरीर से शरीर स्पर्श करे। तोता, मैना से काम पूरा नहीं बनता। वन में हिरन ही एक ऐसा जंतु है जो पालतू बन सकता है। श्लोक में हिरन नहीं, हिरनी कहा गया है। एकदम ठीक। समाज की मृगनयनी की जगह, मृग नहीं, मृगी ही ले सकती है। साल-भर निकलते-निकलते सन्तान भी हो जायगी। कुन्बा जुटेगा। हंसिया तो है नहीं, तेज धारदार पत्थर से घास काटो। कुन्बा पालो। समाज के भीतर जो झंझटें थीं वही यहां भी हैं। कष्ट-साध्य जीवन जरूर है। पर प्रेम का निबाह अवश्य है। शारीरिक सुख भले ही न हो मानसिक सुख तो उपलब्ध है। शांति की संप्राप्ति होती है कि नहीं, वही जाने। तपोमय जीवन में ऋषि, मुनि भी विचलित हुए हैं।

परन्तु मानव समाज के लिए घबराने की कोई बात नहीं है। लाखों में एक-आध ही खोहों की खोज में जाता है। उनमें भी अधिकतर घूमघाम कर निजधाम लौट आते हैं। साधु बनें या सामाजिक जीवन व्यतीत करें, दोनों में भी प्रेम परमावश्यक है, और प्रेम में पशुवृत्ति को स्थान नहीं है।

सच्चे संत भी होते हैं। ऐसे संत-पुरुष समाज में रहें या वनों में तपस्या करें, वे समाज के लिए श्रेयस्कर ही सिद्ध होंगे। हमें उनके लिए चिंता करने की आवश्यकता नहीं, यथा शक्ति सेवा अवश्य करें।

घर-गृहस्थी जमाकर साधारण जीवन व्यतीत करनेवालों के लिए श्लोक में जो बात कही गयी है वह बड़े महत्व की है। ललना के हाथ में गिलोरी थमाना शपथ लेने के समान है। किसी महान अभियान के लिए राज दरबार में बीड़ा उठाने से कम नहीं है यह गिलोरी थमाने की प्रथा। प्राणपण से प्रेम निभाना होता है। प्रेम के पनपने के लिए उपमा भी कैसी मोहक दी गयी है। शक्य कन्याओं के गालों के समान सफेदीमायल गौरवर्ण के पान चुनने होंगे कि पान के दर्शन के साथ प्रेमिका के कपोलों की भी कल्पना हो जाय। पान सफेद रंग के भी होते हैं, परन्तु

साधारणतया हरे ही होते हैं । हरे पान भी पकने पर सफेद रंग लाते हैं । पेड़ पर पके पान में क्या मजा है जो मघई पान में होता है। अंधेरी कोठरियों में महीनों की मेहनत से मघई पान तैयार होते हैं। यह गाल-गिलोरी, क्या नुक्कड़ की दुकान से खरीद लाओगे। पैसे, दो पैसे या आज कल के दस पैसे वाले पान से प्रेम का सौदा नहीं पटाया जाता। अपने हाथ से पान बनाओ। नक्काश के नाखून चाहिए छीलने-छिलाने के लिए। श्लोक में नाखून के रंग का भी वर्णन है एक दम गुलाबी रंग। पता है नाखून स्वास्थ्य के सूचक हैं। वैद्य लोग नाड़ी के साथ नाखूनों के रंग को भी परखते हैं। जो पूर्णतया स्वस्थ होते हैं उनके ही नाखूनों में गुलाबी लाली झलकती है। गोरे गाल पीले नाखूनों की गिलोरी से आंख फेर लेंगे। स्वस्थ शरीर हो और सच्चा प्रेम हो, तभी गिलोरी कबूल होगी।

श्लोक ३५

असाराः सन्त्वेते विरतिविरसा वादविषया
जुगुप्स्यन्तां यद्वा ननु सकलदोषास्पदमिति ।
तथाऽप्येतद्‌भूमौ न हिपरहितात्पुण्यमधिकं
न चास्मिन्संसारे कुवलयदृशो रम्यमपरम् ।।

शब्द विच्छेद

सन्त्वेते = सन्तु + एते
दोषास्पदमिति = दोषास्पदम् + इति
तथाऽप्येतद्‌भूमौ = तथापि + एतत् + भूमौ
परहितात्पुण्यमधिकं = परहितात् + पुण्यम् + अधिकं
चास्मिन्संसारे = च + अस्मिन् + संसारे
रम्यमपरम् = रम्यम् + अपरम्

शब्दान्वय

एते विषयः असाराः विरति विरसाः सन्तु
मद्‌वा जनु सकल दोष आस्पदं रति जुगुप्स्यन्तां

तथापि एतत् भूमौ परहितात् अधिकं पुण्यं न हि
अस्मिन् संसारे कुवलय दृशः अपरं रम्यं च न ।

शब्दार्थ

एते = ये
विषयाः = भोग सामग्री
असाराः = निस्सार हो
विरति = अंत में
विरसाः = फीके पड़े,
सन्तु = हो, होगा,
यद्वा = नहीं तो, या
ननु = इन्हें
सकल = सभी प्रकार के
दोष = पापों का
आस्पदं = घर

रति = समझकर
जुगुप्स्यन्तां = निंदा की जाये
तथापि = फिर भी
एतत्भूमौ = इस धरती पर
परहितात् = परोपकार से
अधिकं पुण्यं = बढ़कर पुण्य-कार्य
न हि = नहीं है,
अस्मिन् संसारे = इस संसार में
कुवलय दृशः = कमल नयनियों से
अपरं रम्यं = बढ़कर सुंदर
न च = नहीं ही है ।

भावार्थ

ठीक है कि इस संसार की सभी सुख-सामग्री एकदम निस्सार हैं और कि अंत में सारा किरकिरा होकर रहेगा । ठीक है, इसे संसार-भर के पापों की जड़ मानकर घोर निंदा भी करें । फिर भी मानना पड़ेगा कि संसार में परोपकार से बढ़कर श्रेयस्कर अन्य कोई कार्य नहीं है और नारी से बढ़कर सुंदर वस्तु दूसरी कोई नहीं है ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में दो ही बातें कही थीं—या तो हिरनों को चारा डालो या रमणी का पाणिग्रहण करो—रागी बनो या वैरागी । राग तथा वैराग्य के संबंध में एक प्रकार का भ्रम फैला हुआ है । अथवा फैलाया जाता है । वैराग्य के समर्थक कहते हैं कि सारा संसार असार है। ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों द्वारा जो शारीरिक सुख भोगने की चेष्टा की जाती है, वह एकदम निरर्थक है । शुरू-शुरू में भले ही सुख जान पड़े, अंत में सारा मजा किरकिरा हो जायेगा । इसलिए सांसारिक वस्तुओं

का ध्यान न करो, उनकी ओर देखो नहीं, उनकी बात सुनो नहीं, उनसे बोलो नहीं, उनकी बात कहो नहीं, उनका काम करो नहीं। यही नहीं, उनको धुतकारो, तोहमत लगाओ, ताड़न करो। कहो कि वह पाप की जड़ है, सारे पापों का धाम है। कौन ? नारी, नारी घोर नारकी है।

उपरोक्त सारी बातें एकदम थोथी हैं, श्लोक में इसी को सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है। पापों के इतने लम्बे चिट्ठे पर प्रकारान्तर से प्रहार किया गया है। कहता है कि पाप के चक्कर में पड़ना ही बेकार है। और मात्र पुण्य क्या है, इसे समझने की चेष्टा करो। पुण्य ही पुण्य किया करें तो पाप के भागीदार बने ही नहीं। 'परोपकार' एक ही शब्द से सारे पुण्यों की व्याख्या की गयी है। स्नान, संध्या, पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा, नाम-स्मरण, भगवद्दर्शन इत्यादि सभी पुण्यकार्य होंगे। परन्तु इन सबसे बड़ा कोई पुण्य है तो वह है परोपकार। पर-उपकार पुण्य है तो परनिंदा पाप हुआ। वैराग्य के नाम पर ऊपर संसार को जो बुरा-भला कहा गया है, वह सब पाप ही तो हुआ। निंदक स्वयं निंदनीय है। क्षमा करें, एक चुटकुला सुन लीजिए।

बाजारू दवा-फरोशों के लच्छेदार भाषण सुनने योग्य होते हैं। बम्बई में चौपाटी पर एक दवाफरोश अपनी दवाई की तारीफ के पुल बांधे जा रहा था। शायद वह जुलाब की दवा थी। मुंह बना बनाकर, नाक सिकोड़ कर घिनाते हुए कहे जा रहा था कि सवेरे टट्टी कैसी होगी—काली काली, नीली-नीली ··। हमने सोचा, दवाई का असर हो या न हो, दवाफरोश के मुंह से इसी समय टट्टी निकल रही है। प्रायः नेताओं के भाषाणों से लोग नाक, कान बंद करके निकल जाते हैं और बिचारे लीडर गंदगी को सभा-मंडप पर झाड़कर घर जाते हैं।

इसी पाप-पुण्य की कसौटी पर पिछले श्लोक को कस कर देखिए। जंगल में रहो तो जंगली जानवरों की सेवा करो। जंगल में जीव-जन्तु की सेवा का जब इतना महत्व है तब समाज के बीच रहकर मानव सेवा कितनी महत्वपूर्ण होगी ? साधु, संन्यासियों को भली-भांति सोच-विचार कर निर्णय लेना चाहिए कि गुफाओं में एकान्तवास करके तपस्या करना उचित है कि समाज के बीच में रहकर समान रूप से सबकी सेवा करना अच्छा है। किसी धनी से पैसे लेकर किसी गरीब को देकर, वह धनी के साथ भी उतना ही उपकार कर रहा है जितना गरीब के साथ। इसी प्रकार रोगी को दवा ला देने में वैद्य तथा रोगी दोगों के साथ उपकार करेगा। फिर भी उसे यह अभिमान नहीं होना चाहिए कि मैं दोनों के साथ उपकार कर रहा हूं, वरन् समझना यह चाहिए कि धनी और दरिद्र, रोगी तथा वैद्य दोनों उसके

साथ उपकार कर रहे हैं। यह तो हुई सेवा की बात। दूसरी बात है सौंदर्य-प्रियता।

ऊपर पुण्य की बात थी तो सबसे बड़ा पुण्य परोपकार को पाया। यहां सौंदर्य की बात आयी है तो ईश्वर की सृष्टि में सबसे बढ़कर सुंदर नारी ही को पायेंगे। गाल, गिलोरी के सिलसिले में पीछे नारी का वर्णन आया ही है। सारा शतक ही नारी के सौंदर्य से भरा है। ऊपर वैराग्य के नकारात्मक भ्रम का दिग्दर्शन हुआ है। उसी को यहां सौंदर्य के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करेंगे। नारी-सुंदरता का सदा ध्यान करो। उसी की ओर टकटकी बांधो। उसी के वचन पर कान धरो। उसी से बोलो, उसी की बात करो। उसी का गुन गाओ। उसी की धुन में रहो। उसी का काम करो। उसी की जयजयकार करो। कहो कि हे नारी, तू ही तारनहार है। तेरे ही सहारे हम इस संसार-सागर को पार करेंगे, परमगति को प्राप्त होंगे।

श्लोक ३६

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमकार्यः समर्यादमिदं वदन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्॥

शब्द विच्छेद

मात्सर्यमुत्सार्य = मात्सर्यम् + उत्सार्यः
कार्यमकार्याः = कार्यम् + अकर्याः
समर्यादमिदम् = समर्यादम् + इदम्
भूधराणामुत = भूधराणाम् + उत

शब्दान्वय

आर्याः मात्सर्यं उत्सार्य कार्यं अकार्यः विचार्य समयांदं इदं वदन्तु
सेव्याः भूधराणाम् नितम्बाः किमु उत स्मर स्मेर विलासिनीनाम् नितम्बाः किमु।

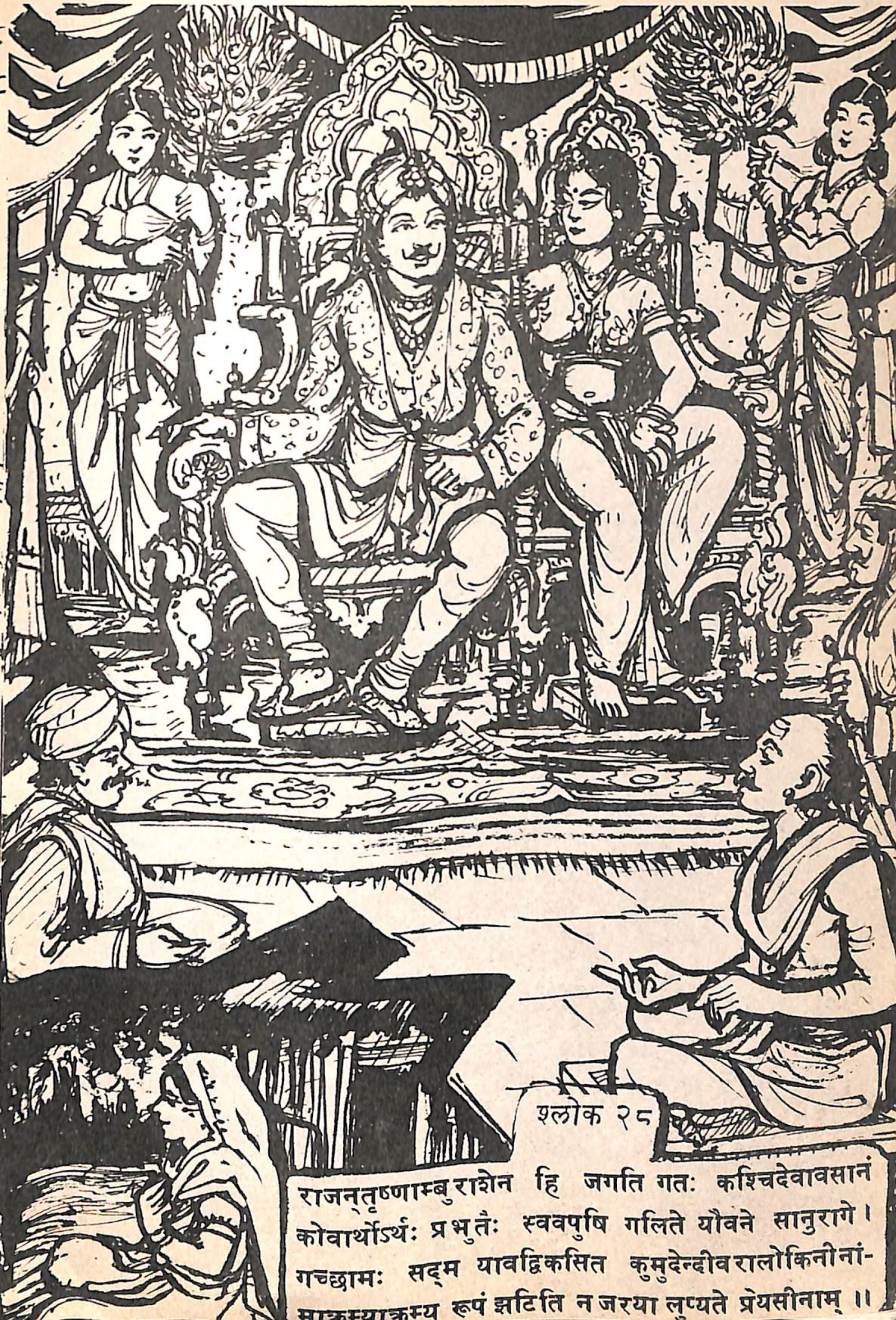

श्लोक २८

राजन्तृष्णाम्बुराशेन हि जगति गतः कश्चिदेवावसानं
कोवार्थोऽर्थः प्रभुतैः स्ववपुषि गलिते यौवने सानुरागे।
गच्छामः सद्म यावद्विकसित कुमुदेन्दीवरालोकिनीनां-
माक्रम्याक्रम्य रूपं झटिति न जरया लुप्यते प्रेयसीनाम् ॥

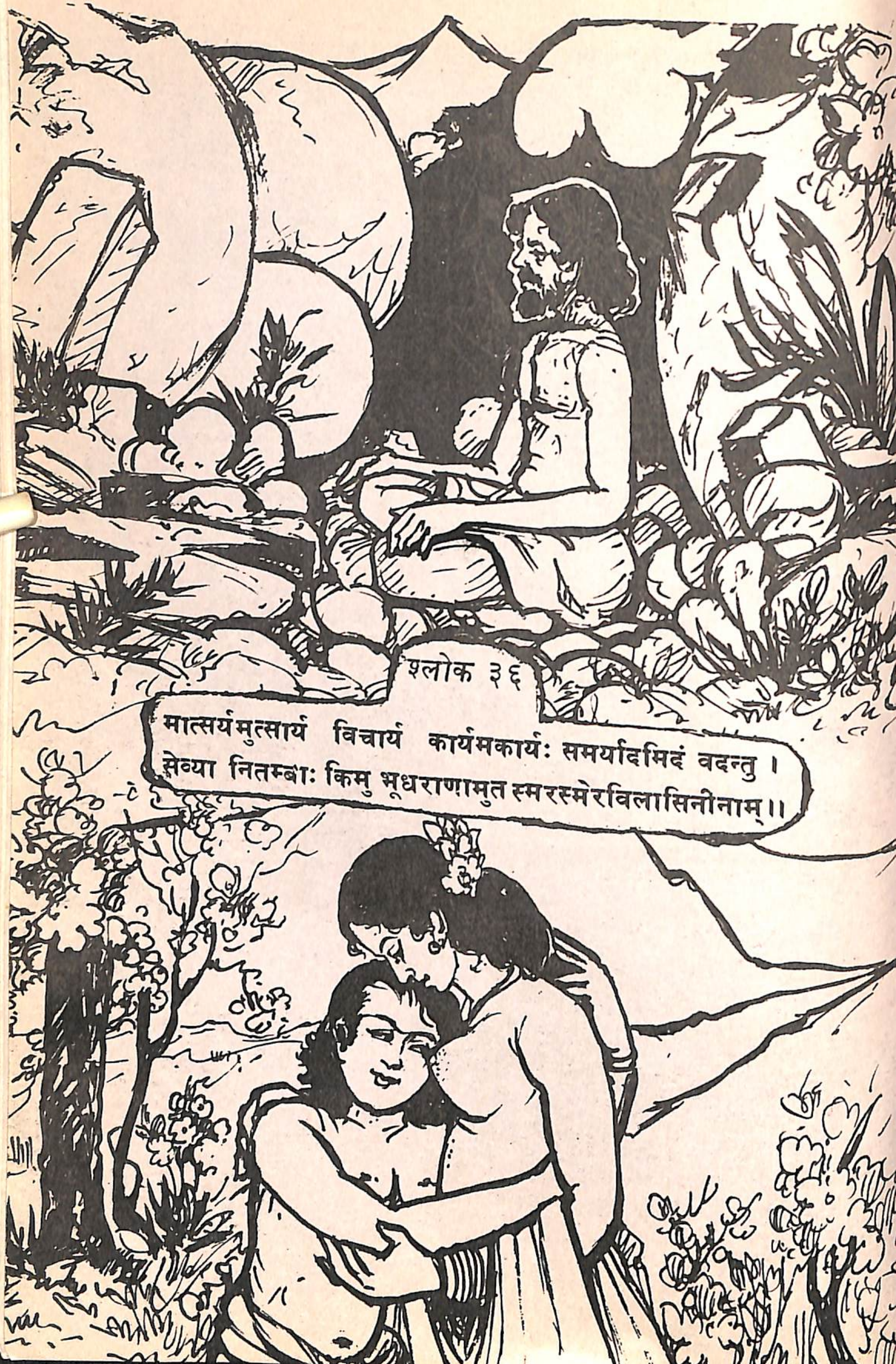

श्लोक ३६

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमकार्यः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ।।

शब्दार्थ

आर्याः =हे विद्वानों
मात्सर्यं =ईर्षा
उत्सार्य =त्याग कर
कार्य अकार्य =कार्य-अकार्य का
विचार्य =विचार कर
समर्यादम् =न्याय के साथ
इदम् =यह
वदन्तु =बतावें, (कि)

सेव्याः =सेवनेयोग्य
भूधराणाम् =पर्वतों के
नितम्बाः किमु =उभार हैं (कि)
उत =या
स्मर =कामदेव द्वारा
स्मेर =विकसित
विलासिनीनाम् =तरुणियों के
नितम्बाः किमु =कटिमंडल हैं

भावार्थ

हे विद्वानों, ईर्षा द्वेष या पक्षपात से परे होकर भली-भांति विचार कर यह बतायें कि दोनों में कौन सेवने योग्य है, पर्वतों के कगार सेवनीय हैं, या युवा नारियों के नितम्ब ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कमलनयनी कामिनी का बखान करते हुए भी कहा गया था कि परहित साधने में ही पुण्य है । ठीक है, पुण्यवानों का कल्याण होगा । परन्तु प्रश्न यह है कि साधारण मनुष्यों का क्या कर्तव्य है; जो पुण्य-संचय की आकांक्षा नहीं रखते किन्तु मर्यादारहित होकर पाप की गठरी लादना पसन्द नहीं करते, समाज में ऐसे लोग ही अधिक होते हैं और उन्हें लक्ष्य में रखकर पंडितों के सामने यह प्रश्न उठाया गया है।

प्रश्न कर्त्ता कहता है कि मैं ढोंग, पाखण्ड रचना नहीं चाहता । मैं एक साधारण व्यक्ति हूं । मैं परोपकार के झंझट में नहीं पड़ना चाहता । पुण्यात्मा बनने या कहाने की आकांक्षा नहीं है । पहाड़ी गुफाओं से मुझे घृणा नहीं है । परन्तु जब निर्जन पर्वतों में परोपकार का प्रश्न नहीं उठता तब वहां पुण्यार्जन का साधन, समाधान दोनों दुर्लभ ही लगते हैं । इसके विपरीत संसार में मनोहारिणी रमणी के साथ रमण करने को भी प्रामाणिक माना गया है जो सर्वसाधारण के लिए सुखकारी भी है और सुविधापूर्ण भी। वे शास्त्रसमस्त मर्यादाओं का उल्लंघन भी करना नहीं चाहते । फिर उन्हें असमंजस में क्यों रखा जाय ? सीधे-सीधे

बताया जाय कि ऐसे लोगों के लिए वन-पर्वतों का बसेरा उपयुक्त है कि सहधर्मिणी के साथ सहवास ।

उपर्युक्त उद्देश्य श्लोक की शब्दावली गूंज मात्र है 'आर्य' शब्द समाज के कर्णधार बड़े-बूढ़ों, विद्वान तथा आचारवान व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है । ऐसे ही व्यक्ति कार्याकार्य के सम्बन्ध में निर्णय देने के अधिकारी माने जाते हैं । वयोवृद्ध विद्वान् निर्णायकों से मात्सर्य अथवा डाह ढोंग त्यागने की प्रार्थना करने की आवश्यकता कैसी पड़ी । बूढ़े सबको बच्चे और अक्ल के कच्चे मानकर और इसी प्रकार विद्वान लोग सबको मूढ़ जानकर शास्त्रों का उल्लेख कर उपदेश दिया करते हैं कि यह करो, वह करो और इसे न करो उसे न करो । जवान विद्वानों से पूछा गया कि वेद, पुराण और धर्मशास्त्रों की खूब छानबीन करके बताओ कि कहां पर गृहणी के साथ रमण करने को पाप माना गया है ? इसी प्रकार बड़े बुजुर्गों से सवाल किया गया कि पति-पत्नी साथ-साथ रहने पर समाज की कौन-सी मर्यादा टूटती है? जवान विद्वानों तथा बूढ़े बुगुर्गों से खोट त्याग खरी-खरी कहने का अनुरोध करने का अभिप्राय यह है कि स्वयं युवा विद्वान आज यही कर रहे हैं और वृद्ध कर्णधारों ने अपनी युवावस्था में यही किया था । इस प्रकार वयोजन तथा विद्वानों को चुनौती दे रहे हैं कि न उन पहाड़ों की ऊंचाइयों में पुण्य धरा है और न इन प्रेमालिंगनों में पाप छिपा है, हम स्वच्छन्द प्रेमी हैं, पर्वतीय कंटक प्रदेश तथा कामिनी कटि प्रदेश से समान प्रेम रखते हैं । फिर सच्ची बात यह है कि हमें प्रिया अधिक प्यारी है । हमें आप पापी, समाज-द्रोही नहीं कह सकते ।

श्लोक ३७

संसारे स्वप्नसारे परिणतितरले द्वे गती पंडितानां
तत्त्वज्ञानामृताम्भः परिललितधियां यातु कालः कदाचित् ।
नो चेन्मुग्धांगनानां स्तनजघनधनाभोगसंभोगिनीनां
स्थूलोपस्थलीषु स्थगितकरतलस्पर्शलोलोद्‌यमानाम् ।।

शब्द विच्छेद

ज्ञानामृताम्भः = ज्ञान + अमृत + अम्भः
चेन्मुग्धांगनानां = चेत् + मुग्ध + अंगनानाम्
स्थूलोपस्थ = स्थूल + उपस्थ
धनाभोग = धन + आभोग
लीलोद्यमानाम् = लील + उद्यमानम्

शब्दान्वय

स्वप्नसारे परिणति तरले संसार पण्डितानाम् द्वे गती
तत्त्व ज्ञान अमृत अम्भः परि ललित धियां कदाचित् कालः यातु
नो चेत् स्तन जघन धन आभोग सम्भोगिनीनां मुग्ध अंगनानाम्
स्थूल उपस्थलीषु करतल स्थगित स्पर्श लीला उद्ययमानां कालः यातु

शब्दार्थ

स्वप्न सारं = स्वप्न तुल्य तथा,
परिणति = अंत में
तरले = चंचल, अस्थिर (इस)
संसारे = संसार में
पण्डितानाम् = समझदारों के लिए
द्वे गती = दो ही रास्ते हैं, (या तो)
तत्व ज्ञान = ब्रह्मज्ञान के
अमृत अम्भः = अमृतरूपी वाणी में
परि ललित = पूर्णतया लोलायमान
धियाम् = मन रखें (कि)
कदाचित् = किसी प्रकार शायद
कालः यातु = समय कट जाय, जीवन बीत जाय वरन् मृत्यु टाल जाय, अमरत्व को प्राप्त हों,

नोचेत् = नहीं तो (यह न हो सके तो)
स्तन जघन = छातियों तथा जांघों में
धन आभोग = खूब मस्ताकर
सम्भोगिनीनाम् = सम्भोग की इच्छा-वाली
मुग्धअंगनानाम् = रतियोग रमणियों की
स्थूल = तगड़ी,
उपस्थलीषु = योनी पर
करतल = हथेली
स्थगित = थाम
स्पर्श लीला = फेरने, थपथपाने की
उद्यमानां = लालसा रखनेवालों का
कालः यातु = समय बीते

भावार्थ

स्वप्नतुल्य इस आसार संसार में समझदार व्यक्तियों के लिए दो ही

रास्ते खुले हैं। या तो वे ब्रह्मज्ञानरूपी अमृत-स्नान में आनंदमग्न रहें कि शायद जीवन-नय्या पार लग जाय। या भारी-भरकम छाती, चूतड़ और जांघोंवाली भोगासक्त स्वस्थ स्त्री की स्थूल तथा गुलगुल योनी पर हथेली फेरने और थपथपाने पर आरूढ़ रहें कि समय सुख से बीत जाय।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जिस प्रकार दो टूक सवाल था इस श्लोक में उसी प्रकार दो टूक जवाब है। कहता है, संसार असार है, यदि कुछ सार दिखाई दे तो भी वह अस्थिर है, स्थाई नहीं है। ऐसे असार और अस्थिर संसार में जन्में ही क्यों? जन्मे तो जिये क्यों? अर्थात् मर क्यों न जायें? किन्तु जन्म-मरण अपने हाथ में नहीं है, जितने दिन तन में जान है जीना ही पड़ेगा।

पीछे ३३वें श्लोक में संकेत था कि जीवन यात्रा का 'शार्टकट' भी है अर्थात् जल्दी पहुंचनेवाला एक सीधा रास्ता है। फिर कहा था कि रास्ते में तरुणियां फांस लेती हैं और उनसे पार न पा सकने के कारण मंजिल दूर ही दूर रह जाती है। इस श्लोक में 'शार्टकट' की कल्पना को झुठलाया गया है और कहा गया है। कि जैसे बन पड़े जीवन-यात्रा पूरी करनी ही पड़ेगी। जिससे इस असार संसार के जीवन में भी कुछ सुख मिले और उससे कुछ सार निकले।

सार और सुख के अलग-अलग रास्ते हैं। सुख तत्काल मिल सकता है। सार में देर लग सकती है। ब्रह्म-ज्ञान में सार है। भार्या-भोग में सुख है। इन दोनों के बीच सुख और सार के अनेक साधन और भी हो सकते हैं। पर यहां सार और सुख की पराकष्ठा का वर्णन है। इसीलिए बुद्धिमान से कहा गया है कि दोनों में से जो जिसे ठीक लगे उसी को अपनावे। दोनों भिन्न-भिन्न रास्तों में आचर्श्य-जनक सम्बन्ध यह है कि दोनों जन्म के मूल स्थान पर पहुंचाते हैं। शरीर का मूल स्थान योनि है और आतमा का मूल स्रोत परमात्मा है। स्थान-भ्रष्ट शरीर और आत्मा स्वस्थान के सम्पर्क मात्र से सुख तथा आनंद का अनुभव करते हैं। श्लोक में 'कदाचित' का शब्द भी कितना सुंदर निभ गया है। अर्थात् 'यत्ने कृतेर्यदि न लभ्यति कोऽत्र दोषः' सुखानंद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किये जाइये, शायद सफल हो जायें।

साधारण प्राणी के नाते इस शरीर के लिए सुलभ यौन-सुख की बात ही पहले लें। स्त्री हो अथवा पुरुष, लैंगिक सुख तो दोनों के लिए समान है। स्त्री के

रूप, सौंदर्य को इतने प्रधानता क्यों ? पुरुष को अधीर होने की आवश्यकता नहीं। श्रृंगार, सौंदर्य-प्रधान है। स्त्री को प्राकृतिक सौंदर्य जन्मना प्राप्त है। इसीलिए उसकी प्रशंसा। न यहां पुरुष के साथ अन्याय है और न स्त्री के साथ कोई विशेष पक्षपात। पुरुषों के लिखे श्रृंगार-वर्णन में क्या अपने मुंह 'मियां मिट्ठू' कोई अच्छी बात है ? पुरुष के पौरुष की प्रशंसा करे कोई स्त्री। क्या किया जाय, स्त्री जाति इतनी निर्लज्ज नहीं है। ललना लाजवंती है और पुरुष मुंह-फट।

शारीरिक सम्पर्क में सुख पाना है तो किसी आदर्श शरीर ही की खोज करें। सम्भोग में भी सुंदरता की अपेक्षा स्वास्थ्य को अधिक महत्त्व प्राप्त है। स्तन, नितम्ब खूब चर्बी भरे हों, यहां तक उपस्थली भी उभर आवे। सम्भोगासन्न युवा युवातियों का सारा शरीर ही परस्पर स्पर्श करता है। परन्तु स्पर्श-सुख में यहां अत्यधिक सुखदायक अंगों का ही वर्णन है। निठुरता बरतने से पहले नरमी के पथ प्रदर्शन का सदाचार भी सुखदायी है। पहलवानों की घनघोर कुश्ती हाथ मिलाव्वल से आरम्भ होती है।

जाने रहें कि यह बलात्कार या जिना-बिल-जबर का मुकद्दमा नहीं है कि इक तरफा सुनवाई करके मुजरिम को बेड़ी-हथकड़ी पहना दें। शब्द 'धनाभोग सम्भोगिनाम्' युवती की मनोदशा को सूचित करते हैं। नाबालिगा नहीं, बल्कि अनुभवी मुग्धा है और उसमें भी सम्भोग की उत्कंठा है।

इस प्रकार के श्रृंगार-वर्णन पर पुरुष पर आक्षेप लगाना अनुचित-सा लगता है। अंग-स्पर्श का आनंद लेने में स्त्री, पुरुष से पीछे नहीं रहती। फिर भी उस पर परदा डालकर एकदम मौन रहना पुरुष का स्त्री के प्रति परमादर को सूचित करता है।

परस्पर अंग-स्पर्श अथवा आत्म-समर्पण का आनंद अवश्य भोगें, परन्तु कितनी देर के लिए और किस उम्र तक। जवानी का जोश चार दिन की चांदनी मात्र है। इस दृष्टि से श्लोक के आरम्भिक शब्द—'संसारे स्वप्नसारे, परिणति तरले', एकदम ठीक उतरते हैं। जिन दो रास्तों का उल्लेख किया गया, उनमें से एक का मजा देखा। अब दूसरे मार्ग का भी दिग्दर्शन हो जाय।

दूसरा मार्ग ब्रह्म-ज्ञान का है। उसे अमृत कहा गया है, अर्थात् उसमें स्थाई आनंद की प्राप्ति होती है। किन्तु 'कदाचित्' का शब्द बीच में आ पड़ने से शंका उत्पन्न होती है। कदाचित् इक्का, दुक्का ही उस ज्ञानानन्द को प्राप्त होता है। शेष सब 'इथो भ्रष्टाः तथो भ्रष्टाः' होकर रह जाते हैं। न घर के रहे न घाट के। संसार में अधिकांश साधु, संत ऐसे ही होते हैं। पाखण्डी

बनकर लोगों को ठगते हैं। चेला-चेली मूंड़ते हैं। बदनाम होते हैं। पिट भी जाते हैं। ऐसों ही के कारण काशीजी का पावन धाम भी 'राड़, सांड़, सीढ़ी, संन्यासी' का बदनाम बनारस बन गया।

फिर भी आनन्द-मार्ग आनंदमार्ग ही है। थके-मांदे, भूले-भटके बटोहियों के कारण उस मार्ग में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। ऐसे साधक भी होते हैं जो बाधाओं को लांघकर सिद्ध पुरुष बन जाते हैं। सिद्ध पुरुष जब समाधिस्त होते हैं वे सचमुच आनन्दसागर की लहरों पर मानों नय्या के समान तैरते रहते हैं। जिस प्रकार सागर का आर-पार नहीं उसी प्रकार उनका आनंद भी अपरम्पार होता है। उपर्युक्त मार्ग के क्षणिक सुख के बाद क्षीण-हीन होकर मुंह फेर बेहोश पड़ जाने की बात नहीं है, वरन् आनंद सागर में गोतों पर गोते मारकर जाग्रत अवस्था में दूसरे ही जगत में रमण करते हैं।

होगा, किसने देखा है कैसा होता है वह आत्मानं ब्रह्मानंद ? इसे कोई ब्रह्मज्ञानी भी समझावे तो किसी की समझ में क्या खाक आयेगा। गुड़ की मिठास का चखने ही से पता लग सकता है। क्या एक छोटे से बच्चे को कोई सम्भोग-सुख समझा सकता है ? शुद्ध ब्रह्मचारी भी नहीं समझ सकता यदि वह शुद्ध ब्रह्मचारी हो। यही बात ब्रह्मानंद की है, यह वह आनन्द है कि जिस व्यक्ति को भाग्यवश क्षण भर के लिए भी उसका आभास हो जाय तो संसार-भर के रनवास और राज-सिंहासन उसके मन को आकृष्ट नहीं कर सकते।

संसार में सभी स्त्री-लोल नहीं होते, आत्मानुरागी भी होते हैं। भले ही सिद्ध न हों, पर आत्मानुभव की चिंता उन्हें सताती है। सांसारिक सुख भोगकर संतोनोत्पत्ति के बाद भी आत्मोद्धार की चर्चा करते हैं। अलबत्ता ऐसे व्यक्तियों को उदाहरण देकर समझा देना शायद सरल है कि ब्रह्मानंद कैसा होता है। उल्टी बात, यह कैसे हो सकता है। हां हो सकता है लीजिए, सावधान होकर सुनिए।

क्यों, आपने प्रेम लीलाएं खूब की हैं। प्रेयसी कभी दूर मैके आदि जाय, तब आपके मन में यही बेकली रही होगी कि कब आयेगी, कब मिलेंगे। भगवान के लिए भी आपके दिल में वैसी ही बेकली होने लगे तो समझ लेना चाहिए हम में भगवद् शक्ति जाग्रत हो चुकी है। भक्त को भगवान के पास पहुंचना चाहिए, या भगवान ही को भक्त के पास आना चाहिए। इसका पता कैसे चले ? प्रेयसी भरे घर में कभी पास से गुजर जाय और उसका पल्लो आपके बाजू से सरसरा जाय तो शरीर-भर में बिजली की एक करंट-सी दौड़ जाती है कि नहीं ? हां, तो वही

वात इसमें भी होगी। पैदल चल रहे हों, बस, रेल पर अनजाने यात्रियों के बीच बैठे हों, या तनहा कहीं बैठे हों, ज्यों ही भगवान की ओर मन लगाया, शरीर में रोमांच होने लगेगा। बस, समझ लो कि आप पर भगवान की कृपा होने लगी या हो गयी है। फिर क्या होगा ? वैसा ही अमुभव होगा जो सुहागरात की रति-क्रीड़ा में क्षण-भर के लिए होता है। दोनों के तन, मन एक होकर अपने आपको भूल जाते हैं कि नहीं। रति-क्रीड़ा में दिन-पर-दिन रस घटने लगता है और ब्रह्मानन्द परम सुख दिनों दिन बढ़ता जा है। उमर कयाम कह आये हैं न कि मूलस्थान की महिमा यही है। दोनों रास्ते पड़े हैं जिस पर चाहे चल पड़ो, और पड़ाव पर पहुंच जरूर जाओगे।

श्लोक ३८

आवासः क्रियतां गांगे पापहारिणि वारिणि।
स्तनद्वये तरुण्या व मनोहारिणि हारिणि॥

शब्दान्वय

पापहारिणि गांगे वारिण आवासः क्रियताम्
वा मनोहारिणि हारिणि तरुण्या स्तनद्वये आवासः क्रियताम्।

शब्दार्थ

पापहारिणि = पापों को हरनेवाले
गांगे वारिणि = गंगा जल के निकट
वा = अथवा
मनोहारिणि = मन हरनेवाली
हारिणि = हार पहनी हुई
तरुण्या = युवति के
स्तन-द्वये = दोनों छातियों के पास
आवासः = निवास
क्रियताम् = करना चाहिए

भावार्थ

पुरुष को चाहिए कि या तो वह गंगा तट पर कुटिया रमावे कि निर्मल जल के पान से सकल पाप धुल जायें। या सुंदर माला से विभूषित लुभावनी युवती के कुच-मंडल पर रमण करे।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में दुराहे पर दुविधा में खड़े व्यक्ति को समझा दिया गया था कि एक रास्ता आत्मानंद को प्राप्त होने का है और दूसरा रास्ता है शारीरिक सुख भोगने का। कोई इस रास्ते पर चलेगा और कोई उस रास्ते पर, पर कब तक चलता रहेगा। जिस काम पर चलें उसे पूरा भी तो करना है। ठौर-ठिकाना ढूंढ़ लो और बस आसन जमा दो, यही बात इस श्लोक में कही गयी है।

आनन्द मार्ग के राही हो तो गंगा तट पकड़ो। शंकर की जटाओं से बहनेवाली गंगा मय्या को पावन तथा पाप विमोचनी माना गया है। वैसे सभी बारहमासी नदियों को गंगा ही मानते हैं। नदी ही क्या बारहमासी झरने या चश्मे को भी गंगा की पदवी प्राप्त है। जल का एक नाम 'जीवन' भी है—क्योंकि पानी के अभाव में जीना असम्भव है। बरसाती नालों को न गंगा कहते हैं और न उनमें साल के तीन सौ पैंसठ दिन पानी रहता है। चौमासे के बाद सूख जाते हैं। पानी न हो तो जीना दूभर है। इसीलिए कहा गया है कि ठौर बनाओ तो गंगा तट पर बनाओ, ऐसे जलाशयों पर जहां बरस के बारह महीने जल मिल सके। जल में नहा-धोकर बाह्य शुद्धि को प्राप्त होते हैं और पीकर अंतस्थ को शान्त कर सकते हैं। पानी से खाना बनाया जा सकता है और खाने की चीजें पैदा की जा सकती हैं ? 'पापहारिणि, दुरिताप हारिणि' गंगा मय्या को इसीलिए कहा गया है कि जल स्वच्छ तथा स्वच्छन्द जीवन का महान साधन है।। नहाओ-धोओ, खाओ-पियो, निश्चल मन से भजन करो, और निश्चित होकर सो रहो ? शरीर स्वस्थ रहेगा। मन को शान्ति मिलेगी। आत्मा को आनंद प्राप्त होगा।

संसार के भोग-विलास से विरक्त हो और मन भगवान में लीन हो, तभी आनंद का अनुभव होगा। नहीं तो वहां भी एकाकी जीवन अखरेगा और मन में अशान्ति रहेगी।

घबराने की जरूरत नहीं। मनोहारिणी हारिणि के साथ रमण करो और मौज के साथ जीवन बिताओ। जवानी में जोबन की बात सुनते ही मन बासों उछलने लगता है। पर यहां पर भी बड़ी-बड़ी अड़चने हैं। मनोहारिणि यानी लुभा-

वनी सूरत शकल से काम नहीं बनेगा। मन को मोह लेने वाली सहचरी चाहिए। ऐसी सहचरी के गले में हार चाहिए, मोतियों का, मणि-माणिक्यों का हार। पहले कमा खाने लायक बनो। हार, कंगन खरीदो। उसके गले में डालो और उसे अपने गले का हार बनालो। तभी वह हारिणि मनोहारिणि सिद्ध होगी। खूब जाने रहिए, यहां गंगाजल पर गुजारा नहीं होगा। खून को पानी बनाकर पसीना बहाना होगा। आसन लगाकर बैठने या तानकर सो रहने से काम नहीं चलेगा। यही नहीं, 'स्तनद्वय' के दर्शन के लिए अपने तन को कुंदन बनाना होगा। उसके मन को जीतने के लिए अपने मन को मारना होगा। तभी उसके 'स्तनद्वय' की घाटी में गहरे मन को पाओगे और साथ ही उसका तारुण्यमय तन भी।

अंधे को सारा संसार हरा ही हरा दिखता है। मोहातुर पुरुष को तरुणी के स्तन थाली के लड्डू ही लगते हैं, हाथ मारा कि गड़प किया। 'स्तनद्वये आवासः क्रियताम्' का यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि आपके तन का भारी बोझ ढोने के लिए ही उसके स्तन मानो स्तम्भ बने खड़े हैं। आपका यदि मन है तो उसके भी मन है और उस मन की अपनी पसन्द भी है। 'स्तनद्वये' के दर्शन के लिए अपने तन को कुंदन बनाना होगा। 'स्तनद्वये' के माने लेने चाहिए उन छातियों के बीच का मन। उस मन में आप जबर्दस्ती घुसपैठ नहीं कर सकते। जब उसे पूरा विश्वास हो जायगा कि आप विश्वसनीय हैं तभी वह अपने मन के कपाट खोलेगी। स्वागत करेगी। हृदयकमल पर आसन देकर बिठा लेगी और तभी आप सुखपूर्वक वहां आवास कीजिएगा।

श्लोक ३९

किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्तिशून्यैः प्रलापै-
द्वयमिह पुरुषाणां सर्वथा सेवनीयम्।
अभिनवमदलीलालालसं सुंदरीणां
स्तनभरपरिखिन्नं यौवनं वा वनं वा॥

शब्द विच्छेद

किमिह = किम् + इह
बहुभिरुक्तैर्युक्ति = बहुभिः + उक्तैः + युक्ति
प्रलापैद्वयमिह = प्रलापैः + द्वयम् + इह

शब्दान्वय

इह बहुभिः युक्ति शून्यैः प्रलापैः किम्
पुरुषाणाम् इह द्वयम् सर्वथा सेवनीयम्
अभिनव मद लीला लालसं सुंदरीणाम्
स्तनभर परिखिन्नं यौवनं वा वनं ।

शब्दार्थ

इह = इस विषय में
बहुभिः = तरह-तरह की
युक्ति शून्यैः = तर्क शून्य
प्रलापैः = बकवास से
किम् = क्या (लाभ)
पुरुषाणाम् = मर्दों के लिए
इह = इस संसार में
द्ववम् = दो ही
सर्वंथा = सब तरह
सेवनीयम् = भोगने योग्य हैं,
(या तो)
अभिनव = नई-नई, एक कदम नई
मदलीला = काम-क्रीड़ा की
लालसं = इच्छुक
सुंदरीणाम् = तरुणी की
स्तन भर = भरी छातियों के बोझ से
परिखिन्नं = एकदम अलसाई
यौवनम् = जवानी (भोगने योग्य है)
वा = अथवा
वनम् = वन-जंगल (सेवनेयोग्य हैं)

भावार्थ

इस विषय पर तरह-तरह की बेकार बकवास करने से क्या फायदा। पुरुषों के लिए इस संसार में भोगने योग्य दो ही वस्तुएं हैं। यह भोग्य वस्तु या तो वह स्तन-भार से अलसा कर रति केलि के लिए लालायित सुंदर नवयुवती का यौवन है या बीहड़ वन।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा था कि पुरुष को या तो बनवास करके तपस्या करनी चाहिए या स्त्री से सहवास करके सुख भोगना चाहिए। इस श्लोक में भी रमणी

अथवा अरण्य के सेवने की बात कही गयी है। एक ही बात को दोहराने पर भी दोनों श्लोकों के भाव में भारी अंतर है। युवती के कई विशेषण लगाकर यौवन की लम्बी-चौड़ी व्याख्या की गयी है। जबकि 'वनं' के बखान की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी गयी।

श्लोक की युवती की प्रशंसा करते हुए वास्तव में युवक को सतर्क अधिक किया गया है। पुरुष को बनवास कर तपस्या करने में केवल अपने मन को स्थिर रखना पड़ता है। वन की अन्य बाधाएं नगण्य हैं। वन में मन रम-भर जाय, बस आनंद ही आनंद है। परन्तु पुरुष मात्र की धुन सवार हो जाने या किसी युवती पर मुग्ध हो जाने मात्र से काम न चलने का।

युवती जंगल का पेड़ नहीं है कि लपक कर चढ़ गये और डाल, फल तोड़ने लगें। वह पहाड़ की कंदरा नहीं कि घुसकर बैठ गये। किसी चश्मे झरने का बहता पानी भी नहीं कि डुबकी लगा दी। पुरुष के समान स्त्री भी भावनाओं से भरी चलती-फिरती प्राणी है। आंख से सबको देखती है। कानों से सबकी सुनती है। मन से सब को तौलती है और बुद्धि से विचार करती है। देख-सुनकर और सोच-विचारकर उसे पहले अपना निर्णय लेने के योग्य बनने दीजिये। बाला पर बालात्कार करने का अधिकार पुरुष को नहीं है। उसका यौवन परिपक्व होने दीजिए। छातियों के भार से झुकी-झुकी मन में मुंह डाल कर विचार करने दीजिए। कामेच्छा की नई-नई कोंपलों को पनपने दीजिए और जब रति-क्रीड़ा के लिए आतुर होने लगे तब उस यौवन सुंदरी को भोग्योग्य मानिए।

श्लोक की शब्दावली में 'सुंदरी' भी सम्मिलित है। सुंदरी के सौंदर्य की भी कुछ चर्चा हो जाय। सौंदर्य क्या है? जो मानव के पंचेन्द्रिय को भावे वही सौंदर्य है। देखने में रूपवती हो, सुनने में कलकंठी हो, चलने में हंसगामिनी हो, बोल मधुर हों, खाल मुलायम हो, और मुख पूर्णिमा का चन्द्रमा हो। अरे, नाक, कान, खाल, बाल, की क्या कहो, यौवन के पदार्पण मात्र से रंग-रूप आप ही निखर आता है। जवानी की बहार वह बहार है जिससे सभी पेड़-पौधे भी नव-पल्लवों से शोभायमान हो उठते हैं। संसार-भर का सौंदर्य सिमिट कर ही रमणी के रूप का निर्माण हुआ है। बस, एक मन ठीक हो, सब कुछ ठीक है और तभी पिछले श्लोक 'आवासः क्रियताम्' चरितार्थ होता है।

श्लोक ४०

सत्यं जना वच्मि न पक्षपाताल्लोकेषु सप्तस्वपि तथ्यमेतत्
नान्यन्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो दुः खैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः।।

शब्द विच्छेद

पक्षपाताल्लोकेषु=पक्षपातात्+लोकेषु
सप्तस्वपि=सप्तसु+अपि
तत्थमेतत्=तथ्यम्+एतत्
नान्यन्मनोहारि=न+अन्यम्+मनोहारि
दुःखैक=दुःख+एक
हेतुर्न=हेतुः+न
कश्चिदन्यः=कश्चित्+अन्यः

शब्दान्वय

जनाः सत्यं वच्मि पक्षपातात् न सप्तसु लोकेषु अपि एतत् तथ्यम्
नितम्बिनीभ्यः मनोहारि अन्यत् न च दुःख एक हेतुः अन्यः कश्चित् न ।।

शब्दार्थ

जनाः=हे लोगो
सत्यं=सच
वच्मि=कहता हूं
पक्षापातात् न=पक्षपात से नहीं,
सप्तसु=सातों
लोकेषु अपि=लोकों में भी
एतत् तथ्यम्=यही यथार्थ है,
नितम्बिनीभ्यः=रमणियों सी

मनोहारि=लुभावनी
अन्यत् न=दूसरी कोई नहीं है
च=और
दुःख=दुःख का
एक हेतुः=एकमात्र कारण भी
अन्यः=दूसरी
कश्चित् न=कोई चीज नहीं है ।

भावार्थ

हे लोगो, मैं सच-सच कहता हूं, किसी का पक्ष-पोषण नहीं करता । यह बात एकदम यथार्थ है कि स्वर्ग, मर्त्य, पाताल आदि सातों

लोकों में रमणी से बढ़कर सुखदायी दूसरी कोई वस्तु नहीं है और यह भी यथार्थ है कि कामिनी से बढ़कर कष्टदायिनी भी दूसरी कोई नहीं है।

विशेषार्थ

पिछले दस श्लोकों में स्त्री की प्रशंसा करते हुए भी संसार के अन्य क्लेशों से बचने और निरापद जीवन बिताने का एक अन्य मार्ग सुझाया गया था एकाकी बनवास का। इस लोक में दोनों विकल्पों के पक्ष-विपक्ष का विचक्षण करके अंतिम निष्कर्ष बता दिया गया है।

इस निष्कर्ष को पक्षपातरहित कहा गया है। पक्षपात किसके साथ ? शृंगार के दो ही पात्र हैं, एक स्त्री, दूसरा पुरुष। अभिप्राय यह कि स्त्री के साथ या पुरुष के साथ कोई सहानुभूति नहीं दिखाई है और जो कुछ कहा है यथार्थ कहा है। यह यथार्थ एक इसी मानव लोक में नहीं, वरन् सातों लोकों में भी सत्य है। कौन हैं वे सातों लोक ?

हमारा यह जो मानवलोक है इसे मर्त्य लोक कहते हैं। चतुर्दश भुवनानि अर्थात् चौदह लोक माने जाते हैं। हम से नीचे की ओर पाताल लोक तक सात लोक और ऊपर स्वर्ग तक सात लोक। चौदह लोकों में से केवल सात ही को क्यों गिनाया गया ? मानवजन्म को उत्तम माना गया है। मानव से् अधम गति पाने पर पाताल की ओर नीचे लोकों में जाते हैं और उत्तम गति प्राप्त होने पर स्वर्ग की ओर ऊपर के लोकों में जाते हैं। पिछले श्लोकों में जो दो मार्ग गृहस्थी तथा वानप्रस्थ के बताये गये हैं उन दोनों मार्गों से मानव उत्तम गति को ही प्राप्त होता है और वह स्वर्ग की ओर ऊपर ही के लोकों में पहुंचेगा। मर्त्य लोक से लेकर स्वर्ग लोक तक, कहा गया है कि यह निषर्क यथार्थ है। वह यथार्थ क्या है जो हमारे मानव संसार में भी और देवादि देवों के स्वर्ग लोक भी एक-सा है ?

वह है रमणीमणि जो संसार में कल्याणी है और स्वर्ग में भी कल्याणी है। सजनी संसार में भी सुखदायिनी और स्वर्ग में भी सुखदायिनी। स्वर्ग के साथ देवांगनाएं भी होती हैं। शायद संसार के साधारण स्त्री-पुरुष ही यहां सुखमय जीवन व्यतीत करके स्वर्ग में देव देवियां बन जाती हैं। यहां जो पति, अपनी पत्नी के रूप में रहते हैं, स्वर्ग में भी उनका वही नाता रहता है। संसार का नाता इतना तगड़ा है, कि स्वर्ग में भी नहीं टूटता। पर स्त्री-गमन को संसार में ही पाप माना गया है तो स्वर्ग में परांगना की बात ही कैसे उठ सकती है। तब तो वैवाहिक बंधन-युक्त स्त्री-पुरुष दोनों को ही दैव-विमान स्वर्ग तक ले जाता है।

सचमुच यही सत्य है। इसीलिए श्लोक में इतने स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। यह निष्कर्ष पक्षपात सहित है और सप्त-लोक सत्य है।

गृहस्थ जीवन को सबसे श्रेष्ठ इसीलिए कहा गया है कि इसमें गृहस्थ जीवन की गाड़ी में स्त्री पुरुष दो पहियों के समान हैं। चलेंगे तो दोनों पहिये साथ-साथ चलेंगे, रुकेंगे तो साथ-साथ रुकेंगे। एक पहिया टूटा तो गाड़ी ठप्प। ठीक है, बैलगाड़ी के युग में जो बात कही जाय, उसमें बैल गाड़ी ही की उपमा दी जायेगी। हम तो बैल गाड़ी की अपेक्षा पैर गाड़ी की उपमा देना उचित समझते हैं। पैर गाड़ी का अगला पहिया पुरुष है और पिछला पहिया स्त्री। पैर गाड़ी को देखने में लगता है कि अगला पहिया पिछले पहिये को घसीटे जा रहा है। वास्तव में पिछला पहिया आप चलता और अगले को आगे ढकेलता है। पिछला पहिया न चले, तो अगला आगे बढ़े नहीं। गृहस्थी में भी ठीक यही बात होती है। सारी गृहस्थी घरवाली चलाती है। 'गृहणी गृहमुच्यते,' इसीलिए कहा गया है। पत्नी की पतिव्रता यहीं तो झलकती है कि सारा काम करती आप है और नेता मानती, बनाती है पति को। पत्नी के साथ संसार में, जब काम बिना ही नाम मिले, और साथ में आराम मिले, तब स्वर्ग की कोई क्यों सोचे। पीछे ३६वें श्लोक में इसी आशय को सिद्ध किया गया, है कि वैवाहिक जीवन में पुण्य हो या न हो, पाप तो कदापि नहीं है। जब स्वर्ग में भी स्त्री सुख ही सत्य है, तब यही निष्कर्ष निकला है कि पापरहित गृहस्थ जीवन पति-पत्नी दोनों के लिए स्वर्ग का मार्ग सुलभ-साध्य करती है।

गृहस्थाश्रम के समान सुलभ, सुखी एवम् स्वर्गीय जीवन के रहते हुए वन-पर्वतों में तपस्या का कठोर जीवन क्यों अपनायें ? पुण्यप्राप्ति के लिए ? ३५वें श्लोक में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि पुण्य परहित साधन में है। निर्जन वन में परोपकार किसके साथ किया जाय ? केवल पाप से या क्लेश से बचने के लिए जीवन की गाड़ी को वन-कन्दराओं में भी घसीटनी पड़ेगी। वहां दो पहियों की गाड़ी भी नहीं चलेगी बिचारी को टूटाफूटा पहिया बनकर रहना पड़ेगा। पैर गाड़ी की मिसाल लें तो वह भी एक पहिए वाली साइकिल की साधना। सरकसों में देखा होगा, एक पहिये की साधना करने वाले को कितनी साधना करनी पड़ती है और सहारा लेना पड़ता है। फिर दो पहिये की पैर गाड़ी एक घंटे में दस मील चलेगी तो एक पहिये वाली दस घंटों में भी एक मील नहीं चलेगी और दस घंटा क्या दस मिनट भी चलना कठिन है। गिर पड़ेगा। वन-पर्वत-वासी तपस्वियों की प्राय: यही गत बनती है। तपस्या की तपन से घबरा कर पतन की ओर जाते हैं और कदाचित् पतित होते-होते पाताल के भागी बन जाते हैं। गृहस्थ स्वर्ग

में पहुंचे और तपस्वी पाताल में। यही कारण है कि साधारणतया सभी लोग गृहस्थ जीवन को अपनाते हैं। इने-गिने वन-पर्वतों में जाते हैं और उन इने गिनों में भी लाखों में से एक आध ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

स्पष्ट है कि अपवाद को छोड़कर गृहस्थ जीवन ही व्यक्ति तथा समष्टि के लिए श्रेयस्कर है। बाहर मन लगा कर काम कर सकते हैं और घर पर तन को सुख मिल सकता है। पति-पत्नी के साथ परिवार का पालन-पोषण भी हो जाता है। आत्मा की मुक्ति संभव हो या न हो पापमुक्त जीवन अवश्यमेव संभव है।

यदि कोई पावन प्राणी संसार और शरीर को अस्थिर समझकर आत्मा की मुक्ति के लिए पुण्यार्जन करना चाहे तो सामाजिक जीवन में उस ओर सचेष्ट होने का अवसर भी प्राप्त हो सकता है। निष्ठावान समाजसेवी को जीवनमुक्त होने के लिए यथेष्ट सामग्री मिल सकती है। अर्धांगिनी अनुकूल आचरण से आप भी तर सकती है और परिवार का नाम रोशन कर सकती है। ऐसी ही नारी को लक्ष्य में रखते हुए श्लोक में स्त्री को 'मनोहारी' कहा गया है और उसे संसार में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। पति को अपने कर्तव्य-कर्म को यथोचित रूप में निभाने में जो पत्नी सहायक सिद्ध हो वही धर्मपत्नी है और जो कुल अर्थात् कबीले के उद्धार में सहकार दे वही कुलधर्मपत्नी है।

धर्मपत्नी के विवेचन में एक श्लोक प्रस्तुत है :

कार्येषुदासी, करणेषु मंत्री, रूपेच लक्ष्मी क्षमया धरित्री,
भेज्येषु माता, शयने च रम्भा, षटधर्मयुक्ता कुल-धर्म-पत्नी।

आर्थात् दासी के समान सेवा कर, मंत्री के सदृश परामर्श देकर, लक्ष्मी की-सी सुलक्षण श्रृंगार कर, धरती माता की भांति भार सहकर, जन्मदात्री माता की सी ममता के साथ भोजन करवाकर और शयनागार में वेश्या की-सी भाव-भंगियों से स्ववश कर पति के संग निर्वाह करने वाली नारी धर्मपत्नी कहाती है। ऐसी सुगुण सम्पन्न पत्नी को पाकर कौन अपने को भाग्यवान नहीं मानेगा और इसी संसार में स्वर्गीय सुख का अनुभव नहीं करेगा। वह तो पग-पग पर पत्नी का आभार मानेगा।

मानलो कि ऐसी युवती सजनी का संयोग नहीं हुआ। विपरीत स्वभाविनी से विवाह हुआ, समाज की मर्यादाओं के कारण या किन्हीं अन्य कारणों से वैवाहिक बंधन में बंधे रहने को बाध्य होना पड़ा तो घर नरक बन जायेगा। गृहस्थी उसे सांप-छछूंदर की समस्या बन जायेगी, जहां न रह सकेगा और न छोड़ सकेगा। ऐसी परिस्थितियों में स्त्री को 'दुःखैक कारणम्' कहा गया है।

क्या ऐसे दुखदायी जीवन पर ही वन-जीवन को प्रधानता दी गयी है ? निश्चय ही वन में भी उस मन को शान्ति नहीं मिलेगी। कांटा बनकर सदा मन में खटकता रहेगा। एक ओर धूनी जलाकर रातदिन यौवन की कामनाओं की आहुति देते रहे और दूसरी ओर मोहमुक्त होकर मुक्ति की कठोर साधना करे, क्या यह कोई सरल कार्य है ? जब इतनी कठोर साधना करनी है तब वन, पर्वतों में ही क्यों जायें ? समाज के बीच में रहकर साधना करना कहीं सरल है। समाज की सहानुभूति प्राप्त होगी और कुछ न कुछ सहारा भी मिलेगा।

अनमेल जोड़ी पर साधक को सिद्धि अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र प्राप्त होगी। बाहर तरह-तरह के कष्ट झेलकर गृहस्थी को चलाने की चेष्टा करना किसी तपस्या से कम नहीं है। घरवाली बिगड़ैल हो तो मान लें कि और भी घोर तपस्या कर रहे हैं। देहरी के भीतर पग पड़ते ही हंस-मुख होकर प्रवेश करें तो कहे कि कहीं खूब खुशियां मनाकर आ रहे हो, मुंह लटकाये जायें तो कहे कि तुम्हें घर बुरा लगता है, कलमुंहा कहींका, जहां मन लगता है वहीं जा, मरा क्यों नहीं, किसी ने तेरा गला घोटा क्यों नहीं, धुक्-धुक् तेरी चिता जलते देख लेती तो मन ठंडा पड़ता। उठकर मारने दौड़े, भाग पड़ने पर भर-भर कर कोसने लगे, तेरा वंश नाश हो जाय, कैन्सर, प्लूरेसी के नाम न जानकर कालरा, प्लेग के कोसे से ही अपने दिल के फफोले फोड़ ले, घर पर पावन जीवन बिताने वाली पत्नी बहेतु पति को यदि पाप कार्यरत मान बैठे तो बुरा मानने की कौन बात है ? बाहर समाज में भी यही देखने में आता है कि अपने को सच्चा मानने वाले प्राय: दूसरों को झूठा समझते हैं। झूठी थाली मंजवावे, उतरी साड़ी धुलवाना, खाना भी पकाना पड़े, पाखाना भी उठाना पड़े तो मन कड़ा करके किया करे। बाहर कमावे या समाज की सेवा करे और घर पर काम करे और धीरज धर कर दीन व दुनिया को संवारता जाय तो इससे बढ़कर न कोई तपस्या हो सकती है और न इससे बढ़कर और शान्तमूर्ति बनने का अवसर कहीं और मिल सकता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति समाज श्रद्धा के फूल चढ़ावेगा। और स्वयं भगवान उसका भक्त बनेगा। ऐसे घोर तपस्वी भी संसार में हुए हैं और आज भी हैं।

अंत में एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यकीय है। पुरुष हो अथवा स्त्री, दोनों ही समानरूप से प्रशंसनीय अथवा निंदनीय हैं। जिस प्रकार पुरुष कह सकता है कि स्त्री सुखों की खान है, उसी प्रकार स्त्री भी अनुकूल पति को पाकर अपने को सौभाग्यवती मानती है या नीच निखट्टू पति का रोना रो सकती है। वास्तविक बात यह है कि गृहस्थ जीवन में जो व्यक्ति सामजिक बंधन को प्रतिबंध नहीं मानता और निश्चित परिधि के भीतर स्वच्छन्द विचारता है, वह स्वयं सुखी

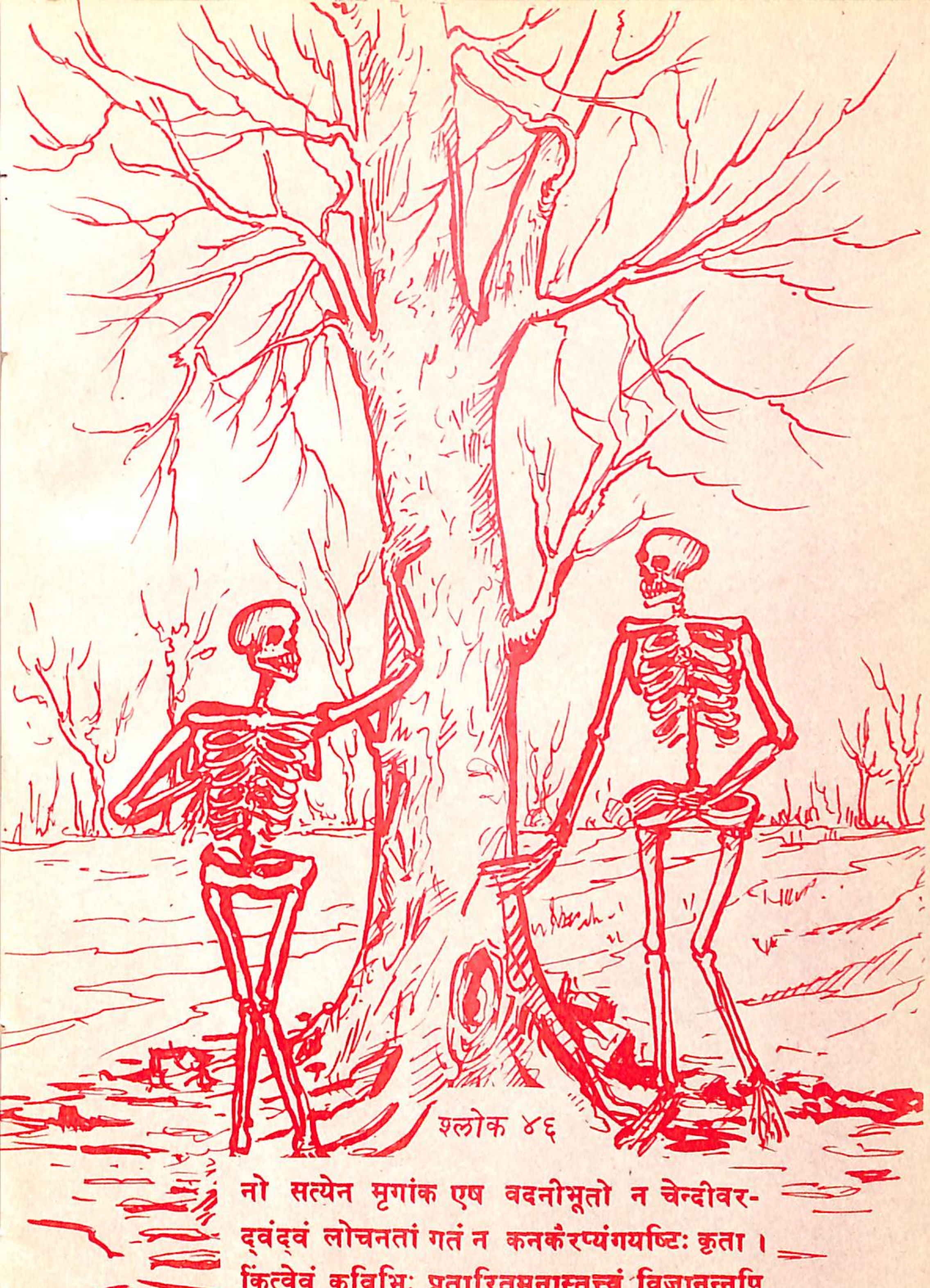

श्लोक ४६

नो सत्येन मृगांक एष वदनीभूतो न चेन्दीवर-
द्वंद्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यंगयष्टिः कृता ।
किंत्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्त्वं विजानन्नपि
त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मन्दोजनः सेवते ।।

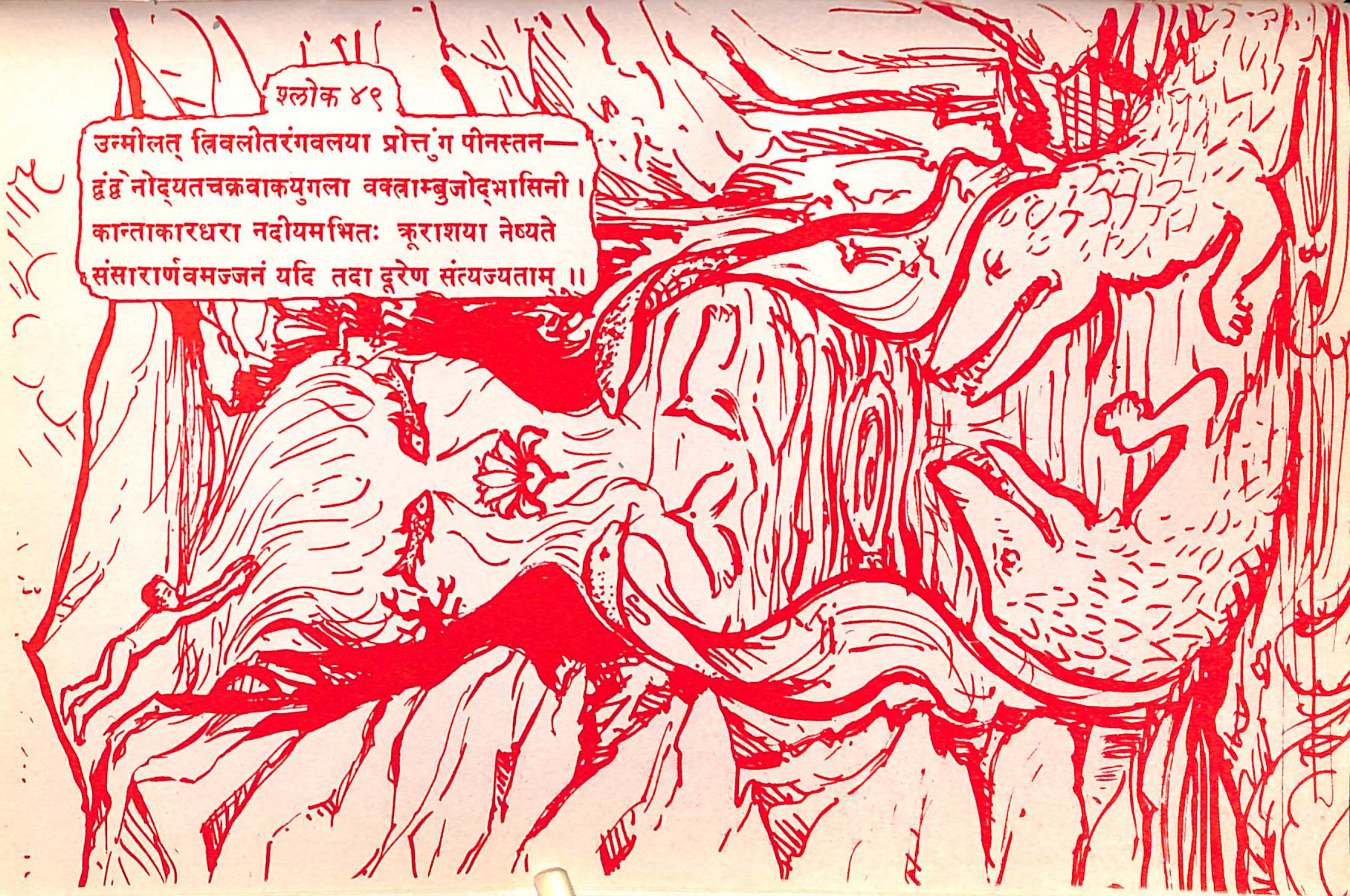

श्लोक ४९

उन्मीलत् त्रिवलीतरंगवलया प्रोत्तुंग पीनस्तन—
द्वंद्वेनोद्यतचक्रवाकयुगला वक्त्राम्बुजोद्भासिनी ।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्रूराशया नेष्यते
संसारार्णवमज्जनं यदि तदा दूरेण संत्यज्यताम् ।।

रहता है और समाज उसकी मर्यादित स्वच्छन्दता को स्वेच्छापूर्वक सहन करता है। व्यक्ति की स्वच्छन्दता विशृंखलता में परिणत होने पर ही दुखदायी सिद्ध होती है और यह स्त्री हो अथवा पुरुष दोनों पर लागू होती है।

फिर भी स्वीकार करना पड़ेगा कि स्त्री-जाति पर अधिक अन्याय होता है। पुरुष दिन भर बाहर रहे या महीनों वर्षों तक लापता रहे, तो भी उस पर विशेष दोष नहीं लगाया जाता। किन्तु यदि स्त्री बिना बताये घर से बाहर जाय तो उस पर संदेह किया जाता है। और जो दो चार महीने नहीं, दो चार दिन भी बेपता हो जाय तो उसे पतिता कहा जाता है। सतीमणि सीता को भी लोगों ने नहीं बखशा और रामचन्द्र जी गर्भवती सती को बनवास देकर मर्यादा पुरुषोत्तम कहाते हैं। आज भी हम लोग कहते नहीं थकते कि—लड़की खराब हो गयी। क्या अकेली लड़की ही कहीं खराब होती है, उसके साथ कोई लड़का भी तो खराब होता है। किसी की लड़की खराब हुई तो किसी का लड़का भी तो खराब हुआ। अच्छाई-बुराई के दोनों बराबर के जिम्मेवार और उनके साथ सारा समाज भी जिम्मेवार।

श्लोक ४१

कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुलश्रोणीभरेत्युन्नम-
त्पीनोत्तुंगपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति।
दृष्ट्वा मुह्यति मोदतेऽभिरमते प्रस्तौति विद्वानपि
प्रत्यक्षाशुचिभस्त्रिकां स्त्रियमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम्॥

शब्द विच्छेद

कान्तेत्युत्पल = कान्ता + इति + उत्पल
श्रोणीभरेत्युन्नमत्पीनोत्तुंग = श्रोणीभरा + इति + उन्नमत् + पीन + उत्तुंग
पयोधरेति = पयोधरा + इति

सुमुखाम्भोजेति = सुमुख +अम्भोजा + इति
सुभ्रूरिति = सुभ्रूः + इति
मोदतेऽभिरमते = मोदते + अभिरमते
विद्वानपि = विद्वान + अपि
प्रत्यक्षाशुचि = प्रत्यक्ष + अशुचि
स्त्रियमहो = स्त्रियम् + अहो
दुश्चेष्टितम् = दुः + चेष्टितम्

शब्दान्वय

विद्वान् अपि प्रत्यक्ष अशुचि भस्त्रिकाम् स्त्रियम् दृष्ट्वा
कान्ता इति उत्पल लोचना इति विपुल श्रोणीभरा इति
उन्नमत् पीन उत्तुंग पयोधरा इति सुमुख अम्भोजा इति
सुभ्रू इति प्रस्तौति मुह्यति मोदते अभिरमते मोहस्य दुश्चेष्टितम् अहो ।

शब्दार्थ

विद्वान् अपि = विद्वान, पंडित भी
प्रत्यक्ष = सामने दीखने वाली, खुली
अशुचि भस्त्रिकाम् = अपवित्र चमकटी
स्त्रियम् दृष्ट्वा = स्त्री को देख
कान्ता इति = मनोहारिणी, रमणी-कहकर
उत्पल लोचना इति = कमलनयनी कहकर
विपुल श्रोणीभरा इति = बड़े नितम्ब-वाली कह
उन्नमत् पीन उत्तुंग = उभरते हुए, भरे हुए, उठे हुए
पयोधरा इति = स्तनवाली कहकर
सुमुख अम्भोजा इति = सुंदर कमल-सी मुखवाली कहकर
सुभ्रू इति = सुंदर भौएंवाली कहकर
प्रस्तौति = प्रशंसा करता है
मुह्यति = मोहित होता है,
मोदते = प्रसन्न होता है
अभिरमते = रम जाता है
मोहस्य = मोह का
दुश्चेष्टितम् = बुरा प्रभाव (तो देखो)
अहो = कैसी हैरत है ।

भावार्थ

विद्वान भी हाड़-मांस भरे चाम की गुड़िया युवती को देख प्रशंसा के पुल बांधता है कि कामिनी है, कमलनयनी है, नितम्ब भारी हैं, स्तन उभरे हैं, मुख खिला कमल है और भौएं अति सुंदर हैं । उस पर

मुग्ध होता है और उसके साथ लीला करता है। मोहजाल तो देखो मानव को कैसे भरमाता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में कहा गया था कि संसार के असार होते हुए भी स्त्री इस असार संसार को रसमय बना देती है। साथ ही उनमें नव-जीवन और भगवद् भजन का भी वर्णन था। सुख की खान स्त्री से मुंह मोड़, घर छोड़ वन में भगवान पर ध्यान लगाने की क्या आवश्यकता?

पिछले श्लोक के अंतिम भाग में कहा था कि स्त्री ही दुःखों का एक मात्र कारण भी है। यहां प्रसंग बदल जाता है। स्त्री संसारिक प्रवृत्ति की सूचक है। सत्री से संतान, संतान के लिए सम्पत्ति, सम्पत्ति में आसक्ति, आसक्ति से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति है निवृत्ति का निरोधक। संतान निरोध के लिए आजकल जब इतना बवंडर रचा जा रहा है, तब सन्तानोत्पत्ति के सह-साधन स्त्री को कुछ लोग दूर से ही नमस्कार करें तो अवश्यमेव वे बधाई के पात्र हैं। अतएव समाज को इस विचार का स्वागत करना चाहिए। प्रवृत्ति से निवृत्ति में प्रवेश करना संतान-निरोध अथवा परिवार-नियोजन का रूपान्तर ही तो है।

मूर्खजन की मूर्खता क्षम्य हो सकती है, किन्तु विद्वानों की नादानी असहनीय है। श्लोक में 'विद्वान् अपि' कहने का यही अभिप्राय है। विद्वान का अभिप्राय केवल वेदशास्त्रों के अध्ययन मात्र से नहीं, वरन् उन पर अनुसंधान तथा अनुभव भी सम्मिलित है। श्लोक में जिस विद्वान के सम्बन्ध में कहा गया है 'रमते' शब्द सूचित करता है कि उसने शृंगार का आभोग भी किया है।

प्रवृत्ति का पूर्णतया उपभोग हुआ। सन्तानोत्पत्ति भी हो गयी। अब निवृत्ति का भी अभ्यास करो, क्योंकि तुम अनुभवी भी हो और विद्वान भी। संसार की असारता पर शास्त्रों के प्रमाण हैं और स्वानुभव से पता है कि सम्भोग का सुख जीवन के चन्द साल तक केवल क्षण-भर का तथाकथित आनंद है। फिर भी यौवन के मद या बुढ़ापे की हविस के कारण 'दुश्चेष्टितम्' दुर्व्यवहार करता है। हाड़ मांह पर चाम की थैली मढ़े शरीर का व्यामोह है। कहीं चरबी चढ़ी है, कहीं मांस धंसा है और कहीं बाल उगे हैं, कहीं सफाचट है। यौवनकाल में कुछ समय तक बहार रहती है। जहां यौवन बीत गया निरा फूक बनकर रह गया। दांत झड़ने के बाद गन्ना कोई कैसे चूसेगा? और न फूक में कोई कुछ रस पावेगा। मूत्रपात्र को पवित्र कौन कहेगा? वन में ध्यानमग्न होकर अमृतत्व को प्राप्त

होने की चेष्टा करनेवाले को अंगना के अधरामृत की अपेक्षा करना व्यर्थ है। पायेगा एक भी नहीं, पर पछतायेगा बहुत।

श्लोक ४२

स्मृता भवति तापाय दृष्ट्वा चोन्मादकारिणी।
स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम्॥

शब्द विच्छेद

चोन्मादकारिणी = च + उन्माद + कारिणी

शब्दार्थ

स्मृता = (जिसे) याद करने पर
तापाय भवति = ताप यानी बुखार चढ़ता है,
दृष्ट्वा च = देखने पर
चोन्मादकारिणी = पगला देती है

स्पृष्टा = छू जाने पर
मोहाय भवति = होश जाता रहता है,
सा = वैसी (स्त्री) को
दयिता = प्रेयसी
कथम् नाम = कैसे कह सकते हैं।

भावार्थ

औरत की जहां बात छिड़ी तहां बुखार चढ़ आता है, जहां एकबार देखा कि पागलपन सवार हो जाता है और ज्यों ही शरीर छू गया होश हवास गुम, ऐसी को प्रेयसी कैसे कहा जा सकता है ?

विशेषार्थ

विशेषार्थ यहां विशेष अवस्था तथा विशेष परिस्थिति के अनुरूप ही होगा। गृहस्थ का नहीं, यहां विरक्त का विवेचन हो रहा है। यौवन बीत चुका। बाल-

बच्चे बड़े हो गये । चाम की थैली खाली हो गयी । चमड़ी लटक पड़ी । बस, अब प्रेम-वेम की बात छोड़ो और चुपके से राम-नाम जपो । नहीं, तो क्या होगा ?

उमर बीतने पर भी औरत का ध्यान करने से ताप-बुखार चढ़ेगा । यह बुखार प्रेम का नहीं, क्रोध का होगा, औरत पर क्रोध, अपने पर क्रोध । जवानी का बुखार शरीर में जोश पैदा करता है, मगर बुढ़ापे का क्रोध शरीर जला डालेगा । जले-भुने पावेंगे तो पागल बनकर जली कटी सुनेंगे, सुनायेंगे । फिर भी पास पहुंचेंगे तो आप ही खोये पायेंगे और अनुभव करेंगे कि एक-दूसरे को कभी के फूंक कर राख बना चुके हैं । यह हुई वृद्धावस्था में वासनायुक्त प्राणी की ।

अब बनवासी विरक्त की बात लीजिए । गुफा में बैठा है, पर घर की याद सताती है । भगवान का भजन करने चले थे, परन्तु भागवानी का धुन मन पर सवार है । आंखों से ओझल है पर दिल में बसी हुई है । उल्टे पांव घर लौटे या न लौटे, चाहे भूत प्रेत भी वहां न हों, पर घर और घरवाली का चित्र सदा उसकी आंखों में नाचता रहता है । कल्पना-जगत में खोने वाला पागल ही तो होता है । घर-गृहस्थी गयी थी, अब भजन-भक्ति भी गयी । घर का रहा, न घाट । पथ-भ्रष्ट व्यक्ति अपना दोष मानने कब चला । जो मोक्ष पाने चला था चंचल मन के कारण राक्षस बन गया । ऐसा व्यक्ति 'दयिता' को डाइन ही कहेगा ।

श्लोक ४३

तावदेवामृतमयी यावल्लोचनगोचरा ।
चक्षुष्पथादतीता तु विषादप्यतिरिच्यते ।।

शब्द-विच्छेद

तावदेवामृतमयी = तावत् + एव + अमृतमयी
चक्षुष्पथादतीता = चक्षुः + पथात् + अतीता
विषादप्यतिरिच्यते = विषात् + अपि + अतिरिच्यते

शब्दान्वय

यावत् लोचन गोचरा तावत् एव अमृतमयी
चक्षुः पथात् अतीता विषात् अपि अतिरिच्यते ।

शब्दार्थ

यावत् = जब तक
लोचन गोचरा = आंखों के सामने है
तावत् एव = तब तक ही
अमृतमयी = अमृत से भरी (लगती है,)
(किन्तु जब)
चक्षुः पथात् = आंखों से
अतीता = परे हो जाती है (तब)
विषात् अपि = विष से भी
अतिरिच्यते = बढ़ जाती है

भावार्थ

सुंदरी सामने रहने तक अमृत के समान आनंददायिदनी-सी लगती है, परन्तु जब वह सामने से हट जाय तब वही जहर से बढ़कर घातक लगने लगती है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में पत्नी को 'प्रेयसी' कहना अखरता था। क्यों अखरता था, यही इस श्लोक में बताया गया है। जब तक गृहस्थी में था तब तक पत्नी को पीयूषमयी पाता था। उसी के सहारे जीता था। लगता था कि उसके हर बोल से, हर चाल से अमृत झड़ रहा है और उस अमृत-पान से प्रत्येक क्लेश, कष्ट को सहे जाता था और ज्यों-त्यों जिये जाता था। परन्तु विरक्त होकर अब वन में बसा तो है पर अभी वासना नहीं गयी। रह-रहकर घरवाली याद आती है। बिछोह असहनीय हो जाता है। अकेलापन अखरता है। सोचता है; क्या बात है कि तब भी ध्यान पत्नी का रखता था और अब भी उसी के ध्यान में मग्न हूं, मगर तब सुखी था और अब दुखी हूं। अंतर केवल इतना ही है कि तब वह पास थी और अब नहीं है। निष्कर्ष यही निकला कि केवल ध्यान मनन से कोई लाभ नहीं। सामने रहे, साथ-साथ रहे तभी मजा है। मजा तो मिलन में है। विलगाव में मिलन की चाह अरण्य-रोदन है। यहां वही पिया की याद विष बनकर रोम-रोम में व्यापी है। विष से भी बढ़कर है, क्योंकि सचमुच विष होता तो तुरंत बेहोश हो जाता या मर जाता। पर यहां बेचैनी से तिलमिला रहा है। यह तिलमिलाहट मिलन से ही दूर होती है। इसीलिए पिया पीयूष है।

विरक्त वन वन में तपस्या करने वाले के मन में भी ईश्वर-दर्शन की ऐसी ही तिलमिलाहट होवे, लोट-पोटकर रोवे, आंसुओं से सारी धरती गीली हो जाय,

भगवान मिलन की प्यास मिटाने के लिए जहर का प्याला मुंह में धरे और जहर के मारे मरे नहीं, वरन् तड़पन से सिर पत्थर से दे मारे और क्या कुछ करे और तब कहीं भाग्यवश भगवान दर्शन दें, क्लेश करे, पाप धुले और आत्मा परमात्मा में लीन हो जाय, परमगति को प्राप्त हो जाय।

धरती की भागवानी हो अथवा आकाश का भगवान, आमने-सामने आपस में मिलने तक तपना ही पड़ेगा।

श्लोक ४४

नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम्।
सैवामृतलता रक्ता विरक्ता विषवल्लरी॥

शब्द विच्छेद

नामृतं = न + अमृतं
किंचिदेकां = किंचित् + एकां
सैवामृतलता = सा + एव + अमृतलता

शब्दान्वय

नितम्बिनीम् एकाम् मुक्त्वा किंचित् अमृत् न विषं न
सा एव रक्ता अमृतलता विरक्ता विषवल्लरी।

शब्दार्थ

एकाम् = अकेली
नितम्बिनीम् = स्त्री को
मुक्त्वा = छोड़कर
किंचित् = कोई
अमृतं न = अमृत भी नहीं है
विषं न = विष भी नहीं है

सा एव = वही स्त्री
रक्ता = प्रेमयुक्त होने पर
अमृतलता = अमृत की बेल है
विरक्ता = प्रेमरहित होने पर
विषवल्लरी = विष की बेल है

भावार्थ

संसार में स्त्री ही एक ऐसी वस्तु है जो अमृत और विष दोनों है। अनुकूलवती स्त्री अमृत की बेल है और प्रतिकूल-प्रवर्तिनी विष की बेल है। वही प्रेम बरसाकर प्राणदायिनी बनती है और वही विष का बीज बोकर प्राणघातिनी सिद्ध होती है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में और इस श्लोक के अभिप्राय में कोई अंतर वैसे दिखाई नहीं पड़ता, किंतु दोनों में भारी अंतर है।

पिछले श्लोक में कहा था कि औरत के साथ रहने में ऐसा लगता था जैसे अमृत-कलश के पास बैठे हों, और साथ छूटने पर ऐसा लग रहा है मानों सिर पर विष का घड़ा फूटा है। स्त्री पर दोषारोपण नहीं किया था। वियोगावस्था में मानसिक कष्ट के कारण स्त्री की अनुपस्थिति का वावेला था, जो वास्तव में स्त्री की प्रशंसा ही थी।

इस श्लोक में सचेत किया गया है कि न प्रत्येक स्त्री सुखदायिनी है और न प्रत्येक स्त्री दुखदायी। सुख-दुख उसके स्वाभाव पर निर्भर करता है। अनुकूलवती स्त्री संयोग में सुख देती ही है और वियोग में भी उसकी मधुर स्मृति शान्तिप्रद होती है। संन्यास लेकर साधु-जीवन अपनाने पर वह संतोष कर लेती है। बनवास में साथ रहने पर सहर्ष सहन करती है। इसके विपरीत भिन्नाभिप्राय रखने वाली के साथ निर्वाह करना दूभर हो जाता है। दूर होने पर घर बैठे भर-भर कोसती है और तपोवन में जाकर शान्ति भंग करती है। अनुरागवती अमरबेल बनकर लिपट जाती है और अनुरागरहिता विष की बेल बनकर फांसी बन जाती है। एक दन्त कथा है जो बचपन में अक्सर सुनने में आती थी।

एक था साधु ब्राह्मण। ब्राह्मणी थी बड़ी बिगड़ैल। दोनों की कभी पटती नहीं थी। ब्राह्मण जो कहे ब्राह्मणी ठीक उल्टा करे। ब्राह्मण ने कहीं भूल से कह दिया कि आज त्यौहार है तो उस दिन चूल्हे में आग ही न जले। ब्राह्मण व्रत रखे तो उस दिन मिष्ठान्न की तैयारी करे। विचारा किसी तरह निर्वाह करता रहा। एक दिन उसका पुराना मित्र देशाटन करते हुए आ टपका। ब्राह्मण ने एकान्त में पत्नी से कहा—आज मुझ पर दया करना, जो चाहे पका, जैसे चाहे खिला, मैं एकदम नहीं बोलूंगा, तू भी न बोलना। पत्नी ने हामी भरी। बड़ा शांत वातावरण रहा। दोनों मित्र भोजन पर बैठे। भोजन स्वादिष्ट था। मित्र चटनी, साग, दाल सब

की प्रशंसा करता भोजन किये जा रहा था, पर ब्राह्मण चुप। मित्र ने कहा—क्यों, बोलते नहीं हो खाना तुम्हें अच्छा नहीं लग रहा ? ब्राह्मणी के आज के आचरण पर मन-ही-मन खुश हो ही रहा था, ब्राह्मण भावावेश में बोल पड़ा—आप हमारे पुराने मित्र हैं, हमारी ब्राह्मणी ने प्रेम से पकाया है। इतना-भर कहना था कि ब्राह्मणी ने चूल्हे पर से गरम-गरम दाल की पतेली उठा ब्राह्मण के सिर पर दे मारी। कहने लगी मुआ, तू आज भी चुप न रह सका।

विषय की गम्भीरता न टूटे, याद आ गया, एक गाथा सुना दी। निश्चय यह काल्पनिक गाथा है मजाक बाजी के लिए। लीजिए, एक सच्ची घटना सुना दें।

पूर्वी घाट की एक तहसील थी। तहसीलदार के बाद पेशकार तहसील भर का सबसे बड़ा अधिकारी। निजाम के राज्य में पेशकार प्रायः ब्राह्मण होते थे। ब्राह्मण पेशकार भाड़े के घर में रहा करते थे। जंगल का इलाका, हर दो-तीन माह में जलाने की लकड़ी बैलगाड़ी-भर मुफ्त में पेशकार के घर आ पड़ती थी। मकान के मालिक गरीब ब्राह्मण ने, पता नहीं दिन में या रात में, कुछ लकड़ी उठा अपने पिछवाड़े में डाल ली। कचहरी में पेशकार थे, परन्तु घर पेशकारनी का राज था। पेशकारनी के आग्रह पर पेशकार ने थाने में रपट लिखा दी। मुकद्दमा जिलाधीश के यहां दायर हुआ। अमराबाद तहसील से जिला महबूब नगर तक पुलिस की गारद में मुलजिम आचारी और चूल्हे की लकड़ी-भरी बैलगाड़ी को ७२ मील ले जाया गया। रेल, बस नहीं थी उन दिनों में। तीन दिन तक तीन तहसीली इलाकों से होकर यह निराला माल एक निराले मुलजिम के साथ निकला। रास्ते-भर हर आदमी अचरज से पूछता, क्या मामला है। पुलिस वाले और सुनने वाले हंस-हंसकर लौट पड़ते कि तहसील के पेशकार को अमराबाद के जंगल में जलाने की लकड़ी का काल पड़ा। जिलाधीश के पास भी हंसी उठी, पर गरीब ब्राह्मण आचारी को जेल काटना ही पड़ा।

आये दिन सनातन भारत में ही नहीं, नूतन कम्युनिस्ट रूस में भी ऐसी घटनाएं घटती हैं। एक भारतीय युवक पदयात्रा करते हुए रूस में जा निकले। नाम याद नहीं रहा। दिल्ली में कुछ दिन एक साप्ताहिक चला रखा था उन्होंने। घूमते-घामते किसी देहाती इलाके में से गुजर रहे थे। शाम हो चली थी। रिमझिम-रिमझिम झिड़ी लग रही थी। रात बिताने के लिए एक गांव में रुक गये। कोई भला आदमी हाल-चाल पूछकर अपने घर ले गया। घरवाली बहुत बिगड़ी। न खाना खिलाने को राजी न घर ठहराने को तैयार। घर वाला कितना ही मनाया पर घरवाली न मानी, पर न मानी। रात काफी हो चुकी थी। बेचारा अपने किसी दोस्त के घर जाकर सारा हाल कह सुनाया और बिनती की कि भारतीय

मेहमान के खाने-सोने का प्रबन्ध करे। और तब कहीं वह अपने अतिथि को अन्य मित्र के यहां पहुंचा आया।

सच तो यह है कि भारत हो या अन्य कोई देश। चूल्हे की लकड़ी की प्यासी अनुकूलवती का प्रेम चूल्हे पर की गर्म पतेली सिर पर पटकने वाली डांट से क्या कम है और पति के साथ अतिथि का भी अपमान करना कौन सभ्यता है ? क्या प्राचीन सभ्य भारत, क्या नवीन साम्यवादी रूस।

क्या गरीब क्या अमीर, क्या मूर्ख, क्या विद्वान, क्या देश, क्या विदेश मानवी स्वभाव में अधिक अन्तर नहीं होता। सम्पन्न अमेरिका के प्रेजीडेंट अब्रहिम लिंकन की पत्नी से कब पटी थी। महान दार्शनिक सुकरात ने पत्नी से कौन सुख पाया। महाकवि कालीदास, और भक्ताग्रेसर तुलसीदास को क्या पत्नी ने नहीं धुतकारा !

स्त्रियों की राम कहानी सुना गये। परन्तु पुरुषों के काले कारतूतों को कहां तक गिनाया जाय। कितनी पत्नियां पति भक्ति, बल्कि भय के कारण सदाचार के मारे भीतर ही भीतर घुटती-कुढ़ती रहती हैं। कितनी ही औरतें कुओं में कूदकर या सिर पर मिट्टी का तेल उंडेलकर आत्महत्या कर पतियों के अत्याचार से छुटकारा पाने की चेष्टा करती हैं। बेजार मर्द घर छोड़ भाग खड़े होते हैं, पर मरते नहीं। स्त्रियों की दशा अधिक दयनीय है, पर पुरुषों का व्यवहार निंदनीय है। अपवाद स्त्रियों, पुरुषों दोनों में होते हैं। अनुकूल आचरण दोनों के लिए अवलंबनीय है और प्रतिकूल प्रवर्तन दोनों के लिए अवांछनीय, बस्ती में रहें अथवा बनवास में।

श्लोक ४५

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पट्टणं साहसानां
दोषाणां संनिधानं कपटशतमयं क्षेत्रमप्रत्ययानाम्।
स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं
स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिलोकस्य पाशः॥

शब्द विच्छेद

संशयानामविनय = संशयानाम् + अविनय
क्षेत्रमप्रत्यायानाम् = क्षेत्रम् + अप्रत्ययानाम्
विषममृत = विषम् + अमृत

शब्दान्वय

संशयानाम् आवर्तः अविनय भवनम् पट्टणम् साहसानाम्
दोषाणाम् सन्निधानम्-अप्रत्ययानाम् क्षेत्रं स्वर्ग द्वारस्य विघ्नः
नरकपुर मुखम् सर्वमाया करण्डम् विषम् अमृतमयं
प्राणिलोकस्य पाशः स्त्रीयन्त्रम् केन सृष्टम् ।

शब्दार्थ

सशयानाम् आवर्तः = शंकाओं का भंवर
अविनय भवनम् = सिरजोरी का घर
साहसानाम् पट्टणम् = दुस्साहस का घर
दोषाणां सन्निधानम् = दुर्गुणों का साथी
अप्रत्ययानाम् क्षेत्रं = अविश्वास का आश्रय
स्वर्गद्वारस्य विघ्नः = स्वर्ग-द्वार की रुकावट
नरकपुर मुखम् = नरकपुरी का फाटक
सर्वमाया करण्डम = सभी धोखा-धड़ी की पिटारी
विषम् अमृतमयम् = अमृतरूपी विष
प्राणिलोकस्य पाशः = लोगों के गले की फांसी
स्त्रीयन्त्रम् = स्त्रीरूपी यंत्र, महिलारूपी मशीन
केन सृष्टम् = किसके द्वारा बनायी गयी, अर्थात् ऐसी घोर स्त्री को किसने पैदा किया ।

भावार्थ

न जाने स्त्रीरूपी यंत्र को किसने बनाया कि जिस के दिल में सदा शंकाएं ही भरी रहती हैं, जो सदा मुंहजोरी किया करती है, जो दुस्साहस पर उतारू रहती है, जिसमें अवगुण ही अवगुण भरे हैं, जो सर्वदा अविश्वसनीय है, जो पुण्यमार्ग में अडंगा डालती और नरक की

ओर खींच ले जाती है और धोखाधड़ी करके ऐसा मायाजाल रच देती है कि अमृतरूप धरकर विष का काम करती है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक के यथार्थ या काल्पनिक अनर्थकारी सम्भावनाओं के बाद मन में परस्पर दुर्भावना का उत्पन्न होना अनिवार्य है और उस दुर्भावना के साथ दुर्वचनों का प्रयोग अस्वाभाविक नहीं है। दुर्वचन का मूल कारण दुर्भावना है। सात्विक पुरुष की भावना दूषित नहीं हो सकती। दुष्ट मन में ही दुर्भावनाएं पनपती हैं और दुष्ट व्यक्ति ही दुर्वचनों का प्रयोग करता है।

पति को चाहिए कि पत्नी के मन में शंका उत्पन्न होने का अवकाश ही न दे। यदि हो जाय तो पहली शंका का निवारण न करने पर शंका पर शंका घूमने लगती है। पत्नी की मुंह-जोरी पति की सिरजोरी का नतीजा है। असहनीय होने पर दुस्साहस की शरण लेनी पड़ती है। निरंतर दोषारोपण से सद्‌गुण सूख जाते हैं। दमन-नीति से कपटाचार को प्रोत्साहन मिलता है। अविश्वास का नाम धोखा-धड़ी है। स्वर्ग से विमुखता ही मुखरित नरक-द्वार है। आइने में अपना मुंह दिखाई पड़ता है। पुरुष ने स्त्रीपर जो दोष लगाये हैं, वही दोष स्त्री पुरुष के सिर पर मढ़ सकती है। बीज पहले किसी ने बोया हो, फल दोनों को चखना पड़ता है—कड़ुआ हो या मीठा। कांटे बोयें बबूल के तो आम कहां से खायें।

इस विवेचन में श्लोक के स्पष्टार्थ को भ्रष्टार्थ देकर पाठक को भ्रम में डालने की अभद्रता कदापि नहीं है। श्लोक का अंतिम चरण इसका प्रबल प्रमाण है। 'अमृतमय विषम्, स्त्री-यन्त्रम् प्राणि लोकस्य पाशा:,' इन तीनों शब्द-समुच्चय पर पक्षपात-रहित होकर विचार करना चाहिए। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। अमृत भी अधिक मात्रा में विष का काम करता है। स्त्री-पुरुष के मर्यादातीत व्यवहार से स्वर्गीय अमृत नारकीय विष में परिणत हो जाता है।

शृंगार में स्त्री को प्रधानता प्राप्त है, इसीलिए जिस प्रकार उसकी स्तुति की की गयी थी, उसी प्रकार निंदा भी की गयी है। फिर भी निंदा के प्रसंग में 'स्त्री' की जगह स्त्री-यंत्र का प्रयोग किया गया है। यंत्र माने कल, मशीन। मशीन अपने आप नहीं चलती। मशीन को चलानेवाला दूसरा होता है। स्त्री यदि मशीन है तो चालक पुरुष हुआ। स्त्रीरूपी कल की चाल साधारणतया उस कल के चालक पुरुष की निपुणता पर निर्भर है।

गार्हयस्थ यंत्र के संचालक में स्त्री का पात्र भी गौण नहीं है। स्त्री और पुरुष

को यहां समान स्थान देने का कारण है, क्योंकि आगे 'पुरुष लोकस्य' नहीं वरन् 'प्राणि लोकस्य' का शब्द प्रयुक्त हुआ है। स्त्री, पुरुष दोनों प्राणी हैं और वे ही परस्पर 'पाश' फंदा बन जन जाते हैं। इसीलिए अंत में स्त्री, पुरुष दोनों को क्षम्य मान कर सृष्टि के रचेता ब्रह्मा पर अंगुली उठाई गयी है। ब्रह्मा का नाम लेना भी अनुचित जान कर 'केन' कहा, अर्थात् किस कम्बख्त ने उस यंत्र को बनाया। यंत्र के साथ ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों की क्रियाएं भी शामिल हैं। वेचारे स्त्री-पुरुष का क्या दोष। उस यांत्रिक, तांत्रिक ब्रह्मा के हाथ में गरीब प्राणी कठपुतली मात्र हैं।

श्लोक ४६

नो सत्येन मृगांक एष वदनीभूतो न चेन्दीवर-
द्वंद्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यंगयष्टिः कृता।
किंत्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्त्वं विजानन्नपि
त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मन्दोजनः सेवते ॥

शब्द विच्छेद

मृगांक = मुग + अंक
चेन्दीवर = च + इन्दीवर
कनकैरप्यंग = कनकैः + अपि + अंग
किंत्वेवं = किंतु + एवं
मनस्तत्वं = मनाः + तत्वं
विजानन्नपि = विजानन् + अपि
त्वङ्मांसास्थि = त्वक् + मांस + अस्थि

शब्दान्वय

मृगांकः सत्येन एष वदनी भूतः न
च इन्दीवर द्वंद्वं लोचनतां गतं न

कनकै: अपि अंगयष्टि: कृता न
किंतु एवं कविभि: प्रतारितमना: मन्द जन: तत्वं विजानन् अपि
मृगदृशां त्वक् मांस अस्थि मयं वपुः सेवते

शब्दार्थ

मृगांक = चन्द्रमा (जिसकी गोद में हिरन का निशान है)
सत्येन = सचमुच
एष: = यह
वदनीभूत: न = मुख नहीं बना है
च = और
इन्दीवर = कमल
द्वंद्वं = दोनों
लोचनतां = आंखें
गतं न = बने नहीं हैं
कनकै: अपि = सोने से भी
अंगयष्टि: = शरीर की छड़
कृता न = नहीं बनी
किन्तु एवं = परन्तु इस प्रकार अर्थात् चंद्रमुखी, कमलनयनि स्वर्णांगी कहकर
कविभि: = कवियों द्वारा
प्रतारितमन: = भरमाये गये
मन्द जन: = मूर्ख जन
तत्वं = असलियत को
विजानन् अपि = भली-भांति जानते हुए भी
मृगदृशां = मृगनयनी के
त्वक् मांस अस्थिमयं = चमड़ी, मांस, हाड़ से भरे
वपु: = शरीर को
सेवते = भोगते हैं

भावार्थ

सच्ची बात यह है कि न कभी चन्द्रमा आकाश से उतरकर किसी युवती के मुख में डेरा डालता है, न कहीं कमल की पंखुड़ियां ताल से निकल कर उसकी आंखों में समायी गयी हैं और न ही उसकी देह सोने से गढ़ी गयी है। यह सब कवियों की झूठमूठ कल्पना मात्र है। इस बात को लोग भली-भांति जानते हैं कि स्त्री का शरीर भी हाड़-मांस का बना है, फिर भी मोहवश महिलाओं के वशीभूत हो जाते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में स्त्रीरूपी यंत्र का छिद्रान्वेषण करते हुए सृष्टिकर्ता ब्रह्मा

पर आरोप लगाया गया था, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से ब्रह्मा का नाम नहीं लिया गया था। फिर भी अप्रत्यक्षरूप से उसी का संकेत था। प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष भगवान को दोष देना अनुचित है। इस श्लोक में उसी अनौचित्य का प्रतीकार किया गया है।

सृष्टिकर्ता ने केवल स्त्री-पुरुष को ही नहीं बनाया, आकाश के चन्द्रादि को, धरती के कमल आदि को और धरती के तले पाताल के सुवर्ण आदि को भी उसी ने बनाया है। सबके अलग-अलग रूप हैं और उनके अलग-अलग गुण हैं। भगवान मिलावटी माल का व्यापारी नहीं है कि कुछ का कुछ बताकर लोगों को लूटा करे। पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है, न यह सूर्य है न वह चन्द्रमा है। न यह चांदी है न वह सोना है। दोनों के शरीर समान रूप से चमड़ी से मढ़े हैं। चमड़ी के नीचे मांस और मांस के नीचे हाड़ का पंजर है। इस असलियत को सभी लोग खूब जानते हैं। न भगवान ने किसी को भरमाया है और न किसी को इसका भ्रम ही है। भगवान दोषमुक्त। फिर यह सारी दुष्टता किसकी? पिछले श्लोक में अप्रत्यक्ष रूप से भगवान पर अभियोग लगाया गया हो, परन्तु इस श्लोक में अभियुक्त की साफ-साफ निशानदेही की गयी है कि यह सारी करतूत कवि की है।

चोर पकड़ा गया। छोड़ो मत अब इसे। सारे संसार को चक्कर में डालने वाला यही कवि है। कहावत बन गयी है 'रवि की जहां रसाई नहीं वहां भी राज कवि का है।' काली कंदाराओं में भी कवि और कालकोठरियों में भी कवि। दिन का राजा भी वही रात का रंक भी वही। शायरी के माने शायर की शरारत। कवि अकविता भी करते हैं। इन्होंने विचारी औरत पर जुल्म ढाया है। चलती फिरती प्राणी को स्वर्ण में गढ़कर निर्जीव बना दिया। चमकीली आंखों को कमल से कुम्हला डाला। दिन की रानी को रात का चांद बना रखा, जो पड़ुआ से धीरे-धीरे बढ़कर पूर्णिमा के दिन पूरा बना। बना कि नहीं, गिरते-गिरते अमावस्या को नेस्त-नाबूद हो जाता है।

कवि से कदूरत और शायर की शिकायत पर लेखक को लोग लानत भेजेंगे। कविता-शायरी हो या लेखन, यह सब विद्या की करामात ही तो है। मुट्ठी-भर विद्या के मालिकों का यही धन्धा है। सरकार जो अत्याचार करती है तो वास्तव में वह इन पढ़े-लिखे कहाने वाले कारिन्दों की कारस्तानी है। पूंजीपति पापाचार करता है तो वह भी पढ़े-लिखे पापियों के करतूत है। अखबारों की खराबी है तो इनसे। अदालतों में अन्याय है तो इन से। आज संसार बरबाद हो रहा है तो इन ही से। सरकारी हों या कारोबारी, सब काम नौकरों से तो चलते हैं। कहते हैं कि पेट के लिए नौकरी करते हैं और वह पेट बेईमान ऐसा है कि भरने का कभी नाम

ही नहीं लेता। यह लोग नौकरी नहीं, आका की वकालत करते हैं। वकील के माने न्यायवादी यानी न्याय की बात करे, अन्याय या झूठ न कहे । मगर वकील मुद्दई का भी होता है और मुद्दाअले का भी । उन दोनों वकीलों में से निश्चय ही एक सच्चा होगा तो दूसरा झूठा होगा। फिर भी वकील का नाम और दाम पक्का। सारी बहस झूठी साबित होकर मुजरिम को सजा होने के बाद भी वकील साहब की इज्जत बनी रहती है। नौकर-पेशा हैं कि मालिक की मर्यादा बनाये रखने में ही अपना मान मान बैठते हैं। उनका यह 'मान' बेमाने जरूर है, अगर बेमाने न हो इसमें शक है। श्लोक के दृष्टिकोण से भी यही सिद्ध होता है।

शुद्ध-बुद्धि को भले-बुरे की पहचान में अचकची कभी नहीं होती। क्या विद्वान, क्या अनपढ़ भगवान ने बुद्धि सबको दी है। परन्तु विद्वान शब्द-जाल रचकर जन-साधारण की बुद्धि को मध्यम कर देता है। बिचारा विद्वान मूरख आप पहले बनता है। अपने गले में आप रस्सी डाल दूसरे के हाथ थमा देता है। बिचारे को जिससे धन मिले या मन मिले, कलम लेकर उस कुरूप में रूप भरने लगता है। आकाश के चांद को छीनकर चेहरा बना देगा। ताल से कमल तोड़कर आंखों में भर देगा और पाताल से लाकर सारे शरीर पर सोना मढ़ देगा और लोग उसी पर लट्टू हो जायेंगे या यों कहिए लुट जायेंगे। नाम, दाम वही पायेगा और काम भी उसी का बनेगा। कविता की कामिनी स्वयं उसकी मनमोहिनी है। शेष सब मूढ़ बनकर उसका भजन पूजन मात्र करते हैं। दिल के बहलाने के लिए ख्याली पुलाव कम स्वादिष्ट नहीं होता।

श्लोक ४७

लीलावतीनां सहजा विलासास्तिएव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति।
रागो नलिन्या हि निसर्गसिद्धस्तत्र भ्रमत्येव मुधा षडंध्रि ॥

शब्द विच्छेद

विलासास्तएव = विलासाः + ते एव
निसर्गसिद्धस्तत्र = निसर्गसिद्धः + तत्र
भ्रमत्येव = भ्रमति + एव

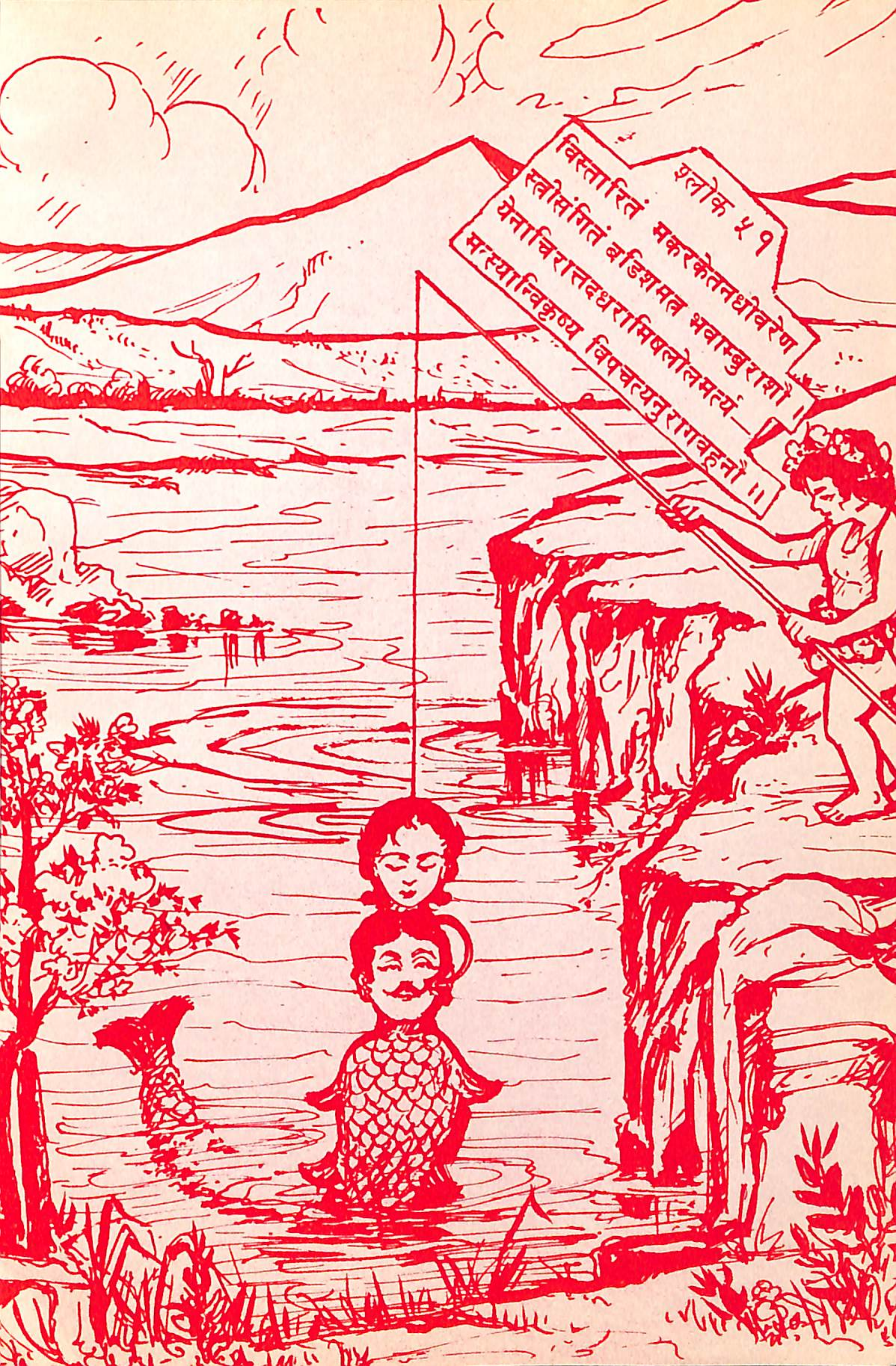
श्लोक ५१
विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण
स्त्रीसंज्ञितं बडिशमत्र भवाम्बुराशौ
येनाचिरात्तदधरामिषलोलमर्त्य-
मत्स्यान्विकृष्य विपचत्यनुरागवह्नौ ॥

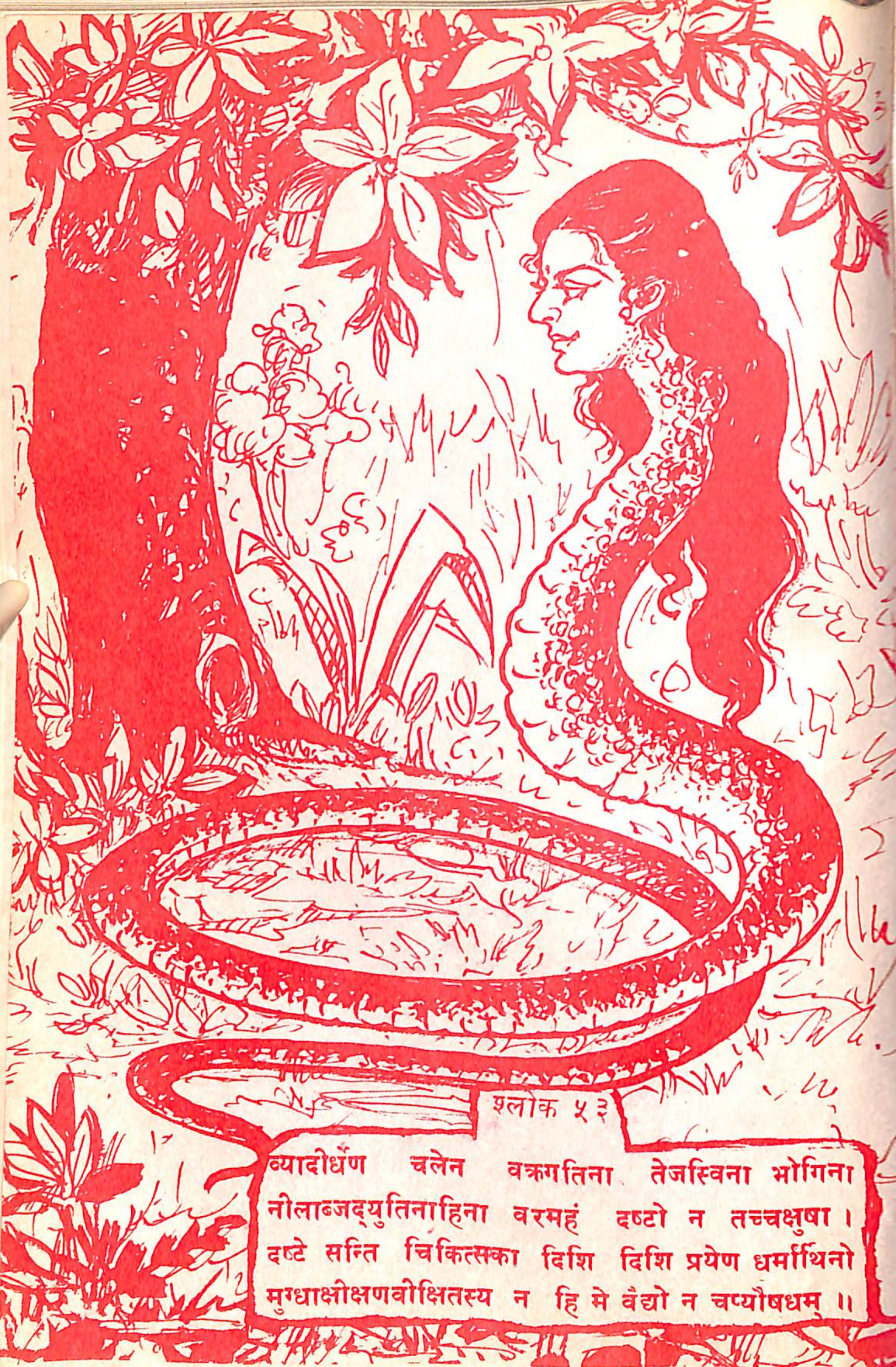

श्लोक ५३

व्यादीर्घेण चलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना
नीलाब्जद्युतिनाहिना वरमहं दष्टो न तच्चक्षुषा ।
दष्टे सन्ति चिकित्सका दिशि दिशि प्रयेण धर्मार्थिनो
मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्य न हि मे वैद्यो न चप्यौषधम् ॥

शब्दान्वय

लीलावतीनां विलासाः सहजाः ते एव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति
नलिन्याः रागः निसर्ग सिद्धिः हि तत्र षडंध्रिः मुधा एव भ्रमति ॥

शब्दार्थ

लीलावतीनां=युवतियों के लिए
विलासाः=लीलाएं, नखरे
सहजाः=स्वाभाविक हैं
ते एव=वह स्वाभाविक लीलाएं ही
मूढस्य हृदि=मूर्ख के मन में
स्फुरन्ति=गुदगुदी करती हैं (जैसे)
नलिन्याः=कमल के लिए
रागः=लाल रंग
निसर्ग सिद्धिः=पैदायशी है, (किन्तु)
हि तत्र=उस लाल रंग पर
षडंध्रि=भौंरा (छः पैर वाला)
मुधा एव=व्यर्थ ही
भ्रमति=घूमता है, लट्टू हो जाता है

भावार्थ

कमल के फूल लाल होते ही हैं, किन्तु भौंरा समझता है कि यह लाली मेरे लिए है और इसी भ्रम में कमल के चारों ओर चक्कर काटता रहता है। ठीक उसी प्रकार युवतियां स्वभावतया सुंदर होती हैं और उनकी बोल-चाल लुभावनी होती है। परन्तु मूर्ख समझता है कि युवतियां अपनी सारी लीलाएं उसी के लिए कर रही हैं। भौंरे की वह नादानी और मानव की यह मूर्खता, दोनों बेकार हैं।

विशेषार्थ

इस श्लोक पर दो पहलुओं से विचार करना होगा। एक पहलू पिछले श्लोक का है, जिसमें कहा गया है कि विद्वानों ने युवतियों के संबंध में जूठा जाल रच रखा है कि वह सोने की गुड़िया है, मुखड़ा चंदा का है, धनुष की भौंएं हैं, आंखें हिरन की हैं, मुंह से मधु टपकता है, बाहें उसकी लताएं हैं, हंस की चाल है इत्यादि, इत्यादि। बात सच्ची एक भी नहीं। सृष्टिकर्ता ने भिन्न-भिन्न प्रकार की सृष्टि रची है और उस सृष्टि में एक श्रेणी के प्राणी का रंग-रूप दूसरे से नहीं मिलता, तब पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से मानव कैसे मेल खायेगा।

मान लो कि किसी पौधे के फूल सुंदर हैं, किसी पंछी के बोल मोठे हैं और किसी पशु की टांगें सीधी हैं और स्त्री सर्वांगसुंदरी है। परन्तु वह सुंदरता उनकी

है और पैदायशी है। न वह किसी को देखकर सुंदर बने हैं और न किसी को दिखाने के लिए बनते हैं। किसी युवती का रंग यदि सोने के समान चमके, किसी की आंखें कमल-दल के सदृश्य नाक से कान तक निकल जाएं, किसी के सुरीले बोल कोयल को मात कर दें, किसी की चाल हंस की नकल करे तो यह कोई अनहोनी बात नहीं है। आसाम के कामरूप प्रान्त में स्त्रियों की क्या पुरुषों की कनखियों पर कान लगाए रहते हैं। किन्नर कन्याएं हिमालय की घाटियों में रहकर सुर छेड़ते हैं तो कोयल भी बेकल हो जाती है। पता नहीं कि हंस है कि नहीं, पर सारस का जोड़ा जब किसी ऊसर में चलता है तब लगता है कि मेम और साहब संग-संग चल रहे हैं । कौन ऐसा मनहूस मनचला होगा जो उस सारस युगल को देख मचल न जाय ? कोई मचल जाय तो सारस क्या करे ?

कमल ताल में खिला है । वह अपनी जगह आप है। उसकी सुगंधि दूर-दूर तक फैल जाय तो भला कमल का क्या दोष ? सुगंधि को सूंघकर भौंरा आन पहुंचता है। कमल ने दो, चार टांगों वाले को या छः टांगवाले भौंरे को बुलावा नहीं भेजा । अपनी लाली को चारों ओर छिटकाई नहीं है, कलूटे भ्रमर के लिए। भ्रमर स्वयं आनकर उसके चारों ओर चक्कर काटता है। भ्रमर विचारा भोंदू है परन्तु मर्द क्यों बौखला उठता है । दो टांग वाला बौड़म छः टांग वाले भोंदू भंवरे से बदतर है कि सभी स्त्रियां अपने ही लिए संवरी दीखती हैं।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह कि पिछले सब श्लोकों में स्त्री की स्तुति ही स्तुति थी। जहां निंदा थी उसमें भी स्त्री का स्तुति-पाठ ही था । क्योंकि पुरुष में अपनी असफलता को स्वीकार करने के साहस का नितांत अभाव था। उसके कनखियों से देखने का इसको पता कैसे लगा ? यही न कि यह स्वयं उसे टुकुर-टुकुर घूर रहा था । उसी चतुराई से युवती ने आपकी धूर्तता को अपनी टेढ़ी नजर से ठुकरा दी । कमान अपनी जगह पर है, तीर आपको चुभा जा रहा है। यह दब्बू छाती वाले उन उभरी छातियों का कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते। गिला-ही-गिला कर सकते हैं। इस श्लोक में प्रत्यक्षरूप में गिला करने वालों की कलई खोल दी गयी है और अप्रत्यक्ष रूप से उन स्त्री जनों की प्रशंसा की गयी है ।

श्लोक ४८

यदेतत्पूर्णेन्दुद्युतिहरमुदाराकृतिपरं
मुखाब्जं तन्वंग्याः किल बसति यत्राधरमधु ।
इदं तत्किंपाकद्रुमफलमिदानीमतिरसं
व्यतीतेऽस्मिन्काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम् ।।

शब्द विच्छेद

यदेतत्पूर्णेन्दु = यत् + एतत् + पूर्ण + इन्दु
द्युतिहरमुदाराकृति = द्युतिहरम् + उदार + आकृति
मुखाब्जं = मुख + अब्जम्
तनुवंग्याः = तनु + अंग्याः
यत्राधर = यत्र + अधर
तत्किं = तत् + किं
फलमिदानीमतिरसं = फलम् + इदानीम् + अतिरसं
व्यातीतेऽस्मिन्काले = व्यतीते + अस्मिन् + काले
विषमिव = विषम् + इव
भविष्यत्यसुखदम् = भविष्यति + असुखदम्

शब्दान्वय

यत् एतत् पूर्ण इन्दु द्युति हरं परं उदार आकृति
यत्र अधर मधु वसति किल
तनुअंग्या तत् मुख अब्जं किंपाक द्रुम फलम्
इदानीम् अति रसं अस्मिन् काले अतीते
विषम् इव असुखदम् भविष्यति

शब्दार्थ

यत् एतत् = यह जो
पूर्ण इन्दु = पूर्ण चन्द्र के
द्युति हरं = कांति का चोर
परम् = अत्यंत
उदार आकृति = सुंदर चेहरा
है
यत्र = जिसमें (और)
अधर मधु = अधरामृत

वसति किल=होने की बात आती है
तनु अंग्याः=छरहरी युवती के
तत्=वह
मुख अब्जं=मुख कमल
किंपाक=विषमुष्टि
द्रुम फलं=पेड़ का फल है
इदानीम्=इस समय (तो)
अति रसं=बहुत स्वादिष्ट (लगता है, किंतु)
अस्मिन् काले=इस क्षण के
अतीते=बीत जाने पर
विषम् इव=विष के समान
असुखदम्=दुखदायी
भविष्यति=हो जाता है

भावार्थ

यह जो कहा जाता है कि तरुणी का मुख चंद्रमा को हर लेता है और ओठों में अमृत भर लेता है, यह सब झूठ है। वास्तव में सुंदरी का वह कमल-सा मुख विषमुष्टि फल की भांति भ्रांतिकारक है जो देखने में सुंदर लगता है किंतु विष का काम करता है।

विशेषार्थ

विशेषार्थ में जाने से पहले यहां शब्दार्थ में थोड़ा-सा ध्यान देने की आवश्यकता है। चंद्रमा को अमृत का आगार माना जाता है। चन्द्रोदय के साथ कमल खिलते हैं। कमल की नाभि में जो रस भरा होता है वह अमृत है। रस को चूसकर मधुमक्खियां शहद बनाती हैं और कमल के शहद को श्रेष्ठ माना जाता है।

युवती को चन्द्रचोर कहने का कारण यह है कि वह सुंदर भी है और उसके ओठों में अधरामृत है। ओठों में अमृत नहीं बल्कि लार भरा होता है। किसी मीठी चीज को देखकर सभी के मुंह मीठा-मीठा लार भरने लगता है। स्त्री का प्रेम-रस मुंह का लार ही क्यों न हो मीठा ही लगेगा। फल के रंग रूप से ही लार टपकने लगती है। जी चाहता है कि तोड़ कर खा लो। कच्चे फल का पीला-पीला सुनहरा रंग ऐसा लगता है मानो पके फल हैं। इसीलिए इसका नाम 'किंपाक' अर्थात् क्या पका है; वाला नाम पड़ा है। पकने पर सड़ जाता है। खाया कभी नहीं जाता। इतनी लम्बी भूमिका के बाद भी साधारणतया लोग नहीं समझेंगे कि यह 'किं पाक' कौन फल है। सुनिए खोलकर बता देते हैं। कुछ और नहीं केवल 'कुचला'। उसके विष होने में अब किसी को संदेह नहीं रहना चाहिए।

अब विशेषार्थ पर चलिए। पिछले श्लोक में सुंदरी के रंग-रूप पर रीझने की बात थी। दूर के दर्शन मात्र से कटार चल जाती थी। यहां अन्योन्य आलिंगन तथा रसास्वादन का दृश्य प्रस्तुत है। इससे पहले यदि ४६वें श्लोक में कहा था कि चन्द्रमा आकर स्त्री के मुख पर छाया हुआ नहीं है तो इस श्लोक में कहा है कि उसके मुख में अमृत भरा नहीं है। उसके मुख को कमल से उपमा देना गलत है। कमल केवल चन्द्रमा के साथ खिलता है। औरत का चेहरा दुपहरी में दमकता और अमावास्या की अंधेरी रात में भी झलकता है। केवल चन्द्रमा से मुखरित होकर कमल अमृत धारण कर लेता है। सुंदरी सदा सुहागिन बनकर लार झारती है और थूक चाट-चाटकर पुरुष जी भर रहा है। शायद पुरुष ने जीने का सहारा उसी में पाया है। इसीलिए उसके लिए अमृत है अधरामृत।

देवगण अमृत मंथन के अवसर पर रम्भा के हाथों अमृत का एक बूंद पाकर अमर हो गये, मगर मानव अधरामृत चख-चखकर आखिर मर ही गये, कामिनी-रमण को कुचला-सेवन इसीलिए कहा गया है। आंखों के लिए आकर्षण है तो आस्वादन में मरण। असली मरण कभी आवे, पर यौवन के आनंद का अभाव तत्काल अनुभव होने लगता है—'अस्मिन काले व्यतीते विषम इव असुखदम् भविष्यति।' यह जवानी गयी कि वह मजा भी गया।

श्लोक ४९

उन्मीलत् त्रिवलीतरंगवलया प्रोत्तुंग पीनस्तन—
द्वंद्वेनोद्यतचक्रवाकयुगला वक्त्राम्बुजोद्भासिनी।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्रूराशया नेष्यते
संसारार्णवमज्जनं यदि तदा दूरेण संत्यज्यताम् ॥

शब्द विच्छेद

प्रोत्तुंग = प्र + उत्तुंग
द्वंद्वेनोद्यत् = द्वंद्वेन + उद्यत

वक्त्राम्बुजोद्भासिनी = वक्त्र + अम्बुज + उत् + भासिनी
कान्ताकार = कान्त + आकार
नदीयमभितः = नदी + इयम् + अभितः
क्रूराशया = क्रूर + आशया
नेष्यते = न + ईष्यते
संसार्णव = संसार-अर्णव

शब्दान्वय

उन्मीलत् त्रिवली तरंग वलया प्रोत्तुंग पीन स्तनद्वंद्वेन
उद्यत चक्रवाक युगला उद्भासिनी वक्त्र अम्बुज
कान्त आकार धरा इयम् नदी अभितः क्रूराशया
अत्र संसार अर्णव मज्जनं यदि न ईष्यते तदा दूरेण संत्यज्यताम् ॥

शब्दार्थ

उन्मीलत् = पड़ी हुई
त्रिवली = पेट की तितही
तरंग वलया = लहरों की माला से,
प्रोत्तुंग पीन = उभरी हुई और पुष्ट
स्तनद्वंद्वेन = दोनों छातियों के
उद्यत = उठी हुई
चक्रवाक युगला = चकवा-चकवी के जोड़े के साथ,
उद्भासिनी = खिले हुए
वक्त्र अम्बुज = मुख कमल के साथ
कान्त आकार धरा = रमणी रूप धारिणी
इयम् नदी = यह नदी
अभितः क्रूराशया = सर्वत्र कुटिलात्मा है
अत्र = यहां,
संसार अर्णव मज्जनं = संसार-सागर में डूब जाना
यदि न ईष्यते = अगर नहीं चाहते हो
तदा = तब तो
दूरेण = दूर ही से
संत्यज्यताम् = पूर्णतया त्याग दो।

भावार्थ

यह नारी नहीं, नदी है। नारी के पेट पर जो तितही है वह वास्तव में नदी के पाट पर उठने वाली भयंकर लहरें हैं। खूब पुष्ट और उभरी हुई उसकी दोनों छातियां नदी में मस्ताई चकवा-चकवी

का जोड़ा है। उसका मुख पानी पर शोभायमान कमल है। इस प्रकार रमणीरूपी इस नदी का अंतस्थ अत्यंत घातक है। जो नर संसार-सागर में डूब मरने से बचा रहना चाहे उसे चाहिए कि नारी से दूर ही दूर रहे।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि रंग-रूप से आकृष्ट होकर पुरुष नारी पर मोहित हो जाता है। इस श्लोक में उसी रंग-रूप को नदी से उपमा देकर नारी का भयंकर रूप प्रस्तुत करके अनर्थकारी बताया गया है। नदी की चाल टेढ़ी तो नारी की भी टेढ़ी चाल। नदी का पानी मजधार में समतल न होकर ऊबड़-खाबड़ बहता है। सो नारी के पेट पर चमड़ी की तहें पड़ जाती हैं। चकवा-चकवी पानी पर मस्त हो जाते हैं सो नारी की छाती पर मस्ती उभरती है। लहरें डरावनी होती हैं चकवा-चकवी चोंचें मारेंगी। नारी का चेहरा जरूर सुन्दर होता है मानो नदी पर तैरने वाला कमल ही है। पानी के ऊपर कमल जरूर है, पर भीतर वहां भंवर घड़ियाल निगल जाने को तैयार हैं। डूबते-तैरते चले भी जाओ तो नदी के साथ सागर में डूब मरना है या ऊंची लहरों और गहरे भंवरों में फंस कर दम तोड़ना है। संसार-सागर से तरना चाहो तो नारी-रूपी नदी के पास न फटको।

मोहिनी-मूर्ति कहो या नदी का प्रवाह, नारी से नर आकृष्ट होता ही है। नारी पुरुष की ओर आकृष्ट होती भी है तो स्वयं पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करती है। उसे दिखावा अधिक पसंद है। चाहती है कि उसका मोहिनी मुखड़ा सभी देखें। ठीक उसी प्रकार अपनी क्रोधाग्नि को भी सबके सामने प्रज्वलित करती है। नारी का मोह और क्रोध एक ही पर होता है। शायद सबको मोहने और सबको कोसने से ही किसी एक को वरने या मारने में सफलीभूत होने में वह सक्षम होती है। उसका केन्द्रबिन्दु एक है।

बिन्दु-बिन्दु से ही रेखा बनती है। बिन्दु-समूह रेखा के रूप में सारे पुरुष नारी की ओर आर्कषित हो जाते हैं। मोहजाल में फंसने और क्रोधाग्नि में भस्म होने पर उतारू होते हैं और संसार-सागर में थपेड़ों पर थपेड़े खाते हैं। केवल मुखदर्शन से तृप्त हो जाते तो ठीक था, पर छाती पर कुच-द्वय और पेट पर वलय-त्रय से भी आगे वे कहां-कहां पहुंचना चाहते हैं और अपनी हस्ती को भी नेस्त-नाबूद करने का दुस्साहस करते हैं। रेखारूपी बिन्दु-समूह में प्रत्येक बिंदु अपना अस्तित्व कायम रख सके तो रेखा, रेखा को काटती जाए और बिन्दु, बिन्दु में समा जाय।

तब बिन्दु पर बिन्दु एक ही बिन्दु होगा, दो नहीं। सारांश यही कि पुरुष प्रकृति में प्रफुल्लित होवे। 'संत्यज्यताम्' तभी सार्थक होगा जब कामिनी से कोई कामना न रखे और अपनी पूर्ण आहुति दे, अपने को पूर्णतया अर्पित करे। लहरें निगल जायें तो परवाह नहीं, सागर में मिट जायें चिन्ता नहीं। भौंरा कमल में बंदी होने से नहीं घबराता तो मानव भंवर में गोते खाने में आनाकानी क्यों करे ?

श्लोक ५०

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ।।

शब्द विच्छेद

सार्धमन्येन = सार्धम् + अन्येन
पश्यन्त्यन्यं = पश्यन्ति + अन्यं
चिन्तयन्त्यन्यं = चिन्तयन्ति + अन्यं

शब्दान्वय

(योषिताः) अन्येन सार्धं जल्पन्ति सविभ्रमाः अन्यं पश्यन्ति हृद्गतं अन्यं चिन्तयन्ति योषिताम् प्रियः को नाम।

शब्दार्थ

योषिताः = युवतियां
अन्येन सार्धं = किसी एक के साथ
जल्पन्ति = बातें करती रहती हैं, (साथ ही)
सविभ्रमाः = चटक-मटक के साथ
अन्यं पश्यन्ति = किसी दूसरे को देखती रहती हैं
अन्यं = किसी तीसरे के बारे में
हृद्गतं चिन्तयन्ति = दिल में सोचती रहती हैं,
योषिताम् = (ऐसी) युवतियों को
को नाम = कौन है जो
प्रियः = प्यारा है। अर्थात् उन्हें किसी से प्यार नहीं।

भावार्थ

किसी एक से घुल-मिलकर बातें करती हैं तो किसी दूसरे को अपनी चटक-मटक दिखाती है और मन में किसी तीसरे के सम्बन्ध में सोचती रहती हैं। जिसके दिल में किसी के प्रति सच्चा प्रेम ही न हो, भला ऐसी युवतियों को कोई प्रिय भी कैसे लगेगा !

विशेषार्थ

देखना, बोलना, सोचना यह मानव के स्वाभाविक गुण हैं। कोई किसी को ताके, किसी से प्रसन्न चित्त से बातचीत करे तो किसी को बुरा क्यों लगे ? दूसरा अपने मन में क्या सोच रहा है, इसका पता केवल उस सोचने वाले को ही हो सकता है। हां, यह हो सकता है कि देखने वाला अपने मन में आप स्वयं दूसरे के बारे में उल्टे-सीधे सोचा करे। इस प्रकार पुरुष का किसी स्त्री के स्वाभाविक लक्षणों पर लांछन का रंग पोत दे तो मानना होगा कि स्वयं उस पुरुष का मन विकृत है। क्या कोई पुरुष अन्य स्त्रियों को कभी ताकता नहीं है ? किसी स्त्री के सामने पड़ने पर किसी पुरुष को मुंह पर घूंघट काढ़ते कभी किसी ने देखा नहीं। नई सभ्यता की बात तो नहीं, परन्तु साधारणतया स्त्रियां पुरुषों के सामने सिर ढक लेती हैं। जहां परदे का चलन हो वहां कहने की बात ही नहीं। पुरुष ही स्त्रियों के बारे में अधिकतर बोलते-बताते और सोचते-विचारते हैं। करें आप और लांछन लगावें स्त्रियों पर, यह पुरुषों को शोभा नहीं देता। स्त्रियों की आंखों पर सदा पट्टी बांध दें, ओंठ सी दें और कानों में रुई ठूंस दें, ऐसी नीचता कोई पुरुषार्थी पुरुष कभी सह नहीं सकता।

एक बात और भी है जो प्रेमियों को सदा ध्यान में रखनी चाहिए। प्रेमी जन यदि चौबीसों घंटे आमने-सामने बैठे रहें तो आकर्षण एकदम लुप्त हो जाय। चुम्बक और सुई कुछ दूर-दूर, बहुत दूर नहीं, रहने पर ही एक-दूसरे को चिपकने दौड़ते हैं। दूसरों को ताकने या उनसे बोलने-बतलाने में चुम्बक की पकड़ बढ़ती है। या यों कहिए कि एक दूसरे के प्रति ऊब न उत्पन्न हो। प्रकृति ने प्रेमियों को पराङ्मुख होने का दिव्य अनुपात नियत कर रखा है। किसी को ताके या किसी से बोले परन्तु अपना तन सौंपती नहीं है। तन तो उसी को सौंपती हैं जिस अन्य का वह मन में चिंतन कर रही हैं और वह केवल उसका स्वकीय पुरुष है और यही गुण स्त्रियों का परम पुरुषार्थ है, जिसका साधारणतया पुरुषों में अभाव है।

भारतीय विवाह-पद्धतियों में 'स्वयंवर' का विशेष स्थान रहा है। सब पुरुषों

को भली भांति देखने, बोलने बतलाने और मन में अच्छी तरह तौल लेने के बाद ही वर के गले में कन्या जयमाला डालती थी। यह स्वाभाविक भी है। सदा से हुआ है और सदा होता रहेगा। जहां माता-पिता, बंधु, वर को चुनते हैं वहां भी केवल युगल की यही इच्छा रहती है कि पसंद स्वयं अपनी हो। इस संबन्ध में जो भी सामाजिक बंधन लगें वह टूक-टूक होकर रहेंगे। अन्तिम परिणाम यही होगा और उन पर से समाज में विश्रृंखलता अलग फैलेगी।

अतः श्लोक में वर्णित युवती अविवाहिता होगी और इसीलिए सबको देखती और परखती है।

एक और दृष्टिकोण भी है। युवती के लिए श्लोक में 'योषिता' का शब्द आया है अर्थात् जिसकी एक पुरुष इच्छा करता है। यहां शतक का पंचम दशक समाप्त हो रहा है। आगे छटे दशक में विशेष प्रकार की युवतियों का वर्णन आ रहा है, जिन्हें वेश्या के नाम से याद किया जाता है। यदि इस श्लोक में उसी श्रेणी का संकेत है तो पुरुष का यह सारा बावेला बेकार है। विवाह-बन्धन के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष सम्पर्क का जो भी रूप हो, उसमें इस प्रकार का गिला दोनों और रहता ही है। लाजवन्ती को अंतरंग गिला होता है और निर्लज्ज का बहिरंग। पर गिला स्त्री, पुरुष दोनों को होता है और होना अस्वाभाविक नहीं है। साजन और सजनी के एक-दूसरे पर अपना पूर्ण स्वामित्व जताने का गिला एक सरल साधन मात्र है।

श्लोक ५१

विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण
स्त्रीसंगितं बडिशमत्र भवाम्बुराशौ।
येनाचिरात्तदधरामिषलोलमर्त्य—
मत्स्यान्विकृष्य विपचत्यनुरागवह्नौ ॥

शब्द-विच्छेद

बडिशमत्र=बडिशम्+अत्र
भवाम्बु=भव+अम्बु
येनाचिरात्तदधरामिष=येन+अचिरात्+तत्+अधर+आमिष
मत्स्यान्विकृष्य=मतसयान्+विकृष्य
विपचत्यनुराग=विपचति+अनुराग

शब्दान्वय

अत्र भव अम्बु राशौ मकरकेतन धीवरेण
स्त्री सङ्गितं बडिशम् विस्तारितम्
येन अचिरात् तत् अधर आमिषलोल मर्त्य मत्स्यान्
विकृष्य अनुराग वह्नौ विपचति ।

शब्दार्थ

अत्र=यहां, इस
भव=संसाररूपी
अम्बु राशौ=सागर में
मकरकेतन=मकरध्वज याने कामदेवरूपी
धीवरेण=मछेरे द्वारा
स्त्री सङ्गितं=स्त्रीरूपी
बडिशम्=कांटा (मछली पकड़ने का)
विस्तारितम्=फैला रखा है
येन=जिससे,
अचिरात्=थोड़ी ही देर में
तत्=उस
अधर=ओठ के
आमिषलोल=मांस की आस से
मर्त्य मत्स्यान्=मनुष्य रूपी मछली को
विकृष्य=फांस कर, खींच कर
अनुराग=प्रेम रूपी
वह्नौ=आग में
विपचति=खूब भूना जायेगा

भावार्थ

जल में जहां मछली भरी पड़ी हैं वहां मछली का शिकारी धीवर भी खड़ा है। धीवर कांटे में लाल-लाल मांस खोंपकर पानी में फेंकता है। मछली मांस के लालच में कांटा निगल जाती और फंस जाती है।

धीवर उसे पानी से बाहर खींच लेता है और भूनकर खा जाता है। इसी प्रकार कामदेव नारी को चारा बनाकर संसार-सागर में छोड़ देता और नर को फांसता और भून-तल कर पचा जाता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि संसार-सागर में डूबने से बचना है तो नदी से ही दूर रहना चाहिए जो सागर में ले जाती है। वहां नदी का भीषण रूप प्रस्तुत किया गया था। यहां आकर्षण का विवरण है। जहां जल होगा वहां मछली भी होगी, और जहां मछली वहां उसका चारा। खानेवाला खिलाने की लीला करता है। मछेरा पहले कांटे में केंचुआ पिरोकर मछली को भेंट फेंकता है। मछली लपकती है और उसे निगल जाती है। धीवर ने ज्योंही झटका मारकर डोर खींची, त्योंही मछली सूखी धरती पर फड़फड़ाती आ पड़ी। धीवर खुद खा ले या बाजार में बेच ले; क्या फर्क पड़ता है ! मछली की जान गयी और जहान भी। सारी शरारत शिकारी की है।

शिकारी का भी अजब शौक होता है। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक हमें भी शिकार का शौक चर्राता रहा। पूर्वी घाट के देहाती इलाके में छुट्टी के दिन मुसलमान बच्चे मछली पकड़ने जाते। क्लास में आकर मछली की चकल्लस सुनाते। अगली छुट्टी पर हम भी जाते। नदी के किनारों पर गीली जमीन से बहुत सारे केंचुए खोद निकालते और पुटरी बांध लेते। एक-एक केंचुए को तोड़-तोड़कर कांटे में पिरोते। छड़ को पानी में छोड़ते और ताकते बैठ जाते। हमारे कांटे में एक भी मछली न फंसती। हमें तो यही लगता था कि केचुए और मछली में गहरी दोस्ती है। एक-दूसरे के लिए जान निछावर करते हैं। कांटे का केंचुआ पास आते देख मछली को सावधान कर देता—आधा मरा मैं तेरे लिए, पूरा मरेगा तू मेरे लिए। केंचुए की जान-निसारी का हम पर बड़ा असर पड़ता। हम भी प्रेमी युगल को चुम्मा-चाटी की छुट्टी दे देते। झटका भी देते तो ऐसा अहिंसक कि कभी कोई मछली नहीं मरती। इसी प्रकार तीर-कमान लेकर चिड़िया मारने निकलते। तीर कमान से जरूर छूटता, पर चिड़िया को कभी न छू पाता हमारा तीर। बचपन की बात छोड़िए। बुढ़ापे में बंदूक रखी। रात-रात भर जंगल में घात लगाकर बैठ रहे। क्या मजाल कि कभी कोई जीव-हत्या हो जाय हमारे हाथ से। अहिंसा के इतने बड़े पुजारी हैं हम। ब्राह्मण के नाते न बचपन में मछली खाई और न बुढ़ापे में मांस। कमर के दर्द पर कबूतर खाने की दवा बतायी गयी तो बंदूक ही छिन गयी। क्योंकि मौसम पंछियों के जोड़ा खाने का था। पंछी का

शिकार कानूनी जुर्म है । अहिंसा के पुजारियों का भगवान यों मान रख लेता है।

धीवर की हमें चिंता नहीं पर मछली का मचलकर निकल जाना हमें बहुत भाता है । केंचुए पर तो हम एक दम फिदा हैं। मट्टी कुरेद-कुरेद कर बिन लो, आना-कानी नहीं। टुकड़े-टुकड़े कर डालो तड़पे नहीं। पेट-भर में कांटा पिरो दो, उफ न करे। जल में फेंक दो,लहरों में हिलोरें ले। कितना सुंदर लगता है तब वह, बिचारी मछली के क्या मनुष्य के भी मुंह में पानी भरने लगे। मछली पास आ जाती है तो केंचुआ उससे खुसफुस करने लगता है। कहता है चाटे जाओ, चबाओ नहीं ।तेरे लिए अपना आधा मरना मुझे मंजूर, पर तेरा पूरा मरना मुझे स्वीकार नहीं। कांटे का केंचुआ पानी में हूबहू नारी का अधर ही लगता है। न जाने नारी कहां होती है पर नारी का अधर आगे आ जाता है। मानव हो अथवा मछली, अधर तक ही रहे, आगे न बढ़े। कभी किसी धीवर का कोई पैंतरा कारगर न हो। बालम भी खुश और ब्रह्मा भी। दीन दुनिया दोनों मुठ्ठी में।

श्लोक ५२

अपसर सखे दूरादस्मात्कटाक्षविषानला—
त्प्रकृतिविषमाद्योषित्सर्पाद्विलासफणाभृतः।
इतर फणिना दष्टः शक्यश्चिकित्सितुमौषधै—
श्चतुरवनिताभोगिग्रस्तं त्यजन्ति हि मन्त्रिणः

शब्द विच्छेद

दूरादस्मात्कटाक्ष = दूरात् + अस्मात् + कटाक्ष
विषानलात्प्रकृति = विष + अनलात् + प्रकृति
विषमाद्योषित्सर्पाद्विलास = विषमात् + योषित् + सर्पात् + विलास
शक्यश्चिकित्सितुमौषधैश्चतुर = शक्यः + चिकित्सुतुम + औषधौः + चतुर

शब्दान्वय

सखे प्रकृति विषमात् विलास फण:भृत: कटाक्ष विष अनलात्
असमात् योषित सर्पात् दूरात् अपरस हि
इतर फणिना दष्ट: औषधैः चिकित्सुतुं शक्य:
चतुर वनिता भोगि ग्रस्तं मंत्रिण: त्यजन्ति हि

शब्दार्थ

सखे=हे मित्र
प्रकृति विषमात्=स्वभाव की कुटिल
विलास=हाव-भाव के
फणाभृतः=फनोंवाली
कटाक्ष=कनखियों में
विष अनलात्=विषरूपी अग्नि से भरी
अस्मात्=इस
योषित सर्पात्=वनिता रूपी सर्प से
दूरात् अपरस हि=दूर ही से बचे जा, क्योंकि

इतर फणिना=दूसरे (असली) सांपों से
दष्टः=डसे जाने पर
औषधैः=दवाइयों से
चिकित्सुतुं=इलाज करना
शक्यः=सम्भव है, (किन्तु)
चतुर=चालाक
वनिता भोगि=वनितारूपी सर्प के
ग्रस्तं=डसने पर
मंत्रिणः=मंत्र-तंत्र वाले भी
त्यजन्ति हि=छोड़ जाते हैं, ठीक नहीं कर पाते

भावार्थ

संसार में तरह-तरह के सर्प हैं। घोरातिघोर सर्प की भी दवा है। किन्तु एक सर्प ऐसा है जिसकी कोई दवा ही नहीं। दवा-दारु तो दूर, मंत्र-तंत्र का भी उस पर कोई जोर नहीं चलता। वह है मन-मैला कुटिला-महिला सर्पिणी जो भिन्न-भिन्न भाव-भांगियों के रूप में फन फैलाये रहती है और हर फन में दो धधकती आंखें हैं जिनसे सदा आग बरसती रहती है। हे मित्र, ऐसी विषैली महिला से दूर ही दूर रहा कर।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में भी और इसमें भी बार-बार इस प्रकार स्त्री को सर्पिणी

के विशेषण से सम्बोधित करना स्त्री-जाति पर घोर अन्याय है। भर्तृहरि जैसे सम-दृष्टि रखनेवाले संन्यासी के मुख से ऐसे कटु शब्द खटकते हैं। सच तो यह है कि सिरे से ही स्त्री-निन्दा न सराहनीय है और न सहनीय।

स्त्री-जाति को सराहने या भतृहरि की बातों को सह लेने से पहले हमें भली-भांति देख लेना चाहिए कि भर्तृहरि ने जहां स्त्री को सर्पिणी और उससे भी बड़ी घातिनी कहा है, वहां उसके विशेषण भी गिना दिये हैं। मन मैला और विषैला, फन अनेक, दो-दो लपलपाते जीभ और दो-दो धधकती आंखें। मन मैला और फन चमकीला तो आंखों से आग ही बरसेगी, जहरीली आग जो न केवल जला देगी बल्कि मार ही डालेगी। वैद्य के यहां औषधि नहीं। तांत्रिक भी हार मान कर दूर रह जाता है।

सर्प-भेद के साथ-साथ यहां चिकित्सा-भेद की भी चर्चा है। साधारणतया शारीरिक रोगों के लिए औषधि की व्यवस्था होती है और भूत-प्रेत-पिशाच के लिए मंत्रोच्याटन का प्रयोग होता है। मानसिक भ्रम के दूरीकरण के लिए भी मंत्रोच्चारण को प्रभावोत्पादक माना जाता है। सो स्त्रीरूपिणी सर्पिणी के अक्रान्त व्यक्ति को मंत्र-तंत्रकार भी माने बैठे हैं कि यह उनके बस का रोग नहीं है। जब यही बात है तब वशीकरण मंत्र या तांत्रिक-क्रियाओं द्वारा प्रेमी-प्रेमिकाओं के समायोग की चेष्टा भी एकदम निराधार तथा निरर्थक है।

पिछले श्लोकों में जल की मीन से धरती के सर्प की उपमा देकर मंत्र-प्रयोग द्वारा वायु-मंडल के भूत प्रेत तक जा पहुंचा। अब देखिए अगले श्लोक में कहां पहुंचाता है भर्तृहरि।

श्लोक ५३

व्यादीर्घेण चलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना
नीलाब्जद्युतिनाहिना वरमहं दष्टो न तच्चक्षुषा।
दष्टे सन्ति चिकित्सका दिशि दिशि प्रयेण धर्मार्थिनो
मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्य न हि मे वैद्यो न चप्यौषधम्॥

शब्द विच्छेद

नीलाब्ज = नील + अब्ज
द्युतिनाहिना = द्युतिना + अहिना
दष्टोऽस्मि = दष्टः + अस्मि
तच्चक्षुषा = तत् + चक्षुषा
चाप्यौषधम् = च + अपि + औषधम्

शब्दान्वय

व्यादीर्घेण चलेन वक्र गतिना तेजस्विना भोगिना
नील अब्ज द्युतिना अहिना अहं दष्टः वरम्
न तत् चक्षुषा, दष्टे दिशि दिशि
धर्मार्थिनः चिकित्सकः सन्ति, मुग्धाक्षी क्षण वीक्षितस्य मे
वैद्यः नहि, औषधम् च अपि न।

शब्दार्थ

व्यादीर्घेण = बहुत बड़े
चलेन = चंचल
वक्र गतिना = टेढ़ी चाल वाली
तेजस्विना = कांतिमान
भोगिना = फन वाले
नील अब्ज = नीलकमल की-सी
द्युतिना = चमक वाले
अहिना = सर्प द्वारा
अहं दष्ट = मैं डस जाऊं
इति वरम् = तो अच्छा, (किन्तु)
न तत् चक्षुषा = उस सर्पराज-जैसी विशाल, चंचल, तिरछी और चमकीली आंख से न डसा जाऊं (क्योंकि)
दष्टे = सर्प के डसने पर
दिशि दिशि = जगह-जगह
धर्मार्थिनः = धर्मात्मा, बिन दाम
चिकित्सकः = वैद्य लोग
सन्ति = होते हैं, मिलते हैं (परन्तु)
मुग्धाक्षी = मोहिनी चितवन से
क्षण वीक्षितस्य = ताक भर लेने से
मे = मुझे बचाने के लिए
वैद्यः नहि = न कोई वैद्य मिले
औषधम् च अपि न = और न कोई औषधि ही

भावार्थ

एक है बड़ा भारी सांप और दूसरी हैं बड़ी-बड़ी आंखें। सांप भी

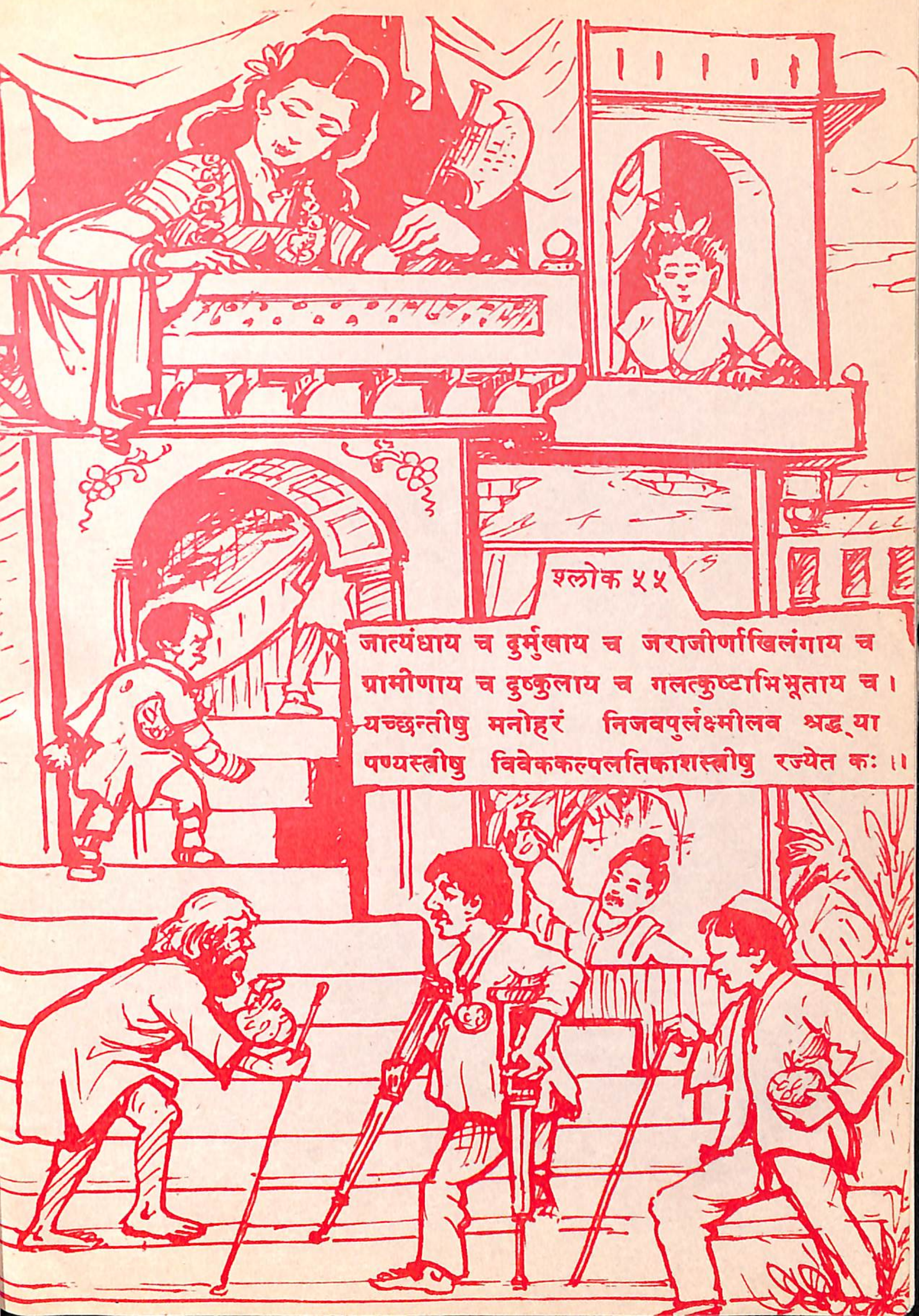

श्लोक ५५

जात्यंधाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलंगाय च
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्टाभिभूताय च ।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलव श्रद्ध्या
पण्यस्त्रीषु विवेककलपलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः ।।

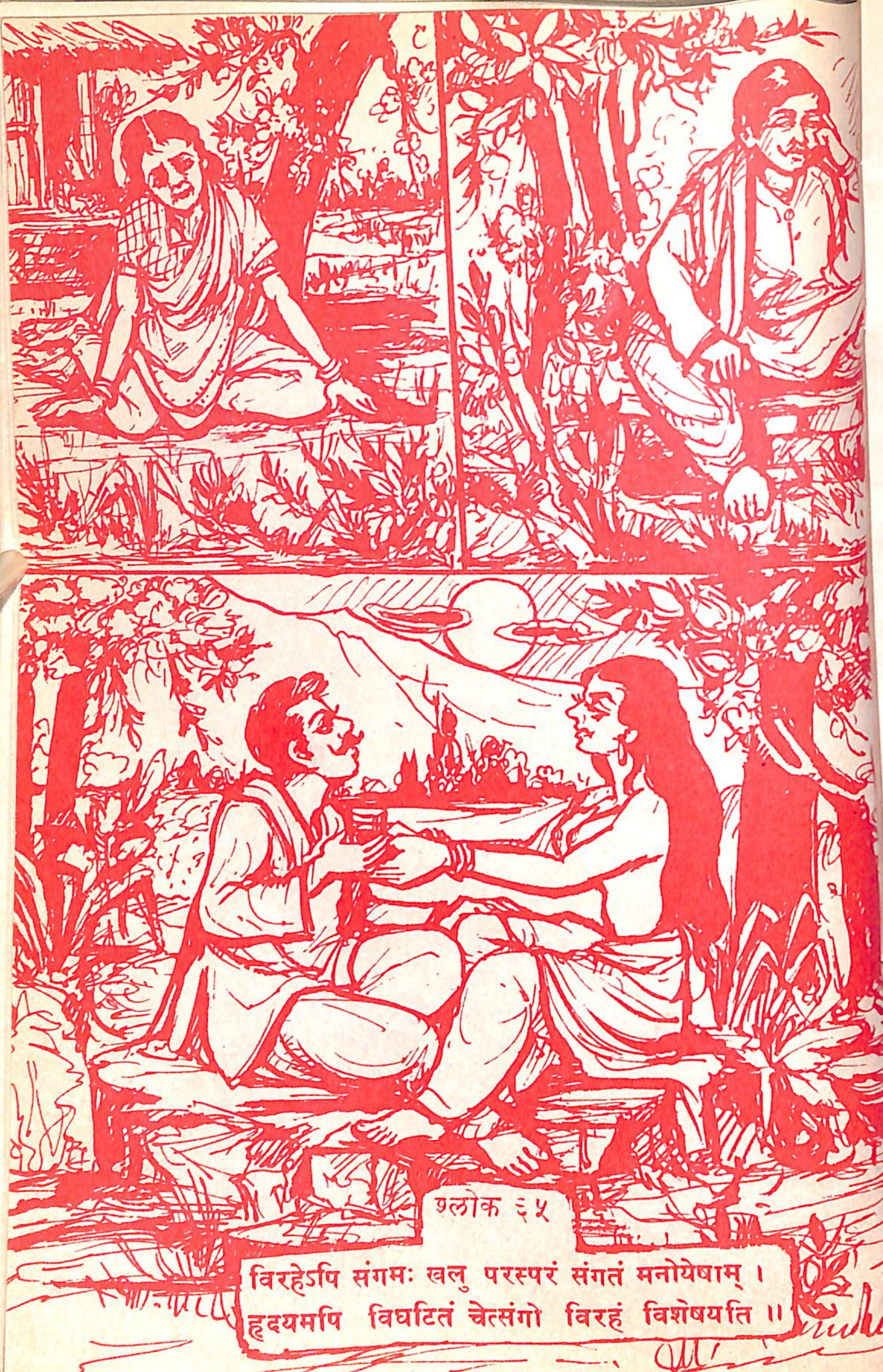

श्लोक ३५

विरहेऽपि संगमः खलु परस्परं संगतं मनोयेषाम् ।
हृदयमपि विघटितं चेत्संगो विरहं विशेषयति ॥

चंचल है और आंखें भी चंचल। सांप की चाल टेढ़ी है और निगाहें भी तिरछी पड़ती हैं। तेज से दोनों ही लपलपाते हैं और रंग भी दोनों का श्यामल है। काला सर्प भले ही डस ले चिन्ता नहीं, किन्तु मोहिनी चितवन कहीं घायल न करे, इसका भारी खतरा है। सांप के काटे की मुफ्त दवाई सब जगह मिलती है, किन्तु चितवन के घाव को चंगा करना किसी के वश का रोग नहीं।

विशेषार्थ

अन्यत्र कई जगह कामिनी के लिए मीन (मछली) की उपमा दी गयी थी, उसे मीनाक्षी कहा गया था। परन्तु पिछले श्लोक में मछली को कामिनी नहीं वरन् कामी के रूप में प्रस्तुत करते हुए अधरामिष का लोभी बताया गया। प्रस्तुत श्लोक में परिस्थिति विपरीत है। पहल कामी की ओर से नहीं, वरन् कामिनी की ओर से है। जोरावर ही तो वार करेगा। इसीलिए यहां कामिनी को सर्प बताया गया है। मीन भी तो सर्प-संतति की श्रेणी में सम्मिलित है। कामिनी यहां कामाक्षी या मीनाक्षी नहीं है, वरन् सर्पाक्षी है और स्वय सर्प है। बड़ा लम्बा सांप है, नाक की जड़ से लेकर कान के कुहर तक चला गया है। कामिनी को चंचलाक्षी तो कई जगह कहा गया है। पुतलियां नाचती हैं पर आंख के भीतर ही रहती हैं। परन्तु यहां उसको गतिमान कहा गया है—वक्र गति। सांप की टेढ़ी चाल के साथ उसे तेजस्वी भी बताया है। अब तो पुरुष को बलहीन और गतिहीन बनने में कोई कसर रही नहीं।

तेजोविहीन पुरुष को यदि सर्प और सर्पाक्षी दोनों में से एक को चुनना पड़े तो वह सर्पाक्षी वनिता की अपेक्षा सक्षात् सर्प को अधिक पसंद करेगा। सांप के डसने पर बचने की आशा की जा सकती है। सर्प-कटे से सबकी सहानुभूति होती है। वैद्य, हकीम धर्मार्थ चिकित्सा कर चंगा कर देते हैं। परन्तु सर्पाक्षी-कामिनी के घायल की सभी निंदा करते हैं। न किसी की उससे सहानुभूति होती है और न वह किसी से सहायता मांग सकता है। किसी-न-किसी को यदि सहायक बना लेने में सफल हुआ तो उसे पल्ले से कुछ देना ही पड़ेगा। दानपात्र में दमड़ी न डाले भले ही, डाक्टर को मुंह-मांगी फीस जरूर देगा। कठिनाई यह है कि असली सर्प के काटने की दवा है, परन्तु सर्पाक्षी के अघात की कोई औषधि है ही नहीं। जहां औषधि ही न हो, वहां धर्मार्थी वैदय और धनार्थी डाक्टर दोनों लाचार हैं। सर्पाक्षी की निगाहों से बचने के लिए पुरुष किसी सांप के बिल में छिप बैठना

अधिक पसंद करेगा ।

यह बिन कांटे की मछली नहीं कि निगल जायें या कि केवल मचल कर हाथ से फिसल कर निकल जाय । यह सर्प है, अजगर । सर्पाक्षी दूर से नजर मारती है । लपक कर घेर लेती है । पैरों को बल देकर बांध लेती है । बाहों समेत छाती को कसकर ऐसे पीस डालती है कि सांस सिसकने लगे । फिर फन फैलाये जीभ लपलपाते हुए जबड़े फाड़कर आंखों में जो घूरती है तो पुरुष की पुतलियां बाहर निकल पड़ती हैं। जब वह अंगारे उगलने लगती है तब बिचारा भस्म होकर राख की ढेर बन जाता है और एक ही फुंकार में उड़ जाता है।

श्लोक ५४

कश्चुम्बति कुलपुरुषो वैश्याधरपल्लवं मनोज्ञपि ।
चारभटचोरचेटकनटविटनिष्टीवनशरावम् ॥

शब्द विच्छेद

कश्चुम्वति = कः + चुम्बति
वेश्याधर = वेश्या + अधर
मनोज्ञमपि = मनोज्ञम् + अपि

शब्दान्वय

मनोज्ञम् अपि वेश्या अधर पल्लवं चार चोर चेटक विट नट निष्ठीवन-शरावम् कः कुलपुरुषः चुम्बति ।

शब्दार्थ

मनोज्ञम् अपि = लुभावना हो भी तो
वेश्या अधर पल्लवं = वेश्या का ओंठ,
चार = भेदिये,
चोर = चोर,
चेटक = भड़ुए
विट = भांड,
नट = नचैयों के
निष्ठीवन = थूक
शरावम् = पात्र अर्थात् उगालदान है (ऐसे घिनावने अधरोष्ठ को)
कः कुलपुरुषः = कौन कुलीन व्यक्ति, कुलपत्नी अर्थात् धर्मपत्नी वाला
चुम्बति = चूमेगा ।

भावार्थ

वेश्याओं के मुख मनोहर भले ही लगें, वास्तव में वे चार, चोर, भांड़, भड़ुए, गवैये, नचैये जैसे नीच जनों के थूकदान मात्र हैं। ऐसे घिनौने मुख को कोई कुलीन व्यक्ति कैसे चूमेगा, अर्थात् नीच जन ही वेश्यागमन में रत रहते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में कहा गया था कि वेश्या कैसे लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती और उनका सर्वनाश करती है। इस श्लोक में बताया है कि नीच प्रवृत्ति वेश्या की ही नहीं, वरन् वेश्यागामी भी उसी श्रेणी के होते हैं। वेश्यावृत्ति का मुख्य प्रेरक धन होने के कारण केवल धनी ही उसके पास जाते हों, सो बात नहीं है। धन होने मात्र से कोई कुलीन तो नहीं हुआ जाता। यदि तथाकथित उच्च कुल का व्यक्ति वेश्यागमन में रत हुआ तो वह नीचता को प्राप्त हुआ ही। कोढ़ी, कुरूपी से वेश्या को धन मिले भी तो अपनी कामुकता की तृप्ति के लिए वह अन्य पुरुषों की आकांक्षा रखेगी। कोई भद्र पुरुष तो उसे मिलने से रहा। उसे अपनी ही श्रेणी के लोगों से सम्पर्क बनाये रखना होगा। चोर, चार, भांड, भडुए ही उसे मिलेंगे। ऐसे लोग स्वयं पैसे के लिए इस प्रकार का धन्धा अपनाये रहते हैं। उनसे वैश्या को धन की प्राप्ति नहीं हो सकती। ये उलटे धन ऐंठने वाले ही होते हैं। ऐसे नीचों की बोल-चाल और बर्ताव भी नीच ही होगा और वेश्या स्वयं नीच वृत्ति की होने के कारण ऐसे लोगों में निश्शंक और निर्लज्ज होकर खुल खेल सकती है। गाली-गलौज, धौल-धप्पा, चुम्मा-चाटी सभी भीभत्स क्रीड़ाएं होती हैं और उसी में वेश्या सच्चे सुख का अनुभव करती है।

बाहयाभ्यंतर रति में चुम्बन आरंभिक अनिवार्य क्रिया है। चूमना क्या है, थूक चाटना ही तो है। जब अपना ही थूक अपने ही मुंह में इकट्ठा होता असह्य लगकर थूक देना पड़ता है तब दूसरे का थूक कितना घिनौना लगेगा? पति-पत्नी की अन्योन्यता में वह भी रतिकाल में सहनीय और सुखप्रद हो सकता है। परन्तु वेश्या के मुंह में सभी का उच्छिष्ट पड़ा है। वेश्या का मुंह बाजारी उगालदान के समान है जिसमें सभी थूकते-खखारते जाते हैं। जिस प्रकार उस उगालदान का चाटना कोई पसंद नहीं करेगा उसी प्रकार वेश्या के मुख-चुम्बन को भी घृणास्पद मानना चाहिए। जो बात बाह्य रति की वही अभ्यंतर रति की, बल्कि उससे बढ़कर।

इस अध्याय भर में स्त्री-निंदा जो की गयी उसका सम्बन्ध वेश्यावृत्ति से तथा वेश्यागमन से है। यहां शब्द 'कुलीन' का प्रयोग हुआ है पुरुष के लिए, अतः स्त्री के लिए उपयुक्त शब्द है कुलपत्नी, स्वपत्नी। पति-पत्नी के पवित्र सम्बन्ध पर आक्षेप नहीं है। सम्भोग एकान्त क्रीड़ा है। पति-पत्नी को इस एकान्तिक किंतु पारस्परिक सुख का आनंद अपने सिवा किसी अन्य स्त्री या अन्य पुरुष को प्राप्त हो सकता है, इस प्रकार की कल्पना भी पति-पत्नी के मन में उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती, जो वास्तव में अतिगूढ़, गुप्त और पवित्र व्यवहार है।

श्लोक ५५

जात्यंधाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलंगाय च
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्टाभिभूताय च।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलव श्रद्ध्या
पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः।।

शब्द विच्छेद

जात्यंधाय = जाति + अंधाय
दुष्कुलाय = दुः + कुलाय
दुर्मखाय = दुः + मुखाय
जीर्णाखिलंगाय = जीर्ण + अखिल + अंगाय
गलत्कुष्टाभिभूताय = गलत् + कुष्ट + अभिभूताय
वपुर्लक्ष्मी = वपुः + लक्ष्मी

शब्दान्वय

लव लक्ष्मी श्रद्धया निज मनोहरं वपुः
जात्यंधाय च दुष्कुलाय च गलत् कुष्ट अभिभूताय यच्छन्तीषु
विवेक कल्प लतिका शस्त्रीषु पण्य स्त्रीषु कः रज्येत।

शब्दार्थ

लव लक्ष्मी = थोड़े से धन के लिए
श्रद्धया = लालच से
निज = अपने
मनोहरं = सुंदर
वपुः = शरीर को
जात्यंधाय = पैदायशी अंधे
दुष्कुलाय = नीच जाति के
गलत् कुष्ट = गलित कोढ़ से
अभिभूताय = पीड़ित व्यक्तियों को
यच्छन्तीषु = सौंपने वाली
विवेक = पारखी बुद्धिरूपी,
कल्प लतिका = कल्पलता के लिए
शस्त्रीषु = शस्त्र अर्थात् कुल्हाड़ी-समान
पण्य स्त्रीषु = वेश्याओं पर
कः रज्येत = कौन रीझेगा।

भावार्थ

वेश्याएं केवल पैसे से मतलब रखती हैं। थोड़े से पैसों के लिए वे अपना सुंदर सुकुमार शरीर हर किसी को सोंपने पर उतारू रहती हैं। अंधा बहरा हो, लंगड़ा लूला हो, कुजात कुरूप हो, निपट गंवार हो, नीरस बूढ़ा हो, गलित कोढ़ी हो या जीर्ण-शीर्ण क्षय-रोगी हो, जो पैसा दे वे उसी की हो जायं। भला कोई विवेकी पुरुष ऐसी वेश्याओं पर कैसे रीझ सकता है! विवेकवान तो वेश्याओं से दूर ही रहते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में स्त्री-निंदा की जो धारा चली थी उसका रहस्य इस श्लोक में खुल जाता है। यहां वेश्याओं तथा वेश्यागामी दोनों की भर्त्सना की गयी है।

पण्य स्त्री के माने पेशेवर औरत। वह पैसा देखती है, पुरुष को नहीं। परन्तु जब वह स्वयं अंधी नहीं है तब अंधे के साथ क्या आनंद मनायेगी? सुंदर सिडौल महिला जीर्ण-शीर्ण बुड्ढे के संग क्या सुख पायेगी? सुकुमारी नगर-वधु कुडौल और कुभाषी ग्रामीण से क्या वार्तालाप करेगी? स्वस्थांगना गलितांग से क्या गाढ़ालिंगन करेगी? वह तो मन को मारती है, तन को भी, और केवल धन पर लट्टू हो जाती है। वेश्या को जब तन से ही धन मिलता है तब उसे उस तन को बनाये रखने के लिए बनावटी बनाव-सिंगार पर आश्रित रहना और उसी सिंगार के लिए उसे धन कमाना पड़ता है। आन मान को ताक पर रख धन की खातिर धनी से जूठा प्रेम जताने पर बाध्य हो जाती है। वेश्या में विवेक का अभाव नहीं

होता। धन के अभाव से, लालच से या भावी सुरक्षा के विचार से वह विवेक को उठा रखती है और जैसे-तैसे जीवन बिताती है।

पुरुष कौन विवेकवान है ? स्त्री हो अथवा पुरुष, सम्भोग सदा परावलम्बी है। एक के बिना दूसरे का काम नहीं चलता। यदि वह दोष है तो स्त्री, पुरुष दोनों दोषी हैं। वास्तव में दोष धन का है। दूषित धन ही मूल कारण है इस पापाचारी व्यभिचार का। दूषित धन की धुन आज सबके सिर पर सवार है। धन की यह धुन, घुन बन कर समूचे समाज को खोखला किए जा रही है। वेश्यावृत्ति को गैर-कानूनी जरूर बना दिया गया है, परन्तु क्या इससे व्यभिचार समाप्त हो गया है ? लगता है कि संसार भर में व्यभिचार का आज समाजीकरण हो गया है। भारत-समान गरीब देश में ही नहीं, यूरोप-अमेरिका-जैसे सम्पन्न देशों में भी यही होता है। सुनते, पढ़ते हैं कि पतिदेव परिवार के भरण-पोषण के लिए निजी कार में बिठाकर स्वयं कार चलाकर अपनी पत्नी को होटलों और नाइट कल्बों में पहुंचा आते हैं। पिता पुत्री से और भाई बहन से धन्धा करवाते हैं। रजस्वला होने भी नहीं पाती कि माता-पिता को फिक्र सताने लगती है कि लड़की को बॉय-फ्रेंड अभी क्यों नहीं मिला ! फैशन के फरेफ्ताओं को पैसा चाहिए और वह भी बिन-मिहनत का। धन मूलक समाज में धन से ही मान-मर्यादा मिलती है। बूढ़े-बूढ़ी और लड़के-लड़कियां आज इस बात को मान बैठे हैं कि जैसे-तैसे धन पाना ही विवेकपूर्ण व्यवहार है। कोई धन के द्वारा करता है और कोई धन के लिए करता है, पर करते सामान्यतया सभी हैं और मान्यता देते हैं। सामाजिक मान्यता से व्यभिचार को बढ़ोतरी मिल रही है। शहरी-जन सभ्य माने जाते हैं और शहरी समाज का यह फैशन है। नोट, वोट और लूट का चलन देहात तक पहुंचा कर देहात को भी शहरी सभ्यता में रंगे जा रहे हैं।

श्लोक ५६

वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धनविवर्धिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च॥

शब्द विच्छेद

वेश्यासौ = वेश्या + असौ
रूपेन्धन = रूपा + इन्धन
कामिभिर्यत्र = कामिभिः + यत्र

शब्दान्वय

असौ वेश्या रूपा इन्धन विवर्धिता मदन ज्वाला
यत्र कामिभिः यौवनानि धनानि च हूयन्ते ।

शब्दार्थ

असौ वेश्या = यह वेश्या
रूपा इन्धन = अपने रूप के ईंधन से
विवर्धिता = खूब जगाई हुई
मदन ज्वाला = कामाग्नि है

यत्र = जिसमें
कामिभिः = कामी जन
यौवनानि = अपने यौवन
धनानि च = तथा धन की
हूयन्ते = आहुति चढ़ाये जाते हैं ।

भावार्थ

वेश्या मूर्तिमान कामाग्नि है जो रूप और सिंगार से धधक उठती और लपलपाती ज्वाला बन जाती है । उस ज्वाला में कामीजन अपने धन तथा यौवन दोनों की भेंट चढ़ा जाते हैं ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा था कि पण्यांगना पैसे के लालच से अपना सुंदर शरीर कुरूप कोढ़ी को भी सौंप देती है । इस श्लोक में कहता है कि धन ही नहीं उसके साथ यौवन भी जाता है । वेश्या स्त्री नहीं, बल्कि धधकती आग है । अर्थात् उसका शरीर हाड़-मांस का नहीं बल्कि धधकते अंगारों का ढेर है । बनाव-सिंगार उन अंगारों को खूब जगाकर लपलपाती ज्वाला बना देता है । वेश्या आग से आंच बन गयी ।

कामाग्नि की खुराक है कांचन तथा यौवन । कामीजन कांचन के साथ कामिनी के पास जाते हैं । किंतु वह तो आग है जो कांचन को ही नहीं कामी को भी भस्म कर देती है । पीछे कहा गया है कि कामी मृगी-रोग का शिकार है ।

उसमें सूझ-बूझ रह नहीं जाती। दांत पीसता और फेन उगलता पड़ जाता है। जब वह वेश्या के घर से निकलेगा तब जेब खाली और शरीर खोखला होगा। यह तो मृगी-रोग है। रोग वार पर वार करता है और रोगी बार-बार उस आग में औंधे मुंह पड़ जाता है। कोयला राख बनकर निकलता है। वेश्या का दरवाजा उसके यौवन के लिए नहीं बल्कि उसके धन के लिए खुला है। कामी धन कुबेर हो सकता है, पर स्वयं कामदेव तो नहीं हो सकता। धन ला-लाकर देता रहेगा, पर जवानी कहां से लायेगा। जवानी गयी फिर भी धन चढ़ा-चढ़ाकर वेश्या का गाना सुनेगा और हाथ की गिलौरी खायेगा, तभी उसे चैन पड़ती है। चतुर वेश्या द्वारा धन-कुबेर को नंगे फकीर बनते देर नहीं लगती। वेश्या की उस गली में भीख भी नहीं मिलेगी, गाली ही मिलेगी। न जाने कितने ऐसे धन-कुबेर उस गली में गल-सड़ गये, बूढ़े भी और जवान भी, स्वस्थ भी और रोगी भी।

कामाग्नि दोनों सिरों पर जला करती है। कामी का यौवन जाता रहता है तो कामिनी का यौवन बच नहीं पाता। कामिनी के यौवन का पतन कामी से अधिक वेगवान होता है। कामी पुरुष एक वेश्या की कामाग्नि की भेंट बनता है, मगर वेश्या धन के लोभ में कई-कई कामियों को संतुष्ट करने की चेष्टा में आप स्वयं नष्ट हो जाती है और न जाने किन-किन रोगों से पीड़ित रहती है। फिर भी बनावटी सिंगार से भले ही कुछ दिन खींच ले जाय, उसकी भी गत बनने में अधिक दिन नहीं लगते। सोचती है, धन तो है, चैन से कटेगी। यह उसकी भूल है। राजाओं और धनियों को सुनते हैं और देखते भी हैं कि एक की कमाई कुछ एक पीढ़ियों तक चली जाती है। किंतु किसी वेश्या को किसी ने कहीं नहीं सुना कि उसकी कमाई एक भी पीढ़ी चली हो।

श्लोक ५७

न गम्यो मन्त्राणां न च भवति भैषज्यविषयो
न चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शान्तिकशतैः
भ्रमावेशादंगे किमपि विदधद्भंजमसकृत्
स्मरापस्मारोयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च ॥

शब्द विच्छेद

भ्रमावेशादंगे=भ्रम+आवेशात्+अंगे
किमपि=किम्+अपि
विद्धद्भंगमसकृत्=विदधत्+भंगम्+असकृत्
स्मरापस्मारोयं=स्मर+अपस्मार+अयम्

शब्दान्वय

अयम् स्मर अपस्मार मंत्राणाम् न गम्याः
भेषज्यविषयः न भवति विविधैः शान्तिकशतैः
प्रध्वंसं न व्रजति भ्रम आवेशात् अंगे असकृत्
किम् अपि भंगं विद्धत् दृशं भ्रमयतिघूर्णयति च ।

शब्दार्थ

अयम्=यह
स्मर=कामदेव का
अपस्मार=मृगी रोग
मंत्राणां=मंत्रों से
न गम्याः=नहीं जाता
भेषज्य विषयः=औषधियों का विषय भी
न भवति=नहीं है
विविधैः=भांति-भांति के
शांतिक शतैः=सैकड़ों शांति पाठ से
प्रधवंसं=नष्ट
न व्रजति=नहीं होता,
भ्रम आवेशात्=झूठ-मूठ के जोश से
अंगे=शरीर में
असकृत=बार-बार
किम अपि=कुछ न कुछ
भंगं=तोड़-मरोड़
विद्धत्=पैदाकर
दृशं=दृष्टि को
भ्रमयति=भरमा देता है
घूर्णयति च=और चकरा देता है,

भावार्थ

काम-विकार कोई रोग तो नहीं कि दवा-दारु असर करे। भूत का साया नहीं कि मंत्रोच्चारण से दूर हो जाय। जन्म-जन्मांतर का संचित पाप भी नहीं कि जप जाप, हवन आदि से उपशमन हो।

यह काम-विकार मृगीरोग के समान बार-बार वार करता है। एकाएक सूझबूझ समाप्त होती है। अंग-अंग अकड़ जाता है। आंखों में

अंधेरा छा जाता है। किसी और को धर दबोचने जाते हैं, और आप ही औंधे मुंह गिर पड़ते हैं। दांत पीसते हैं, मुट्ठी भींचते हैं। मुंह से फेन निकालते हैं। थोड़ी देर में उठ बैठते हैं। समझ ही नहीं पाते कि क्या हो गया था।

विशेषार्थ

इस श्लोक में पिछले श्लोक के विकार को मृगी रोग का संकेत दिया गया है। परन्तु मिरगी भी तो एक बीमारी है और हर बीमारी का इलाज है। जब पीछे कह आया है कि इसके लिए संसार में वैद्य या औषधि एक भी नहीं है। तभी तो मंत्र विद्या की शरण में जाना पड़ा था। सो वह भी निरर्थक सिद्ध हुआ। इस श्लोक में एक अन्य उपचार की चर्चा है—"विविधैः शांतिक शतैः"। पूर्व जनमों के पाप परिहार के लिए नव-ग्रहादि देवी-देवताओं को उद्देश्य कर पूजा-पाठ, जप-जाप, होम-हवन का विधान है। अर्थात् पृथ्वी मंडल के जल-थल और वायुमंडल से भी अंतरिक्ष गामी ग्रहदोष के निवारण के लिए उपरोक्त शांति-कर्मों के आदेश का पालन किया जाय तो भी निस्तार नहीं है। जल में नहीं, थल में नहीं, आकाश में नहीं, फिर कैसे हो इसका उद्धार? सुधार के दो उपाय, एक निदेशात्मक दूसरे निषेधात्मक—यह-यह करें, वह-वह न करें। करने के सारे उपाय आजमा चुके। अब न करनेवालों को भी जांच लीजिए।

श्लोक ५८

कामिनीकायकान्तारे कुचापर्वतदुर्गमे।
मा संचर मनः पान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः॥

शब्द विच्छेद

तत्रास्ते = तत्र + आस्ते

शब्दान्वय

मनः पान्थ कुच पर्वत दुर्गमे कामिनी काय कान्तारे
मा संचर तत्र स्मर तस्कर आस्ते

शब्दार्थ

मनः पान्थ = हे मन रूपी बटोही
कुच पर्वत = स्तन रूपी पहाड़ियों से
दुर्गमे = कठिन मार्ग से भरे
कामिनीकाय = नारी शरीर रूपी
कान्तारे = वन में
मा संचर = न जाया कर (क्योंकि)
तत्र = वहां
स्मर तस्कर = विवेक को भ्रष्ट करनेवाला कामदेव चोर
आस्ते = रहता है।

भावार्थ

नारी का शरीर जानो बीहड़ वन है। स्तन उसके ऊबड़-खाबड़ पहाड़ हैं। इस पहाड़ी वन में मन-चोर का वास है। हे मन, सावधान, तू इस बीहड़ वन में पग धरने की भूल न करना।

विशेषार्थ

'गोदी में बालक, गोकुल में कोलाहल', या 'बगल में बच्चा, शहर में ढिंढोरा,' वाली कहावत हो गयी। जो न करना चाहिए था उसी को पहले आप कर बैठे। बासा छोड़ बाहर जाने की कौन आफत आन पड़ी थी—'कामिनी काय कान्तारे'। घर उघार छोड़ बाहर गये। आपके घर में चोर घुस गया। सारा माल लुट गया। किसी ने कहा, कौआ कान उड़ा ले गया और आप हैं कि जिस किसी कौए को उड़ते देखा उसी के पीछे दौड़ पड़े। न कौए की परछायीं आप पर पड़ी थी और न आप उसकी परछायीं ही को पा सके। वैद्य, हकीमों ने जवाब दिया। मांत्रिक-तांत्रिकों ने पीछा छुड़ाया। पंडित पुरोहितों के पाखण्ड ने पर ही नोच लिये। कानन-बाला की ओर कदम बढ़ाना ही असल में काल-कुहर में प्रवेश करना था।

वन में मोहक दृश्य अवश्य है पर वहां अंधेरी गुफाएं भी हैं। मोहावेश में बढ़े जाओ तो अपने-आपको अंधेरी गुफा में पाओगे। मोहक दृश्य न जाने कहां छिप जाय, अंधकार में आंखों को वहां कुछ सूझ न पड़े। सूझे तो ना उसे जो कुछ बुझे भी। वन में गये और मन-चोर के चक्कर में पड़ गये। स्वयं अपने मन में चोर बैठा हो तो उसे भगाया जाय, पर जब उस मन को ही कोई चोर चुरा ले जाय

तब बुरा हो उस जालिम का, कौन क्या कहे, क्या करे। उस वन की ओर जाये ही नहीं जहां मन-चोर का बसेरा हो, बचाव का यही एक मात्र उपाय रह जाता है।

यह शरीर संसार का एक पथिक मात्र यात्री है। संचार इसका धर्म है। "मा संचर" घूमा न करें, असंभव। शरीर-यात्रा के लिए चलना-फिरना पड़ता है। सो, उसकी मनाही नहीं है। श्लोक में दो शब्द विशेष रूप से बरते गये हैं. कौन, न चले कैसे न चले। "मनः पान्थ," मनरूपी पथिक पर रोक है, शरीर पर नहीं। पर यह तो और भी दुस्तर है। शरीर यहां बैठा रहता है, पर मन संसार-भर की सैर कर आता है। मन चला करे, इसकी भी मनाही नहीं है। केवल एक जगह न जाय। कहां ?"कामिनी काय कान्तारे"। बस्ती-बजार में जाय। वन-पर्वतों में भी जाय। पर न जाय केवल कामिनीरूपी कान्तार में। चरने चलने की छुट्टी शरीर को भी है और मन को भी। चल-चल रे नवजवान, फिलमी गीत है, और "चर, चर, सतत् चर" वेदों ने भी यही गाया है। पग न धरे मात्र भामिनी रूपी वन-पर्वतों में। श्लोक के अनुसार शरीर के लिए उसका भी निषेध नहीं है। बाहों में बल है, वन को काट लेंगे। पैरों में पौरुष है, पहाड़ों पर चढ़ जाएंगे। घुटने टूटे नहीं, घाटियों से निकल जायेंगे। वन-चोर या शेर बबर शरीर का कुछ बिगाड़ नहीं सकते। डर है मन-चोर का। उसके सामने मन हार मान कर बैठ ही जाता है। सारी मुसीबत मन के मुसाफिर की है। है वह मनचला, निचला नहीं बैठेगा। मन को ठिकाने पर रखो और जहां चाहे बेखटके घूमो-फिरो। सारा रोग मन का है। यही मन उस वन में भटक जाता है। इसी मन को वह सर्प डसता है और इसी मन को वह चोर चुराता है। यह मन वैद्य की पकड़ में नहीं आता, इसीलिए उसके पास इसकी दवाई नहीं। भूत-प्रेत भी मन पर छा नहीं सकते, इसीलिए मंत्र-तंत्र निरर्थक। मन ही जहां नहीं, वहां पूजा-पाठ जप-तप में कौन मन लगे और शांति किस मन को मिले !

मन को वशीभूत करने के लिए इन्द्रिय-निग्रह पर जोर देना भी अनुचित है। आंख, कान बंद रखें, मौन रखें, स्वाद रहित भोजन करें, काषाय वस्त्र धारण करें या दिगम्बर बने रहें, ये सब क्रियाएं साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। जब तक साधना में स्वाभाविकता न आवे, अर्थात् जब तक बलात् साधना में लगे रहें तब तक समझना चाहिए कि हम घोड़े पर सवारी नहीं कर रहे हैं, बल्कि घोड़ा हम पर सवार है। साधनों को सिर पर ढोये फिरना बेगार भरना मात्र है। इन्द्रियों का व्यापार स्वाभाविक है। जन्म के साथ है, मरने तक रहेगा। इन्द्रियों के गुणों को अवगुण मानना मूर्खता है। किसी सुंदर स्त्री को देखकर आंख बंद कर लेना, मधुर स्वर सुनकर कान में रुई भर लेना अपनी कमजोरी को औरों से छिपाने की

चेष्टा मात्र है, चित्त तो सुर, सूरत पर लगा रहता ही है। जिस प्रकार बगीचे में सुंदर गुलाब को देखकर मन प्रसन्न होता है उसी प्रकार बाजार में किसी सुंदर युवती के दीख पड़ने पर प्रसन्नता होनी चाहिए। यदि ऐसा न होवे तो कहना होगा कि उसमें दृष्टिदोष है और उसका मन दूषित है। पेड़ पर फूल को रहने दो और परिवार में युवति को। दोनों को देखकर एक समान प्रसन्न हो जाओ। मन सब में प्रसन्न हो मगर सब के बीच भटके नहीं और किसी एक में अटके भी नहीं।

श्लोक ५९

इह हि मधुरगीतं नृत्तमेतद्रसोयं
स्फुरति परिमलोसौ स्पर्श एष स्तनानाम्।
इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणाः
स्वहितकरणधूर्तैः पंचभिर्वंचितोऽस्मि

शब्द विच्छेद

नृत्तमेतद्रसोयं = नृत्तम् + एतत् + रसः + अयम्
परिमलोसौ = परिमलः + असौ
परमार्थैरिन्द्रियैभ्रम्यिमाणः = परमार्थैः + इन्द्रियैः + भ्राम्यमाणः
पंचभिविचिंतोऽस्मि = पंचभिः + वंचितः + अस्मि

शब्दान्वय

इह हि मधुर गीतं स्फुरति एतत् नृत्तं अयम् रसः
असौ परिमलः एषः स्तनानम् स्पर्शः
इति परमार्थैः हतः स्वहित करण धूर्तैः पंचभिः इन्द्रियैः
भ्राम्यमाणः वंचितः अस्मि।

शब्दार्थ

इह हि = यहीं तो, युवती में ही
मधुर गीतं = मीठा मनोहर गान
स्फुरति = विद्यमान है
एतत् नृत्तं = यहीं नाच है
अयं रसः = यहीं स्वाद है
असौ परिमलः = यहीं सुगंधि है (और)
एषः = इन ही
स्तनानां स्पर्शः = स्तनों को सुहलाने का आनंद है
इति = इसी प्रकार
परमार्थः हतः = परमार्थ का हनन करके
स्वहित करण = अपने मतलब के लिए
धूर्तैः = वंचक
पंचभिः इन्द्रियैः = पंचेन्द्रियों द्वारा
भ्रम्यमाणः = भरमाये जाकर,
वंचितःअस्मि = धोखा खाया

भावार्थ

ओह, मेरी इन पंचेन्द्रियों ने ही अपने स्वार्थ के लिए मेरे परमार्थ को नष्ट किया है। इन कानों ने धोखे में रखा कि युवती के बोल में संसार का सारा संगीत भरा है। आंखों में धूल भर गई कि उसकी चाल ही में नृत्य का पारावार देखा। जीभ को उसके अधरामृत के अतिरिक्त और कुछ जंचा नहीं। सौगंद है उस सुगंध की कि अंग-अंग पर नाक रगड़ता रहा। क्या कहने उन स्तनों के कि स्पर्श मात्र से सारे शरीर में फुरहरी फिर जाती। इस प्रकार आंख, नाक, कान, जीभ और खाल आप ही मगन रहे, पर मैं क्या पाया ? स्वयं ही मैंने अपने परमार्थ का अनर्थ किया।

विशेषार्थ

पिछले चार-पांच श्लोकों में दोष दूसरों के सिर मढ़ते हुए वैद्यों और तांत्रिकों से निराश होकर पिछले श्लोक में एक निषेधात्मक आदेश दिया गया था—'मा संचर मनः पान्थ।' इस श्लोक में अपने ही शरीर में चोर की खोज शुरू कर दी तो पता चला कि स्वयं पंचेन्द्रियां स्वार्थवश परमार्थ की प्राणघातक बनी हुई हैं। क्या सचमुच इंद्रियों का दोष है ? पंच प्राणों का आधार पंचेन्द्रियां हैं तो वे दोषी कैसे ? न खायें, न सुनें, न सूघें तो जीवित कैसे रहें ? जीवन परमार्थ का साधन

ही तो है। परमार्थ के लिए भी शरीर तथा इन्द्रियों का व्यापार अनिवार्य है। पर वे अपने धंधे में मुझे क्यों घसीटें। वे अडंगा न डालें तो मेरा मार्ग एकदम प्रशस्त है। कैसे ?

'अन्नमय प्राणं'—इसलिए पहले खाने की ही बात लें। अंतड़ियों को अन्न चाहिए, स्वाद से उनको कोई सम्बन्ध नहीं। तीन इंची की यह जीभ हर कौर पर अकारण आक्रमण करती है। जीभ क्या है, पेट के राजमार्ग पर बत्तीस बरछी-बंद सिपाहियों के साथ बटमार बनी बैठी है। करना-धरना कुछ नहीं, चाब-चाट कर कौर को चलता कर देता है। क्यों ? केवल अपने स्वार्थ के लिए। न दांत स्वाद लेते हैं और न जबड़े। जीभ अपनी दुपल्ली झिल्ली में किसी का साझा सह नहीं सकता। मुंह में चोंगा देकर गले में खाना उतार दें तो पेट सारे शरीर को आप बांट देगा। अनशनकारी सत्याग्रहियों को जेल के अस्पतालों में जब जबरी खाना खिलाया जाता है तब जीभ कट कर रह जाती है। स्वाद का सम्बन्ध जीभ से है, जीव से नहीं।

जीभ की साधना अधिक कठिन नहीं। स्वयं लेखक का अनुभव सुन लीजिए। जेलखानों के अंदर एक अनशन में जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट-सिविल सर्जन ने जेलर को हुक्म दिया कि अनशन के दिनों में भी मेरी कोठरी में रोटी की पूरी ख़ुराक रख दिया करे। जवाबी कार्रवाई मैंने भी की। वार्डर के हट जाते ही सभी रोटियां सिरहाने अपने जेली बिस्तरा मूंज के फट्टे के नीचे रख लिया करता। जेल के अधिकारी न जाने क्या समझते रहे। पांच दिन तक यही क्रम चलता रहा। वे रोटी रखते जायें और मैं फट्टे के नीचे दबाकर उस पर लेटा करूं। हर सोमवार को सुपरिन्टेन्डेन्ट जेल के कैदियों की परेड देखता है। जब उन्होंने मेरे कमरे में प्रवेश किया तो देखते क्या हैं कि पांच दिनों की रोटियों को बिस्तर के चारों ओर सजा कर बीचोंबीच मैं लेटा हुआ हूं। सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कहा, ऐसे योगी के साथ हमारी जुगत क्या चलेगी। कोई भारी झगड़ा नहीं था, समझौता हो गया। रोटी का तकिया लगाकर भूखे सो रहना भी एक साधना है, जो जीभ क्या जीव को जीतने योग्य बन सकती है।

जेल में बंद रहने के बाद, विशेषकर "सी" क्लास में, रिहाई पर कैदी खाने पर टूट पड़ते हैं। बाजार में जो चीज दीखे, खाने को मन करता है। पिछले अनुभव के आधार पर मैंने निश्चय कर लिया कि अब की रिहाई पर मैं बाहर जब खाने बैठूं तो थाली में जितनी भी चीजें परोसी जायें सबको एक साथ सान कर खा लिया करूं। बरेली (उ० प्र०) जेल से छूटा तो बगल के मुरादाबाद उतरा, जहां काशी विद्यापीठ के मेरे गुरु श्री राम शरण जी का घर था। संयोग की बात,

उसी दिन दिवाली का त्यौहार था। थाली में कई चीजें परोसी गयीं। मीठी खीर भी थी और खट्टी, नमकीन दूसरी चीजें भी थीं। मैं सबको एक साथ सान खा गया। (गुरु पत्नी) माताजी ने पूछा, क्या चाहिए? मेरे पास 'क्या' का सवाल ही नहीं था, सब चीजें दुबारा लेने से तो रहा। फिर भी सच कहें, जाबिर जीभ उस मिलवां भोजन का भी खूब रसास्वादन कर रही थी और शायद इसीलिए मनपसंद खीर को मांगने की इच्छा नहीं हुई।

लोग पेट और जीभ का बहाना बनाते हैं। मगर यह सच है कि न किसी का पेट इतना लम्बा है कि भरे ही नहीं और न जीभ ही इतनी लम्बी है कि हर बडिशी तक पहुंच जाये।

कुछ लोगों की जीभ मर जाती है। जीभ ज्यों की त्यों रहती है किन्तु रसास्वादन की शक्ति जाती रहती है। बहुत गर्म दूध या चाय के पीने पर भी कुछ दिन तक स्वाद का पता नहीं लगता। तब भी लोग खाते हैं और जीते हैं। शरीर यात्रा के लिए जिह्वेन्द्रिय का कोई महत्व नहीं है।

जैसे जीभ मरती है उसी प्रकार बहुतों की आंखें मरती हैं। नाक मरती है, कान मरते हैं, अंधे-बहरे होते हैं। वे देखे बिना, सुने बिना, सूंघे बिना भी जीवित रहते हैं। "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" इस गीता वाक्य के अनुसार इन्द्रियों का व्यापार उनके अपने हित में है। वह उनका स्वभाव है। इन्द्रियों के स्वाभाविक गुणों को आप से सम्बन्धित कर लेना, यही हमारी भूल है। इन्द्रियां हमें भरमाती नहीं हैं, वरन् अपना ही मन हमें भरमाता है।

रूप में, बोल में, चाल-ढाल में और सजधज में संसार में एक से बढ़कर एक हैं। परन्तु जिस पुरुष या स्त्री पर जिसका मन रीझ जाय। उसकी सभी बातें सबसे अच्छी लगती हैं। सचमुच वे सबसे अच्छी क्या सबसे बुरी भी हों तो आप को अच्छी लगेंगी। श्लोक में जो कुछ कहा गया है उसका अभिप्राय यही है। अपने दोष को इन्द्रियों के सिर जो मढ़ता है वह स्वयं दोषी है। मन का खोट दूर हो जाय तो न किसी युवती या युवक में दोष दिखाई पड़ेगा। और न इन्द्रियों को कोसने की नौबत आयेगी।

श्लोक का आरम्भ शब्द 'इह'—यहां, इस संसार से होता है। इहलोक, परलोक पर संदर्भानुसार दो शब्द कह डालना असंगत न होगा। इहलोक अर्थात् इस संसार को निकृष्ट मानना किसी संसारी जीव को शोभा नहीं देता। संसार स्वयं स्वर्ग है यदि उसे स्वर्गीय बना लिया जाय। स्वर्गीय आत्माओं को भी मानना पड़ेगा कि संसार स्वर्ग का सोपान है। इस नाटकीय संसार से भी स्वर्गारोहण कर सकते हैं। स्वर्गीय सुख की मुक्ति के बाद स्वर्ग से फिर इसी संसार में आना

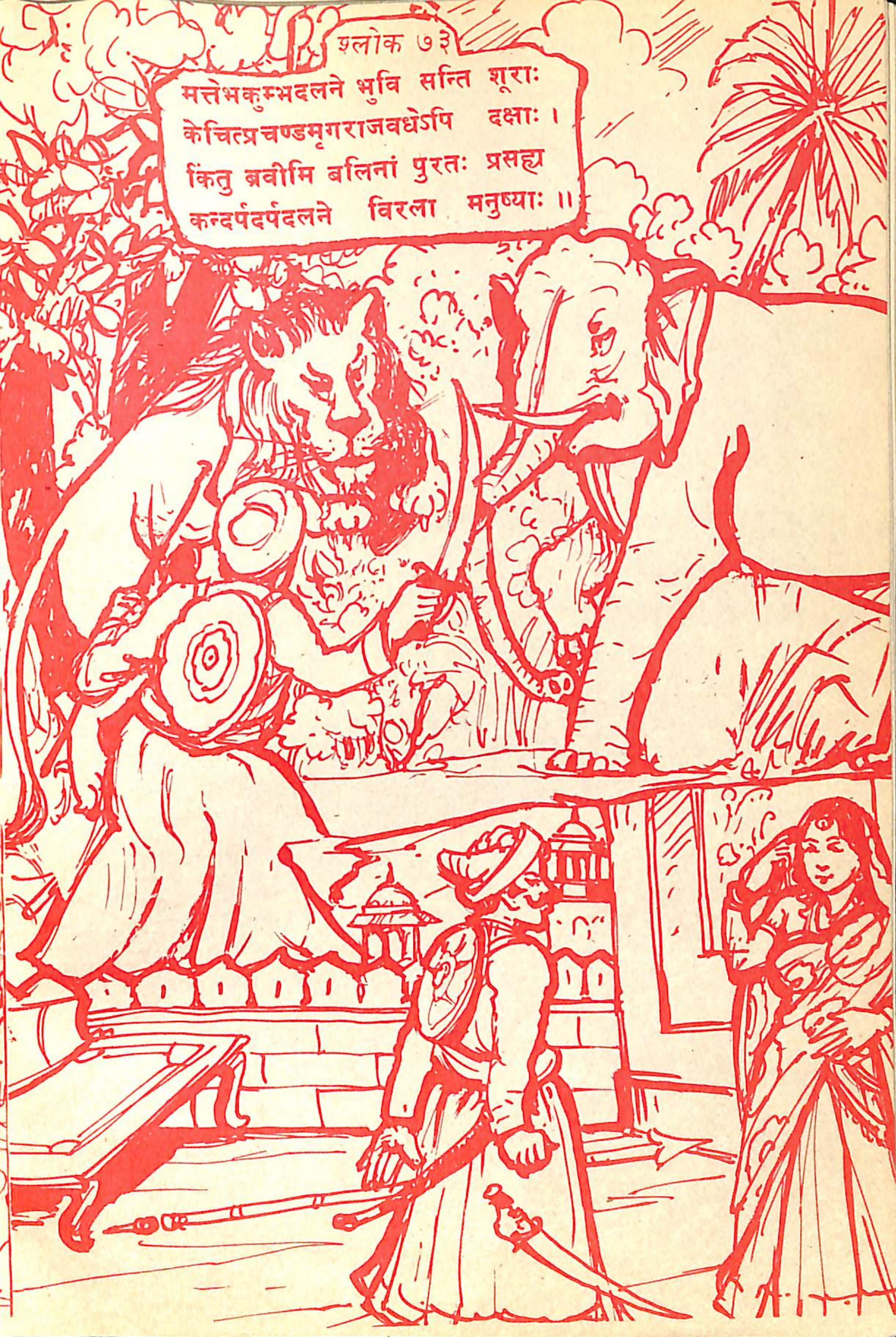

श्लोक ७३

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किंतु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

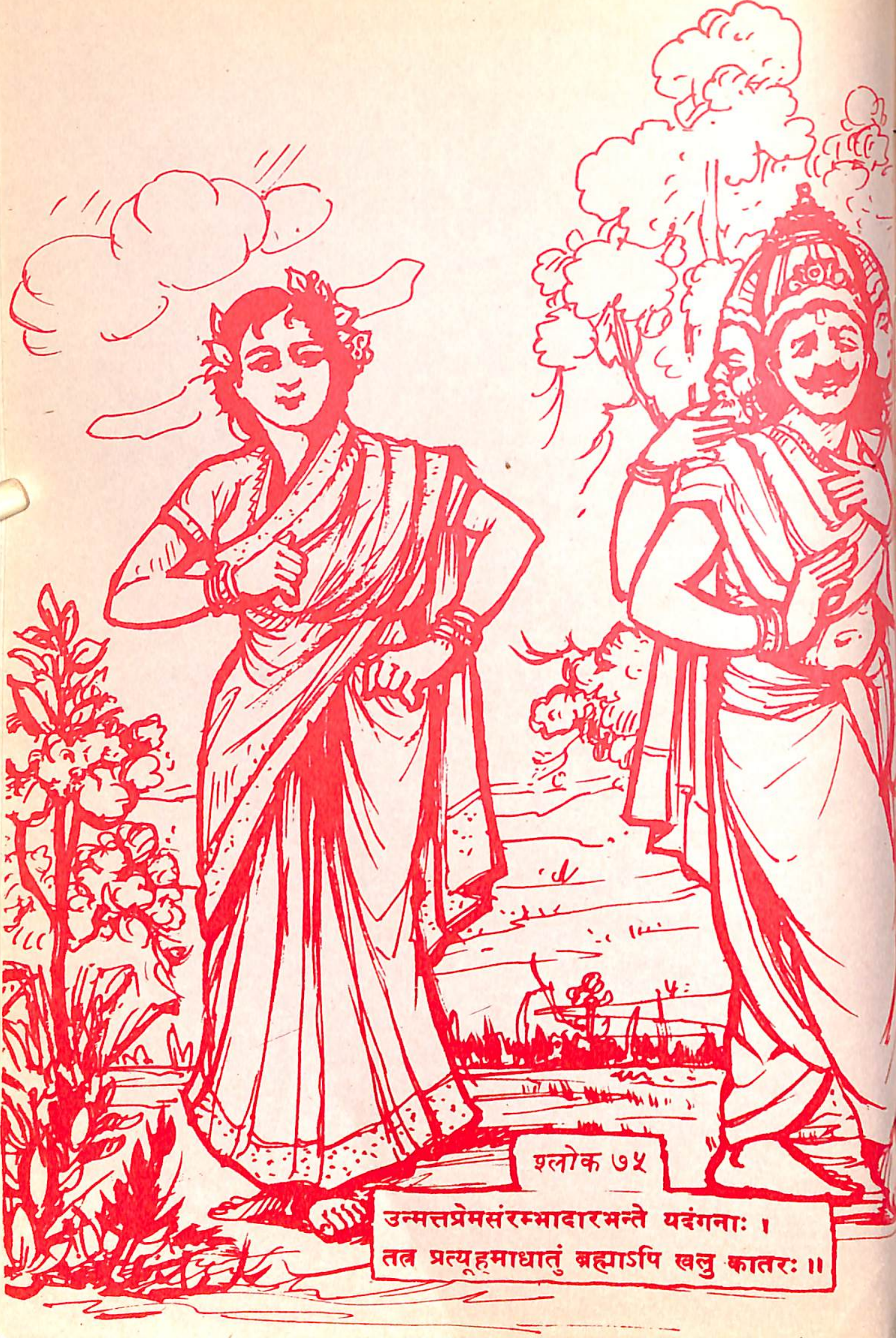

श्लोक ७५

उन्मत्तप्रेमसंरम्भादारभन्ते यदंगनाः ।
तत्र प्रत्यूह्माधातुं ब्रह्माऽपि खलु कातरः ॥

पड़ेगा। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" देवलोक में देवगण स्थाई रूप से भले ही रहें, पर उन्हें परब्रह्म परमात्मा में लीन होने का अवकाश प्राप्त नहीं है। इसका सुयोग इस संसारी जीव मानव को ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिए स्वर्ग के देवगण भी इस मृत्यु लोक में जन्मने को तरसा करते हैं।

श्लोक ६०

मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदि हलाहल मेव केवलम्।
अत एव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते॥

शब्द विच्छेद

निपीयतेऽधरः = निपीयते + अधरः
हलाहलमेव = हलाहलम् + एव
मुष्ठिभिरेव = मुष्ठिभिः + एव

शब्दान्वय

योषितां वाचि मधु तिष्ठति हृदि केवलम् हलाहलम् एव
अतएव अधरः निपीयते हृदयं मुष्ठिभिः एव ताड्यते॥

शब्दार्थ

योषितां = स्त्रियों के
वाचि = मुंह में
मधुतिष्ठति = शहद होता है
हृदि = छाती में, दिल में
केवलम् = मात्र (मगर)
हलाहलम् एव = विष ही होता है

अतएव = इसीलिए
अधरः = ओठ को
निपीयते = चूसा जाता है और
हृदयं = छाती को
मुष्ठिभिः एव = मुक्के ही मुक्के
ताड्यते = मारे जाते हैं

भावार्थ

स्त्रियां अपने मुंह में अमृतमयी मिठास भरे रखती हैं, परन्तु उनकी छाती में अर्थात् दिल में घोर विष भरा रहता है, यही कारण है कि पुरुष स्त्री के अधरोष्ठ मुंह में लेकर मधुपान करते हैं और विष-भरी छातियों पर मुक्के मारते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में साजन-सजनी का गिला सुना था। इस श्लोक में गिला गीला हो चला है। रजनी में वही साजन-सजनी घुल मिल गये हैं। चुम्बन और मर्दन का यह दृश्य ! प्यार और मार का यह मेल कैसा ?

पीछे श्लोक २४, २५, २६ में रति-क्रीड़ा का वर्णन आया है। वहां वैवाहिक जीवन के प्रयोजन की चर्चा थी। इसीलिए वहां पर गार्हस्थ्य जीवन की सीमाओं का ध्यान रखते हुए रति-क्रीड़ा की चर्चा की गयी थी। यहां पर वारांगना अथवा पण्यांगना अर्थात् वेश्याओं की चर्चा चल रही है। पाणिग्रहण की हुई धर्मपत्नी हो अथवा पण्यांगना, तत्काल प्रयोजन मात्र एक ही है। चुम्बन और मर्दन दोनों परिस्थितियों में समान ही है। परन्तु पारिवारिक जीवन में, और भारत में संयुक्त परिवार की परिपाटी है, उपरोक्त २४, २५, २६ श्लोकों में विशेषार्थ के संदर्भ में लेखनी भी लौह-प्लाटीनं की नव-निर्मित कर्कश निब भी कुछ लज्जाशील अवश्य थी। किन्तु इस बीच घिस-पिटकर वेश्या की वेदी पर निरंकुश होती दीख रही है। रोकिए नहीं कलम की रफ्तार को जी०टी०रोड पर दिल्ली के। अटपटी लगे, पर मन-मुटाव की घबराहट का कोई कारण नहीं। मस्ती में हस्ती सभी की रफूचक्कर हो जाती है। मधुबाला की मधुवेला में सब कुछ माफ।

मधुवेला की मस्ती के क्या कहने। वह धूम मचाती है कि प्रेमी युगल के पंच प्राण बलिवेदी पर लपक पड़ते हैं। आपादमस्तक विद्युत स्फुल्लिगों का स्फुरण होता है। कोई किसी का अधर-पान क्या करता है, दोनों प्रयत्नपूर्वक सम्पूर्ण प्राण ही चूस लेने पर तुल जाते हैं।। बत्तीसियों के बीच बच-बचकर समय बितानेवाले जीभों में वह दंगामुश्ती मचती है कि मानों भुजंगराज जूझ रहे हैं कि अमृत का अन्तिम बूंद हम ही चाट जायें। बिचारे दांत पीस-पीसकर रह जाते हैं। बाहर बदला चुकाते हैं। गाल, गला, पेट, पीठ, कुचा-कटि, जांघ नितम्ब, पिंडली, पांव जहां दांव लगे वहीं काट खाने दौड़ते हैं। जीभ कहां तो मुंह का मजा ले रही थी। अब तलुए चाट रही है। मधुर पान के बाद नमकीन रस का

अधिक स्वादुमय लगना स्वाभाविक है। मुंह का चस्का उंगलियों में चुलबुली लाता है। पंजाबाजी मुक्केबाजी से लतव्वल तक नौबत आ जाती है। मस्ती सभ्यता की चीर उधेड़ कर नग्ननृत्य करती है। कसे-कसाये पहलवान हैं कि अनकस बन दंगल में दंगामुश्ती पर उतारू हैं। शहजोर कमजोर का सवाल नहीं, एकदम बराबर की जोड़ी है। न जाने एक-दूसरे को निगल जाना चाहते हैं कि पूर्णतया एक-दूसरे में समा जाने पर तुले हैं। साष्टांग दण्ड प्रणाम है कि आबद्ध अष्टांग आलिंगन। अन्योन्य आत्म समर्पण है कि आतताई आक्रमण। प्रचण्ड असहयोग आन्दोलन है, कि सहयोगमय भीषण संघर्ष। पटका-पटकी से धरती दहल उठी है। प्रेम-पुजारी जानो प्राणलेवा हिंसक जन्तु बन गये हैं। बिल्ली की खरोंच है, कुत्ते की दबोच भी। शेर का झपटन है, शृंगाल का दुबकन भी। मगर की जकड़ है मीन की लचक भी। मोर का नाच है कबूतर की गुटुरगूं भी। गरमी की हांफ है सरदी की सीत्कार भी। आकाश के सूर्यचन्द्र धरती पर माटी फांक रहे हैं। दंताघात और नखक्षत से शरीर नक्षत्र-मंडल बने हुए हैं। सौ बात की एक बात, सिरजनहारे ने पृथ्वी आकाश में जो चित्र-विचित्र सृष्टि रची है वह सारी की सारी मधुबेला में अपनी भरपूर लीला प्रस्तुत कर रही है। प्रकृति में पुरुष लीन हुआ जा रहा है। आज का यह सुन्दर समागम संघर्ष का भीषणरूप धारे सारे सृष्टि का एक बार निरीक्षण-परीक्षण कर प्रयोगशाला में एक और निर निराला रूप रचने के लिए समुद्र-मंथन में संलग्न है, जिसमें अमृत है, विष है और कौस्तुभ है। अमृत चखेंगे। विष की गांठ गटई में लिपट जायेगी और कौस्तुभ गले का हार बनेगा।

प्राणी का जन्म लेना जन्म देने के लिए है और जहां से आया वहां जाने के लिए है। यही ज्ञानयोग का प्रथम अध्याय है। यहां कर्मयोग का नवजात शिशु का ज्ञान स्पर्श से आरम्भ होता है। बच्चा मां के साथ क्या-क्या नहीं करता और मां कैसी आनंदविभोर हो जाती है। परम पिता परमात्मा और प्रकृति माता परमेश्वरी इस प्रेमलीला को शायद क्या निश्चय ही बाल-लीला ही मानेंगे। प्रेमी प्राणियों के कर्मेन्द्रियों का यह सारा व्यापार ज्ञान पिपासा तृप्ति का हेतु है। तपस्वी चर्मचक्षु मूंदकर ज्ञानचक्षु खोल आनन्द-सागर में विभोर होता है और यह प्रेमी युगल एकाक्षी समागम में एकात्मा हो जाते हैं। अनिर्वचनीय आनन्द में खो जाते हैं। 'एकाक्षी लोक संहारी'।

लोक-निर्माण को लोक-संहार कैसे कहें। स्त्री-पुरुष को कोई कहता है पुरुष पेड़ है जिसपर बेल लिपटी है। कोई कहता है पुरुष की पसली से स्त्री बनी है। कोई कहता है 'करमगति' ललाट रेखा है। सुकरात ने ही सबसे

सीधी बात कही है कि स्त्री और पुरुष को भगवान ने पहले एक ही जैसा बनाया था। देखा कि उससे कुछ काम बना नहीं। सृष्टिकर्ता बड़ी सोच में पड़ गये। पर कुछ सूझा नहीं। आव देखा न ताव, एक शरीर से कुछ लोथड़ा काट दूसरे से चिपका दिया। एकाकार से दो भिन्नाकार बन गये। अलगाव भला किसे पसन्द होगा। जहां का लोथड़ा तहां पहुंचने की चेष्टा ने सृष्टिकर्ता को सुस्ताने का अवसर दिया और मानव 'मेरी-तेरी' के चक्कर में पड़ गया। मगर प्रेमियों ने 'मेरी-तेरी' को मिटाकर 'हमारी' की स्थापना की और सृष्टिकर्ता की परियोजना का प्रयोजन मात्र किया। इस संसार के प्रणेता कौन ? हमारे यही प्रेमी युगल-विषामृत के अनन्य भक्त, दो दीवाने हैं जो एक-दूसरे पर परवाना-वार निछावर हैं। प्राणार्पण को पुरुषार्थ मानते हैं।

श्लोक ६१

धन्यास्त एव धवलायत लोचनानां
तारुण्यदर्पघनपीनपयोधराणाम् ।
क्षामोदरोपरि लसस्त्रिवलीलतानां
दृष्ट्वाकृतिं विकृतिमेति मनो न एषाम् ।।

शब्द विच्छेद

धन्यास्त एव = धन्यः + ते एव
धवलायत = धवल + आयत
क्षामोदरोपरि = क्षाम + उदर + उपरि
लसस्त्रिवली = लसत् + त्रिवली
दृष्टवाकृतिं = दृष्ट्वा + आकृतिं

शब्दान्वय

धवला आयत लोचनानां तारुण्य दर्प घन पीन पयोधराणाम्
क्षाम उदर उपरि लसत् त्रिवली लतानां आकृतिं दृष्ट्वा

एषाम् मनः विक्रतिम् न एति ते एव धन्याः

शब्दार्थ

धवला = उज्जवल
आयत = बड़ी-बड़ी
लोचानानां = आंखोंवाली,
तारुण्य = यौवन के
दर्प = मद से
घन = खूब
पीन = पुष्ट
पयोधराणाम् = छातियोंवाली
क्षाम = पिचके
उदर उपरि = पेट पर

लसत् = शोभायमान
त्रिवली लतानां = तिबल की बेल पड़ी हो, (ऐसी)
आकृतिं = मूर्तियों को
दृष्ट्वा = देखकर
एषाम् = जिनके
मनः = मन
विक्रतिम् = विकार को
न एति = न प्राप्त हों
ते एव = वे ही
धन्याः = धन्यात्मा हैं।

भावार्थ

चंचल आंखें चमक रही हों, मस्त छतियां उभर रही हों, पेट पिचका हो और पेट पर तिबली नाच रही हो, पतली कमर से बोझल नितम्ब झुक रहे हों, ऐसी सुन्दरांगी सामने से निगल जाय और किसी का दिल बेकल न हो जाए, यह कैसे हो सकता है। यदि कोई विचलित न हुआ तो उसे महान् धन्यमान ही मानना होगा, केवल ऐसे व्यक्ति को ही अन्यान्य वेषधारी नहीं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में कहा गया था कि नीचातिनीच श्रेणियों के व्यक्ति ही वेश्यागमन में रत होते हैं और स्वयं वेश्या भी वैसी ही नीच प्रकृति की होती हैं। प्रस्तुत श्लोक से नया प्रकरण आरंभ होता है। इसमें भद्र पुरुषों की चर्चा है। विशुद्ध आत्माओं के विशिष्ट गुणों का वर्णन इसमें आता है।

"कामिनी कान्त कान्तारे, मा संचर मनः पान्थ" के ५६वें श्लोक में कामिनी के रूप-सौन्दर्य से सावधान किया गया था। इस श्लोक में रमणी का रेखा-

चित्र प्रस्तुत है जिसके सामने वेश्या का सौन्दर्याडम्बर नगण्य-सा है और ५७वें श्लोक में बरबस इन्द्रियों को आकृष्ट करनेवाले वह नृत्य गीत यहां नग्नता को प्राप्त होते हैं। ऐसी मनोहर मूर्ति का दृश्य जिस पुरुष के मन को विकृत न करे वह सचमुच धन्य है।

मन को आकृष्ट होने और विकृत होने में भारी अन्तर है। सौंदर्य दैवीगुण है। प्राकृत-सौंदर्य की ओर आकृष्ट हो जाना मानव का स्वाभाविक गुण है। इस गुणात्मक आकर्षण के कारण साधारण व्यक्ति को लांछित करने का अवकाश नहीं है। सुन्दर बालक-बालिकाओं को देखकर मन को प्रसन्नता होती है तो लावण्यवती रमणियों के दर्शन से भी आनन्द का अनुभव होना चाहिए। क्या संग्रहालयों में कलापूर्ण शिला मूर्तियों को देखकर मन को प्रसन्नता नहीं होती? साधरणतया सभी लोग गांव के हरे-भरे खेतों और शहर के पार्क उपवनों से, पहाड़ी झरनों से और शहरी फव्वारों से, पालतू पशुओं से और स्वच्छंद पंछियों से आनन्द विभोर हो जाते हैं। सुन्दर वस्तुएं प्राणों की तंत्रियों को छू जाती हैं और पंच-प्राण झनक उठते हैं। जिसके मन में यह झंकार उत्पन्न न हो, वह मानव नहीं शिला-खंड मात्र है। गुणातीत आत्माओं की बात निराली है।

इसके विपरीत विकृति मन का विकार है। विकृत मानव वास्तव में दानव है, चोर है और मन उसका भिखारी है। ललना पर उसका मन ललचायेगा, मिठाई पर मर जायेगा, पैसे पर प्राण देगा, परन्तु जी उसका कभी न भरेगा। पहाड़ी चट्टान अच्छी लगती हैं, क्या उन्हें कोई निगल जायेगा? क्या कोई नदी को पी डालेगा तब कोई किसी अबला को भोगने की इच्छा क्यों करे? किसी का रुपया-पैसा उड़ाने की चेष्टा क्यों करे? यह एक भयानक रोग है। छूत की बीमारी है। इससे वातावरण दूषित होता है। समाज बिगड़ता है। मनोरोग के अस्पतालों में विधिवत् इनकी चिकित्सा होनी चाहिए। अस्तु।

पुण्यात्मा ही ललना के लावण्य पर विचलित न होंगे, केवल पुण्यात्मा जिनके मन में कोई पाप न हो। ऐसे लोग न पर-स्त्री के पीछे पागल हो जायेंगे और न पराये धन पर गीध बन कर टूट पड़ेंगे। सभी लोग उन्हें प्रेम और आदर से देखेंगे और उनके जीवन को धन्य मानेंगे। परन्तु गृहस्थ भी तो संन्यस्त होने की चेष्टा करते हैं। श्लोक में 'ते एव' कहकर कड़ी शर्त लगा दी गयी है।

श्लोक ६२

बाले लीलामुकुलितममी मन्थरा दृष्टिपाताः
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थं एष श्रमस्ते।
संप्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोक्यामः॥

शब्द विच्छेद

मुकुलितममी = मुकुलितम् + अमी
श्रमस्ते = श्रमः + ते
संप्रत्यन्ये = सम्प्रति + अन्ये
वयमुपरतं = वयम् + उपरतम्
बाल्यमास्था = बाल्यम् + आस्था
मोहस्तृणमिव = मोहः + तृणम् + इव
जगज्जालमालोक्यामः = जगत् + जालम् आलोक्यामः

शब्दान्वय

बाले लीला मुकुलितं अमी मन्थरा दृष्टिपाताः किं क्षिप्यन्ते
विरम विरम ते एष श्रमः व्यर्थः संप्रित वयं अन्यः
बाल्यं उपरतं बनान्ते आस्था मोहः क्षीणः
जगत् जालम् तृणम् इव आलोक्यामः

शब्दार्थ

वाले = हे बाले
लीला मुकुलितं = भाव भरी, अधखुली
अमी मन्थरा = यों अलसाई
दृष्टिपाताः = चितवनें
कि क्षिपयन्ते = क्यों छिटकाये जा रही है
विरम विरम = थम जा, थम जा
ते एष श्रमः = तेरा यह प्रयास
व्यर्थः = बेकार है (क्योंकि)
संप्रति = अब
वयं अन्यः = कुछ और हैं,
बाल्यं उपरतं = लड़कपन छूट गया है
बनान्ते आस्था = वन में मन अटका है,
मोहः क्षीणः = मोह टूटा है
जगत जालम् = संसार के जंजाल को
तृणम् इव = तिनके के समान
आलोक्यामः = देखते हैं।

भावार्थ

हे अलबेली, तू अपनी भाव-भरी अधखुली आंख से मेरी ओर ताका न कर। तेरा यह प्रयास व्यर्थ है। अब हम वह नहीं रहे, कुछ और ही हो चुके हैं। हमारा वह लड़कपन छूट चुका है और मन वन में जा अटका है। संसार का मोह टूट चुका है। सारा जगत् हमारे सामने तिनके के समान है। इसलिए तू मेरी आस छोड़ दे और अपनी राह ले।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में पुरुष का आदर्श प्रस्तुत था। शब्द 'ते एव' इसी को सूचित करते थे। इसमें उस आदर्श की ओर बढ़ने में सबसे बड़ी अड़चन प्राणेश्वरी प्रेयसी की ओर से उपस्थित है। श्लोक में 'जगत् जाल' शब्द इसी भावना को व्यक्त करता है। गृहिणी से ही गृहस्थी का खटराग फैलता है। विरक्त यदि गृहिणी का मोह त्याग सके तो सारा जंजाल आप ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। विरक्त पुरुष दण्ड-कमण्डलु सम्हाले वनोन्मुख हो जाता है। प्राणेश्वरी के प्राण सूखने लगते हैं। उसके हृदय पर गाज गिरती है। बहुत कुछ अनुनय-विनय करती है। पैरों पड़ती है। गले से लिपट जाती है। झाड़कर पति उसे दूर कर देता है। बिचारी धरती पर गिर पड़ी है। करवट के बल उठने की चेष्टा में बाहों पर शरीर को कोणाकार में थामे माथा मोड़ पीछे पति की ओर दीनता से देखती है। उस भीभत्स दृश्य में दया है, दीनता है, अनुराग है, आवाहन है, आकर्षण भी है और हाहाकार भी। क्षण-भर में उसके मुख-पटल पर जीवन-भर का चित्र चलचित्र के समान आया और निकल गया—मूक चित्र। मुख से एक शब्द नहीं, पर सब कुछ कह दिया पत्नी ने उस दशा में।

वनोन्मुख पति को एक अभियुक्त की भांति सभी अभियोगों को स्वीकारते हुआ कहना ही तो पड़ा—संप्रति वयं अन्यः—अब हम पहले के 'वह' नहीं रहे। अच्छा जवाब है। यानी तब और कुछ थे। यह प्रेम-बंधन तभी का तो है। वही प्रेमांकुर लम्बी-चौड़ी लता बनकर दोनों को चारों ओर से घेर चुकने के बाद अकेले पुरुष को उसी जगज्जाल को जिसका कारण वह स्वयं भी है, अब वह उसी को तृण-समान मानने का अधिकारी कहां है? 'ते श्रमः व्यर्थः', कहा तो है परन्तु व्यर्थ प्रयास किसका है? विरक्त पति का या विरक्ता पत्नी का? पत्नी अपनी जगह पर है, पति ही भाग खड़ा है। कहता है 'मोह टूटा', एकदम झूठ। वनांतरों की

आस्था क्या मोह नहीं है ? गृहस्थी के जंजाल को 'तिनके के समान' कहना भी बकवास है । संसार-सागर से तरने की इच्छा पति अकेला ही क्यों करे ? इतना बल पौरुष यदि हो तो पत्नी को पीठ पर लादकर तैर पड़े ।

स्पष्ट प्रतीत होना है कि इस विरक्त व्यक्ति में वह अन्यात्मा कदापि नहीं है जिसका आदर्श पिछले श्लोक में प्रस्तुत था । 'वयम् उपरतम्' बाल्यम्, निश्चय ही हमारे इस विरक्त का मन एक बार युवती के लिए व्याकुल रहा है । अनुरक्ति हो अथवा विरक्ति, सदा पत्नी का पल्ला ही भारी पड़ेगा । जब तक किसी अन्य मूल्यवान वस्तु के लिए गाढ़ानुरक्ति न हो जाय तब तक पूर्वानुरक्ति विरक्ति में परिणत नहीं हो सकती । घर छोड़ वन में बस जाना मात्र विरक्ति का द्योतक नहीं है । वन में भी मन को रखने वाला कोई चाहिए । सो श्लोक में उसका संकेत नहीं मिलता । कौन आश्चर्य है कि वन में भी उसके मन को शान्ति प्राप्त न हो सके । विकल्प को क्रियात्मक रूप लेने का अवकाश दिये बिना उसके संकल्प पर संदेह करना अन्याय है । नहीं, तो वह वन की ओर पग बढ़ाता ही क्यों ? पाल में रखो, देखो तो फल पकता है कि नहीं ।

श्लोक ६३

इयं बाला मां प्रत्यनवरतमिन्दीवरदल
प्रभाचोरं चक्षुः क्षिपति किमभिप्रेतमनया ।
गतो मोहोऽस्माकं स्मरशबरबाणव्यतिकर
ज्वरज्वाला शान्ता तदपि न वराकी विरमति ।।

शब्द विच्छेद

प्रत्यनवरतमिंदीवर = प्रति + अनवरतम् + इंदीवर
किमभिप्रेतमनया = किम् + अभिप्रेतम् + अनया
मोहोऽस्माकं = मोहः + अस्माकं

शब्दान्वय

इयं बाला अनवरतम् इंदीवरदल प्रभा चोरं चक्षुः मां प्रति क्षिपति
अनया किं अभिप्रेतम् अस्माकम् मोहः गतः
स्मर शबर बाण व्यतिकर ज्वरज्वाला शान्ता
तदपि वराकी न विरमति ।

शब्दार्थ

इयं बाला=यह युवती
अनवरतम्=सदा (अपनी)
इंदीवर=नील कमल दल के
प्रभा चोरं=कांति के चोर समान
चक्षुः=चितवन
मां प्रति=मेरी ओर
क्षिपति=छितराया करती है
अनया=इस युवती का
किं अभिप्रेतम्=क्या उद्देश्य है
अस्माकं=हमारा

मोहः गतः=भ्रम जाता रहा
स्मर=कामदेव रूपी
शबर बाण=भील के बाणों से
व्यतिकर=पीड़ित
ज्वरज्वाला=बुखार का ताप
शान्ता=मिट चुका है
तदपि=तब भी
वराकी=विचारी
न विरमति=हमें छोड़ती नहीं है, बराबर ताके जा रही है ।

भावार्थ

यह कमल-नयनी अपनी नजर सदा मुझ पर गाड़े रहती है । मेरा मोह टूट चुका है । भीलरूपी उस कामदेव के बाणों की टीस मिट चुकी है । मगर बिचारी अब भी मुझे ताके जा रही है । आखिर, यह छोकरी मेरा क्या लिया चाहती है, क्यों मेरा पीछा करती है ?

विशेषार्थ

बात अब बाहर पड़ी है । पिछले श्लोक में भीतरी बात थी । वहां पति-पत्नी में वाद-विवाद चल रहा था । रोना-पीटना भी हुआ होगा । घर के भीतर की बात गांव-भर में फैल गयी कि महाराज घरवाली को त्याग कर बनमाली बनने जा रहे हैं । गांव-मुहल्ले के बड़े-बुजुर्ग समझने-समझाने के लिए आ जुटते हैं । घरवाली गिला-शिकवा करती है । सम्भव है क्रोध में कुछ लांछन भी लगाये हों । संन्यासारूढ़ महाशय की सफाई भी यहां सुनने योग्य है :

महाशय ने अपनी विरक्ति के दो कारण दिये हैं—"एक मोह मिट गया, दूसरे यौवन बैठ गया।" यदि यही दो कारण हैं विरक्ति के तो उनकी यह विरक्ति व्यर्थ है, निरर्थक है। लगता है कि गृहिणी ने सीधे-सीधे या घुमा-फिराकर महाशय पर जो लांछन लगाये वे उसी की सफाई दे रहे हैं कि मुझे किसी अन्य स्त्री का मोह वन में घसीटे नही ले जा रहा है। वैसे वह कह तो गये कि "स्मर शबर बाण" अर्थात् कामदेव के तीर उन्हें अब छेद नहीं पाते, किंतु पत्नी-शबरी के तीरों की बौछार ने पतिदेव के जिगर को छननी कर डाला। और महाशय जी क्रोधावेश में पत्नी को जो जली-कटी सुना गये, बिचारी पत्नी भरी मजलिस में कट कर रह गयी।

महाशय जी बौखला कर बोल गये—देखो तो बच्चे बड़े हो गये, आप बूढ़ी हो गयी, तब भी इसका व्यामोह कि अपनी वांछा को मेरी आकांक्षा बताती है, बाला बनती है, बलायें लेती है, शर्म नहीं आती छोकरी की तरह आंख मारती है—'चक्षुः क्षिपति' का शब्दार्थ हिन्दी मुहावरे में यही हो सकता है, न हो भले ही।

भद्र दम्पति-युगल पर इस प्रकार आक्षेप-विक्षेप, विनोदात्मक ही क्यों न हो, यह सरासर अन्याय है। पत्नी के प्रति 'बाला' 'वराकी' के शब्द परस्पर प्रेम एवं अत्यंतिक करुणाभाव को प्रदर्शित करते हैं। 'इंदीवर प्रभा चोरं' कहकर पति ने पत्नी को मन-चोर की उपाधि दे दी या भरी सभा में मान लिया कि स्वयं उसके मन में चोर बैठा हुआ है। 'किम् अभिप्रेतम्,' मेरा क्या किया चाहती है, इन अंतिम शब्दों से लगता है कि पतिदेव कर्मण्य विमूढ़ होकर दुहाई देते हैं हे देवी, मेरा उद्धार कर।

श्लोक ६४

किं कन्दर्प शरं कदर्थयसि रे कोदण्डटंकारितै
रे रे कोकिल कोमलं कलरवं किं वा वृथा जल्पसि।
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्ध मधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूड़चरणध्यानामृतं वर्तते॥

शब्द विच्छेद

मधुरैर्लीलैः = मधुरैः + लीलैः
कटाक्षैरलं = कटाक्षैः + अलं
चेतश्चुम्बित = चेतः + चुम्बित
ध्यानामृतं = ध्यान + अमृतं

शब्दान्वय

रे कंदर्प कोदण्ड टंकारितैः शरं किं कदर्थयसि
रे रे कोकिल कोमलं कलरवं किं वृथा जल्पसि
मुग्धे स्निग्ध विदग्ध मुग्ध मधुरैः कटाक्षैः अलम्
चेतः चन्द्र चूड़ चरण ध्यान अमृतं चुम्बित वर्तते ।

शब्दार्थ

रे कंदर्प = अरे कामदेव
कोदण्ड टंकारितैः = कमान की तान बजा-बजा कर
शरं = अपने बाण
किं कदर्थयसि = क्यों व्यर्थ खोता है
रे रे कोकिल = हे कोयल, तू भी
किं वृथा = क्यों बेकार,
कोमल कलरवं = कोमल कूक
जल्पसि = सुनाती है
मुग्धे = हे सुंदरी (तू भी अपने)
स्निग्ध = तरल
विदग्ध = चतुर
मुग्ध = मनोहर (और)
मधुरैः = मीठी,
कटाक्षैः = चितवनें
अलम् = बसकर (क्योंकि)
चेतः = मेरा मन
चंद्रचूड चरण = चंद्रमौलीश्वर के चरणों के
ध्यान अमृत = ध्यानरूपी अमृत को
चुम्बित वर्तते = चखते हुए (परमानंद में) है

भावार्थ

अरे कामदेव कमान की तान बजा-बजाकर क्यों तू थका जाता और अपने तीर क्यों बेकार खोता है ? अरी कोयल, तू क्यों पगली हुई जाती है कोमल बोल-बोलकर । हे रमणी तू भी अपने मधुर वचन, चतुर, चाल तथा चंचल चितवनें बस कर, क्योंकि ये सब

प्रयास अब एकदम व्यर्थ हैं। मेरा चित्त शंकर भगवान के चरणों में लीन होकर आनंदामृत का पान कर रहा है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में प्रकट हो चुका है कि हमारा मोक्ष-कामी अभी परिपक्व नहीं हुआ है। लोगों के कहने-सुनने पर सम्प्रति गृहत्याग को स्थगित कर घर पर ही साधना में लगा हुआ है। पहले वन को चलने चला था, पर मन खाली था। अब उस मन-मंदिर में गुरुपदेश आदि से शंकर भगवान की प्रतिष्ठा हो चुकी है। ध्यान में आनंद का अनुभव करने लगा है। समझ चुका है कि कामवासना पर काबू पाये बिना काम नहीं चलेगा। उसमें कुछ सफल भी हुआ है। यह कैसे हो सका ? मन की एकाग्रता से।

जिस मन में पहले पत्नी विराजमान थी वहां अब पशुपति शंकर भगवान का अधिष्ठान है। है कि नहीं, कैसे पता चले ? स्त्री सांगत्य में जो क्षणिक सुख का अनुभव होता था, शंकर के सान्निध्य में उससे बढ़कर आनन्द का अनुभव होता जा रहा है। और वह आनंद भी क्षणिक न होकर स्थाई होता जा रहा है। ध्यानामृत इसीलिए कहा है कि उसमें क्षति या ह्रास नहीं है। समाधि का आनंद पाने के बाद सम्भोग-सुख से अपने आप अरुचि हो जाती है और उससे निवृत्ति भी हो जाती है। तभी वह कामदेव को ललकार सकता है—रे कंदर्प, तू तीर मार-मार कर हार जायेगा मगर मेरे मन को कातर न कर पायेगा। जिस शंकर ने अपने ज्ञान चक्षु की ज्वाला से मन्मथ को भस्म कर डाला था उस शंकर के सान्निध्य में कामदेव की गुजर ही कैसे हो सकती है ? जहां सच्चिदानंद है वहां संभोगानन्द के लिए स्थान नहीं है।

यही कारण है कि जिस कोकिल की कूक से मन व्याकुल हो जाता था वही अब उसे बेकार बकवास लग रही है। पत्नी को भी फटकार रहा है कि बस बस, तेरी चितवनें मेरे चित्त को चंचल नहीं कर सकतीं। मगर अभी कसर है। कंदर्प के बाणों का भान अभी है, प्रभाव भले ही न हो, कोयल की बोल सुनाई पड़ती है, भले ही मन डोलता न हो। 'बस, बस' भले ही करे, पत्नी अभी मुग्धा, स्निग्धा जचती है। साधक अनुभव कर रहा है कि ये सब मेरे ध्यान में बाधा डाल रहे हैं। तभी तो क्रोध में आकर—रे कंदर्प, री री कोकिल, अरे, तुरे, बक रहा है, बिगड़ रहा है बस बस, कहते हुए आपे से बाहर हो रहा है। 'कामः क्रोधेऽभि जायते,' जहां काम वहीं क्रोध।

गुरुदेव मुस्कराते हैं और कहते हैं—"बच्चा अभी बच्चा है, साधेगा, धीरे-धीरे, राम भला करेगा।" साधक गृहस्थाश्रम से सीधे संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहता था। गुरु के आदेश पर वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर घर पर ही साधना कर रहा है। मनोनिग्रह में बहुत कुछ सफल हुआ है। अभी कुछ कसर है, सो उसे भी दूर करने की चेष्टा कर रहा है।

श्लोक ६५

विरहेऽपि संगमः खलु परस्परं संगतं मनोयेषाम् ।
हृदयमपि विघटितं चेत्संगो विरहं विशेषयति ॥

शब्द विच्छेद

विरहेऽपि = विरहे + अपि
हृदयमपि = हृदयम् + अपि
चेत्संगो = चेत् + संगो

शब्दान्वय

येषाम् मनः परस्परं संगतं विरहे अपि संगमः खलु
हृदयं विघटितं चेत् संगः अपि विरहं विशेषयति

शब्दार्थ

येषाम् = जिनके
मनः = मन
परस्परं = आपस में
संगतं = मिले हों
तेषाम् = उन्हें
विरहे अपि = जुदाई में भी
संगमः खलु = मेल ही है
(किन्तु जिन के)
हृदयं = मन
विघटितं चेत् = टूट चुके हों (उन्हें)
संगः अपि = साथ रहना भी
विरहं = जुदाई से
विशेषयति = अधिक खटकता है।

भावार्थ

जिन स्त्री-पुरुषों के मन मिले हों वे जुदाई में भी अपने को साथ-साथ पाते हैं। परन्तु जिनके मन टूटे हों, भले ही साथ-साथ रहें, संगति उन्हें अधिक खटकती है।

विशेषार्थ

वान प्रस्थाश्रम साधक की अच्छी कसौटी है। घर पर हैं। पत्नी पुत्र साथ हैं। परस्पर प्रेम आदर पूर्ववत् है। पर साधक को किसी से कोई सरोकार नहीं। कमल पानी में है, पर पानी उसे भिगो नहीं पाता। संग है पर सांगत्य नहीं। तन घर में है पर मन वन में। घर वालों को भी यह भली-भांति ज्ञात है। तन का मेल नहीं, पर मन-मेल है और जहां मेल हो वहां मैल नहीं। सबके मन शुद्ध हैं और परस्पर विशुद्ध प्रेम का वातावरण है। ऐसी दशा में संग में निस्संग है और निस्संग में भी संग। संयोग, वियोग का प्रभाव उन पर कभी नहीं पड़ता।

इसके विपरीत जहां मनों में मेल का अभाव हो वहां साथ-साथ रहने पर भी सदा खट-पट चला करती है और अलग-अलग रहने पर भी किसी को शांति नहीं मिलती। इस प्रकार का संयोग और वियोग दोनों ही कष्टदायी और दूषित हैं। पत्नी बच्चों के साथ मगन रहना चाहती है और पति घर-द्वार से निश्चिन्त होकर ईश्वर ध्यान में लीन रहना चाहता है। दोनों के विचार ही भिन्न-भिन्न हैं तब दोनों में मेल कैसे हो सकता है। मन-मेल का अभिप्राय यह नहीं कि दोनों के विचार एक ही प्रकार के हों। मन-मेल का मतलब है अपने विचार के अनुसार कार्य करना और साथ ही दूसरे के विचारों का आदर करना। इसी प्रकार एक-दूसरे के विचारों का खंडन न करना और हो सके और यदि आवश्यकता पड़े तो उसमें सहायता करना। राग-विराग में, घर-गृहस्थी में, रोजगार-धन्धे में, धर्म-कर्म में, भाषा और प्रदेश में, राज-काज और देशभक्ति में, सब में यहां तक कि खाने-पहनने और बोलने-चालने में मेल-मिलाप का मतलब यही होता है। मन मेल के माने है अंतस्थ की आत्मीयता। बाह्य रूप की भिन्नता से अंतस्थ प्रभावित नहीं होता। समाज की धारणा ही स्वयं अनेकता में एकता के दर्शन पर है। इस दृष्टि से बनवासी विरक्त भी समाज का पोषक है और ऐसा उच्चतर पोषक कि समाज अपने तुच्छ पारितोष से उसको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। विरक्ति के माने हैं जीवन-दान और जीवन का मूल्य आंका नहीं जा सकता।

हमारा विरक्त सतत साधना से उस स्थिति को प्राप्त हो चुका है। यदि उसका

मन वन में जा रहने को कहता है तो पत्नी को चाहिए कि मनःपूर्वक उसे विदा करे। ठीक उसी तरह विदा करे जैसे प्राचीन काल में विदुषी वीरांगनाएं अपने पतियों को रणांगन के लिए आरती फेर कर विदा करती थीं।

श्लोक ६६

किं गतेन यदि सा न जीवति
प्राणिति प्रियतमा तथापि किम् ।
इत्युदीक्ष्य नवमेघमालिकां न प्रयाति
पथिकः स्वमन्दिरम् ।।

शब्द विच्छेद

इत्युदीक्ष्य = इति + उदीक्ष्य

शब्दान्वय

सा प्रियतमा न जीवति यदि गतेन किम्
यदि प्राणिति तथापि (गतेन) किम्
इति पथिकः नव मेघमालिकां उदीक्ष्य
स्वमन्दिरं न प्रयाति

शब्दार्थ

सा प्रियतमा = सजनी
न जीवति यदि = जीवित न हो तो
गतेन किम् = मेरे घर लौट जाने से क्या प्रयोजन
यदि प्राणिति = यदि जीवित हो
तथापि = तब भी
गतेन किं = जाने का क्या मतलब
इति (मत्वा) = इस प्रकार सोच-विचार कर,

पथिकः = एक बटोही
नव मेघमालां = घुमड़-घुमड़ कर आने वाले बादलों को,
उदीक्ष्य = ऊपर (आकाश में) लखकर
स्वमन्दिरं = अपने घर
न गच्छति = लौटता नहीं है।

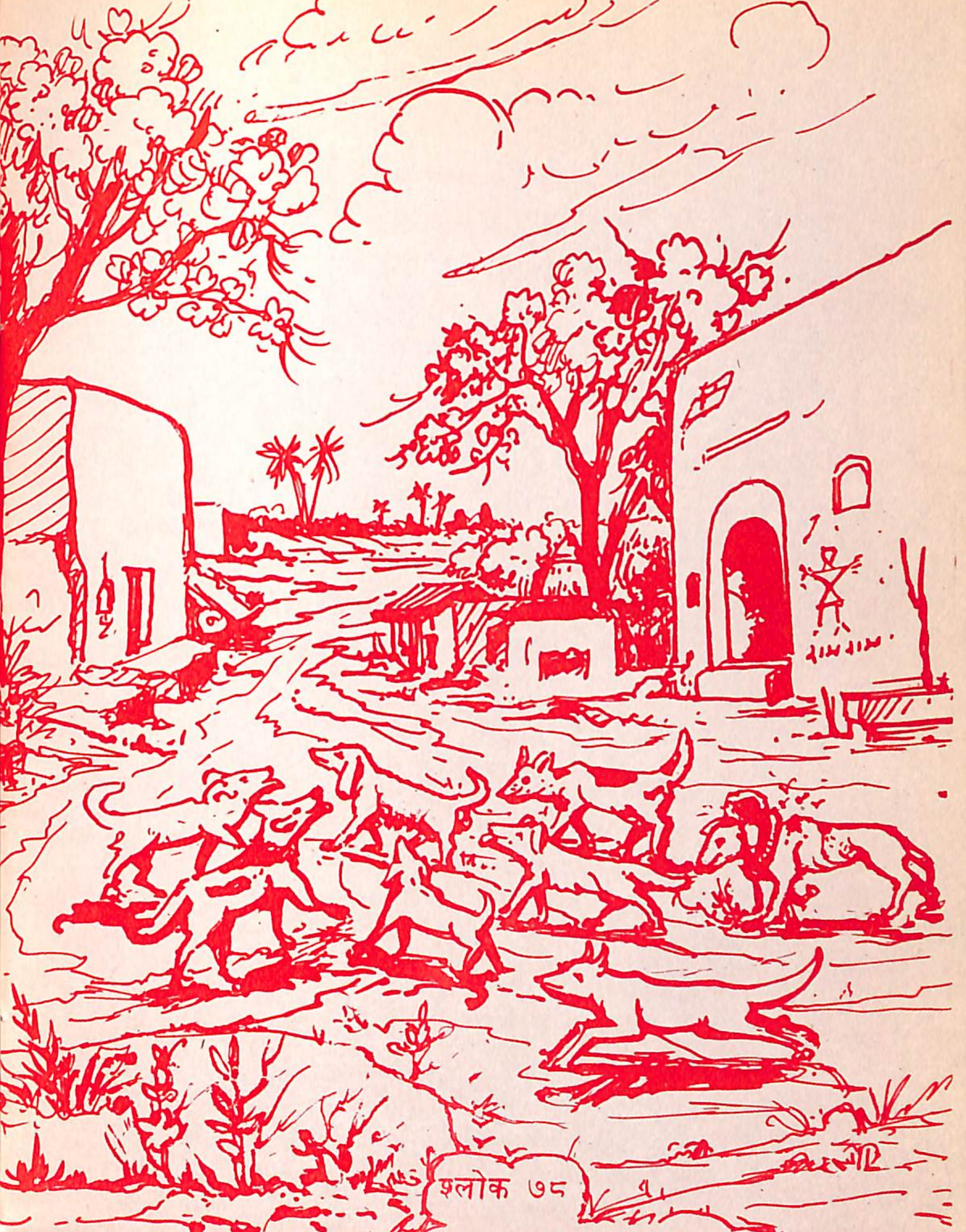

श्लोक ७८

कृशः काणः खंजः श्रवणरहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः ।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥

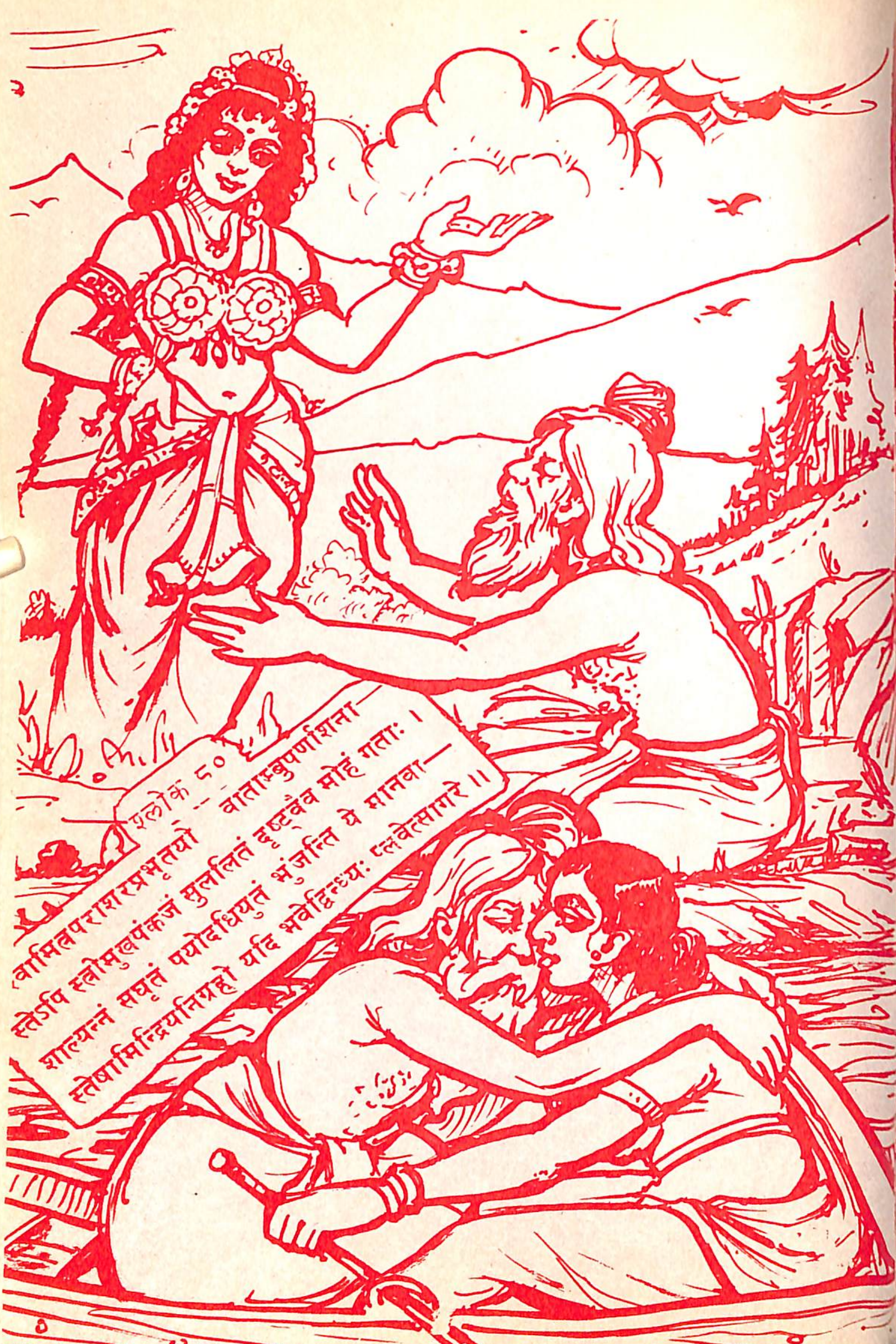

श्लोक ८०

वामित्रपराशरप्रभृतयो — वाताम्बुपर्णाशना—
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुंजन्ति ये मानवा—
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यः प्लवेत्सागरे ॥

भावार्थ

एक विरक्त बटोही को बरखा की घुमड़-घुमड़ाती बदरी गृहिणी की याद ताजा करती है। सोचता है कि सजनी सजीव है कि जीवन त्याग दिया। यदि उसने प्राण त्याग दिये हैं तो मेरे घर लौटने से वह लौटने की नहीं और यदि जीवित है तब तो मेरा जाना व्यर्थ है, क्योंकि मैंने उसका सांगत्य त्याग ही दिया है। इस प्रकार निष्कर्ष पर पहुंच कर वह घर का विचार छोड़ता और वन में बढ़ता जाता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में पति-पत्नी के मन की चंचलता मिट चुकी थी और वे अपने-अपने कार्यों पर अबाध रूप से आरूढ़ थे। पति की इच्छा थी कि वन प्रदेश में एकान्तवास करे। पत्नी ने कोई आपत्ति नहीं की। पति चल पड़ा। पतिदेव अब पथिक बने हुए हैं। राह चल रहे हैं। न जाने कितने दिन बीत गये चलते-चलते। मन किया, चला किये मन किया जहां बैठे, बैठे रहे। वनान्तरों के प्रशसन्त जीवन में कई दिन-रात कट गये। ऋतु भी बीत गई। प्रस्तुत श्लोक में अनायास एक विशेष स्थिति का वर्णन आया है। अब वह एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर प्रस्थान कर रहा है।

विरक्त पथिक का प्रस्थान भी विचित्र होता है। आगे एक पग बढ़ाता है तो पीछे एक पग छोड़ता है। आगे का अज्ञात है, देख-भाल कर पग धरना पड़ता है। पीछे का सब कुछ ज्ञात है, उसे अज्ञात बनाकर भूलना पड़ता है। अनुमान के आधार पर आगे बढ़ना और अनुभूत को तिलांजलि देना। अदम्य साहस ही आगे बढ़ाता है। अनुपम त्याग अनुभूत को भुलाता है। कल्पना में कल्याण का स्वप्न देखना और यथार्थ को अर्थहीन समझे जाना, इस प्रकार या तो सर्जनहार ब्रह्मा कर सकता है या संहारक यमराज। ब्रह्मा और यमराज को भी कभी-कभी सोचना पड़ता है। हमारे पथिक को धरती पर सूझता नहीं तो आंख उठाकर आकाश में खोजता है। वर्षा की ऋतु है। घनघोर घटा छायी है। घटाटोप अंधकार में बिजली कौंद जाती है। पथिक चौंक पड़ता है। लगता है कि आकाश के श्यामल पट पर एक चलचित्र झलक गया और लुप्त हो गया। पत्नी आकाश-पटल पर, यह कैसे? "गृहस्थी में ग्रसित पत्नी को क्या मुझ विरक्त से भी पहले परमपद प्राप्त हो गया? क्या वह परमात्मा की प्यारी हो गयी? क्या वह वियोग के दुख को सह न सकी? नहीं, वह मर नहीं सकती, अभी जीवित होगी, घर-द्वार संभालती होगी।" हमारा

पथिक इसी उधेड़-बुन में परमात्मा को भूल पत्नी के ध्यान में लीन हो जाता है। सोचता है, क्यों न घर लौटकर एक बार अपनी प्रियतमा को देख-भर लूं। घोर गर्जन के साथ आकाश से गाज गिरता-सा लगा और लगा कि गाज उसी के सिर पर आ गिरा। उसे लगा कि मैं अपने उद्देश्य से गिरा जा रहा हूं। पतनोन्मुख हुआ जा रहा हूं। मन को समझाने लगा। यदि सचमुच पत्नी परमात्मा को प्यारी हो गयी है तो मेरे घर जाने से कोई लाभ नहीं। वह तो लौटकर आने से रही। वह तो मर चुकी। मान लें कि वह मरी नहीं है, तो भी मैं पति-रूप में मर चुका हूं। साधक पथिक पत्नी के किस काम का ? विरक्त के लिए आसक्ति आत्म-हत्या के समान है। और आत्म-हत्या घोर पाप है। तपोवन का पावन जीवन आत्मोत्सर्ग का राजमार्ग है। इस प्रकार संकल्प-विकल्प के साथ पथिक ने घर की बातों का विचार छोड़ आगे पग बढ़ाया।

श्लोक ६७

विरमत बुधा योषित्संगात्सुखात्क्षणभंगुरात्—
त्कुरुत करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजनसंगमम् ।
न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमंडलं
शरणमथवा श्रोणीविम्बं रणन्मणिमेखलम् ।।

शब्द विच्छेद

योषित्संगात्सुखात्क्षणभंगुरात् = योषित् + संगात् + सुखात् + क्षण भंगुरात्
शरणमथवा = शरणम् + अथवा
हाराक्रान्तं = हार + आक्रान्तं
रणन्मणि = रणत् + मणि

शब्दान्वय

बुधाः क्षण भंगुरात् योषित् संगात् सुखात् विरमत
करुणा मैत्री प्रज्ञा वधु जन संगमं कुरुत

हार आक्रान्त घन स्तन मंडलं अथवा
रणत् मणि मेखलम् श्रोणी विम्बं नरके शरण न खलु ।

शब्दार्थ

बुधाः = हे बुद्धिमानो !
क्षण भंगुरात् = क्षण-भर के
योषित संगात् = स्त्रीसंगम रूपी
सुखात् विरमत = सुख से बचो
करुणा = दया
मैत्री = स्नेह
प्रज्ञा = विवेकरूपी
वधूजन = युवतियों से
संगमं कुरुत = संगत करो
(क्योंकि)

हार आक्रान्त = मोती, मणि के हार से भरी
घन स्तन मंडल = भारी छातियां
अथवा = या
रणत् मणि = छनछनाते मणियों की
मेखलाम् = करधनी से शोभित
श्रोणी विम्बं = कटिबंद
नरके = नरक में
शरणं = सहारा
न खलु = नहीं हो सकते ।

भावार्थ

हे बुद्धिमान विद्वानो, स्त्री सांगत्य रूपी क्षणिक सुख से मुख मोड़ो। करुणा, मैत्री तथा प्रज्ञा रूपी स्त्री-जनों से सम्बन्ध जोड़ो । क्योंकि ये मुक्ताहार युक्त पयोधर और वह रत्न खचित करधनी वाला कटिप्रदेश नरक में काम न देंगे ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में साधक का अज्ञानांधकार चकनाचूर हो गया। अब साधक सिद्ध बना है । सिद्ध अन्य जनों को उपदेश देने का अधिकारी है । अतः यह सिद्ध साधक साधिकार पंडितों को प्रबोध कर रहा है । पांडित्य से संसार में सुख-सम्मान प्राप्त हो सकता है, किन्तु अनुभवसिद्ध परमज्ञान निस्संग साधना से ही सिद्ध हो सकता है । शब्दजाल में रमने वालों के लिए संगराहित्य सरल नहीं है । वे कामिनी-कांचन से छुटकारा पा नहीं सकेंगे । श्लोक में 'स्तन मंडल तथा श्रोणि विम्ब' कामिनी को, और 'हार तथा मणि' कांचन को सूचित करते हैं। इसी कामिनी-कांचन के परिणाम स्वरूप शुद्ध पांडित्य विद्वानों को नरक का अधिकारी बनना पड़ता है । प्राचीन काल में सम्राटों के आस्थान पंड़ितों और वर्तमान युग के

उन मेधावी जनों में, जो धन के लालच में दफ्तरों में नौकरी करते या स्वतन्त्र रूप से सरकार की शुष्क स्तुति में रचनाएं रच डालते हैं, अधिक अंतर नहीं है। स्पष्टोक्ति त्याग कर स्तुति-पाठ में लगना, और केवल मालिकों को संतुष्ट मात्र करने के लिए सत्य का हनन करना स्वयं महापाप है और पाप का फल नरक है। श्लोक में कहा गया है कि नारी के यह स्तन मंडल तथा श्रोणी बिम्ब के सहारे नरक से तर नहीं सकेंगे और ये मुक्ताहारादि धन-सम्पत्ति भी वहां काम नहीं देगी।

प्रश्न उठता है कि क्या सांसारिक जन के लिए संगत्याग संभव है? साधारणतया लोगों को दूसरों की चाकरी करके या कोई न कोई धन्धा अपनाकर धन कमाना पड़ता है। श्लोक में कदाचित् इसीलिए धनोपार्जन को वर्जित घोषित नहीं किया गया है। श्लोक के द्वितीय चरण में स्त्री-सांगत्य की भी छूट दी है। पर कौन स्त्री? करुणा, मैत्री, प्रज्ञा-वधू का सांगत्य। दुखी पर तरस खाना और उसके दुख को मिटाने की चेष्टा करना, यह करुणा है। सत्यवादन तथा सत्कार्यों में निरंतर रत जनों का आदर सत्कार करना और सज्जनों के प्रति स्नेह भाव दर्शाना, यह मैत्री है। सत्यासत्य और खरे-खोटे को परखने की योग्यता प्रज्ञा है। यहां इनकी करुणा, मैत्री तथा प्रज्ञारूपी युवतियों के सांगत्य का समर्थन किया गया है। हाड-मांस की युवती के सांगत्य में क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है। किंतु करुणा आदि से स्थाई शान्ति की उपलब्धि होती है। करुणा आदि को युवती कहने का अभिप्राय यही है कि इन्हें उसी प्रकार हृदयंगम कर लो जिस प्रकार युवती पर तन-मन न्योछावर करते हो।

एक विशेषता इसमें और है। करुणा, मैत्री की भावना से ओतप्रोत होकर जब मनुष्य कार्य करने का अभ्यस्त हो जाता है तब प्रज्ञा गुण का विकास क्रमेण स्वयमेव होने लगता है और सतत अभ्यास से ये तीनों गुण स्वाभाविक बन जाते हैं और वह अनायास उन पर आचरण करने लगता है। इसके अतिरिक्त, करुणा तथा मैत्री स्त्रियोचित गुण हैं और यह उसकी प्रकृति में सम्मिलित हैं। जब मनुष्य में करुणा और मैत्री की भावना पुष्ट हो जाती है तब दुखी तथा दुर्जन को भी वह अपने ही अंग मानने लगता है और तब सभी उसे अपने आत्मीय-से लगते हैं। उसके मन में उनके प्रति उतना ही प्रेम भरा रहता है जितना साधारण जनों को अपने घरवालों से हुआ करता है।

श्लोक ६८

सदा योगाभ्यासव्यसनकृशयोरात्ममनसो-
रविच्छिन्ना मैत्री स्फुरति कृतिनस्तस्य किमु तैः ।
प्रियाणामालापैरधरमधुभिर्वक्त्रविधुभिः
सनिश्वासामोदैः सकुचकलशाश्लेषसुरतैः ॥

शब्द विच्छेद

योगाभ्यास = योग + अभ्यास
कृशयोरात्म = कृशयः + आत्म
मनसोरविच्छिन्ना = मनसः + अविच्छिन्ना
कृतिनस्तस्य = कृतिनः + तस्य
किमुतैः = किम् + उतैः
प्रियाणामालापैरधर = प्रियाणाम् + आलापैः + अधर
मधुभिर्वक्त्र = मधुभिः + वक्त्र

शब्दान्वय

सदा योग अभ्यास व्यसन कृशयः आत्म मनसः
अविच्छिन्ना मैत्री स्फुरति तस्य कृतिनः किमुतैः
प्रियाणाम् आलापैः अधर मधुभिः वक्त्र विदुभिः
सनिश्वास आमोदैः सकुच कलश आश्लेष सुरतैः किमु ।

शब्दार्थ

सदा = हमेशा, लगातार
योगाभ्यास व्यसन = योगाभ्यास की आस्था से
कृश्यः = मंझकर
आत्म मनसः = मन और आत्मा में
अविच्छिन्ना मैत्री = अटूट मेल
यस्य = जिसे
स्फुरति = फलता है
तस्य कृतिनः = उस चिदात्मा योगी को
तैः किमु = उन (कामिनी कांचन) से
प्रियाणाम आलापैः = सजनी से सरस-सल्लाप
अधर मधुभिः = अधरामृत
वक्त्रविदुभिः = मुख चन्द्रमा
सनिश्वास आमोदैः = श्वासों की सुगंधि
सकुच कलश आश्लेष = स्तन मंडल से युक्त
सुरतैः किमु = सम्भोग से भी क्या प्रयोजन ? अर्थात् आत्मानंद में इन शारीरिक सुखों से कहीं अधिक सुख प्राप्तहोता है ।

भावार्थ

जो साधक अनवरत योग-साधना से आत्मानंद का अनुभव करता है उसे सभी सांसारिक सुख एकदम फीके जचते हैं। उसे प्रेयसी का प्रियालाप निस्सार लगता है, अधरपान अरुचिकर लगता है, सजनी की सांसों में गर्माहट नहीं पाता, यहां तक कि उसे गाढ़ालिंगन में भी आनंद का अनुभव नहीं होता।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में विद्वानों को सम्बोधित करते हुए दो बातें कही गयी थीं — एक स्त्री-सुख क्षण-भंगुर है और दूसरा यह कि करुणा, मैत्री तथा प्रज्ञा का आलम्बन स्थाई सुख का साधन है। इस श्लोक में कहा गया है कि पिछले श्लोक में जो कहा गया वह परोपदेशमात्र नहीं है वरन् अनुभूति का विवरण है।

आत्मानुभूति में जिस आनंद का अनुभव होता है उसके सामने संसार के सभी सुख, जिसमें सम्भोग सुख सबसे बढ़कर है, तुच्छ जचते हैं। आत्मानुभूति में जो दृश्य प्रस्तुत होता है उसको देखने के बाद प्रकृति का मनोहर सौंदर्य फीका पड़ जाता है। सारी प्रकृति को आत्मसात् किया हुआ सौंदर्यवती स्त्री का रूप काठ का पुतला लगता है। प्रायः किसी साथी को देख लेने पर उससे बतलाने की इच्छा होती है और उसमें रस आने लगता है, किंतु आत्म-दर्शन में वार्तालाप के बिना ही अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति होती है। स्त्री-पुरुष वार्तालाप के साथ मुख-चुम्बन में प्रवृत्त हो अधरामृत का रसास्वादन करते हुए श्वासोछ्वास की गर्माहट महसूस करते हुए जिस अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करते हैं, आत्मानुभव में उससे कहीं बढ़कर मधुर मस्ती छा जाती है। गाढालिंगन और रतिक्रीड़ा शारीरिक सुख की पराकाष्ठा है, पर वह क्षणभर में क्षीण हो जाता है और शरीर शिथिल पड़ जाता है। परन्तु आत्म-रति में अविच्छिन्न आनंद का अनुभव होता है और वह सदा स्फूर्तिदायक होता है।

पिछले श्लोक में साधक ने पांडित्य का खण्डन करते हुए आत्मानंद की प्राप्ति के लिए करुणा तथा मैत्री का सुगम मार्ग सुझाया था। वास्तव में साधक के मन में इन कोरे विद्वानों के प्रति करुणा जाग्रत होती है और मैत्री भाव से उन्हें समझाता है, न कि स्वयं बड़ा ज्ञानी बनकर उपदेश देता है। प्रज्ञा अर्थात् वास्तविक ज्ञान इसी भावना को प्रकट करता है। अनुभूत ज्ञान ही अच्छी तरह

समझाया जा सकता है और उसका प्रभाव भी अच्छा पड़ता है।

क्या सचमुच आत्मानुभूति में उपरोक्त आनंद का अनुभव होता है ? क्या अनुभवी इस प्रकार उपदेश दे सकता है ? शंकाशील मन में ऐसे प्रश्न उठ सकते हैं और कोरे उपदेश से ऐसी शंकाओं का समाधान हो भी नहीं सकता। यह तो अनुभव करने की बातें हैं और इसके लिए अभ्यास अनिवार्य है। इस दिशा में थोड़ी भी साधना की जाय तो उसकी झलक दिखाई देने लगती है। आरम्भ में अनुभव न हो, किंतु पर्याप्त साधना के बाद पूर्ण सिद्धि के प्राप्त न होने पर उस अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव अवश्य होने लगता है। समाधिस्थ हों, तभी ऐसा अनुभव होने लगे, यह जरूरी नहीं है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, यात्रा-व्यापार में भी अपने आप कुछ इस प्रकार की अनुभूति होने लगती है। मन की कली खिल जाती है। मुख पर सदा मुस्कान विराजमान रहती है। जो स्थिति सिद्ध पुरुष में सदा वर्तमान रहती है, वह साधक को जब तब प्राप्त होती रहती है। उस स्थिति को कितनी अधिक मात्रा में प्राप्त हो और कितनी अधिक अवधि तक स्थिर रहे, यह साधक की साधना और उसकी परिपक्वता पर निर्भर है। अंकुर फूटने के बाद भी पर्याप्त देखभाल से ही पौधा पनप कर फूलने-फलने लगेगा, नहीं तो सिकुड़कर सूख जायेगा। यही बात आत्मा की साधना में भी होती है।

श्लोक ६९

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंचारजनितं
सदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदिति ।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकांजनजुषां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ।।

शब्द विच्छेद

यदासीदज्ञानं = यदा + आसीत् + अज्ञानं
नारीमयमिदमशेषं = नारीमयम् + इदम् + अशेषम्

जगदिति = जगत् + इति
इदानीमस्माकं = इदानीम् + अस्माकं
विवेकांजन = विवेक + अंजन
दृष्टिस्त्रिभुवनमपि = दृष्टिः + त्रिभुवनम् + अपि

शब्दान्वय

यदा स्मर तिमिर संचार जनित अज्ञानं आसीत्
तदा इदम् अशेषं जगत् नारी मयं इति दृष्टं
इदानीम् पटुतर विवेक अंजन जुषां
अस्माकं दृष्टिः समी भूता त्रिभुवनं ब्रह्म मनुते।

शब्दार्थ

यदा = जब तक
स्मर तिमिर = कामांधता के
संचार जनित = संचार से हुई
अज्ञान आसीत् = मूर्खता थी
तदा = तब तक
इदम् अशेषम् जगत् = यह सारा संसार
नारी मयं इति = स्त्री से भरा हुआ-सा
दृष्टं = दीख पड़ता था (किंतु)
इदानीम = अब (जब)

विवेक = विवेक रूपी
पटुतर अंजन = जोरदार सुरमा
जुषां = लगा (तब)
अस्माकं = मेरी
दृष्टिः = नजर
समीभूता = ठीक होकर
त्रिभुवनं = तीनों लोक
ब्रह्म मनुते = ब्रह्ममय जान पड़ते हैं

भावार्थ

जब तक मुझमें काम-वासना काम करती थी तब तक सारा संसार स्त्रीमय दीखता था। परन्तु जब से ज्ञानोदय हुआ है तब से यह मानव-लोक ही क्या वरन् स्वर्ग, मर्त्य पाताल, तीनों लोक ब्रह्ममय जान पड़ते हैं।

विशेषार्थ

पीलिया के रोगी को सारा संसार पीला ही पीला दीखता है। जब रोग दूर हो जाय तब सभी वस्तुएं अपने असली रंग में दिखायी पड़ती हैं।

शंकाशील विद्वानों के सामने साधक आपबीती प्रस्तुत करता है। कहता है स्वयं मेरी स्थिति भी पहले ऐसी ही थी। मैं भी पहले स्त्री-सुख को ही सब-कुछ समझा करता था। तब सारा संसार ही मुझे स्त्री-रूप लगता था। जब स्त्री को ही सब-कुछ समझता था तब स्त्री को प्राप्त करने की इच्छा बलवती होती थी। और जब सारा संसार स्त्री-रूप लगे तब संसार की सभी वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा करना स्वाभाविक था। अपनी-अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार अपने छोटे-बड़े संसार का मालिक आप बनने और उसका आप अकेले उपभोग करने की चेष्टा करना भी स्वाभाविक है। संतान, सम्पत्ति, विद्या, कला-कौशल, सत्ता, अधिकार सभी स्वार्थ-सिद्धि के उपकरण मात्र हैं। बच्चों की चिंता या जनता की सेवा बहाना मात्र होता है। जब मैं इस पीलिया रोग से पीड़ित था तब मैं समझता था कि मैं ठीक हूं और सबका रंग पीला है। आंखों का वह रोग ज्ञान-रूपी अंजन से दूर हो गया और अब सब वस्तुएं अपने असली रंग में दिखाई देने लगी हैं।

वासना का रोग आंखों का नहीं, मन का रोग है। मन के मैल को दूर करने से ही वासना का रोग मिट जाता है। मेरा मन पहले मैला था। इसलिए संसार मेरे लिए महिलामय था। मन का वह भ्रम मिटा तो सारा जगत् ब्रह्ममय हो गया। पहले स्त्री से सम्भोग की इच्छा करता था और स्त्री के रूप में सारे संसार को भोगना चाहता था। परन्तु जब स्वयं अपने को ब्रह्म को सौंप चुका तब संसार की सभी सजीव तथा निर्जीव वस्तुओं को ब्रह्म मानकर उनकी आराधना करता हूं। स्त्रियों के सौंदर्य को ब्रह्मा का स्वरूप मानकर उनकी अर्चना करता हूं। बच्चों को ब्रह्म की मूर्ति मानकर प्यार करता हूं, बड़ों का आदर करता हूं। मेरे लिए पेड़-पहाड़ भी पूजनीय हैं और नदी सरोवर भी आदरणीय हैं। मैं ब्रह्म में हूं और ब्रह्म मुझमें है। अपने-आपसे इन्कार नहीं, अतएव ब्रह्म का स्वीकार है। भगवान को माना तो सारा संसार ही मेरा इष्टदेव हो गया और इसीलिए मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं होता।

श्लोक ७०

तावदेव कृतिनामपि स्फुरत्येष निर्मलविवेकदीपकः ।
यावदेव न कुरंगचक्षुषां ताड्यते चटुललोचनांचलैः ।।

शब्द विच्छेद

तावदेव = तावत् + एव
कृतिनामपि = कृतिनाम् + अपि
स्फुरत्येष = स्फुरति + एष
यावदेव = यावत् + एव
लोचनांचलैः = लोचन + अंचलैः

शब्दान्वय

कृतिनाम् अपि यावत् एव कुरंग चक्षुषां चटुल लोचन आंचलैः न ताड्यते तावत् एव एष निर्मल विवेक दीपकः स्फुरति ।

शब्दार्थ

कृतिनाम् अपि = आत्मानन्द को प्राप्त होते हुए भी
यावत् एव = जब तक,
कुरंग चक्षुषां = मृग-नयनियों के
चटुल = चंचल
लोचन अंचलैः = आंखों की कनखियों द्वारा
न ताड्यते = पीड़ित न हों,
तावत् एव = तभी तक
एष निर्मल = यह पवित्र,
विवेक दीपकः = ज्ञान-दीप
स्फुरति = प्रकाशित रहता है ।

भावार्थ

सिद्ध-साधक को ज्ञान-दीप के कारण सारा संसार ब्रह्म स्वरूप दीखने लगता है । किंतु वह ज्ञान-दीप उन महान आत्माओं में भी तभी तक प्रज्वलित रहता है जब तक वे नारी से दूर रहते हैं । ज्यों ही वे कुरंगाक्षी के कटाक्ष वीक्षणों से क्षत-विक्षत हो जाते हैं त्यों ही वह ज्ञान-दीप बुझ जाता है और उनके मन पर फिर वही अंधकार छा जाता है ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि स्त्रीमय दीखनेवाला संसार साधक को किस प्रकार ब्रह्ममय दीखने लगता है। इस श्लोक में सावधान किया गया है कि उस उच्च स्थिति को प्राप्त होने के बाद भी साधक को पतन के गर्त में गिर पड़ने का खतरा है। कहा गया है कि सबसे बड़ा खतरा नारी की ओर से उपस्थित हो सकता है।

इतिहास साक्षी है कि संसार-भर के विजेता नारी के चक्कर में पड़कर अपने उच्च आसन से गिर चुके हैं। यहां बताया गया है कि संसार के ही नहीं, स्वर्ग के विजेता भी नरकगामी हो सकते हैं। काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वनाश हो जाता है। यह वह हवा के झोंके हैं जिनके थपेड़ों से ज्ञान-दीप बुझ जाता है और साधक अज्ञानांधकार में घिरकर विवेक खो बैठता है। सत, असत् की सूझबूझ जाती रहती है। मन में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। भ्रामयिक दृष्टि असत् के मोह में फंसा देती है। मोहवश ज्ञान-दीप की जगह क्रोधाग्नि प्रज्वलित होती है। कामातुर उसी क्रोधाग्नि में भस्म हो जाता है।

६८वें श्लोक में पंडितों को उपदेश देने और श्लोक ६९ में स्वानुभव की प्रक्रिया बताने के बाद प्रस्तुत श्लोक में साधक की विनम्र प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है। सिद्ध पुरुष भी सदा डरता रहता है—मैं भी साधारण शरीरधारी हूं, मानव का दुर्बल मन मेरे भीतर भी है। स्त्री स्वयं इतनी बुरी नहीं जितना मैं स्वयं बुरा हो सकता हूं। हरिणेक्षी का क्या दोष जो उसके वीक्षण मात्र से मैं क्षत-विक्षत हो जाऊं। मेरे मन का मोह ही मुझे मारता है। उपदेश की कैसी उत्तम विधि है। आकाश का देवता बन कर नहीं, वरन् भर्तृहरि धरती के पुत्र बनकर बोल रहे हैं। ये सुंदर बोल, जो साधारण-जन के मन में घर कर जाते हैं और श्रोतागण स्वकीय के समान गांठ बांध कर घर जाते हैं।

श्लोक ७१

वचसि भवति संगत्यागमुद्दिश्य वार्ता
श्रुतिमुखरमुखनां केवलं पण्डितानाम् ।
जघनमरुणरत्नग्रन्थिकांचीकलापं
कुवलयनयनानां को विहातुं समर्थः ।।

शब्द विच्छेद

त्यागमुद्दीश्य = त्यागम् + उद्दीश्य
जघनमरुण = जघनम् + अरुण

शब्दान्वय

श्रुति मुखर मुखानाम् पण्डितानाम्
संगत्यागं उद्दिश्य वार्ता वचसि केवलं भवति
कुवलय नयनानां अरुण रत्न ग्रंथि कांची कलापं
जघनं विहातुं कः समर्थः ।

शब्दार्थ

श्रुति = वेदों के
मुखर मुखानां = कंठस्थ किये हुए
पण्डितानां = पंडितों को भी
संगत्यागं = स्त्री-सांगत्य के त्यागने को
उद्दिश्य = सम्बन्ध में
वार्ता = बातें
वचसि केवलं = जबानी मात्र
भवति = होती हैं
कुवलय नयनानां = कमलाक्षियों के
रत्न ग्रंथि = मणि-मणिक्य जड़ी
कांची कलापं = करधनी धारिणी
अरुण जघनं = गौर कटिप्रदेश को
विहातुं = त्यागने में
कः समर्थः = कौन समर्थ है ?
अर्थात् सभी असमर्थ हैं ।

भावार्थ

वेद शास्त्रों के पारंगत विद्वज्जन मुख से सर्वसंग परित्याग का उपदेश देते हैं । परंतु वह उनकी बकवास मात्र है । सच्ची बात यह है कि पद्माक्षियों के मणिमडित जघनमंडल के मोह में सभी फंस जाते हैं ।

विशेषार्थ

पिछले दशक में कामिनी गर्हण के अंतर्गत वेश्यागमन की निंदा की गयी थी। कथा-वाचक तथा उपदेशक एकत्रित भक्त जनों को प्रायः उपदेश दिया करते हैं कि संसार निस्सार है, संगत्याग में ही निस्तार है, इत्यादि। संगत्याग में संसार की सभी सुख सम्पत्ति सम्मिलित है। परन्तु यह उपदेशक स्वयं उन भक्त जनों से उसी सुख सम्मत्ति को दान-धर्म के रूप में ग्रहण करते जाते हैं। जिन वस्तुओं के परित्याग का उपदेश दें, उन ही वस्तुओं का आप स्वयं परिग्रह करते जायें, यह कैसी विडम्बना है। श्लोक में परिग्रह की बात तो नहीं कही गयी है, परन्तु पद्माक्षियों के पाणिग्रहण की बात स्पष्ट रूप में वर्तमान है—' कुवलय नयनानां को विहातुं समर्थः।" पद्माक्षी भी वह जिसने पद्मराग मणियों की करधनी पहन रखी हो—कांचनयुक्त कामिनी। इन उपदेशकों को कामिनी भी चाहिए और कांचन भी। ये विद्वान उपदेशक स्वयं कामिनी-कांचन के मोह से मुक्त नहीं हैं। वेद शास्त्रों के प्रति लोगों में जो श्रद्धा है उसके वे ग्राहक मात्र हैं। अर्थात् विद्या उनके लिए ज्ञान प्राप्ति का साधन नहीं वरन् व्यापार की वस्तु है। स्वयं व्यापार इतनी बुरी चीज नहीं, क्योंकि मोल देते हैं तो कुछ माल भी पाते हैं। स्वयं ज्ञानी नहीं, तो भी ज्ञानियों की-सी बातें सुनाते हैं। व्यापार तक सीमित रहते तो ठीक था, किंतु वे व्यापार के साथ व्यभिचार करते हैं। स्वर्ग के नाम पर नरक की ओर खींच ले जाते हैं। जीवन यात्रा के लिए सभी को कोई न कोई व्यापार करना ही पड़ता है। नौकरी-चाकरी, मेहनत, मजदूरी भी व्यापार का ही एक रूप है। वेश्यावृत्ति भी एक प्रकार का व्यापार था और है। परन्तु इन विद्वान उपदेशकों का धन्धा इन सबसे गया बीता है। ये वेद-शास्त्रों का अध्ययन करके देवी सरस्वती के उपासक बनते हैं। उसका वरदान पाकर प्रकाण्ड विद्वान बनते हैं, परन्तु उसी देवी सरस्वती को बोली पर चढ़ाकर नीलाम करते हैं। मोल दे और माल ले। इन्होंने ज्ञान को भी एक भोग्य वस्तु बना दिया है। पदवी पाकर पद्माक्षियों पर भी हाथ फेर देते हैं। विद्वानों का यह दोहरा व्यभिचार श्रद्धेय सरस्वती के साथ भी और श्रद्धालु भक्तों के साथ भी होता है।

भारत कर्मभूमि है। कर्मगति को पाये बिना कोई बच नहीं सकता। इसी जीवन में ऐसे पाखण्डी विद्वानों की कैसी दुर्गति बन जाती है, प्रायः देखने में आता है। जो बच जाते दीख पड़ते हैं वे भी बच नहीं सकते। उनकी और भी बुरी गत बनती है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त से कैसे कोई बच निकल सकता है। पुनर्जन्म की थोड़ी बहुत जानकारी तथा अनुभव रखने वाले खूब जानते हैं कि विद्वान जो विद्या के साथ व्यभिचार करते हैं, उन्हें साधारण से साधारण दोष का घोरातिघोर दण्ड

भोगना पड़ता है, भोगना पड़ रहा है, भोगना पड़ेगा ।

श्लोक ७२

स्वपरप्रतारकोऽसौ निन्दति योऽलीकपण्डितो युवतीः ।
यस्मात्तपसोऽपि फलं स्वर्गः स्वर्गेऽपि चाप्सरसः ॥

शब्द विच्छेद

प्रतारकोऽसौ =प्रतारकः + असौ
योऽलीक = यः + आलीक
यस्मात्तपसोऽपि = यस्मात् + तपसः + अपि
स्वर्गेऽपि = स्वर्गे + अपि
चाप्सरसः = च + अप्सरसः

शब्दान्वय

यः अलीक पण्डितः युवतीः निन्दन्ति
असौ स्व पर प्रतारकः यस्मात् तपसः फलं अपि स्वर्गः
स्वर्गे अपि च अप्सरसः ।

शब्दार्थ

यः अलीक पंडितः = जो झूठे पंडित
युवतीः निन्दन्ति = स्त्री-निंदा करते हैं
असौ = ऐसे पाखंडी पंडित
स्व पर = अपने को भी और औरों को भी
प्रतारकः = धोखा देते हैं
यस्मात् = क्योंकि जिसके (कारण)
तपसंः फलं अपि = तपस्या का फल भी
स्वर्गः = स्वर्ग ही है (और)
स्वर्गे अपि = स्वर्ग में भी तो
अप्सरसः = अप्सराएं होती हैं

भावार्थ

यह पाखंडी पंडित जो स्त्री की निंदा करते हैं और संगत्याग से तपस्या का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि उससे स्वर्ग की प्राप्ति होगी। वास्तव में वे अपने आप को धोखा देते हैं और दूसरों को भी धोखे में रखते हैं, क्योंकि स्वर्गप्राप्ति का फल भी तो रम्भा, उर्वशि आदि अप्सराओं का सांगत्य-लाभ ही तो है। स्वर्गलोक की रम्भा उत्कृष्ट क्यों और भू-लोक की रमणी निकृष्ट कैसे ?

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि वेद-पाठी और शास्त्र-वेत्ता विद्वान सांगत्य दोष के विषय पर प्रवचन देते हैं, परन्तु स्वयं उनके मन दूषित होते हैं और कामिनी-कांचन की भरपूर कामना रखते हैं। इस श्लोक में श्रद्धालु श्रोताओं को सम्बोधित करके कहा गया है कि इन कोरे उपदेशकों के ये प्रवचन प्रवंचना मात्र हैं। भक्तों को त्याग का उपदेश देने का अभिप्राय यही होता है कि जो कुछ तुम्हारे पास है हमें भेंट करो, ताकि वे स्वयं यहां सुख भोग सकें। बिचारे भक्तजन लुट गये। उन्हें क्या मिला ? श्रद्धा का फल स्वर्ग और वह भी मरने के बाद। वर्तमान सुख को त्याग कर कष्ट भोगने के लिए वैसे ही लोग तैयार कैसे हों। उन्हें भी कोई लालच दिलाना होगा। सो, उन्हें बताया गया कि स्वर्ग में अनंत सुख मिलेगा और अति सुंदर स्त्रियां मिलेंगी। सुख और सुंदरी के लिए भूलोक भी स्वर्ग ही हुआ, जहां सुख भी है और सुंदरी भी है। क्या स्वर्ग अकेले पुरुषों के लिए है, स्त्रियों के लिए नहीं। संसार में विशेषकर भारत में स्त्रियां त्याग में भी और तपस्या में भी पुरुषों की अपेक्षा बहुत आगे हैं। कीर्तन-भजन और दान-धर्म में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक रुचि लेती हैं। पंडितों की पादपूजा भी वे अधिक करती हैं। अतः स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा स्वर्ग की अधिक अधिकारिणी हैं। उपदेशक उन्हें भी स्वर्ग का लालच दिलाते हैं, पर बताते नहीं कि पुरुषों को अप्सराएं मिलती हैं तो स्त्रियों को कौन मिलते हैं ? स्वर्ग में स्त्रियों को पुरुप ही तो मिलेंगे, पुण्य पुरुष। अपने वर्तमान पतियों को क्या वे पापी मान लें ? पति को पापी कहने वाली पत्नी पुण्यात्मा कैसे हो सकती है और स्वर्ग की अधिकारिणी कैसे बन सकेगी ? यदि वर्तमान पति को पापी नहीं बल्कि पुण्यवान मानती है तो स्वर्ग में अन्य पति की इच्छा करना पतिव्रता धर्म के विरुद्ध हुआ। यही सब बातें पुरुषों पर भी समान रूप में लागू होती हैं। स्वांगना को त्याग कर स्वर्गांगना की इच्छा

करना पर-स्त्री गमन के समान हुआ और स्वपत्नी के प्रति घोर अत्याचार। मान लें वर्तमान दम्पत्ति ही स्वर्ग में पति-पत्नी के रूप में अमर नहीं तो कम-से-कम अजर बनकर यौवन सुख भोगा करेंगे। मगर मर्त्य लोक के प्राणियों के लिए स्वर्ग में स्थायित्व प्राप्त नहीं है—"क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशंति।" भगवद्‌गीता के अनुसार उन्हें फिर भू-लोक में ही जन्म लेना होगा।

उधर उपदेशक की दशा भी विचित्र है। क्या वे स्वर्गाधिपति हैं जो भूलोक के सभी स्त्रियों को स्वर्ग में पुरुष प्रस्तुत करने और सभी पुरुषों को स्त्रियां सप्लाई कर सकेंगे। होने का दम क्यों न भरें? क्या विद्वान पंडितों को भूसुर अर्थात् भूलोक के देवता नहीं कहा जाता? इन भूसुरों से कोई पूछे कि स्वर्गीय सुख तथा सुंदरियों को छोड़कर इस मर्त्यलोक के सुख-सौंदर्य पर क्यों लट्टू हुए जाते हैं? भूसुरों की यह आसुरी प्रवृत्ति संसार के लिए बड़ी ही घातक है। वे स्वयं धोखे में हैं और औरों को धोखा दे रहे हैं। अस्तु।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यकीय है कि भर्तृहरि ने श्लोक में न स्वर्ग की निंदा की है और स्वर्गवासियों की प्रशंसा। श्रुति स्मृतियों को भी झुठलाया नहीं है। न पापी की प्रशंसा की है और न पुण्यात्मा की निंदा। भर्तृहरि ने निंदा की हैं केवल उन विद्वानों की जो दिन-रात स्त्री-निंदा करते नहीं अघाते, और उनसे भी बढ़कर उन उपदेशकों की भर्त्सना की है जो पाखंडी और पापाचारी हैं।

श्लोक ७३

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किंतु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

शब्द विच्छेद

वधेऽपि = वधे + अपि
मत्तेभ = मत्त + इभ

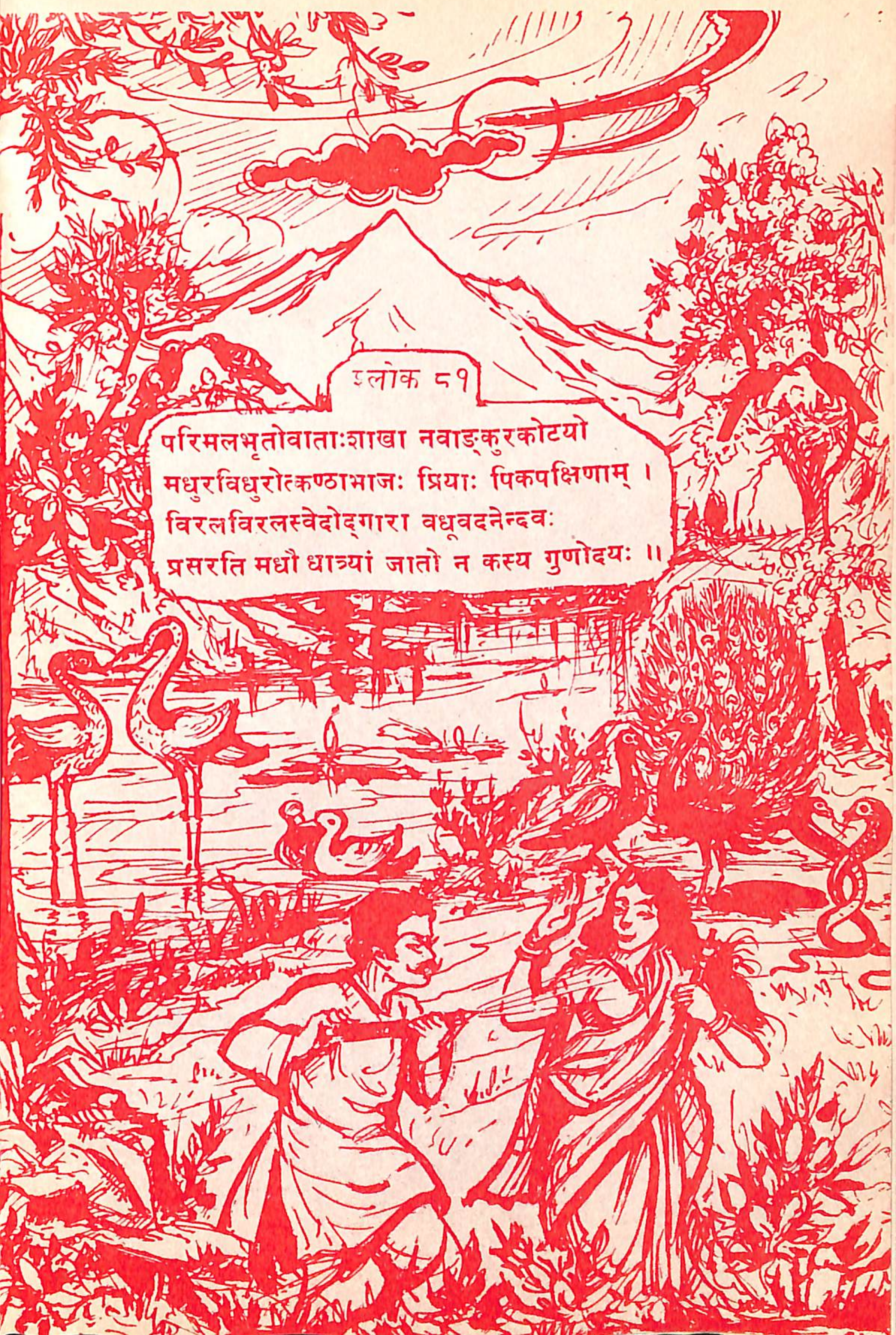

श्लोक ८१

परिमलभृतोवाताःशाखा नवाङ्कुरकोटयो
मधुरविधुरोत्कण्ठाभाजः प्रियाः पिकपक्षिणाम् ।
विरलविरलस्वेदोद्गारा वधूवदनेन्दवः
प्रसरति मधौ धात्र्यां जातो न कस्य गुणोदयः ॥

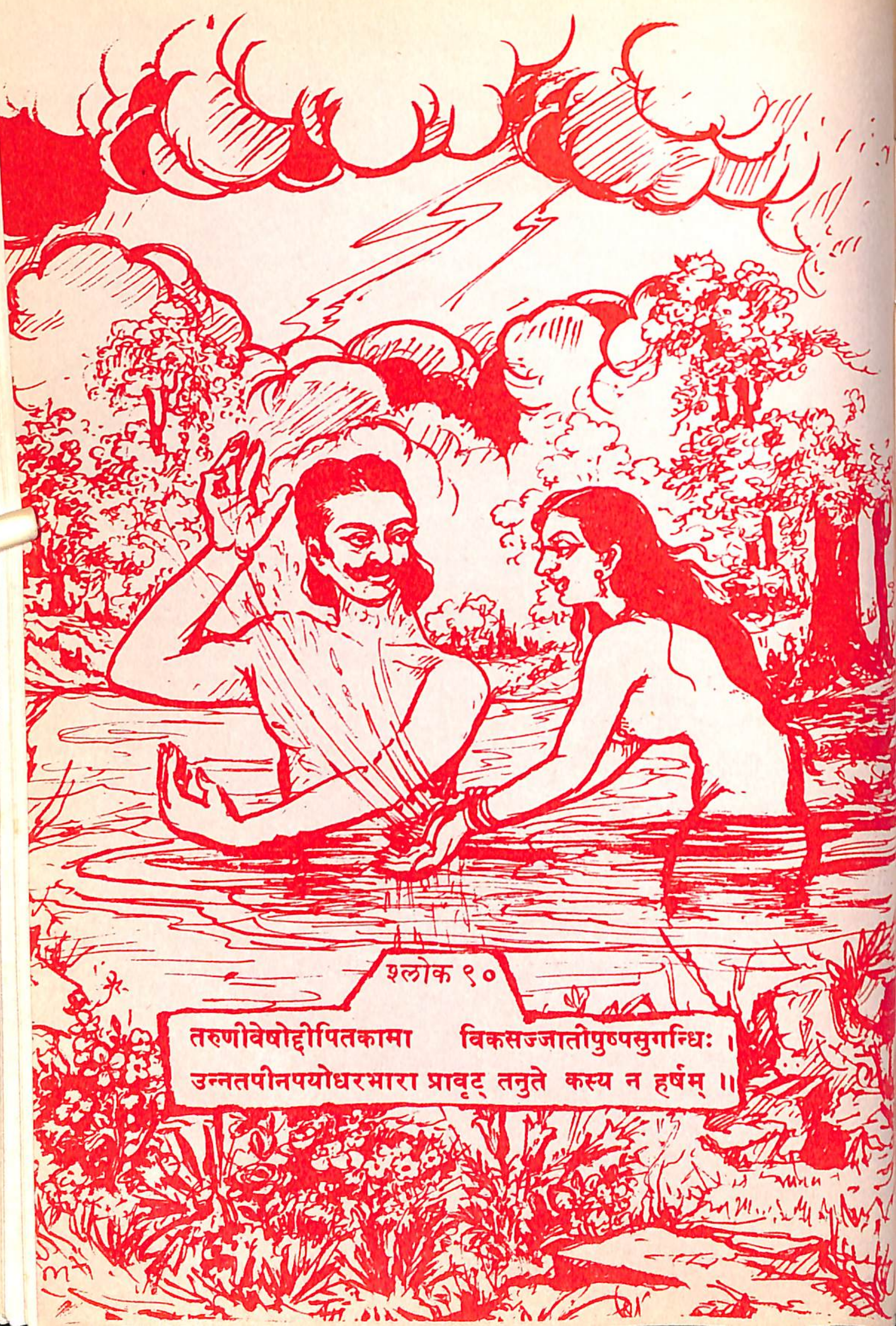

श्लोक १०

तरुणीवेषोद्दीपितकामा विकसज्जातीपुष्पसुगन्धिः ।
उन्नतपीनपयोधरभारा प्रावृट् तनुते कस्य न हर्षम् ।।

शब्दान्वय

भुवि मत्त इभ कुम्भ दलने शूराः सन्ति
केचित् प्रचण्ड मृगराज बधे अपि दक्षाः
किन्तु प्रसह्य बलिनां पुरः ब्रवीमि
कंदर्प दर्प दलने मनुष्याः विरलाः ।

शब्दार्थ

भुवि=संसार में
मत्तेभ=मस्त हाथी के
कुम्भ दलने=मस्तक को चीरने में (समर्थ)
शूराः सन्ति=धीर वीर हैं, (और)
केचित्=कुछएक
प्रचण्ड=महाक्रुद्ध
मृगराज=सिंह के
वधे अपि=मारने में भी
दक्षाः=समर्थ हैं
किंतु=मगर (मैं तो)
प्रसह्य=साहस के साथ, डंके की चोट
बलिनां पुरतः=महान बलवानों के सामने
ब्रवीमी=कहता हूं, घोषणा करता हूं कि
कंदर्पदर्प दलने=कामदेव के बल के आगे सम्हलने में समर्थ
मनुष्याः=लोग
विरलाः=बिरले ही होते हैं।

भावार्थ

संसार में ऐसे नर पुंगव जरूर हैं जो मस्त हाथी की गर्दन पर सवार होकर उसके मस्तक को छलनी बना सकते हैं। ऐसे भी अवश्य पाये जाते हैं जो उग्रातिउग्र मृगराज सिंह को मौत के घाट उतार सकते हैं। परन्तु डंके की चोट यह कहा जा सकता है कि बिरला ही कोई होगा जो कामदेव पर काबू पा सके।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बुद्धि-बल तथा विद्या-बल की उपमाएं देकर बताया गया था कि कामदेव की चतुराई के सामने उनकी बोलती बंद हो जाती है। इस श्लोक में शारीरिक बल-पराक्रम के उदाहरण देकर सिद्ध किया गया है कि सारा बल-पराक्रम चितचोर के सामने चारों खाने चित्त हो जाता है।

महाबली हाथी और सिंह के दो उदाहरण सामने हैं। जंगली हाथी ही क्या पालतू हाथी भी सबको रौंदता चला जाता है। चारों ओर भगदड़ मच जाती

है। एक साहसी किसी दीवार या पेड़ पर से उसकी गर्दन पर कूद पड़ता है और कुम्भस्थल पर अंकुश मार-मार कर हाथी का कचूमर निकाल देता है और उस पर काबू पा जाता है। साहस की सारी लीला सबके सामने होती है। दूसरी ओर सिंह है। जंगल का राजा। अकेला रहता है। छोटे-मोटे दूसरे सभी जंगली जानवर सिंह की आहट पाकर जहां-तहां छिप जाते हैं। कहीं जंगली हाथी ही सामने पड़ गया तो सिंह उस मस्त जंगली हाथी के मस्तक पर उसके गंडस्थल को चीर कर भेजे को चख कर छक जाता है। यदि कहीं कोई शिकारी सिंह से दो चार हो जाता है तो शिकारी उसे मारेगा या स्वयं मरेगा। मारते हुए देखने वाला नहीं। मरते हुए पूछने वाला नहीं। ऐसे अवसर पर साहस ही उसका साथी होता है और पराक्रम ही उसका तरकश। सिंह को पछाड़ता है और मारकर ढेर कर देता है।

ऐसे शेरदिल नरपुंगव बिरले ही होते हैं, और यदा-कदा पाये भी जाते हैं। परन्तु वही बली पराक्रमी किसी वन में किसी कानन-बाला, बनमाला को देख ले या शहर में उसकी किसी सुंदरी से आंखें चार हो जायें तो उसका सारा पराक्रम परास्त हो जायेगा, साहस पर सन्नाटा छा जायेगा। बली अपना बल भूल जायेगा और निर्जन वन में अबला के आगे घुटनों के बल चिरौरी करेगा। शहर का साहसी भी सुंदरी के सामने सुर-ताल मिलाने के लिए डोला डाल कर डौल डालने के चेष्टा करेगा। कामदेव उनका यों ही काम तमाम कर देता है।

यह हुई पराक्रमी पुरुषार्थियों की बात। चोर भी किसी चितचोर का चाकर बनेगा और डाकू भी किसी अल्हड़ अबला का आज्ञाकारी बनेगा। यह कैसी विचित्र बात है कि पिछले श्लोक में चर्चित चारों वेदों और अठारह पुराणों के पंडित कामवासना की तृप्ति के लिए चोरों के अनुचर बनते हैं और हमारे शेर-मार धीर-वीर डाकुओं का ढर्रा धरते हैं। शास्त्रार्थ के पंडितों को भी देख लिया और शस्त्रास्त्र के साहसियों को भी देख लिया, चोर बनें या डाकू, पर हैं सभी कामदेव के हाथ की कठपुतली मात्र।

श्लोक ७४

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति च नरस्तावदेवेन्द्रियाणां
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
भ्रू चापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां हृदि व धृति मुषो दृष्टिबाणः पतंति ॥

शब्द विच्छेद

तावदास्ते = तावत् + अस्ते
नरस्तावदेवेन्द्रियाणां = नरः + तावत् + एव + इन्द्रियाणां
तावद्विधत्ते = तावत् + विधत्ते
विनयमपि = विनयम् + अपि
समालम्बते = सम + आलम्बते
तावदेव = तावत् + एव
भ्रूचापाकृष्ट = भ्रूचाप + आकृष्ट
यावल्लीलावतीनां = यावत् + लीलावतीनां

शब्दान्वयन

भ्रूचाप आकृष्ट मुक्ताः
श्रवण पथ गताः नीलपक्ष्माणः
लीलावतीनां धृति मुष एत दृष्टि बाणाः यावत् हृदि न पतन्ति
तावदेव नरः सन्मार्गे आस्ते च तावदेव इन्द्रियाणां प्रभवति
तावदेव लज्जां विधत्ते तावदेव विनयम् अपि समालम्बते ।

शब्दार्थ

भ्रूचाप = भौएं रूपी धनुष को
आकृष्ट = खींचकर
मुक्ताः = छोड़े हुए, चलाये हुए—
श्रवण पथ गताः = कानों की ओर निकले
नीलपक्ष्माणः = काले पंख वाले
लीलावतीनां = विलासवतियों के
धृति मुषः = धीरज तोड़
एते दृष्टि बाणाः = यह नयन-बाण, नजर-तीर,
यावत् = जब तक
हृदि न पतन्ति = दिल में न धसें, छाती में न चुभ जाएं
तावदेव = तभी तक
नरः = मनुष्य
सन्मार्गे आस्ते = चाल-चलन निभाये रहता है।
तावदेव = तभी तक
इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों को
प्रभवति = वश में रखता है,
तावदेव = तभी तक
लज्जां विधत्ते = लोक-लाज का ध्यान रखता है (और)
विनयं अपि = नम्रता को भी
समालम्बते = अपनाये रहता है।

भावार्थ

सन्मार्ग का अनुराग, इन्द्रियों पर अधिकार, लज्जाशीलता, विनम्र भावना, सभी सद्गुण पुरुषों में तभी तक विद्यमान रहते हैं जब तक भामिनियों की भौंए तान कर अपने पैने तीर मारती नहीं और जब तक वह नीलपंखी तीर कामिनियों की कनखियों से निकल कानों की राह छूटकर पुरुष के साहस-पराक्रम को चकनाचूर करता हुआ उसकी छाती के भीतर धंस नहीं जाता।

विशेषार्थ

पिछले दो श्लोकों में शास्त्रविद् विद्वानों और शस्त्रधारी साहसी पुरुषों की चर्चा थी। इस श्लोक में उन साधारण जन की बात कही गई है जिन्हें न विद्वान होने का गर्व है और न बलवान बनने का घमंड है। सामान्य जन की विशेषता यह है कि वे साधारणतया रूढ़िवादी होते हैं, धर्म-भीरु होते हैं, भगवान को मानते हैं, कानून से डरते हैं, लोक-लाज का ध्यान रखते हैं, बड़ों का आदर करते हैं, छोटों से प्रेम रखते हैं, धूर्तों से दूर रहते हैं और साधारणतया भले-मानस माने

जाते हैं। यह जन सामान्य समाज का अस्तिपंजर है, फेफड़े श्वास लेते हैं और वे जीवित रहे हैं। रगों में खून बहता है, चलते-फिरते हैं। काम मिलता है तो खाते-पीते हैं। काम नहीं मिलता तो ज्यों-त्यों गुजारा कर लेते हैं। न बढ़ते हैं न गिरते हैं, क्योंकि जोखिम उठाने से कतराते हैं। सदा सादगी से रहते हैं। सन्मार्गी समझे जाते हैं। गुण उभरें या न उभरें, दुर्गुण तो छिपे रहते हैं। छिपे-छिपे रहते हैं, फिर भी एक बार खुल खेलते हैं। कभी-कभी खूब खुल खेलते हैं। सामान्यजन के इस प्रशान्त महासागर में वह तूफान कब उठता है ?

अलबेली चली है। मस्तानी चाल है। तलुवों में मखमली गद्दी है। पग उठते हैं तो उधर छनाछन नूपुर बजते हैं। इधर कान सुनते हैं। आंखें फाड़कर ताकने लगते हैं। वह थम जाती है। ये स्तम्भित हो जाते हैं—"कं न वशी कुरुते भुवि रामा।" गज-तुंड-सी गोल-गोल पिंडलियों पर जंघाद्वय की शोभा, गुरुतर कुच नितम्ब कटि प्रदेश की अलगनी पर अटकजाते हैं। पतली गर्दनिया पर मुखमंडल दमक रहा है। चुबुक पर तर्जनी, अधर पल्लप की ओट से मुक्तावली की झलक, पतली नाक और उसकी नोक पर एक ही एकदम काला तिल, घनघोर घटाओं से लटकी लटें, लटों की ओट में दो-दो धनुष, नाक की नुक्कड़ से कान के कुहर तक, धनुष्टांकार नहीं, वरन् बाण बरोनियों से सरसराते कनखियों से छूटते, कनौतियों को खबर करते जिगर पार कर जाते हैं। व्याकुल हैं, टटोलते हैं, दिल गायब, है भी कि नहीं—जानो वहीं हमें भी मन हो जहां हमारा—मन के पीछे-पीछे दौड़ते मनमोहिनी के दर्शन पाते हैं। धन्य-धन्य मोहिनी मूर्ति। मेघालय की मेखलांगी, घनाच्छादित आकाश गरजे नहीं, बरसे अवश्य। लटों से टप-टप बूंदें टपकें। स्वेतांगी का स्वेत वस्त्र तरबतर। अमृतवृष्टि अथवा ब्रह्मा की साक्षात् सृष्टि। कर्तार कलाकार ने रेखा चित्र पर ताजे रंग भर दिये। प्रस्तुत रूप में ऊंच-खाल उभर आये। अपौरुषेय आकृति में पुरुष समा गया। सूखी धरती में दूब अंकुरित हुई। शरीर भर रोंगटे खड़े हो गये। साधारण जन सही, पुरुष पुरुष ही है। शीतल सागर में यों बड़वानल धधक उठते हैं।

श्लोक ७५

उन्मत्तप्रेमसंरम्भादारभन्ते यदंगनाः।
तत्र प्रत्यूह्माधातुं ब्रह्माऽपि खलु कातरः॥

शब्द विच्छेद

संरम्भादारभन्ते = संरम्भात् + आरम्भन्ते
यदंगनाः = यत् + अंगनाः
प्रत्यूहमाधातुं = प्रत्यूहम् + आधातुं
ब्रह्मापि = ब्रह्मा + अपि

शब्दान्वय

अंगनाः उन्मत्त प्रेम संरम्भात् यत् आरम्भन्ते
तत्र प्रत्यूहं अधातुं ब्रह्मा अपि खलु कातरः ।

शब्दार्थ

अंगनाः = युवतियां
उन्मत्त = उत्कट चाह के
संरम्भात् = वलवला के साथ
यत् आरम्भन्ते = जो पग उठाती हैं
प्रत्यूहं आधातुं = उलट चलने में, बाधा डालने में
ब्रह्मा अपि = सृष्टिकर्ता ब्रह्मा भी
खलु कातरः = एकदम घबराता है ।

भावार्थ

ललनाएं जिस काम को अपने अटल इरादे से उठाती हैं उसको उलटने में ब्रह्मा भी घबरा जाता है ।

विशेषार्थ

जल में आग लगते देख लिया पिछले श्लोक में । भर्तृहरि कहता है—कतरिया जहां कातर है वहां कामिनी कामयाब है । प्रकृति सुप्तात्मा को जाग्रत करती है । शरीरधारिणी प्रकृति वास्तविक प्राणदायिनी है । पुरुष प्रकृति की ओर ठीक वैसे ही दौड़ पड़ता है जैसे वछड़ा गाय की ओर । गुरुत्वाकर्षण का अद्वितीय यंत्र है अंगना ।

अबला के इस प्रबल शक्ति का स्रोत है प्रेम । चारों ओर प्रेम बिखेरे जाना प्रकृति का स्वभाव है, और प्रकृति का आत्यंतिक विकसित स्वरूप ही नारी है। प्रकृति के सदृश नारी के अस्तित्व के भी दो मूलभूत अंग हैं—एक तप, दूसरा दान । तप में ही उसका जन्म है और दान में ही उसका जीवन । तप की वह तीक्षणता और दान का वह दाक्षिण्य उसे अप्रतिहत शाप और अप्रेमेय वरदान की शक्ति प्रदान करते हैं । जिलाने वाला भी और जलाने वाला भी, दोनों रूप धर सकता है नारी का प्रेम । उसकी आसक्ति ध्वंसात्मक भी है और निर्माणात्मक

भी। स्वर्ग और नरक दोनों ही चेरी बनकर नारी की निगाहों को निरंतर निहारा करते हैं कि आगंतुओं का अविलम्ब स्वागत कर सकें। देवगण कदाचित् इसीलिए अनिमेष कहाते हैं कि उनसे कहीं नारी की निगाहों को ताड़ लेने में चूक न हो जाय।

देवादि देव सृष्टिकर्ता ब्रह्मा भी नारी के आग्रह के आगे आवाक् रह जाते हैं। क्यों न हो, उनकी जिह्वा पर स्वयं वाणी विराजमान है। सरस्वती में स्वजातीय सहानुभूति होनी ही चाहिए। अकेले वाक् पर ही ताला पड़ा नहीं है। उससे भी भीतर की ओर हृदय पर भी नारी का आधिपत्य है। विष्णु भगवान के हृदय में भी लक्ष्मी आसन जमाये बैठी है। पालनहार विष्णु भगवान नारी के संकल्प के प्रतिकूल चलने की कल्पना भी नहीं कर सकते। चंडी-चामुंडी मुंडमाला-धारिणी महाकाली के रौद्राकार के सामने शंकर भगवान भी निश्चेष्ट पड़ जाते हैं। नारी संकल्प-भर करले, बस सृष्टि का कायाकल्प हो जाय, कल्पान्त हो जाय।

नारी की प्रेममूर्ति में वह क्रोधाग्नि तभी प्रज्वलित होती है जब उसकी दानशीलता में अवांतर उपस्थित हो तब सति अपने पति का, स्थान का, संतान का, सम्पत्ति का और सत्ता का भी अपने-आपको एकमात्र स्वामिनि मानती है। चराचर जगत में अनेकों उदाहरण उपलब्ध हैं। साधारण पेड़ को लीजिए, जिस स्थान पर वह अंकुरित हो वहां जड़ों का जाल बिछाकर उस स्थान को बांध रखता है। फूल तोड़ो, फल खाओ, पेड़ प्रसन्न होगा। डाल भी काटो तो दुखी न होगा। पर स्थानभ्रष्ट होना उसे कदापि सह्य नहीं। जंतु-जाति में कुत्ते का प्रेम प्रसिद्ध है। उसे भी स्थान और संपत्ति से उतना ही मोह होता है जितना संतान से। एक घटना सुन लीजिए एक गांव पर दुश्मनों का धावा हुआ। लोगों को मारा-पीटा, भगा दिया। माल-मता लूट लिया। सारे घरों को आग लगा दी। लेखक को घटनास्थल पर घटना के दसवें दिन पहुंचने का अवसर मिला। काल-भैरव, एक काला कुत्ता, उस अकेले को ही वहां पाया जो मेरे स्वागत के लिए आगे आया। साथ-साथ गांव-भर-घूमा। मगर मैं जब गांव छोड़कर बाहर आया तब कुत्ते ने मेरा साथ छोड़ दिया और अपने स्थान पर जा रहा।

उपर्युक्त स्थान, संतान, सम्पत्ति या सत्ता यह सब बाह्यरूप कुछ हों स्त्री के लिए मूल प्रेरक प्रेम ही है। "उन्मत्त प्रेम संरम्भात्," जब नारी प्रेम में पागल हो जाती है तब वह जो कदम उठायेगी—उसे रास्ते का कोई छोटा-मोटा कांटा क्या, विकराल काल भी नहीं रोक सकेगा।

श्लोक ७६

तावन्महत्वं पाण्डित्यं कुलीनत्वं विवेकिता ।
यावज्ज्वलति नांगेषु हतः पंचेषुपावकः ।।

शब्दविच्छेद

तावन्महत्वं = तावत् + महत्वं
यावज्ज्वलति = यावत् + ज्वलति
नांगेषु = न + अंगेषु
पंचेषुः = पंच + इषुः

शब्दान्वय

यावत् हतः पंचेषु पावकः अंगेषु न ज्वलन्ति
तावत् महत्वं पांडित्यं कुलीनत्वं विवेकिता ।

शब्दार्थ

यावत् = जब तक	तावत् = तब तक, तभी तक
हतः = मुआ	महत्वं = बड़प्पन,
पंचेषु = पंच बाण	पांडित्यं = विद्वत्ता
पावकः = अग्नि	कुलीनत्वं = उच्च कुल
अंगेषु = अंगों में, शरीर में	विवेकिता = भले-बुरे की तमीज बनी रहती है ।
न ज्वलति = नहीं जल पड़ती	

भावार्थ

मनुष्य के मन में मदनाग्नि के प्रज्वलित होते ही महापुरुष भी अपने महत्व को भूल जाते हैं, पंडित अपने पांडित्य को उठाकर रख देते हैं, कुलीन अपने घराने की मर्यादा खो बैठते हैं और विचारवान भले-बुरे का ध्यान तज देते हैं और कामिनी के जाल में फंस जाते हैं ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में स्त्री की सामर्थ्य जताने के बाद इसमें पुरुष की दुर्बलता पर

प्रकाश डाला गया है। प्रायः पुरुषों को एवं स्त्रियों को भी समाज में मान-मर्यादा का स्तर जन्म से प्राप्त होता है। समाज उस मान-मर्यादा की परिपाटी को स्वयं निभाता है। और व्यक्तियों द्वारा निबाह लेने की आशा रखता है।

अधिकार-सम्पन्न, धन-सम्पन्न, वंश परम्परागत भद्र पुरुषों को समाज आदर की दृष्टि से देखता है। इनमें से प्रत्येक के साथ कोई-न-कोई महत्त्व लगा हुआ है। उनमें यदि अन्य गुण न भी हों तब भी वे आदर के पात्र माने जाते हैं। जमींदार, मुखिया के हाथ में कुछ अधिकार चले आते हैं। महाजन है तो समय-कुसमय लोगों को कर्ज देता है। ब्राह्मण पुरोहित है तो जन्म-मरण, शादी-विवाह में लोगों को उससे काम पड़ता है। किसी गरीब का घराना ही बड़ा होता है। उसके पूर्वज कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किये होते हैं। उनके वंशजों को भी सब लोग बड़ा मानते हैं। वे स्वयं भी अपने को अन्य जनों से अधिक समझते हैं और दैनिक जीवन में अपने समान ऊंचे कहाने वालों के साथ ही उठते-बैठते हैं और रिश्ता-नाता जोड़ते हैं। उनके घर कोई आवे या वे स्वयं किसी के घर जाये, दूसरे प्रणाम कहेंगे तभी सिर हिलाकर अशीश देंगे। अपने घर कोई आया तो प्रणाम स्वीकार करेंगे, या जीभ हाथ हिलाकर आप बैठे रहेंगे और दूसरा या तो खड़ा रहेगा और आज्ञा पाकर कुछ हटकर बैठेगा। सभा पंचायत में सब नीचे बैठेंगे तो आप खाट पर, वह भी पायताने नहीं,सिरहाने की ओर बैठेंगे। यहां तक कि भगवान के मंदिर में आरती प्रसाद उन्हें पहले मिलना होगा, नहीं तो स्वीकार नहीं करेंगे। इसी में वे अपना बड़प्पन समझते हैं और समाज भी उसे मानता है।

परन्तु यही लोग जवान, अधेड़ हों या बूढ़े, अंत्य-जाति कहाने वाली कन्याओं के सिर पर हाथ फेरने, चरण जांघ स्पर्श करने और मुख-चुम्बन में अपने उस महत्त्व को भूल जाते हैं। घर और बाहर मान का ध्यान है। मंदिर और चौपाल में मर्यादा का विचार है। परन्तु मन-मोहनी को नियरा कर मान मर्यादा का निराकरण वे अपना परमधर्म मानते हैं। चोरी-छिपे नहीं, खुल्लम-खुल्ला मानमर्यादा को मटियामेट करने में भी वे नहीं हिचकते। कामदेव को पुष्पबाण कहते हैं। पंचबाण भी उन ही का नाम है, क्योंकि अरविंद, अशोक, आम, मोतिया तथा नील-कमल ये पांचों फूलों से कामदेव बाणों का काम लेते हैं। अर्थात् इन फूलों में कामोद्रेक की शक्ति है।

श्लोक ७७

शास्त्रज्ञोऽपिप्रगुणितनयोऽप्यात्मबोधोऽपि बाढं
संसारेऽस्मिन्भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम् ।
येनैतस्मिन्निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्ती
वामाक्षीणां भवति कुटिला भ्रूलता कुंचिकेव

शब्द विच्छेद

शास्त्रज्ञोऽपि = शास्त्रज्ञः + अपि
प्रगुणितनयोऽप्यात्मबोध्योऽपि = प्रगुणितनयः + अपि + आत्मबोधः + अपि
येनैतस्मिन्निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्ती = येन + एतस्मिन् + निरयरगरद्वारम् + उद्घाटयन्ती
कुंचिकेव = कुंचिका + इव

शब्दान्वय

येन एतस्मिन् संसारे वामक्षीणां कुटिला भ्रूलता
कुंचिका इव निरय नगर द्वारम् उदघाटयन्ती भवति
तेन शास्त्रज्ञः अपि प्रगुणितनयः अपि बाढंआत्मबोधः अपि
अस्मिन् संसारे सत् गतीनां भाजनं विरलः भवति ।

शब्दार्थ

येन = जिस कारण
एतस्मिन् संसारे = इस संसार में
वामाक्षिणां = तिरछी चितवन की
कुटिला भ्रूलता = टेढ़ी भौएं
कुंचिका इव = चाबी की भांति
नरियनगर द्वारम् = यमपुरी के फाटक
उदघाटयन्ती भवति = खोले देने में समर्थ है

तेन एव = उसी कारण
शास्त्रज्ञः अपि = समस्त शास्त्रों का ज्ञाता भी क्यों न हो
प्रगुणितनयः अपि = महागुणी तथा विशेषज्ञ भी हो
बाढं आत्मबोधः अपि = महान् आत्मज्ञानी भी हो
अस्मिन् संसारे = इस संसार में
सदगतीनां भाजनं = सदगति की प्राप्ति
विरलः भवति = किसी विरले ही को होगी ।

भावार्थ

समस्त शास्त्रों के मर्मज्ञ पंडित ही क्यों न हों, महान नीतिकुशल ही क्यों न हों और तत्वज्ञ भी क्यों न हों, उनमें बिरला ही सद्गति को प्राप्त होगा अर्थात् संसार में सबकी दुर्गत ही बनेगी। इसलिए कि यहां कामिनयों की कुटिलभ्रुकुटी चाबी बनकर नरक के कपाट खोलने में सर्वदा समर्थ है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में विद्वानों, बलवानों, सदाचारियों और साधारणजनों की स्त्री-लोलुपता तथा असमर्थता दिखाने के बाद इस श्लोक में विशेषज्ञों की बात उठायी गयी है। विशेषज्ञों को तीन श्रेणियों में बांटा गया है—१. शास्त्रज्ञ अर्थात् सिद्धान्तवादी, २. नीति-निपुण अर्थात् राजकीय तथा सामाजिक जटिलताओं को सुलझा सकने में समर्थ, ३. तत्वज्ञ अर्थात् पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक तथा मुक्ति-बंधन का विचार रखने वाले। यही वे लोग हैं जो समाज-व्यवस्था के स्थायित्व में सक्रिय रहते हैं। समाज की सारी जिम्मेवारी इन ही लोगों पर है। समाज बनता है तो इनके कारण बनता है और अगर बिगड़ता भी है तो इन ही के कारण बिगड़ता है। क्योंकि जन साधारण सम्मानित व्यक्तियों का सदा अनुकरण करते हैं। समाज बिगड़ा है, इस प्रकार कहने के सीधे अर्थ हैं कि समाज के सम्मानित व्यक्तियों का पतन हो चुका है और ये समाज को लें मरेंगे। फिर भी समाज की सामूहिक समन्वय शक्ति के कारण समाज पनप सकता है, किन्तु अंततोगत्वा उन तथाकथित सम्मानित व्यक्तियों की दुर्गति अवश्य होगी।

ऊपर गिनाये गये उच्च कोटि के व्यक्तियों के पतन का मूल कारण बताया गया है कामिनी और कामिनी की कुटिल भ्रूलता। भामिनियों की भौएं टेढ़ी होती हैं, परन्तु यहां कुटिल शब्द का प्रयोग हुआ है, इसलिए यहां सच्चे प्रेम का प्रश्न नहीं है। भौएं नाचती हैं तो नचाती भी हैं। उनमें कुटिल चाल छिपी होती है। उन चालों में फंसकर विद्वान अपने सिद्धांत भूल जाते हैं। मूलभूत सिद्धान्तों का झूठा समाधान देकर समाज को भुलावे में डाल देते हैं। उस समय वे समाज या सिद्धान्तों के प्रति उचित श्रद्धा को त्यागकर स्वार्थवश कुटिल कामिनी के क्रीत-दास बन जाते हैं। यही बात शासन-चक्र के संचालक तथा तत्वोपदेशक सत्पुरुषों पर भी सिद्ध होती है। शृंगार का विषय होने के कारण यहां कामिनी को कारक बनाया गया है। किंतु यह मानी हुई बात है कि कामिनी-कांचन में चोली-दामन

का साथ है। इसी प्रकार सद्‌गति-दुर्गति भी स्वर्ग, नरक के समान हैं। परन्तु जब संसार में ही सम्मान नहीं रहेगा तो स्वर्ग तक कौन पहुंच पायेगा और जिसे समाज लतियाये वह सीधे नरक ही जायेगा—प्रायः जीवन काल में ही।

श्लोक ७८

कृशः काणः खंजः श्रवणरहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः॥

शब्द विच्छेद

शतैरावृत = शतैः + आवृत
कपालार्पित = कपाल + अर्पित
शुनीमन्वेति = शुनीम् + अन्वेति
हतमपि = हतम् + अपि
हन्त्येव = हन्ति + एव

शब्दार्थ

कृशः = दुबला
काणः = काणा
खंजः = लंगड़ा
श्रवण रहितः = कन-कटा
पुच्छ विकलः = पूंछ-टूटा
व्रणी = फोड़ा-फूटा
पूय क्लिन्नः = पीप-मवाद झरता
कृमि कुल शतैः = सैकड़ों-हजारों कीड़ों से
आवृत तनुः = भरा शरीर

क्षुधा क्षामः = भूख से पीड़ित
जीर्णः = बूढ़ा पंजर
पिठरक कपाल = हांडी का मुंह
अर्पित गलः = गले में फंसाये
श्वा = एक कुत्ता
शुनीम अन्वेति = कुतिया के पीछे-पीछे चला है
मदनः = कामदेव
हतम् अपि च = मरियल को भी
हन्ति एव = मारता ही है।

भावार्थ

बूढ़ा, दुबला, कमजोर काणा, लंगड़ा, कनकटा, पूंछ टूटा, फोड़ा फूटा, कीट भरा, पीप झरा, भुखमरा, जूठी हंडिया का गला गले में लटकाये हुए एक मरियल कुत्ता भी कुतिया के पीछे-पीछे चला है। मदन की महिमा तो देखो कि मरियल को भी मदोन्माद मारे डाल रहा है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में उत्कृष्ट प्रतिभावान व्यक्तियों के उदाहरण दिये गये थे। इसमें सृष्टि के निकृष्ट जंतु का दृश्य प्रस्तुत किया है और बताया गया है कि जहां तक काम-विकार का सम्बन्ध है प्राणिमात्र समान हैं।

सरकसों में कुत्तों के कर्तब दिखाये जाते हैं। शहरों में आजकल कुत्ता-प्रदर्शनियों का आयोजन होता है। क्या कभी आपने किस ऐसे कुत्ते के भी दर्शन किये हैं ? भर्तृहरि के इस भक्त को तो वह सौभाग्य भी प्राप्त है। भर्तृहरि के कुत्ते से भी भक्त का कुत्ता कुछ बढ़ा-चढ़ा ही था।

लगभग साठ वर्ष पुरानी बात है। आंध्र प्रदेश का एक कुग्राम अमराबाद। खंडहर पुकार उठते हैं कि कभी वह भी गरिमामय नगर था, किसी राजा की राजधानी पूर्वी घाटों के पठार पर वर्तमान श्रीशैल-विद्युत-परियोजना के परिसर प्रांत में। अमराबाद अब एक छोटा-मोटा गांव-भर रह गया है। इधर तहसील का दफ्तर बदलने के बाद और गिर गया। अमराबाद का साठ साल पुराना वह चित्र आंखों के सामने फिर गया इस श्लोक को पढ़ने पर। पटवारी के घर से एक अच्छी-खासी गली चली है पुलिस के थाने की ओर। चित्ता नक्षत्र का मौसम था। पटवारी के घर के पास से थाने की ओर कुत्तों का एक जलूस जा रहा था। आगे-आगे एक कुतिया और पीछे-पीछे कई एक कुत्ते। छेड़छाड़, डांट-डपट और नारेबाजी का नजारा था। लगता था थाने पर धावा बोलने जा रहे हैं या रपट लिखाने। रपट कुतिया की ही रही होगी, क्योंकि पीछे उसके इतने सारे कुत्ते लगे थे। उस जलूस में कुतिया सबसे आगे थी तो भर्तृहरि का यह कुत्ता सबसे पीछे। इस भक्त को तब आकर्षित किया तो अब तक अंकित है मन पर उसका चित्र। भक्त का वह कुत्ता बढ़ा-चढ़ा इसलिए कि कान से गर्दन तक उसके बहुत बड़ा घाव था—हूबहू मवाद टपक रहा था, कीड़े कुलबुला रहे थे। पीड़ा के मारे सिर एक ओर झुकाये चल रहा था वह कुत्ता। ऐसे कुत्ते को किसी गरीब की बिन-किवाड़ झोंपड़ी

का साथ है। इसी प्रकार सद्गति-दुर्गति भी स्वर्ग, नरक के समान हैं। परन्तु जब संसार में ही सम्मान नहीं रहेगा तो स्वर्ग तक कौन पहुंच पायेगा और जिसे समाज लतियाये वह सीधे नरक ही जायेगा—प्राय: जीवन काल में ही।

श्लोक ७८

कृश: काण: खंज: श्रवणरहित: पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्न: कृमिकुलशतैरावृततनु:।
क्षुधाक्षामो जीर्ण: पिठरककपालार्पितगल:
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदन:॥

शब्द विच्छेद

शतैरावृत = शतै: + आवृत
कपालार्पित = कपाल + अर्पित
शुनीमन्वेति = शुनीम् + अन्वेति
हतमपि = हतम् + अपि
हन्त्येव = हन्ति + एव

शब्दार्थ

कृश: = दुबला
काण: = काणा
खंज: = लंगड़ा
श्रवण रहित: = कन-कटा
पुच्छ विकल: = पूंछ-टूटा
व्रणी = फोड़ा-फूटा
पूय क्लिन्न: = पीप-मवाद झरता
कृमि कुल शतै: = सैकड़ों-हजारों कीड़ों से
आवृत तनु: = भरा शरीर

क्षुधा क्षाम: = भूख से पीड़ित
जीर्ण: = बूढ़ा पंजर
पिठरक कपाल = हांडी का मुंह
अर्पित गल: = गले में फंसाये
श्वा = एक कुत्ता
शुनीम अन्वेति = कुतिया के पीछे-पीछे चला है
मदन: = कामदेव
हतम् अपि च = मरियल को भी
हन्ति एव = मारता ही है।

भावार्थ

बूढ़ा, दुबला, कमजोर काणा, लंगड़ा, कनकटा, पूंछ टूटा, फोड़ा फूटा, कीट भरा, पीप झरा, भुखमरा, जूठी हंडिया का गला गले में लटकाये हुए एक मरियल कुत्ता भी कुतिया के पीछे-पीछे चला है। मदन की महिमा तो देखो कि मरियल को भी मदोन्माद मारे डाल रहा है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में उत्कृष्ट प्रतिभावान व्यक्तियों के उदाहरण दिये गये थे। इसमें सृष्टि के निकृष्ट जंतु का दृश्य प्रस्तुत किया है और बताया गया है कि जहां तक काम-विकार का सम्बन्ध है प्राणिमात्र समान हैं।

सरकसों में कुत्तों के कर्तब दिखाये जाते हैं। शहरों में आजकल कुत्ता-प्रदर्शनियों का आयोजन होता है। क्या कभी आपने किस ऐसे कुत्ते के भी दर्शन किये हैं? भर्तृहरि के इस भक्त को तो वह सौभाग्य भी प्राप्त है। भर्तृहरि के कुत्ते से भी भक्त का कुत्ता कुछ बढ़ा-चढ़ा ही था।

लगभग साठ वर्ष पुरानी बात है। आंध्र प्रदेश का एक कुग्राम अमराबाद। खंडहर पुकार उठते हैं कि कभी वह भी गरिमामय नगर था, किसी राजा की राजधानी पूर्वी घाटों के पठार पर वर्तमान श्रीशैल-विद्युत-परियोजना के परिसर प्रांत में। अमराबाद अब एक छोटा-मोटा गांव-भर रह गया है। इधर तहसील का दफ्तर बदलने के बाद और गिर गया। अमराबाद का साठ साल पुराना वह चित्र आंखों के सामने फिर गया इस श्लोक को पढ़ने पर। पटवारी के घर से एक अच्छी-खासी गली चली है पुलिस के थाने की ओर। चित्ता नक्षत्र का मौसम था। पटवारी के घर के पास से थाने की ओर कुत्तों का एक जलूस जा रहा था। आगे-आगे एक कुतिया और पीछे-पीछे कई एक कुत्ते। छेड़छाड़, डांट-डपट और नारेबाजी का नजारा था। लगता था थाने पर धावा बोलने जा रहे हैं या रपट लिखाने। रपट कुतिया की ही रही होगी, क्योंकि पीछे उसके इतने सारे कुत्ते लगे थे। उस जलूस में कुतिया सबसे आगे थी तो भर्तृहरि का यह कुत्ता सबसे पीछे। इस भक्त को तब आकर्षित किया तो अब तक अंकित है मन पर उसका चित्र। भक्त का वह कुत्ता बढ़ा-चढ़ा इसलिए कि कान से गर्दन तक उसके बहुत बड़ा घाव था—हूबहू मवाद टपक रहा था, कीड़े कुलबुला रहे थे। पीड़ा के मारे सिर एक ओर झुकाये चल रहा था वह कुत्ता। ऐसे कुत्ते को किसी गरीब की बिन-किवाड़ झोंपड़ी

में ही पहुंच हो सकती थी। चावल की जूठी हंडिया में मुंह घुसेड़ चाट रहा होगा। आहट पाकर अंधी बुढ़िया ने लाठी जो दे मारी तो कुत्ता हण्डिया समेत भाग पड़ा। दर-दीवार से टकराकर हण्डिया फूट गयी । हंडिया के साथ चावल भी जाता रहा और रह गया गले में हंडिया का गोल गला हंसुली बनकर । कंठाभरण पहने वर-माल डालने गया श्वान-स्वयंवर के उस समारोह में । कोने-कोने से एकत्रित श्वान वीरों को यह कहां बर्दाश्त होने चला । किसी ने कान काट लिये । किसी ने पूंछ पकड़ चबा डाली । विचारा भक्त कुत्ता पीछे रह गया । पर आस है कि उसे आगे ही आगे बढ़ाये ले जा रही है । क्या कामातुर भी कभी कातर हो सकता है ?

क्या कामक्रीड़ा में मानव-जाति श्वान-जाति से कहीं गयी गुजरी बन सकती है ? क्या कभी किसी ने भिखारियों की भीड़-भाड़ में दिन बिताये हैं ? क्या कभी आपने किसी सूरदास का संगत किया है ? किसी अंधे भिखारी को किसी लंगड़ी प्रेयसी के पीछे कंधे पर हाथ दिये चलते नहीं देखा ? क्या किसी लुंज-पुंज कोढ़ी को कोढ़िन से गलबाहीं होकर कानाफूसी करते नहीं देखा ? क्या किसी तीर्थ-स्थान में नेत्र-हीन कुलीन ब्राह्मण रुंड-मुंड दंड-कमंडलु-धारी संन्यासी को आकाश-वृत्ति पर अन्न क्षेत्र सदाव्रत चलाते हुए बोडकी ब्राह्मणी की सफा-चटघुटी-घुटायी खोपड़ी को सिहलाते-खिलखिलाते देखा है ? 'नहीं,' न कहिए, इतने भोले-भाले न बनिए। भला काम देव से किसे काम नहीं पड़ता ।

श्लोक ७९

स्त्रीमुद्रां कुसुमायुधस्य जयिनीं सर्वार्थसंपत्करीं
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचित्पंचशिखीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥

शब्द विच्छेद

र्वा =सर्व +अर्थ
फलान्वेषिणः =फल +अन्वेषिणः

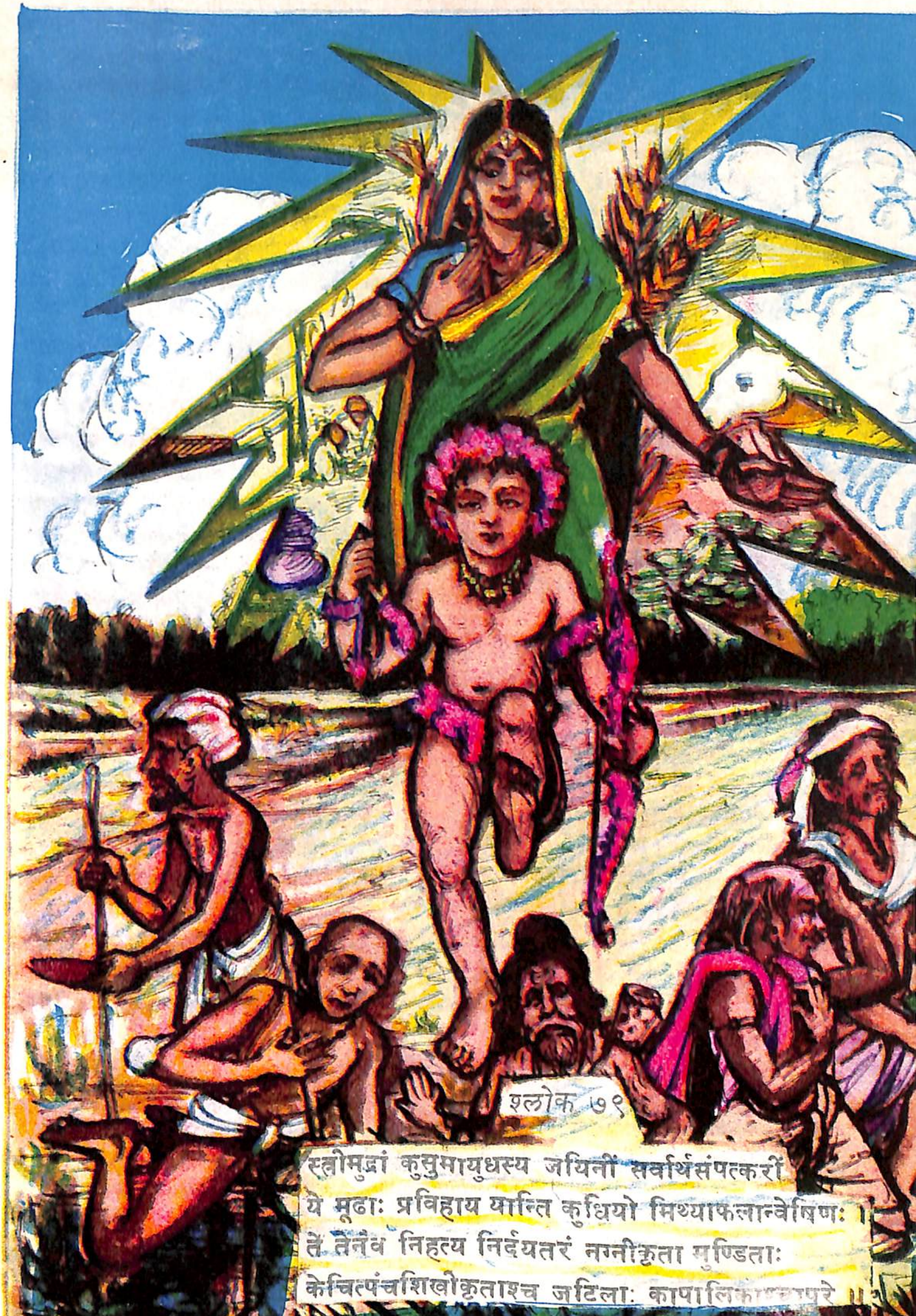

श्लोक ७९

स्त्रीमुद्रां कुसुमायुधस्य जयिनीं सर्वार्थसंपत्करीं
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचित्पंचशिखीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥

तेनैव = तेन + एव
केचित्पंचशिखीकृताश्च = केचित् + पंचशिखी कृताः + च
कापालिकाश्चापरे = कापालिकाः + च + अपरे

शब्दान्वय

कुधियाः मिथ्या फल अन्वेषिणः
सर्व अर्थ सम्पत् करीं कुसुम आयुधस्य जयिनीं स्त्री मुद्रां
प्रविहाय ये मूढ़ाः यान्ति ते तेन एव निर्दयतरं निहत्ये
नग्नीकृताः मुण्डिताः केचित् पंच-शिखी कृताः
च केचित् जटिलाः कृताः केचित् अपरे कापालिकाः कृताः

शब्दार्थ

कुधियाः = मूर्ख
मिथ्या फलः = जूठे ही पुण्य-फल के
अन्वेषिणः = खोजी, लालची बनकर
सर्व अर्थ = सभी फल देकर
संपत करीं = सर्वसम्पन्न करनेवाली
कुसुम आयुधस्य = पुष्पबाण कामदेव को
जयिनीं = प्रसन्न करने वाली
स्त्री मुद्रां = मोहिनी मुद्रा स्त्री को
प्रविहाय = त्याग कर
ये मूढ़ाः = जो मूर्ख
यान्ति = चल पड़ते हैं
ते = वे
तेन एव = उसी कामदेव द्वारा
निर्दयतरं = घोर निर्दयता से
निहत्ये = मारे जाकर, पिटपिटाकर
नग्नीकृताः = कपड़े उतरवा कर नागा बाबा बना दिये गये
मुण्डिताः = सिर मूंडकर संन्यासी बना दिये गये
केचित् = किसी-किसी को
पंचशिखी कृता = सारा सिर मूंडकर जगह-जगह पांच-पांच चोटियां छोड़ दी गयीं।
केचित् = तो किसी-किसी को
जटिलाः कृताः = जयघाटी बना दिया गया
केचित् अपरे = कुछ औरों को
कापालिकाः कृताः = खप्पर देकर भिखारी बना दिया गया।

भावार्थ

नारी रूपिणी प्राणी, एक ओर कामदेव को प्रसन्न करने में और दूसरी ओर नर का धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों फल प्रदान करने में, पूर्णतया समर्थ है। जो मूर्ख ऐसी श्रीमुद्रा को त्याग कर अन्य स्थल में फल प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं उन्हें पुष्पबाण कामदेव घोर निर्दयी

बनकर कठोरतर दंड देते हैं। किसी को वे निर्वसन करके नंगा नागा बाबा बना घुमाते हैं तो किसी का सिर मुंडवा कर संन्यासी बाबा बना देते हैं। किसी को मजाकिया पंच शिखाधारी बना देते हैं तो किसी के जटाजूट छुड़वाकर वैरागी बाबा बना देते हैं और किसी-किसी के हाथ में खप्पर थमाकर भिखमंगा बना देते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में देखा गया कि उच्चातिउच्च व्यक्ति से लेकर नीचातिनीच प्राणी तक कोई भी कामवासना से मुक्त नहीं है। यदि कोई है तो वह स्वयं ही जाने, कहां तक वह सफल है। जब कबीर सदृश संतों को कहते सुनते हैं—"मैं कुटिल खलु कामी," तब ये लाखों ब्रह्मचारी, साधु-संन्यासियों पर कौन विश्वास किया जा सकता है। भर्तृहरि कहते हैं कि यह सजायाफ्ता मुजरिम हैं। अपना-अपना दण्ड भोग रहे हैं। संसार में चोरी, डकैती, हत्या आदि अपराधों पर सरकार लोगों को सजा देती है। उन्हें साल दो साल, दस साल या आजीवन कारावास का दंड भोगना पड़ता है। ये सब सजाएं छोटी-मोटी सरकारें दिया करती हैं। किंतु कामदेव महाराज सारे जगत के साम्राट् हैं। वही प्रत्येक प्राणी के जन्मदाता तथा जीवनाधार हैं। प्राणिमात्र आनंदमय जीवन बिताया करे और संसार चलता रहे, यही उनका एकमात्र विधान है और वह विधान स्वर्ग, मर्त्य, पाताल तीनों लोकों में समान रूप से लागू है। चौरासी लाख योनियों में एक मानव-योनि ही ऐसी है जिसमें कुछ लोग कामदेव महाराज के इस सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक विधान का उल्लंघन करने की धृष्टता करते हैं। परमपद-प्राप्ति की लालसा में विलासमय जीवन को धुत्कार कर काम-विधान का उल्लंघन करने का दुस्साहस करते हैं। कोई बाल-ब्रह्मचारी बनता है। कोई विवाहित पत्नी को त्याग कर संन्यास लेता है। कोई मौनी बाबा बनता है। कोई नागा बाबा बनता है। कोई हठयोग की साधना से समाधिस्थ होने की चेष्टा करता है और कोई कुंडलिनी को जगाकर सहस्त्रार से अमृतवृष्टि की आस लगाये बैठता है। क्यों ? केवल आस जन्म-मरण के चक्कर से बचने के लिए असफल पर हठधर्मी अड़ा रहता है। लाखों साधकों में से यदि एक-आध को मान लें कि सफलता मिलती भी है तो वह गूंगे का गुड़ मात्र है। सफल हों या असफल कामराज की मार तो उनपर पड़ती ही है।

कामदेव ने कहा कि काम द्वारा मोक्ष-कामी बनो। सहस्त्रार के चक्कर में न

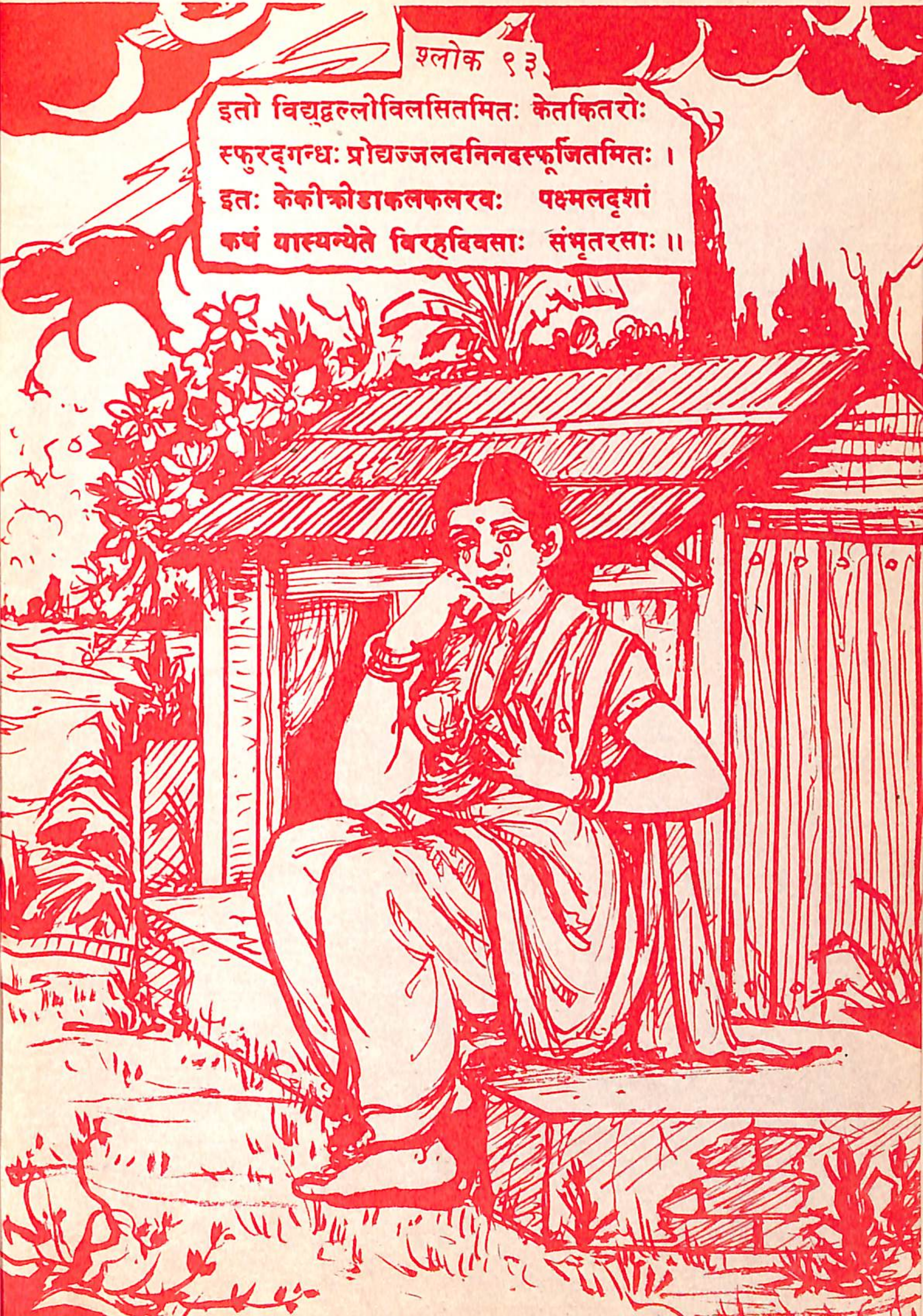

श्लोक ९३

इतो विद्युद्वल्लीविलसितमितः केतकितरोः
स्फुरद्‌गन्धः प्रोद्यज्जलदनिनदस्फूर्जितमितः ।
इतः केकीक्रीडाकलकलरवः पक्ष्मलदृशां
कथं यास्यन्येते विरहदिवसाः संभृतरसाः ॥

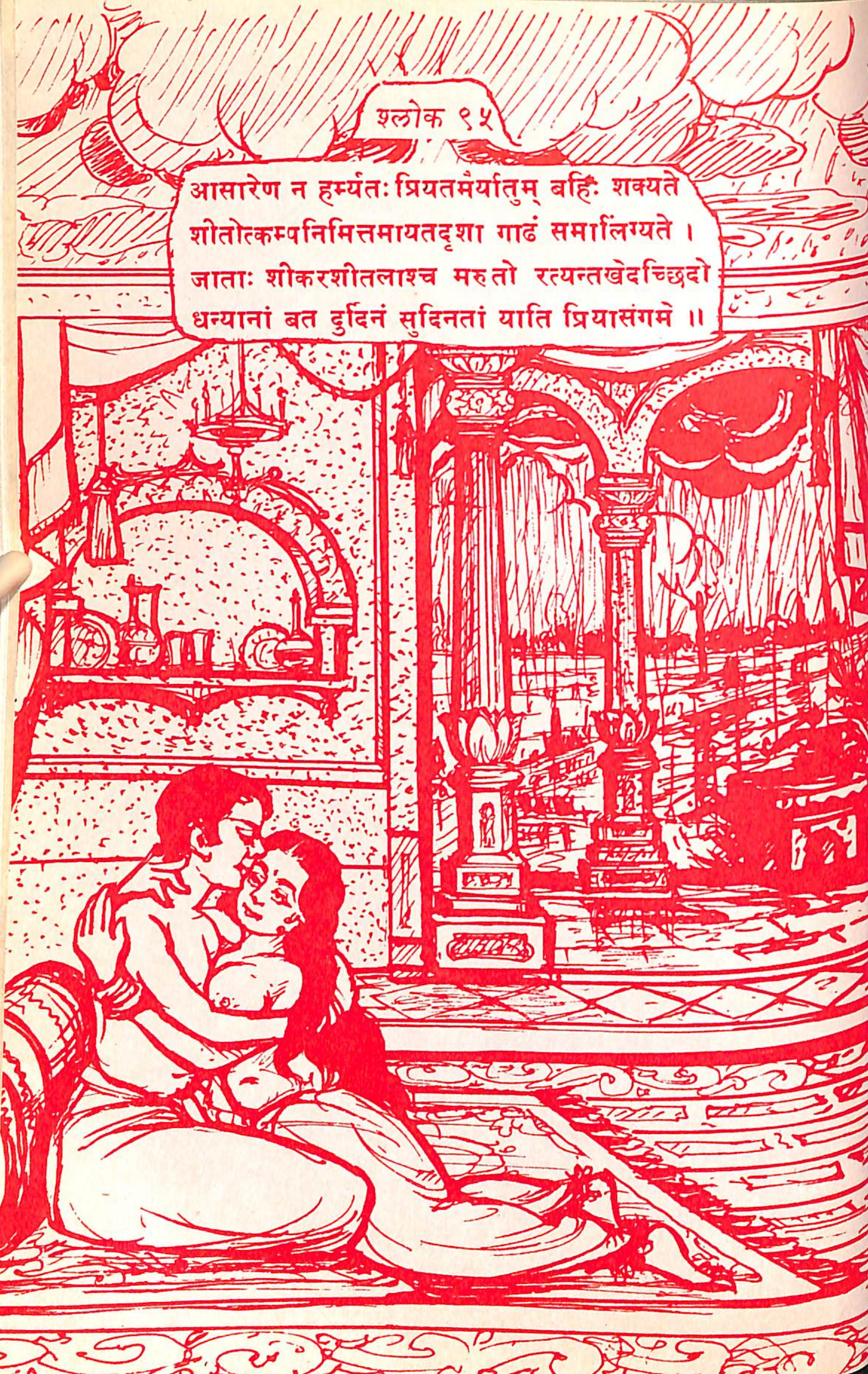

श्लोक १५

आसारेण न हर्म्यतः प्रियतमैर्यातुम् बहिः शक्यते
शीतोत्कम्पनिमित्तमायतदृशा गाढं समालिंग्यते ।
जाताः शीकरशीतलाश्च मरुतो रत्यन्तखेदच्छिदो
धन्यानां बत दुर्दिनं सुदिनतां याति प्रियासंगमे ॥

पड़ो, स्त्री की आराधना करो। घर त्यागो नहीं घर बसा लो और गृहस्थी चलाओ। योगासनों की साधना नहीं,संभोगासन का सेवन करो। नारी को नरकद्वार न कहो, स्वर्ग का सोपान मानो। आत्मानुभव की भावना से प्रेरित होकर आत्मा का हनन न करो। सन्तानोत्पत्ति करके संसार को सार्थक बनाओ। संगत्याग को साधकर संन्यासी न बनो। समाज को समृद्ध और साधन-सम्पन्न बनाओ। सजनी शान्ति-दायिनी है। सम-भोग के कारण ही गृहिणी को सहधर्मिणी कहा गया है। यही तुम्हारा धर्म-कर्म है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों फलों की प्राप्ति इसी से होगी। जिस जननेन्द्रिय से तुम्हारा जन्म हुआ उसे घृणित न मानो। सम्भोगासन वह आसन है जिसमें आकाशगामी आत्माएं अवतरित होती और नौ मास तक वहां आवास करती हैं। सम्भोगानंद वह आनंद है जिसमें आत्मा, आत्मा में एकीभूत होकर परमात्मा का अनुभव करती हैं। बीज में वृक्ष विद्यमान है। क्षणिक आनंद स्थाई आनंद का अंकुर है। सम्भोग के क्षणिक आनंद को परमानंद में परिणत किया जा सकता है। जो कामी नहीं वह मोक्ष-कामी भी नहीं।

'काम' ने संसार में बड़े-बड़े काम किये हैं। सारी सृजनात्मक प्रवृत्तियां 'काम' से उत्पन्न हुई हैं। संसार के बड़े-बड़े मेधावियों, पराक्रमियों के पीछे कामिनी का हाथ रहा है। अनुकूलवतियों ने ही नहीं, प्रतिकूल वर्तिनियों ने भी अपने पतियों को इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य बनाये हैं। यह सब कामदेव की करामात है।

सुख-सम्पदा एवं आनंद प्रदायिनी है कामिनी और स्वर्ग का मार्ग सुगमतर कर डालने वाली है काम-क्रीड़ा। नारी को नरक-द्वार कहनेवाले घोर नाटकीय हैं, प्रवंचक है। अनतिकाल में ही उन्हें आत्मवंचना का आभास होने लगता है। तब वे मन में लज्जित तो होते हैं परंतु प्रकट रूप से दण्ड-कमडलु फेंक-फांक कर पुनः गृहस्थ-धर्म में प्रवेश करने का साहस नहीं करते और उलटे पाखण्ड फैलाते हैं। इस प्रकार वे दोहरे पाप के दोषी बन जाते हैं। इसलिए कामदेव ने उन्हें ऐसे प्रचण्ड दण्ड दिये हैं। सिर मूंड दिये, पंच शिखी बना रखे, जटाजूट बढ़ा दिये, लंगोटी पहना दी और नंगा कर दिया। अर्थात् समाज के सामने पूर्णतया अपमानित किया। दूसरी ओर उन्हें सारे सांसारिक सुखों से वंचित कर दिया। समाज उन्हें खाने-कमाने के लिए किसी काम पर लगाने योग्य नहीं मानता। तब बिचारे क्या करें? पेट तो भरना ही है। उस मरियल कुत्ते की तरह जूठी हंडिया में मुंह डालते और गले में हंडिया की हंसुली लटका लेते हैं। श्रद्धालु भक्तिनों को भुलावा देते हैं कि महात्माओं के साथ सम्भोग आत्मा-ज्ञान के इंजेकशन का काम करता है। अतृप्त काम-वासना से पीड़ित होकर किसी कुतिया के पीछे लग जाते हैं,

पर रह जाते हैं सब के पीछे। पत्नी भी गयी परमात्मा भी गया। घर के रहे न घाट के।

क्रीस्त पादरियों ने इधर कुछ साहस दिखाया है और स्पष्टोक्ति से काम लिया है और स्वाभाविक जीवन अपनाने का निश्चय किया है। मुसलमान फकीरों में यह प्रथा आरम्भ काल से रही है। देश, जाति ही नहीं, मानव मात्र विशेषकर समाज के कर्णधार अपने प्रत्येक कार्य में स्पष्टता तथा स्वाभाविकता से काम लेंगे तभी समाज का उद्धार होगा।

श्लोक ८०

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना—
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुंजन्ति ये मानवा—
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यः प्लवेत्सागरे॥

शब्द विच्छेद

वाताम्बु = वात + अम्बु
पर्णाशनास्तेऽपि = पर्ण + अशनाः + ते + अपि
दृष्ट्वैव = दृट्वा + एव
शाल्यन्नं = शालि + अन्नं
मानवास्तेषामिन्द्रिय = मानवाः + तेषाम् + इन्द्रिय
भवेद्विन्ध्यः = भवेत् + विन्ध्यः

शब्दान्वय

वात अम्बु पर्ण अशनाः ते विश्वामित्र पराशर प्रभुतयः अपि
सुललितं स्त्री मुख पंकजं दृष्ट्वा एव मोहं गताः
ये मानवा सघृतं पयः दधियुतं शालि अन्नं भुंजजति
तेषां इन्द्रिय निग्रहः भवेत् यदि विंध्यः सागरे प्लवेत्।

शब्दार्थ

वात=हवा
अम्बु=पानी
पर्ण=पत्ते
अशनाः=खाकर तपस्या करनेवाले
ते विश्वमित्र=वे विश्वमित्र महर्षि
पराशर प्रभुतयः=पराशर महर्षि आदि
अपि=भी
सुललितं=अति रमणीय
स्त्री मुख पंकजं=स्त्री मुख-कमल को
दृष्ट्वा एव=देखने मात्र से
मोहं गताः=मोहित हो गये
ये मानवाः=जो मनुष्य
सघृतं=घी के साथ
पयः दधियुतं=दूध, दही मिलाकर
शालि अन्नं=शालि चावल
भुंजंति=खाते हैं
तेषां=उनके
इन्द्रिय निग्रहं=इन्द्रिय वश में
भवेत यदि=हो जायें तो
विंध्यः=विंध्य पर्वत, बिन्ध्याचल
सागरे प्लेवत्=सागर पर तैरने के समान है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में साधकों की चर्चा करते हुए बताया गया कि उनकी कैसी दुर्गति होती है। साधारणतया साधना सबसे सम्भव नहीं है। भर्तृहरि ने स्वयं साधना को कहीं बुरा नहीं कहा। वरन् यह मान लिया है कि यदा-कदा साधक सिद्धि भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु साथ ही समाज के जीवन से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बताया है कि उस उच्चकोटि के सिद्ध पुरुषों के लिए भी स्त्री-व्यामोह से बचे रहना कठिन रहा है। विश्वमित्र महर्षि ने घोर तपस्या की ठानी। उनका नाम विश्वमित्र इसीलिए पड़ा कि वह चाहते थे कि संसार में सभी को सद्गति प्राप्त हो और सभी स्वर्गीय सुख भोग सकें और इसके लिए उन्होंने स्वयं स्वर्गाधिपति बनने के उद्देश्य से निष्ठापूर्वक तपस्या आरम्भ कर दी। वर्षों तक अन्न त्याग कर केवल साग-पात खाकर तपस्या करते रहे। उसके बाद साग-पात भी त्याग दिया और केवल जल पीते रहे और अंत में जल को भी त्याग दिया और श्वासोच्छवास को साधकर केवल हवा पर निर्वाह करते रहे। पांच तत्त्वों में से तीन पर महर्षि विश्वमित्र ने पूर्ण अधिकार कर लिया। स्वर्गाधिपति इन्द्र घबरा उठे। अपने आसन की रक्षा के लिए विश्वमित्र की तपस्या भंग करने के अतिरिक्त कोई चारा न रहा। तब उन्होंने स्वर्ग की अप्सराओं में से मेनका को इस काम के लिए नियुक्त किया। मेनका स्वर्ग से भूलोक में उतरी और विश्वमित्र के तपोधाम पर नृत्य-गान करने लगी। बहुत कुछ जतन करने पर भी विश्वमित्र कामाग्नि पर

विजयी न हो सके। तपस्या भंग हुई और उन्होंने देव-कन्या मेनका से संभोग किया जिसके तन से प्रख्यात भारत रत्न शंतनु का जन्म हुआ।

तपोधन पराशर महर्षि स्वर्गीय मेनका पर नहीं, वरन् साधारण मल्लाह की लड़की मत्स्यगंधी पर मोहित हो गये। मल्लाह की लड़की होने से मछलियां पकड़ा करती और खाया करती जिससे उसका सारा शरीर मछली की गंध से बस गया था। पराशर महर्षि ने अपने तपोबल से मछली की गंध मिटा कर उसमें सुगंधि भर दी और वह मत्स्य गंधी से योजन-गंधी बन गयी कि दूर-दूर तक उसकी सुगंधि फैल जाय। पराशर ने उसी नाव पर बीच गंगा में योजनगंधी से सम्भोग किया, जिससे महाभारत तथा अष्टादश पुराणों के प्रणेता वेदव्यास का जन्म हुआ।

इस प्रसंग में किसे ऊंचा मानें ? विश्वमित्र, पराशर को या मेनका, मत्स्यगंधी को ? इसका निर्णय उनके संतान शंतनु और व्यास से करना सरल होगा और सही भी। साम्राट शंतनु से महर्षि वेदव्यास का स्थान निश्चय ही ऊंचा है। अत: मेनका से मत्स्यगंधी बड़ी और बिश्वमित्र से पराशर। कारण भी है। विश्वमित्र की तपस्या में रजोगुण प्रधान था और पराशर में सत्त्वगुण। सम्भोग काल में भी इन ही रजोगुण तथा सत्वगुण की प्रधानता से क्रमेण राजा और ऋषि का जन्म हुआ। इससे यह भी सिद्ध होता है सम्भोग में स्वाभाविकता का कितना बड़ा महत्त्व है। मेनका और मत्स्यगंधी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

घास, पात, हवा, पानी कोई पौष्टिक आहार तो नहीं हैं। आजकल के संतुलित भोजन में उसकी कोई गिनती भी नहीं। पशुपक्षी भी इन ही वस्तुओं पर जीवित रहते हैं। परन्तु मनुष्यों में भी और पशु-पक्षियों में भी असंतुलित अल्पाहार के कारण सम्भोग शक्ति का ह्रास नहीं होता। ऋषि मुनियों का निराहार, निर्जल तपस्या की बात ऋषि-मुनि ही जानें। हम साधारण मनुष्य की बात जरूर जानते हैं। मनुष्य तीन-चार सप्ताह के अनशन काल में भी स्वपत्नी की कामवासना को तृप्त करने की चेष्टा कर सकता है। परन्तु प्राकृतिक जीवन में कामवासना भी कालानुगुण्य होकर व्यसनातीत होती है, स्वाभाविक होती है और यही सफल सम्भोग की विशेषता है।

इसके विपरीत शाली चावल, दूध, घी पुष्टिवर्धक हैं। मानव चाव से इनका सेवन करता है। शालीचावल तो कहीं-कहीं मिलता है और किसी-किसी को मिलता है। शौकीन लोग इनका यत्नपूर्वक प्रबंध करते हैं। दूध-घी तो यों ही कहा गया है, मांस मदिरा आदि कामोद्रेक अन्य आहार भी शाली में शामिल हैं। आहार के सम्बन्ध में इस प्रकार आग्रह जहां हो वहां इन्द्रिय-निग्रह का प्रश्न ही नहीं

उठता। खाने-पीने के समान सम्भोग भी उनके लिए नित्य-कर्म है। शारीरिक व्यसन सामयिक होता है और मानसिक व्यसन असामयिक। अर्थात् उसमें कब और कहां का ध्यान रहता है और इसमें मन में सदा उसी का ध्यान रहता है। हकीम लुकमान से पूछा गया कि खाना किस वक्त खाना चाहिए? जवाब मिला—गरीब को जब मिले और अमीर को जब भूख लगे। लुकमान का यह कथन सम्भोग पर अधिक सुंदर रूप से लागू होता है। मगर मनुष्य एक विचित्र जंतु है कि न मिलने पर भी मल-मल कर मन को शान्त कर लेता है। संसार के सब काम रुकें, पर यह काम कैसे रुकेगा? अतः काम-तृप्ति के स्वाभाविक रूप में अवांतरों का न होना ही श्रेयस्कर है— 'स्त्री मुद्रां सर्वार्थ सम्पत्करीं', सजनी को जीवन संगिनी बनाओ और स्वर्गीय सुख भोगो, क्योंकि कामेन्द्रिय का निग्रह उतना ही असम्भव है जितना विन्ध्यपर्वत का सागर में तैरना।

भर्तृहरि को पर्वत का उदाहरण ही देना था तो हिमालय सबसे बड़ा पर्वत था और भर्तृहरि हिमालय के बड़े भक्त भी थे। उन्होंने हिमालय से कहीं बहुत छोटे पर्वत विन्ध्याचल की उपमा क्यों दी? हिमालय लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई में जरूर बड़ा है मगर है अधिकतर मिट्टी का बना हुआ। मिट्टी पानी में घुल जाती है। इसके विपरीत विन्ध्याचल की बड़ी-बड़ी चट्टानें सागर के तल में बैठ जायेंगी। जिस दिन ये चट्टानें पानी पर तैरेंगी उस दिन ही कदाचित् कामदेव पराजित हो जायें।

'दृष्ट्वैव मोहं गताः' देखने मात्र से महर्षि भी मोहित हो गये। क्या इसीलिए परदे की प्रथा चला दी गयी? न कोई देखे, न कोई मोहित हो। परन्तु पीछे ४२ वें श्लोक में कहा गया है कि मन में विचार आने मात्र से कामाग्नि प्रज्वलित होती है और मन को किसी परदे या परकोट में बंद नहीं किया जा सकता। इसलिए दर्स-पर्स देखने-छूने पर प्रतिबंध न हो, तभी मन के व्यामोह पर अंकुश लगता है, उसका स्रोत ही सूख जाता है, या संभव है चिंतन मात्र से चेतन विहीन हो जाएं।

श्लोक ८१

परिमलभृतोवाताःशाखा नवाङ्कुरकोटयो
मधुरविधुरोत्कण्ठाभाजः प्रियाः पिकपक्षिणाम् ।
विरलविरलस्वेदोद्गारा वधूवदनेन्दवः
प्रसरति मधौ धात्र्यां जातो न कस्य गुणोदयः ॥

शब्द विच्छेद

नवाङ्कुर = नव + अङ्कुर
विधुरोत्कण्ठा = विधुर + उत्कण्ठा
स्वेदोद्गारा = स्वेद + उद्गारा
वदनेन्दवः = वदन + इन्दवः
गुणोदयः = गुण + उदयः

शब्दान्वय

वाताः परिमल भृतः शाखाः नव अंकुर कोटयः
पिक पक्षिणां प्रियाः मधुर विधुर उत्कंठा भाजः
वधू वदन इन्दवः विरल विरल स्वेद उद्गाराः
धात्र्यां मधौ प्रसरति कस्य गुण उदयः न जातः

शब्दार्थ

वाताः = हवाएं
परिमल भृतः = सुगन्धियों से भरी हैं
शाखाः = डाल
नव अंकुर कोटयः = नये-नये कोंपलों से भरी हैं।
पिक पक्षिणां पियाः = कोयलपक्षी की मादाओं में
मधुर विधुर = मधुर-मधुर कूक सुनने की
उत्कंठा भाजः = इच्छुकता बढ़ी है
वधू वदन इन्दवः = सुंदरियों के मुख चन्द्र पर
विरल विरल = कुछ-कुछ
स्वेद उद्गारः = पसीज झलकने लगी है
धात्र्यां = धरती पर
मधौ प्रसरति = मधुमास के आगमन पर
कस्य = किसके
गुण उदयः = गुणों में बढ़ोतरी
न जातः = नहीं होती, अर्थात् सब में गुणोन्नति होती है।

भावार्थ

नाना प्रकार के फूलों की भीनी-भीनी सुगंधियों से भरकर सारा वायुमंडल झोंके भरने लगता है। पेड़ों में लाल-लाल नव-पल्लव फूटने लगते हैं। कोयल कायली की मधुर कूक मदन-ज्वालाएं उगलने लगती है। चन्द्र-बिम्बानना ललनाओं के मुलायम गालों पर मर्मोल्लास की पसीज झलकने लगती है। इस प्रकार वसन्त के आगमन से सभी में नवजीवन ठाठें मारने लगता है।

नोट

वसन्त, ऋतुराज है। राजसी गुणों का प्रादुर्भाव ही इसकी महान महिमा है। पेड़, प्राणी ही क्या पत्थर भी पसीजने लगते हैं। पुष्टि-राज शिलाजीत पत्थर की पसीज ही तो है। प्रत्येक ऋतु के अपने-अपने प्रभाव हैं, जिनसे प्रकृति स्वभावतया प्रभावित होगी ही। यह प्रभाव किसी के रोके रुकने का नहीं। वेद-वाङ्मय से लेकर भिन्न-भिन्न भाषाओं के लोक-गीतों तक ऋतुवर्णन से भरे पड़े हैं। यथार्थ-वादी भर्तृहरि ने ऋतु-वर्णन को पूर्णतया शृंगार-रस में रंग दिया है। यही इनकी विशेषता है। अन्यान्य कविगण के वर्णन से न मैं भर्तृहरि की उक्तियों की पुष्टि करना पसन्द करता हूं और न मैं अपने को इस योग्य मानता हूं कि कुछ बढ़ा-चढ़ाकर अपनी ओर से जोड़ने की चेष्टा करूं। सच्ची बात यह है कि अपने पचास वर्ष के सार्वजनिक जीवन में कठोर-से-कठोर घड़ियों में प्रेम ही मेरा जीवन-स्रोत बना रहा। अकारण हो अथवा सकारण, राजकीय क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में, शिक्षा क्षेत्र में, यहां तक कि निजी घरेलू क्षेत्र में भी मैंने प्रेम ही प्रेम बखेरने की चेष्टा की। पागल और समाज-विरोधी-तत्व कहाने वालों से भी मैंने प्रेम का बर्ताव रखा। घिनावनी वस्तुओं से प्रेम करने में सचेष्ट रहा। मैं असफल रहा, यह मैं कदापि नहीं कह सकता, यद्यपि साधारणतया लोग, विशेषतया स्वतंत्रता के बाद समाज के सम्मानित व्यक्ति मुझे असफल समझा किये हैं। परन्तु मेरा मापदंड ही निराला है जो मुझे असफलता में भी सफलता का भान होता रहा है। मैंने अपने स्वाभिमान को खोया नहीं। मैं नहीं जानता कि समदृष्टि ने मुझमें व्यापक रूप में सौंदर्य-प्रियता का बीज बोया अथवा सौंदर्यप्रियता घिनावनी वस्तु के साथ भी प्रेम का नाता जोड़ने की चेष्टा ने मुझमें समदृष्टि की भावना को बनाये रखा। मैं साधु-संत नहीं। आवेश, आग्रह और क्रोधाग्नि का शिकार जरूर रहा, पर क्षण भर में सब कुछ हवा होता रहा है और आज भी इन दुर्गुणों से मैं

एकदम बरी नहीं हूं। इसीलिए मैंने सोच लिया कि, क्षमा करें, शेष श्लोकों पर प्राय: स्वानुभव पर आधारित विशेषार्थ का सिलसिला तोड़ दूं।

श्लोक ८२

मधुरयं मधुरैरपि कोकिलाकलरवैर्मलयस्य च वायुभिः।
विरहिणः प्रहिणस्ति शरीरिणोविपदि हन्त सुधापि विषायते॥

शब्द विच्छेद

मधुरयं = मधुः + अयं
मधुरैरपि = मधुरैः + अपि
कलरवैर्मलयस्य = कलरवैः + मलयस्य
सुधापि = सुधा + अपि

शब्दान्वय

अयं मधुः कोकिला कलरवैः च मलयस्य वायुभिः
मधुरैः अपि विरहिणः शरीरिणः प्रहिणस्ति,
हन्त विपदि सुधा अपि विषायते।

शब्दार्थ

अयं मधुः = यह मधुमास, बहार का मौसम
कोकिला कलरवैः = कोयल की कूकों
च = तथा
मलयस्य वायुभिः = मलयाचल की हवाओं से
मधुरैः अपि = अति मधुर होते हुए भी
विरहिणः शरीरिणः = विरही अथवा वियोगी जनों को
प्रहिणस्ति = मारे डाल रहा है
हन्त = हाय
विपदि = विपदाओं में
सुधा अपि = अमृत भी
विषायते = विष का काम करता है।

भावार्थ

अवश्य ही वसंत में पंछियों का मधुर गान है और हवाएं भी बड़ी मीठी चलती हैं। परन्तु ये ही आनन्दमयी वस्तुएं विरही जनों के लिए प्राणों पर आ बनती हैं। सच तो यह है कि आपत्काल में आप्तजन भी आफत ही ढाते हैं।

श्लोक ८३

आवासः किलकिञ्चितस्य दयिना पाश्र्वे विलासालसा
कर्णे कोकिलकामिनीकलरवः स्मेरो लतामण्डपः ।
गोष्ठी सत्कविभिः समं कतिपयैर्मुग्धाः सेव्याः सितांशोकराः
केषांचित्सुखयन्ति चात्र हृदयं चैत्रे विचित्राः स्रजः ॥

शब्द विच्छेद

कतिपयैर्मुग्धाः = कतिपयैः + मुग्धा
चित्सुखयन्ति = चित् + सुखयन्ति

शब्दान्वय

पार्श्वे किलकिंचितस्य आवासः विलासालसा अलसाःदयिताः
कर्णे कोकिल कामिनी कलरवः स्मेरः लता मंडपः
कतिपयैः सत् कविभिः समं गोष्ठी सेव्याः सितांशोः कराः
विचित्राः स्रजः अत्र चैत्रे केषां चित् सुखयन्ति ।

शब्दार्थ

पार्श्वे = बगल में,
किलकिंचितस्य = चित्र-विचित्र नखरों की
आवासः = खान हो
विलासालसाः = छेड़छाड़ से अलसाई
अलसाः दयिताः = पियतमाएं हों
कर्णे = कानों में
कोकिल कामिनी = कोयल-कोयलियों की
कलरवः = कूक पड़ते हों
स्मेरः = फूले हुए
लता मंडपः = लता कुंज हों

कतिपयैः = कुछएक
सत्कविभिः समं = सत् कवियों के साथ
गोष्ठी = चर्चा हो
सितांशोः कराः = चंद्रमा की किरणों का
सेव्याः = सेवन हो
विचित्राः स्रजः = भांति-भांति की फूल-मालाएं हों
अत्र चैत्रे = इस प्रकार चैत्र मास में
केषां चित् = किसी-किसी भाग्यवान के चित्त ही
सुखयन्ति = सुखानंद पाते हैं

भावार्थ

चांदनी छिटकी हो, फूले-फुलाये लताकुंज में बैठे हों, अगल-बगल लीलामय प्रियतमाओं की चुटकियां हों, गले में फूल मालाएं पड़ी हों, कानों में रह-रहकर कोयल की मधुर कूक पड़ती हो, कुछएक सुयोग्य कवि-जन के साथ रस-चर्चा हो, इस प्रकार चैत्रमास का वसंतामोद किन्हीं भाग्यवानों को ही प्राप्त होता है।

श्लोक ८४

पान्थस्त्री विरहानलाहुतिकलामातन्वती मञ्जरी
माकन्देषु पिकाङ्गनाभिरधुना सोत्कण्ठमालोक्यते ।
अप्येते नवपाटलापरिमलप्राग्भारपाटच्चरा
वान्ति क्लान्तिवितानतानवकृतः श्रीखण्डशैलानिलाः ॥

शब्द विच्छेद

विरहानलाहुति = विरह + अनल + आहुति
कलामातन्वती = कलाम् + आतन्वती
सोत्कण्ठमालोक्यते = स + उत्कंठम् + आलोक्यते
अप्येते = अपि + एते
शैलानिलाः = शैल + अनिलाः

शब्दान्वय

पान्थस्त्री विरहानल आहुति कलां आतन्वती
माकंदेषु मंजरी पिकांगनाभिः स उत्कंठ आलोक्यते
अपि एते नव पाटला परिमल प्राग्भार पाटच्चरा
क्लांति वितान तानव कृतः श्रीखंडशैल अनिलाः वान्ति ।

शब्दार्थ

पान्थ स्त्री =प्रवासी पथिक की पत्नी की
विरहानल =विरहाग्नि की
आहुति कलां =आहुति की कला को (वेदना को)
आतन्वती =उकसानेवाले
माकंदेषु मंजरी =आम्र वृक्षों के बौर को
पिकांगनाभिः =कार्यालयों द्वारा
स उत्कंठा =उत्सुकता के साथ
आलोक्यते =ताका जा रहा है

अपि एते =और साथ-साथ
नव पाटला परिमल प्राग्भार =खिली कलियों की सुगंधि के समूह को
पाटच्चरा =उचक्के
क्लांति वितान =रतिश्रम समूह को
तानव कृतः =दूर करते हुए
श्रीखंड शैल =मलय पर्वत की
अनिलाःवान्ति =हवाएं चल रही हैं

भावार्थ

वसंत-ऋतु की विचित्र लीला है। एक ओर विरही-विरहिणियों की मर्म वेदना को बढ़ाने का काम करता है तो दूसरी ओर रसिकों के रसलीला-श्रम को दूर करने में योग देता है। आम बौराते हैं तो विरहिणी बौराई जाती है। कोयल कूकते हैं तो दिल में हूक उठती है। उधर रसिक-जनों के साथ उसकी सहानुभूति तो देखिए। खिली-खिलाई कलियों की ताजी-ताजी सुगंधियां चुरा-चुराकर मलय मारुत आ-आकर मंद-मंद बहने लगता है और थकन को मिटाते हुए मीठी नींद सुला देता है।

श्लोक ८५

प्रथितः प्रणयवतीनां तावत्पदमातनोतु हृदि मानः ।
भवति न यावच्चन्दनतरुसुरभिर्मलयपवमानः ।।

शब्द विच्छेद

तावत्पदमातनोतु = तावत् + पदम् + आतनोतु
यावच्चन्दन = यावत् + चंदन
सुरभिमलय = सुरभिः + मलय

शब्दान्वय

यावत् चन्दन तरु सुरभि मलय पवमानः न भवति
तावत् एव प्रणयवतीनां हृदि प्रथितः मानः पदं आतनोतु ।

शब्दार्थ

यावत् = जब तक
चन्दन तरु = चंदन-वृक्ष की
सुरभि = सुगंधि
मलय पवमानः = मलय मारुत
न भवति = नहीं चलता
तावत् एव = तभी तक
प्रणयवतीनां हृदि = प्रणयिनी के दिल में
प्रथितः मानः = प्रसिद्ध रूठन
पदं आतनोतु = बनी रह सकती है। ज्यों ही मलयाचल की मंदमंद हवाएं चलीं उसकी रूठन हवा हो गयी और वह पिया के पास हो गयी।

भावार्थ

प्रायः पुरुष दिन भर बाहर काम पर रहते हैं। सांझ होते छुट्टी मिली तो साथियों के साथ पीने-पाने जुट जाते हैं या दोस्तों के साथ काफी हाउस आदि में गप-शप में थोड़ी देर दिन भर की थकन को दूर कर घर देर से पहुंचते हैं। घर पर प्रेयसी प्रतीक्षा करते-करते थक जाती है और पतिदेव के प्रत्यक्ष होते ही तन-मन में उसके आग-सी लग जाती है कि न जाने कहां झक मारते रहे हजरत इतनी देर। ज्यों-त्यों मुंह बिचकाए खिलाती, खाती है। परन्तु चैत-बैसाख में छत पर पहुंचे नहीं कि मंद-मंद हवाओं की थपकियों के साथ सारी रूठन न जाने किस हवा में उड़ जाती है और आप-ही-आप पिया के गले का हार बन जाती है।

श्लोक ८६

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्छितदिगन्ते ।
मधुरमधु विधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठा ।।

शब्द विच्छेद

दिगन्ते = दिक् + अन्ते
निकर भरामोदः = निकरभर + आमोदः
भवेत्कस्य = भवेत् + कस्य
नोत्कण्ठा = न + उत्कण्ठा

शब्दान्वय

सहकार कुसुम केसर निकर भर आमोद दिगन्ते मूर्छित
मधुर मधु विधुर मधुपे मधौ कस्य उत्कण्ठा न भवेत् ।

शब्दार्थ

सहकार कुसुम = आम्र-बौर के
केसर निकर भर = पराग समूह से भरा
आमोद = सुगंध
दिगन्ते मूर्छित = चारों ओर फैला हो (और जहां)
मधुर मधु = मीठा शहद (छककर)
विधुर मधुपे = मस्ताए भ्रमर (गाते उड़ते हों)
मधौ = वसन्त-ऋतु में
कस्य = किसे
उत्कण्ठा = (रति की) उत्कट इच्छा
न भवेत् = न होवे ।

भावार्थ

आमों में बौर फूटकर उसकी सुगंधि वातावरण में चारों ओर फैल रही हो, भ्रमर फूलों के मधु-रस से छककर मस्ताए गा-गा उड़ रहे हों, ऐसे सौरभयुक्त मधुमास में भला कौन ऐसी स्त्री या पुरुष होगा जो मदनलीला की ओर मायल न होगा। (भर्तृहरि महाराज को क्या कभी आम की भांति नीम की खुशबू में खो जाने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ ?)

श्लोक ८७

अच्छाच्छचन्दनरसार्द्रकरा मृगाक्ष्यो
धारागृहाणि कुसुमानिच कौमुदी च ।
मन्दो मरुत्सुमनसः शुचिहर्म्यपृष्टं
ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्धयन्ति ।।

शब्द विच्छेद

अच्छाच्छ = अच्छ + अच्छ
रसार्द्रकरा = रस + आर्द्रकरा
मरुत्सुमनसः = मरुत् + सुमनसः

शब्दान्वय

अच्छ अच्छ चंदन रस आद्रकरा मृगाक्ष्यः
धारा गृहाणि कुसुमानि कौमुदी
च सुमनस: मंदः मरुत् शुचि हर्म्यपुष्टं
ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्धयन्ति ।।

शब्दार्थ

अच्छ अच्छ == एकदम स्वच्छ सफेद
चंदन रस = चंदन-लेप से
आर्द्रकरा = भीगी बाहोंवाली
मृगाक्ष्य: == मृगनयनी ललनाएं
धारागृहाणि = झरना-घर
कुसुमानि = भांति-भांति के फूल
कौमुदी च = और चांदनी
सुमनस: मंद:मरुत् = मनमोहक भीनी-भीनी हवाएं
शुचि हर्म्यपुष्टं = सुन्दर महल की सिथुरी छत (ये सब)
ग्रीष्मे = जेठ-असाढ़ की ग्रीम ऋतु में (पुरुषों में)
मदं विर्धयन्ति == मादकता खूब बढ़ाती हैं
मदनं च विवर्धयन्ति = और कामोद्रेक को बढ़ावा देती हैं।

भावार्थ

बाहों में स्वच्छ सुगंधित चंदनलेपी ललनाएं हों, सुन्दर महल हों, फव्वारे उड़ रहे हों, भांति-भांति के फूल खिले हों, मधुर मधु से छककर भ्रमर मस्ताने गीत गाते हों, सिथुरी छत पर निर्मल चांदनी छिटकी हो, भीनी-भीनी हवाएं चल रही हों, जेठ-असाढ़ की ग्रीष्म ऋतु में ये सब चीजें विशेषकर पुरुषों में मादकता लाती हैं उद्रेंक, बढ़ाती हैं और ससुप्त कामाग्नि को प्रज्वलित कर देती हैं।

श्लोक ८८

स्रजो हृद्यामोदा व्यजनपवनश्चन्द्रकिरणाः
परागः कासारो मलयजरसः सीधु विशदम् ।
शुचि : सौधोत्संगः प्रतनु वसनं पंकजदृशो
निदाघर्तावेतद्विलसति लभन्ते सुकृतिनः ॥

शब्द विच्छेद

हृद्यामोदा = हृद्य + आमोदा
पवनश्चन्द्र = पवन: + चन्द्र
सौधोत्संग: = सौध + उत्संगः
निदाघर्तावेतद्विलसति = निदाघ + ऋतौ + एतत् + विलसति

शब्दान्वय

हृद्य आमोदा: स्रजः व्यजन पवन: चन्द्र किरणा:
पराग: कासार: मलयज रस: विशद्म सीधु
शुचि: सौध उत्सुंग प्रतनु वसनं पंकज दृश:
एतत् निदाघ ऋतौ विलसति सुकृतिन: लभन्ते ॥

शब्दार्थ

हृद्य आमोदाः = मनभाती सुगंध
स्रजः = फूल-मालाएं
व्यजन पवनः = पंखे की हवा
चन्द्र किरणाः = चांदनी
परागः = पुष्प केसर
कासारः = तालाब, हौज़
मलयज रसः = चन्दन का लेप
विशदम् सीधु = शुद्ध मदिरा
शुचिः सौध उत्सुंग = साफ-सिथुरे महल की छत
प्रतनु वसनं = झीने वस्त्र
पंकज दृशः = कमलनयनी
एतत् = ये सब
निदाघ ऋतौ = ग्रीष्म ऋतु में
विलसति = शोभायमान हों, (इस प्रकार)
सुकृतिनः = पुण्यात्मा जन ही
लभन्ते = पाते हैं

भावार्थ

महल-प्रासाद हों, हौज-तालाब हों, जल-क्रीड़ाएं हों, झीने वस्त्र धारे छत पर पहुंच जायें, गले में बेला-मोतिया की मालाएं पड़ी हों, चांदनी छिटके, पुष्प पराग छिड़कें, चन्दन लेपन हो, विशुद्ध मदिरा हो, विशालाक्षियां अगल-बगल हों, धीमा-धीमा पंखा झलें, जेठ-बैसाख की गर्मियों में ये सब महा पुण्यवान ही पा सकते हैं। बेचारे गरीब पसीने में तरबतर ठंडा लेते हैं। आड़दार आंगन पछवाड़ा भी न हो तो पिया मिलन की प्यास अधबुझी ही रह जाय। और रस्मी बात भर रह जाय।

श्लोक ८९

सुधाशुभ्रं धाम स्फुरदमलरश्मिः शशधरः
प्रियावक्त्राम्भोजं मलयजरजश्चातिसुरभिः।
स्रजो हृद्यामोदास्तदिदमखिलं रागिणि जने
करोत्यन्तःक्षोभं न तु विषयसंसर्गविमुखे॥

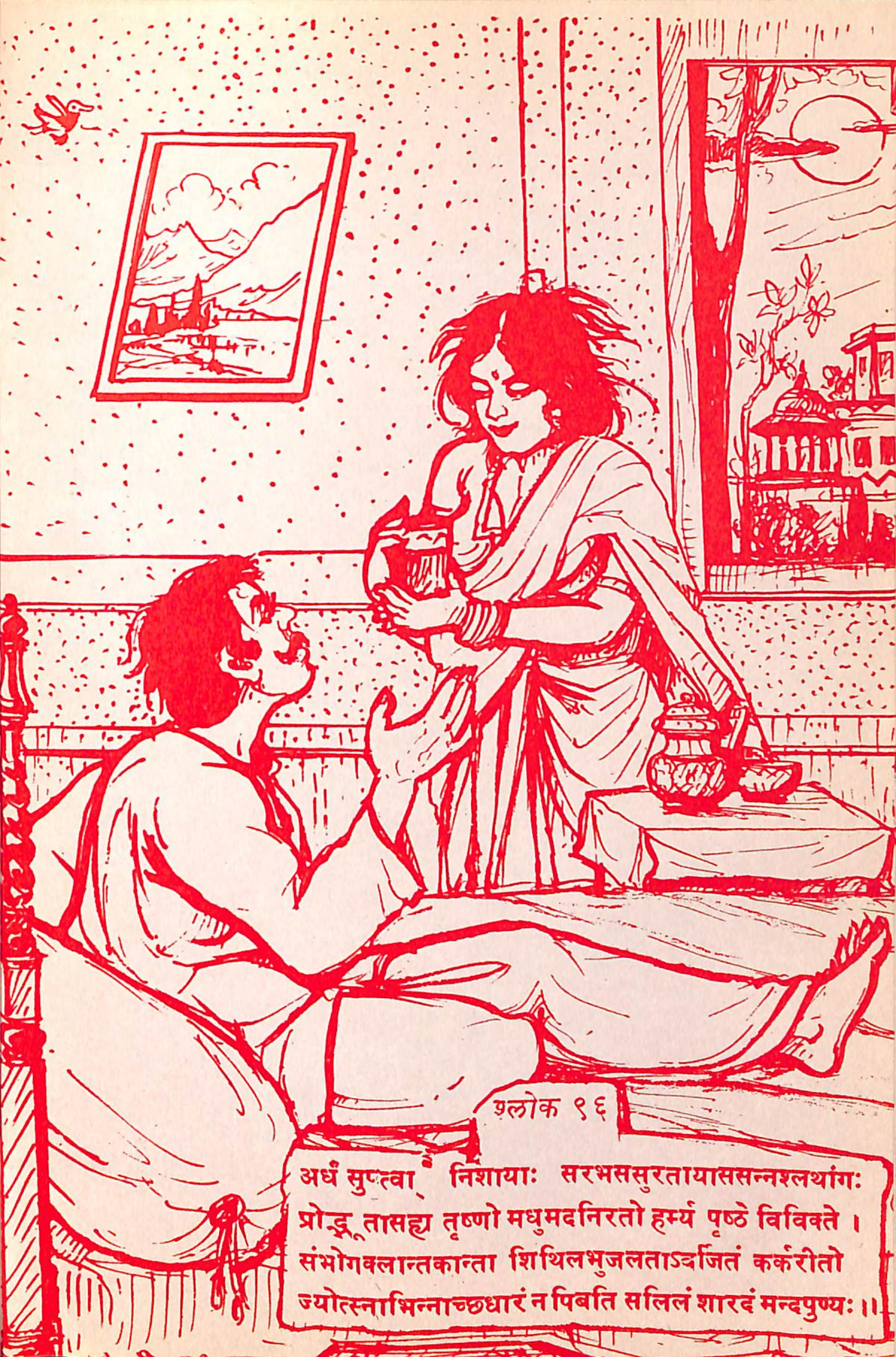

श्लोक ९६

अर्धं सुप्त्वा निशायाः सरभससुरतायाससन्नश्लथांगः
प्रोद्भूतासह्य तृष्णो मधुमदनिरतो हर्म्य पृष्ठे विविक्ते ।
संभोगक्लान्तकान्ता शिथिलभुजलताऽर्जितं कर्करीतो
ज्योत्स्नाभिन्नाच्छधारं न पिबति सलिलं शारदं मन्दपुण्यः ।।

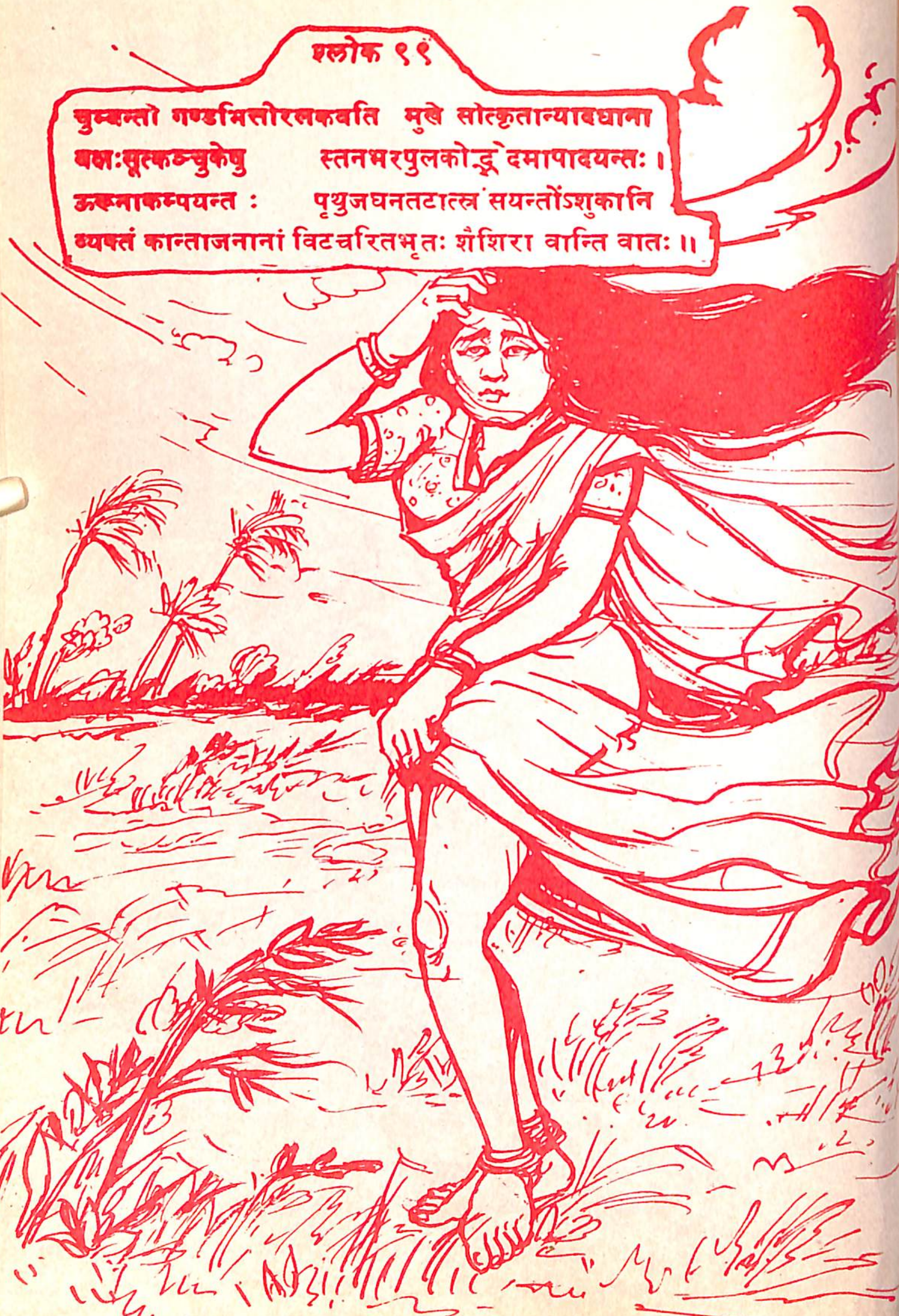

श्लोक ९९

चुम्बन्तो गण्डभित्तीरलकवति मुखे सोत्कृतान्यादधाना
वक्षःसूत्कञ्चुकेषु स्तनभरपुलकोद्भेदमापादयन्तः ।
ऊरूनाकम्पयन्त : पृथुजघनतटात्स्रंसयन्तोंऽशुकानि
व्यक्तं कान्ताजनानां विटचरितभृतः शैशिरा वान्ति वातः ॥

शब्द विच्छेद

स्फुरदमल = स्फुरत् + अमल
वक्त्राम्भोजं = वक्त्रा + अम्भोजं
रजश्चति = रजः + च + अति
हृद्यामोदास्तदिदमखिलं = हृद्य + आमोदाः + तत् + इदम् + अखिलं
करोत्यन्तः = करोति + अन्तः

शब्दान्वय

सुधा शुभ्रं धाम स्फुरत् अमल रश्मि : शशधरः
प्रिया वक्त्र अम्भोजं अति सुरभिः मलयज रजः
हृद्य आमोदाः स्रजः तत् इदम् अखिलं रागिणि जने
अन्तः क्षोभं करोति न तु विषय संसर्ग विमुखे ॥

शब्दार्थ

सुधा शुभ्रं धाम = साफ-सुथरा सफेद बंगला
स्फुरत् अमल रश्मिः = निर्मल चांदनी छिटकाता हुआ
शशधरः = चन्दा
प्रिया वक्त्र अम्भोजं = पद्ममुखी प्रिया
अति सुरभिः = खूब सुगंधित
मलयज रजः = चन्दन-चूर्ण
हृद्य आमोदाः = मनभायी
स्रजः = फूल-मालाएं
तत् इदम् अखिलं = ऐसी सब चीजें
रागिणि जने = प्रेमीजनों के
अन्तःक्षोभं = मनों को अकुलाया
करोति = करती हैं
न तु = न कि
विषय संसर्ग विमुखे = विषयों से मुंह मोड़ हुए विरक्तों को

भावार्थ

सफेद बंगला, उजली चांदनी, कमलमुखी पिया, चंदन की सुगंधि, फूल मालाएं, ये सब अनुरागी प्रेमियों को ही व्याकुल कर सकती हैं, परन्तु विरागी संन्यासियों के मन को कदापि विचलित नहीं कर सकतीं। (क्योंकि उनका मन कहीं और मग्न रहता है।)

श्लोक ९०

तरुणीवेषोद्दीपितकामा विकसज्जातीपुष्पसुगन्धिः ।
उन्नतपीनपयोधरभारा प्रावृट् तनुते कस्य न हर्षम् ॥

शब्द-विच्छेद

वेषोद्दीपित = वेष + उद्दीपित
विकसिज्जाती = विकसित् + जाती

शब्दान्वय

प्रावृट तरुणी वेषः उद्दीपित कामा
विकसित जाती पुष्प सुगंधः
उन्नत पीन पयोधर भारा कस्य हर्षं न तनोतु ।

शब्दार्थ

प्रावृट = बरखा, वर्षा-ऋतु (जो)
तरुणी वेषः = रमणीरूपी है, (जो)
उद्दीपित कामा = कामेच्छा को
जगाने वाली है, (जो)
विकसित = खिले हुए
जाती पुष्प सुगंधः = जाती पुष्प की
खुशबू से भरी है (और जो)
उन्नत पीन = उभरी पुष्ट
पयोधर भारा = छातियों से लदी है,
कस्य हर्षं न तनोतु = भला किसके दिल
में उल्लास न लायेगा अर्थात् सभी
नवोल्लास से भर जाते हैं

भावार्थ

बरखा सचमुच बालम का रूप धर कर आती है, जैसे ही बरखा का मौसम आया वैसे ही फुलवाड़ी सारी महक उठती है, मानो बालम निकल पड़ा है । भारी पुष्ट छातियों के भार से जिस प्रकार तरुणी कुछ झुक-सी जाती है, उसी प्रकार आकाश में बादल घुमड़-घुमड़कर पृथ्वी की ओर झुक पड़ते हैं । कामिनी जिस प्रकार कामवासना को उद्दीप्त करती है उसी प्रकार बरखा का मौसम प्रेमियों में अनुराग उत्पन्न करता है । बरखा से भला किसे प्रसन्नता न होगी ।

श्लोक ९१

वियदुपचितमेघं भूमयःकन्दलिन्यो
नवकुटजकदम्बामोदिनो गन्धवाहाः ।
शिखिकुलकलकेकारावरम्या वनान्ताः
सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति ॥

शब्द विच्छेद

वियदुपचित = वियत + उपचित
कदम्बामोदिनः = कदम्ब + आमोदिनः
वनान्ताः = वन + अन्ताः
सर्वमुत्कण्ठ = सर्वम् + उत्कण्ठ

शब्दान्वय

उपचित मेघं वियत् कंदलिन्यः भूमयः
नव कुटज कदम्ब आमोदिनः गंधवाहाः
शिखि कुल कलकेकाराव रम्याव नान्ताः
सुखिनं वा असुखिनं सर्वं उत्कंठयन्ति

शब्दार्थ

उपचित मेघं वियत् = घने बादलों से घिरा आकाश
कंदलिन्य भूमयः = नवांकुरित हरियाली से भरी धरती
नव कुटज कदम्ब = नव विकसित जूही कदम्ब की
आमोदिनः गंधवाहाः = सुगंधियों से लदी हवाएं
शिखि कुल = मयूर-मंडली के
कलकेकाराव = कोलाहल से युक्त
रम्या वनान्ताः = मनोहारिणी वन-प्रदेश
सुखिनं वा असुखिनं = सुखी हो अथवा दुखी (ये सब)
सर्वं उत्कंठयन्ति = सभी को मचला देते हैं

भावार्थ

आकाश की घनघोर घटा, धरती की हरियाली, फूलों की महक और भौंरों की झंकार। वनांतरों के ये दृश्य सुखी हो अथवा दुखी मानव मात्र के मन में उफान उत्पन्न करते हैं।

श्लोक ९२

उपरि घनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमयूराः ।
क्षितिरपि कन्दलधवला दृष्टिं पथिकः क्व पातयति ।।

शब्द विच्छेद

तिर्यग्गियोऽपि = तिर्यक् + गिरयो: + अपि
क्षितिरपि = क्षिति: + अपि

शब्दान्वय

उपरि घनपटलं तिर्यक् गिरयो: अपि नर्तित मयूरा:
क्षिति: अपि कंदल धवला पथिक: दृष्टि क्व पातयति ।

शब्दार्थ

उपरि घनपटलं = ऊपर दल बादल
तिर्यक् गिरयो: = अगल-बगल पर्वत माला
अपि = भी
नर्तित मयूरा: = और उन पर नाचते मोर
क्षिति: कंदल धवला = धरती पर कुकुरमुत्ता छत्री ताने है
पथिक: = (बिचारा बरही) बटोही
दृष्टिं = आंख
क्व पातयति = किस पर गाड़े, (सभी तो कामोद्दीपक हैं)

भावार्थ

ऊपर दल बादल मंडराते हैं, बीच में दायें-बायें पर्वत माला पर मोर नाचते हैं और धरती ने भी कुकुरमुत्तों की सफेद छत्रियां तान रखी हैं। किस-किस पर नजर जमाए और किस-किस से नजर बचाये बिचारा राही बरखा में ।

श्लोक ९३

इतो विद्युद्वल्लीविलसितमितः केतकितरोः
स्फुरद्गन्धः प्रोद्यज्जलदनिनदस्फूर्जितमितः ।
इतः केकीक्रीडाकलकलरवः पक्ष्मलदृशां
कथं यास्यन्येते विरहदिवसाः संभृतरसाः ॥

शब्द विच्छेद

विद्युद्वल्ली = विद्युत्वल्ली
विलसितमितः = विलसितम् + इतः
स्फुरद्गन्धः = स्फुरन् + गंधः
प्रोद्यज्जलद = प्र + उद्यत् + जलद
स्फूर्जितमितः = स्फूर्जितम् + इतः
यास्यन्येते = यास्यन्ति + एते

शब्दान्वय

इतः विद्युत् वल्ली विलसितम् इतः केतकि तरौः स्फुरन् गंधः
इतः प्रउद्यत् जलद निनद स्फूर्जितं
इतः केकीक्रीडा कलरवः सम्भ्रुत रसाः एते विरह दिवसाः
पक्ष्मल दृशां कथं यास्यन्ति ।

शब्दार्थ

इतः = यहां, इधर
विद्युत् वल्ली = बिजली की लहर
विलसितम् = कौंध रही
इतः = वहां
केतकि तरौः = केवड़े के पौधे
स्फुरन् गन्धः = सुगंध फैला रहे
इतः = इधर
प्रउद्यत् जलद = उमड़े बादलों की
निनद स्फूर्जितं = गरज गूंज रही
इतः = उधर
केकी क्रीडा = मयूर नाच की
कलरवः = धूम है
संभ्रुत रसाः = रसराज से शराबोर
ऐते विरह दिवसाः = ये वियोग के दिन
पक्ष्मल दृशां = भारी पलकोंवाली युवतियों के लिए
कथं = कैसे
यास्यन्ति = बीतें

भावार्थ

इधर बिजली की कौंध, उधर बादलों की गरज, यहां केवड़े की महक और वहां मयूर-नर्तन, जिधर देखो उधर कामदेव अपने परिपूर्ण कलाओं में विराज रहे हैं। भला ऐसी विह्वलता में विरहिणों की रातें कैसे बीतेंगी। (पच्चीसों वर्षों तक पतिदेव का अता-पता भी न हो उन पतिव्रताओं पर क्या बीती होगी ?)

श्लोक ९४

असूचीसंचारे तमसि नभसि प्रौढजलद—
ध्वनिप्राज्ञंमन्ये पतति पृषतानां च निचये।
इदं सौदामिन्या: कनककमनीयं विलसितं
मुदं च म्लानिं च प्रथयति पथि स्वैरसदृशाम् ।।

शब्दान्वय

तमसि असूची संचारे नभसि प्रौढ़ जलद्ध्वनि प्राज्ञंमन्ये
पृषतानां निचये पतति कनक कमनीयं सौदामन्या:
इदं विलसितं स्वैरसदृशां पथि मुदं च म्लानिं च प्रथयति

शब्दार्थ

तमसि = अंधकार कि
असूची संचारे = सूई घुसने की जगह नहीं,
नभसि = आकाश में
प्रौढ़ जलद्ध्वनि = घोर गर्जन
प्राज्ञंमन्ये = (मानो) सोचता है कि मैं ही मैं हूं
पृषतानां निचये पतति = रिम-झिम बरखा बरसे है

कनक कमनीयं = स्वर्ण सुन्दर
सौदामन्या: = विद्युत् रेखाओं की
इदं विलसितं = यह कौंध
स्वैरसदृशां = अभिसारिकाओं को
पथि = राह में
मुदं च = अह्लाद का भी और
म्लानिं च = ग्लानि का भी
प्रथयति = कारण होता है

भावार्थ

बरसाती रात है। घटाटोप अंधेरा है। रिम-झिम पानी बरस रहा है। बीच-बीच में ओले भी पड़ रहे हैं। अभिसारिका निकल पड़ी है। कड़क-धड़क के साथ बिजली की चमक से बिचारी प्रसन्न भी है और खिन्न भी, क्योंकि राह तो सूझ पड़ती है। परन्तु तुरन्त अंधेरा छा जाता है। प्रसन्नता खिन्नता में परिवर्तित हो जाती है। नीचे पैरों को रोड़ों की ठोकर लगती है और ऊपर सिर पर ओले बरसते हैं। फिर भी बढ़ती ही जाती है।

श्लोक ९५

आसारेण न हर्म्यतः प्रियतमैर्यातुम् बहिः शक्यते
शीतोत्कम्पनिमित्तमायतदृशा गाढं समालिंग्यते।
जाताः शीकरशीतलाश्च मरुतो रत्यन्तखेदच्छिदो
धन्यानां बत दुर्दिनं सुदिनतां याति प्रियासंगमे॥

शब्द विच्छेद

प्रियतमैर्यातुं = प्रियतमैः + यातुं
शीतोत्कम्प = शीत + उत्कम्प
निमित्तमायतदृशा = निमित्तं + आयतदृशा
रत्यन्त = रति + अन्त

शब्दान्वय

आसारेण प्रियतमैः हर्म्यतः बहिः यातुं न शक्यते
शीत उत्कम्प निमित्तम् आयत दृशा गाढं समालिंग्यते
रतिअन्त खेदः छिदः शीकर शीतला मरुतः जाताः
बत धन्यानां दुर्दिनं प्रिया संगमे सुदिनतां याति।

शब्दार्थ

आसारेण = झड़ी के कारण
प्रियतमैः = पीतम
हर्म्यतः = कोठे से
बहिःयातुं = बाहर का दौरा
न शक्यते = नहीं कर सकते
शीत उत्कम्प निमित्तं = ठंड की कपकपी के कारण
आयत दृशा = विशालाक्षी वह रमणी
गाढ़ं समालिंग्यते = (पीतम से) गाढ़ालिंगन किये जाती है
रति अंत खेदः छिदः = रति क्रीड़ा की थकन मिटानेवाली
शीकर शीतला = नमी से भरी ठंडी-ठंडी
मरुतः जाताः = हवा बहती है
बत = बल्कि
धन्यानां = भाग्यवानों के
दुर्दिनं = दुर्दिन (भी)
प्रिया संगमे = प्रेयसी के संग
सुदिनतां = सुदिन में
याति = बदल जाते हैं

भावार्थ

सावन भादों के दिन हैं। झड़ी लगी है। बाबूजी बाहर जा नहीं सकते। कोठे पर लिहाफ ताने हैं। मारे जाड़े के बहुरानी गर्माई के लिए लिहाफ हटाकर लिपटी जाती है। निबट-निबटाने पर तर-तरावट की पुरवैया से तान-बान की थकन भी मधुर मिलन बन जाती है। क्यों न हो, भागवानों के लिए ऐसे दुर्दिन भी संग-संग यों सुदिन बन जाते हैं।

श्लोक ९६

अर्धं सुप्तत्वा निशायाः सरभससुरतायाससन्नश्लथांगः
प्रोद्भूतासह्य तृष्णो मधुमदनिरतो हर्म्य पृष्ठे विविक्ते ।
संभोगक्लान्तकान्ता शिथिलभुजलताऽद्वर्जितं कर्करीतो
ज्योत्स्नाभिन्नाच्छधारं न पिबति सलिलं शारदं मन्दपुण्यः ।।

शब्द विच्छेद

सुरतायासन्न श्लथाङ्गाः = सुरत + आयास + सन्नश्लथ + अङ्गः
प्रोद्भूतासह्य = प्रउद्भूत + असह्य
भुजलताऽर्वाजितं = भुजलता + आवर्जितं
ज्योत्स्नाभिन्नाच्छ = ज्योत्स्न + अभिन्न + अच्छ

शब्दान्वय

निशायाः अर्धं सुप्त्वा सरभस सुरत आयास
सन्न श्लथ अंगः प्रोद्भूत असह्य तृष्णः मधुमद निरतः
हर्म्यपृष्ठे विविक्त सम्भोग क्लान्त कान्ता
शिथिल भुजलता कर्करीतः आवर्जितं ।
ज्योत्स्न अभिन्न शारदं सलिलं अच्छ धारं मंद पुण्यः न पिबति ।

शब्दार्थ

निशायाः अर्धं = आधी रात तक
सुप्त्वा = सोकर
सरभस = जोर-जोर से किये गये
सुरत आयास = सम्भोग की थकन से
सन्न श्लथ अंगः = ढीले पड़े और थके अंगों के
प्रोद्भूत असह्य तृष्णः = जोर की प्यासा से बेताब
असह्य = (जिसके अंग ढीले पड़े और थके हों)
मधुमद निरतः = मदिरा के नशे में चूर
विविक्त हर्म्य पृष्ठे = एकान्त कोठे की छत पर
सम्भोग क्लान्त कान्ता = रतिक्रीड़ा से अलसाई पत्नी के
शिथिल भुजलता = ढीली-ढाली बेल रूपी बाहों से
कर्करीतः = लोटे की टूटी से
आवर्जितं = ढाले
ज्योत्स्न अभिन्न = चांदनी झलकती
शारदं सलिलं = शरत् कालीन जल की
अच्छधारं = स्वच्छ जलधारा
मन्द पुण्यः = अभागे जन
न पिबन्ति = नहीं पी पाते ।

भावार्थ

शरत् काल में अर्थात् कातिक की चांदनी रातों में कोठे की छत पर एकान्त प्रदेश में आधी रात तक कच्ची नींद में जाग और रति-क्रीड़ा से थक-थका कर प्यास के वेग से बेताब मदिरा के नशे में पड़े-

पड़े अपनी अलसाई पत्नी के कर-कमलों द्वारा टूंटीदार कलशे से चांदनी से छना पानी ढालती हुई धारा को पान करने का आनन्द किसी भाग्यवान को ही प्राप्त हो सकता है अर्थात् ऐसा सुख जिन्हें प्राप्त न हो वे बड़े अभागे हैं।

श्लोक ९७

हेमन्ते दधिदुग्धसर्पिरशना माञ्जिष्ठवासोभृतः
काश्मीरद्रवसान्द्रदिग्धवपुषः खिन्ना विचित्रै रतैः ।
वृत्तौरुस्तन कामिनीजनकृताश्लेषा गृहाभ्यन्तरे
ताम्बूलीदलपूगपूरितमुखा धन्याः सुखं शेरते ॥

शब्द विच्छेद

सर्पिरशना = सर्पिः + अशना
वृत्तोरु = वृत्त + उरु
गृहाभ्यान्तरे = गृह अभ्यन्तरे

शब्दान्वय

हेमन्ते दधि दुग्ध सर्पिः अशनाः माञ्जिष्ठ वासः भृतः
काश्मीर द्रव सान्द्र दिग्ध वपुषः विचित्रैः रतैः खिन्नाः
वृत्त उरु स्तन कामिनी जन अश्लेषाःकृताः
ताम्बूली दल पूग पूरित मुखाः धन्याः गृहाभ्यांतरे सुखं शेरते ॥

शब्दार्थ

हेमन्ते = जाड़ों में
दधि दुग्ध = दही दूध (और)
सर्पिः अशनाः = घी खानेवाले (और)
माञ्जिष्ठ = लाल
वासः भृतः = वस्त्र पहने
काश्मीर द्रव = केसर जल
सान्द्र दिग्ध = गाढ़े लेपन के
वपुषः = शरीर धारी
विचित्रैः रतैः = चित्र विचित्र आसनों से रति-क्रीड़ा कर
खिन्नाः = थके मांदे
वृत्त = गोल-गोल
उरु स्तन = जांघ और स्तन वाली
कामिनी जन = रमणियों से
आश्लेषः कृताः = गाढ़ालिंगन किये
ताम्बूली दल पूग = पान सुपारी से
पूरित मुखाः = भरे मुख के
धन्याः = धन्यजन
गृहाभ्यान्तरे = घरों के भीतर
सुखं शेरते = सुख से सोते हैं

भावार्थ

धन्य हैं वे जो जाड़ों में दूध-घी का सेवन कर, शरीर पर केसर-कस्तूरी का लेप चढ़ा कर, लाल वस्त्र धारण कर, थककर गिलोरी गाल में दाबे चित्रविचित्र आसनों से बाह्यान्तर रति-क्रीड़ा कर थक-थकाकर कामिनी की गोल-गोल जांघों और स्तनों के साथ बद्धालिंगन कर घरों के भीतर सुख की नींद सोया करते हैं।

श्लोक ९८

प्रोद्यत्प्रौढप्रियंगुद्युतिभृति विकसत्कुन्दमाद्यद्विरेफे
काले प्रालेयवातप्रचलविलसितोद्दाममन्दारधाम्नि
येषां नो कण्ठलग्ना क्षणमपि तुहिनक्षोददक्षा मृगाक्षी
तेषामायामियामा यमसदनसमा यामिनी याति यूनाम् ॥

शब्द विच्छेद

प्रोद्यत्प्रौढ = प्र + उद्यत् + प्रौढ
माद्यद्द्विरेफे = माद्यत् + द्विरेफे
विलसितोद्याम = विलसित् + उद्याम।
तेषामायाम = तेषाम् + आयम

शब्दान्वय

प्रउद्यत् प्रौढ प्रियंगु द्युति भृति विकसित् कुंद माद्यत् द्विरेफे
प्रालेय वात प्रचल विलसित उद्दाम मन्दार धाम्नि काले
येषाम् यूनाम् तुहिन क्षोद दक्षा मृगाक्षी
क्षणमपि कंठलग्ना नो तेषाम् यामिनी आयाम यामा यम सदन समा याति।

शब्दार्थ

प्रउद्यत् = खूब फूला (और)
प्रौढ प्रियंगु = बढ़ा हुआ पियंगु
द्युति भृति = शोभा धारे (तथा)
विकसित् कुन्द = खिले वेला का मधु चख
माद्यत् = मस्ताये
द्विरेफे = भ्रमर
प्रालेय वात = ओस-भरी वायु से
प्रचल = डोलते हुए
विलसित = प्रकाशमान
उद्दाम = प्रचुर
मंदार = मंदार की
धाम्नि काले = बढोतरी के मौसम
हेमन्त ऋतु में
येषाम् यूनाम् = जिन युवकों को
तुहिन क्षोद = ओस की ठंड को भगाने में
दक्षा मृगाक्षी = समर्थ (ऐसी) मृगनयनी को
क्षणमपि = थोड़ी देर के लिए भी
कंठलग्ना नो = गले लपेट न ले
तेषाम् = उन्हें
यामिनी = रात की
आयाम यामा = जाड़ों की लम्बी घड़ियां
यम सदन समा = जम-लोक के समान
याति = हो जाती हैं

भावार्थ

हेमन्त ऋतु के पूस माघ में जब जूह फूल से लद जाते हैं, खिली हुई बेला की कलियों का मधुपान कर भ्रमर मस्ताये झूमा करते हैं, ओस-भरी हवाओं के झोंके मानो मंदार पुष्प धारण किये हुए हैं। ऐसे

हेमन्त में यदि युवकों को ओस की ठंडक को भगाने में समर्थ नारी-मणि क्षणभर के लिए भी गलबाहीं देकर लिपट न जाय, ऐसे युवकों को जाड़ों की वह लम्बी रातें नरक धाम-सी लगती हैं। अर्थात् युवक-युवतियों को हेमन्त-ऋतु अर्थात् माघ-पूस में परस्पर संयोग स्वर्गीय सुख प्रतीत होता है।

श्लोक ९९

चुम्बन्तो गण्डभित्तीरलकवति मुखे सीत्कृतान्यादधाना
वक्षःसूत्कञ्चुकेषु स्तनभरपुलकोद्भेदमापादयन्तः।
ऊरूनाकम्पयन्त : पृथुजघनतटात्स्रंसयन्तोंऽशुकानि
व्यक्तं कान्ताजनानां विटचरितभृतः शैशिरा वान्ति वातः॥

शब्द विच्छेद

गण्डभित्तीरलकवति = गण्ड भित्ती: + अलकवति
सीत्कृतान्यादधाना = सीत्कृतानि + आदधाना:
वक्ष:सूत्कञ्चुकेषु = वक्षस्सु + उत्कंचुकेषु
पुलकोद्भेमापादयन्त: = पुलक + उद्भेदम् + आपादयन्त:
ऊरूनाकम्पयन्त: = ऊरून + आकम्पयन्त:
तटात्स्रंसयन्तोंऽशुकानि = तटात् + स्रंसयन्त:

शब्दान्वय

कान्ता जनानां गंड भित्ती: चुम्बन्त: अलकवति मुखे सीत्कृतानि आदधाना:
वक्षस्सु उत्कंचुकेषु स्तनभर पुलक उद्भेदम् आपादयन्त:
ऊरून् आकम्पयन्त: पृथु जघन तटात् अंशुकानि स्रंसयन्त:
शैशिरा वाताः व्यक्तं विट चरित भृतः वान्ति

शब्दार्थ

कान्ता जनानां = अलबेलियों
गंड भित्तीः = चिकने गालों को
चुम्बतः = चूमते हुए
अलकवति मुखे = लटों से भरे मुंह से
सीत् कृतानि = सी-सी की सीत्कार
आदधानाः = करवाते हुए
उत्कंचुकेषु = अंगिया में ढकी
वक्षस्सु = छाती में
स्तन भर = भरे स्तनों में
पुलक उद्गदम् = रोमांच की गदगद
आपादयन्तः = उत्पन्न करते हुए
ऊरून् = जांघों में
आकम्पयन्तः = कंपकपी उपजाते हुए
पृथु जघन तटात् = भारी-भारी कटि-प्रदेश से
अंशुकानि = साड़ी को
स्रंसयन्तः = ढिलाते हुए
शैशिरा वाताः = शिशिर ऋतु का झंझा मारुत
व्यक्तं = स्पष्टतया
विट चरित भृतः = विट पुरुष की चाल से
वान्ति = वहां जा रहा है

भावार्थ

पतझड़ की शिशिर-ऋतु में झंझा मारुत प्रत्यक्ष विटपुरुष की चेष्टाओं का अबाध अनुसरण करता है। ललनाओं के गालों पर चुम्बन लेता है, उनकी घुंघराली लटों को हटाकर झकझोरता है, ओठों को छू-छूकर सीत्कार करवाता है, छाती पर तंग अंगिया के भीतर घुसकर स्तनों में पुलकांकुर उत्पन्न करता है।

श्लोक १००

केशानाकुलयन्दृशो मुकुलयन्वासो बलादाक्षिप-
न्नातन्वन्पुलकोद्गमं प्रकटयन्नंगेषुकम्पं शनैः ।
वारं वारमुदारसीत्कृतकृतो दन्तच्छदान्पीडय-
न्प्रायः शैशिर एष संप्रति मरुत्कान्न्तासु कान्तायते ॥

शब्द विच्छेद

केशानाकुलयन् = केशान + आकुलयन्
दृशोमुकुलयन् = दृश: + मुकुलयन्
बलादाक्षिपन्नातन्वन्पुलकोद्गमं = बलात् + आक्षिपन्
+ आतन्वन् + पुलकोद्गमं
प्रकटयन्नावेग = प्रकटयन् + आवेग
वारम्वारमुदारसीत्कृतकृत: = वारम्वारम् + उदार + सीत्कृत कृत:
दन्तछदान्पीडयन्प्राय: = दन्तच्छदान् + पीडयन् + प्राय:

शब्दान्वय

केशान् आकुलयन् दृश: मुकुलयन् वास: बलात् आक्षिपन्
पुलक उद्गमं आतन्वन् अंगेषु शनै: कम्पं प्रकटयन्
वारम्वारम् उदार सीत्कृत कृत: दन्तच्छदान् पीडयन
एष शैशिर मरुत् सम्प्रति कान्तासु कान्तायते।

शब्दार्थ

केशान् = अलकों को
आकुलयन् = छितराकर
दृश: = आंखों को
मुकुलयन् = मिचमिचाकर
वास: = चीर को
बलात् = जबरी
आक्षिपन् = धर-खींचकर
पुलक उद्गमं = रोमांच
अतन्वन् = उत्पन्न कर
अंगेषु = अवयवों में
शनै: = धीरे-धीरे
कम्पं = कम्पन

प्रकटयन् = लाकर
वारम् वारम् = बार-बार
उदार = उत्कट
सीत्कृत कृत: = सीत्कार का
दन्तच्छदान् = अधरों को
पीडयन् = दुख देकर
एष = यह
शैशिर मरुत् = शिशिर ऋत, पतझड़
का झंझावात
कान्तासु = रमणियों के प्रति
कान्तायते = कान्त अर्थात् पति
बन जाता है

भावार्थ

अलकों को अस्त व्यस्त कर, नयन मिचमिचाकर, चीर धर खींचकर, अंगों को गुद-गुदाकर, शरीर में कपकपी लाकर, बारम्बार ओठ काट कर यह शिशिर वायु युवतियों के साथ ऐसी-ऐसी अठखेलियां करता है मानो वह स्वयं उनका पतिदेव ही हो ।

वैराग्य शतक

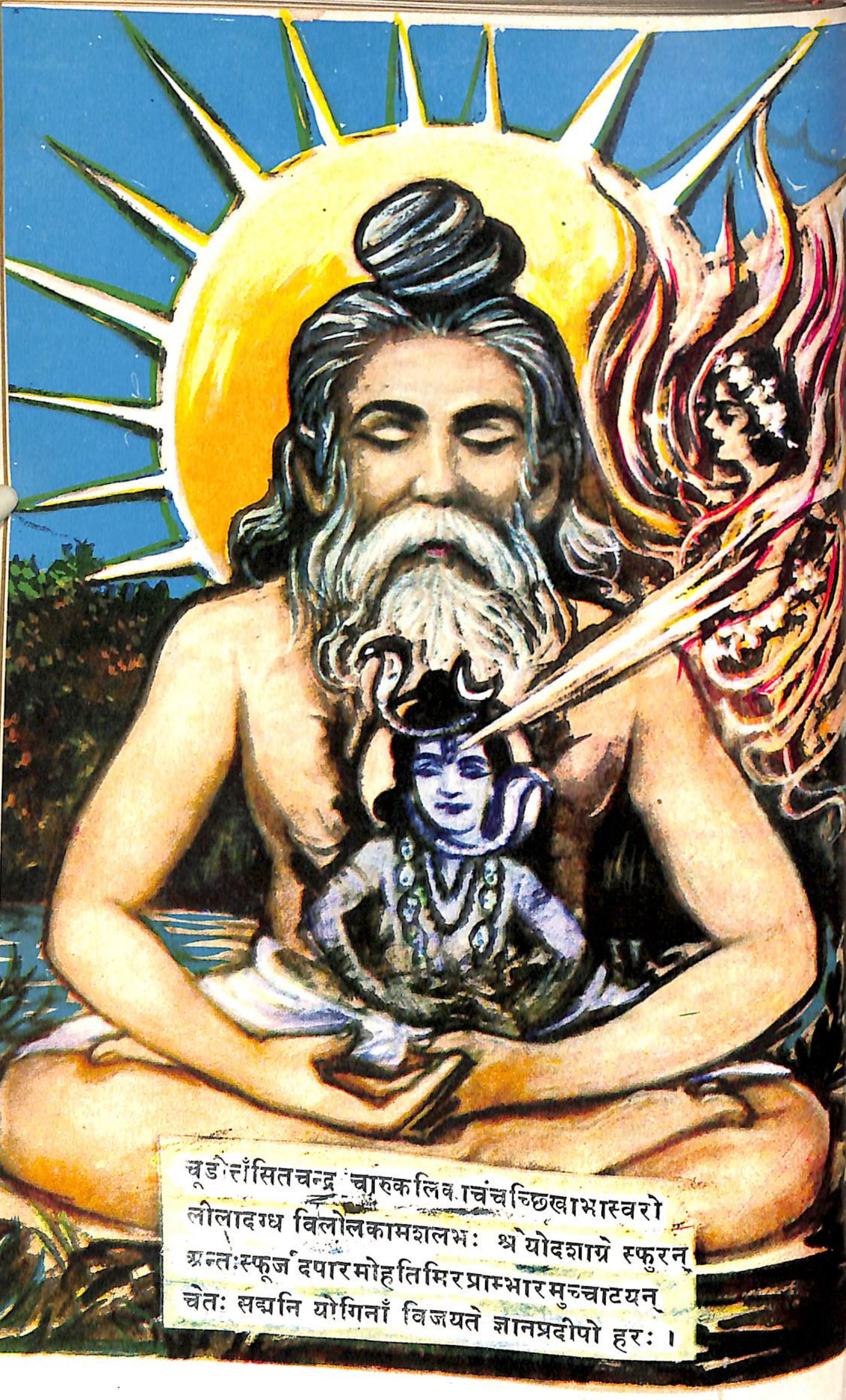

चूडोत्ताँसितचन्द्र चारुकलिका चंचच्छिखाभास्वरो
लीलादग्ध विलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन्
अन्तःस्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राम्भारमुच्चाटयन्
चेतः सद्मनि योगिनाँ विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ।

श्लोक १

चूडोत्ताँसितचन्द्र चारुकलिकाचंचच्छिखाभास्वरो
लीलादग्ध विललोकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन्
अन्तःस्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयन्
चेतः सद्मनि योगिनाँ विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ।

पदच्छेद

चूडोत्तंसित = चूडा + उत्तंसित
चंचच्छिखा = चंचत् + शिखा
श्रेयोदशाग्रे = श्रेयः + दशा + अग्रे
स्फूर्जदपार = स्फूर्जत् + अपार
प्राग्भारमुच्चाटयन् = प्राक् + भारम् + उच्चाटयन्

पदान्वय

चूडा उत्तंसित चंद्र चारु कलिका चचत् शिखा भास्वरः विलोल काम शलभः लीला दग्धः, श्रेयः दशा अग्रे स्फुरन् अंतः स्फूर्जत् अपार मोह तिमिर प्राक् भारम् उच्चाटयन् योगिनाम् चेतः सद्मनि विजयते। ज्ञान प्रदीपः हरः

शब्दार्थ

(जो शकर भगवान)
चूडा =जटाओं में
उत्तंसित =लपेटे हुए, लगाये हुए
चन्द्र =चन्द्रमा के
चारु =सुन्दर
कलिका =कलावती
चंचत् =चंचल
शिखा =शिखा लौ से
भास्वरः =प्रकाशमान रहते हैं,
(जिन्होंने)
विलोल =चंचल
काम शलभः=काम रूपी पतिंगे को
लीला =सहज ही से
दग्धः =जला ढाला है, भस्म कर डाला है
(और जो)

श्रेय =शुभ
दशा =अवस्थाओं में
अग्रे =आगे ही
स्फुरन् =छटा दिखाते हुए
अन्तः =अन्तःकरण के भीतर
स्फूर्जत् —फैले हुए
अपार =अथाह
मोह तिमिर=अज्ञान रूपी अंधकार के
प्राक् भारम्=समूह को
उच्चाटयन् =दूर करते हुए
ज्ञान प्रदीपः=ज्ञान ज्योति रूपी
हरः =सब पापों को हरनेवाले शंकर भगवान
योगिनाम् =योगियों के
चेतः सद्मनि=मन मन्दिर में
विजयते =विराजते हैं

भावार्थ

जिस शंकर भगवान ने अपनी जटाओं में चन्द्रमा को आभूषण के रूप में धारण कर रखा है, जिन्होंने विचार मात्र से कामदेव को भस्म कर डाला है और जो मानव के मन में बसे हुए मोह रूपी अंधकार को पटा-पचंल करने में समर्थ हैं, ऐसे महादेव भगवान शकर योगी जनों के मन-मन्दिर में सदा विराजमान रहते हैं।

विशेषार्थ

शंकर भगवान वैराग्य के साक्षात् अवतार हैं। इसीलिए भर्तृहरि ने वैराग्य के लिए शंकर भगवान को आदर्श माना है। शंकर की उपमा ज्योति से दी गयी है। शंकर भगवान के मस्तक पर जो चन्द्रमा है वही उस ज्योति की लौ है। भर्तृहरि ने वैराग्य शतक से पहले शृंगार शतक लिखी है। इसलिए इस श्लोक में चन्द्रमा की सुन्दरता का वर्णन है। पर यहाँ तो शृंगारसे निकल

कर वैराग्य में प्रवेश करना है। विचार एक दम बदलने हैं। चन्द्रमा को विचारों का उद्गम माना गया है। विचारों के परिष्कृत होने पर ही मनुष्य वैराग्य के जटिल मार्ग पर अग्रसर हो सकता है और तभी उसका उत्थान हो सकता है। इसलिए शंकर के मस्तक पर चन्द्रमा अब शृंगार के लिए ही नहीं विचार के लिए भी है, वरन् दोनों के लिए है। सुन्दर विचार ही वैराग्य के उपयुक्त सोपान हैं। या यों कहा जा सकता है कि वैराग्य मूर्ति की स्थापना उसी सुन्दर मंदिर में हो सकती है जिसकी नींव का आधार सुदृढ़ नैतिकता हो। एवम् व्यापक सौंदर्य प्रियता के बिना वैराग्य का पौधा पनप नहीं सकता।

अब ज्योति को लीजिए। ज्योति अथवा ज्वाला का काम जलाना है। उसे निगल जाने की नीयत से पतिंगे उस पर टूट पड़ते हैं। ज्वाला उन्हें जला कर भस्म कर देती है। शंकर भगवान ने तो कामदेव को भस्म कर डांला था। इसमें दो बातें हैं। एक ओर पतिंगों का दल है, दूसरी ओर अग्नि की ज्वाला या दीपक जलाने वाली वस्तु है। उसे पतिंगे खाने की वस्तु समझते हैं और जलकर मर जाते हैं। दीपक को भी पतिंगों की ओर से खतरा है। पतिंगों के झपेट में कभी-कभी दीपक बुझ भी जाता है। असुन्दर विचार वैराग्य के लिए घातक है।

मानव के मन में दोनों गुण हैं। उसमें विषय-वासना का अंधकार भी है और वासनाओं को भस्मीभूत करने की ज्वाला भी है। मनुष्य आग के समान पवित्र बन जाने पर ही कामनाओं पर काबू पा सकता है, नहीं तो वह स्वयं नष्ट हो जाएगा। वैराग्य की ओर बढ़ने वाले व्यक्ति को सबसे पहले कामनाओं पर काबू पा लेना होता है। तब ही उसमें वह ज्योति जग उठेगी। जहां ज्योति जगेगी वहाँ अंधकार आप ही मिटने लगेगा। यही प्रकाश धीरे-धीरे सारे अन्तःकरण के भीतर व्यापने लगेगा और अज्ञान रूपी अंधकार को जड़मूल से नष्ट कर देगा।

ज्योति या दिया तो मकान या मन्दिर के भीतर जला करता है। ज्ञान की ज्योति योगियों के मन में प्रकाशमान रहती है।

मन्दिर बन गया, क्योंकि अब वह भगवान का

भगवान् सदा योगियों के मन में विराजत में सबसे बड़ा बाधक है।

यहाँ पर 'योगी' तथा 'हरः' भी नहीं पा सकता। उल्टे तृष्णा

के भोगी को अब वैराग्य शंकर डालते हैं, उसका वर्णन इस शतक

किसी योग की चर्चा शतक भर में कहीं नहीं है। चाहे कोई योगी हो, योगी के हृदय में 'हरः' महादेव वास करते हैं। 'हरः' का अर्थ है—समस्त पापों को हरनेवाला और सब प्रकार की बाधाओं से मुक्त करने वाला। साधक अपनी साधना के द्वारा उस स्थिति को प्राप्त होने पर स्वयं उसके भीतर ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। तब साधक सिद्ध बन जाता है, मानव महादेव हो जाता है, इन्सान ईश्वर का रूप धारण कर लेता है।

श्लोक २

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित्फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशंकया काकवत्
तृष्णे जृम्भसि पापकर्मपिशुने नाद्यापि संतुष्यसि।

पदच्छेद

देशमनेक = देशम् + अनेक
कुलाभिमानमुचितम् = कुल + अभिमानम् + उचितम्
परगृहेष्वाशंकया = परगृहेषु + आशंकया
नाद्यापि = न + अद्य + अपि

पदान्वय

भ्रान्तम् किंचित् फलम् न प्राप्तम्
त्यक्त्वा निष्फला सेवा कृता
आशंकया भुक्तम्
न संतुष्यसि

शब्दार्थ

अनेक =बहुत से
दुर्ग =न चलने योग्य
विषमम् =ऊबड़ खाबड़
देशम् =स्थान
भ्रान्तम् =घूम डाले (किन्तु)
किंचित् =कुछ भी
फलम् =फल, लाभ
न प्राप्तम् =नहीं पाया
उचितम् =योग्य
जाति कुल =जाति और कुल के
अभिमानम् =गौरव को
त्यक्त्वा =त्याग कर
निष्फला =व्यर्थ की
सेवा कृता =सेवा की
मान विवर्जितम्=स्वाभिमान को पूर्णतया छोड़कर अर्थात् अपमान के साथ
पर गृहेषु =पराये घरों में
काकवत् =कौए की भाँति
आशंकया =डरते झिझकते
भुक्तम् =भोजन किया
पापकर्म =पाप कर्मों में लिप्त रहने वाली
तृष्णे =हे ! लोभ (तृष्णा)
जृम्भसि =बढ़ती ही जा रही है
अद्य अपि =अब भी (तू)
न संतुष्यसि=संतुष्ट, तृप्त नहीं होती

भावार्थ

लालच के मारे मैंने अनेकों जंगल, पहाड़, नदी, समुद्र घूम डाले, किन्तु कुछ फल नहीं मिला। स्वाभिमान को छोड़कर दूसरे की चाकरी की, पर उसका भी कोई नतीजा नहीं रहा। घोर अपमान सह कर पराया कौर खाया, तब भी लालच का पेट नहीं भरा। हे लालच ! तू सदा एक से एक वढ़ कर पापकर्म में फंसाता जाता है और बराबर वढ़ता ही जाता है।

विशेषार्थ

तृष्णा अथवा लालच यह वैराग्य की साधना में सबसे बड़ा बाधक है। जिसकी तृष्णा न मिटे वह वैराग्य की हवा भी नहीं पा सकता। उल्टे तृष्णा के कारण मनुष्य क्या-क्या बुरे कार्य कर डालते हैं, उसका वणन इस शतक के प्रथम दस श्लोकों में है।

लालच के मारे कोई इस चेष्टा में रहता है कि कहीं पड़ा-पड़ाया धन हाथ लग जाए। इस उद्देश्य से वह पहाड़, नदी, समुद्र तथा देश-विदेश की खाक छानता है। इतने कठिन परिश्रम के बाद धन की प्राप्ति नहीं होती, सो मतलब नहीं है। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार धन मिल भी जाए तब भी उसका कोई अच्छा फल नहीं होता क्योंकि 'लालच' ही उसका प्रेरक है, पुरुषार्थ नहीं। ऐसे लोग प्रायः आलसी होते हैं या विलासी। और ऐसे व्यक्तियों की संख्या वहुत कम होती है। उनकी प्यास घटती नहीं बल्कि बढ़ती ही जाती है। जीवन भर तरह-तरह के शारीरिक कष्ट उठाने पर भी मानसिक शान्ति नहीं होती। दूसरी ओर साधारणतया ऐसे लोग होते हैं—शिक्षित भी अशिक्षित भी—इस प्रकार जोखिम का काम न लेकर नौकरी जैसा सुगम पेशा अपनाते हैं। नौकरी में जोखिम कम होता है और शारीरिक कष्ट भी कम ही होता है। काम भी और वेतन भी निश्चित होता है। पर इसमें स्वाभिमान को अधिक धक्का लगता है। मालिक की मान-मर्यादा के लिए अपने स्वाभिमान और सिद्धान्तों को तिलांजलि देनी पड़ती है। इससे पहले की अपेक्षा अधिक मानसिक क्लेश होता है। तीसरी श्रेणी के वे लोग हैं जो शरीर को तनिक भी कष्ट देना नहीं चाहते। वे भीख से पेट भरते हैं। उनकी दशा तो सबसे गयी बीती है। उन्हें अपनी लाज खोकर दूसरों का मुंह ताकना पड़ता है। फिर भी बैठ कर निश्चिन्तता से खा नहीं पाते। उनके हाथ से टुकड़ा कोई छीन ले जाएगा, इसका डर तो नहीं है। किन्तु कंगाल भिखारी की आत्मा इतनी पतित हो जाती है कि वह दूसरों के फेंके-फिकाये टुकड़ों को भी चोर-नजर कव्वे की भाँति डरते-डरते छीनता है और छिपा-छिपा कर खाता है।

श्लोक की शब्दावली से दो बातें स्पष्ट हैं। किसी विशेष उद्देश्य को लेकर पर्यटन तथा परिश्रम करने वालों, स्वाभिमान की रक्षा करते हुए योग्य नौकरी करने वालों, या सन्त-महात्माओं या अतिथि अभ्यागतों का तिरस्कार नहीं किया गया है, वल्कि केवल कंगलेपन और नीच स्वार्थपूर्ण सेवावृत्ति और लोभ लालच की निन्दा की गयी है।

दूसरी बात यह है कि जिन कामों में शारीरिक कष्ट अधिक होता है उनमें स्वाभिमान की रक्षा अधिक होती है। कमाने खाने का मार्ग जितना सरल होता है उतना ही अपमान अधिक सहना पड़ता है। इसलिए सांसारिक सुख के साथ-साथ मानसिक शान्ति की इच्छा रखने वालों को चाहिए कि शारीरिक

कष्ट से भागने की चेष्टा न करें। और सबमें ध्यान देने योग्य यह है कि चाहे जितना शारीरिक कष्ट उठावें या मानसिक वेदना सहें, जब तक मन में तृष्णा है तब तक कष्ट ही कष्ट रहता है। तृष्णा स्वयं पाप कर्मों में फंसाने वाली वस्तु है। तृष्णा तथा पाप में चोली दामन का नाता है। सारांश यह है कि जब तक तृष्णा है तब तक तृप्ति नहीं और जब तक तृप्ति नहीं तब तक सुख या शान्ति नहीं।

श्लोक ३

उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितांपतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः
मंत्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णे सकामा भव।

पदच्छेद

गिरेर्धातवः = गिरेः + धातवः
मंत्राराधन = मंत्र + आराधन
वराटकोपि = वराटकः + अपि

पदान्वय

निधि शंकया क्षितितलम् उत्खातम्, गिरेर्धातवः ध्माता, सरिताम् पतिः निस्तीर्णः, नृपतयः यत्नेन संतोषिताः, मंत्र आराधन तत्परेण मनसा श्मशाने निशाः नीताः, मया काण वराटकः अपि न प्राप्तः तृष्णे सकामा भव।

शब्दार्थ

निधि शंकया	= धन पा जाने की आशा से	क्षिति तलम्	= पृथ्वी के स्तर को
		उत्खातम्	= खोद डाला गया

गिरेः धातवः	=पहाड़ी धातुओं को
ध्माता	=फूंका गया
सरिताम् पतिः	=नदियों के पति अर्थात् समुद्र को
निस्तीर्णाः	=पार किया गया
नृपतयः	=नरपतियों यानी राजा महाराजाओं को
यत्नेन	=प्रयत्न तथा परिश्रम से
संतोषिताः	=संतुष्ट किया गया
मंत्र आराधन	=मंत्रों के जपने में
तत्परेण मनसा	=तल्लीन मन से
श्मशाने	=मसान घाटों में
निशाः	=रातें
नीताः	=बितायी गयीं (फिर भी)
मया	=मेरे द्वारा, मेरे
काण वराटकः	=फूटी कौड़ी
अपि न प्राप्तः	=भी न मिली
तृष्णे	=हे लालच !
सकामा भव	=तेरी ही इच्छा पूरी हो, तेरा भला हो

भावार्थ

धन गड़ा होगा, इस लालच से मैंने खंडहर खोद डाले। पहाड़ी धातुओं को गला कर जंगली जड़ी बूटियों के साथ उसे फूंककर सोना बनाने की चेष्टा की। विदेशों में व्यापार कर के मालामाल होने की नीयत से समुद्र पार चला गया। उनके मन पसंद ढंग से चलकर राजाओं को प्रसन्न किया। रातों में मसानघाट पर बैठकर मंत्रों को सिद्ध करने की चेष्टा की। यह सब केवल लालच में फंसकर किया, पर एक फूटी कौड़ी भी हाथ नहीं लगी।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जो कहा गया था उसी को इसमें अधिक स्पष्ट किया गया है। पिछले श्लोक में साधारण चेष्टा की चर्चा है। इसमें उसी चेष्टा का ब्यौरा है। पिछले में भ्रमण की चर्चा है तो इसमें उस भ्रमण काल में क्या-क्या किया, चाकरी की तो कैसी की, दिन में भीख मांगता था तो रात में क्या-क्या करता था। मतलब यह है कि कुछ न कुछ करता रहा और अपनी ओर से कोई कसर उठा नहीं रखी।

पिछले दोनों श्लोकों में यह बताया गया है कि मनुष्य धन के लालच में कैसे-कैसे काम करता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या धन कमाने के यही

उपाय थे ? पृथ्वी के नीचे गड़ा धन पाने, समुद्र पार जाने, चाकरी करने, और भीख मांगने के सिवा पेट भरने के क्या और कोई उपाय थे ही नहीं ? अगर थे तो क्या इन कामों में धन प्राप्त नहीं होता था ? क्या इनसे कुटुम्ब का निर्वाह नहीं होता था ? इस प्रकार की शंकाओं की जरूरत नहीं है । भर्तृहरि ने जिस समाज का चित्र खींचा है यदि उसमें केवल यही धन्धे रहे हों तो वह समाज ही कैसा ? जहां सभी इसी प्रकार के लोग हों तो वहां कौन राजा किस प्रजा का, कौन व्यापारी किस चीज का और कौन उसका खरीदार ? भीख मांगने वाले हों तो भीख देने वाला कौन ? उस समय भी खेती, उद्योग, व्यापार सब कुछ होता था । वास्तव में वह भी एक समुन्नत समाज ही था । उस समय भी सभी रोजगार धन्धे चल रहे थे । यहां पर केवल उन लोगों का चित्र खींचा गया है, जिनको लालच तो बहुत भारी है, पर जिनकी तृप्ति कभी नहीं होती। ऐसे लोगों को स्वभावतः किसी साधारण धन्धा या रोजगार से सन्तोष नहीं हो सकता । वे परिश्रम नहीं कर सकते । चाहते हैं कि एक दम धन-कुबेर बन जाएं । इसलिए खंडहरों में, जंगलों में, मन्त्र तन्त्र में व्याकुल रहकर मारे-मारे फिरते रहते हैं और अनेकों प्रकार के कष्ट सहते रहते हैं ।

यह भी समझ लेना चाहिए कि जितने सारे कामों की यहां चर्चा की गयी है उन सब कामों को एक ही व्यक्ति करे, यह जरूरी नहीं है । हर मनुष्य अपने-अपने खब्त के अनुसार इनमें से एक या अधिक पचड़ों में पड़ सकता है । अभिप्राय केवल यह है कि सबका परिणाम एक ही है । कहीं भी तृष्णा नहीं मरती और वेदना बनी की बनी रहती है । कोरा वेदाँत छाँटने वाले अधिकतर साधु और लम्बी चौड़ी हांकने वाले गृहस्थ ऐसे ही होते हैं । आजकल भी समाचार पत्रों में खबरें भी आती हैं कि अमुक स्थान पर किसी वेषधारी साधु ने लोगों को ठगा और किसी बड़े होटल में व्यापारी बन कर आया और गिरफ्तार किया गया ।

श्लोक ४

खलोल्लापाः सोढा कथमपि तदाराधनपरैः
निगृह्यान्तर्वाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा
कृतो वित्तास्तम्भः प्रतिहतधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥

पदच्छेद

खलोल्लापा = खल + उल्लापा
कथमपि = कथम् + अपि
तदाराधन = तत् + आराधन
निगृह्यान्तर्बाष्पम् = निगृह्य + अन्तः + बाष्पम्
हसितमपि = हसितम् + अपि
धियामञ्जलिरपि = धियाम् + अंजलिः + अपि
त्वमाशे = त्वम् + आशे
मोघाशे = मोघ + आशे
किमपरमतः = किम् + अपरम् + अतः

पदान्वय

तत् आराधन परैः खल उल्लापाः कथम् अपि सोढाः अंतः बाष्पम् निगृह्य शून्येन मनसा हसितम् अपि वित्त स्तम्भ प्रतिहत धियाम् अंजलिः अपि कृता आशे, मोघ आशे, माम् किम् अपरम् अतः नर्तयसि ?

शब्दार्थ

तत्	=उनको	कथम् अपि	=किसी प्रकार
आराधन परैः	=प्रसन्न करने में मन लगाकर	सोढा	=सह लीं
		अंतः	=अन्दर ही अन्दर
खल	=नीचों की	बाष्पम्	=आंसुओं को
उल्लापाः	=बुरी भली बातें	निगृह्य	=थाम कर

शून्येन मनसा = कोरे मन से
हसितम् अपि = हंसा भी
वित्त = धन के
स्तम्भ = थम जाने से, इकट्ठा हो जाने से
प्रतिहत = मारी गयी हुई
धियाम् = बुद्धिवाले, जिनकी बुद्धि मारी गयी हो (उनको)
अंजलिः अपि = हाथ भी

कृता = जोड़े
आशे, = हे लालच !
मोघ = व्यर्थ
आशे = की लालच
माम् = मुझे
अतः अपरम् = इससे बढ़कर
किम् = क्यों
नर्तयसि = नचाती है (मुझसे और क्या नाच नचायेगी ?)

भावार्थ

धन के लोभ में मैंने जिनकी चाकरी कबूल कर ली उन्हें प्रसन्न रखने के लिए किसी तरह अपने मन को मारकर उनकी असहनीय बातें सहता रहा। अपनी दशा को देख कर रोना आता था, किंतु कहीं वे नाराज न हो जायें, इस डर से ऊपरी मन से दिखावे की हंसी हंस देता था कि मालिक खुश रहें। उनके सामने हाथ जोड़कर पहरों खड़ा रहता था। धन के कारण उन नीचों की मति मारी गयी थी। इसलिए मेरे इन सब कामों का उन पर कोई प्रभाव न पड़ा और मेरी आशा कहीं भी पूरी न हो पायी। हे तृष्णे ! मुझसे और क्या नाच नचाना चाहती है ? सब कुछ तो किया, पर यह आशा देवी है कि अब भी निराश नहीं होती।

विशेषार्थ

पिछले दो श्लोकों में शारीरिक कष्टों का वर्णन था। इसमें मानसिक वेदना की चर्चा है। सरल काम समझ कर चाकरी स्वीकार करते हैं। पर इसमें पहाड़ों, जंगलों के कष्टों से भी अधिक क्लेश होता है। नौकर समझ

कर मालिक ऐसी बातें करते हैं कि रोना आता है। पर रो नहीं सकते। उमड़ती रुलाई को रोकना ही कठिन होता है, उल्टे उनकी निकम्मी बातों की प्रशंसा करनी पड़ती है। यह सब करने के बाद हाथ भी जोड़ने पड़ते हैं। पर उनकी मति ही मारी गयी है। वह नहीं समझते कि मैं क्या हूं? मेरी क्या योग्यता है? कैसा काम कर रहा हूं? मुझे कैसी वेदना हो रही है? इसलिए मेरी आवश्यकताओं की ओर वे ध्यान ही नहीं देते।

क्या धनवान सब ऐसे ही होते हैं? धनवान के साथ एक विशेषण लगा कर इसे स्पष्ट किया गया है। वह धनवान जो नीच होते हैं उन्हीं का ऐसा स्वभाव होता है। आपकी योग्यता की मर्यादा नहीं करते। आपके काम की कद्र नहीं करते। मनुष्यता के नाते आपकी आवश्यकताओं को समझ कर उनको पूरा नहीं करते। यहाँ पर धनीमात्र की निन्दा नहीं की गयी है। नीच प्रवृत्ति वाले धनी की बात कही गयी है। खल का अभिप्राय नीच से है—नीच कुल का नहीं। जब ऐसे नीच प्रवृत्ति के व्यक्ति के पास धन जुट जाता है तो धन के घमंड में उसकी मति भ्रष्ट हो जाती है। ऐसा लगता है कि उस समय समाज के अन्दर सब लोगों को सब काम करने की स्वतन्त्रता थी। नीच जाति कहलाने वाले भी अपने परिश्रम से धनी हो जाते थे। धन और मान के बढ़ जाने पर अपनी असलियत को भुला देने वालों की मात्र निन्दा की गयी है। ऐसे लोगों को जब आप बीती याद न रहे, तब पर–बीती का उन्हें अनुभव कैसे हो सकता है?

श्लोक ५

अमीषाँ प्राणानाँ तुलितबिसिनीपत्रपयसाँ
कृते किन्नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःसंज्ञमनसाँ
कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ।

पदच्छेद

किन्नास्माभि: =किम् + न + अस्माभि:
विवेकैर्व्यवसितम् = विवेकै: + व्यवसितम्
यदाढ्यानामग्रे = यत् + आढ्यानाम् + अग्रे,
पातकमपि = पातकम् + अपि

पदान्वय

बिसिनी पत्र पयसाम् तुलित अमीषाम् प्राणानाम् हिते विगलित विवेक: अस्माभि: किम् न व्यवसितम् यत् द्रविण मद नि: संज्ञ मनसाम् आढ्यानाम् अग्रे वीत ब्रीडै: निजगुण कथा पातकम् अपि कृतम् ।

शब्दार्थ

बिसिनी पत्र	=कमल के पत्तों के	अस्माभिः	=हमारे द्वारा
पयसाम्	=पानी से	किम्	=क्या
तुलित	=तुलना किये गये, समान	न व्यवसितम्	=नहीं किया गया
अमीषाम्	=इन	यत्	=जो (यहां तक कि)
प्राणानाम् हिते	=प्राणों के लिए	द्रविण मद	=धन के घमंड से
विगलित विवेकै	=पूर्णतया विवेक शून्य हुए,	निःसंज्ञ	=चेतन हीन
		मनसाम्	=मन वाले

आढ्यानाम् =सम्पन्न लोगों के
अग्रे =आगे
वीत व्रीडैः =लज्जा त्याग कर
निजगुण कथा =अपना गुण गान करने का
पातकम् अपि =पाप भी
कृतम् =किया गया

भावार्थ

कमल के पत्तों पर तैरने वाले पानी की बूंद के समान हमारे यह प्राण अस्थिर हैं। ऐसे क्षणभंगुर प्राणों के लिए विवेक हीन हो कर हमने क्या-क्या नहीं किया। सभी प्रकार के कुकर्म कर डाले। यहाँ तक कि धन के मद से जिन सम्पन्न लोगों के हृदय एकदम पथराये गये उनके सामने अपने मुंह अपना ही गुणगान करने का पाप भी किया।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया था कि प्रायः धनियों के बुद्धि मारी जाती है। वह स्वयं सोच समझ कर हमारी योग्यता तथा सेवाओं का विचार करके हमारी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। चूँकि वह नहीं समझते इसलिए अपने ही मुंह से अपने गुणों का बखानकर उनके दिलों को जगा कर दया सहानुभूति पैदा करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा कराने की चेष्टा की जाती है। धनियों की बात एक ओर रहने दें। पहले स्वयं अपने बारे में सोचें। अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करना पाप है! क्यों? **एक** तो इसलिए कि जब अपनी प्रशंसा करते हैं तो दूसरे को स्वयं सोचने समझने का अवसर नहीं रहता। इस प्रकार दूसरों को धोखा दिया जा सकता है। दूसरे, अपने गुण आप गाने में अप्रत्यक्ष रूप से औरों की निन्दा होती है। खुले शब्दों में नहीं तो छिपे-छिपे ही। इस प्रकार दूसरे का हक मारा जा सकता है और यह पाप है। यह सब हम करते हैं केवल अपने शरीर के लिए और यह शरीर जो कमल के चिकने पत्तों पर तैरने वाले पानी के बूँद के समान है। किसी क्षण हवा के एक हल्के झोंके से ही उस बूँद का नाम निशान मिट सकता है। उसी प्रकार यह शरीर भी किसी क्षण छूट सकता है। ऐसे अस्थायी शरीर के लिए ऐसे घोर कृत्य करना निरी मूर्खता है।

श्लोक ६

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशो न तप्तं तपः ।
घ्यातं वित्तामहर्निशं नियमितप्राणैर्नशंभोः पदं
तत्तात्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः ॥

पदच्छेद

गृहोचित = गृह + उचित
दुस्सह = दुः + सह
वित्तामहर्निशम् = वित्ताम्+ अहः + निशम्
यदेव = यत् + एव
प्राणैर्न = प्राणैः + न
तत्तात्कर्म = तत् + तत् + कर्म
मुनिभिस्तैस्तैः = मुनिभिः + तैः + तैः

पदान्वय

क्षान्तं न क्षमया, गृहोचित सुखम् त्यक्तम् न संतोषतः
दुस्सह शीत वात तपन क्लेशः सोढाः तपः न तप्तम्
अहः निशम् वित्ताम ध्यातम्, नियमित प्राणैः शम्भोः पदम् न घ्यातम्
मुनिभिः यत् एव (कृता) तत् तत् कर्म कृतम्, किन्तु तैः तैः फलैः वंचिताः

शब्दार्थ

क्षान्तं	**=सहन किया** **(किन्तु)**	**सुखम्**	**=सुख को**
न क्षमया	**=सहनशीलता के कारण नहीं**	**त्यक्तम्**	**=त्याग दिया** **(किन्तु)**
गृहोचित	**=घर के योग्य**	**न संतोषतः**	**=संतोष के कारण नहीं**
		दुस्सह	**=न सहने योग्य कठिन**

शीत	=जाड़ा
वात	=हवा
तपन	=गर्मी
क्लेशः	=कष्टों को
सोढाः	=सहन किया किन्तु
तपः	=तपस्या
न तप्तम्	=नहीं की
अहः	=दिन
निशम्	=रात (सदा)
वित्तम्	=धन को
ध्यातम्	=ध्यान किया (किन्तु)
नियमित प्राणैः	=प्राणों का संयम करके

शम्भोः पदम्	=महादेव शम्भु के चरणों का
न ध्यातम्	=ध्यान नहीं किया
मुनिभिः	=ऋषि मुनियों द्वारा
यत् एव	=जो जो (कर्म किये गये)
तत् तत् कर्म	=वही, वही कर्म
कृतम्	=किये (किन्तु)
तैः तैः	=उन उन (कार्यों के)
फलैः	=फल से
वंचिता	=वंचित रहा, वह फल प्राप्त नहीं हुआ

भावार्थ

निन्दा, अपमान आदि सह तो लिये, किन्तु अपनी सहन शीलता के कारण नहीं बल्कि इस भय से कि कहीं यजमान अप्रसन्न न हो जाए। उनकी सब बातों को कुढ़ते हुए सहते रहे। घर द्वार छोड़ा। परन्तु संसार के सुखों से जी भर कर ऐसा नहीं किया। बल्कि वर्तमान सुख से संतोष न करके और भी अधिक सुख-सामग्री को बटोरने के लिए घर छोड़ देश-विदेश, जंगल-पहाड़ घूमा किये। निर्जन प्रदेशों और मसान घाटों में गरमी सर्दी में कष्ट उठाते रहे जरूर, मगर कोई तपस्या के विचार से नहीं, मात्र भूत प्रेतों को वश में करके धन प्राप्त करने की नीयत से ऐसा करते रहे। रात दिन ध्यान लगाए रहे लेकिन वह किस पर ? भगवान पर नहीं वरन धन में। ऋषि मुनियों के समान क्षमा, त्याग, तपस्या, ध्यान आदि सभी काम तो किये, किन्तु भावना भिन्न होने के कारण उनके उन कामों के सुफल से सदा वंचित ही रहे।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में दूसरों के छिद्र ढूँढ निकालने से हट कर स्वयं अपनी ओर ध्यान देने की बात कही थी। अपने को मूर्ख बताया था। इसमें उसी का विस्तार है। जब दुख सहने ही हों, कष्ट उठाने ही हों, रात-दिन मन को किसी पर लगाये ही रहना हो, तो ऐसी वस्तुओं के लिए यह सब करना जिनसे कष्ट और भी बढ़े मूर्खता नहीं तो क्या है? स्वार्थ से भर जाने के कारण मनुष्य उन-उन कामों को दिल से नहीं करता किन्तु मजबूर होकर उसे करना पड़ता है। इसलिए दुखी रहता है। किन्तु भावना के बदलने से उन ही कामों में उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है। घर द्वार के छूटने का दुःख उसे नहीं सताता। निन्दा अपमान पर, दूसरों की मूर्खता पर हंसता है। धन की धुन से उसके मिलने पर और प्रायः न मिलने पर भी अनेकों कारणों से मनुष्य दुखी ही रहता है। पर ईश्वर चिन्तन में लग जाने पर ईश्वर की प्राप्ति हो या न हो उससे मनुष्य को आनन्द की ही प्राप्ति होती है। मनुष्य जो काम करे भावना मात्र के वदलने में परिणाम में भारी अन्तर आता है।

इस श्लोक में एक और सुन्दरता है। जिन बातों का पीछे खंडन किया गया है वड़ी सुन्दरता से उन ही बातों का यहां समर्थन किया गया है। अपमान सहने, घर त्यागने और घोर अनुष्ठानों की यहाँ निन्दा नहीं की गयी है और साथ ही क्षमा, त्याग, तपस्या तथा भगवत् भजन की श्रेष्ठता गायी गयी है। सांसारिक कीड़ों को उनके ग्लानिमय जीवन से हटा कर सरल ढंग से स्वर्गीय आसन पर बैठाने की चेष्टा की गयी है और दुःख के मूल कारण तृष्णा को जड़ मूल से उखेड़ कर वैराग्य के सुन्दर उपवन में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त किया गया है।

श्लोक ७

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः
कालो न यातो वयमेव याताः तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ।

पदच्छेद

वयमेव = वयम् + एव

पदान्वय

भोगा न भुक्ता वयम् एव भुक्ताः, तपः न तप्तम् वयम् एव तप्ताः
कालः न यातः वयम् एव याताः, तृष्णा न जीर्णा वयम् एव जीर्णाः

शब्दार्थ

भोगा =भोगों को, विषय सुखों को (हमने)
न भुक्ता =नहीं भोगा
वयम् एव =हम ही
भुक्ता =भुगते (हमने)
तपः =तपस्या
न तप्तम् =नहीं की
वयम् एव =हम ही
तप्ताः =तपे
कालः =काल, समय
न यातः =नहीं बीता
वयम् —हम ही
याताः =बीत गये
तृष्णा =आशा, लालच
न जीर्णा =शिथिल नहीं हुई
वयम् एव =हम ही
जीर्णाः =शिथिल पड़ गए, बूढ़े हो गये

भावार्थ

हमने विषयों को नहीं भोगा बल्कि विषयों ने ही हमें खा डाला। हमने कोई तपस्या नहीं की बल्कि अनेकों प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक कष्टों ने हमारे शरीर को जला डाला। समय नहीं कटा बल्कि हम ही कटते गये। लालच ने हमें जीर्ण शीर्ण और बूढ़ा बना दिया, पर वह स्वयं ज्यों का त्यों जवान बना हुआ है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में तपस्वी जीवन का संकेत था। इस पर यह शंका उठ सकती है कि ऋषि-मुनि भावी सुख की आशा से अपने शरीर को कष्ट क्यों देते हैं ? कोई कह सकता है कि हमें स्वर्ग नरक से सरोकार नहीं है। मरने के बाद क्या होगा, यह हम नहीं जानते। हम तो यह मानते हैं कि जब तक जीवें सुखी रहें, खूब खायें, पीवें और मौज उड़ावें। इस सुख-सामग्री के जुटाने में जो कष्ट उठाने पड़ते हैं वह किस तपस्या से कम है ! इस श्लोक में इसी शंका का उत्तर दिया गया है।

हम विषयों का सुख भोगते हैं, इस प्रकार समझना ही भूल है। विषयों से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख से शरीर का ह्रास होता है। दुःख होता है, सुख नहीं। विलासमय भोजन, छाजन, और संभोग आदि से मनुष्य स्थायी आनन्द प्राप्त नही कर सकता। जितनी देर तक उनका भोग करते रहते हैं तब तक के लिए हमें सुख जान पड़ता है। वास्तव में उस वस्तु के प्राप्त करने में और बाद में उसे स्थायी वनाए रखने में असमर्थ होने के कारण दुःख ही दुःख होता है। हम विषयों को नहीं भोगते बल्कि विषय ही हमें भोग लेते हैं। क्योंकि जिस वस्तु का निरन्तर भोग होता जाए उसे समाप्त हो जाना चाहिए और भोगने वाले की भोग-शक्ति बढ़ती ही जानी चाहिए। पर ऐसा नहीं होता। किसी भी विषय का भोग करते हुए थोड़ी ही देर में हम अपने को अधिक भोगने के अयोग्य पाते हैं और दिन पर दिन वह शक्ति और भी क्षीण होती जाती है। खाने पीने में और संभोग में सबका अनुभव यही है। स्पष्ट है कि विषय ही हमें भोग डालते हैं।

विषयी मनुष्य सदा मानसिक और शारीरिक क्लेशों का अनुभव करता रहता है। अल्प सुख के लिए आतुर हो उठना तपस्या नहीं है। वह तो जलना है। जैसे सोने को उपलों के बीच में रख कर आग लगा दें तो सोना तप कर स्वच्छ होगा और उपली जलकर राख होगी। मनुष्य तपस्या करता है तो वह सोने के समान तपता है और कुन्दन बन कर निकलता है। किन्तु विषयी मनुष्य उपली के समान जलकर राख हो जाता है।

इसी प्रकार हमारे समय का कटना भी झूठ है। यदि समय कटता तो हमें ज्यों का त्यों बना रहना चाहिए था, अजर, अमर हो जाना चाहिए था,

और समय को ही कटकर जीर्ण शीर्ण और लुप्त हो जाना चाहिए था। पर ऐसा नही होता। वही दिन रात और महीने और मौसम लौट-लौट कर आते हैं और उसी रूप में आते हैं। किन्तु हम दिन पर दिन कमजोर पड़ते जाते हैं। अन्त में एक दिन बूढ़े हो कर मर जाते हैं। दिन तो सभी के ढल जाते हैं, भोगी के भी और योगी के भी। फिर भी ढलने-ढलने में अन्तर है। तपस्या करते-करते बूढ़ा होने पर या मरते समय तपस्वी को तनिक भी सन्ताप नहीं होता। परन्तु विषयी बीती बातों के लिए हाथ मलता है, आगे के लिय हाय हाय करता है और मृत्यु को याद करके सिर धुनता है। इसके विपरीत साधारण गृहस्थ भी स्वभावतया जिन कामों को करता है यदि उन्हीं को वह स्वेच्छा से करे और जो कुछ आ पड़े उसे चुपचाप सहा करे तो उसे गृहस्थी में भी वही सुख मिलेगा जो तपस्वी को घोर तपस्या में मिलता है।

श्लोक ८

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितेनाँकितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥

पदच्छेद

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं = वलिभिः + मुखम् + आक्रान्तम्
पलितेनांकितं = पलितेन + अंकितम्
तष्णैका = तृष्णा + एका

पदान्वय

वलिभिः मुखम् आक्रान्तम्, शिरः पलितेन अंकितम्
गात्राणि शिथिलायन्ते, तृष्णा एका तरुणायते

शब्दार्थ

बलिभिः	=झुरियों से
मुखम्	=मुख
आक्रान्तम्	=भर गया है
शिरः	=सिर
पलितेन	=सफेद बालों से
अंकितम्	=पहचाने जाने लगा है अर्थात् बाल पक गये हैं
गात्राणि	=शरीर के सब अंग
शिथिलायन्ते	=ढीले पड़ रहे हैं (किन्तु)
तृष्णा एका	=अकेली तृष्णा
तरुणायते	=जवान हुई जा रही है ।

भावार्थ

चेहरे पर झुरियां पड़ गयीं, बाल पक गये, हाथ पैर ढीले पड़ गये, किन्तु तृष्णा अब भी जोर पकड़ रही है ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा था कि भोग विलास की लालसा में हम स्वयं ही भुगते गये । उसी भुगतान का बीभत्स चित्रण यहां प्रस्तुत किया गया है । सिर पर सुफेदी, मुख पर झुरियां और शरीर का चूल-चूल ढीला । आहार विहार से अंग प्रत्यंग निखर उठता है, परन्तु तभी तक जब तक वह मर्यादित हो । तृष्णा सदा सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है । अजीरण का परिणाम है जीर्ण शीर्ण शरीर ।

शरीर जीर्ण शीर्ण पर तृष्णा तरुण से तरुणतर । दम नहीं पर दम्भ बढ़े । अंधे को देखने की अधिक इच्छा, बहिरे को सुनने की और गूंगा बोलने बतलाने के लिए लालायित । घिसे पिटे अस्थिपंजर में आशा, दुराशा जोर मारती है, खाने पीने की दुराशा, भोगविलास की दुराशा, धन सत्ता की दुराशा ।

सशक्त करे तो करे आशा ही क्या दुराशा भी । परन्तु शक्तिहीन में ऐसी दुर्भावनाएं क्यों पनपती हैं ? अपनी इल्लत से मजबूर है विचारा । जवानी की लत बुढ़ापे में लतखोरी में बदल जाती है । पेट पचा नहीं पाता पर मुर्ग-मसलम की हविस । कमर कमान बन रही है, पर ताक झाँक ज्यों की त्यों ।

चेहरे पर केंचवे रंग रहे हैं, पर नजरें जमती हैं कुवाँरियों पर। बूढ़े हो चले हैं पर जवान बेटों पर डाट फटकार। अन्न को तरसते हैं, पर आन पर मरते हैं। जमीन खिसक चुकी है पर गद्दी पर डटे हैं। अनुयायी नहीं, पर नेताई चर्राती है। और तो और तपेदिक से पैर गोर के भीतर हैं, पर विवाह रचाने के लिए लालायित हैं। दुराशा का ही चमत्कार है कि बुझता दिया एकदम भभक उठता है।

श्लोक ६

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानोऽपि गलितः
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः।
शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो मूढः कायस्तदपि मरणापायचकितः॥

पदच्छेद

भोगेच्छा = भोग + इच्छा
बहुमानोपि = बहुमानः + अपि
स्वर्याता = स्वः + याता
शनैर्यष्ट्योत्थानं = शनैः + यष्टि + उत्थानम्
कायस्तदपि = कायः + तदपि
मरणापाय = मरण + अपाय

पदान्वय

भोगेच्छा निवृत्ता, पुरुष बहुमानः अपि गलितः
समानाः जीवित समाः सुहृदः सपदि स्वः याताः
शनैः यष्टि उत्थानम्, नयने च घन तिमिर रुद्धे
तदपि मूढः कायः मरण अपाय चकितः, अहो

शब्दार्थ

भोगेच्छा =भोग की इच्छा
निवृत्ता =दूर हो गयी
पुरुष बहुमानः =पुरुषों के योग्य पौरुष
गलितः =गल गया है
समाना =समान अवस्था वाले
जीवित समाः—प्राण समान
सुहृदः इष्ट मित्र
सपदि शीघ्र ही
स्वः याता =स्वर्ग सिधारे
शनैः धीरे से
यष्टि उत्थानम् =लठिया के सहारे उठना पड़ता है
नयने च =आंखों में भी
घन =घना
तिमिर =जाला
रुद्धे =छा गया है
तदपि =तिस पर भी
मूढः कायः =मूर्ख शरीर
मरण अपाय =मरने के डर से
चकितः =घबरा जाता है
अहो —अफसोस !

भावार्थ

विषयों को भोगने की इच्छा नहीं रही, उसकी शक्ति ही जाती रही। लोगों में मान मर्यादा घटी। संगी साथी स्वर्ग सिधारे। स्वयं हम भी बूढ़े हो चुके। लाठी के सहारे उठते-बैठते हैं। आंखों में जाले पड गये हैं। कुछ सुझाई नहीं पड़ता। तिस पर भी मरने की बात सुनकर जी घबरा उठता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया था कि बुढ़ापे में शरीर की बाहरी दशा क्या होती है। इसमें मन की भीतरी स्थिति का वर्णन है। वहां शरीर लाचार हो चुका था, यहाँ मन भी बैठ चुका है। जवानी की तरंगें और उमंग अब मन में नहीं उठतीं। विषयों को भोगने की इच्छा जाती रहती है। इसकी इच्छा रहती ही नहीं। लोगों में मान मर्यादा भी काफी सुख देने वाली वस्तु है किन्तु बूढ़े होने पर वह भी घट जाती है। यदि कुछ सम्मान होता भी है

तो वह केवल दिखावटी होता है। लोग दिल में गालियां दिया करते हैं या हँसी उड़ाते हैं। कहा करते हैं—पिंड नही छूटता मुए से। मान मर्यादा भी छोड़िये। यार दोस्तों से भी दिल बहल जाता है। संगी साथी होते तो उनसे अपनी कष्ट गाथा कहते। इस तरह दिल का गुबार उतार लेने में थोड़ी-सी शान्ति होती। कुछ पुरानी बातें कहते सुनते। थोड़ी देर के लिए पीछे की बातों में आज की बातें भूल जाते। पर यार दोस्त, संगी, साथी होंगे भी तो अपनी ही उम्र के, सो वह भी कहीं कब्र में पैर लटकाये पड़ा होगा। मान लीजिये भोग नहीं चाहिए, मान मर्यादा नहीं चाहिए और दिल को तसल्ली भी नहीं चाहिए, पर इतना तो कम से कम हो कि अपना काम तो आप कर सकें। सो वह भी नहीं होता। उठना बैठना दूभर हो जाता है। आँखों को सुझाता नहीं। ऐसी दशा में पाखाने पेशाब के लिए आदमी दूसरों का मोहताज हो जाता है। जब शरीर को सुख नहीं, और मन को शान्ति नहीं तब जीने में क्या रखा है। इस जीने से तो मर जाना कहीं अच्छा है। माना कि आत्महत्या करके मरना नहीं है। इतना तो है ही कि सबके समान हमें भी मरना है, यह समझकर शान्त चित्त रहें। परन्तु मनुष्य मरने की बात सुनकर घबरा उठता है। तृष्णा के मारे वह यह इच्छा करता है कि वह बराबर जीता ही रहे। कोई मरने की बात कहे तो वह झल्ला उठता है—मैं क्यों मरूं ? तू मरे, तेरे फलाँ मरें

श्लोक १०

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी
तस्याः पारगताविशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥

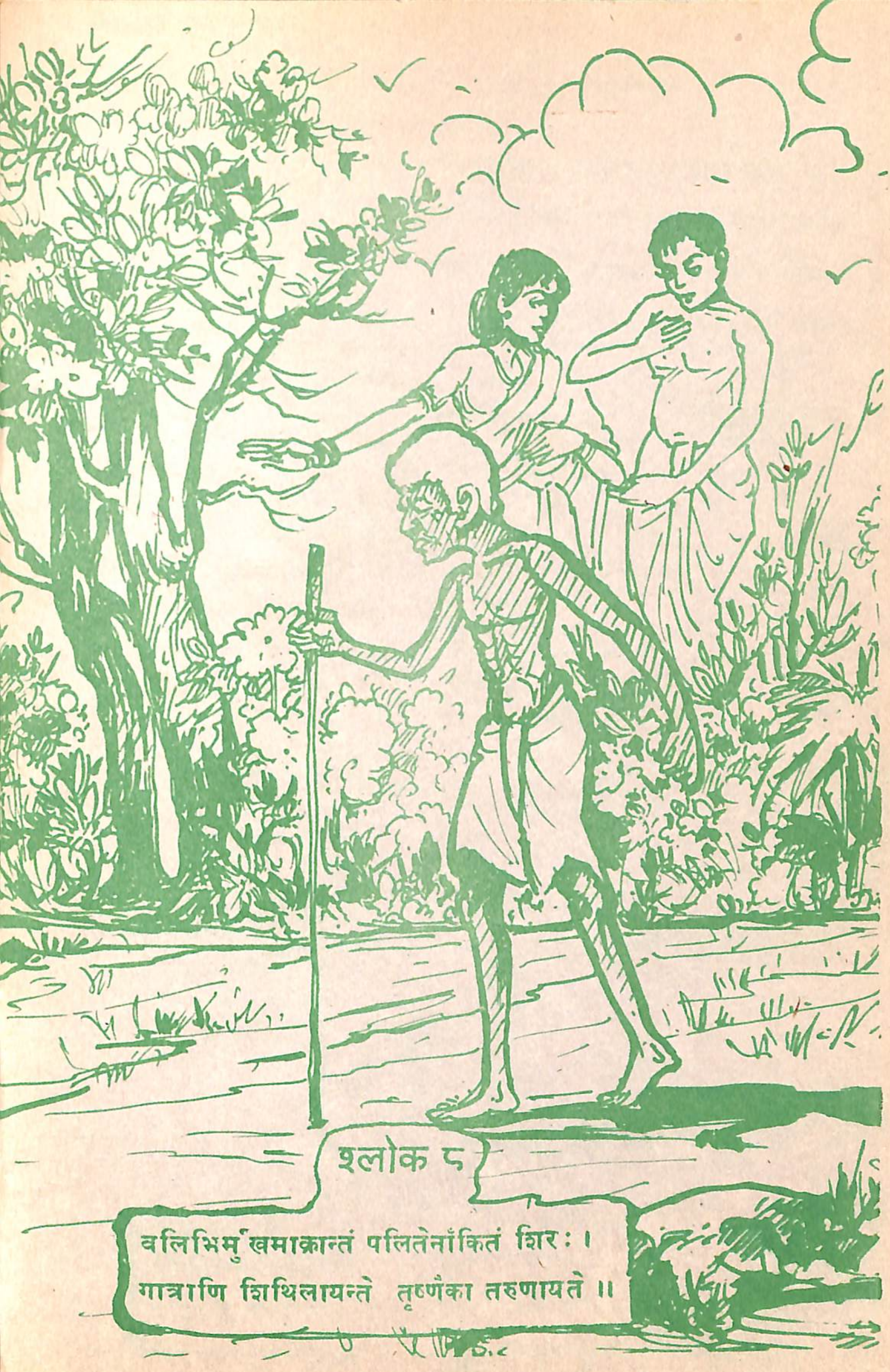

श्लोक ८

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितेनाँकितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥

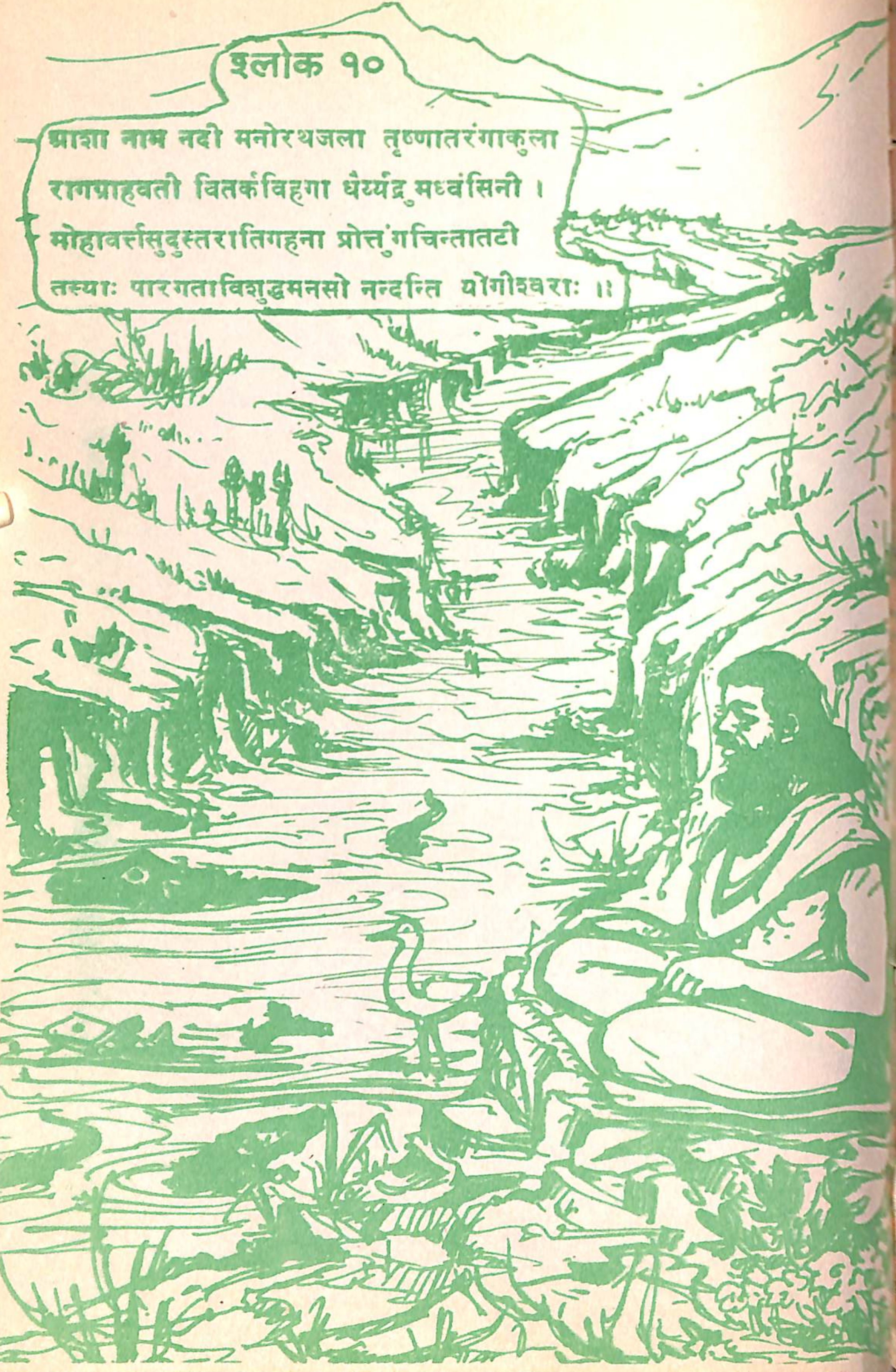

श्लोक १०

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्य्यद्रुमध्वंसिनी ।
मोहावर्त्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी
तस्याः पारगताविशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥

(२५)

पदच्छेद

तरंगाकुला = तरंग + आकुला
मोहावर्त = मोह + आवर्त
सुदुस्तरातिगहना = सुदुस्तरा + अतिगहना
प्रोत्तुंग = प्र + उत्तुंग
योगीश्वरा = योगी + ईश्वरा

पदान्वय

आशा नाम नदी, मनोरथ जला, तृष्णा तरंग आकुला,
राग ग्राहवती, वितर्क विहगा, धैर्य्य द्रुम ध्वंसिनी
मोह आवर्त सुदुस्तरा अतिगहना प्र उत्तुंग चिंता तटी
तस्या पारगता विशुद्ध मनसा: योगीश्वरा नन्दन्ति ।

शब्दार्थ

आशा नाम नदी	= आशा नाम की नदी है
मनोरथ	= इच्छाएं
जला	= (जिसके) जल हैं,
तृष्णा तरंगा	= तृष्णा की लहरों से
आकुला	= आकुल है (यह नदी)
राग ग्राहवती	= राग रूपी मगर, घड़ियालों से भरी हुई है,
वितर्क	= शंका रूपी
विहगा	= पक्षियों वाली है (शंकायें पक्षी बन कर उस जल पर तैरती हैं)
धैर्य द्रुम	= धैर्य रूपी वृक्ष को
ध्वंसिनी	= ध्वंस करने वाली है
मोह	= अज्ञान रूपी
आवर्त	= भंवर के कारण
सुदुस्तरा	= पार करना कठिन है
अतिगहना	= बहुत गहरी है
प्रउत्तुंग	= बहुत ऊंचे
चिन्ता	= चिन्ता रूपी
तटी	= किनारों वाली है,
तस्याः	= उस (नदी) को
पारगताः	= पार किए हुए
विशुद्ध	= स्वच्छ
मनसः	= मन वाले
योगीश्वरा	= योगीराज
नन्दन्ति	= आनन्द करते हैं

भावार्थ

आशा (लालच) एक नदी के समान है । तरह-तरह की इच्छाएं उस नदी में जल के समान हैं । अप्राप्य वस्तुओं का लालच तूफानी लहरें हैं । प्राप्त वस्तुओं में आसक्ति पानी के मगर के समान हैं । रह रह कर मन में उठने वाली शंकाएं पानी के पंछी हैं । आशा रूपी नदी धैर्य रूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़ फेंकने वाली है । उस नदी में बड़े-बड़े भयंकर भंवर हैं, जिन से पार पाना कठिन है । उसके किनारे बहुत ऊंचे हैं, जिन पर चढ़ पाना सरल नहीं है । ऐसी भंयकर है यह आशा रूपी नदी । इस नदी को विशुद्ध मनवाले योगीजन ही पार उतर कर आनन्द उठा सकते हैं ।

विशेषार्थ

पिछले नौ श्लोकों में तृष्णा से पीड़ित लोगों की दशा को चित्रित किया गया था । अन्त में इस श्लोक के अन्दर वह तृष्णा स्वयं किस प्रकार की है, यह बतलाने की चेष्टा की गयी है ।

आशा को एक नदी कहा गया है । नदी और आशा में क्या समानता है ? नदी सदा किसी ऊँचे प्रदेश से शुरू होती है फिर निरन्तर नीचे की ओर गिरती हुई जिधर ढाल मिले बहती जाती है । अन्त में उसका जल समुद्र में जाकर लय हो जाता है । किन्तु नदी का रूप तब भी नहीं मिटता । वह ज्यों-का त्यों बना रहता है । एक बार जहां नदी शुरू हुई फिर वह कहीं समाप्त होने का नाम नहीं लेती । जहां समाप्त भी होती है वहाँ वह उससे भी बड़ी नदी या समुद्र में जाकर मिल जाती है । हां, नदी भी समाप्त होती है । कहां ? केवल उस भूमि में, जहाँ पानी बालू में सूख जाता है । वहां पर भी धीरे-धीरे छोटी होकर, पतली होकर सूख जाती है । वास्तव में पानी ही नदी का कारण है । तरह-तरह की इच्छाओं को इस पानी से उपमा दी गयी है । शुरू में नदी में पानी कम होता है । ज्यों-ज्यों नदी आगे बढ़ती है त्यों-त्यों छोटे-बड़े नदी नाले उसमें आकर मिलते जाते है ।

ठीक उसी प्रकार मनुष्य के मन में आरम्भ में कोई साधारण इच्छा होती है । उसके बाद दूसरी इच्छा । फिर एक दूसरे से बड़ी इच्छा । नदी के जल के समान इच्छाओं का समूह बढ़ता ही जाता है । इच्छाओं का समुद्र

बन जाता है। तब पता भी नहीं लगता कि इन इच्छाओं का आदि अन्त कहां हैं। समुद्र का पानी खारा ही खारा होता है। नदी के जल के समान इच्छाओं की मिठास भी वहाँ जाकर मिट जाती है। इच्छाओं के सम्बन्ध में एक और बात भी है। कभी-कभी नदियों में पानी बहुत बढ़ जाता है। वह बाढ़ कहलाती है। तब नदी स्वयं एक समुद्र बन जाती है। उसका असली रूप तो बदलता ही है। साथ ही आस-पास के सैंकड़ों घर-गाँव भी बरबाद कर डालती है। इच्छाओं की बाढ़ भी उस अकेले व्यक्ति को ही नहीं बल्कि दूसरों के लिए भी बवाल बन जाती है। महायुद्ध इन ही इच्छाओं की बाढ़ के परिणाम है। हाँ, पानी से लाभ भी उठाया जा सकता है। बाँध बाँधकर, पानी को रोक कर सिंचाई का काम लिया जा सकता है। पानी के धार भी नाव पर बैठ कर लोग जहां भी चाहे जा सकते हैं। परन्तु यह काम इच्छाओं को रोकने तथा उन पर काबू पाने का है। या मरुभूमि की नदी के समान इच्छाएँ कम होती जायें, मिट जायें तो नदी का नाम भी न रहे।

अब आगे चलिए। पानी के बाद तरंगों की बात कही है। तूफान के समय पानी में ऐसी बड़ी लहरें उठती है कि नदी में कोलाहल मच जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य अप्राप्य वस्तुओं के लिए ललचाने लगता है तब उसकी शान्ति नष्ट हो जाती है। किसी प्रकार यदि वस्तु प्राप्त हुई तो उसमें मनुष्य आसक्त हो जाता हैं। इस आसक्ति को मगर कहा गया हैं। मगर के मुँह में ऊपर नीचे के दांत इस प्रकार बने होते हैं कि जब वह दबते हैं तो एक दूसरे के बीच भिच जाते हैं। इसीलिए यदि कोई जानवर मगर के मुँह में फँस जाय तो फिर छुटकारा नहीं पा सकता। मगर उसे निगल जाता है। आसक्ति भी मनुष्य को मानो मगर के मुंह में पहुँचाकर उसका सर्वनाश कर देती है। आसक्ति के साथ सदा यह शंका बनी रहती है कि उसकी वस्तु को कोई छीन न ले जाए। शंकाओं की पानी के पंछी से उपमा दी गयी है। पंछी ऊँचे आकाश में उड़ते हैं। पर पानी के भीतर के जीव पर झपट्टा मारते हैं। मन के अन्दर शंकाओं का भी यही हाल है। हमारी शंकायें भी सदा हवाई होती हैं और वही बाद में असली बनकर आ दबोचती हैं। शत्रुओं का साहस से सामना करना पड़ता है। साहस की उपमा पेड़ से दी गयी है। नदी की राह में जो पेड़ पड़ जाए वह ज्यादा देर तक नहीं टिके रह सकते। नदी का पानी उनकी जड़ों से मिट्टी काट-काट कर बहा ले जाता है। अन्त में पेड़ की जड़ें

उखड़ जाती हैं और वह पानी में बहने लगता है। इसी प्रकार आशा के प्रवाह में मनुष्य का साहस टूक-टूक हो जाता है और मनुष्य इच्छाओं के पीछे बहने लगता है। मोह यानी अज्ञान भंवर हैं। जो वस्तु भंवर में पड़ती है वह चक्कर काटकर तह में बैठ जाती है। इसी प्रकार मनुष्य भी अज्ञान वश बार-बार वही काम करता है। परिणाम यह होता है कि अज्ञान उसे ले बैठता है। नदी के तट को चिन्ता कहा गया है। तट भी ऊँचे-ऊँचे जिन पर चढ़ पाना असम्भव है। केवल निहारते ही रहना पड़ता है। नदी की धार में आदमी एक जगह तो रह नहीं सकता। देखते ही देखते कोसों दूर बह जाता है। किनारे उसे सदा पास ही दीखते हैं, किन्तु वह घाट लगने नहीं पाता। बहते पानी का किनारा एक नहीं होता, हर सेकंड में एक नया ही तट उसकी आँखों के सामने होता है। आशा में फंसे हुए मनुष्य को भी अनगिनत चितायें घेरे रहती हैं जो कभी दूर नहीं होती। उसका ध्येय एक नहीं रहता। बहते पानी के तट की तरह बराबर बदलता रहता है। जीवन उद्देश्यहीन बन जाता है।

इस प्रकार एक आशा से कितनी ही आफतें खड़ी हो जाती हैं। तरह-तरह की इच्छायें, अप्राप्त वस्तुओं के लिए तृष्णा, प्राप्त वस्तुओं में आसक्ति, उन्हें कोई छीन न ले, उसकी आशंका, कठिनाइयों से घबरा कर धैर्य खो बैठना, अज्ञान में पड़ कर चक्कर काटना, अपार चिन्ताओं के जाल में फंस जाना, इतनी भयंकर वस्तु है आशा।

आशा के इतने वीभत्स वर्णन के बाद अन्त में आनन्द की किरणों की थोड़ी आभा दिखला दी गयी है। इतनी भयंकर नदी को भी सरलना से पार कर सकते हैं और उस पार आनन्द ही आनन्द है। यह काम विशुद्ध मन वाले योगियों को ही सुलभ हो सकता है। किसका पल्ला भारी है, योगीराज का ! कि विशुद्ध मन का ? इस प्रकार की शंका की आवश्यकता नहीं है। दोनों एक ही वस्तु हैं। जो योगी है उसका मन बिशुद्ध है, और जिसका मन विशुद्ध है वह योगी है। भक्ति योग या ज्ञान योग, इस चक्कर में पड़ने की भी जरूरत नहीं है। विशुद्ध मन ही प्रधान है। जो सबमें समान है।

जिस मन के भीतर विषयों की वासना नहीं वही मन शुद्ध होता है।

जिस मन में स्वार्थ भरा न हो वही माया मोह से ऊपर उठ सकता है। शुद्ध स्वार्थ के दूर होने पर ही यह सम्भव है। स्वार्थ छूटे, सब कुछ सधे।

प्रथम दशक का सारांश

श्लोक १—योगीश्वर भगवान शिव की वन्दना।
२– तृष्णा के कारण मनुष्य पाप कर्मों में लीन रहता है।
३—चमत्कारों से धन पाने की व्यर्थ चेष्टा करता है।
४—नीचों की निरर्थक सेवा करता है।
५—स्वाभाविक लज्जा भी खो बैठता है।
६—ठीक दिशा में परिश्रम नहीं होता है।
७—सुख नहीं दुःख होता है।
८—बूढ़ा होने पर भी लालच नहीं छूटता।
९ – अपनी मूर्खता को नहीं समझ पाता।
१०—तृष्णा विशुद्ध मन से दूर हो सकती है।

इस प्रकार वैराग्य की यह पहली सीढ़ी तृष्णा को तजकर विशुद्ध मन से विषय परित्याग की दूसरी सीढी की ओर बढ़ना है।

श्लोक ११

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानाँ जनयति भयं मे विमृशतः ।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ॥

पदच्छेद

संसारोत्पन्नम् = संसार + उत्पन्नम्
चरितमनुपश्यामि = चरितम् + अनुपश्यामि
पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च =पुण्य+ओघैः+चिरपरिगृहीताः+च
व्यसनमिव = व्यसनम् + इव
महान्तः = महा+अन्तः

पदान्वय

संसार उत्पन्नम् चरितम् कुशलम् न अनुपश्यामि पुण्यानाम् विपाकः विमृशतः मे भयम् जनयति महद्भिः पुण्य ओघैः चिर परिगृहीताः, विषयाः महांतः विषयिणाम् व्यसनम् दातुम् इव जायन्ते ।

शब्दार्थ

संसार उत्पन्नम्	=संसार से सम्बन्ध रखने वाले
चरितम्	=कामों के ढंग में
कुशलम्	=भलाई
न अनुपश्यामि	=नहीं देखता हूं
पुण्यानाम्	=अच्छे कामों के फल के
विपाकः	=परिणाम को
विमृशतः	=विचार करने से भी
मे	=मुझे
महान्तः	=अंत में चलकर
विषयिणाम्	=विषयी लोगों को
भयम् जनयति	=भय पैदा होता है (क्योंकि)
महद्भिः	=भारी
पुण्य ओघैः	=पुण्य के समूह से,

बहुत भारी पुण्य के कारण
चिर =सदा से, अधिक ससय तक
परिगृहीताः =खूब भोगे हुए

विषयाः =शरीर को सुख देने वाली वस्तुएं
व्यसनम् =दुःख
दातुम् इव =देने वाले के समान
जायन्ते =हो जाते हैं

भावार्थ

सांसारिक कार्यों में कोई भलाई नहीं दीखती। पुण्य कार्यों के फल का विचार करने पर भी मुझे भय ही लगता है। क्योंकि अनेक पुण्यों के बाद धन, दारा, पुत्रादि का सुख प्राप्त होता है। किंतु वे भी अंत में दुख ही के कारण बन जाते हैं।

विशेषार्थ

पिछले दशक में तृष्णा के परित्याग पर कहते हुए अन्त में वैराग्य की दूसरी सीढ़ी त्याग की ओर संकेत किया गया था। इस श्लोक में उसी त्याग की विडम्बना के सम्बन्ध में कहा गया है। संसार के सभी अच्छे या बुरे कार्य अथवा उनके फल स्वरूप पाप या पुण्य में विशेष अंतर नहीं है। जो कार्य बुरे कहे जाते हैं अथवा उनका जो पाप फल है, सो है ही, परन्तु अच्छे कहे जाने वाले कार्य अथवा उनके फल स्वरूप प्राप्त होने वाला जो पुण्य है, उसमें भी प्रसन्न होने की बात नहीं है। उल्टे उनसे भी दुख ही प्राप्त होता है। यही नहीं, पुण्य की मात्रा के अनुपात में दुख की मात्रा बढ़ती जाती है। यहां तक कि महान पुण्य-फल के उपभोग के बाद दारुण दुख ही होता है। यह बात कुछ आश्चर्य जनक जरूर लगती है, किन्तु वास्तविक बात ऐसी ही है। कहा जाता है कि धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, बँधु, मित्र आदि पूर्व संचित पुण्य से प्राप्त होते हैं। परन्तु यह सभी चीजें एक न एक दिन समाप्त होने वाली हैं। वह वस्तुएं हम से छूट जायेंगी या हम को ही उन्हें छोड़ जाना होगा। कम से कम मरना तो निश्चित ही है। उस समय इन वस्तुओं के छूटने से हमें उतना ही अधिक दारुण दुख होगा जितनी अधिक हमें उनमें आसक्ति होगी। हां, यह कह सकते हैं कि जब तक जीते हैं इनके कारण सुखी रहते हैं, जब हम ही नहीं रहेंगे तब उनकी चिन्ता क्यों करें? ऐसी बात नहीं है। हिन्दू सिद्धान्त

के अनुसार हमारा जीवन इसी जीवन से समाप्त नहीं होता। हमें अपने पुण्यों या पापों के अनुसार अनेकों जन्म लेने हड़ते हैं। पाप योनियों में जन्म लेने या नरक की यातनाओं की बात छोड़िए। वह तो निर्विवाद है। परन्तु पुण्य योनियों अथवा पुण्यों का अतिम फल स्वर्ग या स्वर्गीय सुख भी स्थायी नहीं है, वास्तविक नहीं है। पुण्य के क्षीण होने पर फिर लौट कर इसी लोक में हीं आना पड़ता है। सीधे नरक में जा रहना सुगम है। किन्तु स्वर्ग के सुख भोगने के बाद तब नरक में जाना पड़े तो उसमें कई गुना अधिक कष्ट का अनुभव होगा। दूसरे जन्म की बात छोड़िए, एक ही जीवन में भी तो स्वर्गीय सुखों के भोगने के बाद कभी-कभी नारकीय यातनाएं झेलनी पड़ती हैं। यदि शुरू ही से कष्टमय जीवन बिताते रहें तो उतना कष्ट नहीं जान पड़ता। किन्तु यदि हम किसी न किसी प्रकार से अच्छी दशा को प्राप्त हो गये, सांसारिक सुख की सभी सामग्री प्राप्त हो गयी, फिर वह छूट जाए तो हमें अधिक वेदना होगी। इसीलिए इस पुण्य फल को भी व्यसन समझा गया है। 'व्यसन' के माने हैं 'लत'। जिस प्रकार हमें तम्बाकू खाने या शराब पीने की लत पड़ जाने से कष्ट होता है, उसी प्रकर इन सुखों के आदी बन जाने पर भी उतना ही कष्ट होता है, जितना किसी और व्यसन से। जो गरीब सदा कष्ट ही भोगते रहते हैं उन्हें उतना कष्ट नहीं होता जितना वास्तव में होना चाहिए। क्यों? इसलिए कि वह उसके अभ्यस्त हो जाते हैं। किन्तु उनका यह कष्ट सहन उनकी स्वेच्छा से नहीं है। मजबूरी से है। नहीं तो वही तपस्या हो जाए। यहां पर एक और बात का भी ध्यान रखना चाहिए। स्त्री, पुत्रादि हमें सुख या दुख देने के लिए ही हैं, ऐसा भी न समझना चाहिए। यह न हमारे बुलाए आए हैं और न हमारे भेजे जा रहे हैं। हमारी तरह वह भी अपना-अपना दुख सुख भोगने आते हैं और भोग कर चले जाते हैं। हर एक का सुख दुख उसी का है। एक के सुख दुख में दूसरे का साझा नहीं है। न दूसरे को अपना दुख उठा कर दें सकते हैं और न दूसरे से हम ले सकते हैं। इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि सांसारिक वस्तुओं में सुख नहीं है। इस सुख की भावना को दिल से त्याग देना चाहिए। इसी तरह दुख का भय भी नहीं मानना चाहिए।

इस श्लोक में संसार का शब्द संसार यानी दुनिया के लिए नहीं आया है। दुनिया की अपेक्षा "दुनियादारी" का शब्द अधिक उपयुक्त मालूम होता है। लोग अपने कामों में दुनियादारी का जो ढंग बरतते हैं वही दुखों का

कारण है। काम वही करें भले ही, पर यदि उन कामों के करने का ढंग और भावना बदल जाए तो बहुत सारे दुखों से छुटकारा मिल सकता है।

श्लोक १२

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।
व्रजन्तः स्वातंत्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

पदच्छेद

यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि=यातारः+चिरतरन्+उषित्वा+अपि
को भेदस्त्यजति = कः + भेदः + त्यजति
यत्स्वयममून् = यत् + स्वयम् + अमून्
स्वातन्त्रयादतुल = स्वातंत्र्यात् + अतुल
ह्येते = हि + एते
सुखमनन्तम् = सुखम् + अनन्तम्

पदान्व

विषयाः चिरतरम् उषित्बा अपि अवश्यम् यातारः
जनः यत् स्वयम् अमून् न त्यजति (तत्) वियोगे कः भेदः
स्वातंत्र्यात् व्रजन्तः मनसः अतुल परितापाय
स्वयम् त्यक्ता एते हि अनन्तम् शम सुखम् विदधति

विषयाः	=शरीर को सुख देने वाली वस्तुएं
चिरतरम्	=बहुत दिनों तक
उषित्वा अपि	=भोगने पर भी
अवश्यम्	=जरूर
यातारः	=जाने वाले हैं
यत्	=जिसे
जनः	=मनुष्य
स्वयम्	=आपसे आप
अमून्	=उन्हें
न त्यजति	=नहीं छोड़ता
तत्	=वह
वियोगे	=(आपसे आप) छूट जाने में
को भेदः	=क्या भेद है ?
स्वातंत्र्यात्	=आप से आप
व्रजन्तः	=जाने पर
मनसः	=मन को
अतुल	=जिसकी तुलना न हो, बेहद
परितापाय	=संताप कारक होंगे
स्वयम्	= अपने आप
त्यक्ता	=छोड़ने पर
एते हि	=ये ही
अनन्तम्	=बेहद
शम सुखम्	=मानसिक सुख, आनंद
विदधति	=देंगे

भावार्थ

संसार के विषयों को चाहे जितने दिन भोगते रहें वे तो एक दिन छूट ही जाएँगे। इस लिए हमें स्वयं ही उन्हें छोड़ देना अच्छा है। हमारी इच्छा के विरुद्ध उनका छूट जाना और हमारी अपनी खुशी से उन्हें छोड़ देना, इन दोनों में भारी अन्तर है। जब वे अपने आप छूट जाएंगे तब उनसे हमें भारी दुख होगा, किन्तु यदि हम ही उन्हें छोड़ देंगे तो मन को भारी शान्ति प्राप्त होगी।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि संसार के सभी विषय दुख के कारण हैं। स्वर्गीय सुख भी सीमित ही हैं। अंत में चल कर वह भी दुखदायीं सिद्ध होते हैं। जब बुरे कामों में भी दुख, और अच्छे कामो में भी दुःख, स्वर्ग में भी दुःख और नरक में भी दुख, तो फिर सुख कहां है? इस श्लोक में बताया गया है कि सुख संसार में ही है. इसी लोक में है, इसी देह में ही है, इसी जीवन में ही है, और इन ही वस्तुओं में हैं, और उस

सुख को पा लेना बहुत सरल है। उपाय यह हैं कि जो विषय एक दिन छूट कर ही रहेंगे, उन्हे पहले से ही छोड़ देना। पिछले श्लोक में बताया गया था कि स्वर्गीय सुख भी अन्त में दुखदायी होते हैं। इसमें बताया है कि नारकीय कष्ट भी सुखदायी हो सकते हैं। कष्ट तब ही होता है जब हम यह समझ लेते हैं कि विषय-वस्तुएं स्थायी हैं। परन्तु उन्हें तो नष्ट होना ही है। किसी भी दशा में वह स्थायी नहीं हो सकते। ऐसी बात नहीं है कि लोग इसे जानते नहीं। सभी जानते हैं कि स्त्री, पुरुष, सन्तान सभी एक न एक दिन मरेंगे। फिर भी जब कोई मरता है तब सिर पीटते हैं। इस दुख का कारण क्या है? जो बात होनी ही हो, उसके लिए दुख कभी नहीं हो करता। दुख तब होता है जब कोई अनहोनी बात हो जाए। जीना मरना तक अनहोनी है नहीं, फिर भी इनसे सुख-दुख क्यों होता है? ये बातें अनहोनी तो नहीं है, लेकिन हम लोग जाने या अनजाने इन्हें अनहोनी समझते रहते हैं। हमारे दिलों में यह भावना बनी रहती है कि मेरी स्त्री, सन्तान धन, सम्पत्ति आदि सदा बनी रहे और बनी रहेंगी। कम से कम ऐसा तो समझते ही हैं कि अपने जीते जी ये चीजें नहीं छूटेंगी। मनुष्य साधारणतया खुद अपने मरने की कल्पना तो कर ही नहीं सकता। इसलिए हमेशा यही सोचा करता है कि मैं बड़ा आदमी बनूंगा। मेरा बड़ा सम्मान होगा। किन्तु जब ये बातें नहीं हो पातीं और उल्टे जो प्राप्त वस्तुएं हैं वे भी खिसकने लगती हैं तब वह दुखी होता है। स्पष्ट है कि कल्पना में कष्ट और वास्तविकता में सुख है। यह सामग्री सदा बनी रहेगी, ऐसा समझना कल्पना है। ये वस्तुए अस्थायी हैं इसलिये इन्हें त्यागना चाहिए, अर्थात् उन में आसक्त नहीं रहना चाहिए, ऐसा सोचना वास्तविकता है। इसलिये जब तक विषयों से चिपटे रहते हैं तब तक कष्ट होता है और जब इन्हें मन से त्यागते हैं तब सुख का अनुभव होता है।

यहां पर यह ध्यान रहे कि किसी स्वस्थ योजना की कल्पना करके उसे कार्यान्वित करने की चेष्टा करना और ऊपर की दुराशापूर्ण कल्पना में भारी अंतर है।

श्लोक १३

ब्रह्मज्ञानविवेकनिर्मलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं
यन्मुंचंत्युपभोगभांज्यपि धनान्येकांततो निस्पृहाः ।
संप्राप्तान्न पुरा न संप्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्ययो
वांछामात्रपरिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम् ।।

पदच्छेद

कुर्वन्त्यहो = कुर्वन्ति + अहो
यन्मुंचंत्युपभोगभांज्यपि=यत्+मुन्चन्ति+उपभोग भाञ्जि+अपि
धनान्येकान्ततः = धनानि + एकान्ततः
संप्राप्तान्नपुरा = संप्राप्तान् + न पुरा
परिग्रहाण्यपि = परिग्रहाणि + अपि

पदान्वय

ब्रह्मज्ञान विवेक निर्मल धियः दुष्करम् कुर्वन्ति आहो यत् एकान्ततः निस्पृहाः उपभोग भाञ्जि अपि धनानि मुंचन्ति वयम् तु पुरा न सम्प्राप्तानि न सम्प्रति न च प्राप्तौ दृढ प्रत्ययः वाञ्छा मात्र परिग्रहाणि अपि त्यक्तुम् परम् न शक्ताः

भावार्थ

ब्रह्मज्ञान विवेक	=ब्रह्मज्ञान के विवेक से
निर्मल धियः	=जिनका हृदय शुद्ध है (वे)
दुष्करम्	=कठिन कार्य
कुर्वन्ति	=कर डालते हैं
यत्	=जो
एकान्ततः	=एकदम
निस्पृहाः	=उदासीन होकर
उपभोग भाञ्जि अपि	=सुख भोग करते हुए भी
धनानि	=धन सम्पत्ति को
मुञ्चन्ति	=त्याग देते है
अहो	=महान आश्चर्य हैं

वयम् =हम हैं कि
पुरा =पहले (कभी धन सम्पत्ति को)
न सम्प्राप्तानि =न प्राप्त हुए थे
न सम्प्रति =न इस समय प्राप्त हैं
न च =और न (आगे)
प्राप्तौ =प्राप्त होने का

दृढ़ =पक्का
प्रत्ययः =भरोसा है
वाञ्छा मात्र =इच्छा मात्र से
परिग्रहाणि अपि=पकड़े हुए वस्तुओं को भी
त्यक्तुम =त्यागने में
परम =एकदम
न शक्ता =असमर्थ हैं

भावार्थ

ब्रह्मज्ञान से जिनका हृदय निर्मल हो चुका है, वे कठिन से कठिन कार्य भी कर सकते हैं। धन सम्पत्ति आदि का उपभोग करते हुए भी एकदम उदासीन हो कर वे उन्हें छोड़ सकते है। हमें न पहले कभी ये वस्तुएं प्राप्त थीं, न इस समय हैं और न आगे ही प्राप्त होने का कोई भरोसा है। केवल मन की मीठी कल्पनाएँ मात्र हैं। हम लोग इन काल्पनिक वस्तुओं का विचार भी नहीं छोड़ सकते।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि विषयों को आपसे आप त्वागने में सुख है। इस श्लोक में कहा है कि विषयों को त्यागना महा कठिन कार्य है। किन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि जिनका हृदय शुद्ध हो वे ऐसे कठिन कार्यों को भी कर सकते हैं, बल्कि वे इससे भी कठिन कामों को भी कर डालते हैं। वह कठिन कार्य कौन है? धन सम्पति यथेष्ट प्राप्त हो, उसका खूब उपयोग भी करते हों, तब भी उस धन सम्पत्ति का त्यागना और त्यागना ही नहीं, वरन उसके प्रति एकदम उदासीन हो जाना, निश्चय ही ऐसा करना सरल नहीं है। ऐसा वही कर सकते हैं जिनका हृदय शुद्ध हो। हृदय शुद्ध कैसे होगा? हृदय उनका ही शुद्ध होता है जो ब्रह्मज्ञानी हों, जो तत्त्वदर्शी हों जो असलियत को जानते हों। स्वार्थ से ऊपर उठने पर ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। पर यह तो साधारण लोगों की बात न हुई। सम्पत्तिशाली

और साथ ही ब्रह्मज्ञानी बनना, दोनों बिरलों में ही हो सकते हैं। फिर साधारण लोगों का क्या होगा? उनके लिए भी निराशा की कोई बात नहीं है। उनके लिए तो यह काम और भी सरल है। उनके पास कोई ऐसी वस्तु ही नहीं है जिसे त्यागने की चेष्टा करनी पड़े और उसमें उन्हें कष्ट हो। यदि कष्ट होता है तो कारण यही है कि उन वस्तुओं की वे आशा लगाए बैठे रहते हैं। कठिन इसलिए है कि उन काल्पनिक वस्तुओं का विचार भी दिल से दूर नहीं कर सकते और सरल इसलिए है कि उन्हें असली वस्तुओं को नहीं वरन् केवल उस काल्पनिक इच्छा को छोड़ना है और बस।

यहां पर यह स्पष्ट है कि पीछे जैसा बताया गया है कष्ट केवल कल्पना में है। त्यागना केवल कल्पना ही तो है, जो सुख भोगते हैं उनके लिये भी और जो दुख भोगते हैं उनके लिए भी। यदि धनी लोग वस्तुओं को तो छोड़ दें, पर दिल में उनकी इच्छा बनी रहे तो उससे उन्हें वेदना ही होगी। इसी प्रकार यदि कोई दरिद्र है, पर वह सुख सामग्री की चिंता में घुलता रहे तो उसे कष्ट ही अधिक होगा। यही दुनियादारी के दुख से बचने के लिए धनी तथा दरिद्र दोनों को भी इस एक कल्पना को ही त्यागना है। कल्पन एक हवाई वस्तु है। इसलिए उसे त्यागना सरल है। किन्तु मन ऐसा है कि बिना प्रगाढ़ प्रयास के यह हवाई क़िला टूट नहीं सकता। इसलिये यह महा कठिन हैं। कल्पना को त्यागने में एक विशेष सुविधा यह है कि इसमें कोई भौतिक हानि उठानी नहीं पड़ती। धनी-मानी अपनी प्राप्त-सुख-सामग्री का उपभोग करते हुये प्रसन्न रह सकता है और दीन अपनी हीन ही दशा में भी सुखी रह सकता है।

श्लोक १४

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता–
मानन्दाश्रु कणान् पिबन्ति शकुना निःशंकमंकेशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट–
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ।।

पदच्छेद

ध्यायतामानन्दाश्रु = ध्यायताम् + आनन्द + अश्रु
निश्शंकमंकेशया = निः + शंकम् + अंकेशया
मनोरथोपरचित = मनोरथ + उपरचित
कौतुकजुषामायुः = कौतुक जुषाम् + आयुः

पदान्वय

गिरिकंदरेषु वसताम् परम् ज्योतिः ध्यायताम् धन्यानाम्
आनन्द अश्रु कणान् शकुना निः शंकम् अंकेशया पिबन्ति
अस्माकम् तु मनोरथ उपरचित प्रासाद वापी तट
क्रीडा कानन केलि कौतुक जुषाम् आयुः परम् क्षीयते

शब्दार्थ

गिरि	=पहाड़ों के	शकुना	=पक्षी
कंदरेषु	=खोहों में	निःशंकम्	=निडर होकर
वसताम्	=वास करते हुए	अंकेशया	=गोद में बैठ
परम् ज्योति	=परब्रह्म की ज्योति	पिबंति	=पीते हैं
ध्यायताम्	=ध्यान करने वाले	अस्माकम् तु	=हमारी तो (यह दशा है कि)
धन्यानाम्	=धन्य पुरुषों के	मनोरथ	=कल्पना (मात्र से)
आनन्द अश्रु कणान्	=परमानंद के कारण बहने वाले आंसुओं को	उपरचित	=निर्माण किये हुए

प्रासाद	=महलों	कौतुक जुषाम्	=लालायित रहते हैं (और)
वापी तट	=बावड़ी, तालाब के घाटों	आयुः	=उम्र
क्रीड़ा कानन	=क्रीड़ा वनों के	परम् क्षीयते	=पूरी की पूरी बीत जाती है
केलि	=मौज के लिए		

भावार्थ

धन्य हैं वे जो पहाड़ों की खोहों में बैठ कर भगवत् भजन किया करते हैं। वह अपने ध्यान में इतने लीन रहते हैं और उसमें उन्हें इतना आनन्द आता है कि उनकी आंखों से आंसू बहा करते हैं और जंगल के पक्षी उनकी गोदों में बैठ कर उन आनन्दाश्रुओं को बेखटके पान करते हैं। मगर हमारे अभागेपन की पराकाष्ठा है कि महल, बाग, तालाब आदि के सपने देखते-देखते सारी उम्र बीत जाती है और कुछ हाथ नहीं आता।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में दो प्रकार के लोगों के बारे में कहा गया था, एक ब्रह्मज्ञानी जो संसार के प्रलोभनों का परित्याग सुगमता से कर सकते हैं, दूसरे सांसारिक व्यक्ति जो उसकी लालसा को भी त्यागने में असमर्थ होते हैं। इस श्लोक में इन्हीं दो प्रकार के व्यक्तियों के परिणाम के सम्बन्ध में कहा गया है। ब्रह्मज्ञानियों को परमानन्द की प्राप्ति होती है और वे उस आनन्द में इतने लीन हो जाते हैं कि उन्हें यह आभास भी नहीं होता कि इस संसार में क्या हो रहा है और स्वयं उनके शरीर पर क्या गुजर रही है। कहा जाता है कि दीमक अपनी बांबी बना लेते है। इस श्लोक में यह कहा तो नहीं किन्तु इतना तो स्पष्ट ही कहा है कि पक्षी उनकी गोद में बैठ कर उन्हीं के आनन्दाश्रुओं का पान करते हैं। दीमक वल्मीक बना लें या पक्षी अश्रुपान करें दोनों में एक ही बात झलकती है कि सैंकड़ों हजारों जीव-जन्तु उस आनन्दमूर्ति के आश्रय में निर्वाह करते है। किन-किन प्राणियों को ब्रह्मज्ञानी की उस अवस्था से आध्यात्मिक रूप में और न जाने किस-किस रूप में क्या-क्या लाभ पहुंचते हैं उस का बखान तो कठिन ही है। यह उस ब्रह्मज्ञानी के सम्बन्ध में कहना तो

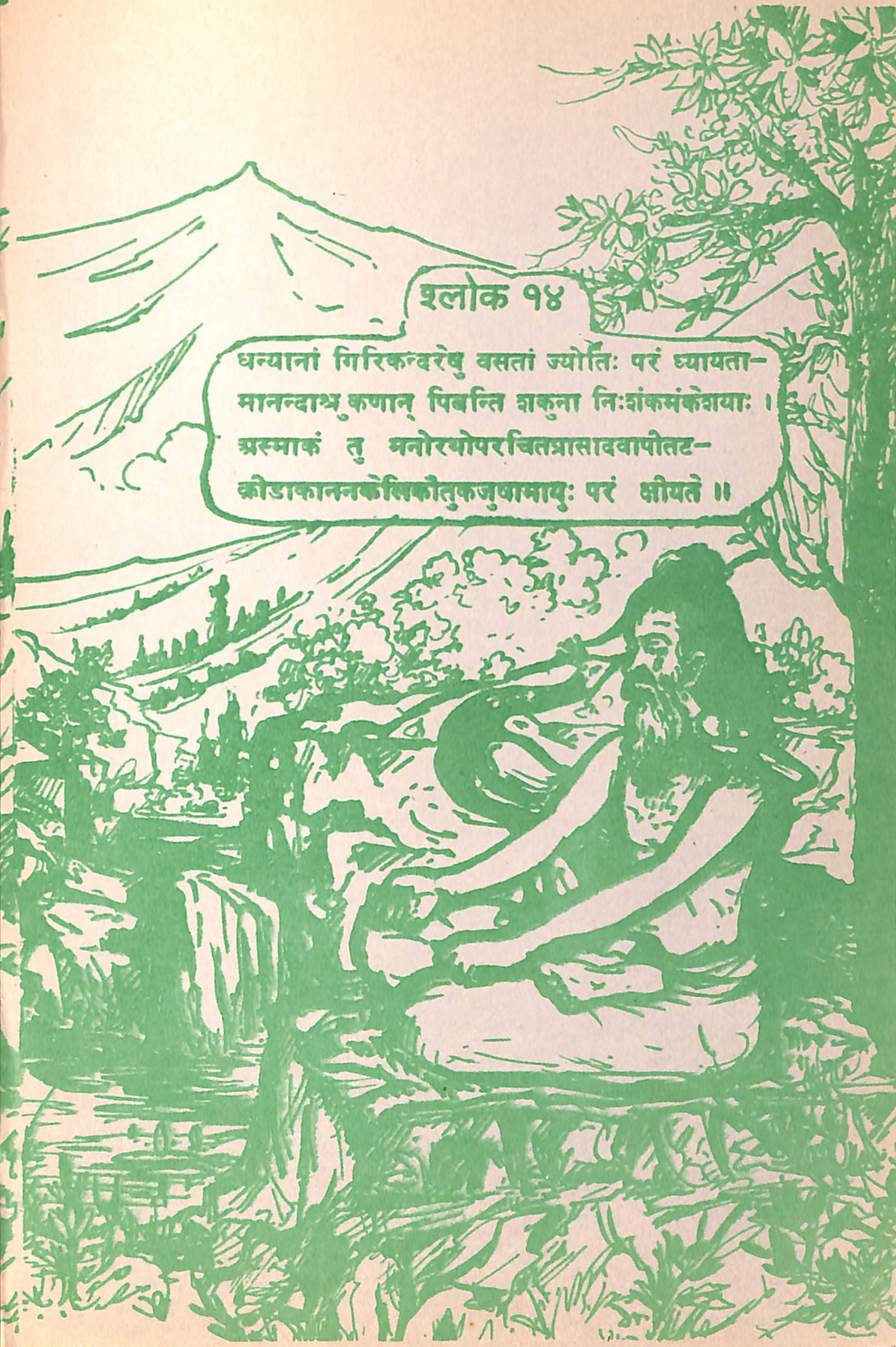

श्लोक १४

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशंकमंकेशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ॥

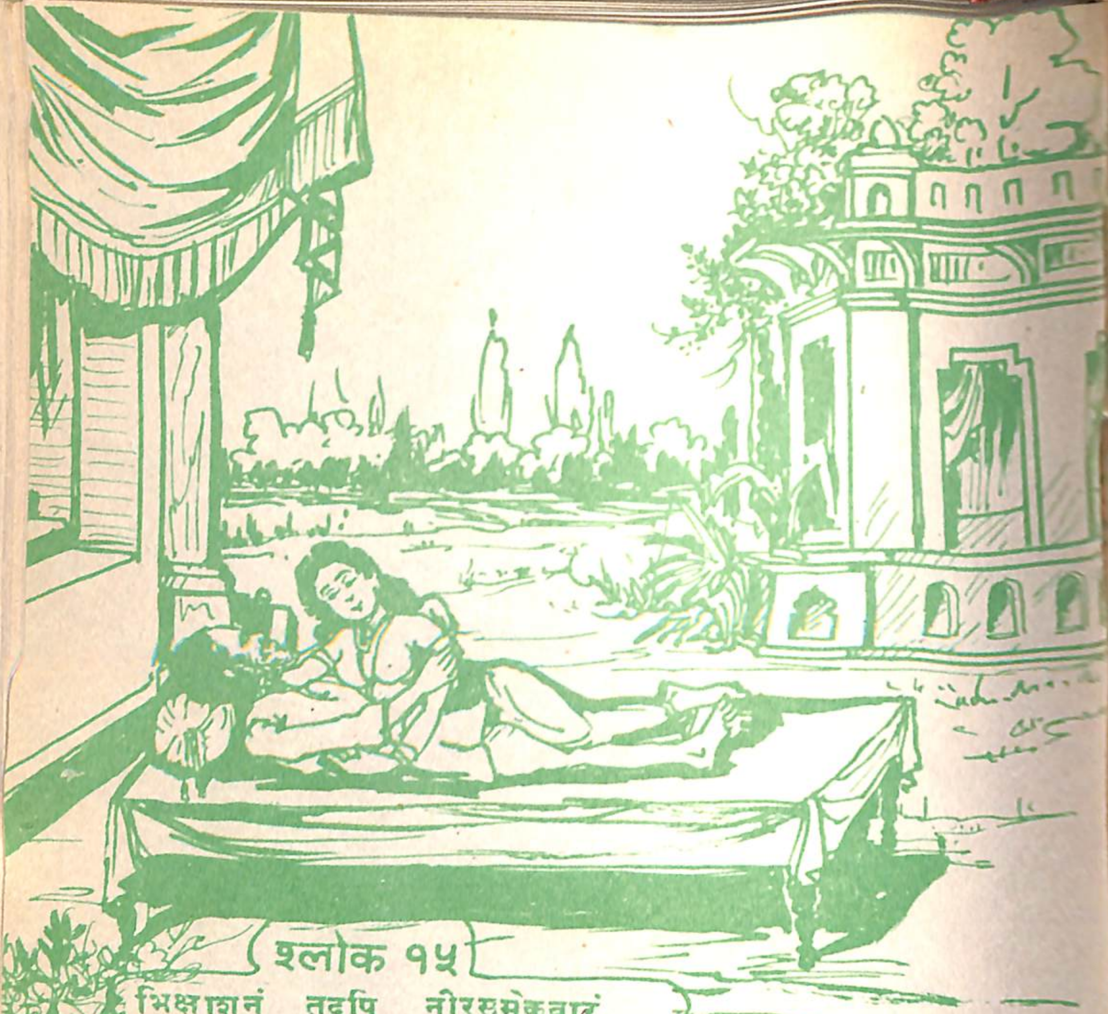

श्लोक १५

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।
वस्त्रं विशीर्णशतखण्डमयी च कन्था
हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति ॥

और भी कठिन है। कदाचित् इसीलिए ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में अधिक न कह कर इस श्लोक में और आगे के श्लोकों में वेशधारी महात्माओं के सम्बन्ध में ही अधिक कहा गया है। ऐसे लोग नाम के लिए एक कुटी या आश्रम बना लेते हैं, परन्तु उसमें बैठे-बैठे अपने लिए मठ, गद्दी, तालाब, पोखर, बाग-बगीचे और उनमें चेले-चेलियों के साथ विनोद-विहार की बातें सोचते रहते हैं बहुतों के तो ऐसे सपने पूरे उतर ही नहीं सकते। अगर किसी ने पाखंड रच कर कुछ कर भी लिया तो देर सबेर पोल खुलेगी ही। लेने के देने पड़ेंगे। न दुनिया के रहे न दीन के।

परन्तु यह भी ध्यान में रहे कि वह बातें उन अधकचरे साधु-महात्माओं के समान उन साधारण गृहस्थों पर भी लागू होती है जो खाने का ठिकाना न होने पर भी मेहनत से काम न करके केवल मन के लड्डू पकाया करते हैं। ऐसे ही लोग भभूत रमाकर साधु हो जाते हैं और यदि वे घर पर भी रहें तो मुफ्त-खोरी किया करते हैं।

श्लोक १५

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं विशीर्णशतखण्डमयी च कन्था
हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति ॥

पदच्छेद

भिक्षाशनम् — भिक्षा + अशनम्
तदपि — तत् + अपि
नीरसमेकवारम् — नीरसम् + एक वारम्
तथापि — तथा + अपि

पदान्वय

अशनम् भिक्षा तत् अपि नीरसम् एक वारम्
शय्या च भूः परिजनः निज देह मात्रम्
वस्त्रम् च विशीर्ण शत खण्डमयी कन्था
हा हा तथपि चेतः विषयान् न जहाति

शब्दार्थ

भिक्षा अशनम्	=भोजन भिक्षा (है) भीख मांग कर खाना है,	वस्त्रम् च	=और कपड़े
तत् अपि	=वह (भोजन) भी	विशीर्ण	=एकदम फटे हुए
नीरसम्	=रूखा सूखा	शत खण्डमयी कन्था	=सैंकड़ों चीथड़ों की गुदड़ी है
एक वारम्	=एक ही जून	तथापि	=तब भी
शय्या च	=और बिस्तर	चेतः	=चित्त
भूः	=भूमि (है)	दिषयान्	=विषयों को
परिजनः	=परिवार के लोग	न जहाति	=नहीं छोड़ता
निज देह मात्रम्	=निज शरीर मात्र है	हा हा	=बड़े दुख की बात है

भावार्थ

भीख माँग कर खाते हैं, वह भी बची-खुची, रूखी-सूखी और दिन में एक ही बार। यानि न जी भरता है और न पेट भरता है। जमीन पर पड़े रहते हैं। बिस्तर नसीब नहीं है। घर या झोंपड़ी भी नहीं है। बाल बच्चे या नौकर-चाकर नहीं हैं। यह शरीर और हाथ-पैर ही सेवक तथा भाई-बन्धु हैं। पहिनने, ओढ़ने और बिछाने सबके लिए मात्र एक गुदडी है जिसमें सैंकड़ों पैवंद लगे है। तब भी सदा विषयों में ही मन लगा रहता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में विरक्त (ब्रह्मज्ञानी) तथा आसक्त (सांसारिक) दोनों प्रकार के लोगों के सम्बन्ध में कहा था। आगे भी इन ही दोनों प्रकार के लोगों का अधिक विशदीकरण है। इस श्लोक में विरक्त दीखने वालों का वर्णन है. पर वास्तव में जो वैसे नहीं हैं। बड़े विरक्त माने जाते हैं क्योंकि कोई नाती, जाति नहीं है, बड़ त्यागी हैं, क्योंकि न कोई घर हैं न कोई ठाट-बाट। इन सब बातों से धोखा नहीं खाना चाहिए। जो देखने में तो वस्तुओं का परित्याग करते हैं, पर मन के भीतर उनकी ही चाह रखते हैं, वह वास्तव में ढोंगी हैं, पाखंडी हैं। इस प्रकार के लोगों पर साधारण रूप में न केवल खेद ही प्रकट किया गया बल्कि "हा, हा" दो बार कह कर अतीव दुःख का संकेत किया गया है। क्यों? इसलिए कि जो सीधे-सीधे विषयों की चाह करते हैं, उनके लिए चेष्टा करते हैं और खुलेआम उनका उपभोग भी करते हैं, वह दूसरों को धोखे में तो नहीं रखते कि वह क्या हैं और क्या नहीं हैं। इस का यह अभिप्राय नहीं कि उनका चलन अच्छा है। वरन् ऐसे पाखडियों पर हजार-हजार धिक्कार हैं जिन्होंने लंगोटी भी लगाई है, भभूत भी रमायी है, फिर भी सदा लोनों को ठगने की टोह में रहते हैं, जिन्हें स्वादिष्ट भोजन भी चाहिए, भांग चरस भी चाहिए, जो शराब और माँस भी नहीं छोड़ते और सदा कामिनी—काँचन पर आँख गाड़े रहते हैं। इसका यह मतलब भी नहीं है कि जो सचमुच त्यागी हों और जो खाने-पीने में रुचि नहीं दिखाते वह सब ढोंगी हैं। सच तो यह है कि साधु को इन बातों के लियें मन के भीतर भी चाह नहीं होनी चाहिये। इसी प्रकार साधारण गृहस्थ खाते-पीते-भोगते हुए विरक्त भी हो सकते हैं। दोनों ही दशाओं में भावना प्रधान है, ऊपरी वेष-भूषा नहीं।

श्लोक १६

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम्
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरशिरःस्पर्धि जघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम् ।

पदच्छेद

कनककलशावित्युपमितौ—कनक कलशौ+इति+उपमितौ
श्लेष्मागारं—श्लेष्म+आगारम्
मुहुर्निन्द्यम्—मुहुः+निन्द्यम्
विशेषैर्गुरु—विशेषैः+गुरु
स्रवन्मूत्र—स्रवत्+मूत्र

पदान्वय

स्तनौ मांस ग्रन्थी कनक कलशौ इति उपमितौ
मुखम् श्लेष्मागारम् तदपि शशांकेन तुलितम्
जघनम् स्रवत् मूत्र क्लिन्नम् करिवर शिरः स्पर्धि
मुहुः निन्द्यम् रूपम् कविजन विशेषैः गुरु कृतम्

शब्दार्थ

स्तनौ =स्त्रियो की छातियां
मांस ग्रन्थी =मांस के लोथड़े हैं (किंतु)
कनक कलशौ इति=सोने के कलश कहकर
उपमितौ =उपमा दी गयी है तुलना की गयी है

मुखम् =मुख
श्लेष्म आगारम्=कफ का घर है
तदपि =तो भी
शशांकेन =चन्द्रमा से
तुलितम् =तुलना की गयी है
जघनम् =जांघ का ऊपरी भाग, कटि प्रदेश

स्रवत् =टपकने वाले
मूत्र =मूत से
क्लिन्नम् =भीगा रहता है (तो भी उसे)
करिवर =उत्तम हाथी के
शिरः =सिर से
स्पर्धि =होड़ लेने वाली (कहा है)

मुहुः =बारम्बार
निन्द्यम् रूपम् =निंदनीय रूप को
कविजन विशेषैः=विशेष कवियों द्वारा
गुरु =बड़ा श्रेष्ठ
कृतम् =बना दिया गया है

भावार्थ

स्त्रियों की छातियां वास्तव में निरे मांस के लोथड़े हैं, किन्तु कवियों ने उन्हें सोने के कलश कहा। उनके मुंह में सदा लार-खाखर भरा रहता है, किन्तु उसे चन्द्रमा कहा। जाँघ से सदा मूत्र टपका करता है: किंतु उसे मस्त हाथी का माथा कहा। स्त्री के सौन्दर्य में उसका प्रत्येक पहलू घृणास्पद ही हो सकता है, किंतु कवियों ने झूठ ही उसे मनोहर मान रखा है।

विशेषार्थ

विरक्त पुरुष के सम्वन्ध में कहते हुए पिछले श्लोक में बताया था कि यदि दिल में विरक्ति न हो तो ऐसा विरक्त पुरुष वास्तव में साँसारिक ही है, बल्कि उससे भी गया बीता है। इस श्लोक में साँसारिक प्रवृत्ति के भ्रम का स्पष्टीकरण किया गया हैं। सभी विषय अन्त में चल कर कामुकता ही में समाप्त होते हैं। इसलिये स्त्री ही को प्रधान मान कर उसके प्रति होने वाले मोह को मिटाने की चेष्टा की गयी है।

ऊपर के दोनों श्लोकों के और भी पहलू हैं। कामिनी और कांचन, यह दोनों आसक्ति के मुख्य कारण हैं। पिछला श्लोक काँचनासक्त लोगों को उद्देश करके कहा गया था। इस श्लोक में कामिनी-लोलुप लोगों को लक्ष्य करके कहा गया है। दोनों श्लोकों के अलग-अलग लक्ष्य न होकर एक ही लक्ष्य भी हो सकता है। वैराग्य की ओर जाने वाले व्यक्ति की यह दो अव-

स्थाएँ हो सकती हैं । पहले श्लोक में बाह्य त्याग की बात थी । उस दिखावटी त्याग को सच्चे त्याग में बदल जाने के बाद भी कामिनी के चक्कर में फँस जाने की सम्भावना है । काँचन का त्याग तो कुछ सरल है, पर कामिनी का त्याग अत्यन्त कठिन है । बड़े-बड़े तपोसम्पन्न पुरुष भी इससे बच नहीं पाये । इसलिये इन दोनों का यह क्रम रखा गया है । बहरहाल दोनों प्रवृत्तियाँ हैं; चाहे वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में हो अथवा एक ही व्यक्ति की यह भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हों । वैराग्य के लिए इन दोनों वासनाओं से विमुक्त होना आवश्यक है ।

श्लोक १७

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहार्धधारी हरः
नीरागेषु जनो विमुक्तललनासंगो न यस्मात्परः
दुर्वारस्मरबाणपन्नगविषव्याविद्धमुग्धो जनः
शेषः कामविडंबितान्न विषयान् भोक्तुं न मोक्तुँ क्षमः ।

पदच्छेद

देहार्ध = देह + अर्ध, दुर्वार = दुः + वार
विडंबितान्न = विडम्बितान् + न

पदान्वय

नीरागेषु जनः ललना संग विमुक्तः यस्मात् परः न
प्रियतमा अर्ध देहधारी हरः एकः रागिषु राजते
शेष जनः दुःर्वार स्मरबाण पन्नाग विष व्याविद्ध मुग्धः
काम विडम्बितान् विषयान् न् भोक्तुम् (क्षमः) न मोक्तुम् क्षमः

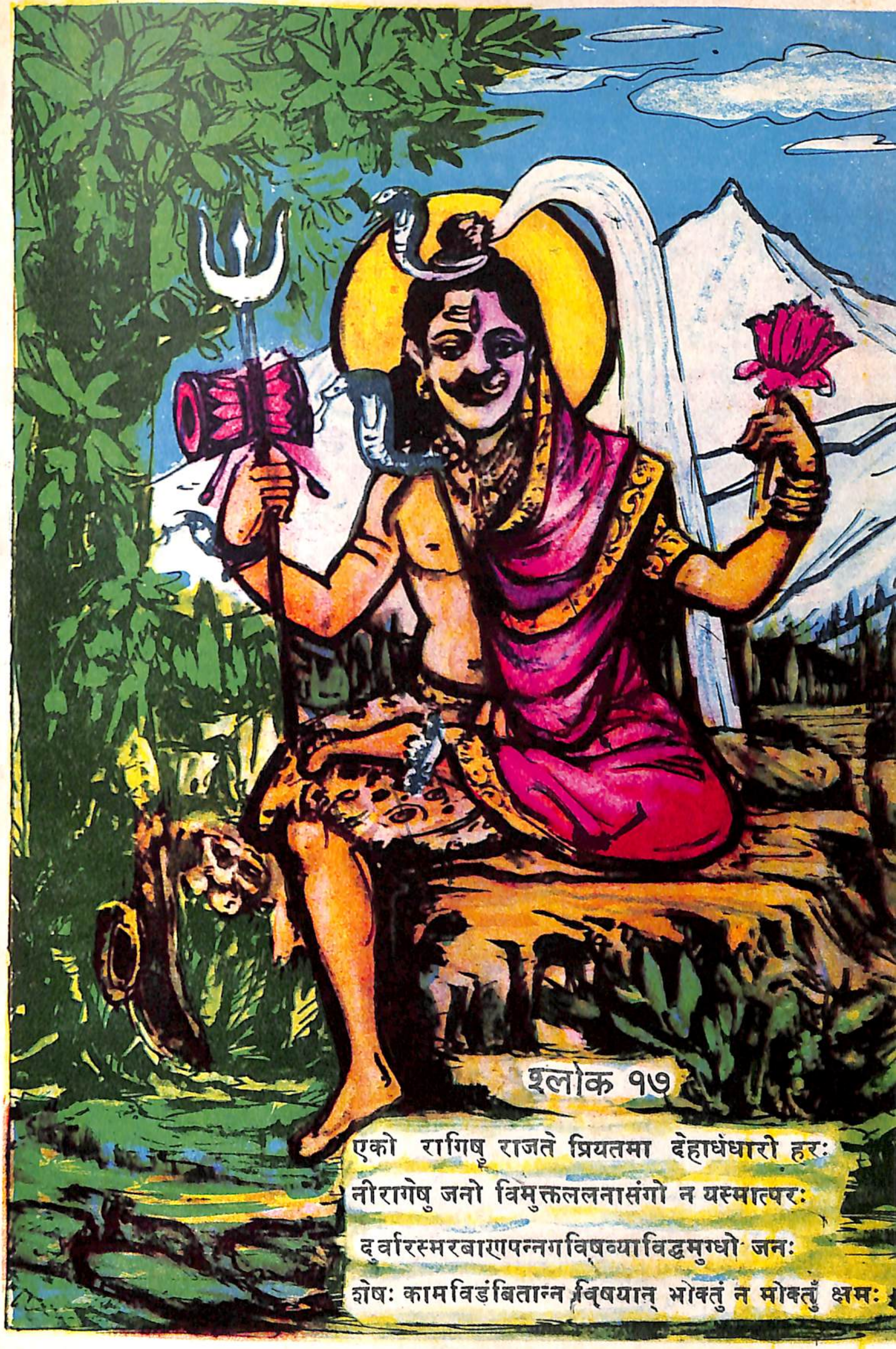

श्लोक १७

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहार्धधारी हरः
नीरागेषु जनो विमुक्तललनासंगो न यस्मात्परः
दुर्वारस्मरबाणपन्नगविषव्याविद्धमुग्धो जनः
शेषः कामविडंबितान्न विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः

शब्दार्थ

नीरागेषु जनः	=विरक्त लोगों में
ललना संग	=स्त्री का संग
विमुक्त	=त्यागने में
यस्मात् परः न	=जिनसे बढ़ कर दूसरा कोई नहीं व
प्रियतमा	= प्रेयसी के
अर्धदेह	=आधे शरीर को
धारी	=धारण करने वाले
हरः	= महादेव जी
क:	= अकेले ही
ागिषु	=प्रेमियों में
राजते	=विराजते हैं
प: जनः	=बाकी लोग
दुः वार	=रोकने में कठिन
स्मर बाण	=कामदेव के बाण रूपी
पन्नग विष	=सांप के विष से
व्याविद्ध	=डँसे हुए
मुग्धः	=बेहोश लोग
काम बिडम्बितान्	=कामुकता की विडम्बना मात्र करते वाले
विषयान्	=विषयों को, शारीरिक सुखों को
न भोक्तुम् क्षमः	=न भोगने की योग्यता रखते हैं (और)
न मोक्तुम् क्षमः	=न त्यागने की ही शक्ति रखते हैं

भावार्थ

जिस शंकर भगवान ने अपनी प्रेयसी पार्वती को अपना आधा शरीर ही दे डाला, वास्तव में वही असली प्रेमी हैं। कामदेव को भस्म करके स्त्री को पूर्णतया त्याग भी वही अकेले कर पाये हैं। इसलिए सबसे बड़े त्यागी वैरागी भी वही हैं। बाकी सब लोग निरे दम्भी हैं। न वे भोगना ही जानते हैं और न त्यागना ही। वास्तव में वे विषयों के शिकार बन जाते हैं। विषय उन पर वार करते हैं, घायल कर देते हैं और उन्हें निकम्मे कर डालते हैं। अर्थात् ये सब लोग एकदम निकम्मे हैं।

विशेषार्थ

इस श्लोक में पिछले दोनों श्लोकों का सुन्दर समन्वय है। पहले में रूपधारी त्यागियों की पोल थी और दूसरे में नाम-धारी प्रेमियों की भूल बतायी थी। त्याग किस प्रकार का हो और प्रेम का क्या रूप हो, उसे इस श्लोक में बताया गया है। पर सुन्दरता यह है कि रागी और वैरागी दोनों के लिए एक ही आदर्श रखा है। वह है महादेव शिवजी का आदर्श। इसमें कई बातें हैं :—

प्रेम किया तो खुल्लमखुल्ला किया। अपने आधे शरीर को पार्वती का बना दिया। चोरी छुपी नहीं, लज्जा शंका नहीं। बच्चे देखेंगे, बड़े सुनेंगे, या संसार हँसेगा, इसका विचार एक दम नहीं।

प्रेम में त्याग होना चाहिए। आधा शरीर पार्वती का धारण किया, इस के माने हुए अपना आधा शरीर त्याग दिया, क्योंकि शरीर तो एक ही रहेगा, डेढ़ नहीं। केवल अर्द्धाङ्गिनी कहने से काम न चलेगा। प्रेम का आधार त्याग है। बिना त्याग के प्रेम नहीं हो सकता। बिना त्याग का प्रेम स्वार्थ से भरा होता है। निरा स्वांग होता है। एक वेश्या या ऐयाश का प्रेम, प्रेम नहीं बल्कि शुद्ध स्वार्थ होता है, क्योंकि इसमें त्याग को छुआ तक नहीं जाता। इसके विपरीत माता-पिता का प्रेम सच्चा प्रेम है, क्योंकि माता का प्रेम त्याग पर अवलम्बित होता है। पत्नी का प्रेम भी साधारणतया पुरुष की अपेक्षा अधिक शुद्ध होता है। कारण इसका यह है कि भारतीय समाज में पुरुष के लिए स्त्री को त्याग ही त्याग की व्यवस्था है। कम से कम व्यवहार में तो यही है। इस प्रकार जो प्रेम है वास्तव में वह त्याग है। जितना अधिक प्रेम होता है उतना ही अधिक उसमें त्याग छिपा होता है। कौन किससे कितना प्रेम करता है, इसका अन्दाजा इसी से लग सकता है कि कौन किसके लिए कितना त्याग करने को तैयार है।

जो त्याग है वह प्रेम भी है। मनुष्य में त्याग की भावना प्रेम से पैदा होती है। जहां जितनी अधिक मात्रा में त्याग होगा उतनी ही अधिक मात्रा में वहां प्रेम के दर्शन होंगे। साधु, सन्त आदि को रूखे कहना अन्याय है। मगर शर्त यह है कि वह सन्त हों, सच्चे विरक्त हों। प्रायः देखने में आता है कि

साधु संत सभी बच्चों से प्रेम करते हैं, सभी पशुओं की सेवा करते हैं। जो जितना बड़ा त्यागी होगा, उसके प्रेम का क्षेत्र उतना ही अधिक विस्तृत होगा। क्यों ? इसलिए कि त्याग स्वयम् प्रेम है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम और त्याग परस्पर ओत-प्रोत हैं। एक हैं। भगवान शंकर इसके मूर्तिमान प्रमाण हैं।

इन सब बातों से हम एक अपूर्व निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, जो सभी के ध्यान देने योग्य है। राग, विराग, भोग, त्याग, गृहस्थी तथा सन्यास प्रायः परस्पर विरोधी वस्तुएं समझी जाती हैं। किन्तु ऊपर सिद्ध हो गया कि यह धारणा गलत है। वह परस्पर विरोधी नहीं बल्कि अभिन्न हैं और एक हैं। तब तो सन्यास और गृहस्थी भी एक ही होने चाहिएं। कम से कम यह समझना तो भूल ही है कि सन्यासी घर नासेगा या गृहस्थी से मनुष्य का उद्धार नहीं होगा। सच्चे सन्यासी से किसी का घर बिगड़ नहीं सकता, क्योंकि उसके दिल में सच्चा प्रेम भरा होता है और अगर जरूरत पड़े तो सच्चा सन्यासी बड़े से बड़ा त्याग करके बिगड़ते घर को बचा लेगा। इसी प्रकार अच्छे गृहस्थ का अन्त भी कभी बुरा नहीं हो सकता, क्योंकि उसके घरेलू प्रेम की नींव भी त्याग पर जमी रहती है। सन्यासी में प्रेम छिपा रहता है और त्याग दिखायी देता है। गृहस्थी में प्रेम दिखायी देता है और त्याग छिपा रहता है। फिर भी सन्यासी को प्रेम के कार्य करने पड़ते हैं और गृहस्थी को त्याग के। किन्तु अन्त में दोनों एक हो जाते हैं, और एक ही परिणाम को प्राप्त होते हैं।

जब गृहस्थी और सन्यास में इतना निकट सम्बन्ध है तब तो उनकी शिक्षा-दीक्षा भी एक ही सी होनी चाहिए। जो शिक्षा-दीक्षा गृहस्थ के लिए लाभदायी होगी वही सन्यासी के लिए आवश्यकीय भी होगी। उदाहरण के लिए भगवद्गीता का उपदेश यदि सन्यासी के लिए श्रेयस्कर है तो वही गीता गृहस्थ के लिए भी मंगलकारी है। इसके विपरीत एक प्रकार की शिक्षा-दीक्षा न होने के कारण और परस्पर विरोधी समझे जाने के कारण विरक्त और गृहस्थ दोनों की ही हानि हुई है और हो रही है। यहां पर वह बात मानी हुई है कि अवस्था के अनुसार दोनों के कर्त्तव्यों और अधिकारों में स्वाभाविक भिन्नता रहेगी ही।

इतना होने के बाद श्लोक के अन्तिम भाग की ओर भी जरा ध्यान दें। "शंकर भगवान के सिवा बाकी सब लोग, प्रेमी भी और त्यागी भी निकम्मे वर्ग के हैं, भोगने त्यागने की शक्ति उनमें नहीं है, विषयों ने सांप बनकर उन्हें डँस रखा है, और वे बेहोश पड़े हैं," इस प्रकार कहना कहां तक ठीक है ? इसमें कोई विचित्रता नहीं है। पीछे श्लोक ७ में "भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता" में जो बात कही गयी थी, उसी की यहां पर पुष्टि की गयी है। जिस प्रकार बेहोश मनुष्य हिल डुल नहीं सकता, अधिक से अधिक वमन आदि करता है, दूसरे लोग उसे जैसे बने उठाते बिठाते हैं, उसी प्रकार विषय इन्हें जिधर चाहें मोड़ा घुमाया करते हैं और यह पराधीन रहते हैं। इस प्रकार जब उनकी कर्तृत्व शक्ति ही नष्ट हो जाती है तब उनके द्वारा विषयोंको स्वयं त्यागने या भोगने का सवाल ही समाप्त हो जाता है।

श्लोक १८

अजानन् दाहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्वडिशयुतमश्नातु पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥

पदच्छेद

शलभस्तीव्र = शलभः + तीव्र
मीनोऽप्यज्ञानाद्वडिशयुतमश्नातु = मीनः + अपि + अज्ञानात् + वडिशयुतम् + अश्नातु
विजानन्तोऽप्येते = विजानन्तः + अपि + एते
वयमिह = वयम् + इह
विपज्जाल = विपत् + जाल
कामानहह = कामान् + अहह

पदान्वय

शलभः दाहात्म्यम् अजानन् तीव्र दहने पततु
सः मीन अपिः अज्ञानात् बडिश युतम् पिशितम् अश्नातु
इह एते वयम् विजानंतः अपि विपत् जाल जटिलान्
कामान् न मुञ्चामः, अहह, मोह महिमा गहनः !

शब्दार्थ

शलभः =पतिंगा
दाहात्म्यम् =जलाने के स्वभाव को
अजानन् =न जानकर
तीव्र दहने =तेज आग में
पततु =पड़ता है
सः मीना अपि =वह मछली भी
अज्ञानात् =अनजान में
वडिशयुतम् =कटिये में लगे
पिशितम् =मांस को
अश्नातु =खाती है
इह =इस संसार में
एते वयम् =यह हम (हैं कि)
विजानन्तः अपि =भली भांति जानते हुए भी
विपत् जाल =विपदाओं के जाल से
जटिलान् =जटिल बने हुए
कामान् =वासनाओं को
न मुञ्चामः =नहीं छोड़ते हैं
अहह =बड़े ही आश्चर्य की बात है
मोह महिमा गहनः =मोह की महिमा घनी है, गम्भीर है,

भावार्थ

आग जलाएगी, यह न जानकर पतिंगे दहकते अंगारों पर टूट पड़ते हैं और जल कर राख हो जाते हैं। मछलियां भी अनजान में ही कांटे में मुंह देती हैं और काल के गाल में फंस जाती हैं। किन्तु मनुष्य तो भली भांति जानते हैं कि विषय-वासनाएं घोर विपत्ति के कारण हैं। फिर भी मोह-वश उनसे बच निकलने का नाम नहीं लेते।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा था कि मनुष्य में पूर्णतया भोगने की या त्यागने की योग्यता है ही नहीं। यदि है तो मानव में दोनों गुण समान रूप में

वर्तमान हैं। फिर भी लोग अधिकतर भोग के पीछे भागते हैं। यहां तुच्छ जीव पतंग और मछली के उदाहरण देकर मानव की हीनता दर्शायी गयी है।

भूखी मछली विचारी मांस मानकर कांटा निगल प्राण गंवाती है। पर वह तो फंसती भी एक ही बार है और मरती भी एक ही बार है। जहां पेट भरा मछली जलक्रीड़ा में मगन रहती है। पतंगे की बात भी कुछ ऐसी ही है। आग को अन्न जानकर जल मरते हैं या अग्निदेव पर आत्यंतिक प्रेम से आहुति चढ़ाते हैं, यह पतंगे ही जानें। हम कौन होते है 'फतवा' देने के लिए।

जंतु जाल में मैथुन क्रिया का एक मौसम निश्चित है। चिंता उन्हें केवल खाने के सम्बन्ध में हो सकती है। परन्तु खाने की भी उनकी निश्चित मात्रा है। भरे पेट वे खाने पर कभी टूट नहीं पड़ते। भविष्य के लिए या बाल बच्चों के लिए जुटाने की उन्हें चाह नहीं। स्थान भी बनाया तो मात्र अंडे बच्चे देने के लिए। नन्हों के पर फूटे कि पशु पक्षी का परिवार प्रायः समाप्त हो जाता है। सारस पक्षी का जोड़ा तो मानों अर्धनारीश्वर भगवान महादेव का प्रत्यक्ष अवतार है।

मानव का चरित्र ही एकदम विचित्र है। मानव को अपना पेट भरने की ही नहीं, दूसरों का पेट काटने की फिक्र भी सताती है। पेट भले ही भरे, मन उसका कभी नहीं भरता। मन भी काल कालांतर को पार कर जाता है। बाबा आजाओं की सम्पन्नता की स्मृतियों में घुलते रहते हैं तो दूसरी ओर पोते परपोतों का ठेका लेने की ठाने रहते हैं। पशु पक्षी भ्रान्ति से धोखा खाते हैं। मानव मोह में मरता है। यह 'मोह' क्या है, आगे चलिए।

श्लोक १९

तृषाशुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीतमधुरं
क्षुधार्त्तः शाल्यन्नं कवलयति मांसादिकलितम् ।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुंदृढतरमालिंगति वधूं
प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

पदच्छेद

शुष्यतास्ये = शुष्यति + आस्ये
क्षुधार्त्तश्शाल्यन्नम् = क्षुधा + आर्तः + शालि + अन्नम्
मांसादि = मांस + आदि
कामाग्नौ = काम + अग्नौ
सुदृढ़तर मालिंगति = सुदृढतरम् + आलिंगति
व्याधेस्सुखमिति = व्याधेः + सुखम् + इति

पदान्वय

तृषा शुष्यति आस्ये शीत मधुरम् सलिलम् पिबति
क्षुधार्तः मांसादि कलितम् शालि अन्नम् कवलयति
कामाग्नौ प्रदीप्ते वधूम् सुदृढतरम् आलिंगति
व्याधेः प्रतीकारम् जनः सुखम् इति विपर्यस्यति

शब्दार्थ

तृषा =प्यास से
आस्ये =मुख, गला
शुष्यति =सूखता है तो
शीत =ठंडा
मधुरम् =मीठा
सलिलम् =जल

पिबति =पीता है
क्षुधार्तः =भूख से पीड़ित
मांसादि कलितम् =मांस आदि से मिला हुआ पुलाव आदि
शालि अन्नम् =चावल का भात

कवलयति =खा लेता है
कामाग्नौ प्रदीप्ते=काम अग्नि के तीव्र होने पर
वधूम् =स्त्री से
सुदृढतरम् =जोर से
आलिंगति =लिपट जाता है

व्याधेः =रोगों के
प्रतीकारम् =तोड़ (इलाज) को
जनः =लोग
सुखम् इति =सुख मान कर
विपर्यस्यति =उल्टे सोचते हैं

भावार्थ

प्यास के सताने पर मनुष्य शीतल जल पीकर गला ठंडा करता है। भूख से पीड़ित होने पर स्वादिष्ट भोजन करके आंतों को शांत करता है। काम वासना के जोर मारने पर प्रेयसी से लिपट जाता है। यह सब क्रियाएं शारीरिक विकारों की तोड़ (चिकित्सा मात्र है। पर लोग उल्टे उन्हें सुख समझ बैठे हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि मनुष्य के विषयों में फँसने का कारण मोह है। मोह के माने हैं – है कुछ यह जानते हुए भी समझे कुछ और। इस श्लोक में साधारण उदाहरणों से सिद्ध किया गया है कि विषयों को सुख मान कर लोग कितनी बड़ी भूल करते हैं। खाना, पीना, मैथुन करना प्राणि मात्र के सहज कर्म हैं। यदि सिद्ध हो जाए कि ऐसे सहज कार्य भी वास्तव में रोग ही है तो बाकी कामों के सम्बन्ध में विशेष कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

यहां पर दो बातों पर विचार करने की जरूरत है, एक रोग और दूसरा इलाज। क्या भूख, प्यास और काम-वासना भी सचमुच में रोग हैं? शरीर में किसी प्रकार की वेदना होने का नाम ही तो रोग है। किसी का गला सूखने लगे, बोली बन्द होने लगे तो लोग घबड़ा जाते हैं। समझते हैं-कुछ हो गया, मर जाएगा। दवा करते हैं। गला साफ हो जाता है। वाणी खुल जाती है। लोग कहते है कि दवा से चंगा हो गया। प्यास में क्या होता है? ठीक यही, पर यहां इलाज सरल है। पानी के दो घूंट से बीमारी भाग जाती है। परन्तु यदि पानी न दिया जाए तो क्या हो? ठीक वही जो पहले के रोगी का होगा।

पीड़ा बढ़ती ही जायेगी। अन्त में एक ऐसी दशा आयेगी कि शरीर से हाथ धोना पड़ेगा। स्पष्ट है कि प्यास भी सचमुच रोग है और पानी उसका इलाज। फिर लोग इस रोग (प्यास) को रोग क्यों नहीं मानते? कारण इसका रोग नहीं बल्कि उसका इलाज है। इलाज सरल है इसीलिए बीमारी से यह बेपरवाही। श्लोक में प्रत्येक इलाज यानी पानी, भोजन आदि के साथ अधिकाधिक विशेषण (शीतल, मधुर जल, माँसादि कलितम् शाल्यन्नम् तथा सुदृढतरमालिंगनम्) लगा कर रोग तथा चिकित्सा का गुरुत्व सिद्ध किया गया है।

इसी विषय पर दूसरे प्रकार से विचार करें। रोग की पहचान क्या है? सिर दुखा, खाँसी उठी, पेट में पीड़ा हुई या पैर में फोड़ा फूट निकला, लोग समझते हैं रोग हो गया है। दुख, दर्द, खांसी, फोड़ा, खुद तो कहते नहीं कि हम रोग हैं। कहते हैं वह अंग जहां पर रोग होता है अर्थात् रोग नहीं बल्कि रोगी अंग बोलते हैं। नीरोग अंग कभी नहीं बोलते। हम महसूस भी नहीं करते कि हमें गला है, सिर है, पैर है या शरीर है। शरीर का महसूस होना ही रोग का चिन्ह है। शरीर का जो अंग महसूस होने लगे, समझ लेना चाहिए कि उसमें कोई रोग हो गया है। रोग बड़ा हो या छोटा, सबकी यही पहचान है। क्या रोग है, और उसका क्या इलाज है, इसकी जानकारी हमें बार-बार के अनुभव से ही होती है। हमें प्यास बार-बार लगती है और जब-जब प्यास लगे पानी पी लेते हैं। प्यास बुझ जाती है। इसे हम बीमारी नहीं समझते क्योंकि इसका इलाज सरल है। सन्निपात या तपेदिक रोग रोज नहीं होता और इसका इलाज भी सरल नहीं है। इसलिए हमने इन्हें रोग समझा। अस्तु, शरीर के पूर्णतया स्वस्थ होने की पहचान यही है कि वह हमें महसूस ही न हो। जहां सारा शरीर या उसका कोई अंग महसूस होने लगे तो वही रोग है। यह है शारीरिक रोग।

मनुष्य केवल शरीर ही का नहीं बना है। उसमें मन और आत्मा भी है। मन और आत्मा भी रोगी और स्वस्थ होते हैं। मानसिक तथा आत्मिक रोगों की पहचान क्या है? अधिक न जाकर इतना ही समझ लें कि काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि मानसिक रोग हैं। जब तक मनुष्य के भीतर इच्छाओं का तूफान उठता रहे, प्राप्त वस्तुओं में आसक्ति हो, अप्राप्त की आकांक्षा हो

बाधाओं से क्रोध उत्पन्न हो, बाधक से द्वेष करने लगे, तब तक समझना चाहिए कि वह मनुष्य मानसिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं है और जिस मनुष्य में मन के भीतर भी इस प्रकार की भावनाएँ न हों—यह महसूस भी न हो कि यह मेरा है, वह उसका है, यह दोस्त है, वह दुश्मन है—समझना चाहिए कि उसका मन एकदम स्वस्थ है। आत्मिक स्वास्थ्य उससे भी ऊँची वस्तु है। मनुष्य जब तक आत्मा परमात्मा की चर्चा करता रहे, उसके भीतर इस प्रकार के विचार वर्तमान हों, तब तक उसकी आत्मा अस्वस्थ ही है। जिस मनुष्य में आत्मा परमात्मा, संसार या स्वर्ग की भावना एकदम न हो उसकी आत्मा एकदम स्वस्थ है।

अन्त में यह शंका रह ही जाती है कि इस शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक स्वास्थ्य की प्राप्ति कैसे हो ? यह तो असम्भव-सा है, क्योंकि शरीर के साथ भूख, प्यास लगी ही रहेगी—उसके लिए आवश्यक वस्तुओं को जुटाना ही होगा—संसार में नित नये गुल खिलेंगे—हमें खुल खेलना ही होगा—यही जीवन है—जीवन को सुखी बनाना मनुष्य का धर्म है। मगर सच तो यह है कि इस 'सुख' के चक्कर में फँस जाना ही मोह है। इस मोह से बचने की जरूरत है। और इससे बचना बहुत सरल है। इसके लिए किसी विशेष साधना की जरूरत नहीं है। कोई अड़चन या किसी चीज की मनाही भी नहीं है। खूब खावें पीवें और मौज करें, पर सुख के विचार से नहीं बल्कि केवल शारीरिक धर्म मान कर करते जाएँ। जिस प्रकार सांस लेते छोड़ते हैं उसी प्रकार खावें पीवें भी। यह शरीर का धर्म है और इसी में शारीरिक स्वास्थ्य है।

शरीर और आत्मा के स्वास्थ्य को एक और उदाहरण से स्पष्ट कर दें। नदी में जल के समान रहना कि पानी आता जाये और निकलता जाय, यह शारीरिक स्वास्थ्य है। जल में मछली के समान रहना कि पानी में तो रहे पर पानी शरीर में लगे ना, यह मानसिक स्वास्थ्य है, और पानी में पानी के समान घुले-मिले रहना आत्मिक स्वास्थ्य है। इस प्रकार मोह से एकदम मुक्त हो जाने पर मनुष्य आप ही मुक्तात्मा हो जाता है।

श्लोक २०

तुंगं वेश्म सुताः सतामभिमताः संख्यातिगाः संपदः
कल्याणी दयिता वयश्च नवमित्यज्ञानमूढो जनः ।
मत्वा विश्वमनश्वरं निविशते संसारकारागृहे
संदृश्य क्षणभंगुरं तदखिलं धन्यस्तु संन्यस्यति ॥

पदच्छेद

सतामभिमताः =सताम्+अभिमताः
संख्यातिगास्संपदः =संख्या+अतिगाः+संपदः
वयश्च =वयः +च
नवमित्यज्ञान = नवम् + इति + अज्ञान
विश्वमनश्वर = विश्वम् + अनश्वरम्
तदखिलम् = तत् + अखिलम्
धन्यस्तु = धन्यः + तु

पदान्वय

तुंगम् वेश्म सताम् अभिमताः सुताः संख्या अतिगाः सपदः कल्याणी दयिता वयःच नवम् इति विश्वम् अनश्वरम् मत्वा अज्ञान मूढः जनः संसार कारागृहे निविशते धन्यः तु तत् अखिलम् क्षण भंगुरम् संदृश्य सन्यस्यति

शब्दार्थ

तुंगम् =ऊंचा
वेश्म =महल (है)
सताम् =सज्जनों को
अभिमताः =इष्ट, पसंद
सुताः =पुत्र (हैं),
संख्या अतिगाः =अनगिनत

सम्पदः	=सम्पत्ति है
कल्याणी	=मंगलमयी, अनुकूल
दयिता	=स्त्री (है)
वयः च	=अवस्था, उम्र भी
नवम्	=नयी है, जवान है
इति	=इस प्रकार
विश्वम्	=संसार को, इन सबको,
अनश्वरम्	=नाश रहित, स्थायी
मत्वा	=समझ कर
अज्ञान मूढ़ः जनः	=अज्ञान से मूढ बना हुआ मनुष्य
संसार कारागृहे	=संसार रूपी बंदी-गृह में
निविशते	=जकड़ा रहता है।
धन्यः तु	=धन्य जन तो
तत् अखिलम्	=उन सबको
क्षण भंगुरम्	=क्षण में नाश होने वाली, क्षणिक
संदृश्य	=समझ कर
सन्यस्यति	=त्याग देना है।

भावार्थ

"मेरी बड़ी कोठी खड़ी है, अपार सम्पत्ति है, सुन्दर सुशील स्त्री है, मैं खुद भी चढ़ती जवानी में हूँ।" मूर्ख लोग इस प्रकार सोचा करते हैं और समझते हैं कि यह सब सदा यों ही बने रहेंगे। इस प्रकार वह संसार रूपी बंधनों में जकड़े रहते हैं। संसार उनके लिए बन्दीगृह बन जाता है। कुछ एक ऐसे भी लोग होते हैं जो जानते हैं कि यह सब चार दिन की चांदनी है, देखते ही देखते सब चीजें चली जाएँगी। धन्य हैं जो उन्हें पहले ही त्याग देते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि मोह के कारण मनुष्य संसार के जंजाल में फंस जाता है। पिछले श्लोक में सुखों को विशेषकर शारीरिक सुखों को रोग बतलाया था। उसी सिलसिले में मानसिक तथा आत्मिक रोगों की चर्चा की गई थी। इस श्लोक में बताया गया है कि रोग निवारण की अनन्त शक्ति उन औषधियों में भी नहीं है। कोई बीमार स्वस्थ हो जाने

के बाद भी अस्पताल में पड़े रह कर दाय या नर्स से सेवा लेने की चाह नहीं करेगा। चाहेगा भी तो कोई रहने नहीं देगा। इस लिए स्वयं ही छोड़ देना अच्छा है।

श्लोक के अन्तिम पद पर थोड़ा सा विचार करना अच्छा है—"धन्य पुरुष घर, स्त्री, पुत्र तथा यौवन को त्याग देते हैं।" यहाँ पर यह शंका होती है कि इन वस्तुओं को त्यागने से मनुष्य धन्य होता है कि अथवा जो धन्य है वे इन्हें त्यागते हैं? ठीक तो यही जान पड़ता है कि त्याग के बाद ही मनुष्य धन्य कहलाने का अधिकारी है। किंतु त्याग तो केवल बाहरी क्रिया है। यह भावना पहले दिल में ही पैदा होती है। वह पहले सब बातों को तौलकर निश्चित रूप से जान लेता है कि संसार क्षण-भंगुर है और यह सारी चीजें हमें छोड़ जाएंगी। यदि ये हमसे अपने आप छूट जाएं तो हमें दुःख होगा और यदि हम स्वयं इन्हें छोड़ दें तो मन को प्रसन्नता तथा शान्ति रहेगी। वास्तव में ऐसा मनुष्य उन वस्तुओं का उपयोग करते हुए भी उन्हें त्यागे रहता है। यह कहा जा सकता है कि धन्यता के अंकुर उसमें पहले से ही विद्यमान रहते हैं। इसके विपरीत यदि मन में चाह रही तो एक बार उन वस्तुओं को त्यागने के बाद भी दिल में उनकी चाह बनी रहने से मानसिक कष्ट होगा, बल्कि अपनी जल्दबाजी पर पश्चात्ताप करेगा। इसलिए दिखावटी त्याग के कारण किसी को धन्य मानना गलत होगा। सच तो यह है कि आँखों से दिखाई पड़ने वाले त्याग का कोई महत्व ही नहीं है। महत्ता दिल की भावना की है। श्लोक के शब्दों से भी यही भाव निकलता है। घर, स्त्री, संतान के साथ यौवन का परित्याग कैसे सम्भव है? यौवन तो है और जब तक रहना है वह रहेगा। बल्कि सन्यासी का यौवन तो उसके नियमित जीवन तथा ब्रह्मचर्य के कारण और भी अधिक दिनों तक बना रहेगा। इसलिए यहां पर उनके त्यागने के अर्थ हैं—उनमें आसक्त न रहना और उनका दुरुपयोग न करना। अन्त में दिल में भी त्याग भरा हो और देखने में भी उनका परित्याग किया जाय तो असली महत्व उसी का है।

द्वितीय दशक का सारांश

श्लोक नं. ११. पुण्यों से प्राप्त होने वाले सुख भी दुखदायी हैं।
१२. सुखों के परित्याग में ही सच्चा सुख है।
१३. सुखों को ही क्या उनकी लालसा का त्यागना भी जरूरी है।
१४. लालसा की व्यर्थता।
१५. लंगोटी लगाये भिखारी भी सुखों के स्वप्न देखते हैं।
१६. शरीर के सुन्दर अङ्ग मांस के लोथड़े और मल-मूत्र के घर हैं।
१७. त्याग तथा प्रेम अभिन्न और एक हैं।
१८. मोह त्याग में बाधक होता है।
१९. मोह वश ही रोग को सुख समझते हैं।
२०. (अ) मोह के हटने पर त्याग की सिद्धि होती है।
(ब) त्याग से मोह की निवृत्ति होती है।

इस प्रकार वैराग्य की दूसरी सीढ़ी विषय-त्याग समाप्त होता है।

श्लोक २१

दीना दीनमुखैस्सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्निरन्नविधुरा दृश्या न चेद्गेहिनी ।
याच्ञाभंगभयेन गद्गदगलत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीतिवदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी पुमान् ॥

पदच्छेद

मुखैस्सदैव =मुखैः + सदा + एव
शिशुकैराकृष्ट =शिशुकैः + आकृष्ट
क्षुधितैर्निरन्न =क्षुधितैः + निरन्न
जीर्णाम्बरा =जीर्ण + अम्बरा
चेद्गेहिनी =चेत् + गेहिनी
त्रुट्यद्विलीनाक्षरं =त्रुट्यत् + विलीन + अक्षरम्
कोदेहीति =कः + देहि + इति
वदेत्स्व =यदेत् + स्व
जठरस्यार्थे —जठरस्य + अर्थे ।

पदान्वय

सदा एव दीन मुखैः क्षुधितैः क्रोशद्भिः शिशुकैः आकृष्ट जीर्णाम्बरा
दीना निरन्न विधुरा गेहिनी दृश्या न चेत्
कः मनस्वी पुमान् स्वदग्ध जठरस्य अर्थे याच्ना भंग भयेन
गद् गद् गलत् तृट्यत् विलीन अक्षरम् देहि इति वदेत्

शब्दार्थ

सदा एव	=हमेशा ही
दीन मुखैः	=मुंह लटकाये हुए
क्षुधितैः	=भूखे
क्रोशद्भिः	=बिलखते हुए,
शिशु	=बच्चों द्वारा
आकृष्ट	= पकड़े खींचते हुए
जीर्ण अम्बरा	=फटे चीर वाली
दीना	=दीन
निरन्न विधुरा	=बिना अन्न के बेताब
गेहिनी	=गृहणी, स्त्री
दृश्या न चेत्	=दीख न पड़े (तो)
कः	=कौन
मनस्वी	=बुद्धिवान, स्वाभिमानी
पुमान्	=पुरुष

स्व	= अपने
दग्ध जठरस्य अर्थे	= जलने वाले पेट के लिए
याचना भंग भयेन	— मांग के न पूरा होने के भय से, जबान खाली जाने के डर से
गद्गद्गल	= गद्गद् गले में
त्रुटयत्	=टूटते हुए,
विलीन	= भीतर ही बैठ जाने वाले
अक्षरम्	—शब्दों से
देहि इति	—दीजिए, (ऐसा)
वदेत्	—कहेगा।

भावार्थ

भूख से बिल्लाते बच्चे जिस मां की फटी पुरानी साड़ी को पकड़ कर खींचते हुये रो रहे हों और मां भी खुद भूख से बेताब हो, ऐसी स्त्री को यदि घर में देखना ना पड़े तो कोई ऐसा व्यक्ति न होगा जो अपना निजी पेट भरने के लिये किसी के सामने सवाल करने जाये, और वह भी तब जबकि सवाल करने से पहले ही दिल में यह दुविधा हो कि कहीं जबान खाली न जाये और इस डर से मुंह से शब्द भी ठीक से न निकले, अर्थात घर में बच्चों और स्त्री की यह दुर्दशा नहीं देख सकता इस लिए अपने अपमान का ध्यान न कर औरों से मांगने पर मजबूर हो जाता है।

विशेषार्थ

पिछले दशक (दस श्लोकों) में विषयों को त्यागने की शिक्षा दी गयी थी। किन्तु त्याग से मतलब साधारणतया गृहस्थी छोड़ने तथा भभूत रमाने

ग्रौर भीख माँग कर जीवन बिताना ही समझा जाता है। इस दशक में इसी भ्रम को दूर करने के लिए भिक्षा वृत्ति की निन्दा की गई है ग्रौर बताया गया है कि जीवन-निर्वाह का क्या उपाय करना चाहिए। इस श्लोक के ग्रन्दर उससे भी ग्रागे बढ़ कर सिद्ध किया गया है कि भीख मांगने वालों की निन्दा करना, उन्हें घृणा से देखना स्वयं निन्दनीय प्रवृत्ति है। इस लिए भीख माँगने वालों को भी हार्दिक सहानुभूति का ग्रधिकारी बताया गया है।

कोई व्यक्ति यों ही झोली लटकाये घर से निकल नहीं पड़ता। उससे पहले उसे ग्रनेकों ग्रसहनीय कष्टों को झेलना पड़ता है। कई साल हुये उसने ग्रपने स्त्री के लिये कोई नया कपड़ा नहीं खरीदा है। उसके शरीर पर लज्जा ढांकने के लिए एक पुराना चिरकुट मात्र है। पेट भरना क्या है, वह वर्षों से नहीं जानती। सूख कर कांटा हो गयी है। जवान चमड़ी पर बुढ़ापे की झुर्रियां पड़ गयी हैं। जब स्त्री की यह दशा है तब तो पुरुष की इससे भी बुरी दशा होगी। बेचारा चूनड़ छिपाने को लत्ता कहां पाएगा। लंगोटी पर गुजार लेता है। रात में भूखा सोता है ग्रौर दिन में कष्ट भोगता है। फिर भी किसी से माँगने का नाम नहीं लेता। गरीबी में बच्चे भी बहुत होते हैं। इसे लोग ईश्वर का कोप समझते हैं। यह भी एक झूठी कल्पना है। भिन्न-भिन्न देशों के ग्रांकड़ों को देखने से स्पष्ट है कि जो देश जितना ग्रधिक गरीब होता है वहाँ पर जन्म संख्या उतनी ही ग्रधिक होती है ग्रौर मरते उस से भी ग्रधिक हैं—पर्याप्त भोजन न पाने के कारण। हमारे इस गरीब भाई के भी बच्चे बहुत हैं। मियां बीबी दोनों ही पेट पर पत्थर बांधे सोते हैं। पर इन नन्हें-नन्हें बच्चों को कैसे देखते रहें जो नंगे हैं, भूखे हैं, भूख से चिल्लाते हुए—"ग्रम्मा रोटी-ग्रम्मा रोटी" कहते हुए साड़ी से लटके पड़े हैं। मां क्या करे? रोती है। सिर पीटती है। बच्चों को भी पीटती है! ग्रौर बाप! बेचारा कभी माँगा नहीं है। जो मांगने में मझे हुए हैं वह भी, हो सकता है, इसी दशा से गुजरे हों। वह घर से बाहर निकलता है। बाजार के एक कोने से दुसरे कोने तक निकल जाता है। किसी से कुछ नहीं कहता। सिर नीचा करके चुपचाप चला जाता है। खाली हाथ घर लौटता है। दूसरे दिन फिर निकलता है। हिम्मत करके ग्राज केवल चीजों की ग्रोर लालच भरी दृष्टि से

देखता है। किसी से कुछ नहीं कहता। खाली हाथ ही घर लौटता है। इस तरह कुछ दिन बीत जाते हैं। फिर सोचता है—शहर में भले आदमी कौन-कौन हैं? उनमें भी सबसे बड़े भले आदमी के दरवाजे पर जाता है। मुंह से बोली नहीं निकलती। डरता है, इज्जत भी जायेगी, बात भी न रहेगी। उधर वह भला आदमी–शहर भर में सबसे बड़े भले आदमी—इसके साथ कोई शिष्टता नहीं बरतता। वह देखते ही भवें तान लेता है। बोल न चाल, भवें क्यों तनीं? हमारे 'भले आदमी' खूब जानते हैं कि यह क्यों आया है। पर उनके हृदय में सहानुभूति का नाम नहीं है। वह 'बड़े आदमी' नहीं समझते कि यह भिक्षार्थी उनसे भी कहीं बड़ा स्वाभिमानी है। अपने पेट के लिए वह आपके पास कभी न आता। भूखों मर जाता, पर भीख न मांगता। विष लेकर आत्म-हत्या कर लेता। पर किसी के दरवाजे न जाता। किन्तु यहां पर अकेले भूखे रहने या विष खाकर मरने की बात नहीं है। अपने स्त्री बच्चों के साथ भी यही करना है। भूखे भी काफी रखा, पर अब उन्हें भूखे मार नहीं सकता। उसके सामने दो ही रास्ते हैं। एक, बाल-बच्चों का पेट भरने के लिए दूसरों का धन चुराना, बलात् छीन लेना, अपने बाल-बच्चों के प्राण बचाने के लिए दूसरों के प्राण भी लेने पड़ें तो ले लेना, परन्तु समाज उसे चोर, डाकू, हत्यारा कहता है। हालांकि समाज ने स्वयं उसे वैसा बनाया है। इन 'चोर' 'डाकू' 'हत्यारा' के पीछे यही करुण कहानी है।

कारण कुछ भी हों, किन्तु साधन बुरे हैं, इसलिए श्लोक में उस सम्बन्ध में मौन रह कर दूसरे मार्ग की ही चर्चा की गयी है। इतनी करुण कहानी को जानते हुए भी अधर्म का मार्ग नहीं सुझाया गया। कोई कह सकता है कि मेहनत करे और बाल-बच्चों को पाले। जानना चाहिए कि धनोपार्जन के लिए परिश्रम के साथ अन्य साधन भी चाहिएं। पर यहाँ ध्यान रहे कि यह बात वैराग्य के विद्यार्थी के सम्बन्ध में कही गयी है—ऐसे विद्यार्थी के सम्बन्ध में जिसने तृष्णा को छोड़ा है, त्याग की सीढ़ियों पर चढ़ चुका है। उसकी वास्तविक दशा से हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हुए जो बात कही जाएगी, वह निश्चय ही उसके मन में बैठ जाएगी। इस प्रकार भिक्षा-वृत्ति से मुंह मोड़ने की चेष्टा की गयी है।

श्लोक १९

तृषाशुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीतमधुरं
क्षुधार्त्तः शाल्यन्नं कवलयति मांसादिकलितम् ।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुंदृढतरमालिंगति वधूं
प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

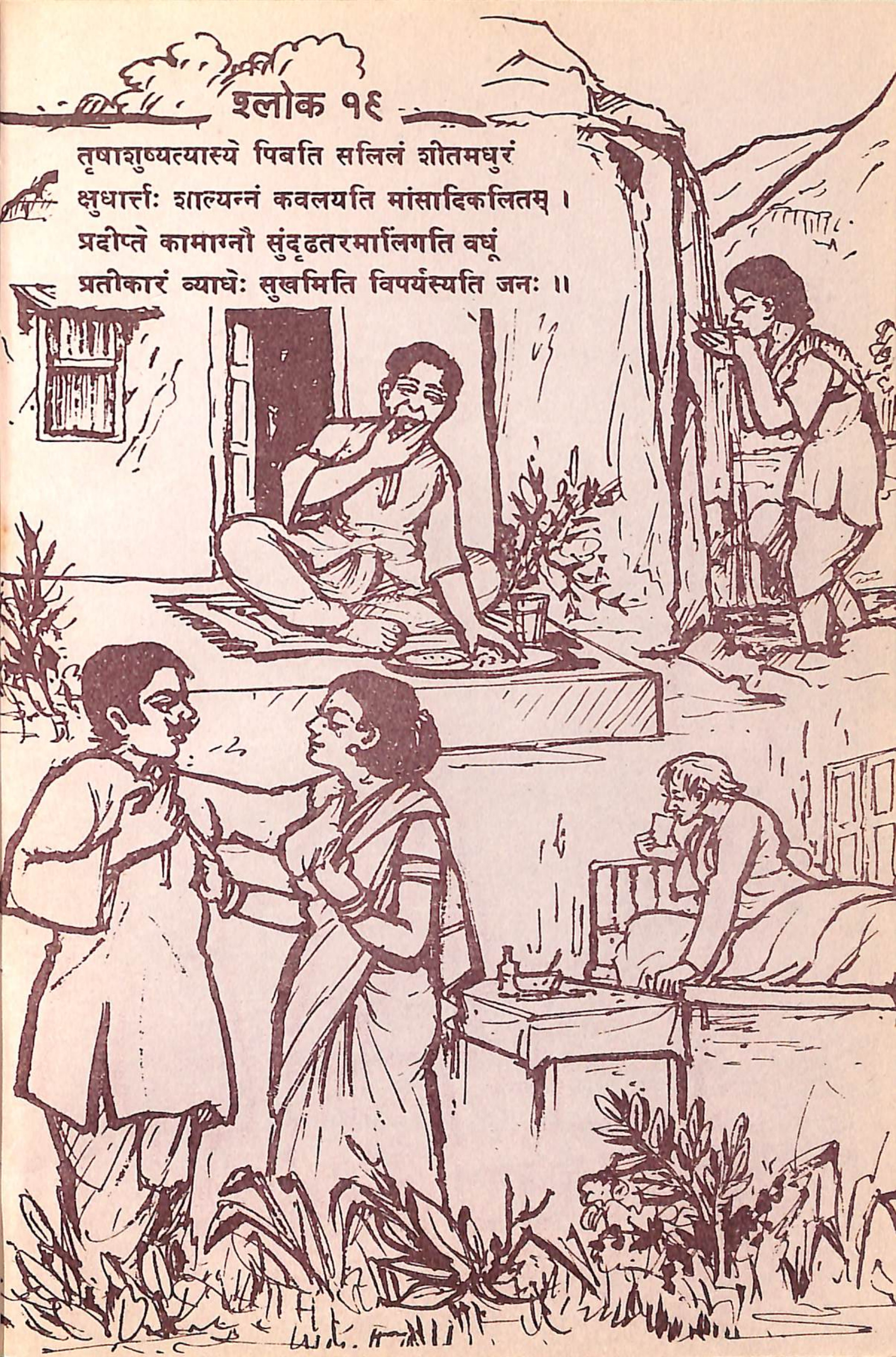

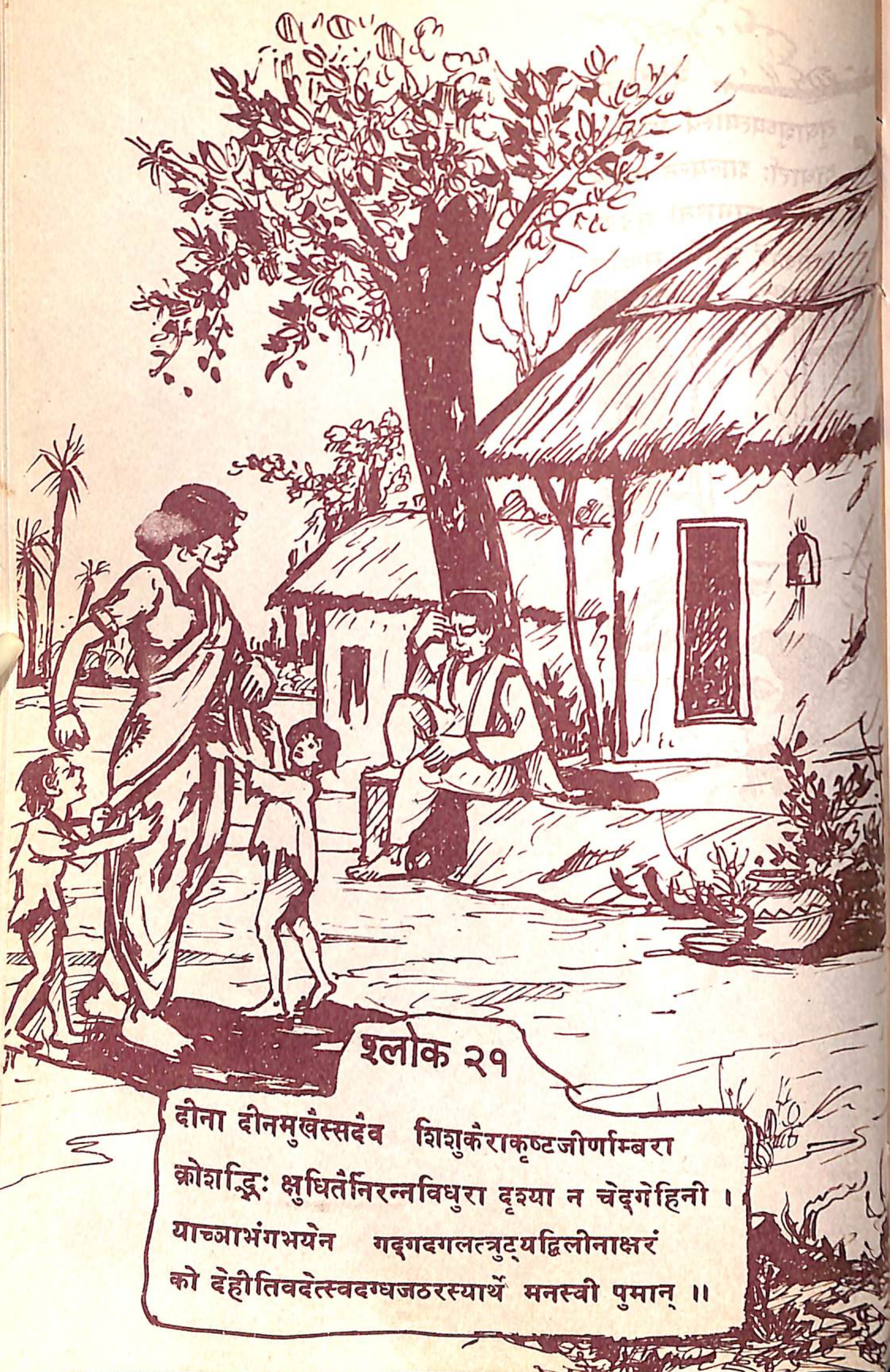

श्लोक २१

दीना दीनमुखैस्सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्निरन्नविधुरा दृश्या न चेद्गेहिनी ।
याचञाभंगभयेन गद्गदगलत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीतिवदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी पुमान् ॥

हमारा देश पहले समृद्धिशाली था, यहां दूध घी की नदियां बहा करती थीं, इस प्रकार कहने वालों को दो हजार वर्ष पूर्व कालीन भारत के इस चित्र की ओर ध्यान देना चाहिए । साधन सम्पन्न लोगों की तो सदा से ही मौज रही है । दुःख तो उन अभागों के लिए है, जिन्हें सम्पन्न और समृद्ध देश में भी दाने-दाने को तरसना पड़ता है । इससे भी हजारों वर्ष पहले श्रीकृष्ण भगवान के दिनों में सुदामा रहे—वह सुदामा जो कृष्ण भगवान के गुरुभाई और लंगोटिया यार थे— उनकी भी यही दशा थी ।

श्लोक २२

अभिमतमहामानग्रन्थिप्रभेदपटीयसी
गुरुतरगुणग्रामांभोजस्फुटोज्ज्वलचंद्रिका ।
विपुलविलसल्लज्जावल्लीवितानकुठारिका
जठरपिठरी दुष्पूरेयं करोति विडम्बनाम् ।।

पदच्छेद

गुणग्रामाम्भोज = गुणग्राम + अम्भोज,
स्फुटोज्ज्वल = स्फुट + उज्ज्वल
विलसल्लज्जा = विलसत् + लज्जा
दुष्पूरेयम् = दुः + पूरा + इयम्

पदान्वय

जठर पिठरी अभिमत महामान ग्रन्थि प्रभेद पटीयसी
गुरुतर गुणग्राम अम्भोज स्फुट उज्ज्वल चंद्रिका
विपुल विलसत् लज्जावल्ली वितान कुठारिका
इयम् दुष्पूरा (जठर पिठरी) विडम्बनाम् करोति

शब्दार्थ

जठर पिठरी	=पेट का पिटारा
अभिमत	=सम्मानित, इष्ट
महा	=बड़े
मान ग्रन्थि	=स्वाभिमान के गांठ को
प्रभेद	=तोड़ डालने में
पटीयसी	=पटु (है),
गुरुतर	=बहुत भारी
गुणग्राम	=गुणों के समूह (रूपी)
अम्भोज	=कमल के लिये
स्फुट	=खूब फैली हुई
उज्ज्वल	=उजाली
चन्द्रिका	=चांदनी (है),
विपुल	=खूब
विलसत्	=प्रकाशमान
लज्जा वल्ली	=लज्जा रूपी लता के
वितान	=हरे छप्पर के लिये, लता कुंज के लिए
कुठारिका	=कुल्हाडी (है),
इयम्	=यह
दुष्पूरा	=कभी न भरने वाली
जठर पिठरी	=पेट की कुंडी
विडम्बनाम् करोति	=ढोंग करती है।

भावार्थ

पेट मनुष्य के उचित स्वाभिमान को चकनाचूर कर डालता है। जिस प्रकार चांदनी सुंदर कमलों को सिकोड़ देती है उसी प्रकार यह पेट मनुष्य के सद्गुणों को नष्ट कर देता है। लज्जा रूपी लता को कुल्हाड़ी के समान काट कर फेंक देता है। यह पेट कभी भरने का नाम नहीं लेता। लालच बढ़ता ही रहता है। इसलिए नित नये ढोंग रचा करता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में अर्थी, याचक से सच्ची सहानुभूति प्रकट करने के बाद यहां एक पग आगे बढ़ गया है। कहता है कि मांगना बुरा है, पर मांग खाने की आदत डालना उससे भी बुरा है। आदत का अन्त नहीं है। साफ-साफ कहा है—बाबा ! पेट बड़ा ढोंगी है, सदा बहाना-बाजी किया करता है, धोखा देता है, इसके चक्कर में पड़कर मनुष्य अपनी मान-मर्यादा खो बैठता है

जिससे उसका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है, उसके गुणों पर पानी फिर जाता है और वह एकदम वेहया बन जाता हैं। यहाँ पर इस बात की ओर इशारा है कि असल कारण पेट न भरने का पिछले दशक की 'तृष्णा' है। यहां पर पेट से मतलब बित्ते भर का पेट नहीं है वरन् तृष्णा या लालच है।

जीवन-निर्वाह का कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे पेट भी भरे, शील, लज्जा तथा स्वाभिमान की रक्षा भी हो। बाल बच्चों की परवरिश हो और वे भी किसी न किसी काम के लायक बनें। आज कल की सभ्य सरकारें व्यक्ति को काम के योग्य बनाना, काम दिलाना, काम न दिला सकने पर बेकारी का भत्ता देना अपना कर्तव्य मानती हैं। प्राचीन युग में भी काम की कदर जरूर होती थी और बाल बच्चों का लालन पालन हो जाता और वे भी किसी न किसी काम के योग्य बन जाते थे। प्रायः सभी युगों में काम की कदर जरूर होती रही है। मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करने अथवा ज्ञान दान की प्रवृत्ति को सामाजिक सेवा माना जाता था। भिक्षा पर निर्वाह करने वाले अधिकतर व्यक्ति मनोरंजन अथवा ज्ञानदान में तल्लीन रहते थे और लोग प्रेम से श्रद्धा पूर्वक उनका आदर सत्कार करते थे। धर्मभीरुता की भावना भी लोगों को दान दया की प्रेरक थी। माँग खाने वालों को या मनोरंजन आदि करने वालों के लिए कहा गया है कि वे भी संतोषी जीवन बिताएं। लालच में न पड़ें कि जनता की उस धर्मभीरुता और दया अथवा दान धर्म की भावना को धक्का न लगे और ऐसे लोगों के प्रति समाज में घृणा उत्पन्न न हो, जैसे आजकल हो रहा है।

श्लोक २३

पुण्येग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालीं कपालीम्
ह्यादाय न्यायगर्भद्विजहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठे ।
द्वारं द्वारं प्रविष्टो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्त्तो
मानी प्राणैस्सनाथो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः ।।

पदच्छेद

सितपटच्छन्न =सितपट+छन्न
ह्यादाय =हि +आदाय
हुतभुग्धूम =हुतभुक्+धूम
धूम्रोपकण्ठे =धूम्र +उपकण्ठे
वरमुदर =वरम् +उदर
क्षुधार्तः =क्षुधा +आर्तः
पुनरनुदिनम् =पुनः +अनुदिनम्
प्राणैस्सनाथो =प्राणैः +सनाथः

पदान्वय

न्यायगर्भद्विज हुतभुक् धूम धूम्र उपकण्ठे पुण्ये ग्रामे वा महति वने क्षुधार्तः उदरदरी पूरणाय सितपटच्छन्न पालीम् कपालीम् हि आदाय द्वारम् द्वारम् प्रविष्टः प्राणैः सनाथः वरम् पुनः मानी अनुदिनम् तुल्य कुल्येषु दीनः न वरम्

शब्दार्थ

न्यायगर्भ =शास्त्रों के अनुसार
द्विजहुत =ब्राह्मणों द्वारा हवन किये गये
हुतभुक्धूम =अग्नि के धुंये से
धूम्र उपकंठे =आसपास धुंध पड़े हुए

पुण्ये ग्रामे =पवित्र गांव में
वा महति वने =या बड़े बन में
क्षुधार्त्तः =भूख से पीड़ित मनुष्य
उदर दरी =पेट के खोह को
पूरणाय =भरने के लिये
सित =सफेद
पटच्छन्न =कपड़े से ढके
पालीम् =किनारों वाली
कपालीम् हि =करवा को ही
आदाय =लेकर
द्वारम् द्वारम् =दरवाजे, दरवाजे
प्रविष्टः =जाकर, प्रवेश करके

उदर दरी =पेट रूपी खोह को
पूरणाय =भरना
वरम् =उत्तम है
पुनः =पर, किंतु
मानी =स्वाभिमानी व्यक्ति को
अनुदिनम् =आये दिन
प्राणैः सनाथः =प्राण रहते हुए, जीते जी
तुल्य कुल्येषु =बराबरी की बिरादरी में
दीनः =दीन होकर (रहना)
न वरम् =अच्छा नहीं है ।

भावार्थ

किसी स्वाभिमानी व्यक्ति को अपने बराबर वालों के बीच रह कर अपमानित होते रहना उचित नहीं है । उससे कहीं अच्छा यह है कि किसी ऐसी बस्ती या बन में जा बसे, जहां पर सदा यज्ञ, हवन हुआ करते हैं, और पेट भरने के लिए साफ कपड़े से ढका करवा हाथ में लेकर घर घर भीख मांगे और इस प्रकार दिन बिताए ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि मांगने से मनुष्य वेहया बन जाता है। उसके सुशील स्वभाव की मर्यादा जाती रहती है । इस श्लोक में कहता है कि किसी को भीख मांगनी ही पड़े या जो किसी कारण से कोई धंधा न करना चाहे तो भी उसे अपने स्वाभिमान की रक्षा करनी ही चाहिए । यह बात बराबर वालों के बीच में रहकर करना प्रायः असंभव है । दूसरे लोग क्या सोचते होंगे, इसका विचार छोड़ भी दें तो भी स्वयं अपने को ग्लानि होती है । दूसरे के हाथों से अपमानित न होने पर भी भीतर ही भीतर मन कुढ़ा करता है । इस लिए उस स्थान को छोड़ना ही अच्छा है । इसका यह अभिप्राय कदापि

नही है कि अनजान लोगों के हाथों अपनी दुर्गति करा लेने में कोई बुराई नहीं है। साधारणतया जो घर से निकल पड़ते हैं वे जहां चाहे जाते और चाहे जो काम करते और जैसे तैसे जीवन बिताते हैं। यह तो कोई न कोई धन्धा रोजगार करने वाले गृहस्थ की बात हुई। यहां पर विशेषकर भिक्षा वृत्ति अपनाने वाले के सम्बन्ध में कहा गया है। भीख की भी यहां विधि बतायी गयी है। स्वयं शुद्ध रहें और शुद्धात्माओंके हाथ की ही भिक्षा लेवें। भिक्षा पेट भरने मात्र के लिए हो, अधिक न हो।

दान देने के विषय में प्रायः यह कहा जाता हैं हि पात्रापात्र का विचार रखना चाहिए। इस श्लोक में इस धारणा पर भी चोट की गयी है। दान लेना भी सुपात्र ही के हाथ का चाहिए, कुपात्र का नहीं। इसका यह अभिप्राय भी होता है कि जो भिक्षार्थी की मर्यादा नहीं जानते वे स्वय भी सम्मान के अधिकारी नहीं हैं। कुपात्रों को देने में पाप है तो कुपात्रों से लेने में भी पाप है।

देनेवाला चाहे जैसा हो, यदि उसका दान सुपात्र के हाथ में जाए तो पाप कैसे ? इस पर किसी गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता नहीं है। कुयोग्य दानी को उसके सुपात्र दान की प्रतिष्ठा मिलने के साथ-साथ यह भी आशंका है कि दानी के पाप-मूलक कार्यों के छिपाने में यह सुपात्र सहायक होंगे। प्रायः यह भी होता है कि अनजान में भी दान लेने वाले इसमें सहायक बन जाते हैं, बल्कि उसका विज्ञापन करते हैं। यह पाप नहीं तो और क्या है ? जब बात ऐसी ही है तब कोई दान देवे ही क्यों ? हाँ देंगे और देना चाहिए। इस लिए कि कम से कम उतना धन तो पाप कार्य में न लगे और यह कार्य आगे शुभ कार्यों के लिए प्रेरक बने। शुभ कार्यों में खर्च करना उसका कर्तव्य है। धन कई लोगों की मेहनत से पैदा होता हैं। इसलिए जहां एकत्र हो उसे कई लोगों में बँट जाना भी चाहिए। जो व्यक्ति ऐसे कार्यो में अपना धन, सम्पत्ति नहीं देता वास्तव में वह चोर है, क्योंकि दूसरे के हक को वह खुद हड़प कर जाता है। इसलिए खुले हाथों सुपात्र को दान देनेवाला पाप से बचता है। किन्तु दान पाने के अधिकारी सभी कोई नहीं है। जिसका जीवन यज्ञमय हो, वही दान पाने का अधिकारी है। उसे पाप छू तक नहीं सकता क्योंकि दान का सारा धन यज्ञ में अर्थात् परोपकार में ही स्वाहा हो जाता है। साधारण भिक्षा पर निर्वाह करने वालों के लिए ऐसे हीं यज्ञशील व्यक्तियों से भिक्षा लेने की विधि बतायी गयी है।

तो क्या हवन आदि करनेवालों के यहाँ आदर सत्कार होता है ? हां। हवन आदि को विधि-पूर्वक करनेवालों के लिए यह विधि है कि यज्ञ से बचा हुआ ही खावें। अतिथि अभ्यागत की पूजा भी उसमें शामिल है। 'यज्ञ' को यहाँ पर व्यापक अर्थों में लेना चाहिए। संकीर्ण अर्थ करने से सारा मतलब खत्म हो जायेगा। अच्छा, वह तो हुए दान देने के लिए योग्य व्यक्ति, अब दान लेने योग्य कौन है ? दान के पात्र भी यज्ञ करने वाले ही हैं, अन्य नहीं। फिर इन माँग खाने वालों का क्या होगा ? क्या पुण्यात्माओं के हाथ का कौर खावेंगे तो तर जावेंगे ? इस प्रकार की धारणा भी गलत है। श्लोक में स्पष्ट कहा है कि मांग खाना केवल पेट की 'खोह' भरने के लिए है, केवल जीवन बिताने के लिए है। इसमें कोई पुरुषार्थ नही है। अधिक से अधिक इतना कह सकते हैं कि इसमें पुण्य नहीं तो पाप भी नहीं है। किन्तु इससे जीवन सार्थक कभी नहीं हो सकता।

श्लोक २४

गंगातरंगकणशीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ॥

पदच्छेद

विद्याधराध्युषित = विद्याधर+अध्युषित
यत्सावमान = यत् + स + अवमान

पदान्वय

गंगातरंग कण शीकर शीतलानि
विद्याधर अध्युषित चारु शिला तलानि
हिमवतः स्थानानि प्रलयम् गतानि किम्
यत् मनुष्याः स अवमान पर पिण्ड रताः

शब्दार्थ

गंगा तरंग	=गंगाजी की लहरों के
कण शीकर	=छींटों की फुहार से
शीतलानि	=ठंडाये हुए (तथा)
विद्याधर	=देवता अथवा विद्वानों से
अध्युषित	=विराजने वाले
चारु	=सुन्दर
शिला तलानि	=चट्टानों वाले
हिमवतः	=हिमालय के स्थान
प्रलयम् गतानि	=विनष्ट हो गये
किम्	= क्या
यत्	=जो, जिसके कारण
मनुष्याः	=लोग
स अवमान	=अपमान के साथ
पर पिण्ड	=पराये कौर या टुकड़े के लिए
रताः	=लालायित रहते हैं

भावार्थ

क्या हिमालय पर्वत के वह स्थान एकदम नष्ट हो गये, जहां गंगा जी सदा झर झराती रहती हैं और जिसकी फुहारों से वह स्थान सदा शीतल बने रहते हैं, तथा वह बड़ी बड़ी चट्टानें जिन पर देवता लोग भी विराजा करते हैं, एकदम विनष्ट हो गये ? फिर क्यों लोग इस अपमान कारक पराये कौर के लिए लालायित रहते हैं ?

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में एक प्रकार से भिक्षा-वृत्ति की सम्मति दी गयी थी, किन्तु उसे श्रेष्ठ कदापि नहीं कहा गया । इस श्लोक में यही बताया गया है कि भिक्षा मांगने की अपेक्षा कौन-सा काम उत्तम होगा ? एक ओर हिमालय

पर्वत पर गंगा के किनारे किसी मनोहर स्थान पर बैठ जाना, जहाँ आनन्द ही आनन्द है, जो सदा से हैं और सदा बने रहेंगे। कम से कम जब तक मनुष्य रहेगा तब तक वह भी बने रहेंगे। दूसरी ओर घर-घर भीख मांगना और पग-पग पर अपमान सहना है। इसीलिए इस श्लोक में एकदम झुंझला कर कहा है—क्या गंगा जी के तटवर्ती वह चटट्ानें मिट गयीं, जो इन झूठे टुकड़ों के लिए लोग लार टपकाया करते हैं? अर्थात् दर-दर ठोकरें खाना छोड़ कर सीधे हिमालय की ओर बढ़ना चाहिए। वहां पर एक ओर मान-हानि नहीं है तो दूसरी ओर मानसिक शान्ति का साम्राज्य है।

मनुष्य के लिए तीन चीजें जरूरी हैं—भोजन, छाजन और आसन। इन तीनों में पहला दरजा किसका है? साधारणतया पेट के लिए खाना पहले, फिर तन ढाँकने के लिए कपड़ा और सब के बाद सिर छिपाने को जगह। किन्तु इस श्लोक में सबसे अन्तिम आवश्यकता को अव्वल स्थान दिया गया है। ऐसा क्यों? वास्तव में यहां पर ऊपर की तीनों वस्तुओं में से किसी को भी प्रधानता नहीं दी गयी है, बल्कि एक चौथी ही व्यवस्था है। वह व्यवस्था है मानसिक शान्ति की जिसके बिना बाकी सब बेकार हैं, और जिसके अभाव में न खाना ही अच्छा लगे, न कपड़ा और घर भी काटने दौड़े। फिर वैराग्य में इसकी विशेषता और बढ़ जाती है। यज्ञ-हवन भजन-भाव वाले स्थानों में एकांत वास की अधिक महत्ता बतायी गयी है। तो क्या सबको हिमालय में जा बसना चाहिए? नहीं, सभी लोग वहाँ नहीं जाएँगे। अगर जाएँ तो हिमालय भी वैसा ही हो जाएगा जैसा सारा देश। कहीं जाएँ, उद्देश्य तो रमणीयता तथा एकान्त का है। देश भर में नदी, नाले, झरने, पुखरे आदि जगह-जगह हैं। जहां रम जाएँ उसी स्थान को रमणीक बना लें। देश के किसी भी स्थान में जहाँ किसी साधु-सन्त की कुटिया या आश्रम दीख पड़ता है वहाँ चारों तरफ के दृश्य में अपना अनोखा-पन होता ही है। यही उन सन्तों का मनोहर हिमालय है। इसी प्रकार सभी लोग कर सकते हैं। हरा-भरा दृश्य है, शीतल-छाया है, ठंडा-जल है, सुन्दर कुटी है और उसमें शान्ति और सुख है।

माना कि ऐसे व्यक्तियों के लिए खाना-पीना गौण है, पर उसका भी तो

कुछ होना ही चाहिए । सो इसकी चर्चा अगले श्लोक में है ।

श्लोक २५

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृताः वल्कलिन्यश्च शाखाः
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखाप्तस्वल्पवित्तस्मयपवनवशान्नर्तितभ्रूलतानि ॥

पदच्छेद

प्रलयमुपगता = प्रलयम् + उपगता
वल्कलिन्यश्च= वल्कलिन्यः + च
प्रसभगपगता = प्रसभम्+अपगता
दुःखाप्त = दुःख+ आप्त
वशान्नर्तित = वशात् + नर्तित

पदान्वय

कन्दरेभ्यः कन्दाः प्रलयम् उपगता किम्; गिरिभ्यः निर्झराः वा, तरुभ्यः सरस फल भृताः च, वल्कलिन्यः, च शाखाः प्रध्वस्ता, यत् प्रसभम् अपगत प्रश्रयाणाम् खलानाम् दुःख आप्त अल्प वित्त स्मय पवन वशात् नर्तित भ्रूलतानि मुखानि वीक्ष्यन्ते

शब्दार्थ

कन्दरेभ्यः	= (क्या) पहाड़ों की कंदराओं में	कन्दाः	= कन्दमूल आदि
		प्रलयम्	= विनाश को

उपगता	=प्राप्त हो गये,
गिरिभ्यः	=पहाड़ों में
निर्झरा वा	=झरने भी
प्रलयम् उपगता	=नष्ट हो गये
वा	=या
तरुभ्य:	=पेड़ों में
सरस फल	=रस भरे फलों को
भृताः	=धारण करने वाली
च	=और
वल्कलिन्यः	=छाल या बल्कल वाली
शाखाः	=शाखायें, डालियां
प्रध्वस्ता	=ध्वंस हो गये
यत्	=जो, जिस कारण
प्रसभम्	=एकदम
अपगत	=छूटे हुए
प्रश्रयाणाम्	=विनय वाले (अर्थात् घमंडी)
खलानाम्	=नीचों के
दुःख आप्त	=कठिनता से प्राप्त किये हुए
अल्पवित्त	=थोड़े से धन के
स्मय	=घमंड की
पवन वशात्	=हवा के कारण
नर्तित	=नाचने वाले
भ्रूलतानि	=लता जैसी भवें वाले
मुखानि	=मुखों को
वीक्ष्यन्ते	=देखते हैं, ताकते है।

भावार्थ

क्या पहाड़ी खोहों के कंदमूल खत्म हो गये ? क्या वहां के झरने सूख गये ? क्या जंगलों में पेड़ों का फलना फूलना बन्द हो गया ? क्या उनकी डालों पर हरी हरी छाल नहीं रही ? फिर क्या कारण है कि लोग ऐसे नीचों का मुंह ताका करते हैं जिन्हें बहुत ही कठिनाइयों के बाद थोड़ा सा धन मिलते ही इतना घमंड हो गया है कि सदा उनके तेवर चढ़े ही रहते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि पहाड़ी प्रदेश बड़े रमणीक तथा शान्ति प्रद होते हैं। विरक्तों को दूसरों के दरवाजे पर न जा कर पहाड़ों और जंगलों में ही जा बसना चाहिए। इस श्लोक में बताया है कि वहाँ परु खाने पीनेकी भी कमी नहीं हैं। जंगल कंदमूल आदि से भरे पडे है। पहाडी झरनों

में स्वच्छ तथा शीतल जल बहा करता है। पेड़ों की छाल से सुन्दर वस्त्र बन सकते हैं। इस प्रकार जंगलों में खाना, पीना और बाना तीनों ही अनायास प्राप्त हो सकते हैं। इसके विपरीत बस्ती के बीच में अनेकों प्रकार की कठिनाइयाँ तथा दुःख भरे पड़े हैं। इस श्लोक में भी यही झुंझलाहट दिखाई गयी है तथा घृणा उगली गयी है। झुंझलाहट उन मूर्ख भिक्षार्थियों पर जो अरण्यों के आनन्द की ओर नहीं देखते, और घृणा उन धनियों की ओर जो किसी तरह थोड़ा-धन पाते ही किसी को कुछ नही समझते। भिक्षार्थियों की ओर संकेत है कि जंगलों में कन्दमूल, झरनों में जल और पेड़ों में फल फूल और छाल आदि कभी खत्म नहीं होते और किसी कठिनाई या अपमान के बिना ही मिल जाते हैं। इसके विपरीत धनियों को अनेकों दुःख उठाने के बाद थोड़ा बहुत धन मिल जाता है और सदा उन्हें उसके समाप्त हो जाने का डर लगा रहता है। इसलिए अनेकों दुःखों के साथ ही उसे बचा रखते हैं। ऐसे लोगों के हाथों दो कौर अन्न के लिए अपमान सहना लज्जा की बात है।

श्लोक में धनी के साथ कुछ विशेषण लगा कर स्थिति को और भी स्पष्ट किया गया है। धन कैसा है ? बहुत थोड़ा है, और बहुत दुःखों के साथ इकट्ठा हुआ है। अपने साथ-साथ दूसरों को भी दुःख देने के बाद धन जुटता है, वह भी थोड़ा सा। यह अधिक धनवानों पर लागू नहीं होता, सो बात नहीं है। वहाँ तो और भी अधिक दुःखों का समावेश है और चाहे जितना अधिक धन सम्पत्ति एकत्र हो जाए, इस विस्तृत सृष्टि में वह नगण्य ही है। परन्तु श्लोक में सिरे से ही धनियों की निन्दा नहीं की गयी है। उन ही धनियों के प्रति घृणा प्रकट की गयी है जो नीच प्रवृत्ति के हैं, जिन को थोड़ा धन मिलते ही भारी घमंड हो जाता है। किन्तु जो धनी विनयशील हों, मर्यादा की रक्षा करते हों, अहंकार रहित हो कर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हों और धनोपार्जन के साथ विभाजन की भी व्यवस्था करते हों उनके लिए निराशा की बात नहीं है।

श्लोक २६

पुण्यैर्मूलफलैस्तथा प्रणयिनीं वृत्ति कुरुष्वाधुना
भूशय्यां नवपल्लवैरकृपणैरुत्तिष्ठ यावो वनम् ।
क्षुद्राणामविवेकमूढमनसां यत्रेश्वराणां सदा
वित्ताव्याधिविकारविह्वलगिरां नामापि न श्रूयते ॥

पदच्छेद

पुण्यैर्मूल = पुण्यैः + मूल
फलैस्तथा = फलैः + तथा
कुरुष्वाधुना = कुरुष्व + अधुना
नवपल्लवैरकृपणैरुत्तिष्ठ = नवपल्लवैः + अकृपणैः + उत्तिष्ठ
क्षुद्राणामविवेक = क्षुद्राणाम् + अविवेक
यत्रेश्वराणाम् = यत्र + ईश्वराणाम्
नामापि = नाम + अपि

पदान्वय

प्रिये उत्तिष्ठ ! वनम् यावो, पुण्यैः मूलफलैः प्रणयिनीम् वृत्तिम् कुरुष्व अधुना अकृपणैः नव पल्लवैः भूशय्याम् कुरुष्व;
यत्र अविवेक मूढ मनसाम्, सदा वित्तव्याधि विह्वलगिराम्,
क्षुद्राणाम् ईश्वराणाम् नाम अपि न श्रूयते

शब्दार्थ

प्रिये	=प्यारी	मूल फलैः	=कंद मूल और फलों से
उत्तिष्ठ	=उठ	प्रणयिनीम्	=सुखदायी
वनम् यावः	=वन में चलें	वृत्तिम्	=जीविका
अधुना	=अब	कुरुष्व	=कर ले
पुण्यैः	=पवित्र		

(तथा	=और)
अकृपणैः	=उदार
नव पल्लवैः	=कोमल पल्लवों से
भू शय्याम्	=भूमि का बिस्तरा
(कुरुष्व)	=(बना ले)
यत्र	=जहां
अविवेक	=अविचार से
मूढ मनसाम्	=जिनकी बुद्धि मारी गयी है,
सदा	=हमेशा
वित्त व्याधि	=धन रूपी रोग के
विकार	विकार से
विह्वल गिराम्	=वाणी जिनकी बेहाल हो गयी है, जिनके जबान पर काबू नहीं रहा, (ऐसे)
क्षुद्राणाम्	=ओछे
ईश्वराणाम्	=धनी यजमानों के,
नाम अपि	=नाम भी
न श्रूयते	=नहीं सुनायी पड़ते।

भावार्थ

प्यारी उठ ! चलो, अब हम वनों में वास करें। वहीं कन्दमूल और फलों पर निर्वाह करें और जमीन पर ताजी कोमल पत्तियों से नरम नरम गद्दा बनाकर आराम करें। वनों में इन ओछे यजमानों का नाम निशान भी नहीं रहेगा, जिन्हें धन क्या मिला भारी रोग हो गया है। धन के कारण उनकी विचारशक्ति नष्ट हो गयी है और उनके मुंह से सीधी बात भी नहीं निकलती।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में भिन्न-भिन्न पहलुओं से धन की निन्दा तथा धन की प्रशंसा करने के बाद इस श्लोक में निर्णय पर पहुँचते हैं कि याचना वृत्ति छोड़ना है और बन में जाकर बसना है। शब्द 'प्यारी' पत्नी को लक्ष्य कर के कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि पिछले सभी श्लोकों में किसी वैरागी या सन्यासी की बात नहीं कही गयी है। सब कुछ बाल-बच्चे वाले संसारी पुरुष के लिए ही कहा गया है। इस दशक का पहला २१वां श्लोक भी इसी बात की पुष्टि करता है। २३वें श्लोक में भी यही है—बराबर वालों के बीच में दीन-हीन हो कर रहना ठीक नहीं है—इस सब से यही सिद्ध होता है कि ये सब श्लोक बाल-बच्चे वाले गृहस्थ के लिए ही कहे गये हैं।

किन्तु इसका यह कदापि अभिप्राय नहीं है कि सभी गृहस्थों को घर द्वार छोड़ कर बनों में जा बसना है। यह केयल उन लोगों के लिए है जिन में वैराग्य की भावना जागृत हो चुकी है। यदि पुरुष को वैराग्य हो जाए तो स्त्री, बच्चों को अनाथ और अनाश्रित छोड़ कर चल खड़ा होना उचित नहीं है। स्त्री को भी वन-जीवन के लिए तैयार करना चाहिए, या उनके लिए सम्मान पूर्वक जीवन बिताने का कोई उपाय करना चाहिए। 'फलों पर जीवन बिताना', 'पत्तियों का बिस्तर बनाना' ये शब्द स्त्री को लक्ष्य कर के कहे गये हैं। अर्थात् स्वयं उस पुरुष को भोजन-छाजन की कोई परवाह नहीं है, तो भी स्त्री को इन सभी वस्तुओं की चिन्ता रहती है। इसीलिए उसे सान्त्वना दी गयी है कि बन में भी सुख-सामग्री की कमी नहीं है। बल्कि इससे अच्छी और अधिक मात्रा में मौजूद है। शब्द "पुण्य-प्रणयिनी" से यह जताने की चेष्टा की गयीं है कि वन में प्राप्त भोजन में पुण्य भी है और सुख भी है। अर्थात् शहर. बस्ती का भोजन पापमय तथा दुःखमय होता है। कारण,जिस तरह के लोगों से मांगना पड़ता है, वह निश्चय ही पाप की कमाई है और जिस ढंग से मांगना या पाना पड़ता है उससे दुःख ही होता है। इसका यह अभिप्राय हो सकता है कि फूल-फल पवित्र भोजन है और फूल पत्तियों के गदेलों पर बड़ा सुख मिलता है।

श्लोक में धन को रोग बताया गया है। सन्निपातादि रोगों में मनुष्य बड-बडाता है और बुद्धि काम नहीं करती। साधारणतया अच्छे स्वभाव वालों में भी धन मिलने पर अच्छे बुरे की तमीज जाती रहती है और उल्टे-सीधे बकने लगते हैं। बनों में इस प्रकार के धनियों का नाम भी सुनाई नही पडेगा, क्योंकि बनों में धनी नहीं बसते। वे बस्तियों में मनुष्यों के बीच में रहते हैं और उन्हीं की मिहनत में से बचा-बचा कर धन बटोरते हैं। 'नाम भी न सुनोगे, इसका मतलब है कि वनों में धनियों का नाम लेवा भी नहीं मिलेगा। धनियों के पिछलग्गू बन कर पेट पूजा करनेवाले भी बस्तियों ही के भीतर रहते हैं।

श्लोक २७

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम् ।
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी
सहंते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ।

पदच्छेद

स्वेच्छा =स्व + इच्छा
वनमखेदम्=वनम् + अखेदम्

पदान्वय

प्रति वनम् अखेदम् स्व इच्छा लभ्यम् क्षिति रुहाम् फलम्
स्थाने स्थाने पुण्य सरिताम् शिशिर मधुरम् पयः
सुललित लता पल्लव मयी मृदु स्पर्शा शय्या
तदपि कृपणा धनिनाम् द्वारि संतापम् सहन्ते

शब्दार्थ

प्रति वनम् =हरएक वन में
अखेदम् =बिना कष्ट के
स्व इच्छा लभ्याम्=अपने आप या जी भर प्राप्त होने वाले
क्षितिरुहाम् फलम्= पेड़ों पर फल हैं,
स्थाने स्थाने = जगह जगह
पुण्य सरिताम् =पवित्र नदियों में
शिशिर =ठंडा
मधुरम् =मीठा
पयः =पानी (है),
सुललित =अत्यंत कोमल
लता पल्लव मयी=लताओं तथा नयी कोंपल से भरा
मृदु स्पर्शा =छूने में बहुत मुलायम
शय्या =बिस्तर (है),
तदपि =तब भी (लोग)
कृपणाः =लालची, कंजूस
धनिनाम् द्वारि = धनियों के द्वार पर
सन्तापम् सहन्ते = दुख सहते हैं ।

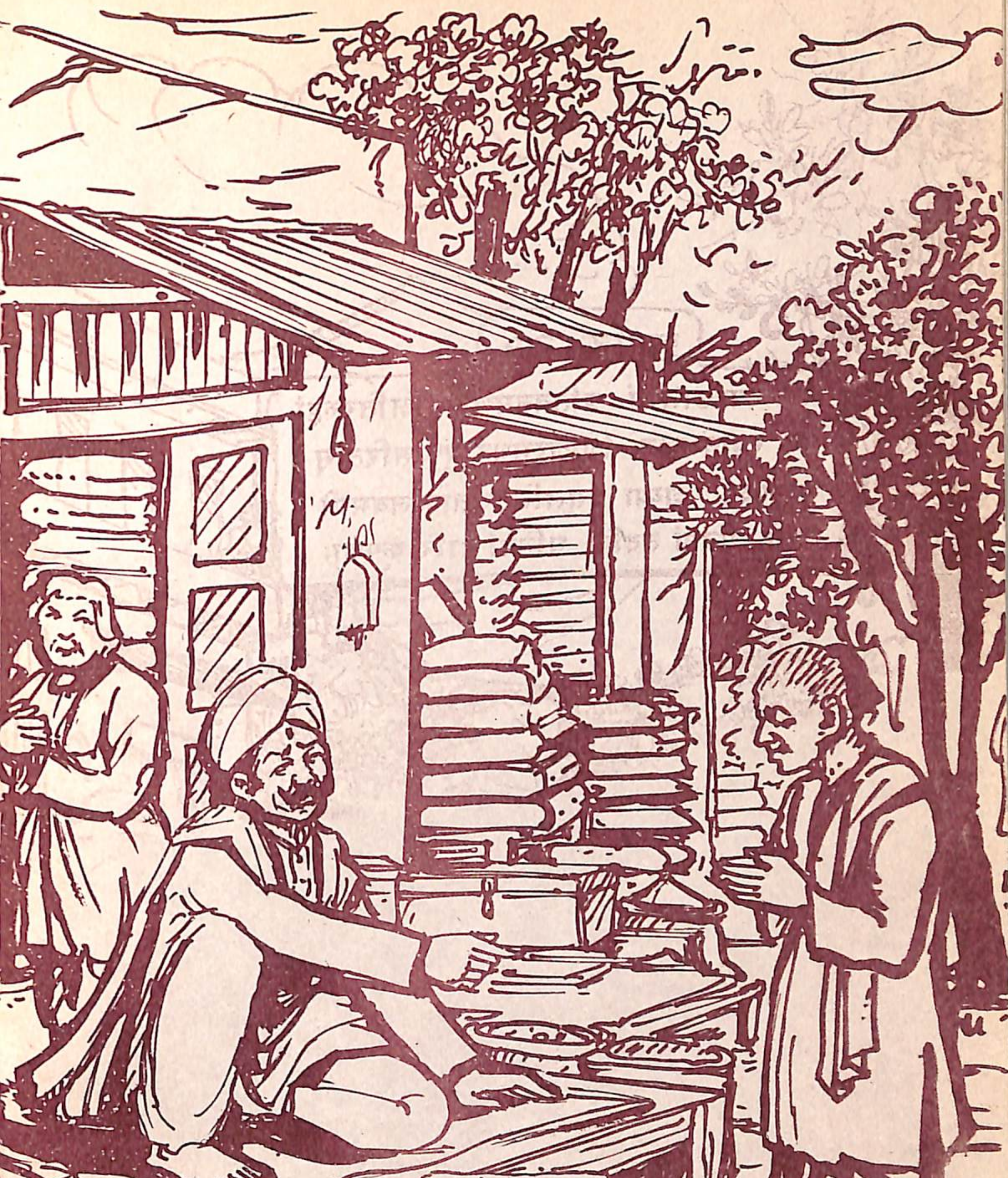

श्लोक २५

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृताः वल्कलिन्यश्च शाखाः
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखाप्तस्वल्पवित्तस्मयपवनवशान्नर्तितभ्रूलतानि ॥

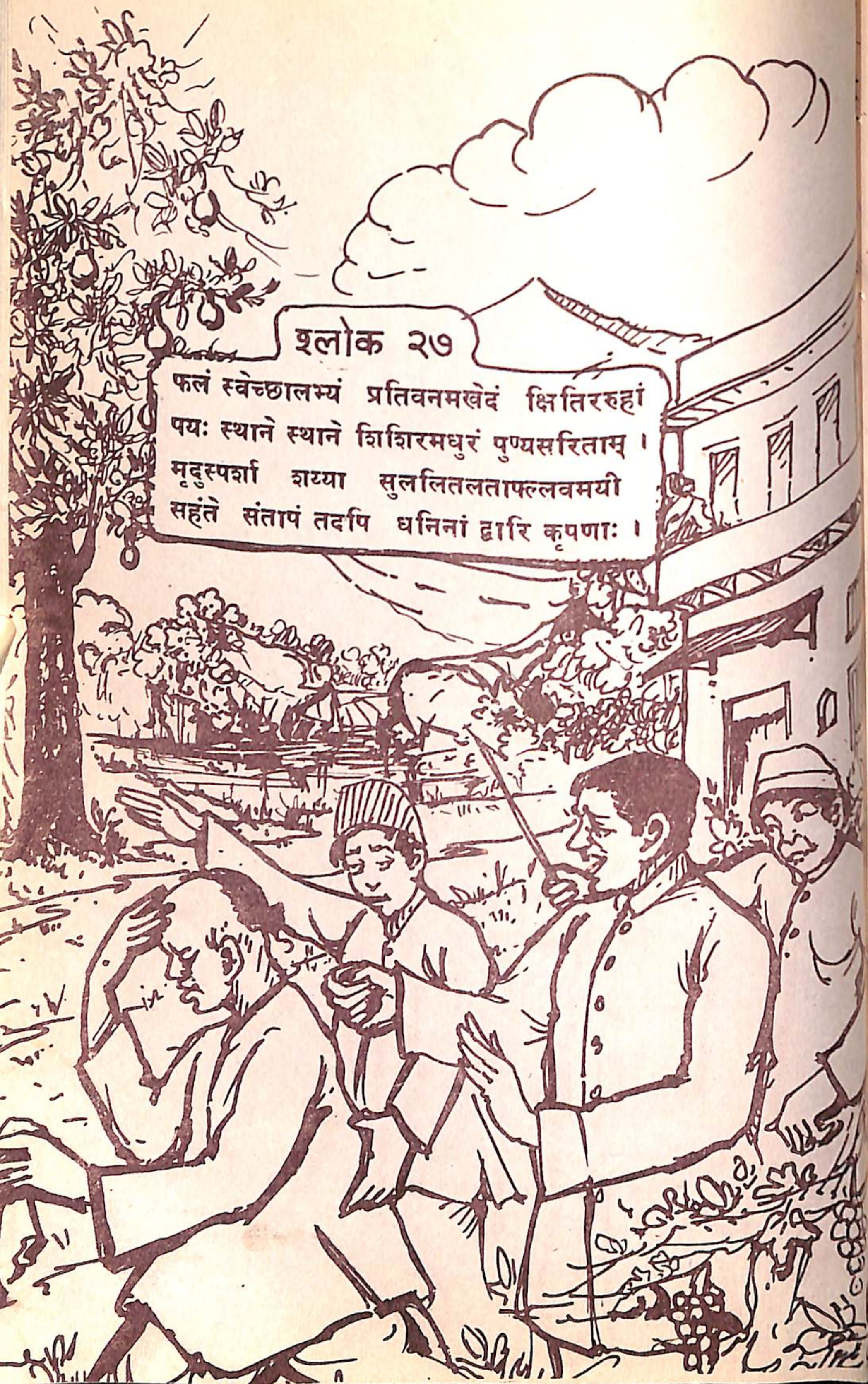

श्लोक २७

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम् ।
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी
सहंते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ।

भावार्थ

बन बन में पेड़ों पर फल लदे है। जगह जगह नदी नालों में ठंडा और मीठा, जल भरा है। सभी जगह मुलायम घास पात बिछी है। तिस पर भी दीन जन धनियों के दरवाजे पर पड़े पड़े दुख सहते है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक की बातों को ही दूसरे रूप में यहाँ कहा गया है। किसी भी बन में खाने-पीने और रहने के लिए किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। जंगलों-पेड़ों और पहाड़ीं झरनों से जी भर खा-पी सकते हैं। सारी जमीन खुली पड़ी है, जहां चाहें आनन्द से लेट सकते हैं। दुनिया में धनियों के पास भी इन वस्तुओं की कमी नहीं है। किन्तु दोनों में भारी अन्तर है। धनी तो एक आध इधर-उधर बिखरे रहते हैं। इसके विपरीत दुखियों से दुनिया भरी पड़ी है। उन में जो थोड़े से किसी धनी के पास पहुंच भी जाते हैं. वह भी उसके दरवाजे सड़ा करें भले ही, पर समय पर उनकी भी हाजत पूरी नहीं हो सकती। जंगलों में यह बात नहीं है। जिस पेड़ से चाहें, जिस समय चाहें और जितना चाहें, फल तोड़ सकते हैं। कोई टोकने वाला नहीं। यही बात मधुर-पान और मुलायम बिछावन की है।

दूसरी ओर बस्ती हे। बस्ती के धनियों और वन के पेडों में एक भारी अन्तर और है। जो मनुष्य खुद दुःख झेल कर और दूसरों को दुःख देकर धन इकट्ठा करता है, वह खुले हाथों दूसरों को बांट नहीं सकता। यदि बाँट दे तो दो ही दिन में हाथ खाली हो जाएगा, बल्कि ऐसे व्यक्ति के पास पहले तो धन इकट्ठा होगा ही नहीं। इसलिए स्वभावतः याचकों को धनियों के पास मुंह माँगी नहीं मिल सकती। (राजा बलि और हरिश्चन्द्र जैसे दानियों की बात न्यारी है। बलि और हरिश्चन्द्र तो युग-युगान्तर में एक ही एक हुए हैं। उनको भी जीते जी जो सुख मिला है सो जगजानी बात है। बलि को नीचे पाताल में दबा दिया गया और हरिश्चन्द्र को ऊपर स्वर्ग भेज दिया गया। अर्थात् दोनों में से एक को भी जीता न छोड़ा।)

पेडों और नदियों की स्थिति एक दम दूसरी है। उनका अस्तित्व ही दूसरों के उपकार के लिए है। यह आक्षेप हो सकता है कि सभी लोग वनों में जाएँ तो वन भी बियावान हो जाएँ। यहां पर विरक्तों की बात हो रही है। सभी लोग विरक्त नहीं हो सकते। यदि हो जाएं तो इससे बड़ी बात और क्या चाहिए। तब तो जंगल में मंगल रहेगा तो बस्तियों में भी बन्सी बजेगी। लोग जहाँ रहेंगे वहीं मौज से रहेंगे।

श्लोक २८

ये वर्त्तन्ते धनपतिपुरः प्रार्थनादुःखभाजो
ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेपपर्य्याप्तबुद्धेः
तेषामन्तः स्फुरितहसितं वासराणि स्मरेयम्
ध्यानच्छेदे शिखरिकुहरग्रावशय्यानिषण्णः ॥

पदच्छेद

चाल्पत्वं = च + अल्पत्वम्
विषयाक्षेप=विषय +आक्षेप
तेषामन्तः =तेषाम्+ अन्तः

पदान्वय

ये धनपति पुरः प्रार्थना दुःख भाजः वर्तन्ते
ये च विषय आक्षेप पर्याप्त बुद्धेः अल्पत्वम् दधति
शिखरि कुहर ग्राव शय्या निषण्णः ध्यान च्छेदे
अंतः स्फुरित हसितम् तेषाम् वासराणाम् स्मरेयम्

शब्दार्थ

ये =जो लोग
धनपति पुरः =धनियों के आगे
प्रार्थना दुःखभाजः =याचना के दुखों को सहते हुए
वर्तन्ते =रहते हैं
ये च =और जो
विषय आक्षेप =विषय के आकर्षण से
पर्याप्त बुद्धेः =संकुचित बुद्धि से
अल्पत्वम् वधति =नीचता को प्राप्त हो रहे है,
शिखरि कुहर =पर्वत के खोहों में
ग्राव शय्या =चट्टानों के बिस्तर पर
निषण्णः =बैठे हुए
ध्यान च्छेदे —ध्यान के समाप्त होने के बाद
अन्तः =भीतर से
स्फुरित हसितम् =उठने वाली हँसी के साथ
तेषाम् वासराणाम्=उनके (बुरे) दिनों को-दुर्दशा को
स्मरेयम् =याद करता हूं।

भावार्थ

जो लोग धनियों के दरवाजों पर पड़े-पड़े सड़ रहे हैं और जिनकी बुद्धि विषयों में फँस जाने के कारण कुंठित हुई जा रही है, अपने ध्यानादि से निबटने पर पहाड़ की खोहों में एक चौड़ी चट्टान पर बैठे-बैठे इन दीन-जनों की दुर्दशा की बात सोच-सोच कर मुझे हँसी आती है।

विशेषार्थ

वन-जीवन की प्रशंसा करने के बाद इस श्लोक में वन-पर्वतों में तपस्या करने वालों और उदर पोषण के लिए धनियों की शरण लेने वालों का मिलान किया गया है।

दिन भर के कामों से छुट्टी पाने पर संध्या समय स्वाभावतः मनुष्यों को पीछे की बातें याद आ जाती हैं। यजमान को दिन भर निहारने के बाद याचक को शाम को निराशा, ग्लानि, तथा दुःखों का अनुभव होता है। तपस्वी को इसके विपरीत दिन भर के ध्यान भजन से आनन्द का अनुभव होता है। याचक विषय सुख के पीछे अन्धा बना रहने के कारण उसकी बुद्धि दिन पर दिन कुंठित होती जाती है। कोई ऊँची बात वह सोच नहीं सकता। उल्टे और भी अधिक नीच उपाय खोजने लगता है। उसके मन में ईर्ष्या, निन्दा,चोरी आदि की भावनाएँ उठने लगती हैं। इसी को श्लोक में 'वृद्धि का अल्पत्व प्राप्त होना' कहा गया है। इन ही तुच्छ विचारों तथा नीच कार्यों में उनके दिन ढलते जाते हैं। अर्थात् वह बूढ़ा होने लगता है तब उसमें न अच्छे कामों के करने की शक्ति होती है और न बुरे कामों का साहस रह जाता है। परिणाम यह होता है कि उसका और भी अधः पतन होता है। ऐसी दशा में वह कभी सोच भी नहीं सकता कि उसका उद्धार कैसे होगा। वह यह अनुभव ही नहीं कर सकता कि तपस्वी लोग कैसे आनन्द का जीवन बिताते हैं।

इसके विपरीत तपस्वी को दिन भर ध्यान आदि में मग्न रहने के बाद सध्या के समय उसका मन एक दम शान्त तथा प्रफुल्लित रहता है। स्वभावतः उसे भी विश्राम के समय दूसरे लोगों की याद आ जाती है। उस पर उसे हँसी भी आती है। किन्तु यह हँसी द्वेष या तिरस्कार के कारण नहीं बल्कि उनकी नादानी पर है। कहीं तो यह हाल था कि दूसरे लोग उस पर हँसा करते थे और कहाँ अब यह स्थिति है कि उसे ही दूसरों पर हँसी आती है। जीवन के परिवर्तन से इतना बड़ा लाभ सांसारिक दृष्टि से ही हुआ। परन्तु तपस्वी बने और दूसरों पर हँसे, यह उसे शोभा नहीं देता। परन्तु ऐसे लोग दूसरों की अपेक्षा अपनी ही बातें अधिक सोचा करते हैं। उन्हें अपनी पिछली बातों की याद आ जाना स्वाभाविक है। वह अपने उन दिनों की आज के दिनों से तुलना करता है और हँस पड़ता है कि वह पहले कैसा मूर्ख था जो ऐसे आनन्द के जीवन को न समझ कर याचना जैसे दीन-हीन जीवन में पड़ा था।

श्लोक २९

ये सन्तोषनिरन्तरप्रमुदितास्तेषाँ न भिन्ना मुदो
ये त्वन्ये धनलुब्ध संकुलधियस्तेषां न तृष्णा हता
इत्थं कस्य कृते कृतः स विधिना तादृक्पदं संपदाम्
स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुर्न मे रोचते ।

पदच्छेद

मुदितास्तेषाम् = मुदिताः + तेषाम्
येत्वन्ये = ये तु + अन्ये
धियस्तेषाम् = धियः + तेषाम्
स्वात्मन्येव = स्व + आत्मनि + एव
मेरुर्न = मेरुः + न

पदान्वय

ये सन्तोष निरन्तर प्रमुदिताः तेषाम् | मुदः न भिन्ना
ये तु अन्ये धन लुब्ध संकुल धियः तेषाम् तृष्णा न हता
इत्थम् तादृक्पदम् सम्पदाम् मेरुः विधिना कस्य कृते कृतः
स्वात्मनि एव समाप्त हेम महिमा मेरुः मे न रोचते

शब्दार्थ

ये	=जो लोग
सन्तोष	=लालच न करके जो प्राप्त हो उसी पर तृप्त हो कर
निरन्तर	=सदा
प्रमुदिताः	=प्रसन्न रहते हैं
तेषाम्	=उनसे
मुदः	=आनन्द
न भिन्ना	=अलग नहीं होता
ये तु	=और जो
अन्ये	=दूसरे लोग
धन लुब्ध	=धन के लोभ से
संकुल धियः	=आकुल मन वाले हैं
तेषाम्	=उनका
तृष्णा	=लालच
न हता	=नहीं मिटता,

इत्थम्	=ऐसी दशा में
तादृक् पदम्	=उस प्रकार की, उतनी बड़ी
सम्पदाम्	=धन राशि
मेरु	—मेरु (सोने का पर्वत)
स विधिना	=उस ब्रह्मा द्वारा
कस्य कृते	=किसके लिए
कृतः	=बनाया गया है,
स्व ग्रात्मनि एव	=ग्रपने ही में
समाप्त	=सीमित रहने वाला
मेरुः	=मेरु पर्वत
मे	=मुझे
न रोचते	=नहीं रुचता

भावार्थ

जो सन्तोषी हैं उन्हें किसी वस्तु की कमी के कारण उनके ग्रानन्द में टोटा नहीं पड़ता—कुछ न पाने पर भी सदा मगन रहते हैं। जो लालची हैं उनका लालच कभी पुरता ही नहीं। सब कुछ पास होते हुए भी उनका लालच बराबर बढ़ता ही रहता है। संतोषी को कभी धन की इच्छा ही नहीं होती ग्रौर लोभी को सोने के पहाड़ पर जा बैठने पर भी लालच बना ही रहता है। समझ में नहीं ग्राता कि फिर किस लिए ब्रह्मा ने सोने के मेरु पर्वत को रचा है, जो न संतोषी के काम की वस्तु है ग्रौर न लोभी का काम ही पूरा करता है ग्रर्थात् धन एकदम निकम्मी वस्तु है।

विशेषार्थ

"खाने कपड़े भर को मिल जाये, हमें कुछ ग्रौर नहीं चाहिए, एक मकान बन जाए, बस इससे बढ़ कर हम कुछ नहीं चाहते, एक मोटर खरीदें तो फिर ग्रानन्द से रहें," इस प्रकार कहने वाले सभी लोग दुनिया को धोखा देते हैं ग्रौर ग्रपने ग्राप को धोखा देते हैं। इस श्लोक में स्पष्ट कह दिया है कि लालच का कहीं ग्रन्त नहीं है। सोने का पहाड़ मिल जाए तब भी लालच नहीं मिटेगा। कहा जाता है कि मेरु संसार में सबसे बड़ा पर्वत है, सारा का सारा सोने का बना है ग्रौर उसमें हीरे, जवाहर ग्रादि दुनिया भर की सम्पत्ति भरी पड़ी है। इतनी बड़ी सम्पत्ति भी मिल जाए तब भी मनुष्य यही चाहेगा कि कुछ ग्रौर मिले। परिणाम यह होता है कि सम्पत्ति के साथ शान्ति के बदले ग्रशान्ति ही बढ़ती है।

कुवेर बन बैठने में स्वयं उस धनी को शान्ति मिलती नहीं, उल्टे उसकी अशान्ति बढ़ती है। अकेले उस धनी की शान्ति भंग होवे तो अधिक चिंता की बात नहीं थी, परन्तु वह समूचे समाज की शान्ति में बाधक बन जाती है। अधिकतर लोगों की आशाओं पर पानी फेर कर ही अकेला धन-कुवेर बन सकता है। उन आशा भंग लोगों पर और भी अनेकों की आशाएं और आवश्यकताएं बंधी रहती हैं। इस प्रकार एक दुराशी धन कुबेर स्वयं अशान्त बन कर समाज की शान्ति भंग का कारण बनता है।

शान्ति का मार्ग बिल्कुल दूसरा है। वह है सन्तोष का मार्ग। सन्तोष और त्याग में अन्तर है। खाना, कपड़ा, मकान आदि को त्यागने की बात नहीं है। इन सबके साथ यदि सन्तोष भी रहे तो शान्ति रहेगी। इन सबके न होते हुए भी यदि सन्तोष रहे तो भी शान्ति मिलेगी। सन्तोष प्रधान है, धन नहीं। इसीलिए सन्तोष को परम धन कहा गया है।

श्लोक ३०

भिक्षाहारमदैन्यमप्रतिमुखं भीतिच्छिदं सर्वतो
दुर्मात्सर्यमदाभिमानमथनं दुःखौघविध्वंसनम्।
सर्वत्रान्वहमप्रयत्नसुलभं साधुप्रियं पावनं
शंभो सत्रमवार्यमक्षयनिधिं शंसंति योगीश्वराः ॥

पदच्छेद

भिक्षाहारमदैन्यमप्रतिमुखम् = भिक्षा + आहारम् + अदैन्यम् + अप्रतिमुखम्

मदाभिमान = मद + अभिमान
भीतिच्छिदन् = भीति + छिदम्

दु:खौघ=दु:ख+ओघ
सर्वत्रान्वहमप्रयत्न=सर्वत्र+अनु+अहम्+अप्रयत्न
सत्रमवार्यमक्षयम्=सत्रम्+अवार्यम्+अक्षयम्

पदान्वय

भिक्षाहारम् अदैन्यम् अप्रति मुखम् सर्वत: भीति च्छिदम्
दु: मात्सर्य मद अभिमान मथनम् दु:ख ओघ विध्वंसनम्
सर्वत्र अनुअहम् अप्रयत्न सुलभम् पावनम् साधु प्रियम्
अवार्यम् अक्षयनिधिम् शम्भो सत्रम् योगीश्वरा: शंसन्ति

विशेषार्थ

भिक्षाहारम्	**=भिक्षा का भोजन**
अदैन्यम्	**=अपमान से रहित (है)**
अप्रतिमुखम्	**=बेजोड़ (है)**
सर्वतः	**=सभी जगह**
भीतिच्छिदम्	**=भय को दूर करने वाला है**
दुः मात्सर्य मद अभिमान दमनम्	**=बुरे मत्सर, मद और अभिमान को मिटाने वाला है**
दुःख ओघ	**=दुःखों के समूह को (सभी दुःखों को)**
विध्वंसनम्	**=नष्ट करने वाला है**
सर्वत्र	**=सब जगह**
अनु अहम्	**=प्रति दिन**
अप्रयत्नम्	**=बिना प्रयत्न के**
सुलभम्	**=सरलता से प्राप्त होने वाला है**
पावनम्	**=पवित्र है**
साधु प्रियम्	**=सन्त जनों को प्रिय है**
अवार्यम्	**=दुराने वाला नहीं है**
अक्षय निधिम्	**=कभी खत्म या खाली न होने वाला है**
शम्भो सत्रम्	**=(ऐसे) महादेव जी के अन्न क्षेत्र की**
योगीश्वराः	**=योगी-जन**
शंसंति	**=प्रशंसा करते हैं।**

भावार्थ

भिक्षावृत्ति से सम्मान की रक्षा होती है। यह बड़ी अनुपम वृत्ति है। इसके लिए मनुष्य को किसी का मुंह ताकना नहीं पड़ता। उसे किसी का डर नहीं है। साथ ही वह मान अहंकार आदि दुर्गुणों को

श्लोक २८

ये वर्त्तन्ते धनपतिपुरः प्रार्थनादुःखभाजो
ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेपपर्य्याप्तबुद्धेः
तेषामन्तः स्फुरितहसितं वासराणि स्मरेयम्
ध्यानच्छेदे शिखरिकुहरग्रावशय्यानिषण्णः ॥

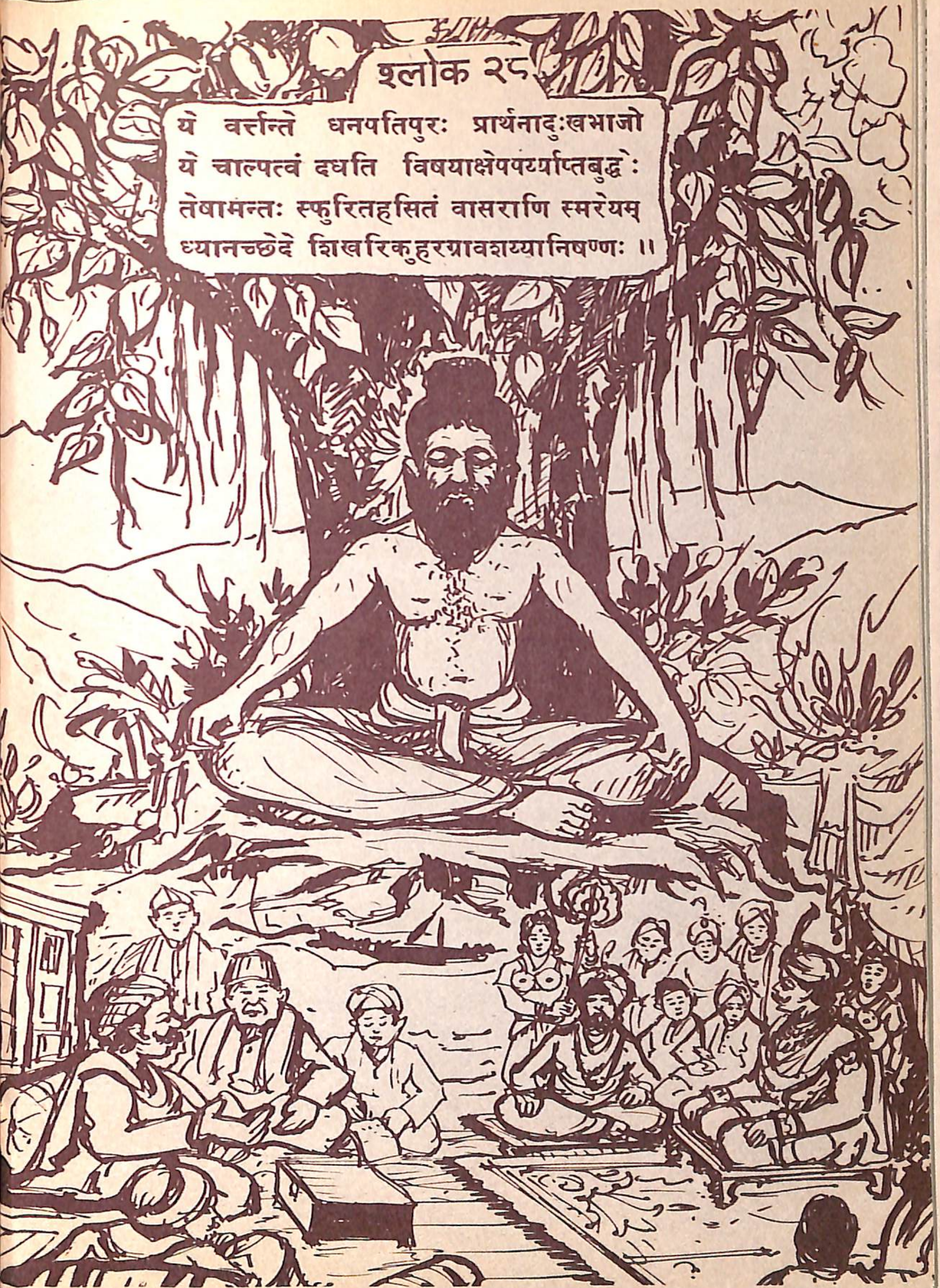

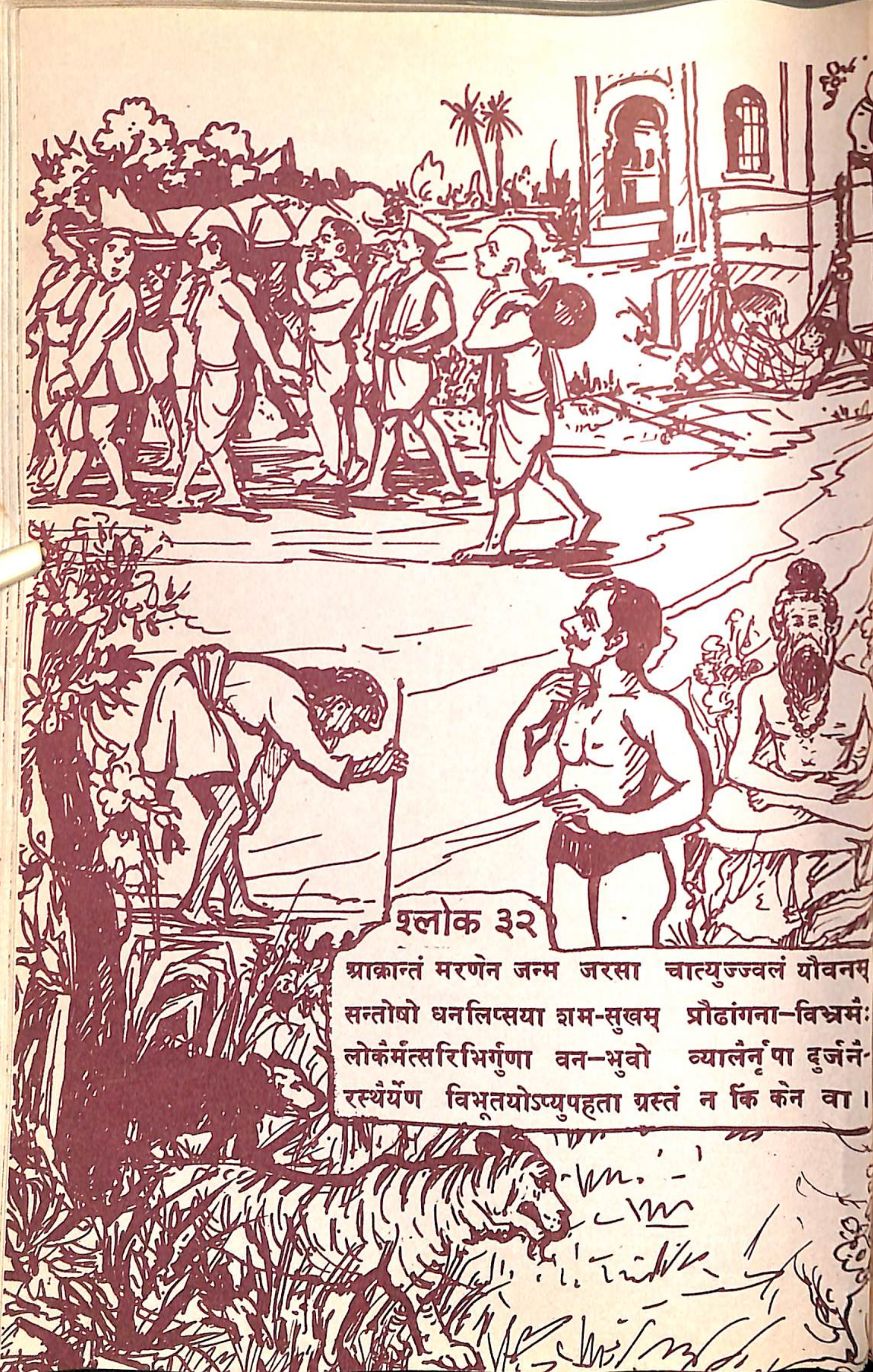

श्लोक ३२

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा चात्युज्ज्वलं यौवनम्
सन्तोषो धनलिप्सया शम-सुखम् प्रौढांगना–विभ्रमैः
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वन–भुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ।

नष्ट कर डालता है। बिना किसी परिश्रम के प्राप्त होता है और सदा प्राप्त होता है। इसीलिए योगीराज उसकी बारम्बार प्रशंसा करते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में वैराग्य की शिक्षा के साथ भिक्षा की निंदा की गयी थी। फिर जीवन निर्वाह कैसे हो? इसके लिए वनों में कन्दमूल और पहाड़ों में झरनों का पानी बताया था। बस्ती में भी रह सकते हैं। पीछे २३वें श्लोक में तपस्वियों की बस्तियों की चर्चा आयी है। इस श्लोक में बताया है कि भिक्षा में क्या-क्या गुण और लाभ हैं। इसका यह भी अभिप्राय निकलता है कि यदि भिक्षा में यह सब बातें न हों तो उसे भिक्षा नहीं कहना चाहिए। भिक्षा वही है जिसके लिए दीनता से माँगना न पड़े, किसी के अधीन न रहें, उसके लिए किसी प्रकार की सेवा या परिश्रम न करना पड़े, उसके न मिलने या छूट जाने का डर न रहे। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ-एक योग्य सन्त-सन्यासियों के लिए ऐसा प्रबन्ध हो सकता है। परन्तु ऐसे व्यक्तियों में भी अपने सम्मान के कारण अहंकार उत्पन्न न होना चाहिए। थोड़े बहुत पुराने संस्कार बाकी भी हों तो मिट जाने चाहिए। पर साथ ही दीनता के भाव भी मन में जगह न पावें। सम्मान हो या न हो, पर स्वाभिमान को धक्का तो लगना ही नहीं चाहिए। नहीं तो इससे आत्मा की अवनति होगी। अभिप्राय यह हुआ कि भिक्षावृत्ति आत्मिक उन्नति का साधन बने, बाधक नहीं। दु:खों का विनाश इसी अभिप्राय की ओर संकेत करता है। दु:ख से एकदम छुटकारा होना ही मोक्ष है। अत: भिक्षा आत्मिक उन्नति तथा मोक्ष का साधन है।

'भिक्षा' शब्द के अभिप्राय का एक दूसरा पहलू भी ध्यान देने योग्य है। ऊपर गिनाये गये गुण जिस किसी वृत्ति में हों वह सब ही भिक्षा में दाखिल हैं। वनों में कंद मूल और झरनों के जल में भी यही गुण हैं। इसलिए यह भी भिक्षा है। भिक्षा को मधुकरी भी कहते हैं। जिस प्रकार शहद की मक्खी सब फूलों से रस लेती है, किन्तु किसी फूल को नष्ट नहीं करती, उसी प्रकार जहां से भिक्षा लें उस व्यक्ति या वस्तु का ह्रास नहीं होना चाहिए और दूसरी ओर शहद भी इकट्ठा होता जाए, जिसे मक्खियां भी चखतीं हैं और मनुष्य भी खाते हैं।

यही नहीं, जिस समाज के अन्दर सब व्यक्तियों के लिए या कुछ खास व्यक्तियों के लिये इस प्रकार की व्यवस्था हो वह भी भिक्षा है। समाजवादी समाज के अन्दर सभी व्यक्ति भिक्षा पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार के समाज में मनुष्य मिहनत तो करता है पर वह पेट के लिए नहीं बल्कि समाज के लिए कर्त्तव्य के रूप में करता है। वहां तो सभी की आवश्यकताओं को पूरा करने की गारंटी होती है। चाहे काम किसी का कुछ हो या कोई किसी कारण एक दम काम ही न करे. उसकी सभी आवश्यकतायें पूरी होनी चाहिए। भिक्षा के वास्तविक अर्थ भी हैं—अधिक से अधिक सेवा करना और कम से कम लेना या केवल आवश्यकता भर मावजा स्वीकार करना ही भिक्षा है।

सच्चे साधु समाज की सबसे बड़ी सेवा कर सकते हैं। कुछ साधु करते भी हैं। मगर समाज से वे लेते क्या हैं? केवल पेट भर अन्न और एक आध जोड़ा गेरुवा वस्त्र। इसीलिए उस अन्न को भिक्षा कहा गया है। इस प्रकार सभी समाज सेवक जो अपना सर्वस्व समाज के लिए अर्पण कर देते हैं और अपने भरण-पोषण के लिए समाज से जो कुछ स्वीकार करते हैं, उसे भी भिक्षा वृत्ति का सम्मान प्राप्त है। ऐसे साधु-सन्त और सेवक सच्चे भिक्षुक हैं और वह भिक्षा स्वीकार करके समाज पर एहसान करते हैं। यह ध्यान रहे कि यहां पर पाखंडी, ढोंगी और स्वार्थियों का समर्थन नहीं किया जा रहा है।

तृतीय दशक का सारांश

श्लोक २१—स्वाभिमानी व्यक्ति भीख मांगना पसंद नहीं करेगा।

२२—पेट का बहाना निरी विडम्बना है।

२३—बराबर वालों में भीख मांगने से बनवासी तपस्वियों का आश्रय लेना अच्छा है।

२४—पराया कौर खाने की अपेक्षा स्वयं बन में बस जाना ठीक है।

२५—बस्ती में भीख मांगने से कहीं कन्द मूल खाकर जीना उत्तम है।

२६—स्त्री बच्चों के लिए भी जंगलों में खाने पहनने का टोटा नहीं।

२७—धनियों के दरवाजे पर पड़े रहने से तो जंगली फल फूल खाना और घास पर सोना अच्छा है।

२८—बन का तपस्वी बस्ती के कंगाल पर हँसता है।

२९—सांसारिक सम्पदा से न लोभी का लालच मिटता है और न सन्तोषी को शान्ति मिलती है।

३०—भय रहित भिक्षा सर्वोत्तम वृत्ति है।

इस प्रकार इस दशक में बस्ती के प्रलोभनों से मन को हटा कर बन-जंगल की मनोहरता की ओर आकृष्ट किया गया है। आगे के श्लोकों में इस भौतिक सुख को सिरे से ही निरर्थक बताने की चेष्टा की गयी है।

श्लोक ३१

भोगे रोग–भयं कुले च्युति–भयं वित्ते नृपालाद्भयम्
माने दैन्य–भयं बले रिपु–भयं रूपे जराया भयम्
शास्त्रे वाद–भयं गुणे खल–भयं काये कृतान्ताद्भयम्
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।

पदच्छेद

नृपालाद्भयम् = नृपालात् + भयम्
कृतान्ताद्भयम् = कृतान्तात् + भयम्
भयान्वितम् = भय + अन्वितम्
वैराग्यमेवाभयम् = वैराग्यम् + एव + अभयम्

पदान्वय

भोगे रोग-भयम् कुले च्युति-भयम वित्तो नृपालात् भयम्
माने दैन्य-भयम् वले रिपु-भयम् रूपे जराया भयम्
शास्त्रे वाद-भयम् गुणे खल-भयम् काये कृतान्तात् भयम्
भुवि सर्वं वस्तु भय अन्वितम् नृणाम् वैरान्यम् एव अभयम्

शब्दार्थ

भोगे =भोग में
रोग भयम् =रोग का भय (लगा रहता है)
कुले =कुल में
च्युति-भयम् =गिरने या भ्रष्ट होने का भय (रहता है)
वित्ते =धन में
नृपालात् =राजा से, राज से
भयम् =भय (रहता है)
माने =अभिमान या सम्मान में
दैन्य-भयम् =दीनता का भय (रहता है)
बले =बल में
रिपु-भयम् =शत्रु का भय (रहता है)
रूपे =सुन्दरता में
जराया भयम् =बुढ़ापे का भय रहता है,
शास्त्रे =शास्त्र में यानी विद्वान बनने में
वाद-भयम् =वाद विवाद अथवा शास्त्रार्थ का भय (रहता है)
गुणे =विनय आदि सद्-गुणों के होने में
खल-भयम् =नीचों की ओर से भय (रहता है)
काये =शरीर में
कृतान्तात् भयम् =यमराज का भय रहता है,
भुवि =संसार में
सर्वम् वस्तु =सब वस्तुएं
भयान्वितम् =भय से भरी हैं,
नृणाम् = मनुष्यों के लिए
वैराग्यम् एव = वैराग्य ही
अभयम् =भय से खाली है, अर्थात् वैराग्य के लिए कोई भय नहीं है ।

भावार्थ

सुखों के भोगने से शरीर में रोग पैदा होने का भय लगा रहता है। अपने कुल का अभिमान करने पर उस कुल में कलंक लग जाने का डर रहता है। धन के इकट्ठा करने पर राज की ओर से खटका रहता है। सम्मान के साथ अपमान की शंका लगी रहती है। बली बनने पर वैरी का डर सताया करता है। शरीर की सुन्दरता पर बुढ़ापे में उसके ढल जाने की चिन्ता रहती है। विद्वत्ता पर गुमान होने से वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ में हार जाने का भय उत्पन्न होता है। विनयशील बन कर सबसे नमकर रहने में नीच लोगों के तालियां बजाकर खिल्ली उड़ाने का भय रहता है। यहां तक कि इस शरीर के साथ ही सदा मृत्यु का खटका लगा रहता है। सारांश यह कि संसार में सभी वस्तुएं भय से भरी पड़ी हैं। केवल वैराग्य ही एक ऐसी वस्तु है जिसमें किसी प्रकार का खटका नहीं हैं।

विशेषार्थ

पिछले दशक में भिक्षा-भोजन ही को श्रेष्ठ सिद्ध किया गया था। अब भिक्षा के अतिरिक्त अन्य साधनों पर निर्वाह करने वाले अर्थात् सांसारिक प्रवृत्तियों में व्यस्त रहने वाले गृहस्थ की ओर संकेत करते हुए यह श्लोक कहे गये हैं। इन श्लोकों में यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि स्वर्थिमय-गृहस्थ जीवन की सभी वृत्तियां भयप्रद तथा हानिकर हैं।

भोग के साथ रोग, कुल के साथ कलंक, धन के साथ हरण, बल के साथ वैरी, विद्या के साथ विवाद, शरीर के साथ मृत्यु का भय लगा रहता है। भय के माने है खतरा। खतरा जरूर है, पर उससे साफ बचा भी जा सकता है।

श्लोक की शब्दावली से एक दूसरी ध्वनि भी निकलती है।

भोग से बचे तो रोग आप ही दूर भागें। कुल, जाति और वंशावली का घमण्ड छोड़ दो और सब को समान मानो तो किसी कलंक का लगना दूर रहा पुरखों का कोई कलंक हो तो वह भी धुल जाय। धन सम्पत्ति जोड़ो ही नही तो न राज का डर और न चोर का। बल का दुरुपयोग न करें तो निष्कारण कोई किसी से बैर क्यों करने चला। विद्वान विनम्र भी हो तो प्रतिवादी भी प्रसन्न हो। गुण सद्गुण गुड़ के समान मीठा होता है, दुर्गुणों को दूर रखता है और प्रायः दुर्जनों को भी सुधारता है। रूपवान खण्डहर हो जाने पर दर्शनीय होते हैं। ऐसे सत्पुरुष मर कर भी अमर हो जाते हैं।

इस प्रकार मनुष्य को भोग आदि से सावधान रहने की बात कही गयी है। मनुष्य को खाने, पीने या धनी, विद्वान बनने का निषेध नहीं हैं, बल्कि उनका उपयोग ऐसा होना चाहिए जिससे भय से निवृत्ति हो। जो जितना भय से निवृत्त होगा उतना ही वह मनुष्यत्व की सीमा में प्रवेश किया हुआ माना जायेगा। निम्न योनि के जीव जन्तु अधिक डरते हैं। भय से एकदम परे होना ही पूर्ण मनुष्य बनना है। इस भय से निवृत्ति का उपाय है वैराग्य। भोग आदि को त्यागना ही पूर्ण वैराग्य नहीं हैं। रोग आदि की ओर भी वैराग्य की भावना रखनी चाहिये। भोग और रोग दोनों की ओर समान विराग होना ही पूर्ण वैराग्य है। तब जीवन और मरण उसके लिये समान हो सकते हैं। और तभी जीव यमराज को भी पछाड़ दे सकेगा।

ऊपर के विवरण से एक बात और सिद्ध होती है—जहां अपूर्णता है वहीं भय है। अपूर्णता को यहां अज्ञान कहना अधिक उपयुक्त होगा। जिस चीज से जानकारी न हो, उसी से हमें डर लगता है। कोई नया कीड़ा आ जाय तो हम दूर भागते हैं। कीड़ा विषैला न हो तब भी हम उसके छू जाने से डर जाते हैं। असभ्य और जंगली जातियों के शंकाशील होने का भी यही कारण है। इसी प्रकार इस श्लोक के रोग राज, रिपु राज, यमराज के भय भी हैं। शास्त्रार्थ की शंका भी इसी श्रेणी की है। "अभयोर्मुक्तिः" (अभय हो जाना ही मुक्ति को प्राप्त होना है।) विद्ययामृतमश्नुते (विद्या से अमृत

की प्राप्ति होती है ।) पूर्णमेवावशिष्यते (पूर्णता स्थाई वस्तु है ।) इत्यादि उपनिषद् वाक्य इसी श्लोक की पुष्टि करते हैं ।

श्लोक ३२

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा चात्युज्ज्वलं यौवनम्
सन्तोषो धनलिप्सया शम-सुखम् प्रौढांगना–विभ्रमैः
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वन–भुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ।

पदच्छेद

चात्युज्ज्वलम् = च + अति + उज्ज्वलम्
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणाः = लोकैः + मत्सरिभिः + गुणाः
प्रौढांगना = प्रौढ + अंगना
व्यालैर्नृपा = व्यालैः + नृपा
दुर्जनैरस्थैर्येण = दुर्जनैः + अस्थैर्यैण
विभूतयोऽप्युपहताः = विभूतयः + अपि + उपहताः

पदान्वय

जन्म मरणेन, अति उज्ज्वलम् यौवनम् जरसा,
सन्तोषः धनलिप्सया, शम सुखम् प्रौढ अंगना विभ्रमैः आक्रांतम्,
गुणाः मत्सरिभिः लोकैः, वन भुवः व्यालैः, नृपा दुर्जनैः उपहताः
विभूतयः, अपि अस्थैर्यैण उपहताः, किम् केन-वा न ग्रस्तम्

शब्दार्थ

जन्म	=जन्म, पैदा होना या जीवन	गुणाः	=शील आचारादि सद्गुण
मरणेन	=मृत्यु से	मत्सरिभिःलोकैः	=डाह करने वाले लोगों से
(आक्रान्तम्	=घिरा हुआ है)	उपहताः	=मारे जाते हैं
अतिउज्ज्वलम्	=अति प्रकाशमान	वन भुवः	=वन जंगल
यौवनम्	=जवानी	व्यालैः	=सांपों से
जरसा	=बुढ़ापे से	(आक्रान्तम्	=भरे हुए हैं)
(आक्रान्तम्	=घिरी हुई है)	नृपाः	=राजा महाराजा
सन्तोषः	=सन्तोष या तृप्ति	दुर्जनैः	=दुष्टों द्वारा
धत लिप्सया	=धन के लालच से	उपहता	=मारे गये हैं, उनकी बुद्धि मारी गयी है,
शम सुखम्	=वासनाओं को वश में करके प्राप्त होने वाली शान्ति	विभूतयः अपि	=सम्पदाएँ भी
प्रौढ़ अंगना	=जवान स्त्री के	अस्थैर्येण	=अस्थिरता से
विभ्रमैः	=भाव भंगियों के जादू से	उपहताः	=नष्ट होती हैं
		किम्	=कौन वस्तु है जो
		केन वा	—किसी न किसी से
(आक्रान्तम्	=घिरी हुई है)	न ग्रस्तम्	=डसी हुई नहीं है ?

भावार्थ

जीवन को सदा मरण ने घेर रखा है। जीवन की अन्य वस्तुओं की भी यही दशा है। जैसे जीवन को बुढ़ापे ने, सन्तोष को लोभ ने, इन्द्रियों की शान्ति को युवतियों की भाव-भंगियों ने, सद्गुणों को डाह ने, बन पर्वतों को जंगली जानवरों ने, राजाओं को दुष्टों और सम्पदाओं को अस्थिरता ने घेर रखा है। कहां तक गिनाया जाए, संसार में सभी वस्तुएं किसी न किसी विपत्ति के भय से घिरी हुई हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक की बातों को ही दूसरे रुप में कहा गया है । अन्तर केवल इतना जान पड़ता है कि पिछले श्लोक में गृहस्थों को उपदेश करके कहा गया था, इस श्लोक में विरक्तों की ओर संकेत है । जिन व्यक्तियों में पूर्ण विरक्ति न हो उनके सामने भी उसी प्रकार की विपत्तियाँ हैं जिस प्रकार की गृहस्थों के सामने । केवल घर और बाल-बच्चों से दूर भाग जाने से दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती । सब कुछ त्याग कर भी वह सदा अपनी जान बचाने की फिक्र में रहते हैं । उन्हें कोई बुड्ढा भी कह दे तो बिगड जाते हैं । लंगोटी लगा कर भभूत रमाते हैं, फिर भी दिल में धन की कामना बनी रहती है । नाक, आँख बन्द किए हुए जाप करते हैं, किन्तु सदा सुन्दरियों पर ध्यान लगा रहता है । साधु बन कर भी स्वयं सन्त-महात्माओं की प्रतिष्ठा और सम्मान से डाह करते हैं । ऐसे व्यक्ति को, बन पर्वतों में कुटी रमाने पर भी वहां उसे शांति नहीं मिलती, बल्कि वह वहां भी जंगली जन्तुओं से भी भय-भीत ही रहता है । इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि दिखावे के योगी तथा भोगी दोनों ही समान रूप से पीड़ित रहते हैं । यद्यपि जीवन, यौवन, सन्तोष, शम, शान्ति, बन, भभूत आदि वस्तुत: बुरी नही हैं । बुरी मन की अस्थिरता है, जिसके कारण सारा मजा किरकिरा हो जाता है । चाहे कोई सन्यासी हो या संसारी, यदि वह समझे कि जीवन खटके से खाली है तो वह एक दम भूल में है । हर काम में, हर वस्तु में, हर अवस्था में कुछ न कुछ खटका लगा ही रहता है । वस्तुओं से छुटकारा तो असम्भव है । अलबत्ता भय से छुट्टी मिल सकती है । इसलिये पिछले श्लोक में जैसा कि कहा है सच्चा वैराग्य ही इस भय से बचने का एक मात्र उपाय है ।

श्लोक ३३

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृत–द्वारा इव व्यापदः
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसात्
तत्किं तेन निरंकुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थिरम् ।

पदच्छेद

शतैर्जनस्य = शतैः + जनस्य
विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते = विविधैः + आरोग्यम् + उन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र = लक्ष्मीः + यत्र
जातमवश्यमाशु = जातम् + अवश्यम् + आशु
करोत्यात्मसात् = करोति + आत्मसात्
यन्निर्मितम् = यत् + निर्मितम्

पदान्वय

विविधैः आधि व्याधि शतैः जनस्य आरोग्यम् उन्मूल्यते यत्र लक्ष्मीः तत्र व्यापदः विवृत-द्वारा इव पतन्ति मृत्युः जातम् जातम् अवश्यम् आशु विवशम् आत्मसात् करोति तेन निरंकुशेन विधिना यत् सुस्थिरम् निर्मितम् तत् किम्

शब्दार्थ

विविधैः	=भिन्न-भिन्न प्रकार के	आरोग्यम्	=स्वास्थ्य
शतैः	=सैंकड़ों	उन्मूल्यते	=जड़ से उखाड़ दिया जाता है,
आधि	=दुःख (तथा)	यत्र	=जहां
व्याधि	=रोगों से	लक्ष्मीः	=धन (हो)
जनस्य	=लोगों का	तत्र	=वहां

व्यापदः	—विपत्तियां
विवृत	=खुले
द्वारा इव	=दरवाजों के समान मानो उनके लिए सभी दरबाजे खुले हों,
पतन्ति	=आ पड़ती हैं,
मृत्यु	=मौत
जातम्-जातम्	=जो-जो पैदा हीते हैं
अवश्यम्	=बेबस करके, जरूर
आशु	=जल्दी ही
आत्मसात्	=अपने बस में
करोति	=कर लेती है अर्थात् सभी मर जाते हैं,
तेन	=उस
निरंकुशेन	—बेरोक
विधिना	—ब्रह्मा द्वारा
यत्	—जो
सुस्थिरम्	—स्थाई
निर्मितम्	—बनायी गयी है
तत्	=वह
किम्	=कौन (वस्तु) है अर्थात् सभी अस्थाई हैं।

भावार्थ

सैंकड़ों रोगों तथा चिन्ताओं से मनुष्य का स्वास्थ्य सदा उखड़ता रहता है। धन इकट्ठा होने पर तरह-तरह की आफतें मानों किवाड़ तोड कर घर में घुस पड़ती हैं। ज्यों ही जन्म लेते हैं त्यों ही मृत्यु प्रत्येक प्राणी को अपने चंगुल में दबोचे रखती है। तब वह कौन वस्तु है जिसे ब्रह्मा ने स्थाई बना कर पैंदा किया।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में सँकेत था कि यौवन, आलिंगन, धन, सम्मान आदि में सुख है पर उन सुखों का उपभोग अधिक समय तक नहीं किया जा सकता। इस श्लोक में कहा है कि उस थोड़े से सुख की भी कोई गारंटी नहीं है। यौवन का सुख भोगने के लिए स्वास्थ्य की आवश्यकता है। शरीर पर कितने ही रोग सदा चढ़ाई करते रहते हैं और घर की सैंकड़ों चिन्ताएँ सताती रहती हैं। नतीजा यह होता है कि जवान होकर भी जवानी का मजा जी भर कर लूट नहीं सकते। दूसरे नम्बर पर धन है। धन के बिना सुख-सामग्री जुट नहीं सकती। किन्तु धन के साथ-साथ दुखों के पहाड़ भी टूट पड़ते हैं। मतलब यह कि केवल धन से सुख प्राप्त नहीं हो सकता। धन का ध्यान त्याग कर, शरीर

की चिन्ता छोड़ कर विचरने लगें तो इन दोनों से जो थोड़ा-सा सुख थोड़े समय के लिए मिलता है, वह और भी कम हो जाता है। मर भी जाएँ तो अचरज नहीं, क्योंकि मृत्यु तो सदा मुँह बाए बैठी है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थी, वानप्रस्थ और सन्यास, किसी में भी स्थाई सुख की प्राप्ति असंभव है।

शरीर-स्वास्थ्य, धन-विपदा, और जन्म-मरण इस प्रकार केवल तीन बातों का ब्यौरा दे कर श्लोक में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा पर लांछन लगाया गया है कि उसने कोई वस्तु निरापद नहीं वनायी। यह कहां तक ठीक है? क्या संसार में इन तीनों या छः के सिवा कोई और वस्तु नहीं हैं? वास्तविक बात यह है कि इन तीनों बातों में ही संसार की सारी वस्तुएँ भर दी गयी हैं। लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा, इस प्रकार इसमें पूरे जीवन का समावेश किया गया है। स्वास्थ्य के बिना शरीर का सुख नहीं मिल सकता। विपत्तियां लगी रहें तो धन का क्या प्रयोजन? इसी प्रकार मौत के साये में ही मनुष्य जन्म लेता है। और शरीर के अन्त होने को मृत्यु कहते हैं। यह अन्त संसार की हर वस्तु के साथ लगा हुआ है। रोग स्वास्थ्य का अन्त कर देता है और विपदाएँ ग्रहण बन कर धन को ग्रस लेती हैं। इन ही चिन्ताओं से निश्चिंत होने के लिए हिन्दू-धर्म में आश्रमों की व्यवस्था दी गयी है। ब्रह्मचर्याश्रम से स्वास्थ्य की रक्षा, गृहस्थाश्रम से धन की रक्षा और वानप्रस्थाश्रम से सन्यासाश्रम में प्रवेश करके मृत्यु के भय से निवृत्त होने की चेष्टा की गयी है।

"निरंकुशेन विधिना", इन शब्दों पर भी थोड़ा सा विचार कर लें। विधि ब्रह्मा को कहते हैं। वह 'निरंकुश' है यानी उस पर कोई अंकुश नहीं है, मनमानी करता है, बेतुकी बातें करता है। नियम को भी विधि कहते हैं। कोई काम विधिवत् किया जावे तो उसमें वेतुकापन कैसा? आजकल की विधान सभाओं को देखिए, जहाँ नित नए विधि (कानून) बनते हैं। विधि में कोई वेतुका-पन न आने पाये; इसके लिए विरोध होता है। उसका काम है त्रुटियों को वताना। जिसमें स्वयं कोई त्रुटि न हो, वही दूसरों की त्रुटियाँ बता सकता है। सब से उत्तम मानव (मान लिया जाए) ब्रह्मा भी त्रुटियों से खाली नहीं हैं। सबूत यही है कि वह ऐसी बेतुकी बातें किया करता है। ब्रह्मा जो स्वयं नाशवान है शाश्वत की सृष्टि कैसे कर सकता है? कोई ब्रह्मा है भी। या केवल विधि, नियम से चीजें हुई जारही हैं? अगर है तो वह केवलभोगी अथवा

भोग्य वस्तुओं का ही सृजन कर सकता है, जो दोनों ही अस्थाई हैं। शरीर जाता है, शारीरिक सुख-सामग्री भी जाती हैं। रह जाता क्या है? केवल आत्मा जिसको बनाना, बिगाड़ना ब्रह्मा के बस की बात नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मा-विधि पर भी शरीर धारी आत्मा का अंकुश हो सकता है। शायद इसी कारण आज मनुष्य सारी सृष्टि का स्वामी बनता जा रहा है। जैसे शरीर द्वारा सृष्टि को काबू में किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा द्वारा, शायद, परमात्मा को भी . . . .

श्लोक ३४

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमित-तनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कांता-विश्लेषदुःखव्यतिकरविषमो यौवने चोपभोगः
वामाक्षीणामवज्ञा विहसितवसतिवृर्द्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्याः वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्।

पदच्छेद

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये = कृच्छ्रेण+अमेध्य+मध्ये
चोपभोगः = च+उपभोगः
वामाक्षीणामवज्ञा = वाम+अक्षीणाम्+अवज्ञा
वसतिर्वृद्धभावोप्यसाधुः = वसतिः+वृद्धभावः+अपि+असाधुः
स्वल्पमप्यस्ति = स्वल्पम्+अपि+अस्ति

पदान्वय

गर्भ-वासे अमेध्य मध्ये नियमित तनुभिः कृच्छ्रेण स्थीयते यौवने च उपभोगः कान्ता विश्लेष-दुःख व्यतिकर विषमः वामाक्षीणाम् अवज्ञा विहसित-वसतिः वृद्धभावः अपि असाधुः रे मनुष्याः संसारे स्वल्पम् सुखम् किंचित् अपि अस्ति यदि वदत

शब्दार्थ

गर्भवासे = माँ के पेट के भीतर रहते समय
अमेध्य मध्ये = मलमूत्र के बीच में (बच्चा)
नियमित = सिकुड़े हुए
तनुभिः ... शरीर के साथ
कृच्छ्रेण = कष्ट से
स्थीयते = रहता है
यौवने च = जवानी में भी
उपभोगः = सुखभोग
कान्ता = प्रेयसी के
विश्लेष-दुःख = वियोग का दुःख
व्यतिकर = अधिक

विषमः = कष्ट कारक होता है
वामाक्षीणाम् = तिरछी नयनों वाली युवतियों के
अवज्ञा = निरादर के साथ
विहसित-वसति=हँसी के योग्य
वृद्धभावः अपि=बुढ़ापा भी
असाधुः = बुरा है, (इसलिए)
रे मनुष्याः = अरे लोगो
संसारे = संसार में
स्वल्पम् सुखम्=थोड़ा सा सुख
किंचित् अपि= कुछ भी
अस्ति यदि = यदि हो तो
वदत = बताओ

भावार्थ

संसार में बच्चे के रूप में पैदा होने से पहले ही मां के पेट में मलमूत्र के साथ सिकुड़े पड़े रहना पड़ता है। जवानी में प्रेयसी के वियोग का दुःख भोगना पड़ता है। बुढ़ापे में युवतियों के परिहास का शिकार बनना पड़ता है। बताओ तो जिन्दगी में कहां सुख धरा है !

विशेषार्थ

इस प्रकार माँ के पेट से लेकर मसानघाट तक कभी भी सुख नहीं मिलता। सारा जीवन दुःख में बीतता है। इस श्लोक में यही सिद्ध किया गया है कि जीवन में सुख है ही नहीं। पिछले श्लोक में बताया गया था कि जिन वस्तुओं से शरीर को सुख मिलता है, वह अस्थाई हैं। इस श्लोक में बताया है कि बाहर की वस्तुओं को छोड़ भी दें तो जिस शरीर के लिए सुख की इच्छा करते हैं स्वयं उस शरीर को भी आदि से अन्त तक दुःख ही दुःख है। भोगी

शरीर या भोग्य वस्तु दोनों में भी स्थाई सुख को पाने या देने की शक्ति नहीं है। तिस पर भी यदि लोग शरीर या धन-सम्पत्ति पर घमंड करें और उसमें सुख की खोज करें तो यह उनकी मूर्खता है।

मां के पेट में पिंड रूप में रहते हुए कोई सोच समझ भी नहीं सकता। हम लोग क्या जानें कि उस पिंड को क्या सब दुःख हैं। हां, जब बच्चा बन कर बाहर आता है तब हम देखते हैं कि बच्चा रोता है या सोता है। सोता सुख से है। जागता भी है तो सुख में इधर-उधर ताकता और हाथ-पैर चलाता है, मानो खुशी से खेलता है। दुःख में भी हाथ-पैर मारता है, पर तब रोता है। बच्चा रोता है और माता का स्थन्य पान करके शान्त हो जाता है। बच्चा संतोषी है और सुखी है। वही नहना कुछ बड़ा होकर खेल-कूद करता है, तब भी उसकी वही दशा रहती है। कोई चीज पाई, सतुष्ट हुआ और शान्त बना रहा। युवावस्था में भी मनमानी करते हैं। संघर्ष भी करते हैं। सफलता पर संतुष्ट हो जाते हैं, पर असफलता पर धीरज धरते हैं। मुसीबत इन बच्चों युवकों से नहीं है। आफत है इन अद्धड़ और बूढ़ों से जो सब कुछ कर चुकने पर भी भूल जाते में कि हम भी कभी ऐसे ही थे। बच्चों युवकों को डांट फटकार सुनाते हैं, पर वास्तव में उन से डाह रखते हैं। सोचते हैं कि काश हम बच्चे या युवक ही वने रहते। इसी तृष्णा को तृप्त करने की अभिलाषा उन्हें लोभी बना देती हे। स्वयं भोग नहीं सकते। औरों को भोगते देख नहीं पाते। अपने अतृप्त वंछाओं को स्वर्ण तुलाओं में तोलते हैं। और सोने पर साँप बन कर बैठ जाते हैं। सोच नहीं पाते कि वह बचपन था, जवानी गयी, हम भी जायेंगे एक दिन।

श्लोक ३५

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्।

पदच्छेद

व्याघ्रीव = व्याघ्री + इव
रोगाश्च = रोगा: + च
भिन्नघटादिवाम्भो = भिन्नघटात् — इव — अम्भः
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति = लोक: — तथा — अपि
—अहितम् — आचरति — इति

पदान्वय

जरा व्याघ्री इव परितर्जयन्ती तिष्ठति
रोगा: च शत्रव इव देहम् प्रहरन्ति
आयु: भिन्न घटात् अम्भः इव परिस्रवति
तथा अपि लोक: अहितम् आचरति इति चित्रम्

शब्दार्थ

जरा	—बुढ़ापा
व्याघ्री इव	=बाघिन की तरह
परितर्जयन्ती तिष्ठति	=डराता खड़ा है,
रोगाश्च	=तरह-तरह के रोग भी
शत्रव इव	=शत्रुओं की तरह
देहम्	=शरीर को
प्रहरन्ति	=प्रहार कर रहे हैं, (पीट रहे है)
आयुः	=उम्र
भिन्न	=फूटे
घटात्	=घड़े से
अम्भः इव	=पानी के समान
परिस्रवति	=चुए जा रही है
तथा अपि	=तब भी
लोकः	=लोग
अहितम्	=बुराई
आचरति	=किया करते हैं
इति चित्रम्	=यह (देखकर) आश्चर्य होता है

भावार्थ

बुढ़ापा बाघ बन कर सामने खड़ा है। तरह तरह के रोगों से शरीर को ऐसी पीड़ा हो रही है मानो दुश्मन बेदर्दी के साथ लाठियां

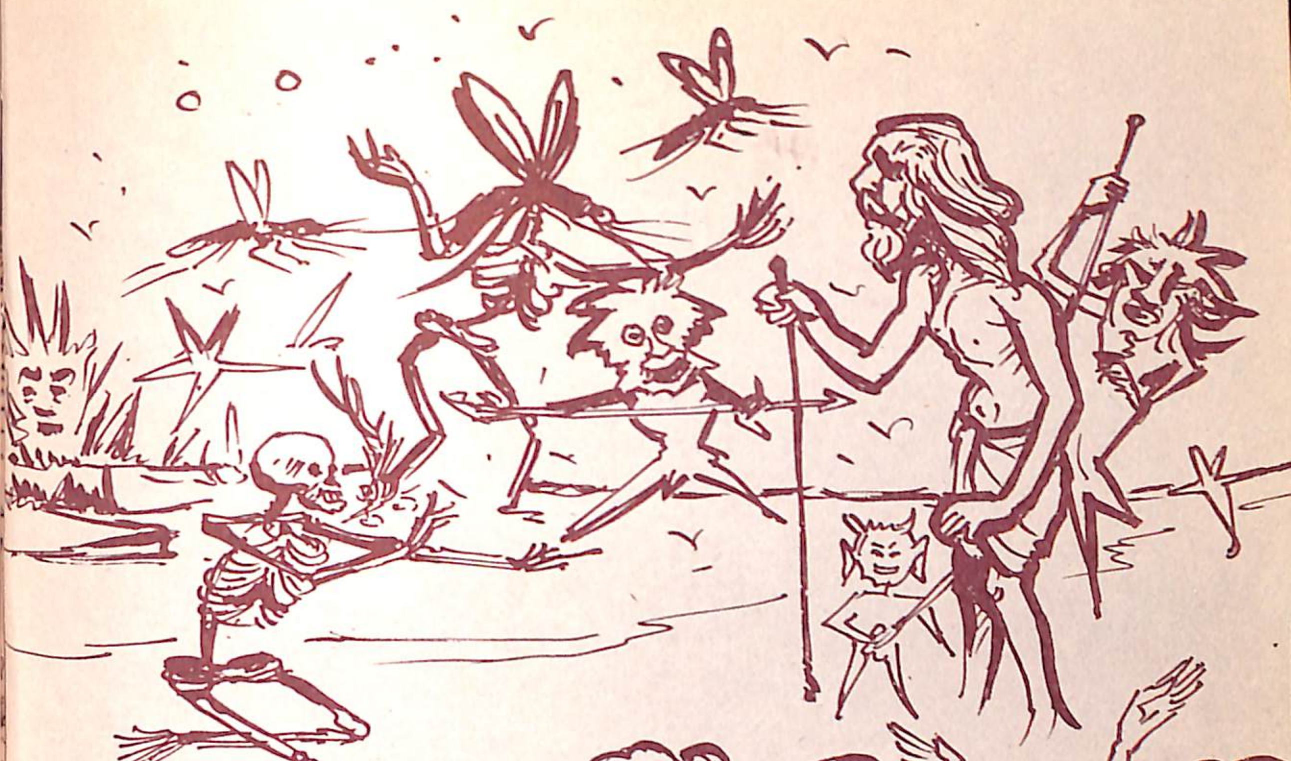

श्लोक ३५

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ।

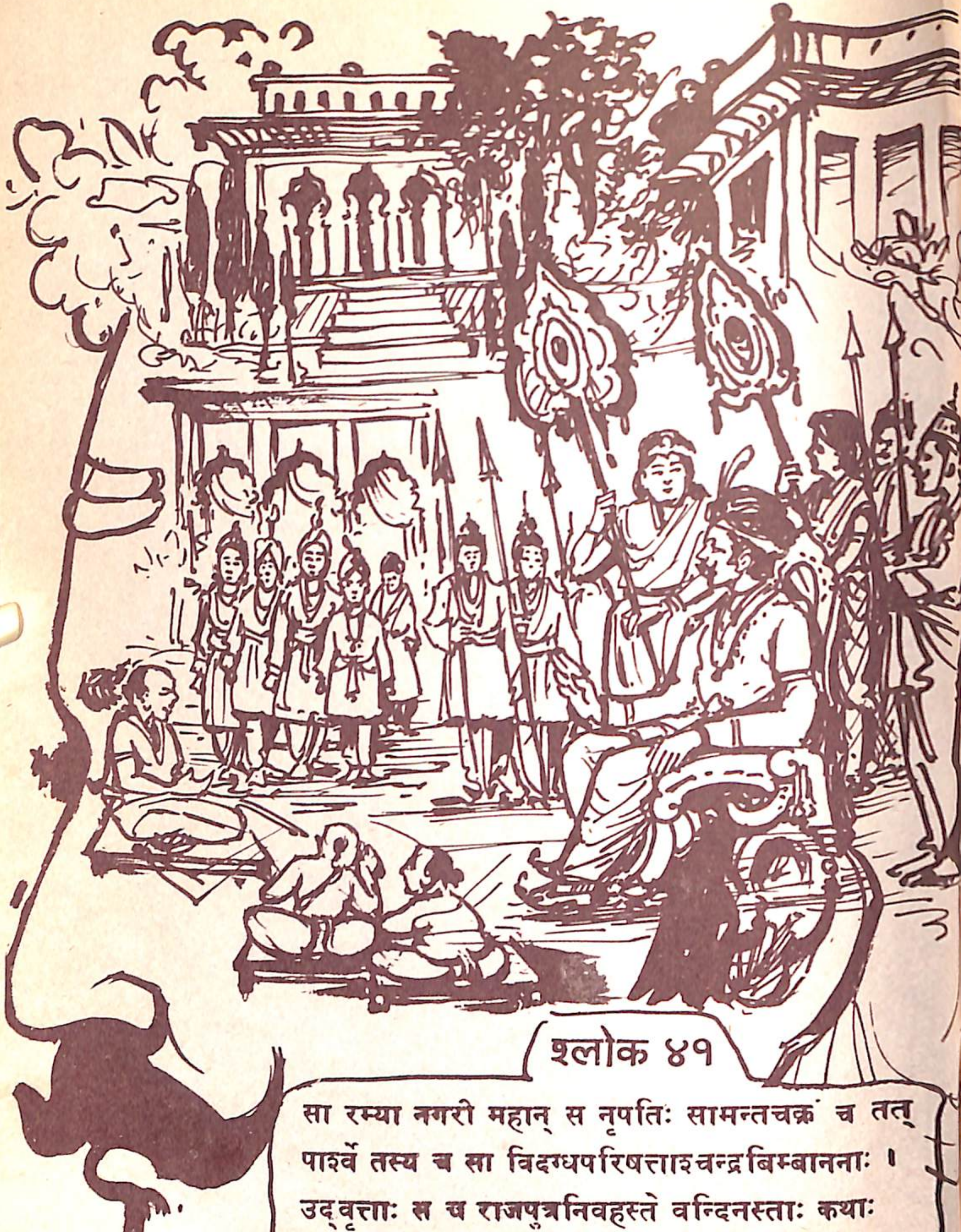

श्लोक ४१

सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्वृत्ताः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥

बरसा रहा है। उम्र ऐसे बीती जा रही है जैसे फूटे घड़े से पानी। तिस पर भी लोग कुपथ नहीं छोड़ते।

विशेषार्थ

केवल बुढ़ापे से ही सदा डर क्यों लगा रहता है? शुरू से तो बुढ़ापा होता नहीं। बचपन तथा यौवन के दिन चैन के साथ कटते हैं। पर यह भी सब जानते हैं कि बुढ़ापा तो आकर ही रहेगा। बुढ़ापे में कैसे कष्ट उठाने पड़ते हैं, यह पीछे बताया जा चुका है। ऐसा बुढ़ापा यदि शेर बन कर सामने खड़ा हो तो शरीर की ठीक वही दशा होती है जो उस बकरी की होती है जिसे खिलाया पिलाया तो खूब जाय किंतु बंधी रहे वह शेर के पिंजड़े के सामने। बकरी डर के मारे अधमरी हो जायगी। मनुष्य की भी यही दशा है। रोग शरीर की ताड़ना करते हैं। उस ताड़न से सारे अंग चूर-चूर हो जाते हैं। इसीलिए आगे फूटे घड़े की मिसाल दी गयी है। कभी-कभी घड़े की शकल तो ज्यों की त्यों बनी रहती है पर उसका सारा पानी पचर जाता है। इसी तरह मनुष्य का शरीर रह जाता है और प्राण निकल जाते हैं।

अन्त में कहा गया है कि यह सब देखते हुए भी मनुष्य कुपथ नहीं छोड़ता। क्या कुपथ पर चलने से ही रोग, बुढ़ापा और मृत्यु आती है? क्या सुपथगामी बनने से इन सबसे छुटकारा हो जाता है? इसमें कोई संदेह नहीं कि कुपथ पर चलने से रोग अधिक घेरते हैं, बुढ़ापा जल्दी आता है और जल्दी मर भी जाते हैं। इसके विपरीत सुपथ पर रहने से रोग दूर-दूर रहते हैं। बुढ़ापा भी देर में आता है। यदि बुड्ढे हो भी जायँ तो मन में यौवन का उत्साह बना रहता है। अन्त में मृत्यु को भी जीता जा सकता है। कम से कम यह तो निश्चित है कि सन्मार्ग पर चलने से मनुष्य इन रोग आदि से भयभीत नहीं होता। भय को जीतना ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। जहाँ जीवन है वहाँ मृत्यु नहीं। अचरज की बात यही है कि मानव जान बूझकर जीते जी मृत्यु के मुँह में फँस जाता है।

श्लोक ३६

भोगास्तुंग-तरंगभंगतरलाः प्राणाः क्षण-ध्वंसिनः
स्तोकान्येव दिनानि यौवन-सुख-स्फूर्तिः प्रियासु स्थिता
तत्संसारमसारमेव निखिलं बुद्ध्वा बुधा बोधकाः
लोकानुग्रह-पेशलेन मनसा यत्नः समाधीयताम् ।

पदच्छेद

भोगास्तुंग = भोगाः — तुंग
स्तोकान्येव = स्तोकानि — एव
तत्संसारमसारमेव = तत् — ससारम् — आसारम् — एव

पदान्वय

भोगाः तुंग तरंग भंग तरलाः प्राणाः क्षण ध्वंसिनः
प्रियासु यौवन सुख स्फूर्तिः स्तोकानि दिनानि एव स्थिता
तत् बोधकाः बुधाः निखिलम् संसारम् असारम् एव बुद्ध्वा
लोक अनुग्रह पेशलेन मनसा यत्नः समाधीयताम्

शब्दार्थ

भोगाः = सुख भोग
तुंग = ऊँचे
तरंग = लहरों के
भंग = टूट कर गिरने के समान
तरलः = चंचल हैं

प्राणाः = प्राण
क्षण ध्वंसिनः = क्षण भर में नष्ट होने वाले हैं
प्रियासु = प्रेमिकाओं में
स्थिता = वर्तमान
यौवन = जवानी की

सुखस्फूर्तिः	= सुख की तमतमाहट
स्तोकानि	= थोड़े
दिनानि एव	= दिनों की ही है
तत्	= इसलिए
बोधकाः	= परोपदेश करने वाले
बुधाः	= जानकार लोग, ज्ञानी
निखिलम्	= तमाम
संसारम्	= संसार को, संसार की सभी वस्तुओं को
असारम् एव	= निस्सार ही
बुद्ध्वा	= जान कर
लोक अनुग्रह	= लोगों की या संसार की भलाई के प्रति
पेशलेन मनसा	= डबडबाये मन से
यत्नः समाधीयताम्	= कर्तव्य कर्म करें, ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करें

भावार्थ

सांसारिक सुख पानी की लहरों के समान तनिक ही देर में भंग होने वाले हैं। यह हमारे शरीर क्षण भर बाद रहेंगे या नहीं, इसका भी भरोसा नहीं है। जवानी की रंग-रलियां चार दिन की चांदनी मात्र हैं। इसलिए जानकार पंडितों को चाहिए कि सारे संसार को असार जानें और केवल शुद्ध परोपकार के विचार से योगचित्त हो कर कर्तव्य कर्म करते रहें और ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में भोगों की जो अस्थिरता बताई गयी थी उसी की चर्चा करते हुए इस श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य को संसार में किस प्रकार जीवन बिताना चाहिए। श्लोक के पहले दो पदों में जो बात कही गयी है वह पिछले श्लोक में भी है। किन्तु बाद के दो पदों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है।

यहाँ पर उन लोगों की ओर संकेत है, जो विद्वान तथा जानकार बनते हैं और जो भलीभाँति जानते भी हैं कि संसार की वस्तुएं स्थाई नहीं हैं, किन्तु परोपदेश मात्र में सन्तोष कर लेते हैं; न वह स्वयं उन पर अमल करते हैं और न दूसरों को ही इनका विचार रख कर अपने जीवन को ढालने की शिक्षा देते हैं। "बुधा," "बोधका" के शब्दों में ऐसे लोगों पर एक प्रकार का व्यंग है। उन्हें स्पष्ट कहा गया है कि यदि तुम्हें अन्य लोगों के प्रति सहानुभूति तथा प्रेम हो तो कोरे परोपदेश के जबानी जमा-खर्च से काम नहीं चलने का। सीधा उपाय तो यह है कि तुम खुद अपने मन के भीतर औरों के प्रति सच्ची सहानुभूति पैदा कर लो और दूसरों को उपदेश देने की आदत को छोड़ कर उन बातों पर तुम स्वयं अमल करने की चेष्टा करो। यह काम पंडित तथा ज्ञानियों के लिए भी सरल नहीं है। कठिन प्रयत्न से ही इनकी सिद्धि हो सकती है। क्योंकि जिन वस्तुओं से सुख प्राप्त हो रहा है उनके सम्बन्ध में यह समझ लेना बड़ा कठिन है कि उनमें कोई सार ही नहीं है, और फिर उन्हें निस्सार समझ कर भी करते रहना और भी अधिक कठिन है। यदि पहला काम साधारण लोगों के लिए दुस्साध्य है तो दूसरा पंडितों और ज्ञानियों के लिए भी कठिन-साध्य है। किन्तु स्वयं अपना उद्धार करने और दूसरों से सच्ची सहानुभूति दिखाने और उन्हें भी उसी प्रकार करने के लिए प्रेरित करने का वही उत्तम उपाय है। "यत्नः समाधीयताम्" का यही अभिप्राय लेना चाहिए। परब्रह्म परमात्मा के ध्यान से भी इसका अभिप्राय लिया जा सकता है। किन्तु इस प्रकार के अर्थ से बीच में कई बातों को छोड़ कर एकदम एक लम्बी उड़ान हो जाएगी। उस तक पहुंचने में बीच में कई सीढ़ियां और भी हैं, जिनकी आगे क्रम से चर्चा होगी।

श्लोक ३७

भोगा मेघवितानमध्य विलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताब्जपटलीलीनाम्बुवद्भंगुरम्
लोला यौवनलालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतम्
योगे धैर्य्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः ।

पदच्छेद

विलसत्सौदामिनी = विलसत् + सौदामिनी
आयुर्वायु = आयुः + वायु
विघट्टिताब्ज = विघट्टित+अब्ज
लीनाम्बुवद्भंगुरम् = लीन + अम्बुवत् + भंगुरम्
लालसास्तनु = लालसाः + तनु
भृतामित्याकलय्य = भृताम् + इति + आकलय्य

पदान्वष

तनुभृताम् भोगाः मेघ-वितान मध्य विलसत् सौदामिनी चञ्चलाः आयुः वायु-विघट्टित-अब्ज-पटली-लीन अभ्बुवत् भंगुरम् यौवन-लालसाः लोलाः इति आकलय्य बुधाः धैर्य समाधि सिद्धि सुलभे योगे बुद्धिम् द्रुतम् विदध्वम्

शब्दार्थ

तनुभृताम्	= शरीर धारी प्राणियों के लिए	विलसत्	= चमकने वाली
		सौदामिनी	= बिजली के समान
भोगाः	= सुख भोग	चञ्चला	= चंचल हैं,
मेघ-वितानमध्य	= दल बादलों में	आयुः	= जीवन

वायु-विघट्टित = हवा के झोंके से तितर बितर किये गये
अब्ज-पटली = कमल के पत्ते पर
लीन = लगे हुये
अम्बुवत् = पानी के समान
भंगुरम् = टूट जाने वाला है, समाप्त होने वाला है,
यौवन-लालसा = जवानी की उमंगें
लोलाः = अस्थिर हैं,

इति आकलय्य = इस प्रकार विचार कर
बुधाः = हे ! बुद्धिमान (अपनी)
बुद्धिम् = बुद्धि को
धैर्य समाधि = चित्त की स्थिरता
सुलभे = सुगमता से सिद्धि प्राप्त होने वाले
सिद्धि–योगे = योग सिद्धि में
द्रुतम् = शीघ्रता से
विदध्वम् = लगाओ,

भावार्थ

बादलों के बीच एकाएक चमक कर गायब होने वाली बिजली की रेखा के समान भोग सामग्री अति चंचल और अस्थाई है। हवा के झोंकों से लहलहाते कमल के पत्तों पर तैरने वाली पानी की बूँद के समान जीवन एकदम अस्थिर है। जवानी की उमंगें भी अस्थाई हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि इन सब बातों को भली भाँति समझ ले और अपने मन को स्थिरता और धैर्य के साथ योग-साधना में लगावें।

विशेषार्थ

भोगों को बिजली की चमक और जीवन को कमल के पत्तों पर तैरने वाले पानी की बूंद की उपमा देकर उनकी अस्थिरता दिखायी गयी है। पर इससे भी कहीं अधिक मतलब इसमें छिपा है। बादलों में चमक क्षण भर के लिए होती है। इससे पहले और बाद भी घुप अंधेरा ही छाया रहता है। इसी प्रकार कमल के पत्तों पर के पानी की बात है। पत्ता पानी के रहने की जगह नहीं है। केवल हवा के झोंकों से चंद बूंद पत्तों पर आ-ठहरती हैं, और हवा

के साथ टूट कर नीचे गिर भी जाती हैं। उस थोड़ी देर के लिये भी पानी की बूंद पत्तों पर एक जगह स्थिर नहीं रहती। हां, जितनी देर रहती है सुन्दर मोती सी झलकती है। शरीरधारी मनुष्य के साँसारिक सुख भी ऐसे ही हैं। बडी सी झील में पानी की एक बूंद की हैसियत ही क्या हैं? ईश्वर की सृष्टि में इतनी सारी वस्तुएँ हैं और इतनी अधिक मात्रा मैं हैं कि एक व्यक्ति चाहे कितनी ही धन सम्पत्ति तथा सत्ता प्राप्त कर ले तब भी वह झील भर के पानी के सामने एक बूंद के समान नहीं हो सकता और वह भी क्षण भर के लिए। केवल हवा का एक हल्का सा झोंका उसे उड़ा ले जाता है। अस्तु।

सांसारिक वस्तुओं की अस्थिरता को अच्छी तरह समझ लें और उनके प्रति ऐसी ही भावना रखें, तभी योग की साधना संभव है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब तक मन के भीतर भोगों के प्रति तनिक भी विश्वास या लालसा रहे तब तक साधना संभव नहीं। यदि मनमें इनकी वास्तविक स्थिति का निश्चय भी हो जाय तब भी आतुरता से काम न चलने का। धैर्य के साथ साधना करनी होगी। अर्थात् योग की साधना के लिए दोनों की आवश्यकता है, और यह दोनों जहां हो जायें शेष कार्य सरल हो जाता है। और साधक सरल ही सिद्धि को प्राप्त हो सकता है।

श्लोक ३८

भोगा भंगुरवृत्तयोबहुविधास्तैरेव चायं भव
स्तत्कस्येह कृते परिभ्रमत रे लोकाः कृतं चेष्टितैः
आशा-पाश शतोपशांतिविशदंचेतः समाधीयताम्
कामोत्पत्तिवशात्स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः।

पदच्छेद

बहुविधास्तैरेव = बहुविधाः + तैः + एव
चायम् = च + अयम्
भवस्तत्कस्येह + भवः + तत् + कस्य + इह
शतोपशान्ति + शत + उपशान्ति
कामोत्पत्ति + काम् + उत्पत्ति
श्रद्धेयमस्मद्वचः + श्रद्धेयम् + अस्मत् + वचः

पदान्वय

बहु विधा भोगः भंगुरवृत्तयः तैः एव अयम् भवः
तत् रे लोकाः इह कस्य कृते परिभ्रमत चेष्टितैः कृतम्
यदि अस्मत् वचः श्रद्धेयम् आशा-पाश-शत-उपशांति-विशदम् चेतः
काम उत्पत्ति वशात् स्वधामनि समाधीयताम्

शब्दार्थ

बहु विधा	= भांति-भांति के
भोगाः	= भोग
भंगुरवृत्तयः	= स्वभावतया नाशवान हैं
तैः एव	= उन ही (भोगों) द्वारा
अयम्	— यह
भवः	= संसार (बना है)
तत्	= इसलिए
रे लोकाः	= हे लोगो
इह	= इस संसार में
कस्य कृते	= किसके लिए
परिभ्रमत	= मारे-मारे फिरते हुए
चेष्टितैः कृतम्	= ऐसे काम किये जाते हो
यदि	= अगर
अस्मत्	= हमारी
वचः	= बातें
श्रद्धेयम्	=श्रद्धा के योग्य हों, यदि हमारी बातों में श्रद्धा हो तो

आशा	= आशा रूपी	वशात्	उत्पन्न होने वाले
पाश शत	= सैंकड़ों फांसों से	स्वधामनि	= अपने धाम अर्थात् परब्रह्म में
उपशांति	= शान्त हुआ		
विशदम् चेतः	= निर्मल चित को	समाधीयताम्	= स्थिर किये जाओ
काम उत्पत्ति	= संकल्प मात्र से		

भावार्थ

सभी भोग क्षणभंगुर हैं। यह संसार ही क्षणभंगुर वस्तुओं से बना है। संसार का कोई सुख स्थाई नहीं है। इसलिए सुख के फ़िराक में मारे-मारे फिरना व्यर्थ है। मनुष्य को चाहिए कि सांसारिक सुखों की हविस छोड़ दे और अपने विशुद्ध मन को परमात्मा में लगा दे।

विशेषार्थ

इस श्लोक में दो बातों की चर्चा है—एक भोग, दूसरा ब्रह्म ? दोनों एकदम अलग-अलग विषय हैं। भोग अनेक प्रकार के हो सकते हैं और सभी भोग क्षणिक होते हैं। इसलिए जल्द ही एक प्रकार के सुख से अघा जाने या लालच के कारण दूसरे प्रकार के सुख की इच्छा होती है और उसके लिए संसार भर छान मारना पड़ता है। मान लें बहुत कुछ सिर मारने के बाद उसकी प्राप्ति हो जाती है। संसार क्षण भंगुर है, इसलिए जितने भी सुख यहां उपलब्ध हैं वह क्षण भर ही सुख दे सकते हैं। हुआ क्या ? अपार दुख और क्षणिक सुख, और उसके भी क्षीण हो जाने का भय। अतः मनुष्य को एक छोटे से सुख की खोज में चल कर अनगिनत सुखों की चाह करनी पड़ती है, पर हर सुख में प्रायः दुख ही प्राप्त होता है।

इसके विपरीत ब्रह्म एक है। इसलिए उसे छोड़ दूसरे के पीछे भागने की नौबत नहीं आती। वह सर्वव्यापी है, इसलिए उसके लिए कहीं जाना नहीं पड़ता। वह शाश्वत है, सर्वोच्च है इसलिए दूसरे पदार्थ की हविस नहीं सताती। हविस के छूटने से मोह-पाश से भी मुक्ति हो जाती है। इस से मन शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त ही परमात्मा में लगाया जा सकता है। इसी परमात्मा परब्रह्म को प्राणीमात्र का स्वधाम कहा गया है।

अपने धाम पर पहुँचने पर मनुष्य को इधर-उधर भटकने की और कष्ट उठाने की परेशानी दूर हो जाती है। स्वधाम के माने 'अपना घर' भी होता है। जो लोग घर द्वार छोड़ कर भभूत रमा कर भ्रमण करते हैं उनकी, शायद, यहां भर्त्सना की गयी है। धन कमाने के लिए संसार का भ्रमण करने वाले और मुक्ति की खोज में तीर्थ यात्रा करने वाले और बन-पर्वत घूमने वाले के बीच अधिक अन्तर नहीं है। दोनों ही भ्रम में पड़ कर भ्रमण कर रहे हैं और ब्रह्म से दूर हैं।

इसलिए स्वधाम यानि अपने ही घर रह कर आनन्द भोगा जा सकता है। हमारा यह घर स्थाई नहीं है। ज्यादा से ज्यादा केवल इसी जीवन के लिए है। प्राय: यह भी होता है कि जिसे हम अपनी पैतृक सम्पत्ति समझते हैं वह भी छूट जाती है। अन्न-जल हमें कहीं और खींच ले जाता है। चाहे जहाँ रहें, जितनी देर के लिए रहें, उसे सम्हाल कर रहें। कहीं यात्रा पर जाते हैं, किसी धर्मशाला में एक शाम के लिए ठहर जाते हैं, पर उतनी देर के लिए भी हमें चाहिए कि धर्मशाला की चीजों को खराब न करें। जिस कोठरी में रहें झाड़-पोंछ कर रहें, पर जब चलें तब उसके साथ कोई मोह न रखें। यही हाल घर-गृहस्थी का है, शरीर का है। वह धर्मशाला एक दिन के लिए है और यह घर की सराय एक जीवन के लिए है। असली स्वधाम तो वह है जहां से हम आए हैं, पैदा होने से पहले हम जहां थे, और मरने के बाद जहाँ जाएँगे, चाहे एक ही जन्म के बाद हो या अनेक जन्मों के बाद। हम तो भगवान के अंश हैं और अंततोगत्वा हमें भगवान में ही लीन होना है। इस प्रकार हमें दोनों धामों को निभाना है—संसार को भी और परमार्थ को भी।

श्लोक ३१

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतम्
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ।

पदच्छेद

श्रीरर्थाः = श्रीः + अर्थाः
तडिद्विभ्रमा = तडित् + विभ्रमा
कण्ठाश्लेषोपगूढम् = कण्ठ + आश्लेष + उपगूढम्
यत्प्रियाभिः = यत् + प्रियाभिः
ब्रह्मण्यासक्त = ब्रह्मणि + आसक्त
भयाम्भौधि = भय + अम्भोधि

पदान्वय

आयुः कल्लोललोलम् यौवनश्रीः कतिपयदिवस स्थायिनी अर्थाः संकलप कल्पाः भोगपूगाः घन समय तडित् विभ्रमाः प्रियाभिः प्रणीतम् कण्ठ आश्लेष उपगूढम् तत् अपि चिरम् न भत्र भय अम्भोधि पारम् तरीतुम् ब्रह्मणि आसक्त चित्ताः भवत

शब्दार्थ

आयुः = जीवन
कल्लोल = पानी की लहरों के समान
लोलम् = ढलकर नष्ट होने वाला है,
यौवन श्रीः = जवानी की शोभा
कतिपय दिवस = थोड़े दिन
स्थायिनी = रहने वाली है
अर्थाः = धन-सम्पत्ति
संकल्प-कल्पा = केवल ख्याली वस्तु है,
भोग पूगाः = भोग-समूह, सकल सुख
घन समय = वर्षा के बादलों में
तडित् = बिजली की चमक के समान
विभ्रमाः = भ्रम कारक है,
प्रियाभिः = प्रेमिकाओं के साथ
प्रणीतम् = की गयी
कण्ठ आश्लेष = गलमिलौवल
उपगूढम् = (जो है)
तत् अपि = वह भी
न चिरम् = स्थाई नहीं है,

भव = (इसलिये) संसार
भय अम्भोधि = भय के सागर को
पारम् तरीतुम् = पार उतरने के लिये
ब्रह्मणि = पर ब्रह्म में
आसक्त चिताः = चित्त को लगाने वाले
भवत = बनो अर्थात् भगवत् भजन में मन लगाओ

भावार्थ

जीवन पानी की लहरों के समान चँचल है। इस छोटे से जीवन में यौवन की शोभा कुछ ही दिनों की मेहमान है। धन सम्पत्ति मन के लड्डू हैं। सुख-भोग वर्षा काल की बिजली के समान क्षणभर की झलक है, प्रेमिकाओं का आलिंगन भी स्थायी नहीं है। इसलिए संसार रूपी सागर से पार उतरने का एकमात्र उपाय है परब्रह्म परमात्मा में चित्त लगाना।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में स्वधाम की बात कही गयी थी। स्वधाम दोनों ही हो सकते हैं, एक जहां हम जीवन के दो दिन रहते हैं और दूसरा वह जहां से हम इस संसार में आये हैं और जहां फिर चले जायेंगे। इस श्लोक में संसार के घर को अस्थायी बताकर स्वधाम यानि स्थायी घर की ओर संकेत किया गया है। संसारको सागर कहा गया है। सागर में सदा रहना तो नहीं है, कहीं न कहीं घाट लगना होगा। परन्तु जब तक घाट नहीं लगते तब तक तो आफतों का सामना करना है ही। समुद्र में रहें और खतरे न रहें, यह तो हो नहीं सकता। मतलब यह कि संसार में जन्म लेने के बाद कुछ दिन यहाँ रहना ही होगा। बाल-बच्चे, घर-द्वार, धन-दौलत का जुट जाना भी स्वाभाविक है। किंतु इन चीजों में मन न लगावें, इसी पर जोर दिया गया है।

मनुष्य के साथ मन लगा हुआ है। उसे कहीं न कहीं लगना ही है। स्वभावतः मन उन्हीं वस्तुओं में लगेगा जो हमारे निकटतम हैं। किंतु इनमें

मन लगाने में जोखिम है, क्योंकि ये सब अस्थिर हैं। उनके छूट जाने का डर रहता है। इसके विपरीत हमारे निकट इन भौतिक वस्तुओं के अतिरिक्त और भी एक वस्तु है। वह हमसे बाहर नहीं है, हमारे भीतर ही है, हमारे निकटतम है, और वह है परब्रह्म परमात्मा। इसलिए उस परमात्मा में मन लगाने को कहा गया है। क्यों? इसलिए कि वह शाश्वत है, अतः वह निश्चय ही शांतिप्रद है। परब्रह्म में चित्त लगाने के माने संसार को छोड़ना नहीं है। जब तक शरीर है तब तक संसार भी है। उसे छोड़ेंगे कैसे? समुद्र को पार करना हो तो समुद्र के बीच ही से गुजरना होगा। सांसारिक वस्तु दारा-पुत्र, धन-सम्पत्ति के सुख-दुःख को भोगते हुए ही संसार से छुटकारा पा सकते हैं। संसार रूपी समुद्र को पार करने का साधन ब्रह्म-चिंतन है। संसार में रहते हुए परमात्मा में चित्त न लगावेंगे तो इस सागर में हम गोते ही खाते रहेंगे और कभी घाट नहीं लगेंगे। परब्रह्म में चित्त को स्थिर करने पर सुखों को भोगते हुए भी संसार के बंधन से छुटकारा पा जायेंगे।

श्लोक ४०

ब्रह्मेंद्रादिमरुद्गणाँस्तृणकणान् यत्र स्थितो मन्यते
यत्स्वादाद्विरसा भवंति विभवास्त्रैलोक्यराज्यादयः
भोगः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते
भो साधो क्षणभंगुरे तदितरे भोगे रतिम् मा कृथाः।

पदच्छेद

ब्रह्मेन्द्रादि = ब्रह्मा + इन्द्र + आदि
मरुद्गणांस्तृणकणान् = मरुत् + गणान् + तृण+कणान्

यत्स्वादाद्विरसा = यत् + स्वादात् + विरसा
विभवास्त्रैलोक्यराज्यादयः = विभवाः + त्रैलोक्य + राज्य + आदयः
कोऽपि = कः + अपि
नित्योदित = नित्य + उदित
तदितरे = तत् + इतरे

पदान्वय

यत्र स्थितः ब्रह्मा, इन्द्र आदि मरुत् गणान् तृण कणान् मन्यते यत् स्वादात् त्रैलोक्य राज्य आदयः विभवाः विरसा भवन्ति कः अपि भोगः स एक एव परमः नित्य उदितः जृम्भते भो साधो तत् इतरे क्षण भंगुरे भोगे रतिम् मा कृधा

शब्दार्थ

यत्र = जहाँ, जिस ब्रह्म में
स्थित = रह कर
ब्रह्मा = सृष्टिकर्ता ब्रह्मा
इन्द्र = स्वर्गाधिपति इन्द्र
आदि = वगैरा
मरुत् गणान् = देव समूह को
तृण कणान् = तिनके के कण (के समान)
मन्यते = समझता हो,
यत् = जिस (ब्रह्म) के
स्वादात् = स्वाद से
त्रैलोक्य = तीनों लोकों के
राज्य आदयः = राज्य आदि
विभवाः = सम्पदाएँ
विरसा = रस हीन, बेमजा
भवन्ति = हो जाते हैं
कः अपि भोगः = कुछ मी हों वह भोग
स एक एव = वह एक ही
परमः = सब से श्रेष्ठ सुख है
नित्य उदितः = (जो) सदा नव-जीवन से भर कर
जृम्भते = विराजमान रहता है,
भो साधो = हे ! साधो
तत् इतरे = उसको छोड़ दूसरे
क्षण भंगुर = क्षण भर में नष्ट होने वाले
भोगे = भोगों में
रतिम् = प्रीति
मा कृथाः = मत करो

भावार्थ

उस परमानन्द का अनुभव करनेवाला पुरुष ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओं को तिनके के समान तुच्छ समझता है। उस आनन्द के सामने तीनों लोकों का राज्य भी उसे फीका जँचता है। असली आनन्द तो उसी में है। वह सदा से है। सदा रहेगा। वह सब से श्रेष्ठ है। उसको छोड़ बाकी सब क्षणिक हैं और तुच्छ हैं। इसलिए तुझ को उसी में मन लगाना चाहिए।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में सांसारिक भोगों को धिक्कारते हुए ब्रह्म में मन लगाने की बात कही गयी थी। उसमें जो आनन्द है उसका उल्लेख इस श्लोक में है। यह भी बताया गया है कि स्वर्ग आदि जिन ऊँचे से ऊँचे सुखों की कल्पनाएँ हो सकती हैं, वे सब इस ब्रह्मानन्द के आगे किसी गिनती में नहीं हैं। सारे संसार को जन्म देने वाला ब्रह्मा और उस संसार के सभी पुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला स्वर्ग तथा उस स्वर्ग के अधिपति इन्द्र भी ब्रह्मानन्द के अनुभव करने वाले भी उस पुरुष को तिनके के एक कण से भी तुच्छ जँचते हैं। यह हुई उस आनन्द के बड़प्पन की बात। अब उसके मूल्य का अनुमान कीजिए। हम लोग छोटे-मोटे धन सम्पत्ति के स्वामी बनकर इतराने लगते हैं। किन्तु उस परमानन्द का एक बार अनुभव करने पर छोटी-बड़ी सम्पत्ति नहीं, एक आध देश या सारे संसार का साम्राज्य नहीं, बल्कि स्वर्ग, मृत्यु और पाताल, इन तीनों लोकों का समूचा वैभव और आधिपत्य भी फीका जंचता है। उस आनन्द का इतना बड़ा दर्जा है और वह इतना विपुल है कि किसी से तुलना करके बताया नहीं जा सकता। वह तो अपने ढंग का एक ही है। वह सदा से है और सदा रहेगा। उसमें कभी कोई कमी नहीं हो सकती। इस प्रकार यह सिद्ध किया गया है कि सृष्टिकर्ता होने पर भी ब्रह्मा सदा रहने वाला नहीं है। संसार भर के पुण्यों से प्राप्त होने वाली इन्द्र-पदवी भी अस्थाई है। इन लोकों का आधिपत्य भी सदा एक के हाथ में रहा हो, इसमें भी शक है। कम

से कम वह लोक तो बने रहेंगे, इस शंका को भी मिटाने के लिए इन लोकों को क्षणिक कहा गया है। ब्रह्मादि तृण कण हैं तो लोक क्षणिक हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट किया गया है कि वह ब्रह्मानन्द बड़प्पन या मूल्य की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि अवधि के हिसाब से भी उसका कहीं ओर-छोर नहीं है।

यार लोग इस 'ब्रह्मानन्द' को कल्पना मात्र कह कर उड़ा सकते हैं, उड़ाते ही हैं। जरूर, जब तक अनुभव न करें तब तक वह कल्पना ही है। एक दरिद्र यदि धनाढ्य बनने की बातें करे तो वह भी तो कल्पना है। एक गिरी हुई दशा में पड़ा हुआ व्यक्ति यदि बड़ी-बड़ी बातें कहे तो समाज उसका मजाक उड़ाता ही है। पर हम रोज देखते हैं कि इस करोड़ों की दुनिया में सैंकड़ों गरीब देखते-देखते धनी बन जाते हैं। अपढ़ भी विद्वान बन जाते हैं। इसलिए सिद्धान्त के रूप में सांसारिक वैभव की प्राप्ति को असंभव नहीं माना जा सकता। मजाक उड़ाया जानेवाला व्यक्ति कभी-कभी मर्यादा का पात्र भी बन जाता है, तो उसी प्रकार करोड़ों में सैंकड़ों नहीं, तो एक-आध तो ऐसा हो ही सकता है जो उस ब्रह्मानन्द को भी प्राप्त हो जाये। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं और सैंकड़ों वर्षों के बाद एक आध दृष्टि-गोचर होते हैं। तब भी हम उस व्यक्ति को तो देख सकते हैं किन्तु उसके आनन्द को देख नहीं सकते। इसलिए हमें उसका विश्वास नहीं होता। अधिक से अधिक लोग एक आध को महात्मा कह देंगे, नहीं तो पागल जरूर कह देंगे सैंकड़ों को। वास्तव में संसार का यह व्यवहार दोनों ही दशाओं में सत्य से दूर है। क्योंकि वह महान-आत्मा प्रत्येक मनुष्य के अन्दर विद्यमान है और पागल-पन भी प्रत्येक व्यक्ति में है—कोई किसी विषय में तो कोई किसी मात्रा में।

बहुत हिचक के बाद इन पंक्तियों का लेखक एक आध वाक्य स्वानुभव के सम्बन्ध में कह देना ही चाहता है। अगर ब्रह्मानन्द वही है, शायद वही है, तो लेखक अपने उस उच्च या तुच्छ अनुभव के आधार पर कह देना चाहता है कि सचमुच इन्द्रादि पद तथा स्वर्गादि सुख उसके सामने एकदम तुच्छ हैं। हर एक व्यक्ति इसका अभ्यास कर सकता है। मगर अनुभव कब करेगा, कैसे करेगा, यह कहा नहीं जा सकता। यदि एक बार क्षण भर के लिए उस

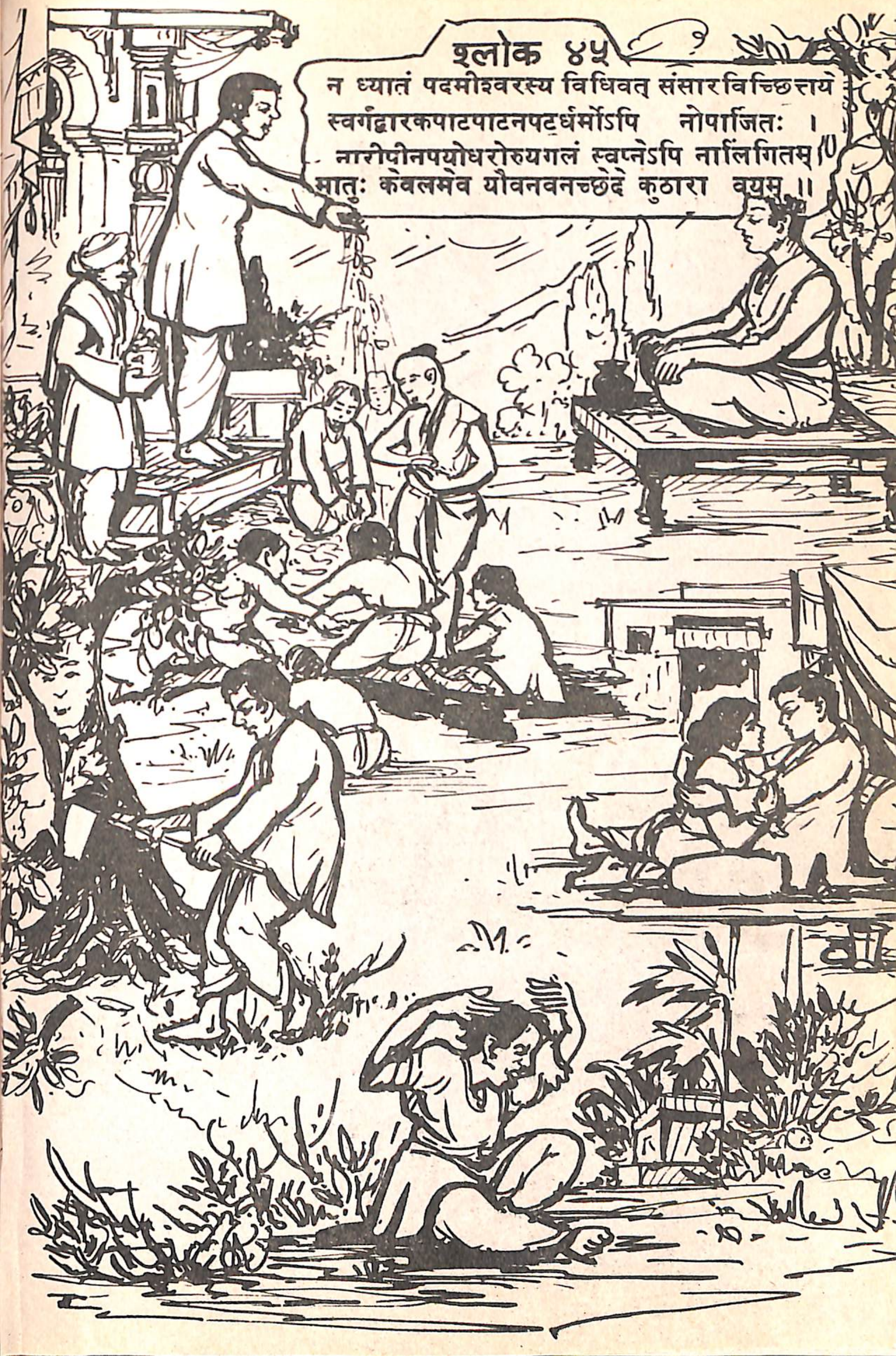

श्लोक ४५

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत् संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः ।
नारीपीनपयोधरोरुयगलं स्वप्नेऽपि नालिंगितम्
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥

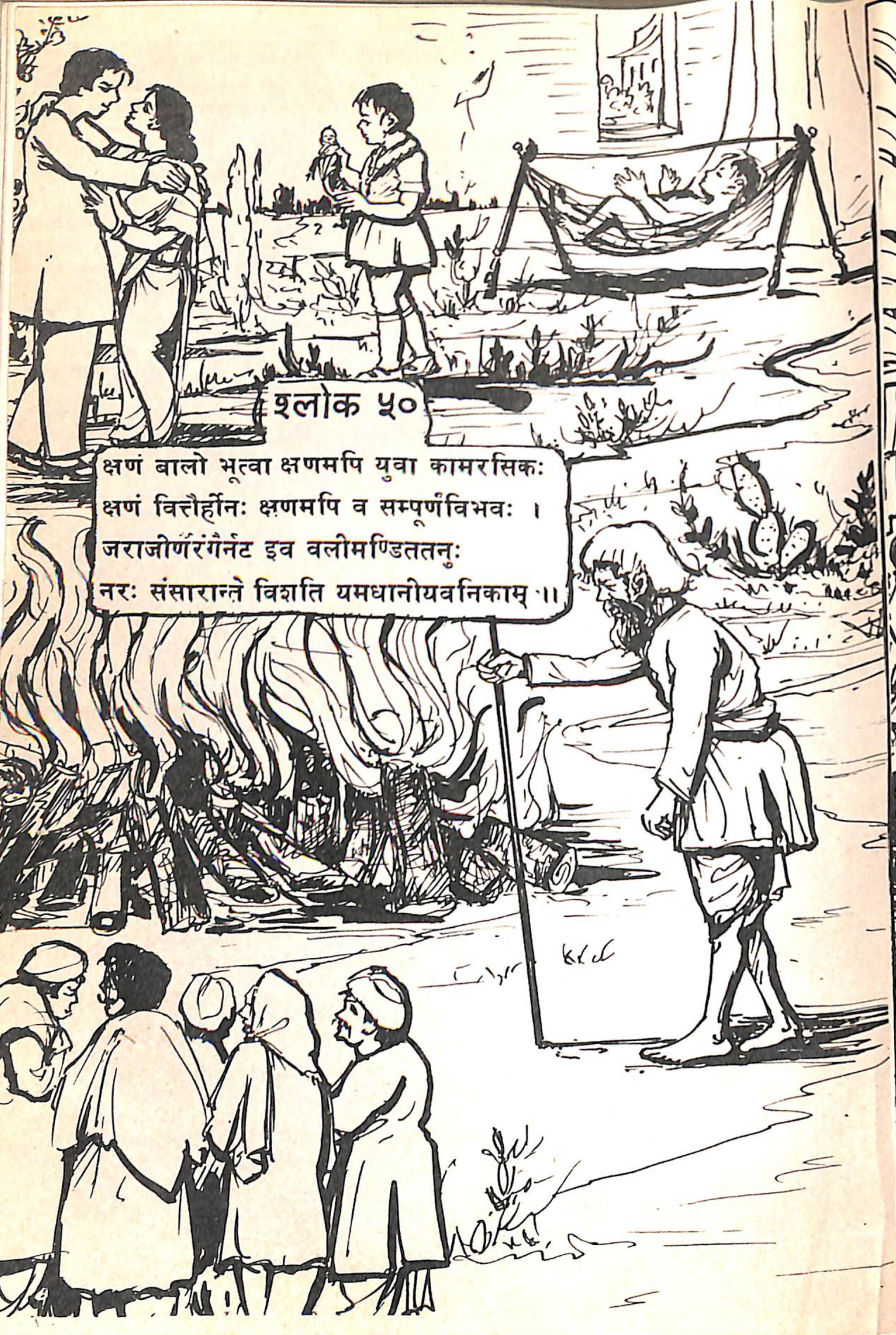

श्लोक ५०

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि व सम्पूर्णविभवः ।
जराजीर्णैरंगैर्नट इव वलीमण्डिततनुः
नरः संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम् ।।

परमानन्द का अनुभव हो जाए तो निश्चय ही संसार भर के वैभव के बदले में उस परमानन्द की प्राप्ति की लालसा को त्याग न सकेगा।

चतुर्थ दशक का सारांश

श्लोक नं—३१ संसार में भोगों के साथ सदा भय लगा हुआ है।
—३२ जन्म से मरण तक विपदा ही विपदा है।
—३३ सदा चिन्ताएँ सताती रहती हैं।
—३४ मां के पेट से ले कर मसान घाट तक चैन नहीं है।
—३५ मनुष्य कष्ट झेलते हैं, पर मूर्खता नहीं छोड़ते।
—३६ सुख सम्पत्ति अस्थिर है; योग साधना से चित्त को स्थिर करना चाहिए।
—३७ धैर्य के साथ साधना करने से चित्त की स्थिरता प्राप्त होती है।
—३८ लोभ-लालच छोड़ कर कर्तव्य कर्म करते हुए परमपद की चेष्टा करनी चाहिए।
—३९ संसार-सागर से तरने का एक मात्र उपाय ईश्वर-चिन्तन है।
—४० ब्रह्मानन्द के सामने तीनों लोकों का आधिपत्य भी तुच्छ है

इस प्रकार इस दशक में संसार ही नहीं, स्वर्गादि सुखों को भी अस्थाई सिद्ध करने के बाद मनुष्य को सर्व त्यागी बन कर साधु-जीवन की शिक्षा देते हुए आगे के श्लोकों में साधु-सन्त की उच्चता को सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है।

श्लोक ४१

सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्वृत्ताः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥

पदच्छेद

परिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः = परिषत् + ताः + चन्द्रबिम्ब
+आननाः
निवहस्ते = निवहः + ते
वन्दिनस्ताः = वन्दिनः + ताः
वशादगात् = वशात् + अगात्

पदान्वय

सा रम्या नगरी सः महान् नृपतिः तत् सामन्त चक्रम् च
तस्य पार्श्वे सा विदग्ध परिषत् ताः चन्द्र-बिन्ब-आननाः
सा उद्वृत्त राजपुत्र निवहः ते वन्दिनः ताः कथाः
सर्वं यस्य वशात् स्मृति-पथम् अगात् तस्मै कालाय नमः

शब्दार्थ

सा	=वह	तस्य	—उसके
रम्या	—सुन्दर	पार्श्वे	—अगल बगल
नगरी	—शहर	सा	—वह
स महान्	—वह बड़ा	विदग्ध परिषत्	—विद्वाभों की सभा
नृपतिः	—राजा	ताः	—वह
तत्	—वह	चन्द्र-बिम्ब-आननाः	—चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाली युवतियां
सामन्त-चक्रम्	—अधीन राजाओं का समूह		

च	—और
सा	—वह
उद्वृत्त	—बल पौरुष वाले अथवा उद्दण्ड
राजपुत्र निवहः	—राजकुमारों के समूह
ते वन्दिनः	—वह स्तुति गान करने वाले
च	=और
ताः कथाः	—वह बातें
सर्वम्	—सब
यस्य वशात्	—जिसकी महिमा से
स्मृति-पथम्	—यादगार (मात्र)
अगात्	—बन गये
तस्मै कालाय	—उस काल देव को
नमः	—नमस्कार है ।

शब्दार्थ

रमणीय नगरी थी, विशाल राज्य था, अनेकों सामन्तगण थे, विद्वानों की राज-परिषद था, सुन्दर रानियां थीं, प्रतिभाशाली राजकुमार थे, खुशामदी दरबारी थे और मन लुभाने वाली उनकी बातें थीं: यह सब कुछ प्राप्त था, किन्तु समय का फेर है कि आज उन सब की एक स्मृति मात्र रह गयी है । काल ऐसा बली है कि कुल धरा का धरा रह गया और मैं अकेला रह गया । इसलिए मैं उस बली के सामने माथा नवा कर प्रणाम करता हूँ ।

विशेषार्थ

पिछले दशक में बतलाया गया था कि सुख अस्थाई है । इस दशक में समय की महिमा का वर्णन किया गया है । समय ऐसा बली है कि उसके सामने किसी का कुछ बस नहीं चलता । एक चक्रवर्ती राजा की मिसाल देकर यह बताया गया है कि सारा साम्राज्य,वैभव, दल-बल, सभी काल के कौर बन गए । काल ऐसा बली कि उसकी सुन्दर राजधानी मिट्टी में मिल, गयी, दुर दूर तक फैले हुए साम्राज्य का अंत हो गया, जो छोटे बड़े राजा उसके इशारे पर उठते बैठते थे, वे आज उसका नाम भी नहीं लेते, सारे दरबारी नौ-दो ग्यारह हो गये । अंत में जो रानी और राजकुमार थे उनका भी संग छुट गया । पहले सार्वभौम सम्राट था, अब सर्वहारा सन्यासी है । यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब तक राज-पाट था, तब नक राजमहल था, सदा दरबार भरा रहता था, खूब आव भगत और खुशामद होती थी ।

खुशामद क्या है ? इसमें केवल गुण-गान ही नहीं होता, जो थोड़ा सा गुण हो उसे बढ़ाकर बखाना जाता है। किन्तु यह तभी तक होता है जब तक वह अधिकारारूढ़ होता है। ज्यों ही वह सत्ताहीन हो जाता ,है त्यों ही उन ही लोगों को उसमें वे गुण दिखायी नहीं देते जो पहले दीखते थे। यही नहीं, यदि पहले जो अच्छी बातें उसमें नाम मात्र के लिए भी न रही हों उन्हें अपनी तरफ से गढ़ लिया जाता था, तो अब जो बुरी बातें उसमें न हो वह उन्हें स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं, या अपनी ओर से गढ़ लेते हैं।

यह श्लोक किसी निरंकुश या अत्याचारी राजा के बारे में है जिसके पास राज्य की सुव्यवस्था के लिए विद्वानों का एक परिषद था। सब राज-पाट उसी परिषद की राय से चलता था। ऐसे न्यायशील व्यक्ति के साथ भी दुनिया का ऐसा दुर्व्यवहार होता है। और तो और, स्वयं उसकी रानी और उसके पेट से पैदा हुए राजकुमार भी उसकी ओर मुंह फेर लेते हैं। यह ठीक है कि यदि कोई व्यक्ति सन्यास ले ले तो उसके स्त्री बच्चे उसे रोक नहीं सकते, रोकना भी नहीं चाहिए। किंतु इतना तो किया ही जा सकता है और करना ही चाहिये कि जब तक वह जीवित रहे तब तक उसकी खैर-खबर तो लिया करे और सेवा शुश्रूषा किया करे। वैराग्य की मूर्ति होते हुए भी अपने पिछले वैभव की स्मृति उसे सता रही है। इसमें संदेह नहीं कि वैराग्य से वह विचलित नहीं हो रहा है, वह अपनी दुर्गति पर रो भी नहीं रहा है; उसे वेदना है केवल अपने परिजनों के दुर्व्यवहार पर। परन्तु उसके लिए किसी को क्या दोष दिया जाय ? संसार की गति ही ऐसी है। इसी को समय या काल कहा गया है।

समय, काल, इन शब्दों का प्रयोग बुरे दिनों के लिए ही हुआ है। तब ऐसे बुरे समय को प्रणाम करने का क्या मतलब है ? इसके दो मतलब लिए जा सकते हैं। एक तो उस बुरे काल को दूर ही से प्रणाम करना कि वह हम पर कृपा करे और हम से दूर ही रहे। दूसरा अर्थ यह है कि काल स्वयं परमात्मा की इच्छा ही है, बल्कि स्वयं परमात्मा है। इसलिए यह प्रणाम उस परमात्मा के लिए है जो इस संसार चक्र को चलाने वाला है।

श्लोक ४२

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते ।
इत्थं नेयौ रजनिदिवसौ लोलयन् द्वाविवाक्षौ
कालः कल्यो भुवनफलके क्रीडति प्राणिशारैः ॥

पदच्छेद

यत्रानेकः = यत्र + अनेकः
क्वचिदपि = क्वचित्+अपि
तिष्ठत्यथैकः =तिष्ठति +अथ+एक
यत्राप्येकस्तदनु = यत्र + अपि + एकः +तत्+अनु
बहवस्तत्र = बहवः +तत्र
चान्ते = च + अन्ते
द्वाविवाक्षौ = द्वौ + इव + अक्षौ

पदान्वय

क्वचित् अपि गृहे यत्र अनेकः तत्र अथ एकः तिष्ठति यत्र एकः अपि तदनु तत्र बहवः च अन्ते न एकः अपि इत्थम् कल्यः कालः इमौ रजनि दिवसौः द्वौ अक्षौ इव भुवन फलके लोलयन् प्राणि शारैः क्रीडति

शब्दार्थ

क्वचित् अपि गृहे=किसी घर में (चौपड़ के खेल में)
यत्र =जहां
अनेकः =बहुत से (गोट रहते हैं)
तत्र =वहां
अथ =अब, बाद में
एकः =एक ही
तिष्ठति =रह जाता है,
यत्र =जहां (जिस घर में)

एकः अपि	=एक ही (है)
तत् अनु	=उसके बाद
तत्र	=वहां
बहवः	=बहुत से (हो जाते हैं)
च	=और
अन्ते	=अन्त में
न एकः अपि	=एक भी नहीं रह जाता
इत्थम् च	=और इस प्रकार
कल्यः कालः	=समर्थ काल–पुरुष
इमौ	=इस
रजनी दिवसौ	=रात दिन को
द्वौ	=दो
अक्षौ इव	=चौपड़ के पासे के समान
भुवन फलके	=संसार रूपी चौपड़ पर
लोलयन्	=लुढ़का लुढ़का कर
प्राणि शारैः	=प्राणी रूपी गोटियों से
क्रीडति	=खेलता रहता है

भावार्थ

चौपड़ के खेल में ऐसा होता है कि जिस घर में पहल बहुत से गोट होते हैं वहां कभी एक ही गोट रह जाता है। इसी प्रकार जिस घर में एक गोट होता है वहां कई एक इकट्ठे हो जाते हैं और अन्त में सब घर खाली हो जाते हैं। खेल समाप्त हो जाता है। इस संसार की लीला भी चौपड़ या जुए के समान है। काल पुरुष जुआडी है। सारा संसार चौपड़ है। रात-दिन पासे या कौड़ी हैं। समस्त प्राणी उसके गोट हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में पुराने वैभव की ओर संकेत करके कहा गया था कि चक्रवर्ती राजाओं को भी काल की महिमा से कैसे दुर्दिन देखने पड़ते हैं। इस श्लोक में उसी का समाधान है। संसार के व्यापार को जुआ कहा गया है। जुए में जुआड़ी लोग अपनी-अपनी रकम ले कर बैठ जाते हैं। रात भर जुआ चलता है। बाजी पर बाजी लगती है। कभी कोई अपनी सारी कमाई को खो बैठता है और कभी किसी एक ही के पास समूची रकम इकट्ठी हो जाती है। चाहे जो अपना सारा खो बैठे, या कोई बाकी सबका आप ही बटोर ले,

किन्तु रकम तो वही और उतनी ही रहती है जिसे जुआड़ी पहले अपने साथ लिए बैठे थे। न कहीं से नई रकम आती है और न वहां से पुरानी रकम कहीं चली जाती है। वही रकम बारबार चक्कर काटती रहती है। किसी एक के पास टिक कर नहीं रहती। किन्तु जुआ से कोई व्यक्ति धनी हुआ हो ऐसा देखने में नही आता। हां, नंगे सभी जरूर हो जाते हैं।

संसार में वैभव, धन-दौलत और परिवार का भी यही हाल है। किसी एक व्यक्ति के यहां देखते-देखते बरसात के कीड़ों के समान पोती पोतों से घर भर जाता है और नई-नई कोठियां खड़ी हो जाती हैं। इसी प्रकार किसी का अचानक दिवाला खसक जाता है और अन्त में अकेला चल बसता है। भाग्यवान भिखारी बनता है। टुकड़ा मांगने वाला अटारियां खड़ी करता है। यह तो संसार की गति है। सबका यही हाल है—किसी का पहले और किसी का पीछे। यों ही कहने की बात नहीं है—हूबहू यही होता है। आज किसी भी धनी या वैभवशाली कुटुम्ब का पता लगाइए, दो चार पीढ़ियों से पीछे का अता-पता कुछ नहीं लगता। कुछ लोग ऐसे अवश्य मिलते हैं जिनके पास पीछे सौ वर्षों का लेखा आदि मौजूद होता है। इसमें उन लोगों ने कितने ऊँच-नीच देखे हैं वह भी स्पष्ट दिखाई देगा। किन्तु ऐसे व्यक्तियों का करोड़ों के पीछे एकाध का मिलना भी कठिन है। साधारणतया किसी को बाप-दादा से पीछे की बात याद नहीं पड़ती। परन्तु वही लोग अपने सम्बन्ध में भूल जाते हैं कि यही बात उनकी सन्तान की भी हो सकेगी। इसलिए इस संसार रूपी जुए में कौन धनी है और कौन दरिद्र, कौन सुखी है और कौन दुखी, इसका विचार करना ही व्यर्थ है। यह गति तो सभी के सिर मढ़ी है।

इसी बात को दूसरी तरह भी देख सकते हैं। वही जुआ वाली मिसाल लें। चारों जुआड़ियों में से एक ने कोट पहन रखा है जिसके चार जेब हैं। यदि वह रुपया रखे एक जेब में, और खाली जेव में हाथ डाल कर रोने लगे कि मेरा रुपया लुट गया तो यह मूर्खता नहीं तो क्या है? जब तक नोट उसके पास हैं, रुपया किसी जेब में रहे, इकट्ठे रहे या थोड़ा-थोड़ा सब जेबों में बटा रहे, कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक कोट के चार जेब, एक खेल के चार जुआड़ी या एक समाज के चार परिवार, सब एक ही बात है। यदि एक ही कोट की एक जेब भरी रहे, मगर दूसरी जेब खाली रहे तो जिस प्रकार हमें चिन्ता नहीं

होती उसी प्रकार समाज में किसी के पास धन रहे और किसी के पास न रहे तो धन रहने वाले को न खुश होने की जरूरत है और न न रहने वाले को दुःख मानने की। हां, समाज में भी इतना होना चाहिए कि जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने एक जेब के खाली होने पर दूसरी जेब में हाथ डाल कर पैसा निकालता है, उसी प्रकार एक व्यक्ति का हाथ खाली रहे तो वह पास के दूसरे व्यक्ति से बिना किसी हिचक के ले सके या पा सके, अस्तु।

किन्तु इस श्लोक में एक दूसरी ही बात कही गयी है। ईश्वर स्वयं जुआड़ी है। संसार चौपड़ है। हम सब गोट हैं। गोटों का अधिकार ही क्या है? जहां से हटाये हटते हैं और जहां बिठाये बैठते हैं। अन्त में खेल खतम पैसा हजम। मदारी बोरिया बगल में दाब चल देता है। तो क्या संसार को झूठा खेल जान कर मनुष्य को कुछ करना-धरना नहीं चाहिए? ऐसी बात नहीं है। कुछ नहीं तो खेल तो है ही। खेल में भी तो सब बातें विधि से करनी पड़ती हैं। तब ही वह खेल कहलाता है। यदि संसार को निरा तमाशा ही समझें तो भी उस तमाशे को सफल बनाने के लिए प्रत्येक प्राणी को अपना-अपना कर्तव्य कर्म करना ही चाहिए। ठीक उसी प्रकार जैसे छोटे-छोटे बच्चे गुड्डा-गुड्डी के खेल में तल्लीन रहते हैं बड़ों को भी भगवान का गुड्डा-गुड्डी बन कर जीवन बिताना चाहिए।

श्लोक ४३

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरां उन्मत्तभूतं जगत्॥

पदच्छेद

गताततैरहरह = गत + आगतैः + अहः + अहः
कालोऽपि = कालः + अपि
व्यापारैर्बहु = व्यापारैः + बहु
त्रासश्च = त्रासः + च
नोत्पद्यते = न + उत्पद्यते
मदिरामुन्मत्ता = मदिराम् + उन्मत्ता

पदान्वय

आदित्यस्य गत-आगतैः अहः अहः जीवितम् संक्षीयते
बहुकार्य-भार गुरुभिः व्यापारैः कालः अपि न ज्ञायते
जन्म जरा विपत्ति मरणम् दृष्ट्वा त्रासः च न उत्पद्यते
मोह मयीम् प्रमाद मदिरम् पीत्वा जगत् उन्मत्ता भूतम् ।

शब्दार्थ

आदित्यस्य	=सूर्य के	जरा	=बुढ़ापे
गत-आगतैः	=आने जाने से	विपत्ति	=मुसीबत (और)
अहः अहः	=दिन पर दिन	मरणम्	=मौत को
जीवितम्	=आयु	दृष्ट्वा	=देखकर
संक्षीयते	=घटती जाती है.	त्रासः च	=(दिल में) डर भी
बहु	=बहुत से	न उत्पद्यते	=नहीं पैदा होता,
कार्यभार	=कामों के भार से	जगत्	=दुनिया
गुरुभिः	=(और) बड़े	मोहमयीम्	=भ्रम से भरी
व्यापारैः	=धन्धों से	प्रमादमदिराम्	=भूल रूपी शराब
कालः अपि	=समय भी	पीत्वा	=पीकर
न ज्ञायते	=नहीं जान पड़ता	उन्मत्तभूतम्	=बद-हवास हो गयी है
जन्म	=पैदा होने		

भावार्थ

एक-एक दिन के साथ उम्र घटती जा रही है। दुनिया भर के धंधों में फंसे रहने के कारण यह भी पता नहीं रहता कि कितनी उम्र कट गयी। जन्म से लेकर मरने तक आये दिन की आफतों को और अंत में मृत्यु को अपनी आंखों देखते हुए भी भय नहीं खाते कि हमारी भी यही गति होने वाली है। इसका कारण यही है कि लोग मोह में पड़े हैं। उनकी बुद्धि मारी गयी है। इसलिए वे अपनी दुर्गति को आप देख नहीं पाते।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में रात-दिन को दो पासे कहा था। इस श्लोक में बताया है कि इन पासों को लुढ़काने से बाजी पड़ती है। एक बार के पासे में यानी रात दिन के एक चक्कर में एक दिन की आयु कट जाती है। इस प्रकार रोज ही उम्र घटती रहती है। उस बाजी का एक परिणाम यह हुआ। इस बीच में नित नयी विपत्तियों का सामना रहता है। यह दूसरा परिणाम है। किन्तु लोग समझते हैं कि मौज में दिन कट रहे हैं। इसी भ्रम को दूर करने के लिए आगे बुढ़ापा तथा मृत्यु की बात कही गयी है जो किसी के टाले नहीं टलती। बुढ़ापे और मृत्यु के सम्बन्ध में पीछे कहा जा चुका है। यहाँ पर मोह मदिरा पर ही विचार कर लें।

मोह भूल को कहते हैं। भोलापन कहिए। इसी को नशा कहा गया है। नशा करने से केवल बुद्धि पर ही इसका प्रभाव पड़ता हो, सो बात नहीं है। नशे की हालत में शरीर को चोट पहुँचाने पर उसे कष्ट नहीं होता। शरीर के सुन्न पड़ जाने के कारण ऐसा नहीं होता, बल्कि इसलिए होता है कि उसके ज्ञानतन्तु बेकार हो जाते हैं। शरीर के कष्ट को मस्तिष्क तक पहुँचाने की शक्ति उनमें नहीं रह जाती। मस्तिष्क के समान शरीर भी निकम्मा हो जाता है। मनुष्य चलना चाहता है परन्तु नशे की हालत में उसके पैर लड़खड़ा जाते हैं। किसी चीज को उठाना या फेंकना चाहता है, पर हाथ काम नहीं देता।

इस प्रकार शरीर और बुद्धि दोनों बेकार हो जाते हैं। उसे नशे का सुरूर रहता है। यही अज्ञान या मोह है।

संसार का धंधा ही नशा है। हम लोग गलत और हानिकारक कामों को करते हैं और समझ बैठते हैं कि सुख भोग रहे हैं। ऐसा इसलिए होता है कि हमारे सूक्ष्म ज्ञान तन्तु बेकार हो चुके हैं इसलिए हमें वास्तविक स्थिति का बोध नहीं हो पाता। यह हुई बुद्धि के भ्रष्ट हो जाने की बात। अब शरीर के सुन्न पड़ जाने की बात देखिए। शुरू-शुरू में प्रायः और बाद में कभी-कभी सभी को भले बुरे का आभास होता है। अन्तरात्मा पुकार-पुकार कर कहती है कि हमसे भूल हो रही है। किन्तु बुद्धि के बताते हुए भी हम उसे कार्यान्वित नहीं कर पाते। वास्तव में उसी शराबी के समान शरीर पर हमारा काबू नहीं रह जाता। इस प्रकार अन्त में शराब के सुरूर की शरण लेकर हम लोग अपने मोह को ही मौज समझ बैठते हैं।

श्लोक ४४

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा मुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः।
व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरित्थंविधेनामुना
संसारेण कदर्थिता वयमहो मोहान्न लज्जामहे॥

पदच्छेद

सैव = सा एव
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव = धावन्ति + उद्यमिनः + तथा + एव
तत्तत्क्रियाः = तत् + तत् + क्रियाः
पुनरुक्त = पुनः + उक्त

विषयैरित्थम् = विषयैः + इत्थम्
विधेनामुना — विधेन + अमुना
वयमहो — वयम् + अहो
मोहान्न = मोहात् + न

पदान्वय

रात्रिः पुनः सा एव, दिवसः स एव मत्वा जन्तवः उद्यमिनः तथा एव, निभृत प्राराब्ध तत्तत् क्रियाः पुनः उक्त विषयैः व्यापारैः मुधा धावन्ति इत्थम् विधेन अमुना संसारेण कदर्थिता वयम् मोहात् न लज्जामहे

शब्दार्थ

सा एव =वही
रात्रिः =रात है
पुनः =फिर
स एव =वही
दिवसः =दिन है
पुनः सा एव =फिर वही (दिन-रात) हैं
मत्वा =(ऐसा) जानकर (कल और आज में कोई अंतर न करके)
जन्तवः =प्राणी
उद्यमिनः =प्रयत्न पूर्वक
तथा एव =उसी प्रकार
निभृत =निश्चित
प्रारब्ध —भाग्य से
तत् तत् क्रियाः=उन उन कामों के (पीछे)

मुधा =व्यर्थ ही
धावन्ति =दौड़ा करते हैं,
पुनः = बार बार
उक्त =कहे हुए
भुक्त =भोगी हुई
विषयैः =वस्तुओं से
व्यापारैः =कामों से
इत्थम् विधेन =इस प्रकार
अमुना संसारेण=इस संसार से
कदर्थिताः =पीड़ित होकर
वयम् =हम लोग
मोहात् =मोह अथवा अज्ञान से
न लज्जामहे =लज्जित नहीं होते

भावार्थ

वही रातें और वही दिन फिर-फिर आते हैं, फिर-फिर जाते हैं। इसे भली भाति जानते हुए भी लोग उन्हीं कामों को बार-बार करते जाते हैं और नियत रूप से प्रारब्ध में बदे कामों को अपना पुरुषार्थ समझ बैठते हैं और ठोकरें खाते हैं। इस प्रकार संसार में धक्के पर धक्के खाते हुए भी अफसोस है कि हम लोग अपनी मूर्खता पर लजाते नहीं हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जो बात कही गयी थी उसी को इस श्लोक में दूसरे रूप में कहा गया है। सूर्य के निकलने छिपने को पिछले श्लोक में रात दिन कहा था। इसी प्रकार विभिन्न धंधों को प्रारब्ध कर्म और जन्म मरण आदि विपत्तियों को संसार के झपेटे कहा है। अन्त में जिस मोह के कारण लोग ऐसा करते हैं उसे मूर्खता कहा है। इस मूर्खता को सिद्ध करने के लिए मनुष्य के कामों की मिसाल दी गयी है। काम दो तरह के हैं। एक वह काम जो रोजगार धंधे के रूप में किये जाते हैं, दूसरे वह काम जिन्हें लोग अपने-अपने संस्कार के अनुसार किसी प्रकार की लत में पड़ जाते हैं। खेती, व्यापार, नौकरी पहली श्रेणी के हैं और दूसरी श्रेणी में आते हैं चोरी, व्यभिचार आदि। इन सब को श्लोक में प्रारब्ध कर्म कहा गया है, जो पहले से ही रहस्यमय ढंग से प्रत्येक प्राणी के साथ लग जाते हैं। इन दोनों प्रकार के कामों में भी मनुष्य की जो मनोवृत्ति होती है उसकी ओर विशेष संकेत है। इन कामों में मनुष्य अपनापन या अपना पुरुषार्थ समझता है। इस प्रकार शारीरिक धर्म या प्रारब्ध कर्म से अपनापन जोड़ने को मूर्खता कहा गया है। इस मूर्खता का मूल कारण मोह है। मोह नशा है और नशे में मूर्खता ही हो सकती है।

यहां पर एक सवाल उठता है। जब प्रारब्ध ही हमारे कार्यों का प्रेरक है तब क्या किसी पर मूर्खता का आरोप किया जा सकता है? प्रारब्ध में किसी का बस ही क्या है? इसका समाधान सरल है। शराब पीकर उल्टे सीधे बका करें तो दोष शराब पीने का है। शराब न पियें तो न बुद्धि भ्रष्ट होवे और न शरीर निकम्मा बने। यहाँ पर मोह अथवा अज्ञान ही नशा है। नशा धन-

दौलत और सत्ता का भी होता है। और यह नशा ही मोह अथवा अज्ञान है। अज्ञान में न फंसने पर ज्ञान का उदय होगा। ज्ञान मूलक व्यापार में कुकर्मों की संभावना नहीं है। इस प्रकार प्रारब्ध के निर्माण में प्राणी का अधिकार सिद्ध है। मनमानी कर के भाग्य को कोसना बेजा है। इसी लिए अन्त में फटकार सुनायी गयी है।

श्लोक ४५

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत् संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिंगितम्
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम्॥

पदच्छेद

पदमीश्वरस्य = पदम् + ईश्वरस्य
विधिवत्संसार = विधिवत् + संसार
पटुर्धर्मोऽपि = पटुः + धर्मः + अपि
नोपार्जितः = न + उपार्जितः
पयोधरोरु = पयोधर + उरु
केवलमेव = केवलम् + एव
स्वप्नेऽपि = स्वप्ने + अपि
नालिंगितम् = न + आलिंगितम्

पदान्वय

संसारविच्छित्तये ईश्वरस्य पदम् विधिवत् न ध्यातम्
स्वर्ग-द्वार-कपाट-पाटन-पटुः धर्मः अपि न उपार्जितः
नारी-पीन-पयोधर-उरु-युगलम् स्वप्ने अपि न आलिंगितम्
वयम् मातुः यौवन-वन-छेदे केवलम् कुठारा एव

शब्दार्थ

संसार विच्छित्तये = संसार से छुटकारा पाने के लिए
ईश्वरस्य = ईश्वर के
पदम् = चरणों (का)
विधिवत् = शास्त्र विधि के अनुसार
न ध्यातम् = ध्यान नहीं किया गया
स्वर्ग-द्वार-कपाट = स्वर्ग के द्वार की कपाटों को
पाटन = खोलने में
पटुः = समर्थ
धर्मः अपि = धर्म भी
न उपार्जितः = नहीं किया गया (पुण्य नहीं कमाया)

नारी = स्त्री (के)
पीन पयोधर = पुष्ट छातियों (और)
उरु युगलम् = दोनों जांघ
स्वप्ने अपि = स्वप्न में भी
न आलिंगितम् = (अपने) से नहीं चिपका लिये गये
वयम् = हम
केवलम् = केवल
मातुः = माता की
यौवन वन = जवानी के बन को
छेदे = काट डालने में
कुठारा एव = कुल्हाड़ा ही हैं।

भावार्थ

नियम से ईश्वर का भजन नहीं किया कि संसार से छुटकारा पा जाता। कुछ धर्म भी नहीं किया कि स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती। कम से कम स्वस्थ स्त्री को छाती से लगाने का सुख भी नहीं जाना। जन्म क्या लिया, माता के यौवन तथा स्वास्थ्य को बरबाद किया।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में मोह की मूर्खता की निन्दा की गयी थी। इस श्लोक में बताया है कि मनुष्य को मोह से बचकर क्या करना चाहिए।

मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम इन चार फलों की प्राप्ति मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। मोक्ष सबसे श्रेष्ठ है। विधिपूर्वक ईश्वर का ध्यान करने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इस विधि में दोनों बातें हैं—उसे सुनिश्चित विधि से करना और करते जाना। मनमानी करने और जल्दी करने से मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। यह है आत्मा सम्बन्धी कर्त्तव्य।

सामाजिक कर्त्तव्य दूसरे नम्बर पर हैं। इससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। धर्म को स्वर्ग प्राप्ति का साधन कहा गया है। यहाँ पर धर्म के विस्तृत अर्थ लेने चाहिएं। धर्म पालन में धन की कमाई भी शामिल है। विद्याध्ययन, माता-पिता तथा गुरुजनों की सेवा, आजीविका कमाना, बन्धु-मित्र और परिजनों के साथ उपकार करना, यह सब धर्म के अन्दर आते हैं। किसी निरापद उपाय से धन कमाना, सत्ता प्राप्त करना और उसके द्वारा परोपकार में लगे रहना अर्थ का प्रयोजन है। इस प्रकार धनोपार्जन करके धर्म का पालन करने से मनुष्य स्वर्ग का अधिकारी होता है।

तीसरी श्रेणी में शारीरिक सुख की बात कही गयी है। सुख क्या है? जितनी देर के लिए दुःख का लेशमात्र भी अनुभव न हो और शरीर को अकथनीय आनन्द का अनुभव हो, वही सुख है। साधारणतया अच्छे खाने पहिनने में सुख जान पड़ता है। किन्तु सुख का सम्बन्ध शरीर की अपेक्षा मन से अधिक है। दुनिया की आंखों में खाते-पीते हुए भी दिल के किसी कोने में वेदना हो सकती है। किन्तु एक सुख है स्त्री सम्भोग में। चाहे क्षण भर के लिए ही क्यों न हो, आत्यंतिक सुख का अनुभव होता ही है। मानो उस क्षण भर के लिए संसार में दुःख का नाम ही न हो। कवि उस क्षणिक सुख से भी वंचित है, स्वप्न में भी उसका अनुभव नहीं किया।

यह स्वप्न क्या चीज है और उसका मूल्य क्या है? जिन बातों का हमने अनुभव किया हो या जिनकी भावना हमारे मन में उठती हो, वही बातें स्वप्न

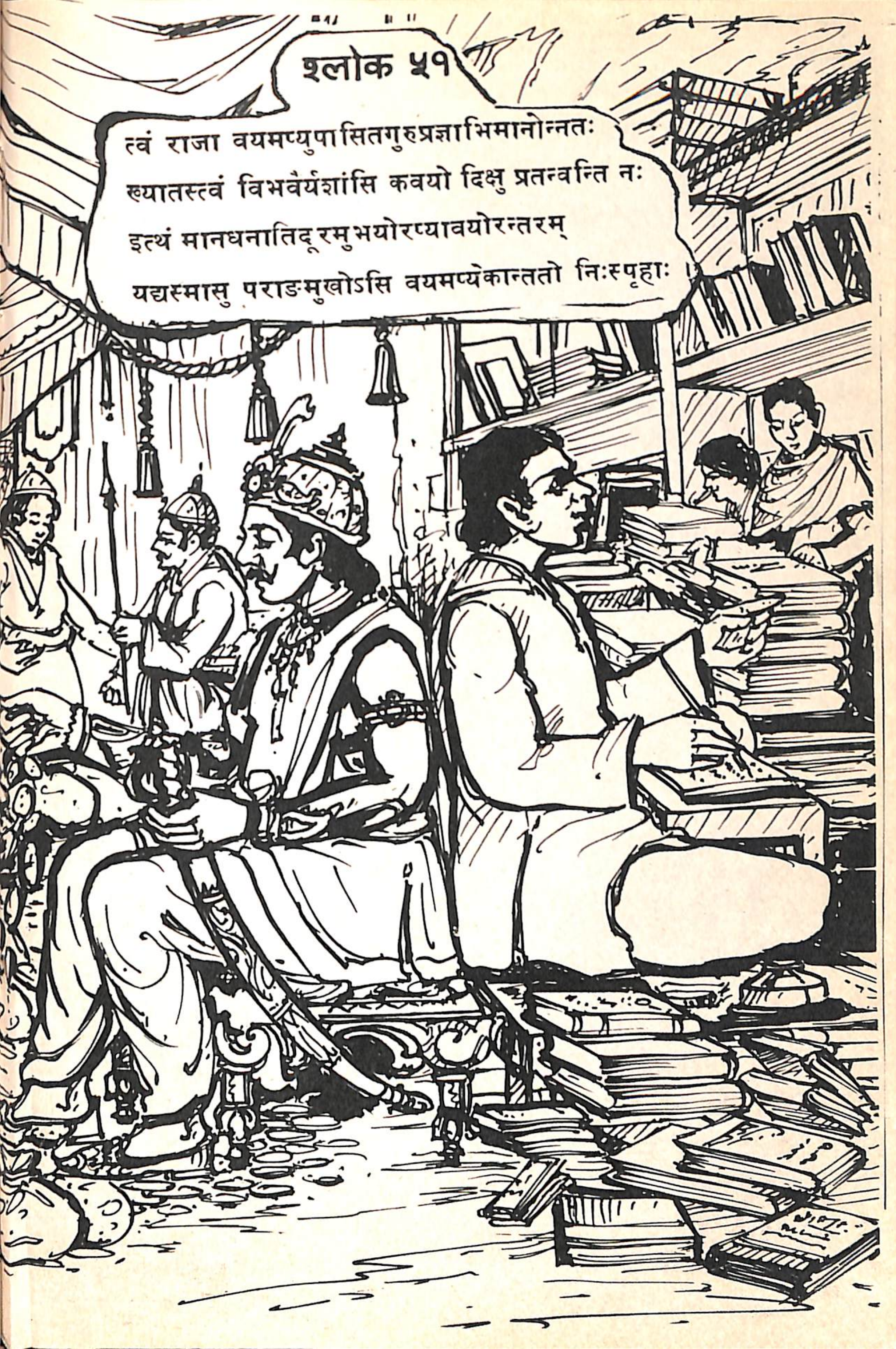

श्लोक ५१

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नतः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः
इत्थं मानधनातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरम्
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः

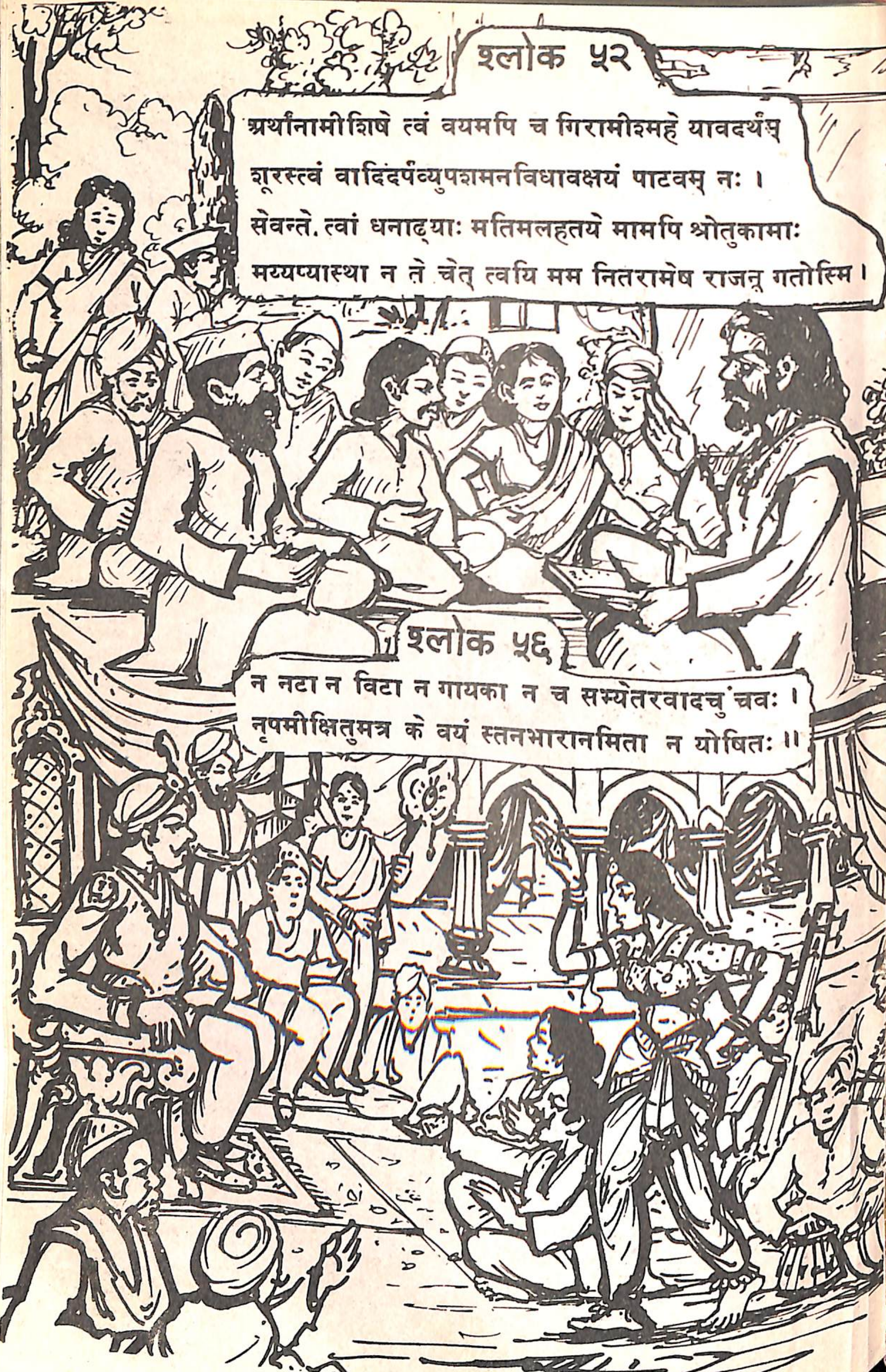

श्लोक ५२

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदर्थंम्
शूरस्त्वं वादिदर्पव्युपशमनविधावक्षयं पाटवम् नः ।
सेवन्ते. त्वां धनाढ्याः मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामाः
मय्यप्यास्था न ते चेत् त्वयि मम नितरामेष राजन् गतोस्मि ।

श्लोक ५६

न नटा न विटा न गायका न च सभ्येतरवादचुंचवः ।
नृपमीक्षितुमत्र के वयं स्तनभारानमिता न योषितः ॥

में दिखायी देती हैं। जो वस्तु हमारी कल्पना के बाहर हो, उसे हम स्वप्न में नहीं देख सकते। स्वप्न में भी स्त्री का सुख नहीं देखा, इसका मतलब यही है कि जीवन इतना कष्टमय रहा कि इस प्रकार के सुख की कल्पना के लिए उसके मस्तिष्क में स्थान ही नहीं था। याद रहे कि यहां पर सन्तों के तपोमय जीवन की बात नहीं कही जा रही है। अब रहा स्वप्न की बातों का मूल्य। हमने स्वप्न में देखा कि हमारा गला कट गया या हीरे जवाहरात का मूल्यवान हार गले में पड़ा है। किन्तु जागने पर किसी का कोई निशान नहीं पाया जाता। गले का कट जाना या गले में हार पड़े रहना, दोनों झूठ निकलते हैं। हमें यह झूठा आलिंगन भी प्राप्त नहीं है।

फिर भी स्वप्न के विचारों का कुछ मूल्य जरूर है। यदि कोई साधु पुरुष स्वप्न में भी चोरी, व्यभिचार की बातें देखे तो समझना चाहिए कि उसके अन्दर उन पापों के कीटाणु वर्तमान हैं, अनुकूल परिस्थितियां पाकर वह बुरे कार्य में परिणत भी हो सकते हैं। इसके विपरीत स्वप्न के विचार अच्छी कसौटी भी साबित हो सकती है। भयकंर स्वप्न देखकर जो मनुष्य स्वप्नावस्था में भी न घबड़ाए तो वह सच्चा वीर है। स्वप्न में हिंसक जन्तुओ को भी मारने की इच्छा न करे तो वह सच्चा अहिंसक है। यदि कोई सन्यासी स्वप्नावस्था में भी कभी किसी स्त्री के सम्पर्क का अनुभव न करे तो समझना चाहिए कि उसने कामदेव को वश में कर लिया है। इस प्रकार किसी व्यक्ति ने अपने किसी आदर्श में किस हद तक सिद्धि प्राप्त की है, इसका अनुमान प्रत्येक मनुष्य अपने स्वप्न के विचारों से कर सकता है।

इस श्लोक में मोक्ष, स्वर्ग, पत्नी सुख, जीवन के भिन्न-भिन्न लक्ष्य मान लिये गये हैं। इनमें हर पहला लक्ष्य दूसरे से श्रेष्ठ है। आवागमन से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। जिन इच्छाओं को लेकर मनुष्य शरीर त्यागता है, उन्हीं विचारों की पूर्ति के लिए जन्म लेता है। इस प्रकार इच्छाओं से मुक्त हो जाना ही मुक्ति का साधन हुआ। तब तो मरने के बाद ही मुक्ति मिले, यह जरूरी नहीं है। इसी जीवन में इच्छा-रहित हो जाने पर जीवन्मुक्त हो सकते हैं। इसको सिद्ध करने का साधन बताया है ईश्वर का विधिवत् ध्यान। निष्काम भावना से ईश्वर के नाम पर कर्तव्य कर्म को करते जाना ही ईश्वर की सच्ची

आराधना है। यह यदि एक मात्र साधन न हो तो कम से कम एक निश्चित साधन है ही।

अब दूसरे नम्बर में स्वर्ग की बात लें। जिस प्रकार निष्काम कर्म से इसी जीवन में मुक्ति की सिद्धि हो सकती है, उसी प्रकार इसी शरीर से स्वर्गीय सुख भी भोगे जा सकते हैं। सकाम कर्मों का फल स्वर्ग है। पर पीड़न के बिना, बल्कि परोपकार के साथ भोगे जानेवाले सुखों को हम स्वर्गीय सुख कह सकते हैं।

अन्त में एक पत्नी-व्रत का पालन करते हुए सुयोग्य सन्तान का उत्पन्न करना भी एक पुरुषार्थ है।

माता अपनी सन्तान के लिए ऊपर बताए गये चारों प्रकार के पुरुषार्थ की कामना करती है। इन आशाओं का फलना ही माता का सुख है। इसके विपरीत यदि उसकी आशाओं पर पानी फिर गया तो जन्म वृथा है। अपना जीवन बिगाड़ा और माता को भी दुखी बनाया। कितने कष्ट सह कर माता हमें जन्म देती है। उसके स्वास्थ्य पर गहरा असर पड़ता है। वह जल्दी कमजोर और बूढ़ी हो जाती है। ऐसे ही जन्म को माता की जवानी पर कुल्हाडे की मार कहा गया है। ऐसे लोग धरती-माता के लिए भार रूप हैं। उन्हें शादी करके अपने ही समान निकम्मी सन्तान पैदा कर के संसार-रूपी स्वर्ग को नरक कुंड बनाने का कोई हक नहीं है।

श्लोक ४६

नाभ्यस्ता प्रतिवादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः।
कान्ताकोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत्॥

पदच्छेद

नाभ्यास्ता = न + अभ्यस्ता
विनीतोचिता = विनीत + उचिता
खड्गाग्रै: = खड्ग + अग्रै:
दलनैर्नाकम् = दलनै: + नाकम्
पल्लवाधर = पल्लव + अधर
चन्द्रोदये = चन्द्र + उदये
गतमेव = गतम् + एव
निष्फलमहो = निष्फलम् + अहो
शून्यालये = शून्य + आलये

पदान्वय

प्रतिवादिवृंद दमनी विनीत-उचिता विद्या न अभ्यस्ता
करि कुम्भ पीठ दलनै: खड्ग-अग्रै: यश: नाकम् न नीतम्
चन्द्र-उदये कान्ता कोमल-पल्लव-अधर-रस: न पीत:
अहो शून्य-आलये दीपवत् तारुण्यम् निष्फलम् नीतम् एव

शब्दार्थ

प्रतिवादिवृन्द =विरोधी समूह को
दमनी =दबाने, हराने योग्य
विनीत उचिता =विनम्र तथा योग्य
विद्या न अभ्यासिता=विद्याओं का अभ्यास नहीं किया
करि कुम्भ पीठ =हाथी के मस्तक के पटिये को
दलनैः =चीरने में
खड्ग अग्रै =तलवार की नोक से
यशः =जस
नाकम् =स्वर्ग में
न नीतम् =नहीं पहुंचा,
चन्द्र उदये =चांद निकलने पर चांदनी रात में
कान्ता =अपनी स्त्री के
कोमल पल्लव =मुलायम पत्तियों के समान
अधर रसः =ओठों के रस को
न पीतः =नहीं पिया,
शून्य आलये =सूने घर में
दीपवत् =दीपक के समान
तारुण्यम् =जवानी
निष्फलम् =वृथा
गतम् एव =चली गयी
अहो =हाय ! हाय !

भावार्थ

न तो मैं विद्या बल से सभाओं में विरोधियों का हरा पाया, शारीरिक बल तथा पौरुष से मैदान में दुश्मन को जीत कर दुनिया में नाम कर पाया, और न चांदनी रातों में ही प्रीतम के मुलायम ओठों का रस पान कर छक पाया। मेरी जवानी वैसे ही वृथा बीती जैसे सूने घर का दीप।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक ही का यह उल्टा है। इस में भी उन्हीं चारों फलों की प्राप्ति के ध्येय को दुहराया गया है। यहां साधन कुछ भिन्न हैं, पर साध्य वही है— विद्या, धन तथा यौवन का उपयोग। विद्वान अपनी विद्या से अमरत्व को प्राप्त होता है। भले ही वह धन कमाकर सुख न भोग सके, उस की रचना अमर होती है। वह अपने ज्ञान चक्षु से मुक्ति के मार्ग को विलक्षण रूप से देख लेता है। इसीलिए समाज में धनी या सत्ताधारी की अपेक्षा विद्वान का मान बड़ा है। किन्तु इस श्लोक में विद्वान को भी वीर पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। दूसरे विद्वानों को अपनी विद्वत्ता से पराजित करना यह राजसी वृत्ति है। किन्तु शुद्ध सात्विक वृत्ति ही मुक्ति का साधन है। इसलिए खंडन-मंडन की विद्या को मोक्ष का अधिकारी होने की बात नहीं कही गयी है। वह संसार में अमर हैं, शायद ऐसे विद्वान मोक्ष को प्राप्त न हों। यही ठीक भी जंचता है। क्योंकि इसी श्लोक में आगे पुरुष-पुन्गव को सीधे स्वर्ग का अधिकारी न कहकर उसके यश को ही स्वर्ग तक पहुंचा दिया गया है। इसी प्रकार शस्त्रास्त्र तथा अत्याचारों से जो लोग सत्ता को प्राप्त हो जाते हैं, निश्चय ही वह भी स्वर्ग के अधिकारी नहीं बन सकते। हां संसार में उनका नाम इतना होता है कि स्वर्ग में उनकी गूंज पहुँच जाती है, या कम से कम समाज ऐसा समझने लगता है। अन्त में, ऐसा लगता है कि इस श्लोक में स्त्री सम्भोग को भी इसी ढंग में व्यक्त किया गया है। कदाचित संकोचवश बल प्रयोग की चर्चा नहीं की है। पिछले श्लोक में माता के लिए वेदना प्रकट की है तो इसमें अपनी जवानी का रोना रोया है। बहरहाल बात वही है। तीनों सुख भी कुछ घटिया रूप के हैं क्योंकि तीनों में अपने पराक्रम का विचार प्रबल रहता है। शायद स्त्री-प्रसंग में भी परस्पर सुख का ध्यान गौण है। यह 'स्व' की भावना तीनों

प्रकार के व्यक्तियों में कम या अधिक समान रूप से पायी जाती हैं। विद्वान की विद्वत्ता, सत्ताधारी का शासन तथा कामुक की विषयलोलुपता, तीनों में प्रेम की अपेक्षा साधारणतया स्वार्थ तथा हिंसा वृत्ति ही प्रेरक होती है।

श्लोक ४७

विद्या नाधिगता कलंकरहिता वित्तं च नोपार्जितम्
शुश्रूषाऽपि समाहितेन मनसा पित्रोर्न सम्पादिता ।
आलोलायतलोचना युवतयः स्वप्नेऽपि नालिंगिताः
कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेर्यते ।

पदच्छेद

नाधिगता = न + अधिगता
नोपार्जितम् = न = उपार्जितम्
शश्रूषाऽपि = शुश्रूषा + अपि
पित्रोर्न = पित्रोः + न
स्वप्नेऽपि = स्वप्ने + अपि
नालिंगिताः = न + आलिंगिताः
कालोऽयम् = कालः + अयम्
काकैरिव = काकैः + इव

पदान्वय

कलंक रहिता विद्या न अधिगता, वित्तम् च न उपार्जितम् समाहितेन मनसा पित्रोः शुश्रूषा अपि न सम्पादिता आलोलायत लोचनाः युवतयः स्वप्ने अपि न आलिंगिताः अयम् कालः काकैः इव परपिण्ड लोलुपतया प्रेरितः

शब्दार्थ

कलंक रहिता विद्या=निर्दोष विद्या का
न अधिगता =अभ्यास नहीं किया
वित्तंच =धन भी
न उपार्जितम् =नहीं कमाया
समाहितेन मनसा=शुद्ध चित्त से
पित्रोः =माता-पिता और गुरुजनों की
शुश्रूषा अपि =सेवा भी
न सम्पादिता =नहीं की,
आलोल =चंचल
आयत =बड़ी बड़ी
लोचना =आँखों वाली
युवतयः =युवतियों को
स्वप्ने अपि =स्वप्न में भी
न आलिंगिता =छाती से नहीं लगाया
अयम् कालः =यह समय (सारा जीवन)
काकैः इव =कौओं के समान
पर पिंड लोलुपतया=पराये अन्न को ललचाते हुए
प्रेरितः =बीत गया

भावार्थ

न किसी निर्दोष विद्या का पूर्णतया अध्ययन किया और न निष्पाप धन का संचय किया, न माता-पिता तथा गुरुजनों की दिल से सेवा की और न सुन्दर रमणियों के साथ रमण ही किया, किन्तु हमने सदा पराए कौर पर आशा लगाये तुच्छ कौए का-सा जीवन बिताया।

विशेषार्थ

इस श्लोक और पिछले दोनों श्लोकों का भाव समान है। 'न ध्यात पदमीश्वरस्य' श्लोक के साथ दोनों श्लोकों को मिला कर पढ़ने से कवि का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। तीनों में क्रम से उत्तम, मध्यम और साधारण कोटि के व्यक्तियों के जीवन का उद्देश्य बताया गया है। श्लोक ४५ में उत्तम कोटि की स्वर्गीय आत्मा की कल्पना की गयी है। बाद के दोनों श्लोकों में सांसारिक व्यक्तियों का चित्रण है। इसके दो भेद किये गये हैं। श्रेष्ठ कोटि के लिए कहा गया है कि यदि वह विद्याभ्यास करें तो उसे भी सीमा तक

पहुंचा दे कि मुकाबले में कोई दूसरा व्यक्ति टिक न सके। बल पौरुष की साधना करे तो ऐसी कि सारी पृथ्वी और आकाश में उसका यश समा जाए। अन्त में इस श्लोक के अन्दर साधारण श्रेणी के लोगों के प्रति कहा गया है कि वह ऐसी विद्या सीखें जो कलंक रहित हो।

विद्या जैसी पवित्र वस्तु में कलंक कैसा? आजकल ठग-विद्या का बोल-बाला है। पाश्चात्य विचार-धारा ने विद्या के समान पवित्र वस्तु को भी कलंकित कर रखा है। विज्ञान जो ईश्वरीय रहस्यों के समझने का साधन है, उसे सृष्टि के संहार का साधन बना लिया गया है। साधारण वकील, डाक्टर आदि अपनी विद्या को दूसरों को ठगने में लगाते हैं। आजकल लोग चालाकी को ही विद्या समझ बैठे हैं। जो विद्या इस प्रकार के दोषों से रहित हो वही निष्कलंक विद्या है। ऐसी निर्दोष विद्या के साथ विनय शीलता का होना स्वाभाविक ही है। यही बात बल, पौरुष की है। संसार का आधिपत्य पाकर घमंड में चूर न हों, बल्कि साधुता तथा सदाचार ही को अपना ध्येय बनावें। श्लोक में आगे धनोपार्जन के साथ कोई विशेषण तो नहीं है, किंतु 'वित्तंच' अर्थात् 'धन भी' कहकर इसी बात की ओर संकेत किया गया है कि धन भी निष्कलंक यानी पाप-रहित होना चाहिए। धन कमाने के लिए ऐसा व्यवसाय या धन्धा अपनाना चाहिए जिसमें समाज का उपकार हो। उसमें सहायता करने वाले नौकर तथा मजदूरों को उनका पूरा हक दिया करें। फिर अपने लिए आवश्यक धन लेकर, बाकी को जन-सेवा में लगा दें। सेवा शुश्रूषा में, चाहे नौकरी के रूप में हो अथवा माता-पिता गुरुजनों की सेवा हो, उसे दिल से करना चाहिए।

इन तीनों श्लोकों में एक बात का संकेत और मिलता है। तरुणावस्था में जब तक कुछ सीखने का अवसर रहे, कोई विद्या या कला कौशल न सीखे और जवानी में कमाने खर्च करने के लायक न रहे, ऐसे लोगों का वैवाहिक जीवन भी सुखी नहीं हो सकता। इस प्रकार पिछले तीनों श्लोकों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के धर्म गिनाये गये हैं। यहां पर "धर्म" गुण कर्म के अनुसार है, जन्म से नहीं। परन्तु सभी धर्मों के साथ स्त्री सम्भोग की चर्चा है। इसकी किसी अवस्था में मनाही नहीं है। स्वर्ग की प्राप्ति ही नहीं एकदम मोक्ष पाने

में भी स्त्री बाधक नहीं हैं। इन श्लोकों में इसकी साफ़ झलक है। निश्चय ही स्त्री-सम्पर्क में एक पत्नीव्रत तथा ऋतु-काल की मर्यादा का पालन अभीष्ट है। अन्त में पराये अन्न के लिए 'कौए' का जीवन बिताने की बात कहकर ऐसे लोगों की निंदा की गयी है, जो घर द्वार त्यागकर झूठ ही साधु का स्वांग रचकर संसार का भार बढ़ाते हैं। इन्हें निम्न कोटि के मानव माना गया है।

श्लोक ४८

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ।

पदच्छेद

जाताश्चिर = जाताः + चिर
तेऽपि = ते + अपि
इदानीमेते = इदानीम् + एते
दिवसमासन्न = दिवसम् + आसन्न
गतास्तुल्यावस्थां = गताः + तुल्य + अवस्थाम्

पदान्वय

वयम् येभ्यः जाताः ते चिरपरिगता एव खलु
यैः समम् संवृद्धाः ते अपि स्मृति-विषयताम् गमिताः
इदानीम् वयम् सिकतिल-नदीतीर-तरुभिः तुल्य-अवस्थाम् गताः
प्रति दिवसम् आसन्न पतनाः एते स्मः

शब्दार्थ

वयम् = हम
येभ्यः = जिनसे (जिस माता पिता से)
जाताः = जन्मे
ते = वे
चिरपरिगताः एव खलु = बहुत पहले बीत गये,
यैः समम् = जिनके साथ
संवृद्धाः = बढ़े थे
ते अपि = वे भी
स्मृति विषयताम् = याद करने की वस्तु (मात्र)
गमिताः = हो गये,
इदानीम् = अब इस बुढ़ापे में
वयम् = हम
सिकतिल = रेतीले
नदी तीर तरुभिः = नदी तट के पेड़ के
तुल्य–अवस्थाम् = समान दशा को
गताः = प्राप्त होकर
प्रतिदिवसम् = हर दिन
आसन्न-पतनाः = मरने को तैयार
एते स्मः = यह बैठे हैं

भावार्थ

अरसा बीता माता-पिता जाते रहे। संगी साथी भी चल बसे। हम स्वयं बूढ़े हो चले। इस बुढ़ापे में हमारी दशा उस पेड़ की–सी है जो किसी नदी के रेतीले तट पर खड़ा हो और किसी भी समय नदी में बह जाने को हो।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में इस बात पर चिन्ता प्रकट की गयी थी कि जब तक कुछ करने लायक रहे तब तक तो कुछ किया धरा नहीं। युवावस्था में कोई कला कौशल नहीं सीखा और जवानी में कोई पुरुषार्थ नहीं किया। इस श्लोक में बीती बातों पर पश्चात्ताप करते हुए बुढ़ापे में अपने को एकदम लाचार और बे-बस पाता है। अपने अच्छे दिनों में भी उनकी खैर खबर न लें, तो भी माता-पिता अपनी संतान को कष्ट भोगते स्वयं देख नहीं सकते। सो तो रहे नहीं। माता-पिता के बाद दूसरा नम्बर उन लोगों का है जो साथ खेले-कूदे या साथ-साथ पले या बढ़े। ये लोग दो तरह के होते हैं, एक भाई-बहिन, दूसरे दोस्त-साथी। इन तीनों में से यदि एक भी न रहा तो मानना होगा कि संसार

में साधारणतया कोई सहायक नहीं रहा। इनके अलावा एक चौथे प्रकार का भी साथी होता है। शरीर में यदि कस-बल बाकी रहे तो उससे भी बहुत कुछ आशा बनी रहती है। सो उसका भी सहारा नहीं रहा। बूढ़ा हो गया। अकेला रह गया।

बुढ़ापे को नदी किनारे खड़े पेड़ की उपमा दी गयी है। नदी की धार और बाढ़ से सदा उसकी जड़ों से मिट्टी खिसकती जाती है। अर्थात् बुढ़ापा मौत की निशानी है। इतना ही नहीं वह पेड़ बालू के तट पर है। उसे अकेले पानी की धार या बालू ही से खतरा नहीं, आंधी-तूफान का एक झोंका भी उसको जड़ से उखाड़ फेंक सकता है। बुढ़ापे में ऐसी बेबसी होती है मनुष्य की।

मानव स्वयं अपनी दशा नहीं जान पाता, तो पेड़ पहाड़ को वह क्यों गिनने जाय ? पहाड़ तो न जाने कब से खड़े हैं और कब तक ज्यों की त्यों खड़े रहेंगे। एक-एक पेड़ के नीचे कई-कई पीढ़ियाँ बीत जाती हैं। कमजोर अंगूर की बेल भी तीन-तीन सौ वर्ष पुरानी जहां-तहां पाई जाती हैं। पीपल, बरगद, देवदार आदि हजार-हजार वर्ष तक चलते रहते हैं। श्लोक में नदी तीर के वृक्ष की बात कही गयी है। लेखक को एक तटवर्ती इमली की याद आती है। शहर हैदराबाद में मूसा नदी के किनारे आज भी खड़ी है वह इमली। उस्मानिया दवाखाने के ठीक सामने। सन् १६०५ में मूसा में भयंकर बाढ़ आई थी। आधा शहर बह गया था। न जाने कितने हजार बूढ़े-बच्चे बह गये उस बाढ़ में। पानी इतना था कि उस तटवर्ती इमली की केवल डाल-डाल दिखाई पड़ती थी। पास में बहते हुए लोगों ने इमली के डालों टहनियों का सहारा लेने की चेष्टा की। बाढ़ उतरने पर उस बूढ़े इमली पर (१८५) व्यक्ति जीवित बच निकले। उस पेड़ पर आज तक एक बोर्ड टंगा है कि पेड़ ने बाढ़ में कितने प्राणी बचाये थे।

कहावत है—इमली बूढ़ी भले ही होवे, पर उसकी खटाई बूढ़ी नहीं होती। मनुष्य भले ही बूढ़ा हो जाय परन्तु यदि उस की मानवता बूढ़ी न होवे तो वह स्वयं मरते-मरते लाखों-करोड़ों में नया प्राण फूंक जाता है। मारने-मरने का डंका बज जाता है, पर बचाने वाले और बचने वालों की गिनती कौन करने जाय। ईसा मसीह सूली पर झूल गये तो आगे आने वाले अरबों-खरबों को

प्राण दान कर गये। महात्मा गांधी सीने पर गोली लेकर भारतवर्ष का बल्कि संसार भर का कितना उपकार कर गये। स्वयं इस अकिंचन लेखक ने मरने की ठानने मात्र की महिमा देखी है।

भारत की स्वतन्त्रता के बाद निजाम हैदराबाद में रज़ाकार-बवंडर उठा। हिन्दू जनता में त्राहि-त्राहि मची। तथा कथित जनता के लीडरान ने पास-पड़ौस के प्रदेशों में शरण लिया। दिल्ली स्थित इस स्वतन्त्रता सेनानी के दिल में खलबली मची कि जन्म-भूमि हैदराबाद के प्रति उसका भी तो कुछ कर्तव्य है कि देश के कर्णधार लीडरों के मना करने पर भी आप अकेले रज़ाकार हैंदराबाद में प्रवेश किया। कहानी लम्बी होगी, पर इतना जरूर कह दूं कि हजारों की जानें बची हैं और आप आज तक जीवित हैं। साधारण सैंकड़ों की जान बचा सकता है तो एक कमज़ोर बूढ़ा भी हजारों लाखों को बचा सकता हैं, बशर्ते कि आप स्वयं मानवता न खो बैठे।

श्लोक ४९

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धम् गतम्
तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरंगचंचलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्।

पदच्छेद

आयुर्वर्ष = आयुः + वर्ष
तदर्धम् = तत् + अर्धम्
तस्यार्धस्य = तस्य + अर्धस्य
चार्धमपरम् = च + अर्धम् + अपरम्
सेवादिभिर्नीयते = सेवा आदिभिः + नीयते

पदान्वय

नृणाम् आयुः वर्षशतम् परिमितम्, तत्-अर्धम् रात्रौ गतम्
तस्य परस्य अर्धस्य अपरम् अर्धम् बालत्व वृद्धत्वयोः गतम्
शेषम् व्याधि-वियोग-दुःखसहितम् सेवा-आदिभिः नीयते
वारि-तरंग-चञ्चलतरे जीवे प्राणिनाम् सौख्यम् कुतः

शब्दार्थ

नृणाम्	मनुष्यों की
आयुः	उम्र
वर्षशतम्	सौ वर्ष
परिमितम्	सीमित है (थोड़ी है)
तत् अर्धम्	उसका आधा
रात्रौ	रात में
गतम्	बीता,
तस्य	उस (के)
परस्य	बाकी के
अर्धस्य	आधे के
अपरम् अर्धम्	और आधा
बालत्व वृद्धत्वयोः	बचपन और बुढ़ापे में
गतम्	बीता,
शेषम्	बाकी
आयुः	उम्र
व्याधि	रोग
वियोग	जुदाई के
दुःख सहितम्	दुखों से भरी हुई
सेवा आदिभिः	चाकरी वगैरह में
नीयते	बीतती है,
वारि-तरंग	पानी की लहरों के से
चञ्चलतरे	अति चंचल
जीवे	जीवन में
प्राणिनाम्	मनुष्यों को
सौख्यम्	सुख
कुतः	कहां है ?

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में यह कहा था कि जीवन के किसी भाग में कुछ कर नहीं पाया। इस श्लोक में हिसाब लगा कर सिद्ध किया है कि इस छोटे से जीवन में वास्तव में कुछ किया ही नहीं जा सकता। मनुष्य यदि पूरी आयु तक जीवे तो भी वह अधिक से अधिक १०० वर्ष ही जी सकता है। संसार का जीवन लाखों-करोड़ों वर्षों का है और इसमें प्रत्येक क्षण अरबों खरबों प्राणी अपनी जीवन लीला समाप्त कर मर जाते हैं। इस हिसाब से एक मनुष्य के सौ वर्ष

किसी गिनती-शुमार में भी नहीं हो सकते। इन सौ वर्षों का भी मनुष्य पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर सकता। पचास वर्ष रात के सोने में कट जाते हैं। बचपन और बुढ़ापे में साधारणतया मनुष्य से कोई पुरुषार्थ नहीं हो सकता। श्लोक के हिसाब से साढे बारह वर्ष लड़कपन के और इतने ही साल बुढ़ापे के निकाल देने पर रह जाते हैं केवल पच्चीस वर्ष। तीन चौथाई आयु तो इधर-उधर ही चली गयी। बची एक चौथाई। सौ साल में से केवल पच्चीस साल काम के लिए मिले। इन थोड़े से दिनों में इतनी चिन्ताएं घेरे रहती हैं कि मनुष्य को वास्तविक काम के लिए छुट्टी ही नहीं मिलती। इस प्रकार सौ वर्ष की लम्बी कहलाने वाली आयु भी नहीं के समान हुई। जब पूरी आयु पानेवाले भाग्यवानों का यह हिसाब है तो आधी-तिहाई उम्र पानेवालों की क्या गति होगी। उस आधी-तिहाई की भी कोई गारंटी है नहीं। न जाने कौन घड़ी श्वास बन्द हो जाए। ऐसी अवस्था में कोई किसी काम को क्या उठावेगा और क्या पूरा करेगा ?

सौ वर्ष के इस हिसाब पर जरा और विचार कर लेना जरूरी है। मान लिया जाए कि मनुष्य का आयु-प्रमाण सौ वर्ष पूरा है। फिर भी उन सौ वर्षों का श्लोक में दिया गया बंटवारा ज्यों का त्यों सही मानने योग्य नहीं है। श्लोक के अनुसार बचपन के साढे बारह वर्ष के बाद ही मनुष्य करने-धरने लायक नहीं हो पाता और न १०० में से साढे बारह वर्ष निकाल देने पर साढे अठासी वर्ष के बुढापे तक वह हट्टा-कट्टा बना रहता है। किन्तु इसमें रात के पचास वर्ष मिला लेने पर हिसाब ठीक निकल आवेगा। तब पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य, पचास तक गृहस्थ, पचहत्तर वर्ष तक वानप्रस्थ और उसके बाद सन्यास आश्रम का आरम्भ होगा। पहले पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का यथा विधि पालन करने पर ही बाकी आश्रमों में मनुष्य अपना कर्तव्य पालन के योग्य रहता है।

इस प्रकार काम-काज से छुट्टी पानेवाले अन्तिम सन्यास आश्रम का भी उतना ही महत्व है। लोगों से अपने-अपने आश्रमों का यथा विधि पालन करवाना भी सन्यासियों का काम है। यह ठीक है, पर विचारने से सब आश्रमों में गृहस्थ-धर्म का ही अधिक महत्व मालूम होता है। अन्य तीनों आश्रमों को

नियमित रूप में चलाना इसी गृहस्थाश्रम पर निर्भर है। गृहस्थी के कामी होने पर ब्रह्मचर्य आश्रम पर आघात पहुंचता है। उस के लोभी होने से वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश नहीं हो पाता और उन ही गृहस्थों के लालच और धन-लिप्सा से सन्यासी अपना कर्त्तव्य-पालन नहीं कर सकता। सर्व त्यागी सन्यासी को जनता की सेवा के लिए धन कमाना पड़ता है या सेवा के काम को छोड़ देना पड़ता है। इसलिए गृहस्थी को एक प्रकार से ब्रह्मचारी और सन्यासी की भावनाओं को साथ ले कर ही गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करना चाहिए और उसे निभाना चाहिए। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि दूसरे आश्रमवालों की कोई जिम्मेदारी नहीं है। उन की जिम्मेदारी है और बहुत ज्यादा है। किंतु गृहस्थ की भी उतनी ही ज्यादा है।

ऊपर के सौ वर्षों का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मनुष्य सौ वर्ष तक ही जीवित रह सकता है। पुराने लोग इससे अधिक जीते थे। आजकल भी सौ साल से ऊपर के लोग मिलते हैं। वास्तव में यह ऊपर दिये गये सौ वर्ष किसी जमाने की मनुष्य की औसत आयु थी और लोग सौ वर्ष तक जीवन का पूरा आनन्द उठाने योग्य बने रहते थे। अन्धे होते न थे, बहरे बनते न थे, हाथ में लकड़ी नहीं थामते थे, और इतने स्वस्थ जीवन के साथ पच्चीस वर्ष या रात-दिन लेकर पचास वर्ष तक दुनिया का काम धन्धा करते थे। तब भी इनमें से विरले ही वास्तविक पुरुषार्थ कर पाते थे। आजकल तो हिन्दुस्तान की औसत आयु तेईस या सत्ताईस वर्ष है। यह तो औसत है। लाखों प्रतिवर्ष इससे पहले ही काल के कौर हो जाते हैं। हालांकि इसी भारत में पहले बाप के सामने बेटा नहीं मरता था। लोगों की औसत आयु के गिरने से समाज की सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। हमारे बच्चे बचपन ही में जवान हो कर बाप बन जाते हैं और जीवन में पदार्पण करने की अवस्था को पहुंचते-पहुंचते मसान-घाट का रास्ता नापते हैं। पूरे १०० वर्ष की औसत पर भी श्लोक में "कुत: सुखम् ?" कहा है। विचारणीय विषय यह है कि वर्तमान बाईस वर्ष की औसत पर हमें कितना सिर धुन कर रोना चाहिए। औसत आयु के ह्रास हो जाने से समाज का जो ह्रास क्रमागत रूप से बढ़ता है उसके विचार मात्र से माथा ठनकने लगता है। छप्पन करोड़ के देश में औसत आयु के १०० से २३ तक गिर जाने से एक-एक पल में रुपये पैसों में करोड़ों, अरबों,

खरबों की जो हानि हो जाती है उसका हिसाब लगाया ही नहीं जा सकता। स्वस्थ भोजन और नियमित जीवन से देश की औसत आयु का बढ़ाना प्रत्येक सभ्य कहलाने वाले समाज तथा सरकार का प्रथम कर्त्तव्य है।

श्लोक ५०

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि व सम्पूर्णविभवः ।
जराजीर्णैरंगैर्नट इव वलीमण्डिततनुः
नरः संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम् ।।

पदच्छेद

क्षणमपि = क्षणम् + अपि
वित्तैर्हीनः = वित्तैः + हीनः
जीर्णैरंगैर्नट = जीर्णैः + अंगैः + नट
ससारान्ते = संसार + अन्ते

पदान्वय

नट इव क्षणम् बालः भूत्वा क्षणम् अपि काम-रसिकः युवा भूत्वा क्षणम् वित्तैः हीनः भूत्वा, क्षणम् अपि सम्पूर्णविभवः भूत्वा,
जरा-जीर्णैः अंगैः वली-मण्डित-तनुः
संसार-अंते यमधानी-यवनिकाम् विशति

शब्दार्थ

नट इव	= (रंगमंच के) नर्तक की तरह	क्षणम्	= थोड़ी देर
		बालः भूत्वा	= बच्चा बनकर
नरः	= मनुष्य	क्षणम् अपि	— थोड़ी देर ही

काम–रसिकः = प्रेमी रसिक
भूत्वा — बनकर
क्षणम् — थोडी देर
वित्तैः हीनः — धन से खाली (दरिद्र)
भूत्वा = बन कर
क्षणम् अपि — थोड़ी देर ही
सम्पूर्ण विभवः = खूब धन-दौलत से माला माल
भूत्वा — हो कर

जरा — बुढ़ापे में
जीर्णैः अंगैः — ढीले-ढाले-अंगों
वली मण्डित — झुरियों से भरे
तनुः — शरीर (के साथ)
संसार अंते — जीवन के अंत में
यमधानी — यमपुरी के
यवनिकाम् — परदे में
विशति — प्रवेश करता है, छिप जाता है

भावार्थ

संसार के रंगमच पर मनुष्य मानो एक पात्र है जो कभी बच्चा बनकर लीला दिखाता है तो कभी जवान बनकर रंगरलियां करता है। कभी दरिद्र बनकर भीख मांगता है तो कभी धनी बनकर ऐश करता है। फिर बूढ़ा बनकर लकड़ी टेकने लगता है। और अन्त में तमाशा खत्म करके परदे के पीछे छिप जाता है। फिर दिखाई नहीं पड़ता। मर जाता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जीवन को भिन्न-भिन्न भागों में बांटकर बताया गया था कि मनुष्य जो कुछ करता है कोरा दिखावा है। श्लोक नं० ४२ में कहा हैं कि संसार चौसर और मनुष्य उसके गोट हैं। यहां पर संसार को रंगमंच और मनुष्यों को उसके पात्र कहा है। नाटक में एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न भेस बदलता है। कभी वह नौकर बनता है तो कभी राजा। कभी पुरुष तो कभी स्त्री बनता है और स्त्रियों ही के समान व्यवहार करता हुआ तथा अपना पार्ट ठीक-ठीक अदा करके वाह-वाही लेता है। देखने वाले भी प्रसन्न हो जाते हैं। वह भी खुश होता है। और यदि काम ठीक न रहे तो सारा मजा किरकिरा हो जाता है।

मनुष्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उसे भी अपने जीवन में बच्चा, जवान, बूढ़ा, और दुखी, सुखी होना ही है। उसके लिए वह चिंतित न होवें, बल्कि उन उन अवस्थाओं में अपने कर्तव्य को प्रसन्नता के साथ पालन करे। रंगमंच पर सुखी राजा का पार्ट जिस खूबी से करना हो दुखी दरिद्र का पार्ट भी पटुता से करना होता है। ठीक उसी प्रकार हम मनुष्यों को जिस किसी अच्छी या बुरी दशा में रहें अपनी उस दशा में उतने ही प्रसन्न रहें जैसे नटग नटी नाटक में। सुखांत नाटकों की तरह दुखांत नाटक भी केवल मनोरंजन के लिए हैं। यह समझ कर मनुष्य अपने अपने कर्म को रोने की अपेक्षा खुशी खुशी अपने अपने कर्तव्य को पूरा करता जाये तो सुख और दुख दोनों दशाओं में समान रूप से शान्ति ही मिलेगी।

पंचम दशक का सारांश

श्लोक नं०—४१ समय इतना बली होता है कि महान साम्राज्य का वैभव भी मिट्टी में मिल जाता है।

—४२ संसार एक जुआ है, अन्त में सभी का विनाश है।

—४३ मोह अथवा अज्ञान नशे के समान है।

—४४ मनुष्य को मोह के वश में हो जाना लज्जा की बात है।

—४५ जीवन में कोई न कोई पुरुषार्थ करना ही चाहिए।

—४६ युवावस्था में ही किसी कला कौशल में प्रवीण होने की चेष्टा करनी चाहिए।

—४७ नहीं तो जीवन भर दूसरों का मुंह ताकना पड़ेगा।

—४८ बुढ़ापे में हाथ मलना पड़ेगा।

—४९ सौ वर्ष की सीमित आयु को भी हम लोग बेकार गंवाते हैं।

श्लौक—५० प्रत्येक अवस्था में अपने-अपने कर्तव्य पर डटे हुए संसार का नाटक सांगो पांग समाप्त करना चाहिए।

इस प्रकार इस दशक में महावली काल की महिमा गाने के वाद अगले में भाग्यवान राजा महाराजाओं की तुच्छता सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है।

श्लोक ५१

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नतः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः
इत्थं मानधनातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरम्
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः।

पदच्छेद

वयमप्युपासित=वयम्+अपि+उपासित
प्रज्ञाभिमानोन्नताः=प्रज्ञा+अभिमान+उन्नताः
ख्यातस्त्वं=ख्यातः+त्वम्
विभवैर्यशांसि=विभवैः+यशांसि
धनातिदूरमुभयोरपि-=धन+अतिदूरम्+उभयोः+अपि
आवयोरन्तरम् =आवयोः+अन्तरम्
पराङ्मुखोऽसि=पराङ्मुखः+असि
यद्यस्मासु=यदि+अस्मासु
वयमप्येकान्ततः=वयम्+अपि+एकान्ततः

पदान्वय

त्वम् राजा वयम् अपि उपासित गुरु प्रज्ञा-अभिमान उन्नताः
त्वम् विभवैः ख्यातः नः यशांसि कवयः दिक्षु प्रतन्वन्ति
इत्थं आवयोः उभयोः अपि अन्तरम् अतिदूरम्
यदि त्वम् अस्मासु पराङ्मुखः असि वयम् अपि एकान्ततः
निस्पृहाः स्मः ।

शब्दार्थ

त्वम् राजा — तुम राजा हो
वयम् अपि = (तो) हम भी
उपासित गुरु = गुरु की सेवा से
प्रज्ञा — विलक्षण ज्ञान के
अभिमान उन्नताः = स्वाभिमान से ऊंचे हैं,
त्वम् = तुम
विभवैः — धन दौलत में
ख्यातः — प्रसिद्ध हो (तो)
नः — हमारे
यशांसि = यश और कीर्ति
कवयः — कवि जन
दिक्षु = चारों दिशाओं में

प्रतन्वन्ति — फैलाते हैं,
इत्थम् = इस प्रकार
आवयोः उभयोः = हम दोनों में
मान-धन = मान और धन का
अंतरम् = भेद
अति दूरम् = बहुत भारी है,
यदि = अगर
त्वम् — तुम
अस्मासु = हमारी ओर से
पराङ्मुखः = मुंह फेरे हो
वयम् अपि = हम भी
एकान्ततः = एकदम
निस्पृहाः — उदासीन हैं ।

भावार्थ

तुम राजा हो तो हम भी ज्ञानी हैं । तुम्हारे पास धन है तो हमारे पास विद्या है । तुम्हारा राज्य भर में मान है तो संसार भर में हमारा सम्मान है । इस प्रकार तुम्हारे और हमारे बीच धन और मान का भारी अन्तर है । यदि तुम हमारी ओर ध्यान नहीं देते हो तो हमें भी तुम्हारी परवाह नहीं है ।

विशेषार्थ

पिछले दशक में समय की महिमा बताते हुए कहा गया था कि राजा टुकड़ों के लिए मोहताज हो सकता है और दरिद्र धनी बन सकता है। अंत में यह कहकर दशक को समाप्त किया गया था कि संसार को नाटक का रंगमंच समझ कर सबको समान दृष्टि से देखते हुए हर एक को अपना-अपना पार्ट पूरा करना चाहिए। इस दशक में यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि धनी और दरिद्र में कोई अन्तर नहीं है। बल्कि सांसारिक दृष्टि से जिसे तुच्छ समझा जाता है, वह वास्तव में उच्च है। यहां पर एक अत्यन्त वैभवशाली राजा और एक अत्यन्त कष्टमय जीवन बिताने वाले सन्यासी की मिसाल लेकर वाद-विवाद के रूप में सन्यास की श्रेष्ठता सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है। राजा के राज्य और उसकी धन सम्पत्ति की अपेक्षा विद्वान का ज्ञान तथा विद्वत्ता अधिक मूल्यवान है।

संसार में राजा और विद्वान दोनों का सम्मान होता है। फिर भी दोनों के सम्मान में भारी अन्तर है। राजा का मान डरके कारण होता है। राजा से केवल उसी की प्रजा डरती है, इसलिए प्रजा अपने राजा के प्रति दिखावटी मान दर्शाती है। उसके राज्य के बाहर राजा को कोई पूछता तक नहीं। अन्य राज्य में यदि सम्मान मिले तो उसके पीछे डर ही छिपा रहता है। हाँ, कुछ राजा महाराजाओं का बाहर भी सम्मान हुआ तो इसका कारण उसका राजत्व नहीं बल्कि उस राजा के व्यक्तिगत गुण हैं। उसी के सम्मान अच्छे गुण सैंकड़ों साधारण व्यक्तियों में भी होते हैं, किन्तु उन्हें वह सम्मान प्राप्त नहीं होता। इसका एकमात्र कारण है उसकी साधन-हीनता। राजा या धनी के साधन सम्पन्न होने से प्रचार खूब होता है और गरीब उससे वंचित रहता है। किन्तु विद्वान के साथ यह बात नहीं है। साधारणतया विद्वान के साधनविहीन होने पर भी उसकी कीर्ति दिगंतों में फैल जाती है। विद्वान की मान-मर्यादा के पीछे राजदण्ड का भय नहीं होता और उसकी यशोमहिमा को राज्यों की सरहदें रोक नहीं सकतीं। सर्वसमर्थ समय या काल भी उसके सामने सिर नमाता है। राजा का मान उसके जीवन के साथ समाप्त हो जाता है। परन्तु विद्वान का मान युग-युगान्तर तक बना रहता है। जिन राजाओं का नाम आज तक बाकी

है वह भी इन ही विद्वानों की कृतियों के कारण है। राजा विद्वान का मुहताज है, किन्तु विद्वान राजा का नहीं। इसलिए श्लोक में विद्वान की लापरवाही का बखान किया गया है।

यही बात सभी कलाकार, सैनिक, मजदूर और किसानों पर लागू होती है. जिनकी बदौलत राजा का राज्य स्थायित्व को प्राप्त होता है। इसीलिए सच्चे सन्यासियों को चाहिए कि सत्ताधारियों की परवाह न करें। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जो धनी हमें दक्षिणा आदि में उसकी–जैसी गाया करें या न देने पर स्वयं घमंडी बनकर अपने सामने किसी को कुछ न समझें। दुनिया के मानने या न मानने पर भी और कुछ मिलने या न मिलने पर भी सन्यासी को चाहिए कि स्वाभाविक रूप से परोपकार में लगा रहे और जो ठीक हो वही कहे और करे।

श्लोक ५२

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदर्थंम्
शूरस्त्वं वादिदर्पव्युपशमनविधावक्षयं पाटवम् नः ।
सेवन्ते त्वां धनाढ्याः मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामाः
मय्यप्यास्था न ते चेत् त्वयि मम नितरामेष राजन् गतोस्मि ।

पदच्छेद

अर्थानामीशिषे=अर्थानाम्+ईशिषे
वयमपि=वयम्+अपि
गिरामीश्महे=गिराम्+ईश्महे
यावदथम् = यावत् + अर्थम्

शूरस्त्वम् = शूरः + त्वम्
विधावक्षयं = विधौ + अक्षयम्
मामपि = माम् + अपि
मय्यप्यास्था = मयि + अपि + आस्था
नितरामेव = नितराम् + एव

पदान्वय

त्वम् अर्थानाम् ईशिषे वयम् अपि गिराम् यावत् अर्थम् ईश्महे
त्वम् शूरः नः अपि वादि-दर्प-व्युपशन-विधौ अक्षयम् पाटवम्
त्वाम् धनाढ्याः सेवन्ते, मति मल हतये माम् अपि श्रोतु-कामाः(सेवंते)
मयि ते आस्था न चेत् मम अपि त्वयि नितराम् (न आस्था)
एष राजन् ! गतोस्मि

शब्दार्थ

त्वम् =तुम
अर्थानाम् =धन सम्पत्ति के
ईशिषे —स्वामी, मालिक हो (तो)
वयम् अपि —हम भी
गिराम् =विद्याओं के
यावत् अर्थम् =समस्त अर्थों के
ईश्महे —अधिकारी हैं,
त्वम् =तुम
शूरः =वीर हो (तो)
नः =हमें (भी)
वादि-दर्प =शास्त्रार्थ में प्रतिवादी के घमंड को
व्युपशमन-विधौ— ठंडा करने की विधि में
अक्षयम् =बेहद
पाटवम् =पटुता है,
त्वाम् =तुम्हें
धनान्धाः (धनाढ्य)—गांठ के अन्धे
सेवन्ते =सेवते हैं (तो)
मति-मल-हतये—मन का मल हटाने के लिए
श्रोतु-कामा —सुनने की इच्छा रखने वाले
माम् अपि =मुझे भी
सेवन्ते =सेवते हैं
ते =(यदि) तुझे

मयि	=मुझ में	नितराम्	=एकदम (नहीं है)
आस्था	—श्रद्धा	राजन्	—अरे राजा
न चेत्	—न हो, तो	एष	—यह लो
माम् अपि	=मुझे भी	गतोस्मि	—मैं चला
त्वयि	=तुझमें, तेरे प्रति		

भावार्थ

तु एक छोटे-से राज्य का मालिक है तो मैं समस्त शास्त्रों का स्वामी हूँ। धन के अन्धे लालची तेरी खुशामद करते हैं तो मन का मैल धोने के लिए लोग मुझे घेरे रहते हैं। तू शस्त्रास्त्रों के चलाने में शूर है तो मैं शास्त्रार्थ मैं प्रवीण हूँ। तुझ में और मुझ में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। इसलिए यदि तू मेरा सत्कार नहीं करता है तो मैं भी तेरा आदर एकदम नहीं मानता। हे राजा, यह लो मैं चला।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक के भाव को ही इसमें प्रकारांतर से कहा गया है। यहां भी यही सिद्ध किया गया है कि बड़े से बड़े राजा से एक विद्वान सन्यासी अधिक सम्मान का अधिकारी है। धन के सामने विद्या, स्वार्थमय खुशामद की अपेक्षा साधु सज्जनों की सेवा, समर भूमि के शस्त्रास्त्रों के मुकाबिले में विद्वान-मण्डली का शास्त्रार्थ कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। धन और खुशामद की अपेक्षा विद्या तथा सेवा की श्रेष्ठता को साधारणतया सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु शस्त्रास्त्रों के धूम-धड़क्के के मुकाबिले में दार्शनिक विवेचन तथा शास्त्रीय समालोचना की खिल्ली ही उड़ाई जाती है। यह घोर मूर्खता है। वास्तव में एक कर्मठ विद्वान की गर्जना बम-तोपों की गड़गड़ाहट से अधिक भीषण है। सच तो यह है कि शान्ति के समान समरांगण में भी परिष्कृत विचारों का प्रभाव अधिक काम करता है। शस्त्रास्त्रों के चमत्कार और योधाओं के जौहर, वक्ताओं और विद्वानों के शोधपूर्ण परिश्रम के परिणाम ही होते हैं। शस्त्रास्त्रों का संचय तथा युद्ध के संचालन की प्रक्रिया भी किसी विशेष शास्त्र के अंतर्गत, ही होती है। अन्त में विजय का श्रेय भी उन ही सेनाओं को प्राप्त होता है

जो किन्हीं महान उद्देश्यों के प्रति अपनी भेंट चढ़ाने को तत्पर होती है। वह भी एक विद्या है किन्तु है विद्या का दुरुपयोग और यह झूठी विद्या है। इसीलिए परिणाम उसके स्थाई नहीं होते। संसार के बड़े-बड़े सेनापतियों के साम्राज्य उन ही के जीवन-काल में नष्ट-भ्रष्ट हो गये। इसके विपरीत तपोधन विद्वानों के सिद्धान्तों के सामने कट्टर रूढ़िवादियों को भी अपना सिर झुकाना पड़ा है। संसार में उन्हें दिल से स्वीकार किया और उसी से समाज का उत्कर्ष भी हुआ। राजाओं से समाज का संहार ही संहार हुआ है और विद्वानों के विचारों से समाज का सुधार ही सुधार हुआ है और इसी से समाज का अस्तित्व भी कायम है। राम, कृष्ण और मुहम्मद जैसे महापुरुषों ने भी अपने विचारों की स्थापना के लिए अस्त्र भी उठाये जरूर, मगर इन महापुरुषों में सामरिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य गुण न होते तो यह भी सिकन्दर और नेपोलियन की तरह महान योधा कहलाते और बस। किन्तु पशुबल का प्रयोग कभी मनुष्यत्व की परिपूर्णता का द्योतक नहीं हो सकता। बुद्ध क्राइस्ट, सुक्रात शंकर और गांधी ही मनुष्यत्व के अच्छे नमूने कहे जा सकते हैं। इसलिए श्लोक में यति का "रे राजा ! यह चला" सगर्व कहना और लापरवाही से चल देना उचित ही है।

श्लोक ५३

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।

पदच्छेद

वयमिह = वयम् + इह
वल्कलैस्त्वम् = वल्कलैः + त्वम्
निर्विशेषः = निः + विशेषः
कोऽर्थवान् = कः + अर्थवान्

पदान्वय

वयम् इह वल्कलः परितुष्टाः, त्वम् दुकूलः परितुष्टः
इह परितोषः समः इव, विशेशः निर्विशेषः
यस्य तृष्णा विशाला स तु दरिद्रः भवति
मनसि परितुष्टे कः अर्थवान् कः दरिद्रः (वद)

शब्दार्थ

वयम्	=हम
इह	=यहाँ
वल्कलैः	=पेड़ों के बल्कल से (छाल से बने वस्त्रों में)
परितुष्टाः	=खुश हैं,
त्वम्	=तुम
दुकूलैः	—सुन्दर मुलायम वस्त्रों में
परितुष्टाः	=खुश हो,
इह	=इस सम्बन्ध से
परितोषः	=प्रसन्नता
समः	=बराबर ही है,
विशेषः	=भेद
निर्विशेषः	=कुछ नहीं है,
यस्य	=जिसकी
तृष्णा	=लालच
विशाला	=भारी हो
स तु	=वह ही
दरिद्रः	=कंगाल
भवतु	=होवे,
मनसि परितुष्टे	=मन में तृप्ति होने पर
कः अर्थवान्	=कौन धनवान है,
कः दरिद्रः	=कौन दरिद्र है ? अर्थात् दोनों बराबर हैं।

भावार्थ

सुन्दर पीताम्बर पहनकर तुम जितने खुश हो, वल्कल धारण कर हम भी उतने ही प्रसन्न हैं। इस प्रकार जहां तक प्रसन्नता का सम्बन्ध है दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। किंतु वास्तविक बात दूसरी ही है। जिसका जी न भरे वह सब कुछ होते हुए भी कंगाल ही है, और जिसके मन के भीतर संतोष हो वह धनी बनने या दरिद्र बने रहने में समान रूप से प्रसन्न रहता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में यति राज-दरबार छोड़ कर चल देता है और वन में जा बसता है। तब वह बन के अपने जीवन और दरबार के राजा के जीवन में तुलना करता है। यहाँ पर पहनावे की बात को लेकर कहा गया है कि अपने-अपने वत्कल और दुकूलों में राजा और सन्यासी दोनों को समान रूप से प्रसन्नता रहती है। बाहरी पोशाक का प्रभाव भीतर के मन पर समान है। जो ऊपरी अन्तर सुन्दरता या दाम की दृष्टि से है उसका विशेष महत्व नहीं है। वस्त्रों के धारण करने पर मन को जो प्रसन्नता प्राप्त होती है वह किसी को कम या अधिक नहीं है। यहां वस्त्रों ही को इसलिए लिया गया है कि दुनिया शरीर के ऊपर वाले वस्त्राभूषण ही को देख सकती है, भीतरी मन को जाँचने के लिए उसके पास कोई माप-दण्ड नहीं है। परन्तु असली बात मन की स्थिति की है। इसी मन की स्थिति को लेकर आगे धनी और दरिद्र की व्याख्या की गयी है। राजा केवल राजा होने के कारण धनी नहीं माना जा सकता और न सन्यासी ही पेड़ों के पत्ते लपेटने से दीन हो सकता है। मन ही की प्रधानता है। यदि मन में तृष्णा समाई हो तो राजा होने पर भी वह दरिद्र ही है।

दरिद्रता क्या है ? आवश्यक वस्तुओं का अभाव ही दरिद्रता है। लालच तभी जोर मारता है, जब मनुष्य यह महसूस करता है कि उसके पास अमुक अमुक चीजें नहीं हैं या कम हैं। राजा उस कमी को महसूस करता है, उसका लालच नहीं पुरता, इसलिए वह निश्चय ही दरिद्र है, दरिद्र ही क्या बल्कि कंगाल है। यह शंका हो सकती है कि क्या एक सन्यासी का सत्कार न करने

मात्र से एक सर्व-सम्पन्न राजा कंगाल कहलाने योग्य है ? हां, है। मनुष्य जिस वस्तु को प्रचुर मात्रा में पाता है उसे दोनों हाथों से बांट देता है, या कोई उठा ले जावे तो उस पर आक्षेप नहीं करता। जैसे हवा पानी पर कोई रोक नहीं है। इसके विपरीत घर-दौलत में से थोड़ा सा उठा देने में भी बड़ी हिचक होती है। बहुत सारा होने का संतोष नहीं होता, बल्कि उस बहुत में से कुछ कमी हो जाने का डर है। साथ ही और भी धन बटोरने की चाह भी रहती है, जो यह सूचित करता है कि जो है वह कम है। कमी का महसूस करना ही दरिद्रता है। दूसरों का लेकर हड़प जाने की इच्छा ही तो कंगालपन है। सामंत शाही के राजाओं में और पूंजीवादी समाज के धनियों में यह दोनों बातें होती हैं। इसलिए वे वास्तव में दरिद्र और कंगाल हैं। इसके विपरीत ऊपर के सन्यासी पर इस प्रकार का कोई लांछन नहीं लगा सकता, क्योंकि वह राजा को धिक्कार कर वन में जाता है। वह दरिद्र नहीं है क्योंकि जो कुछ प्राप्त है उसी में वह सन्तुष्ट है। छीना झपटी नही करता, इसलिए वह कंगाल भी नहीं है। यही मिसाल सभी लोगों पर लागू होती है।

श्लोक ५४

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयम्
क्षितिरपि शयनार्थे वाससे वल्कलं च ।
नवधन-मधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा-
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ।

पदच्छेद

फलमलमशनाय = फलम् + अलम् + अशनाय
क्षितिरपि = क्षितिः + अपि
शयनार्थे = शयन + अर्थे

नोत्सहे = न + उत्सहे
दुर्जनः = दुः + जनः
सर्वेन्द्रियाणामविनयमनुमन्तुम् = सव + इन्द्रियाणाम्
+ अविनयम् + अनुमन्तुम्

पदान्वय

अशनाय फलम् अलम्, पानाय स्वादु तोयं अलम्,
शयनार्थे क्षितिः अपि अलम्, वाससे च वल्कलम् अलम्
नव—घन—मधुपान—भ्रान्त—सर्व—इन्द्रियाणाम्
दुर्जनानाम् अविनयम् अनुमन्तुम् न उत्सहे

शब्दार्थ

अशनाय =खाने को
फलम् =फल
अलम् —बस (है),
पानाय —पीने को
स्वादु —स्वादिष्ट
तोयम् =पानी
अलम् =बस है,
शयनार्थे =सोने को
क्षितिः अपि =जमीन ही
अलम् =बस है,
वाससे =ओढ़ने पहनने को
वल्कलम् =बक्कल का बाना

अलम् =बस है,
नवधन =नई दौलत के (अभी अभी पाये हुए धन के)
मधुपान =नशा पीने से
भ्रान्त =चकराये हुए
सर्व इन्द्रियाणाम् =सब इन्द्रियों वाले
दुर्जनानाम् =दुष्टों की
अविनयम् =धृष्टता को
अनुमन्तुम् =स्वीकार करने का
न उत्सहे =(हमें) शौक नहीं है।

भावार्थ

खाने के लिए फल, पीने के लिए पानी और ओढ़ने के लिए छाल काफी है। इन साधारण आवश्यकताओं के लिए हमें उन दुष्टों की धृष्टता सहना स्वीकार नहीं है: जिन्हें थोड़ा सा धन क्या मिल गया

मानो शराब के पीने से उनकी होश व हवास ही जाते रहे ग्रौर उनमें ग्रच्छे बुरे की तमीज नहीं रही ।

विशेषार्थ

जीवन के लिए खाना, पीना, सोना ग्रौर पहनना, ग्रोढ़ना जरूरी है ग्रौर ये वस्तुयें वनों में बिना मांगे मिल सकती हैं, यह पिछले श्लोक में कहा जा चुका है । किन्तु लोग इन ही वस्तुग्रों के लिए बस्तियों में दूसरों का ग्राश्रय लेते हैं । धनी ग्रौर राजा ही इनको ग्राश्रय दे सकते हैं । परन्तु धनियों को शराबी कहा है । शराब पीने से बुद्धि मारी जाती है । शरीर के ग्रवयव ग्रपना ग्रपना कार्य ठीक ठीक नहीं कर पाते, बल्कि उल्टा व्यापार भी शुरू कर देते हैं । बुद्धि उचित बात का निर्णय नहीं कर सकती, सब बातों को उल्टे सोचा करती है । ग्रांख, कान ग्रच्छी बातों को देख सुन नही सकते । बुरी चीजें ग्रौर बुरी बातें ही उन्हें पसन्द ग्राती हैं । जीभ मांस मदिरा खाने पीने ग्रौर त्वचा स्त्रियों का ग्रालिंगन करने को तड़पा करती है । इस प्रकार सब बातें उल्टी ही सूझती हैं । इसी को इन्द्रियों का चकरा जाना कहा गया है । यह सब धन की करामात हैं । नंगे, लुच्चे ग्रौर ग्रावारा भी ऐसे काम करते हैं, किंतु वह भी वास्तव में धन की बदौलत ही ऐसा कर पाते हैं । ऐसे लोगों को हम नवधन-प्राप्त व्यक्ति कह सकते हैं, क्योंकि चोरी, जेब-कतरी, डाका ग्रौर राहजनी से लोग धन लूट लाते हैं, ग्रौर उड़ा डालते हैं । ऐसा धन टिक कर रहता ही नहीं कि वह 'पुराना धन' बन जाय । किंतु यहां पर नव-धन का ग्रभिप्राय ऐसे लोगों से है जो किसी तरह हाल-हाल में धनी हो गये हों—पुराने रईस ग्रर्थात् पापी न हों । धन चाहे पुराना हो या नया, बात एक ही है । चोरी डाका हो या धन, सत्ता सब एक ही श्रेणी के हैं । बिना लूट के शक्ति भर काम करने ग्रौर जरूरत भर लेने से समाज में धन इकट्ठा हो ही नहीं सकता । इस नियम के विरुद्ध काम करना ही लूट है ग्रौर ऐसा धन लूट का माल है ।

'माले मुफ्त दिले बेरहम' धन दिल की कोमलता को लूट लेता है । ग्रमीर का बेरहम होना ग्रनिवार्य हैं । सच्ची बात यह है कि धन का दया, दान, धर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं है । इन तीनों वस्तुग्रों को छोड़ने के बाद ही धन जुटने लगता है । लोगों को धन का नशा हो जाता है । ग्रांखें चढ़

जाती हैं, कान उतर जाते हैं, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। जैसे के साथ वैसे साथी भी जुट जाते हैं। कुछ सज्जन भी अपनी जीविका के लिए ऐसे लोगों की दरबार-दारी करने लगते हैं। हां में हां मिलाते रहते हैं। भले ही वह स्वयं उनकी बुरी बातों को न करें, तो भी उन बातों को देखकर चुप रहते हैं। श्लोक में "हमें ऐसी बातों को सहने का शौक नहीं है," कह कर यही संकेत किया गया है कि ऐसी बातों को सहना नहीं चाहिए।

एक बात और ! दुनियाँ में सम्पत्ति तथा सत्ता का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। ऊपर की यह बातें धनी और सत्ताधारियों पर बराबर लागू होती हैं। परन्तु इन बातों से सभी धनियों तथा सत्ता-धारियों को बुरा मानने की जरूरत नहीं है। यदि उनमें ऊपर की बुरी आदतें न हों तो उन्हें प्रसन्न होना चाहिए कि ये बातें उनके लिए नहीं कही गयी हैं। यदि हों तो उन्हें दिल से दूर करने की चेष्टा करें और आदमी बनें।

श्लोक ५५

अश्नीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः।

पदच्छेद

भिक्षामाशा = भिक्षाम् + आशा
किमीश्वरैः = किम् + ईश्वरै:

पदान्वय

वयम् भिक्षाम् अश्नीमहि आशावास: वसीमहि
मही पृष्ठे शयीमहि वयं ईश्वरैः किम् कुर्वीमहि

शब्दार्थ

वयम् =हम
भिक्षाम् =भीख
अश्नीमहि —खावेंगे
आशा वासः =दिशाओं का वस्त्र
वसीमहि =पहिनेंगे अर्थात् नंगे रहेंगे,
नहीं पृष्ठे =भूमि पर
शयीमहि =सोवेंगे (तब फिर हम)
ईश्वरैः =धनी और राजाओं से
किम् कुर्वीमहि =क्या करेंगे (हमें क्या काम ?)

भावार्थ

हम भीख मांगकर पेट भरेंगे, नंग धड़ंग घूमेंगे और खुली धरती पर लेटा करेंगे। हमें राजाओं से क्या पड़ी है ? अर्थात् उनके बिना हमारा कुछ अटका नहीं है।

विशेषार्थ

५३ वें श्लोक में साधारणतया सम्पन्न लोगों को लक्ष्य करके कहा गया था। धनी और राजा दोनों ही इस श्रेणी में आते हैं। पिछले श्लोक में नये-नये बने हुए धनियों के बारे में कहा था। इस श्लोक में पुश्तैनी रईस और राजाओं के बारे में कहा गया है कि उनके बिना भी हमारा सब काम चलता रहेगा।

मनुष्य के लिये चाहिए केवल खाना, कपड़ा और मकान। सो खाने का प्रश्न कंद मूल आदि से हल हो जाएगा। मनुष्य पेट को खाता है अपने लिए, किन्तु कपड़े से तन ढँकता है अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए। हर व्यक्ति अपने अंग प्रत्यंग कोआप देखता ही है। केवल दूसरे न देखें, इसलिए कपड़े से तन ढांकता है। समाज से दूर जंगल में रहने के कारण दूसरों की आंखों से अपने अंगों को छिपाने का सवाल नहीं उठता। उसके पास माल नहीं, इसलिए उसे मकान की जरूरत नहीं। अब वह किसके लिए किसी राजा या धनी के दरवाजे पर जाए ? आवश्यकताओं को एकदम घटा दिया और बिलकुल आजाद हो गया।

श्लोक ५६

न नटा न विटा न गायका न च सभ्येतरवादचुंचवः ।
नृपमीक्षितुमत्र के वयं स्तनभारानमिता न योषितः ॥

पदच्छेद

सभ्येतर = सभ्य + इतर
नृपमीक्षितुमत्र = नृपम् + ईक्षितुम् + अत्र
स्तनभारानमिता = स्तनभार + आनमिता

पदान्वय

वयम् न नटाः न विटाः न गायकाः न च सभ्त इतर वाद–चु चवः न स्तनभार आनमिता योषितः नृपम् ईक्षितुम वयम् अत्र के

शब्दार्थ

वयम् न नटाः	=न हम नचवैया हैं,	स्तन भार	=छातियों के बोझ से
न विटाः	=न भांड हैं,	आनमिता	=आगे को झुकी हुई
न गायकाः	=न गवैये हैं,	योषितः	=रंडियां हैं
न च	=और न	नृपम्	=राजा को
सभ्य इतर	=सभ्यता से दूर	ईक्षितुम्	—देखने के लिए
वाद चुंचधः	—लबार हैं	वयम्	=हम
न	—(और) न	के	=कौन हैं ?

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में कहा गया था कि यतियों और सन्यासियों को किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं पड़ती जिसके लिए उन्हें राजा, धनियों के पास जाना पड़े। इसमें बतलाया है कि राजाओं के पास सन्यासियों के लिए स्थान है ही नहीं। राजाओं को तो रंडी भाँड आदि ही अधिक पसन्द हैं।

एक ओर राजा लोग अपने तुच्छ मनोरंजन के लिए ऐसे लोगों के साथ समय बरवाद करने के आदी होते हैं तो दूसरी ओर इन राँड़ भाडों ने अपने को बरवाद करते हुए दूसरों को वरबाद करने को ही अपना पेशा बना रखा है। धनियों की ओर से इन्हें प्रोत्साहन भी मिलता है। इसके विपरीत सन्यासियों का लक्ष्य संसार की सेवा करना और मनोरंजन से दूर रहना है। इसलिए धनियों से सन्यासियों को कोई सरोकार ही नहीं रखना चाहिए।

साधारणतया समाज में दोनों तरह के लोग होते है। एक तरह के लोगों को विलास तथा मनोरंजन प्रिय है तो दूसरी तरह के लोगों को सेवा और सदाचार। यदि पहली श्रेणी के व्यक्ति दूसरी श्रेणी के श्यक्तियों को अपने नियमित जीवन तथा सदाचार से प्रभावित न कर सकें तो दूसरी श्रेणी वालों से सम्पर्क न रखना ही उसके लिए उचित है।

श्लोक ५७

विपुलहृदयैरीशैरेतज्जगज्जनितं पुरा
विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा
इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ॥

पदच्छेद

विपुलहृदयैरीशैरेतज्जगज्जनितम = विपुलहृदयैः + ईशैः
+एतत् + जगत् + जनितम्
विधृतमपरैर्दत्तम् = विधृतम् + अपरैः + दत्तम
चान्यैर्विजित्य = च + अन्यैः + विजित्य
भुवनान्येन्ये = भुवनानि + अन्ये
धीराश्चतुर्दश = धीराः + चतुर्दश

पदान्वय

पुरा विपुल हृदयैः ईशैः एतत् जगत् जनितम
अपरैः विधृतम् च अन्यैः विजित्य तृणम् इव दत्ताम्
इह हि अन्ये धीराः चतुर्दश भुवनानि भुञ्जते
कतिपय पुरस्वाम्ये पुंसाम एष मदज्वरः कः

शब्दार्थ

पुरा	=प्राचीन काल में	तृणं यथा	=तिनके के समान
विपुल हृदयैः	=उदार हृदय वाले	दत्तम्	—दान किया गया
ईशैः	—सार्वभौम राजाओं द्वारा	इह हि	=अब भी
एतत् जगत्	=यह संसार	अन्ये धीराः	—कई और वीर
जनितम्	=उत्पन्न किया गया (बसाया गया),	चदुर्दश	=चौदह
अपरैः	=औरों द्वारा	भुवनानि	=लोकों को
विधृतम्	=धारण किया गया (यानी मालिक बने रहे)	भुञ्जते	—भोगते हैं,
च	=और	कतिपय	=थोड़े से
अन्यैः	=दूसरों द्वारा	पुरस्वाम्ये	=ग्रामों की मलिकाई पर
विजितम्	=जीता जाकर	पुंसाम्	=लोगों को
		एष	=यह
		मद ज्वरः	=घमंड का बुखार
		कः	=क्यों

भावार्थ

प्राचीन काल में उदार पुरुषों ने सारी धरती को सजाया और उसे बसाया। उसके बाद धर्म-परायण राजाओं ने राज्य किया। कुछ वीर पुरुषों ने अन्य राजाओं से पृथ्वी जीती और उसे दूसरों को दान किया। आज भी ऐसे बहुत से लोग हैं, जो बड़े बड़े साम्राज्यों का उपभोग कर रहे हैं। ऐसी दशा में यह देखकर अत्यन्त

आश्चर्य होता है कि लोग चार-छे गांव की चौधाराई पाकर घमंड में चूर रहते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में राजा और धनियों की मनोवृत्ति की भर्त्सना की गयी थी। इस श्लोक में राजा और सत्ताधारियों का व्यवहार कैसा होना चाहिए, इसके लिए चन्द उपमाएं दी गयी हैं। जहां पर कुछ नहीं था वहां पर प्रजापति आदि महापुरुषों ने इस संसार का सृजन किया, उसे सजाया, बसाया। उसके बाद मनु आदि धर्म-परायण राजाओं ने समाज में धर्म तथा न्याय की व्यवस्था की। तब परशुराम, राजा बलि सरीखे पराक्रमियों ने अपने बाहुबल से सारे भूमंडल को जीता, फिर उसे सत्पुरुषों को दे डाला। अब भी ऐसे चक्रवर्ती राजा हैं जिन्होंने अपने साम्राज्य का विस्तार किया है और उसका उपभोग कर रहे हैं।

ऊपर लिखी महापुरुषों की कहानियों से यह भी पता चलता है कि समाज की मनोवृत्ति उत्तरोत्तर कैसे बदलती गयी। पहले पहल प्रजापति सदृश महानुभाव थे जिन्होंने दिल में किसी प्रकार की भावना लिए बिना संसार का सृजन किया। उसके बाद मनु समान धर्मवान हुए जिन्हें स्वय समाज ने राजसिंहासन पर बिठा दिया। तब बलि, परशुराम सरीखे पराक्रमी तथा प्रतिभावानों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने दुराचारी राजाओं का संहार करके पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया, किंतु ज्यों ही सत्पात्र और सदाचारी पुरुषों को पाया, सारा का सारा उन्हें सौंप दिया। अन्त में सम्राटों का युग आता है, जो किसी प्रकार छलबल से साम्राज्य का विस्तार करते हैं और उससे अधिकाधिक सुख भोगते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज का ढाँचा किस प्रकार बदलता आया है। पहले निष्काम वृत्ति से सृष्टि की रचना है। फिर सकाम प्रजा पालन आता है। उसके बाद बल का बोलबाला होता है। इस प्रकार समाज में परोंपकार की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर घटती जारही है। साम्राज्यशाही और तानाशाही में स्वार्थ की पराकाष्ठा हो जाती है। ऐसे ऐसे कारनामों के सामने दो चारठो गाँव की चौधराई किस खेत की मूली है? तिस पर भी उन्हें जमीन आसमान कुछ नहीं सूझता। उन्हें सदा बुरी बातें और बुरी सोहबत ही सुहाती है।

श्लोक ५८

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न जातं नृपशतै–
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभृताम् ।
तदंशस्याप्यंशे तदवयलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् ।।

पदच्छेद

नृपशतैर्भुवस्तस्याः = नृपशतैः + भुवः + तस्याः
क्षणमपि = क्षणम् + अपि
तदंशस्याप्यंशे = तत् + अंशस्य + अपि + अंशे
तदवयलेशेऽपि = तत् + अवयव + लेशे + अपि

पदान्वय

यस्याम् क्षणम् अपि नृपशतैः अभुक्तायाम् न यातम्
तस्याः भुवः लाभे क्षिति भृताम् कः इव बहुमानः
तत् अंशस्य अंशे अपि तत् अवयव लेशे अपि पतयः
विषादे कर्त्तव्ये प्रत्युत जडाः मुदम् विदधति

शब्दार्थ

यस्याम्	=जिसकी	क्षिति भृताम्	=राजाओं को
क्षणम् अपि	=एक पल भी	कः इव	=किस प्रकार का
नृप शतैः	=सैंकडों राजाओं से	बहुमानः	=सम्मान (है)
अभुक्तायाम्	=बिना भोगे	तस्य अंशस्य	=उसके थोड़े से भाग =के
न यातम्	=नहीं बीता हो		
तस्या भुवः	=उस भूमि के	अंशे अपि	=एक छोटे अंश में भी
लाभे	=प्राप्त होने में		

तत् अवयव लेशे	=उसके छोटे से कण के	प्रत्युत	=उल्टे
पतयः	=मालिकों को	जडाः	=मूर्ख जन
विषादे कर्तव्ये	=दुख मानना चाहिए था	मुदम्	=आनंद
		विदधति	=मनाते हैं

भावार्थ

इस पृथ्वी को सदा से सैंकडों राजा महाराजा भोगते रहे और भोग-भोग कर अन्त में उसे छोड़ गये। ऐसी जूठन को पाना कोई बड़प्पन की बात नहीं है। फिर साधारण राजा, जमींदार के पल्ले तो उस जूठन का एक छोटा सा टुकड़ा क्या बल्कि उस छोटे से टुकड़े का भी एक कण भर पड़ता होगा। अपनी ऐसी हीनता पर उन्हें रोना और शरमाना चाहिए, किन्तु उल्टे वह इतराते और अकड़ते हैं। सचमुच वे बड़े मूर्ख हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि थोड़ी सी रियासत पाने पर लोग घमंड करने लगते हैं। इसमें कहा है कि वास्तव में उन्हें अपनी हीनता पर रोना चाहिए। हीनता और रोना कैसे ? कोई व्यक्ति एक रोटी में से कुछ खा कर बाकी छोड़ दे तो कोई भला आदमी उस झूठी रोटी को खाना तो दूर छूता तक नहीं। फिर कोई व्यक्ति पेट भर रोटी खावे, पचाले, फिर पाखाना फिरे तो उसे आंख से देखने में भी दूसरा घिनायेगा। धरती की भी यही दशा समझिए। पृथ्वी को पैदा हुए लाखों करोड़ों वर्ष हो गये। इतने बड़े संसार में एक ही समय में उसके एक एक छोटे-बड़े टुकड़े पर एक एक सरदार राजा, महाराजा रहा। उस एक एक टुकड़े पर एक ही का एकछत्र आधिपत्य रहा हो, इसमें भी संदेह है। एक दूसरे के राज्य पर दावा, धावा, मारकाट, छीना-झपटी होती ही रही है। कोई लड़े या न लड़े, या कोई जीते या न जीते, इन दोनों बातों में से एक ही तो हुआ होगा। किसी ने जीवन भर राज्य किया, कोई बीच ही में मर गया या उससे राज छिन गया। हम खाना

थाली में लेकर बैठें तो दो ही बातें होंगी। या तो हम पूरा खाना खालें या बीच ही में हम से खाना छूट जाये — मर जाने से, या कुत्ता छू जाने से या किसी और बात से। हमसे छिन गया तो गोया हमारा जूठा खाना दूसरे ने खाया। अगर हम न मरें, और खाना भी हम से न छिने तब मानों हमने अपना जूठा आप खाया। जिसे एक बार पेट भरा समझकर छोड़ा था उसी खाने के लिए मुह बाये बैठ गये। अपना जूठा आप खावें या दूसरे के जूठन के लिए मरे जाएँ, दोनों ही नितांत ओछेपन की निशानी हैं। लोग कुत्ते को नीच समझते हैं, क्योंकि वह मनुष्य का फेंका हुआ टुकड़ा खाता है और पाखाना खाता है। मनुष्य भी तो—राजा, महाराजा, छत्रपति, चक्रवर्ती, नीच करोड़पति, निरंकुश डिक्टेटर, सभी कुत्तों से कैसे उच्च हो गये? दूसरे का राज ले लिया तो, जूठा खाया। अपने ही राज्य का खाया तो पाखाना खाया, वह भी अपना आप खाया—कुत्तों से बदतर काम। करोड़ों वर्षों की सृष्टि में अरबों, खरबों राज्यों राजाओं की बात सोचें तो हमारे अपने जीवन की क्या गिनती?

एक समय में एक छोटे से राजा या जमींदार के हिस्से में जितनी जमीन पड़ती है वह बालू के एक ढ़ेर में से एक छोटे से कण के बराबर भी तो न होगी। ऐसी हीन वस्तु पर कोई भी बुद्धिमान प्रसन्न नहीं हो सकता। जो कोई होवे वह निरा मूर्ख है। यह तो सामंत युग की वात हुई। पूंजीवादी के युग में भूपतियों का इतना महत्व नहीं है जितना पूंजीपतियों का। किंतु पूंजीशाही भी साम्राज्य शाही में परिवर्तित होती है और अनेकों भूखण्डों को आत्मसात् कर लेती है। पर इससे श्लोक के अर्थ में कोई अंतर नहीं पड़ता। इस भू-माता को जुठाने और पचाने की सभी ने कोशिश की किंतु भू माता को कौन खा, पचा पाया है? उल्टे न जाने कितने इस प्रयत्न में मर खप गये और दुनिया के परदे से उनका नाम निशान मिट गया।

श्लोक ५६

मृत्पिण्डो जलरेखाया वलयितस्सर्वोऽप्ययं नन्वणुः
स्वांशीकृत्य तमेव संगरशतै राज्ञां गणा भुंजते ।
नोदद्यु र्ददतेऽशथवा किमपि ते क्षुद्रा दरिद्रा भृशं
धिग्धिक् तान्पुरुषाधमान् धनकणम् वांछन्ति तेभ्योऽपि ये ॥

पदच्छेद

वलयितस्सर्वोऽप्यम् = वलयितः + सवः + अपि+अयम्
स्वांशी = स्व + अंशी
नन्वणु := ननु + अणुः
तमेव = तम् + एव
दद्यु र्ददतेऽथवा = दद्युः + ददते + अथवा
किमपि = किम् + अपि
धिग्धिक्तान् = धिक् + धिक् + तान्
पुरुषाधमान् = पुरुष + अधमान्
तेभ्योऽपि = तेभ्यः + अपि

पदान्वय

जल रेखया वलयितः अयम् मृत् पिण्डः सर्वोः अपि अणुःननु तम् एव राज्ञाम् गणैः संगरशतैः स्वअंशी कृत्य भुंजते भृशम् क्षुद्राः दरिद्राः ते नोदद्युः अथवा किम् अपि ददते तेभ्यः अपि । धन कणम् वांछन्वि तान् पुरुष अधमान् धिक् धिक्

शब्दार्थ

जल रेखाया	**=पानी की रेखा से समुद्र से**	**अयम**	**=यह**
वलयित	**=घिरे हुए**	**मृंत् पिण्डः**	**=मिट्टी का लोंदा**
		सर्वेः अपि	**=सब मिला कर भी**

अणुः ननु =तनिक ही तो है
तम् एव =उसी छोटे से माटी
=के लोंदो को
राज्ञाम् गणाः =राजा लोग
संगर शतैः =सैंकडों युद्धों से
स्व अंशी कृत्य =अपने बस में कर
भुंजते =भोगते हैं,
भृशम् =बहुत ही
क्षुद्राः =ओछे
दरिद्राः =दरिद्र
ते =वह(राजा) जो

नो दद्युः =नहीं देते
अथवा =या (दें तो भी)
किम् अपि =कूछ ही
ददते =देते है
तेभ्यः अपि =ऐसों से भी
ये =जो लोग
धन कणम् =तनिक धन
वांछन्ति =मांगते हैं
तान् पुरुष अधमान् =उन नीचों को
धिक् धिक् =बार-बार धिक्कार है

भावार्थ

यह सारी पृथ्वी माटी का एक लोंदा मात्र है, जो चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है। सृष्टि में इसकी गणना एक कण से भी कम है। ऐसी तुच्छ वस्तु के लिए राजा लोग सैंकडों हजारों लड़ाइयां लड़ कर उसमें से एक चिरकुट पा जाते हैं और उसी में सुख मान बैठते हैं। ऐसे ओछे तथा कंगाल राजा, धनी दूसरों को कभी कुछ दे नहीं सकते। यदि दें भी तो क्या देंगे ? उसी थोड़े में से बहुत ही थोड़ा-सा। जो लोग ऐसे ओछे, कंजूस, मक्खीचूसों से कुछ पाने की इच्छा करते हैं, वास्तव में वह स्वयं महा नीच हैं। उनको बारम्बार धिक्कार है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में राजाओं की हीनता बताने के बाद इस श्लोक में उनकी हीनता को दूसरे ढंग से दर्शाते हुए कहा गया है कि उन ओछों से माँगनेवाला उनसे भी ओछा है। ईश्वर की सृष्टि में हमारी पृथ्वी के समान न जाने कितने और करोड़ों खंड हैं। मनुष्य जो कुछ जान पाया है उससे कई गुना अधिक जानना बाकी है। शायद यह जानकारी कभी पूरी भी न होगी। अस्तु।

हमारी यह पृथ्वी चारों ओर समुद्र से सीमित है। किसी ओर बढ़ने-बढ़ाने की गुंजायश नहीं है। सृष्टि में पृथ्वी की तुलना समुद्र के बालू में एक कण के समान है। मनुष्य ने आजकल जहाजों की मदद से समुद्र पर और विमानों की सहायता से आकाश पर प्रभुत्व जमा रखा है। किन्तु पृथ्वी से कहीं विशाल समुद्र पर और समुद्र से कहीं विस्तृत आकाश पर यह आधिपत्य केवल इसी छोटे से भूखंड को आधीन रखने के लिए तो है। इसी के लिए यह सारा घटाटोप और प्रलयकारी संहार होता है। जो लोग इतनी-सी धरती के लिए ऐसा घोर नर-संहार करते हैं, उन्हें ओछा, अधम, नर-पिशाच, कुछ भी कहा जाए, कम है। तुच्छ स्वार्थ के लिए इस प्रकार पैशाचिकता करने वालों से कुछ पाने की चेष्टा करना उससे भी बड़ी नीचता है। स्पष्ट है, यदि वह लोग कुछ देंगे भी तब जब उन्हें विश्वास हो जाए कि इस देने में भी अपने ही स्वार्थ की रक्षा होगी। कहीं उन्हें तनिक भी शंका हो जाए कि यह हमसे छीनने या मुफ्त लेने के लिए ही आया है तो निश्चय मानिए कि उसे भी उन ही हजारों लाखों के साथ उसी यमराज को भेंट चढ़ाने में तनिक भी हिचकेंगे नहीं। यह एक पहलू हुआ।

दूसरा सुनिए। यह राज, धन, वैभव बटोरते हैं तो उन ही लाखों, करोडों मिहनतकशों की बदौलत। उनसे ऐंठने के लिए ही यह मिल, राज्य, अदालत, जेल, पुलिस, फौज का पेंच-दर-पेंच पिंजड़ा खड़ा कर रखा है। इन ही चीजों के बल पर बेबसों से पैसा ऐंठा जाता है। ऐसे धन से कुछ पाने के माने सीधे-सीधे उस वसूली में प्रत्यक्ष सहायक हैं उसके कारिन्दे और परोक्ष सहायक हैं दान लेकर उनका गुणगान करने वाले। यह हुआ उस दान के स्वभाव पर विचार।

अब मात्रा की दृष्टि से भी उस दान का विचार कर लिया जाए। सम्पत्ति समाज के सब व्यक्तियों के परिश्रम का परिणाम है। किन्तु एक व्यक्ति उस पर कब्जा कर लेता है। तिस पर कोई अपनी सारी सम्पत्ति को दान में नहीं दे डालता। हजारों की आमदनी में से बहुत हुआ तो दस-पांच दे दिया। सैकडों रुपया दान करनेवाला लाखों पर ही हाथ फेरता है। यानी लोग अपनी हथियाई हुई सम्पत्ति में से हजारवाँ हिस्सा दान-धर्म में खर्च कर डालते हैं। इस दान के बाद भी उनकी दौलत में टोटा नहीं पड़ता। इसके विपरीत यदि एक गरीब किसी भूखे को भोजन कराता है तो रोज आधा पेट खानेवाले उसके बीबी बच्चे उस जून उपवास ही करेंगे।

इस प्रकार दान में दो बातों का विचार करना होता है। पहले धन कैसा है? मार-काट या धोखा-धडी की कमाई तो नहीं है? दूसरे जो धन दान में दिया जा रहा है, वह उसकी कुल सम्पत्ति का कौन-सा अंश है? दान के बाद जो बचता है वह दानी के निर्वाह भर है या उसकी सम्पत्ति की हैसियत ज्यों की त्यों बनी रहती है? बाद की दोनों हालतों में वह दान 'दान' कहलाने योग्य नहीं है। यदि दान को प्रचलित अर्थों में लें तो पहली दशा में सच्ची मिहनत की कमाई में से किए हुए दान का दरजा ऊँचा है और जो व्यक्ति अपनी

सम्पत्ति का जितना अधिक अंश दान कर दे उस दानी का मरतबा उतना ही अधिक ऊँचा माना जावेगा। इस प्रकार राजा, धनी के सौ रुपये से किसान मजदूर की चवन्नी अधिक मूल्य रखती है। इसलिए वह किसान या मजदूर राजा, धनी की अपेक्षा बड़ा दानी है।

न्यायपूर्ण व्यवस्था में समाज के अन्दर न भीख का नाम रहेगा और न चन्दे की जरूरत ही पड़ेगी। तब तक के लिए भी भीख मांगने वाले और चन्दा उगाहने वाले यदि इस भावना से काम न करें तो उन पर हजार धिक्कार है। चन्दा मांगना और भीख मांगना दोनों समान हैं। अपने लिये मांगने पर भीख कहलाती है और दूसरों के लिये मांगने पर चन्दा। भले ही 'चन्दा' के नाम पर क्यों न हो, दूसरों के सामने हाथ फैलाने का हक किसको है? उसी को जिसके पास आप स्वयं देने के लिये कुछ रह न गया हो। सर्व-त्यागी ही चन्दा मांगने का अधिकारी है। किन्तु आजकल जिसके पास कुछ न हो, कंगाल कह कर लोग उसे खाने को भी नहीं देते। सत्ताधारी और धनी चन्दा-कमेटी के बड़े मेम्बर होते हैं। यानी ऐसे लोग सब से बड़े भिखारी बनते हैं, और उन्हीं को सब से बढ़कर भी मिलती है।

धनी ही चन्दा मांगने वाले और धनी ही देने वाले। जैसे साधारण आदमी अपने बच्चे को पहले खिलाता है और पूरा खिलाता है, उसी प्रकार धनी अपनी बिरादरी के धनियों को ही चन्दा देते हैं। वास्तव में यह एक निजी धन्धा बन गया है। गरीब भी ऐसे ही धनियों को चन्दा देते हैं। इसके भी दो कारण हैं। गरीब समझते हैं कि इन धनियों और सत्ताधारियों को देने से बदले में हमें भी कुछ मिल जायेगा। धनियों के दिल में दूसरी भावना काम करती है। वह समझते हैं कि जैसे हम इन गरीबों की गाढ़ी कमाई में से चन्दा लेने के अधिकारी हैं, उसी प्रकार उनकी सम्पत्ति में से हिस्सा बटाने के भी अधिकारी हैं। साधारण श्रेणी के जो लोग इन चन्दों में काम करते हैं उनकी हैसियत उन्ही पंडों और ब्राह्मणों की है जो धनियों के दरवाजे पर पोथी-पुराण और पूजा-पाठ करके पेट पालते हैं।

अन्त में यहां पर यह ध्यान रखना चाहिये कि यह सब श्लोक (५७) में वर्णित अन्तिम कोटि के लोगों की बात हो रही है। प्रजापति, मनु, हरिश्चंद्र सरीखे महापुरुषों की नहीं।

श्लोक ६०

स जातः कोप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं
कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलंकारविधये ।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ।।

पदच्छेद

कोऽप्यासीन्मदन = कः + अपि + आसीत् + मदन
यस्योच्चैर्विनिहितमलंकार = यस्य + उच्चैः + विनिहितम् + अलंकार
कैंशिचदधुना = कैश्चित् + अधुना
पुंसामयगतुल = पुंसाम् + अयम् + अतुल

पदान्वय

यस्य धवलम् कपालम् मदन रिपुणा उच्चैः मूर्ध्नि अलंकार विधये विनिहितम् स कः अपि जातः आसीत् प्राणत्राण प्रवण मतिभिः कैश्चित् नृभिः नमद्भिः अधुना पुंसाम् अयम् अतुल दर्प ज्वर भरः कः

शब्दार्थ

यस्य =जिसकी
धवलम् कपालम् =उजली खोपड़ी को
मदन रिपुणा —कामदेव के शत्रु महादेव के द्वारा
उच्चैः =ऊंचे
मूर्ध्नि —माथे पर
अलंकार विधये —सजावट के रूप में
विनिहितम् —रख लिया गया है
सः =वह (ऐसा)

कः अपि —कोई ही (विरला ही)
जात आसीत् =पैदा हुआ है,
प्राण त्राण =जान बचाने की
प्रवण =इच्छा से
कैश्चित् —थोड़े से
नृभिः =मनुष्यों के
नमद्भिः =प्रणाम करने वालों पर
अधुना =आजकल

पुंसाम् =(अधिकार संपन्न) लोगों को
अयम् =यह
अतुल =बेहद
दर्प ज्वरः – घमंड का बुखार
कः =(क्यों) है ।

भावार्थ

आजकल तो कुछ लोग निकम्मे और स्वार्थी लोगों के सामने आकर सिर झुकाते ही मारे घमंड के चूर हो जाते हैं। वास्तव में जिस किसी बिरले व्यक्ति के उज्ज्वल कपाल को महादेव भगवान ने माला बना कर गले में डाल लिया हो उसी का जन्म सफल है ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में यह बतलाया गया था कि संसार में साधारणतया जिन बातों की वजह से लोगों को बड़ा माना जाता है वह एकदम निकम्मी वस्तु है । अंत में इस श्लोक के अन्दर बताया गया है कि असली बड़प्पन किस में है , दीन, हीन तथा स्वार्थी जन तो डर या लालच से लोगों के सामने सिर नवाते और उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हैं । दीन हीन ही क्या, राजा धनी भी साधु महात्माओं के चरण छूते और पूजा करते हैं । किंतु प्राय: ये भी उसी डर या लालच से प्रेरित होकर ही ऐसा करते हैं । डरते हैं कि महात्माओं का श्राप न लगे, कोई अनिष्ट न घटे, जो है छिन न जावे, और लालच यह कि संतों के आशीर्वाद मिलें और कुछ और वैभव बढ़े । किंतु असली बड़प्पन और वास्तविक सम्मान तो तब है जब कोई महापुरुष किसी सत्पुरुष के प्रति प्रेम अथवा श्रद्धा दिखावे । जेसे भगवान महादेव हैं, जिन्होंने संसार के सबसे बड़े शत्रु कामदेव को जीत लिया और जो इतने बड़े बिरक्त हैं । कि उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं । ऐसे महादेव भगवान का स्नेह प्राप्त हो गया तो मानो सब कुछ पा गया । संसार के अन्दर ऐसे सत्पुरुष भी हुए हैं, जिनके ज्ञान, ध्यान तथा साधना से भगवान महादेव भी प्रसन्न हुए और उनके जीते जो कुछ भी ठीक जाना, दिया और मरने के बाद भी उनके कपाल की माला बनाकर अपने माथे पर चढ़ा लिया । यह है असली सम्मान । मनुष्य को ऐसे ही सम्मान की कामना करनी चाहिए ।

कपालधारी महादेव बड़े अच्छे भगवान जरूर हैं । जिसे वह चाहते हैं मरने के बाद भी उसके सिर को अपने सिर पर चढ़ा रखते हैं । पर यह

खोपड़ी मिलती किसकी है ? मनुष्य के मरने पर लोग उसे गाड़ देते हैं। हड्डी को भी मट्टी खा जाती है। जो जलाये जाते हैं, वह राख ही हो जाते हैं ! गंगा में जो बहाये जाते हैं, न जाने वह किस समुद्र की तह में बैठे जाते हैं। फिर कपालधारी भगवान को किसकी खोपड़ी मिलती है ? उसी की जो अनाथ लावारिस मर जाते हैं। यानि जिनका कोई पूछने वाला नहीं, वह भगवान का प्रिय-प्राणी है और उसी की खोपड़ी महादेव शंकर की सिरमौर हो जाती है। अनाथ का संसार इतना अनादर करता है, परन्तु शंकर भगवान उसी का इतना आदर करते हैं।

षष्टम दशक का सारांश

श्लोक नं.—५१ सर्व-सम्पन्न सम्राट से सर्व-त्यागी संन्यासी का पल्ला भारी है।
—५१ सम्पन्न यदि संन्यासी का सम्मान न करे तो संन्यासी भी उसे धुतकारेगा।
—५३ संतोषी संन्यासी धनी है और कंजूस और लालची धनी कंगाल है।
—५४ धनियों की धृष्टता को संन्यासी कभी नहीं सहेगा।
—५५ त्यागी का कोई काम अटका नहीं रहेगा।
—५६ सम्पन्न के पास रांड-भांड पाखंडी ही रह सकते हैं, त्यागी संन्यासी नहीं।
—५७ इस विशाल सृष्टि में चार गांव की चौधराई पर इतराना मूर्खता है।
—५८ संसार की सम्पत्ति जूठन के समान त्याज्य है।
—५१ शोषण तथा संहार से सम्पन्न बने हुए लोगों से याचना करना मुर्खता है।
—६० धनी मानी नहीं, बल्कि जो पुण्यात्मा भगवान के प्रिय हैं, वही सम्मान के अधिकारी हैं।

इस प्रकर इस दशक में सर्व-त्यागी सन्यासी की मर्यादा की स्थापना करने के बाद अगले दशक में त्याग अथवा भोग की बुनियादी वस्तु मन के नियमन के सम्बन्ध में कहा गया है।

श्लोक ६१

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदयक्लेशकलितम् ।
प्रसन्ने त्वय्यन्तस्स्वयमुदितचिंतामणिगणो
विमुक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ।।

पदच्छेद

प्रतिदिवसमाराध्य = प्रतिदिवसम् + आराध्य
त्वय्यन्तस्स्वयमुदित = त्वयि + अन्तः + स्वयम् + उदित
किमभिलषितं = किम् + अभिलषितम्

पदान्वय

हृदय बहुविधा परेषाम् चेतांसि प्रति दिवसम् आराध्य क्लेश कलितम् प्रसादम् नेतुम् किम् विशसि त्वयि अन्तः प्रसन्ने स्वयम् उदित् चिन्तामणि गणः विमुक्त संकल्पः ते किम् अभिलषितम् न पुष्यति

शब्दार्थ

हृदय	= मन !	प्रति दिवसम्	=प्रति दिन
बहु विधा	—अनेक प्रकार से	आराध्य	=प्रसन्न कर
परेषाम्	=दूसरों के	क्लेश कलितम्	=कष्टों से भरे
चेतांसि	—चित्त को	प्रसादम्	=कृपा को

नेतुं	=पाने की
किम् विशसि	=क्यों चेष्टा करता है ?
त्वयि	=तेरे अन्दर
अन्तः	—अन्तः करण के
प्रसन्ने	=प्रसन्न होने पर
स्वयम् उदित	—अपने आप जगी हुई
चिन्तामणि	=समस्त इच्छाओं को पूरा कर सकने वाले चिन्तामणि
गणाः	=रत्नों के समूह
विमुक्त संकल्पः	=छूटी हुई इच्छाओं वाले
ते	—तेरी
किम्	=कौन
अभिलषितम्	=इच्छा
न पुष्यति	—न फलेगी ?

भावार्थ

हे मन ! सदा दूसरों को प्रसन्न करने की तेरी चेष्टा बेकार है। इसके विपरीत यदि तू अपने ही शोध में लग जाए तो अपने भीतर ऐसे ऐसे जौहर पावेगा कि तेरे सब संकल्प आप ही आप सिद्ध हो जावेंगे। मन में जब कोई इच्छा ही न रहे तब किसी के अभाव का आभास भी न होगा।

विशेषार्थ

पिछले दशक में सन्यासी की मर्यादा सिद्ध करने के बाद बताया गया था जि बाह्य इन्द्रियों का निग्रह मात्र सन्यासी का लक्ष्य नहीं है। मन प्रधान है। इस दशक में इसी मन के नियमन के सम्बन्ध में बताया गया है।

इस श्लोक में दो बातें हैं। एक, दूसरों के चित्त पर चढ़ जाना और दूसरे स्वयं अपने मन के भीतर पैठ जाना। पहली चेष्टा बेकार है; क्योंकि इसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं है। सैंकड़ों हजारों नहीं, लाखों, करोड़ों को प्रसन्न करना किसी एक के बस की बात नहीं है। सब के स्वभाव तथा स्वार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। एक ही व्यक्ति की रुचि भी क्षण-क्षण बदला करती है। इसलिए एक-आध को भी सब तरह खुश कर सकना असम्भव है। फल स्वरूप उसे सदा दुख ही से दो चार होना पड़ता है। इसके विपरीत दुनिया भर का विचार छोड़ कर अकेले अपनी ही आत्मा की ओर ध्यान देने पर

मनुष्य कुछ कर गुजरता है। इस 'अपने' के भी दो पहलू हैं। एक शरीर के बाहरी विषय, दूसरे मन की भीतरी स्थिति। बाहरी विषयों के सैंकड़ों रूप हैं और उन सैंकड़ों बातों का पूर्णतया सफल होना उतना ही कठिन है जितना दुनिया के हजारों, लाखों मनुष्यों को प्रसन्न करना। इसलिये बाहरी विषयों को छोड़कर एक मन को पकड़ना आसान है। फिर मन के भीतर भी सैंकड़ों विचार उठा करते हैं। किंतु किसी एक ही विचार पर स्थिर होने से सफलता की सम्भावना हो सकती है। मन की एकाग्रता के प्राप्त होने पर बाहर की विभिन्नता बाधक नहीं हो सकती। इस प्रकार एक सच्चे सन्यासी की पहचान उसके गृह-परित्याग या वेष-भूषा के परिवर्तन पर नही, बल्कि मानसिक स्थिति से होती है। संन्यासी ही क्या, किसी भी मनुष्य की पहचान की कसौटी उसका मन है, न कि उसकी वैष-भूषा और चाल-ढाल। इन बाहरी वस्तुओं का मूल्य इतना ही है कि मन पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है।

कहा गया है कि मन के वश में हो जाने पर उसमें चिन्तामणि रत्नों का ढेर उमड़ पड़ता है। चिन्तामणि के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उससे मनुष्य की सब कामनाएँ पूरी हो जाती है। जब एक चिन्तामणि में यह सामर्थ्य है तो जब उसका बड़ा ढेर ही मिल जाये तब क्या कहने। तब तो उस मनुष्य की दशा उसी हलवाई की सी हो जायेगी, जो मिठाइयों के ढेर के बीच में बैठने के कारण उसे मिठाई खाने की इच्छा ही नहीं होती। वशीकृत मन का इच्छा-रहित हो जाना अवश्यम्भावी है। उस मनुष्य के भीतर ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि इच्छा मात्र से सब काम यथा विधि पूरे हो जाते हैं। यह कैसे होता है ? मनुष्य अपने तक सीमित हो कर संसार पर काबू कैसे पा जाता है ? इसका समझना बहुत सरल है। यहां पर 'अपने' का अभिप्राय तुच्छ स्वार्थ नहीं है, बल्कि परमार्थ है। मनुष्य अपने मन के भीतर टटोलने पर कार्य-अकार्य का विचार करने लगता है। कार्य वही है जो प्राणी मात्र के लिए हितकर हो। यह शंका हो सकती है कि एक मन से सारे संसार का हित कैसे हो सकता है ? वास्तव में एक मनुष्य के भीतर जो शक्ति वर्तमान है वही समस्त संसार में विद्यमान है। ऐसी व्यापक शक्ति को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित करने पर भी उसकी किरणें सारे जगत् को व्याप्त कर लेती हैं। ऐसा मन ईश्वर का मन्दिर बन जाता है। तब मनुष्य ईश्वर के समान आवश्यकताओं से परे हो जाता है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता का अनुभव न करते हुए भी वह ईश्वर के समान लोक-संग्रह के लिए काम करता रहता है।

मानव ईश्वर हो य न हो अथवा वह ईश्वर बने या न बनें, लोक-कल्याणकी भावना ही मानवता का पूर्ण विकास है। मनुष्य में इस भावना की जितनी कमी पायी जाए उतना ही वह पशुता को प्राप्त होता है। पशु को अपना पेट भरने मात्र से मतलब है, जब कि मनुष्य का उद्देश्य परमार्थ की साधना है। परोपकार की प्रवृत्ति तथा आचरण परमार्थ की जननी है।

श्लोक ६२

परिभ्रमसि किं मुधा क्वचन चित्त विश्राम्यतां
स्वयं भवति यद्यथा भवति तत्तथा नान्यथा।
अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसंकल्पयन्
न तर्कितसमागमाननुभवामि भोगानहम् ॥

पदच्छेद

यद्यथा = यत् + यथा
तत्तथा = तत् + तथा
नान्यथा = न + अन्यथा
अतीतमननुस्मरन्नपि = अतीतम् + अननु स्मरन् + अपि
भाव्यसंकल्ययन् = भावि + असंकल्पयन्
समागमाननुभवामि = समागमान् + अनुभवामि

पदान्वय

चित्त ! किम् मुधा परिभ्रमसि क्वचन विश्राम्यताम्
यत् स्वयम् यथा भवति तत् तथा भवति अन्यथा न भवति
अहम् अतीतम् अन् अनुस्मरन् च भावि अपि असंकल्पयन्
अर्तकि समागमान् भोगान् अनुभवामि।

शब्दार्थ

चित्त !	—हे मन !	परिभ्रमसि	—घूमा करता है ?
किम्	—क्यों	क्वचन	—कहीं
मुधा	—व्यर्थ	विश्राम्यताम्	—विश्राम कर

यत्	—जो (बात)	च	—और
स्वयम्	—अपने आप	भावि अपि	—आगे आने वाली बात का भी
यथा भवति	—जैसा होना हो	असंकल्पयन्	—विचार न कर
तत्	—वह	अतर्कित	—बिना इच्छा के
तथा भवति	—वैसा (ही) होगा	समागमान्	—आये हुए, प्राप्त
न अन्यथा	—और तरह न होगा	भोगान्	—भोगों को
अहम्	—मैं	अनुभवामि	—भोगता हूं
अतीतम्	—बीती (बात) का		
अन अनुस्मरन्	—विचार न कर		

भावार्थ

हे मन, तू बेकार यहां-वहां घूमा न कर। किसी एक जगह टिक जा। होनी होकर रहेगी। न पीछे की बातों पर पछताने से कोई फायदा है और न आगे की बातों पर विचारने में कोई लाभ। इसलिए जब जो उपलब्ध हो उसका सन्तोष-पूर्वक उपभोग करना चाहिए।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि दूसरों को प्रसन्न करने का प्रयास छोड़ अपने ही मन को शोधने की चेष्टा करनी चाहिए। इस श्लोक में कहा गया है कि उतना ही पर्याप्त नहीं है। मन का भिन्न-भिन्न भोगों के पीछे भागना भी बेकार है, क्योंकि जो बात जैसी बननी या बिगड़नी है ठीक वैसे ही बनेगी या बिगड़ेगी। इसलिए किसी बीती बात पर पछताने या आगे की बात का सोच विचार करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। किंतु जब तक शरीर है, भोग से छुटकारा भी तो नहीं है। इसलिए आगे और पीछे की बातों के सम्बन्ध में मन में विचार उठेंगे ही। इस श्लोक में इन ही विचारों को बेकार इधर-उधर भटकने से बचा कर ठीक दिशा में प्रवृत्त करने का उपाय बताया गया है।

पीछे या आगे का विचार छोड़कर केवल वर्तमान का विचार करना चाहिए, बल्कि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उस पर अमल करना चाहिए। इसलिए कि प्रत्येक वर्तमान उस क्षण भर के बीत जाने पर भूत बन जाता है। जो व्यक्ति बीती बात पर पछताता है वास्तव में उसने भूत काल का सदुपयोग

नहीं किया, जब वह भूत वर्तमान अवस्था में था। उस बीती बात पर हाथ मलते रहने का नतीजा यह होता है कि प्रस्तुत बात के लिए भी कुछ करते-धरते नहीं बनता। समय बीतने के बाद आज के हाथ पर की बात को पीछे की बात कह कर पछताना पड़ता है और यह तांता कभी नहीं टूटता। इसके विपरीत यदि मनुष्य वर्तमान ही का ध्यान रखें तो कभी पीछे की बात पर पछताने का अवसर ही न आवे। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि अपने या दूसरों के पिछले बुरे कार्यों की सजा से बचें या भली बातों का उपभोग न करें। वर्तमान के उपयुक्त उपभोग के अन्दर यह दोनों बातें आ ही जाती हैं। अब रही भविष्य की बात। भविष्य की बात भी ठीक वैसी ही है, जैसे भूत की। आज का भूत ही जिस प्रकार पीछे वर्तमान रह चुका है, उसी प्रकार आज का वर्तमान कल के दिन चल कर भविष्य हो जाएगा। वर्तमान का ठीक उपभोग न करने का परिणाम होता है भविष्य का भी विनाश।

इस प्रकार वर्तमान का महत्व सब से अधिक है। वर्तमान दुधारी तलवार है, जो भूत और भविष्य दोनों ओर वार करता है। वर्तमान का ध्यान रखने में यह लाभ है कि उस घड़ी के बीतने पर पीछे की बात पर मनुष्य को सन्तोष रहेगा और वह सन्तोष आगे के लिए बल देगा। और बाद में जब वह भविष्य भी भविष्य न रह कर वर्तमान हो जायेगा, तब वह उसे भी उसी खूबी के साथ निबाहेगा। इसके अतिरिक्त वर्तमान के ठीक-ठीक उपयोग के माने यही हैं कि उसका भविष्य पर अच्छा असर पड़े, भविष्य को बिगाड़े नहीं। इस प्रकार केवल वर्तमान का ध्यान रखने से भूत और भविष्य दोनों से निश्चिंत हो सकते हैं। किन्तु श्लोक में तो वर्तमान के बारे में यही कहा है कि आपसे आप जो आ पड़े उसी को भोगना चाहिए। इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि पुत्र-कलत्र, जन्म-मरण, सुख-दुख आदि दैविक घटनाओं को चुपचाप सहना चाहिए और सन्तोष मानना चाहिए। किन्तु, पिछली बातों पर मनन करने या आगे के लिए योजना बनाने की मनाही नहीं है।

श्लोक ६३

एतस्माद्विरमेंन्द्रियार्थगहनादायासकादाश्रय
श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणात् ।
शान्तं भावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलां गतिम्
मा भूयो भज भंगुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना ॥

पदच्छेद

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थ = एतस्मात् + विरम + इन्द्रिय + अर्थ
गहनादयासकादाश्रयः = गहनात् + आयासकात् + आश्रय
मार्गमशेष = मार्गम् + अशेष
भावमुपैहि = भावम् + उपैहि
प्रसीदाधुना = प्रसीद + अधुना

पदान्वय

चेतः आयासकात् एतस्मात् इंद्रिय अर्थ गहनात् विरम क्षणात् अशेष दुःख शमन व्यापार दक्षम् श्रेयो मार्गम् आश्रय शान्तम् भावम् उपैहि कल्लोल लोलाम् निजाम् गतिम् सन्त्यज भूयः भंगुराम् भव रतिम् मा भज अधुना प्रसीद

शब्दार्थ

चेतः	=हे मन !	अशेष	—तमाम
आयासकात्	—कष्टदायक	दुःख शमन	—दुःखों को मिटाने के
एतस्मात्	—इस,	व्यापार दक्षं	—कार्य में पटु
इन्द्रिय अर्थ	—इन्द्रियों के विषय रूपी	श्रेयो मार्गम्	=कल्याणकारी मार्ग (की)
गहनात्	—बन से	आश्रय	—शरण ले (और)
विरम	—मुंह मोड़ (और)	शान्तं भावम्	—शांत भाव को
क्षणात्	—तुरन्त	उपैहि	=प्राप्तकर, अपनाले (और)

कल्लोल लोलाम्	—पानी की बड़ी-बड़ लहरों के समान चंचल
निजाम्	—अपनी
गतिम	—चाल को
संत्यज	=एकदम छोड़ दे,
भूयः	=फिर से
भंगुराम्	—क्षणिक
भव रतिम्	—सांसारिक सुख का
मा भज	=विचार मत कर (और)
अधुना	—अब
प्रसीद	=प्रसन्न हो जा

भावार्थ

रंग, रुप, रस आदि इन्द्रियों के विषय बीहड़ बन के समान अति दुखदायी हैं। इसलिए हे मन, इन विषय-वासनाओं से एकदम मुंह फेर ले। इस के विपरीत ज्ञान का मार्ग समस्त दुखों को हरने वाला और शाश्वत सुख का देने वाला है। इसलिए तू तुरन्त इस कल्याणकारी मार्ग का राही बन कर शांत चित्त हो जा। चपलता छोड़ दे, सांसारिक भोगों की इच्छा न कर और सदा संतोषी बना रह।

विशेषार्थ

इस श्लोक का पहला शब्द 'एतस्मात्' पिछले श्लोक में कही गयी बातों की ओर संकेत करता है। पिछले श्लोक में 'वर्तमान' मात्र का ध्यान रखने को कहा गया था। इस श्लोक में वर्तमान में भी सांसारिक सुखों से दूर रहने की शिक्षा दी गयी है और इसे श्रेय का मार्ग कहा गया है। क्षणिक सुखों को प्रेय और शाश्वत सुखों को श्रेय कहते हैं। प्रेय सांसारिक है और श्रेय स्वर्गीय। प्रेय तात्कालिक सुख देने वाला है और श्रेय अमोघ शांति प्रदान करने वाला हैं।

पिछले श्लोक में उदासीन भाव से जीवन बिताने की जो शिक्षा दी गयी थी वह इसी प्रेय मार्ग को उद्देश्य करके कहा गया था। किन्तु श्रेय के प्रति उदासीनता वांछनीय नही है। साधारण मनुष्य को प्रेय मार्ग अच्छा लगता है अर्थात् सांसारिक सुख प्रिय लगते हैं। जहां शरीर है वहां संसार को भोगना भी

अनिवार्य है। इससे कोई बच नहीं सकता। इसलिए हमें सांसारिक सुखों को (अथवा दुखों को) उदासीन भाव से भोगते जाना चाहिए। परन्तु जहां तक श्रेयोदायक वस्तुओं का सम्बन्ध है उनके लिए खुशी-खुशी दुखों को सहकर उनकी प्राप्ति के लिए चेष्टा करनी चाहिए। इसमें देर हो सकती है, पर अन्त में स्थाई शांति की प्राप्ति होती है।

शब्द 'एतस्मात्' से चारों ओर के इस जगत की ओर भी संकेत है। इस शरीर को सुख देने वाली और इस संसार के साथ समाप्त होने वाली सभी वस्तुएं प्रेय हैं। जो लोग क्षणिक सांसारिक सुख के लिये जीवन बिताते हैं वे प्रेय मार्ग के अनुगामी हैं। इसके विपरीत जो परहित में जीवन लगाते हैं वे श्रेय पथगामी हैं। परन्तु परहित में भी भावना प्रधान है। इसीलिये शांत भाव से काम करने और चपलता को छोड़ने की बात कही गयी है। जन–हित के कार्य करने वालों में दोनों ही प्रकार के लोग पाये जाते हैं। जो लोग शांत भाव से कर्तव्य समझ कर सेवा कार्य में सलग्न रहते हैं वे श्रेयाभिलाषी हैं और जो मन में धन, सत्ता, गौरव की भावनाओं को लेकर जनहित का स्वांग रचते है वे सेवा में तल्लीन दीखते हुये भी वास्तव में प्रेयाभिलाषी हैं। सच्चे सेवक को चाहिये कि प्रेय-पथ को त्याग कर श्रेय मार्ग का अवलम्बन करे, भले ही इस में उसे दुख झेलना पड़े, धन न मिले, नाम न मिले, बल्कि बदनामी भी क्यों न मिले—क्योंकि स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये सचाई को बदनाम करने में कोई कसर उठा न रखेंगे।

यहाँ पर सवाल उठता है कि क्या सार्वजनिक सेवा कार्य करने वालों को ही श्रेय की प्राप्ति होगी और घर गृहस्थी में लगे हुये लोगों का कभी उद्धार न होगा? इस की आशंका तनिक भी नहीं है। जिस प्रकार जन सेवा की आड़ में स्वार्थ सिद्ध करने वाले अधिक होते हैं, उसी प्रकार अपने अपने धंधों में लगे हुए लोगों में भी निजी काम करते हुये परहित करने वाले अधिक पाये जाते है। दूसरों को हानि पहुँचाए बिना, बल्कि अपने काम के द्वारा दूसरों की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले परोपकारी और पुण्यात्मा ही हैं। जैसे किसान खेती करके अपने बालबच्चों का पोषण करता है, मगर साथ ही समाज के लिये अन्न उपजाता है और यह जन-सेवा है। इसी प्रकार चमार, कुम्हार, लुहार, मजदूर भी जन सेवक हैं। एक दृष्टि से ये लोग सार्वजनिक सेवा कार्य करने वालों की अपेक्षा अधिक आदर के पात्र हैं, क्योंकि

जो कुछ ये करते हैं उससे लाखों को लाभ होता है और फिर इतनी सेवा का अभिमान नहीं करते । इसके विपरीत सेवा की ध्वजा उठाने वाले टट्टी की आड़ में शिकार खेलते हैं । इसलिये उनकी सेवा में यदि स्वार्थ का भाव रहा तो वह निश्चय ही पापी है । महात्मा, महंत का भेस रखकर व्यभिचार, अत्याचार करने वाला खुले आम चोरी-डाका करने वाले से कहीं अधिक खतरनाक है । निजी धंधा कर लें या जन-सेवा करें, दोनों में भी स्वार्थ और सत्य की परख जनता नहों कर सकती । यदि करे भी तो बहुत देर में समय बीत जाने के वाद करेगी । हर व्यक्ति अपनी परख आप ही कर सकता है । कार्य में भावना प्रधान है और भावना को बाहर का कोई आदमी देख नही सकता । अपनी भावना का साक्षी आप ही होता है या भगवान ।

श्लोक ६४

मोहं मार्जय तामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ
चेतः स्वर्गतरंगिणीतटभुवामासंगमंगीकुरु ।
को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च श्रीषु च
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सुहृद्वर्गेषु च प्रत्ययः ।।

पदच्छेद

तामुपार्जय = ताम् + उपार्जय
चन्द्रार्ध = चन्द्र + अर्ध
भुवामासंगमंगीकुरु = भुवाम् + आसंगम् + अंगीकुरु
तडिल्लेखासु = तडित् + लेखासु
ज्वालाग्रेषु = ज्वाल + अग्रेषु

पदान्वय

चेतः मोहम् मार्जय अर्द्ध चन्द्र चुड़ामणौ ताम् रतिम् उपार्जय
स्वर्ग तरंगिणी तट भुवाम् आसंगम् अंगीकुरु
वीचिषु बुद्बुदेषु तडित् लेखासु श्रीषु
ज्वाल अग्रेषु पन्नगेषु च सुहृद् वर्गेषु को बा प्रत्ययः

शब्दार्थ

चेतः = हे मन !
मोहम् = अज्ञान को
मार्जय — धो डाल (और)
अर्द्ध चन्द्र = अर्द्ध चन्द्र जिसकी
चूडामणौ — सिर-मौर है
ताम् = उस महादेव में
रतिम् — प्रीति
उपार्जय = प्राप्त कर,
स्वर्ग तरगिणी — देव नदी गंगा के
तट भुवाम् = तटवर्ती स्थानों में
आसंगम् = निवास
अंगीकुरु = बना ले (क्योंकि)

वीचिषु = जल के तरंगों पर
बुद्बुदेषु = पानी के बुलबुलों पर
तडित् लेखासु = बिजली की रेखा पर
श्रीषु = धन वैभव पर
ज्वाला अग्रेषु — आंच की लौ पर
पन्नगेषु = सांपों पर
च = और
सुहृद् वर्गेषु = मित्र मंडली पर
को वा प्रत्ययः = कौन विश्वास है अर्थात् कोई विश्वास नहीं

भावार्थ

मोह को छोड़ दो, महादेव जी में मन लगाओ और गंगाजी के तट पर वास करो। इस संसार में जल की तरगों, पानी के बुलबुलों बिजली की चमक, आग की लौ, सांपों, सम्पत्तियो तथा स्वजनों का कोई विश्वास नही है।

विशेषार्थ

पिछले दो श्लोकों में से पहले में 'प्रेय' से उदासीन रहने और श्रेय में मन लगाने की बात कही गयी थी। उन श्लोकों के अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट करके बताया गया है कि मनुष्य को क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। बताया है कि मोह को त्यागना, पावन प्रदेशों में निवास करना तथा भगवद् भजन करना श्रेय है। धन सम्पत्ति और बंधु मित्रों के मोह में फंसना प्रेय है। प्रेय पदार्थों का कोई विश्वास नहीं। इस लिये श्रेय में पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। इसका यह स्पष्ट अभिप्राय है कि प्रेय में तात्कालिक सुख प्राप्त होने पर भी उसमें धोखा है, बाद में पछताना पड़ेगा। इसके विपरीत श्रेय में विपत्तियों के टूट पड़ने पर भी अंत में लाभ

दायक ही सिद्ध होंगे । प्रेय के सुखों में भूल न जाना और श्रेय के दुखों से व्याकुल न होना ही मोह का परित्याग है ।

प्रेय के सिलसिले में 'श्री' तथा 'सुहृत्' दोनों की चर्चा की गयी है । तरंग, बुलबुला, बिजली, आग की लौ, साँप के फन की जो उपमाएं दी गयी हैं वह 'श्री' तथा 'सुहृत्' दोनों पर ही लागू होती हैं । किन्तु प्रथम तीन 'श्री' के लिए और अन्तिम दो सुहृत् के लिए अधिक उपयुक्त है । जान पड़ता है, 'श्री' जल-तरंग के समान चंचल, पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर और बिजली की चमक के समान चकाचौंध करने वाली है । बन्धु, मित्र आग की तरह जला डालने वाले और साँप की तरह डसने वाले हैं । इसलिए यह दोनों विश्वास करने योग्य नहीं हैं । इसके विपरीत महादेव जी का ध्यान भजन श्रेयस्कर है और इसमें किसी प्रकार का धोखा नहीं है ।

किन्तु जल, ज्वाला और सर्प आदि से बचने और शंकर भगवान को सेवने की जो बात कही गयी है, यह सब महादेवजी के साथ मौजूद है । उनकी जटाओं में से गंगा जी बह निकलती हैं, माथे में तीसरे नेत्र से आग की ज्वाला निकला करती है और गले में साँप लपेटे हैं । इसे दो दृष्टिकोण से देखा जा सकता है । एक यह कि इन घातक वस्तुओं को भी साधा जा सकता है । किंतु श्लोक के उत्तरार्ध का यह भी अभिप्राय लिया जा सकता है कि इन प्रतीकों को पूजना भी मोह अथवा अज्ञान है 'ताम् रतिम् उपार्जय' कहकर केवल विशुद्ध भक्ति की ओर संकेत किया गया है ।

श्लोक ६५

चेतश्चिंतय मा रमां सकृदिमामस्थायिनीमास्थया
भूपालभृकुटी-कुटीविहरणव्यापारपण्यांगनाम् ।
कंथाकंचुकिनः प्रविश्य भवनद्वाराणि वाराणसी
रथ्यापंक्तिषु पाणिपात्रपतितां भिक्षामपेक्षामहे ।।

पदच्छेद

सकृदिमामस्थायिनीमास्थया=सकृत्+इमाम्+अस्थायिनीम्
+आस्थया

पण्यांगनाम्=पण्य+अंगनाम्
भिक्षामपेक्षामहे=भिक्षाम्+अपेक्षामहे

पदान्वय

चेतः भूपाल भृकुटी कुटी विहरण व्यापार पण्यांगनाम्
इमाम् अस्थायिनीम् रमाम् सकृत् आस्थया मा चिन्तय
वाराणसी रथ्या पंक्तिषु कन्था कंचुकिनः
भवन द्वाराणि प्रविश्य पाणिपात्र पतिताम् भिक्षाम् अपेक्षामहे

शब्दार्थ

चेतः	—हे मन (तू)
भूपाल	—राजाओं के
भृकुटी कुटी	—भौंहों की कुटी में
विहरण व्यापार	—विचरने के काम में
पण्यांगनाम्	—वेश्या-पैसे पर बिकने वाली (जो है)
इमाम्	—इस
अस्थायिनीम्	—अस्थिर
रमाम्	—लक्ष्मी, धन को
सकृत्	—कभी भी
आस्थया	—आदर के साथ
मा चिन्तय	—चाह न कर
	(हम तो)
वाराणसी	—काशी (बनारस) के
रथ्या पंक्तिषु	—राज-मार्ग में, गलियों में
कन्था कंचुकिनः	—कथरी ओढ़ कर
भवन द्वाराणि	—घरों के दरवाजों पर
प्रविश्य	—जा कर
प्राणि पात्र	—हथेली रूपी करवे में (अंजुली में)
पतिताम्	—पड़ी या पाई हुई
भिक्षाम्	—भीख को
अपेक्षामहे	—पसन्द करते हैं।

भावार्थ

धन का स्वभाव महा चंचल है। रंडी की सी उसकी चाल है और वह रहती सदा राजाओं के भौंहों के बीच है, जो कभी भी तन

सकती है। इसलिए हेन, तूम कभी ऐसे धन की चाह न कर। उसकी बड़ाई न कर। अब हमारा इरादा यही है कि कथरी कन्धे पर डाल करवा हाथ में ले पुण्यपुरी काशी जी की गलियों में दर-दर भीख मांग कर गुजारा करें।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में प्रेय के परित्याग के सिलसिले में घर, सम्पत्ति तथा बन्धुओं से दूर हो जाने की बात कही गयी थी। फिर कैसे निर्वाह करें ? यही इस श्लोक में बताया गया है। घर छोड़ काशी वास करें, वैभव त्याग कथरी संभालें और भाई-बन्धुओं की जगह संसार को ही अपना समझ सभी घरों से भिक्षा लें। इसमें सन्देह नहीं कि त्याग मूर्ति का यह सजीव चित्रण है। किन्तु यहाँ पर मूर्तिमान त्याग के सजीव चित्र का प्रश्न नहीं है। घर पर न रहा, काशी जी में रहा। बहुमुल्य वस्त्र आभूषण नहीं पहिने, कथरी डाल ली—स्त्री और बच्चों के बीच खाया-पिया नहीं, दर-दर कौर माँग, इसमें अन्तर क्या पड़ता है ? काम तो वही हुए। काम तो वही करें पर बिना कारण शरीर और मन को कष्ट क्यों दें ? क्या अधिक दुख भोगने में ही मुक्ति है ? यह बात नहीं है। धन, वैभव आदि अस्थाई हैं। यह अन्त में कष्ट के ही कारण होते हैं। इसलिए इन में मन न लगावें, यही इसका अभिप्राय है। मन नही मानता, शरीर सहन नहीं कर सकता, इसलिए शरीर को थोड़ा-सा कष्ट दे कर मन को इसका अभ्यस्त बनाना पड़ता है। यदि लंगोटी लगाने और कौर खाने के बाद भी मन साँसारिक सुख के लिए तिलमिलाया करे तो उस त्याग तथा कष्ट-सहन से कोई लाभ नहीं। बल्कि धन दौलत के बीच झूला झूलते हुए भी यदि मन उसमें फंसा न रहे तो मन को मारने के लिए किसी अभ्यास की जरूरत ही नही है।

यहाँ पर शंका उठती है। जब भोग या त्याग दोनों बाहरी वस्तुएं हैं और मुख्य वस्तु मन है और इस मन को अन्ततोगत्वा त्याग की भावना से भी उतना ही उदासीन रहना है जितना भोग से। तब त्याग के पीछे शरीर को क्यों कष्ट दिया जाए और मन पर अत्याचार क्यों किया जाए ? ठीक है, किन्तु यदि उदासीनता को भी अभ्यास द्वारा ही सिद्ध करना हो, तो उसी तरीके को अपनाना होगा जिससे मन में ऐसी भावना उत्पन्न हो। त्याग और निवृत्ति

का मार्ग सदा मन को इसी उदासीनता की ओर ले जाता है। इसके विपरीत भोग तथा प्रवृत्ति का मार्ग मन में लोभ और मोह के भाव को अधिकाधिक बढ़ाता है। इसके अलावा, त्याग हो अथवा भोग, जब मनुष्य उनकी अन्तिम सीमा पर पहुंचता है, तभी उसे असलियत का आभास होने लगता है। लंगोटी लगाना और भीख मांगना निवृत्ति-मार्ग की अन्तिम सीमा कही जा सकती है। इससे भी बढ़ कर त्याग तथा स्वेच्छापूर्ण सहनशीलता की कल्पना करना कठिन है। इसके बाद अवधूत बन जाना ही बाकी रह जाता है। इसके विपरीतभोगेच्छा को बढ़ाते हुए थोड़ा बहुत आत्म-तृप्ति का भी कर लेने का प्रयत्न करेंगे तो इसमें सफलता की आशा नहीं। भोग की कोई सीमा नहीं है। संसार में एक से एक बढ़िया भोग-सामग्री बढ़ायी जा सकती है। संसार से परे स्वर्ग की इच्छा भी इसी भोग की ही परिधि में आता है। यह दूसरी बात है कि तुलसीदास, बिल्वमंगल आदि को भोग के द्वार पर ही त्याग का पाठ मिला, और जनक आदि ने प्रवृत्ति में ही मुक्ति पायी। परन्तु यह अपवाद ही हैं। साधना के लिए निवृत्ति-मार्ग ही वाँछनीय है। त्याग के मार्ग में भोग बहुत बड़ी बाधा है। कामिनी-काँचन भोग के सबसे बड़े प्रतीक हैं। साधक को इन दोनों से दूर रहना जरूरी है।

इस श्लोक में कामिनी और और काँचन का अच्छा जोड़ भिड़ाया गया है। धन को 'पण्याँगना' कहा है। 'पणि' प्राचीन भारत में एक सोने का सिक्का था। पणि-अंगना के माने हैं पैसे पर अपना शरीर सौंपनेवाली स्त्री अर्थात् बाजारू रंडी। लोग धन को धन-लक्ष्मी भी कहते हैं। धन-लक्ष्मी और पण्याँगना में शब्द की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु दोनों शब्दों का उपयोग अलग-अलग अर्थों में किया जाता है। एक को लक्ष्मी माना जाता है और दूसरे को वेश्या। किन्तु इस श्लोक में सिद्ध किया गया है कि जिसे सब लक्ष्मी कहते हैं वह वास्तव में बाजारू रंडी है। जिस प्रकार सांसारिक जीवन के सुधार के लिए बाजारू रंडियों से बचना जरूरी है उसी प्रकार पारलौकिक सुरक्षा के लिए धन-लक्ष्मी से दूर रहना आवश्यक है। मुक्ति के मार्ग में धन-लक्ष्मी वास्तव में पण्याँगना है।

श्लोक ६६

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वयोर्दाक्षिणात्याः
पश्चाल्लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम् ।
यद्यस्त्येवं कुरु भवरसास्वदने लंपटत्वं
नोचेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ।।

पदच्छेद

पार्श्वयोर्दाक्षिणात्याः=पार्श्वयोः+दाक्षिणात्याः
पश्चाल्लीला=पश्चात्+लीला
यद्यस्तत्येवम्=यदि+अस्ति+एवम्
भवरसास्वादने=भवरस+आस्वादने
नोचेच्चेतः=नोचेत्+चेतः

पदान्वय

अग्रे गीतम् पार्श्वयोः दाक्षिणात्याः सरस कवयः पश्चात् चामर ग्राहिणीनाम् लीला वलय रणितम् यदि एवम् अस्ति चेतः भवरस आस्वादने लम्पटत्वम् कुरु नो चेत् निर्विकल्पे समाधौ सहसा प्रविश

शब्दार्थ

अग्रे गीतम्	—आगे गाना हो,	लीला	—अदा के साथ
पार्श्वयोः	— दायें बायें	वलय रणितम्	—कंगन की झनकार हो,
दाक्षिणात्याः	— दक्षिण देश के		
सरस	—रसिक	यदि	—अगर
कवयः	—विद्वान (हों),	एवम्	—इस प्रकार
पश्चात्	—पीछे	अस्ति	—हो (तो)
चामर ग्राहिणीनाम्	—चंवर हाथों में ली हुई युवतियों की	चेतः	—हे मन ! (तू)
		भव रस	—संसार के सुखों के

आस्वादने	—चखने का, भोगने का	निर्विकल्पे	—विकल्प रहित,स्थिर
लम्पटत्वं कुरु	—लालच कर,	समाधौ	—समाधि में
नो चेत्	—(यदि ऐसा) न हो तो	सहसा	—तुरन्त
		प्रविश	—प्रवेश कर

भावार्थ

सामने गवैयों के मधुर गान हों, पीछे चंवर डोलाती हुई युवतियों के कंगन की झन्कार हो, दायें बायें दक्षिण भारत के विद्वानों की कविता गोष्ठी हो, यदि इतना वैभव प्राप्त हो तो संसार का सुख भोगने में कुछ मजा भी है। नहीं तो अच्छा यही है कि मन को तुरंत विषयों से हटा कर वैराग्य द्वारा स्थिर–समाधि की प्राप्ति का प्रयत्न करें।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में वैराग्य की शिक्षा देते हुए कहा गया था कि साँसारिक सुखों के मुख्य साधन 'धन' से मन को हटा लेना चाहिए। इस श्लोक में कहा गया है कि यदि मन में भोग की इच्छा हो तो उसका पूर्णतया भोग करना ही चाहिए जिससे तृष्णा शेष न रहे। पिछले श्लोक में एक वैराग्य-सम्पन्न व्यक्ति का सुन्दर चित्र सामने रखा गया था। इस में भोग का मनोहारिणी चित्रण प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार पिछले श्लोक में त्याग की सीमा तक ले गया था उसी प्रकार इसमें भोग की पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया है। फिर भी भोग को ही जीवन का आदर्श नहीं माना है। श्लोक की शब्दावली से इसकी पूरी पुष्टि होती है। आगे पीछे औरतें हों, गाना बजाना हो, तब भी अगल-बगल विद्वानों को बिठाकर यही बतलाया गया है कि कानों में सदा शास्त्रीय चर्चा का ही समावेश हो। इतनी बंदिश के बाद भी भोगी जीवन को सम्मानित नहीं बल्कि लम्पट कहा गया है। एक अत्यन्त सुखी जीवन का चित्रण किया गया है कि भोग से जी भर जाय और वैराग्य की ओर झुके। अन्त में 'सहसा समाधि' की बात कह कर यह सिद्ध किया गया है कि मन को शीघ्र वश में करने का उपाय निवृत्ति ही है। प्रवृत्ति का मार्ग सुखकर होते हुए भी देर का है। कैसे ? यह अगले श्लोक में बताया गया है।

यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है। राज दरबार का जो वर्णन इस श्लोक में है ऐसा लगता है कि यह स्वयं भर्तृहरि का स्वानुभव है। नहीं तो इतना सुन्दर वर्णन देना कठिन है।

भर्तृहरि का कहना है कि मैंने ऐसे सुख भोग डाले हैं, उनमें जो सुख है वह स्थाई नहीं है। क्षणिक सुख का आनन्द पाना भी हो तो कम से कम इतना वैभव होना ही चाहिए। और यदि वह विद्वान तथा ज्ञानी हो तो उससे जरूर जी भर जावेगा, जैसा भर्तृहरि को स्वयं हुआ है। तभी वह विश्वास के साथ कह सकता है कि इस सुख में कोई सार नहीं है। इसीलिए बिना विलम्ब समाधि का आश्रय लेने की शिक्षा दी गयी है।

श्लोक में विद्वानों के साथ दाक्षिणात्य का विशेषण यह सिद्ध करता है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व भी दक्षिण में उत्तर की अपेक्षा संस्कृत साहित्य का अधिक प्रचार था। आज के समान तब भी सारे भारत में दक्षिणी विद्वानों की धाक थी। याद रहे यहां पर विशेष व्यक्तियों की बात नहीं हो रही है। इससे उस विचारधारा का खंडन होता है कि केवल मुसलमानों के आक्रमण या उनके सदियों के सम्पर्क के कारण आर्य संस्कृति में संकर उत्पन्न हो गया। सच्ची बात तो यह है कि द्रविडों की सभ्यता तथा संस्कृति आर्यों की अपेक्षा अधिक उन्नत थी। प्राचीन अवशेष तथा अर्वाचीन नमूने ही इसके प्रमाण हैं। बल तथा बर्बरता में आक्रमणकारी आर्य अवश्य ही बढ़े चढ़े थे, किंतु सुसंस्कृत, शान्तिप्रिय द्रविड़ बौद्धिक दृष्टि से तथा कला-कौशल में आर्यों को शुद्ध करने की क्षमता रखते थे और किया भी। किंतु कठिनाई तो यह है कि किस को शुद्ध द्रविड़ अथवा शुद्ध आर्य कहा जाए? क्योंकि सम्मिश्रण ही संस्कृति की जननी है।

श्लोक ६७

प्राप्तः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम्
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सम्पादिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किम्
कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्ततः किम्॥

पदच्छेद

कामदुघास्ततः=कामदुघाः+ततः
विभवैस्ततः=विभवैः+ततः
कल्पस्थितास्तनुः=कल्पस्थिताः+तनु
तनवस्ततः=तनवः+ततः

पदान्वय

तनु भृताम् सकल काम दुघाः श्रियः प्राप्ताः ततः किम्
विद्विषताम् शिरसि पदम् न्यस्तम् ततः किम्
विभवैः प्रणयिनः सम्पादिताः ततः किम्
कल्पस्थिताः तनवः (सम्पादिता) ततः किम्

शब्दार्थ

तनु भृताम्	—शरीर धारियों को (मनुष्यों को)
कामदुघाः	—सब इच्छाओं की पूर्ति करने वाली
श्रियः	=सम्पदाएं
प्राप्ताः	—मिल गयीं (तो)
ततः किम्	—उससे क्या हुआ ? (इसी प्रकार)
विद्विषताम्	—शत्रुओं के
शिरसि	—सिरों पर
पदम्	—पैर
न्यस्तम्	—रख दिया (तो)
ततः किम्	—उससे क्या?
विभवैः	—धन-दौलत से
प्रणयिनः	—मित्रों को
सम्पादिताः	—प्राप्त किया (तो)
ततः किम्	—उससे क्या ? (और)
कल्पस्थिताः	—कल्पांत तक रहने (वाला)
तनवः	—शरीर
सम्पादिताः	—पाया (तो)
ततः किम्	—उससे क्या ? अर्थात् सब व्यर्थ है ।

भावार्थ

इतनी सारी धन-सम्पत्ति के मालिक हो जाएं कि बे रोक-टोक मन चाहा काम हो जाए, इतना बल पौरुष प्राप्त हो जाए कि सब

दुश्मनों को कुचल डालें, इतने सम्पन्न हो जाएं कि सब बन्धु-मित्रों को खुश कर सकें और खुद कल्पांत तक जीते रहें, सब कुछ हो जाए, तो भी इन सब से कोई सच्चा सुख नहीं मिल सकता। सब निरर्थक है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि खूब सुख सामग्री हो, जी भर कर सुख भोगा भी जाए, किन्तु इतने वैभव का प्राप्त होना और उससे मन का छक जाना दोनों अनहोनी बातें हैं। इस श्लोक में कहा गया है कि ऐसे कल्पनातीत सुख से भी कुछ नहीं होने का। मान लो कि एक व्यक्ति ऐसा है कि उसका सभी इच्छाएं पूरी हो जाती हैं, उसने अपने शत्रुओं को एकदम कुचल डाला है, दे-दिला कर, खिला-पिलाकर बहुतों को अपना दोस्त बना लिया है और यह भी गारन्टी हो गयी कि वह कल्प के अन्त तक जीता रहेगा और साथ ही बे खटके सब सुखों को भोगता रहेगा, तो भी वह सुखी नहीं रह सकता। क्यों? अब उसे किस बात का टोटा है? धन-संग्रह, शत्रु-हनन, मित्र सम्पादन और अमर जीवन, इन चारों बातों के भीतर वास्तव में एक ही भावना काम कर रही है और वह है धन-लिप्सा। इसी धन को बचाने के लिए शत्रु-संहार होता है, इसी की प्राप्ति के लिए मित्र-मण्डली इकट्ठी होती है और इसी के भोगने के लिए लम्बी-चौडी आयु का लालच होता है। सुख-भोग में शत्रु और मृत्यु को सभी बाधक मानते हैं, किन्तु यह कोई सोचता नही कि स्वयं धन तथा मित्र भी उस सुख में उतने ही बाधक है। श्लोक ६४ में बन्धु-मित्रों को आग और सर्प के समान भयावने बताया गया है और जिस धन से यह सब किया जाता है उसकी तुलना पानी के बुलबुले या बिजली की चमक से की गयी है। इस तरह सिद्ध हो जाता है कि लोग जिनसे प्रेम करते हैं वह भी खतरे से खाली नहीं है। प्रेय का मार्ग ऐसा हीं है।

यहां पर शत्रु-मित्र, इन दो शब्दों पर थोड़ा-सा विचार कर लें। एक के पास धन-दौलत की भरमार है। स्वभावतः सभी लोग उसे चाहेंगे। सबको उतना मिल नही सकता। सबको सब उठा कर कोई दे नहीं सकता। थोड़ा-सा पा कर जो सन्तुष्ट हो जाते हैं वही लोग मित्र-मण्डली में जगह पाते हैं। बाकी लोग देखते रह जाते हैं और आशा लगाए बैठे रहते हैं। फलस्वरूप उनका पीडन, शोषण भी होता है। किन्तु कुछ ऐसे भी निकलते हैं जो बराबरी का दावा करते हैं, मुकाबिले की हिम्मत करते हैं और यही शत्रु बन जाते हैं। जब

धन पा कर ही कुछ मित्र बन सकते हैं तब तो धन दे कर शत्रुओं को भी मित्र बना लिया जा सकता है। मगर किस-किस को दिया जाए कितना दिया जाए? फिर बचेगा ही क्या? इसी बात को श्लोक ५६ में कहा था कि कोई किसी को दे नहीं सकता और देगा भी तो बहुत थोड़ा ही देगा। इस थोड़े-से के लिए जो लार टपकाते हैं वह महान मूर्ख हैं। थोड़ा-सा पा कर दोस्ती का दम भरने वाले ऐसे ही लोग होते हैं। शत्रुओं का गुट भी इसी श्रेणी में से बनता है और इसी भावना से प्रेरित हो कर शत्रुता पर तुल जाता है। उसे और भी अधिक ओछी प्रवृत्ति वाले साथी मिल जाते हैं। इस प्रकार हर पक्ष के मित्र भीं हैं और शत्रु भी और दोनों का आराध्य देव वही धन या ऐसी ही कोई वस्तु है। फिर कोई मित्र कैसे? और शत्रु कैसे? जो मित्र बनते हैं, वह शत्रु बन जाते हैं। सच तो यह है कि कोई कोई शत्रु होते हुए भी बहुत कुछ उपकार कर जाते हैं और कुछ मित्र मित्रता का व्यवहार करते हुए भी हानि पहुंचाते हैं। शत्रु के भय से या उसकी टीका टिप्पणी से हम अपने आप को मजबूत कर लेते और त्रुटियों को दूर कर लेते हैं और मित्रों के भरोसे पर निश्चिंत और बेपरवाह बन जाते हैं और उससे हम में दोष आ जाते हैं। जब वस्तुस्थिति ऐसी है तब धन राशि पर बैठ जाना, शत्रुओं को कुचलना या मित्र-मण्डली बना लेना और कल्पान्त तक जीना, सब व्यर्थ है।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि न वह धन बटोरे, न शत्रु-मित्र बनाए और न बहुत जीने का लालच करे। केवल कर्त्तव्य की दृष्टि से सब कुछ करता रहे और अपने आप जो कुछ होवे उसे चुप चाप भोग ले और चलता बने। यही श्रेय का मार्ग है।

श्लोक ६८

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥

पदच्छेद

भक्तिर्भवे=भक्तिः+भवे
वनान्ताः=वन+अन्ताः
वैराग्यमस्ति=वैराग्यम्+अस्ति
किमतः=किम्+अतः
परमर्थनीयम्=परम्+अर्थनीयम्

पदान्वय

भवे भक्तिः हृदिस्थम् मरण जन्म भयम्
बन्धुषु स्नेहः न, मन्मथजा विकाराः न
संसर्ग दोष रहिताः विजनाः वनान्ताः वैराग्यम् आस्ति
इतः परम् अर्थनीयम् किम्

शब्दार्थ

भवे भक्तिः = ईश्वर में भक्ति हो, (और)
हृदिस्थम् = मन के भीतर
मरण जन्म भयं = जीने मरने का भय हो,
बन्धुषु = भाई बिरादर में
स्नेहः न = मन न लगा हो
मन्मथजाः = काम वेग से पैदा होने वाले (मनमें) दोष
न = न हों
संसर्ग दोष रहिता = संग दोष से बरी
वनान्ताः = वनों में रहें (तथा)
वैराग्यं अस्ति = वैराग्य होवे (तो)
इतः परम् = इससे बढ़ कर
अर्थनीयम् = चाहने योग्य
किम् = क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं है

भावार्थ

ईश्वर में भक्ति हो, जन्म मरण का भय हो, भाई बन्धुओं में आसक्ति न हो, मन के भीतर काम-वासना न हो, और इन सब की सिद्धि के लिए निर्जन बनों में वास करें। इस प्रकार जब मनुष्य को वैराग्य की सिद्धि होवे तब मनुष्य के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं रहेगी। मानों वह सब कुछ पा गया।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि प्रवृत्ति में सुख है ही नहीं। इसमें बताया गया है कि सच्चा सुख निवृत्ति में है। इसलिए वैराग्य को परम धन कहा गया है। इस वैराग्य की सिद्धि के कुछ साधन बताए हैं: — १. ईश्वर-भक्ति। २. जन्म-मरण का भय। ३. बन्धुजनों से उदासीनता। ४. काम-विकार का अभाव। ५. एकान्त सेवन। अब इन्हें एक-एक कर लें।

१. ईश्वर-भक्ति का मतलब है ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में मन न लगाना। यदि मन किसी और जगह फंसे तो उसमें भी ईश्वर ही का प्रतिबिम्ब देखना।

२. जन्म-मरण का भय—मरण से तो सभी भयभीत रहते हैं, मगर वास्तव में जन्म से भी उतना ही भय खाना चाहिए। जन्म और मरण एक दूसरे के साथ लगे हुए हैं। इस आवागमन से छुटकारा पाने अर्थात् ईश्वर में लीन होने का नाम ही 'जन्म-मरण' के भय से मुक्त होना है।

३. बन्धुजनों से उदासीनता—जन्म के साथ मरना जरूरी है। मरते समय जिस किसी से प्रेम रहे उसी वासना की पूर्ति के लिए फिर जन्म लेना पड़ता है। जीवन भर सब से उदासीन रहें तभी मरते समय सांसारिक सम्बन्धों का विचार न होगा। ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति होने से ही अन्य पदार्थों से उदासीनता, और उदासीनता से ही आवागमन से छुटकारा सम्भव है।

४. काम विकार का अभाव—अर्थात् मन के भीतर भी व्यभिचार की भावना का न होना। केवल वेश्या-गमन ही व्यभिचार नहीं है। मन का ईश्वर से हट कर किसी अन्य वस्तु में लगना भी व्यभिचार है। इसी के अभाव को ब्रह्मचर्य कहते हैं अर्थात् परब्रह्म परमात्मा में विचरना।

५. एकान्त सेवन—ऊपर की चारों बातों के साधने के लिए एकान्त सेवन नितान्त आवश्यक है। एकान्त के माने लोगों से अलग रहना ही नहीं है, बल्कि मित्रों और शत्रुओं में अन्तर न करना, और यही वैराग्य है। जब मन की यह स्थिति हो गयी तब वह मनुष्यों के बीच में रहे या वन में जा कर रहे, कोई विशेष अन्तर नहीं है। बल्कि सब के साथ सब काम करते हुए सब के बीच में रहे और किसी से लगाव न रखें, यही असली वैराग्य है।

श्लोक ६९

तस्मादनंतमजरं परमं विकासि
तद्ब्रह्म चिंतय किमेभिरसद्विकल्पैः ।
यस्यानुषंगिण इमे भुवनाधिपत्य-
भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति ।।

पदच्छेद

तस्मादनन्तमजरम्=तस्मात्+अनन्तम्+अजरम्
तद्ब्रह्म=तत्+ब्रह्म
किमेभिरसद्विकल्पैः=किम्+एभिः+असत्+विकल्पैः
यस्यानुषंगिणः=यस्य+अनुषगिणः
भुवनाधिपत्य=भुवन+आधिपत्य
भोगादयः=भोग+आदयः

पदान्वय

तस्मात् कृपण लोकमता इमे भुवन अधिपत्य भोगादयः
यस्य अनुषगिणः भवन्ति
तत् अनन्तम् अजरम् परमम् विकासि ब्रह्म चिंतय
एभिः असत् विकल्पैः किम्

शब्दार्थ

तस्मात् = इसलिए
कृपण लोकमता = नीचों द्वारा चाहे जाने वाले
इमे = यह
भुवन आधिपत्य = सांसारिक सत्ता के
भोग आदयः = सुख आदि
यस्य = जिसके
अनुषंगिणः = साथ साथ चलने वाले,
भवन्ति = होते है
तत् = उस
अनन्तम् = अमर, जिसका कभी अंत न हो,
अजरम् = अजर, जो कभी बूढ़ा क्षीण न हो,

परमम्	—श्रेष्ट	एभिः	=इन
विकासि	=व्यापक ब्रह्म का	असत्	=झूठी
		विकल्पौः	—इच्छाओं में
चिन्तय	—ध्यान कर।	किम्	—क्या (धरा है)?

भावार्थ

इसलिए हे मन तू अजर, अमर, सर्वोत्कृष्ट, सवव्यापी परब्रह्म परमात्मा का मनन चिंतन कर। क्योंकि संसार के सारे सुख-दुख अस्थिर हैं।

विशेषार्थ

यह श्लोक 'तस्मात्' यानी—इसलिए के शब्द से शुरू होता है। इसलिए —किसलिए? पिछले श्लोक में जिन बातों की चर्चा है उन की सिद्धि के लिए। परब्रह्म परमात्मा में अनन्य भक्ति ही सबमें प्रधान है। वह परब्रह्म कैसा है? और उसकी प्राप्ति से क्या लाभ है? वह अनन्त है, यानी उसका कभी कहीं अन्त नहीं होगा। सदा सर्वत्र विद्यमान रहेगा। जिसका अन्त न हो उसका आदि भी नहीं हो सकता। जो कभी मरता नहीं वह कभी पैदा भी नहीं होता। बुढ़ापा तो जन्म मरण के बीच की वस्तु है। इस तरह वह अजन्मा है, अजर है, अमर है। इसलिए वह सर्वश्रेष्ठ है। यह हमारी पृथ्वी ही नहीं, स्वर्ग, मृत्यु, पाताल, तीनों लोकों और इन तीनों के बीच के अन्य सभी लोकों में परमात्मा के सिवा ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो अजर अमर हो। अकेला परब्रह्म परमात्मा ही अजर अमर है, और वह इन सबमें व्याप्त है।

मान लिया जाए कि ईश्वर ऐसा ही है। तो उससे मनुष्य को क्या लाभ? क्यों नहीं? मनुष्य परमात्मा तो नहीं, किंतु परमात्मा से भिन्न भी नहीं है। मनुष्य में भी परमात्मा के-से गुण पाये जाते हैं। मनुष्य अजर-अमर तो नहीं है, किन्तु वह बुढ़ापे को भी दूर रख सकता है, अपनी आयु भी बढ़ा सकता है। मानव सर्वसृष्टि का सम्राट है ही, अब वह अन्य लोकों की भी खबर लेने लगा है। जिसका बीज हो उसका पेड़ भी बन सकता है। उस सर्वोत्कृष्ट, सर्वव्यापी परमात्मा के मनन चिंतन से मनुष्य में उन गुणों की वृद्धि हो सकती है। दूसरी ओर से भी देखें तो ईश्वर सर्वव्यापी है। इसलिए वह मनुष्य में भी है। अपने में खोजकर मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। तब मानव अनुभव करने लगेगा कि सारी सृष्टि में वह स्वयं व्याप्त है। कोई वस्तु उससे भिन्न

नहीं है। मनुष्य तब सबको अपने ही समान समझेगा। अपने में ईश्वरत्व पायेगा तो दूसरों में भी उसी का प्रतिबिम्ब देखेगा। इस समानता का भाव मनुष्य तक सीमित न रख कर पशु पक्षियों और पेड़ पहाड़ों को भी वही स्थान देगा। आदर्श समाज में मनुष्य मात्र को यह अधिकार दिया जाता है। किन्तु मनुष्य से भी आगे बढ़कर सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का भी यही अधिकार मानना निश्चय ही ऊँची बात है। थोड़े बहुत रूप में साधारण मनुष्य भी यही करते हैं। किन्तु वह थोड़ी मात्रा में करता है इसलिए वह मानव मालूम देता है। उन्हीं बातों की मात्रा बढ़ाना ईश्वरत्व की ओर पग बढ़ाना है। उसी भावना से शराबोर होना, उसी को जीवन-धारा बनाना स्वयं ईश्वर बनना है। संसार का, सृष्टि का स्वामी बनना है। छोटी-छोटी बातों की इच्छा करने वाला मानव क्या ऐसी ऊँची पदवी पसंद नहीं करेगा ?

श्लोक ७०

पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनीनं
न ब्रह्म संस्मरसि निर्वृतिमेषि येन॥

पदच्छेद

पातालमाविशसि=पातालम्+आविशसि
दिङ्मण्डलम्=दिक्+मण्डलम्
भ्रान्त्यापि=भ्रान्त्या+अपि
कथमात्म=कथम्+आत्म
निर्वृतिमेषि=निर्वृतिम्+एषि

पदान्वय

मानस चापलेन पातालम् आविशसि
नभो विलंघ्य यासि दिक् मण्डलम् भ्रमसि
एनं निवृत्तिम् एषि विमलम् आत्मनीनम्
ब्रह्म भ्रान्त्या अपि जातु न संस्मरसि

शब्दार्थ

मानस =हे मन (तू)
चापलेन —चपलता से
पातालम् —पाताल में
अविशसि —पहुंच जाता है,
नभः =आकाश
बिलंघ्य =लांघ कर
यासि =चला जाता है,
दिक् मण्डलम् =चारों दिशाओं में
भ्रमसि =घूमता है, (किंतु)
एन —जिससे)
निर्वृत्तिम् =मोक्ष को

एषि —प्राप्त हो
तत् =उस
विमलम् —स्वच्छ
विमलं —निर्मल
आत्मनीनम् =आत्मा को सुख देने वाला
अत्म लीनम् —आत्मा में व्याप्त
ब्रह्म —पर ब्रह्म को
भ्रान्त्या अपि —भूल से भी
जातु - जिसे
न संस्मरसि —नहीं याद करता

भावार्थ

चपलता के कारण मन सदा आकाश पाताल के कुलाबे मिलाया करता है और व्यर्थ के माया जाल में फंसा रहता है । भूल से भी यदि वह एक बार इस माया जाल से मुक्त होकर स्थिर चित्त हो ईश्वर का चिंतन करे तो निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त होवे ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया है कि तीनों लोकों का आधिपत्य भी प्रकृति की चेरी मात्र है, जो बिना बुलाये पीछे-पीछे घूमा करती है । इसमें कहता है कि उस परमानन्द की प्राप्ति के बाद इन भोगादि की इच्छा भी न होगी । मन

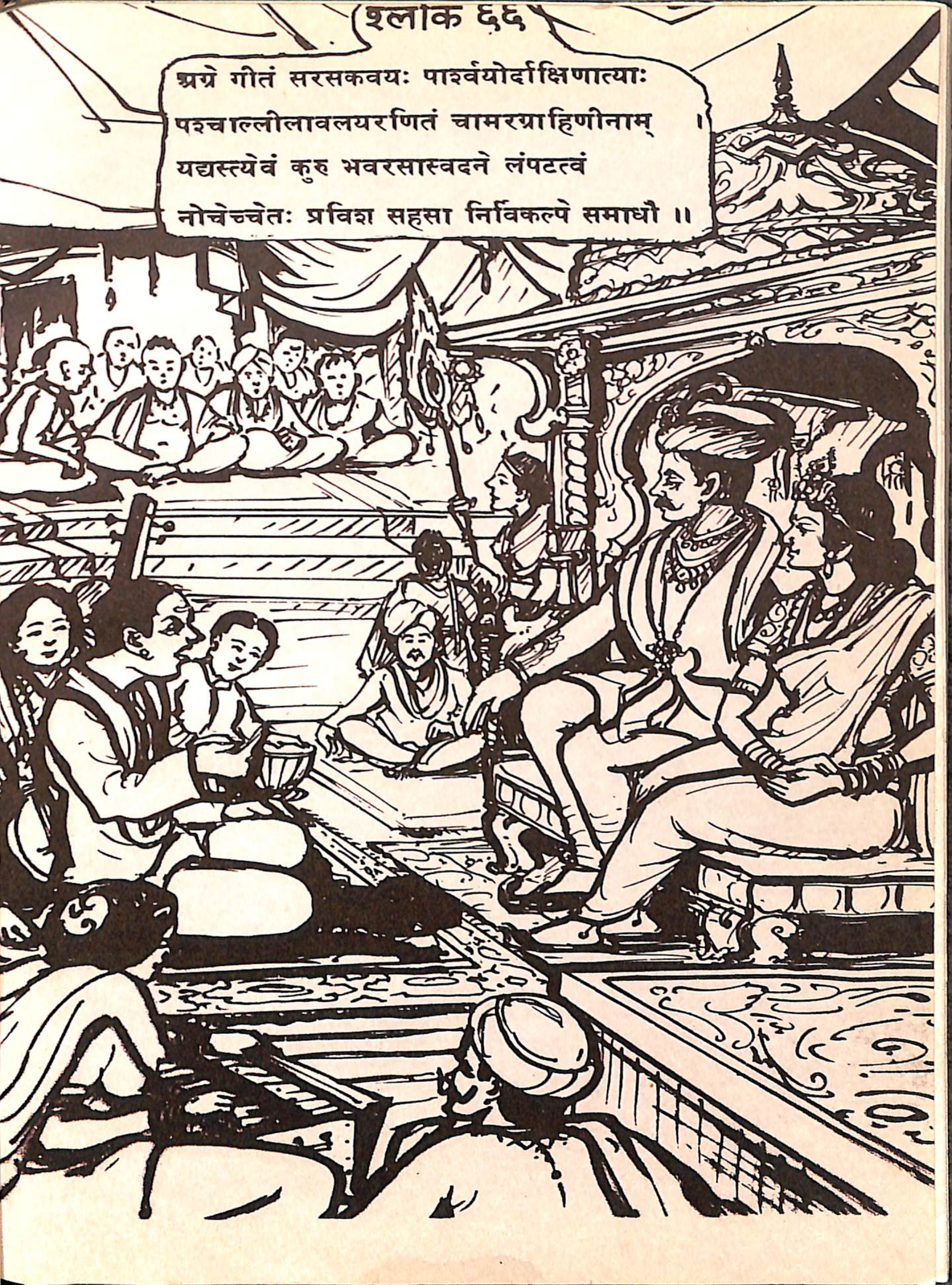

श्लाक ६६

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वयोर्दाक्षिणात्याः
पश्चाल्लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम् ।
यद्यस्त्येवं कुरु भवरसास्वदने लंपटत्वं
नोचेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ॥

श्लोक ७३

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलिः
दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रम् च लालायते
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्य्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते ।

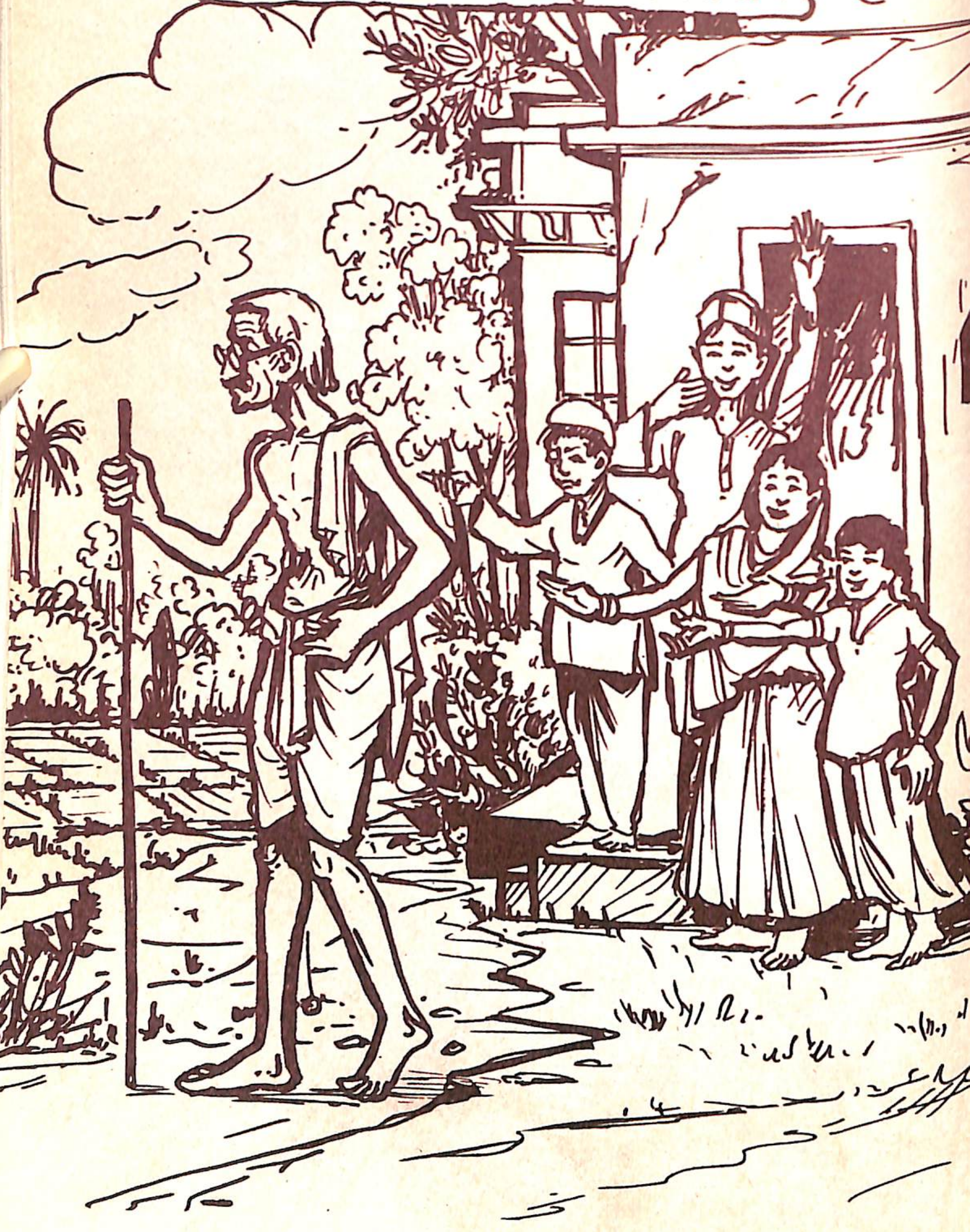

कहां तो चपलता से भिन्न-भिन्न पदार्थों की प्राप्ति के लिए सदा असफल चेष्टा करता था, और कहां यह हाल है कि उनके लिए चेष्टा करना दूर रहा हथेली में आ जाने पर भी उनकी इच्छा नहीं करता। अन्त में कहता है कि मन की स्थिरता ही सुख शान्ति का मूल मन्त्र है। सब जगह घूमना और सब काम करना, फिर भी असली वस्तु से वंचित रहना एक बात है और केवल एक काम करते हुए सब वस्तुओं को प्राप्त होना एकदम दूसरी बात है। आत्मानुभव के लिए पहली चीज को त्यागना कोई जरूरी नहीं है। हां, दूसरी चीज पहली के साथ अपने आप प्राप्त हो जाती है। फिर भी अपने को फंसा नहीं पाये, यही जीवन्मुक्ति है।

आकाश में उड़ने, पाताल में घुसने और धरती के चक्कर काटने की बात श्लोक में कही गयी है। दो हजार वर्ष पूर्व जब विज्ञान की इतनी उन्नति नहीं हुई थी, इस प्रकार विचारना कैसे सम्भव हुआ। विमानों में उड़ने और समुद्र मंथन की चर्चा और ब्रह्माण्डों का वर्णन हमारे पुराणों में है। इसे कल्पना मात्र कहकर उड़ा देना ठीक नहीं जचता। आज भी इतना विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि केवल विज्ञान की उन्नति से समाज की सर्वतोमुखी उन्नति नहीं हो सकती। जब बीते हुए युग का विज्ञान आज के विज्ञान के सामने अज्ञान ही है, तब क्या आज का विज्ञान आने वाले युग के विज्ञान के सामने अज्ञान के समान होना सम्भव नहीं है? इसलिए हमें कहीं न कहीं आत्मा, परमात्मा या सर्वात्मा का सहारा लेना ही पड़ता है।

सप्तम दशक का सारांश

श्लोक नं.—६१ सुख के लिए दूसरों को रिझाना व्यर्थ है।
—६२ केवल कर्तव्य कर्म किए जाओ। जो जैसा होना है —वह वैसा ही होगा।
—६३ प्रेय का विसर्जन और श्रेय का अनुसरण करना चाहिए।
—६४ सांसारिक वैभव प्रेय है और आत्म-चिंतन श्रेय है।
—६५ पुर्णतया त्याग करें अथवा

—६६ पूर्णतया भोग करें

—६७ भोग द्वारा सुख की खोज भूल है।

—६८ वैराग्य उत्तम है।

—६९ आत्म साक्षात्कार के सामने संसार का सर्वस्व तुच्छ है।

—७० मन की स्थिरता से परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

इस प्रकार इस दशक में मन के नियमन तथा उसके महत्व की चर्चा करने के बाद अगले दशक में नित्य, अनित्य वस्तु पर विचार किया गया है।

श्लोक ७१

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।
मुक्त्वैकं भवदुःखभाररचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः॥

पदच्छेद

शास्त्रैर्महा = शास्त्रैः + महा
मुक्त्वैकम् = मुक्त्वा + एकम्
कालानलम् = काल + अनलम्
स्वात्मानन्द = स्व + आत्मा + आनन्द
वणिग्वृत्तयः = वणिक् + वृत्तयः

पदान्वय

वेदैः स्मृतिभिः पुराण पठनैः महा विस्तरैः शास्त्रैः किम्
स्वर्ग ग्राम कुटी निवास फलदैः विभ्रमैः कर्म क्रिया किम्
भव दुःख भार रचना विध्वंस काल अनलम्
स्व आत्म आनन्द पद प्रवेश कलनम् एकम् मुक्त्वा
शेषाः वणिक् वृत्तयः।

वेदैः =वेद अर्थात् चारों वेदों से
स्मृतिभिः =मनुस्मृति आदि अठारह स्मृतियों से
पुराण पठनैः =ब्रह्माण्ड आदि अठारह पुराणों के अध्ययन से
तथा =(और)
महाविस्तरैः =बहुत बड़े-बड़े
शास्त्रैः =तर्क व्याकरणादि शास्त्रों से
किम् =क्या (लाभ है) अर्थात् सब बेकार हैं.
स्वर्ग ग्राम =स्वर्ग के समान स्थान में
कुटी निवास =कुटी बना कर रहने (तथा)
फलदैः =पुण्य फल देने वाले
विभ्रमैः =आडम्बर से भरे
कर्म क्रिया =स्नान, संध्या, पूजा, पाठ, हवन आदि कर्मों से
भव =संसार के
दुःख भार =दुखों से भरे
रचना =निर्माण को
विध्वंस =विनष्ट करने में
काल अनलम् =प्रलयाग्नि स्वरूप
स्व =अपने
आत्म आनंदपद =आत्म-सुख के पद की
प्रवेश कलनम =प्राप्ति देने वाले
एकम् मुक्त्वा =(उस) अकेले को छोड़
शेषाः =बाकी सब
वणिक् =बनिये के
वृत्तयः =कारोबार हैं।

भावार्थ

वेद शास्त्र तथा पुराणों के पठन पाठन से कोई लाभ नहीं है। सुन्दर बनों में कुटी रमा कर स्नान, संध्या, हवन आदि नियमित क्रियाओं के साथ कर्मकांडी बनने में भी विशेष लाभ नहीं है। इन सब की ही हैसियत बनिये के सौदे से बढ़कर कुछ नहीं है। इसलिए अंत में चलकर यह दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं। केवल आत्मानन्द ही जीव को जन्म मरणादि सांसारिक दुःखों से उबार सकता है।

विशेषार्थ

पिछले दशक में मन की स्थिरता पर कहने के बाद इस दशक में बताया गया है कि मन को उन्हीं बातों में स्थिर करना चाहिए जो स्थाई और शश्वत हों।

वेदशास्त्र से कोई लाभ नहीं, इस प्रकार कहने का अभिप्राय यही है कि कर्मकांड की विधि को जानने अथवा उसे विधिवत् करने में कोई लाभ नहीं है। कर्मकाण्ड को बनिये का व्यापार कहा गया है। व्यापार क्या है ? बेचने और खरीदने वाले के बीच एक चीज देकर बदले में दूसरी चीज लेना, सौदा या व्यापार है। सौदा पैसे से पटता है। ग्राहक चाहता है कि उसे कम से कम दाम देने पड़े और अधिक से अधिक माल मिले। बेचने वाला ठीक उल्टे सोचता है। उसकी नीयत होती है कि कम से कम माल दे और अधिक से अधिक दाम वसूल करे। इस प्रकार दोनों अपना-अपना नफा चाहते हैं। या यों कहिए कि दोनों एक दूसरे को नुकसान पहुँचाना चाहते हैं अथवा एक दूसरे को ठगने की नीयत रखते हैं ! इसी का नाम सौदा या व्यापार है। शास्त्रों का पढ़ना और उनके अनुसार धार्मिक कृत्य करना भी इसी सौदे के समान है। थोड़ी-सी सन्ध्या, पूजा या यज्ञ, हवन करके उसके बदले में मनुष्य स्वर्ग के सुख को भोगना चाहता है। वेद शास्त्र ही नहीं, बाकी सब कार्यों को सौदा कहा गया है। बाकी में चोरी, व्यभिचार आदि कुकर्मों से अभिप्राय नहीं है। यहां पर सुकर्मों की ओर ही उसका संकेत है। उन सुकर्मों में जो सबसे श्रेष्ठ हैं, उन वेद शास्त्रों और यज्ञ हवन तक को जब सौदा यानी ठग-विद्या कहा गया है, तब उनसे निचली कोटि के राज-पाट, व्यापार, धन्धा आदि सब कार्य उसमें आ ही जाते हैं। फिर बुरे काम तो बुरे ही हैं।

एक आत्मानन्द ही इस बुराई से बरी है और उससे सब दुःखों का अन्त हो जाता है। अर्थात् शास्त्रोक्त यज्ञ आदि से स्वर्ग की प्राप्ति भले ही हो, किंतु उससे दु;खों का एकांत निवारण नहीं हो सकता। (स्वर्गीय सुख के सम्बन्ध में पीछे कहा जा चुका है।) निष्कर्ष यह निकला कि बाहरी क्रिया-कलाप, चाहे वह शास्त्रोक्त धार्मिक कृत्य ही क्यों न हों, निरर्थक हैं। इसके विपरीत यह बाहरी उपकरण न होने पर भी आत्म-चिंतन ही आनन्द दायक है। बाहरी आडम्बर नहीं, बल्कि भीतरी भावना की ही महत्ता है। श्लोक में इससे आगे भी कहा गया है। स्वर्गीय सुख भी अस्थाई हैं, थोड़े दिनों के लिए हैं। इसलिए स्वर्ग से दुःख का अन्त नहीं हो सकता। पुण्य के क्षीण होने पर फिर जन्म लेना पड़ता है। इसके विपरीत आत्मा अमर है, इसलिए उसका आनन्द भी अनन्त है।

श्लोक ७२

यतो मेरु श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निवलितः
समुद्राश्शुष्यन्ति प्रचुरमकरग्रासनिलयाः
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥

पदच्छेद

श्रीमान्निपतति = श्रीमान् + निपतति
युगान्ताग्नि = युग + अन्त + अग्नि
समुद्राश्शुष्यन्ति = समुद्राः + शुष्यन्ति
गच्छत्यन्तम् = गच्छति + अंतम्
पादैरपि = पादैः + अपि
कर्णाग्र = कर्ण + अग्र

पदान्वय

यतः श्रीमान् मेरुः युगान्त अग्नि वलितः निपतति
प्रचुर मकर ग्राह निलयाः समुद्राः शुष्यन्ति
धरणिधर पादैः धृता धरा अपि अन्तम् गच्छति
करि कलभ कर्ण अग्र चपले शरीरे का वार्ता

शब्दार्थ

यतः	=जिस कारण
श्रीमान्	=सम्पन्न, सोने, जवाहरात से भरा
मेरुः	=सुमेरु पर्वत
युगान्त	=प्रलय काल की
अग्नि	=आग से
वलितः	=घिर कर
निपतति	=गिर पड़ता है, भस्म हो जाता है,
प्रचुर	=बहुत सारे
मकर	=मगर
ग्राह	=घड़ियालों के
निलयाः	=वास या ठिकाने वाले
समुद्राः	=समुद्र (सब)
शुष्यन्ति	=सूख जाते हैं

धरणीधर =पहाड़ों के
पादैः =पांवों से
धृता =धरी हुई (दबाई हुई)
धरा अपि =धरती भी
अन्तं गच्छति =अंत हो जाती है (नष्ट हो जाती है)
ततः =उस कारण

करि कलभ =हाथी के बच्चे के
कर्ण अग्र =कान की नोक (की तरह)
चपले =अस्थिर
शरीरे =शरीर के बारे में
का वार्ता =क्या बात है अर्थात् उसकी कोई गिनती नहीं ।

भावार्थ

ईश्वर की सृष्टि में सबसे उच्च सुमेरु पर्वत भी प्रलयानल से गल कर पानी हो जाता है। बड़े बड़े गहरे समुद्र भी सूख जाते हैं। हिमालय के समान महान पर्वतों और पृथ्वी और समुद्र जैसी स्थाई वस्तुओं की यह दशा है तब मनुष्य का शरीर किस गिनती में है, जो सदा हाथी के बच्चे के कान के समान डोलायमान रहता है ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि मरने के बाद स्वर्ग आदि से दुख का अन्त नहीं हो सकता । इसमें बताया है कि जीवन काल में भी सुख नहीं है । इसे सिद्ध करने के लिए तीन दृष्टान्त दिये है । १—सुमेरु पर्वत २—समुद्र ३—पृथ्वी । तीनों दृष्टान्तों के अलग अलग अभिप्राय हैं । सुमेरु के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वह संसार में सबसे बड़ा पर्वत है और सारे के सारा सोने का बना हुआ है । सुमेरु स्वयं सम्पन्न है किन्तु उससे किसी को कोई लाभ नहीं है । दूसरा समुद्र है जो एकदम अथाह है, अपार है और खारा है । फिर भी सुमेरु के समान दूसरों के लिए निरर्थक न होकर समुद्र मगर मछली आदि जल-जन्तुओं को अपने पेट के भीतर स्थान देता है । तीसरी पृथ्वी है । कहा जाता है और वैसे देखने में भी जान पड़ता है कि छोटे बड़े पहाड़ों ने पृथ्वी को बाँध रखा है और समुद्र ने चारों ओर से घेर रखा है । यह ऊबड़ खाबड़ धरती ही जीव जगत के लिए सब से अधिक लाभ दायक है । अर्थात् जो जितना अधिक सम्पन्न वह उतना ही अधिक नीरस और कृपण । फिर भी सुमेरु के समान स्वयं तृप्त, समुद्र के समान परहित साधक तथा पृथ्वी के समान साधन सम्पन्न,

यह सब भले ही बहुत दिनों तक बने रहें तब भी प्रलय काल में तो विनष्ट हो ही जावेंगे । इनके सामने मनुष्य-शरीर किसी गणना में ही नहीं है । जब सुमेरु जैसे अचल वस्तु का ठिकाना नहीं तब हमेशा हिलने वाले हाथी के कान के समान मानव जीवन का कौन ठिकाना ? वह कान तो भीम काय हाथी से जुड़े हैं पर यह मानव किसके सहारे खड़ा है ?

श्लोक ७३

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलिः
दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रम् च लालायते
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्य्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते ।

पदच्छेद

गतिर्विगलिता=गतिः+विगलिता
दन्तावलिः=दंत+आवलिः
दृष्टिर्मश्यति=दृष्टिः+नश्यति
नाद्रियते=न+आद्रियते
पुत्रोऽप्यमित्रायते=पुत्रः+अपि+अमित्रायते

पदान्वय

जीर्ण वयसः पुरुषस्य हा कष्टम्, गात्रम् संकुचितम्
गतिः विगलिता च दंतावलिः भ्रष्टा दृष्टिः नश्यति
बधिरता वर्धते च वक्त्रंम् लालायते, बान्धव जनः

वाक्यम् न आद्रियते, भार्या च न शुश्रूषते,पुत्रः अपि अमित्रायते

शब्दार्थ

जीर्ण वयसः	ढल गयी आयु वाले बूढ़े
पुरुषस्य	पुरुष को
हा कष्टम्	बड़ा कष्ट, दुख होता है
गात्रम् संकुचितम्	शरीर सिकुड़ जाता है
च	और
दंतावलिः भ्रष्टा	दांत गिर जाते हैं
दृष्टिः नश्यति	नजर जाती रहती है
बधिरता वर्द्धते	बहरापन बढ़ जाता है
वक्त्रम् च	मुंह भी
लालायते	लार छोड़ने लगता है
बान्धव जनः	भाई बन्धु
वाक्यम्	बात का
न आद्रियते	आदर नहीं करते
च	और
भार्या	स्त्री
न शुश्रूषते	सेवा नहीं करती
पुत्रः अपि	पुत्र भी
अमित्रायते	बैरी बन जाते हैं ।

भावार्थ

शरीर पर झुर्रियां पड़ जाती हैं । पग डगमगाते हैं । दांत झड़ पड़ते हैं । नजर धीमी पड़ जाती है । बहरापन बढ़ जाता है । मुंह लार छोड़ने लगता है । भाई बन्धु बात नहीं सुनते । स्त्री सेवा नहीं करती । बेटे बैरी बन जाते हैं । ऐसी दुर्दशा होती है बुढ़ापे में ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में शरीर की अस्थिरता दिखाई थी । इस में और अगले श्लोक में भी यही बताया गया है । इसलिए इसे अगले श्लोक के साथ मिलाकर पढ़ लें ।

श्लोक ७४

वर्णम् सितं शिरसि वीक्ष्य शिरोरुहाणां
स्थानं जरापरिभवस्य तथा पुमाँसम् ।
आरोपितास्थिशकलम् परिहृत्य यांति
चण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ॥

पदच्छेद

आरोपितास्थि=आरोपपित+अस्थि
कूपमिव=कूपम्+इव

पदान्वय

शिरसि शिरोरुहाणाम् सितम् वर्णम् वीक्ष्य
जरा परिभवस्य स्थनाम् पुमांसम्
आरोपित अस्थि शकलम् चण्डाल कूपम् इव
तरुण्यः दूरतरम् परिहृत्य यान्ति

शब्दार्थ

शिरसि =सिर में
शिरोरुहाणाम् =(सिर के) बालों का
सितम् वर्णम् =सफेद रंग
वीक्ष्य =देख
तथा =तब (और)
पुमांसम् =पुरुष को
जरा =बुढ़ापे से
परिभवस्य-स्थानम् =अपमान के योग्य
मत्वा =समझ कर
आरोपित =लगाये रखे
अस्थि शकलम् =हड्डी के टुकड़े वाले
चाण्डाल कूपम् =चमारों के कुंए के
इव = समान
तरुण्यः =युवतियां
दूरतरम् =दूर ही
परिहृत्य =छोड़ कर
यान्ति =निकल जाती हैं ।

भावार्थ

बाल पकने पर पुरुष को बूढ़ा जान कर युवतियां उससे ठीक वैसे ही भागती हैं जैसे हाड़ बांधे चमरौटी के कुएं से सवर्ण हिन्दू भागते हैं ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि खुद भाई-बन्धु और बाल-बच्चे बूढ़ों से घृणा करने लगते हैं। ऐसे नजदीकी लोगों के घृणा करने का क्या कारण हो सकता है, यह बात इस श्लोक पर ध्यान देने से समझ में आ सकती है। पुरुष के बूढ़े होने पर जवान लड़कियाँ घृणा करती हैं, क्योंकि उनके लिए आकर्षण की वस्तु जवानी थी, जो अब नहीं रही। स्त्रियों के प्रेम में केवल पुरुषों का विलास ही नही, बल्कि स्त्रियों का स्वार्थ भी छिपा हुआ है। इसी प्रकार भाई-बन्धु और बाल-बच्चों के प्रेम में भी उनका निजी स्वार्थ ही मूल कारण है। जब मनुष्य कमाने-धमाने के लायक नहीं रहा, तब उसकी सन्तान भी उसे भार स्वरूप समझने लगती है।

आजकल समाज के अन्दर परिवार रूपी प्रासाद की नींव पैसे पर ही टिकी हुई है। समाज में जब पैसे का चलन ही न था. जायदाद नहीं थी, तब परिवार भी नहीं था। कम से कम आज का जैसा परिवार नहीं था। जब से सम्पत्ति या जायदाद आयी तभी से परिवार का भी प्रादुर्भाव हुआ। और ज्यों-ज्यों सम्पत्ति का रूप बदलता आया है त्यों-त्यों परिवार का रूप भी बदला किया है। आगे भी ऐसा ही होगा। जब निजी जायदाद जैसी कोई चीज नहीं रहेगी, तब परिवार भी नहीं रहेगा। सारी जायदादों का समाजीकरण हो जायेगा, तो सारा समाज ही परिवार हो जाएगा। और तब 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली आर्योक्ति चरितार्थ हो जायेगी।

हिन्दू-धर्म में परिवार और जायदाद का रूप मिटाने की अपेक्षा उन दोनों की समुचित सेवा करते हुए अन्त में व्यक्ति के लिए उन से नाता तोड़ कर संसार को ही अपना परिवार मानने की व्यवस्था है। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम का उद्देश्य यही हो सकता है। इस व्यवस्था में दो लाभ दिखायी पड़ते हैं। एक तो यह कि जब तक मानव समाज है, तब तक एक न एक रूप में जायदाद रहेगी और उसका कोई न कोई प्रबन्धक भी रहेगा और होना जरूरी भी है। सम्पत्ति का उपयोग समाज के लिए होना ही चाहिए।

सम्पत्ति की सामूहिक व्यवस्था या समाजीकरण की अपेक्षा शायद यही ठीक माना गया कि उसे टुकड़ियों में बांट कर योग्य व्यक्तियों को सौंपने का आयोजन किया जाय। पारिवारिक व्यवस्था से यही सिद्ध होता है। दूसरी

बात, किसी परिवार के कर्ता-धर्ता का क्या कर्त्तव्य है ? उस कर्त्तव्य का यथाविधि पालन कहाँ तक होता है, इसी पर समाज की सुव्यवस्था निर्भर करती है। परिवार के कर्णधार का सिवाय सेवा के और कोई धर्म नहीं हो सकता। बाल-बच्चों को पाले-पोषे सेवा की नीयत से, भाई बिरादर की सहायता करे सेवा के ही विचार से। जब तक सेवा करने की योग्यता रहे दिल से सेवा करे। नहीं तो दूसरे के लिए जगह खाली कर दे। शरीर में बल पौरुष शेष रहे तब भी दूसरे के लिए जगह छोड़ ही देनी चाहिए। आप में योग्यता न रहे अथवा दूसरों के उस योग्य होने के बाद भी जायदाद और परिवार की चौधराई से चिपके रहने का परिणाम वही होगा जो श्लोक में कहा गया है। बेटे भी बैरी बनेंगे। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों की व्यवस्था इसीलिए है। इससे परिवार के साथ जो झूठा मोह है और जो मात्र एक साथ रहने के कारण पैदा हो जाता है, वह भी दूर हो जाएगा।

सम्पूर्ण आश्रमों का पालन न करें और हिन्दू-धर्म की ध्वजा उठाए रहें, यह निरा ढकोसला है। बुढ़ापे में सेवा कौन करेगा, इसके लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। उनकी यथोचित सेवा करना सभी गृहस्थियों का धर्म है। पिछले श्लोक में कहा जा चुका है कि इसी गृहस्थाश्रम पर शेष सब आश्रम निर्भर करते हैं। सच है कि इन आश्रम-धर्मों का पालन आजकल हो ही नहीं रहा है। किन्तु आश्चर्य है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व भी नहीं होता था। इस पर कभी अमल भी हुआ है, इसमें सन्देह ही है। तब क्या यह आश्रम-धर्म केवल शास्त्रों तक ही सीमित रहे ? विद्वान कहलाने वाले क्या यों ही वर्णाश्रमों की दुहाई देते रहेंगे ? हिन्दुओं को एक बार तय कर लेना होगा कि या तो आश्रम व्यवस्था को एक बार पूर्णरूपेण पालन कर देखेंगे और संसार को दिखा देंगे कि हमारी सामाजिक व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ है, या संसार में जो सुन्दर व्यवस्था हो उसे अपना लेंगे। अपने वाले पर अमल न करें और दूसरों का भी अपनावें नहीं, अब यह अधिक दिन चल न सकेगा।

अब चमरौटी के कुएँ तथा बुढ़ापे के सम्बन्ध में भी थोड़ा-सा विचार कर लें। जो लोग प्राचीन भारत के गुण गाते नहीं अघाते, उनको इन दोनों श्लोकों पर ध्यान देना चाहिए। बुढ़ापे में बीबी, बच्चे भी घृणा करने लगते हैं। आजकल के बदनाम कलियुग में ही नहीं, आज से दो हजार वर्ष पूर्व के देव-

काल में भी यही होता था। तब भी चमारों और दूसरे ऐसे ही अन्त्यज कहलाने वालों को समाज से दूर-दूर रखा जाता था। कुएँ से पानी भी लेने नहीं दिया जाता था। उनको अपना कुँआ अलग कहीं दूर बनाना पड़ता था। सवर्ण हिन्दुओं का उस कुएँ से पानी भरना तो दूर रहा, वे उस कुएँ के पास फटकना भी पाप समझते थे। ऐसा न हो कि कहीं कोई भूला-भटका उस कुएँ के पास से हो निकले, निशानी के लिए कुएं पर हाड़ बाँध दिया जाता था। इतनी दुर्दशा थी हिन्दू-धर्म की—उस हिन्दू धर्म की जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह सनातन-धर्म है, सर्वश्रेष्ठ धर्म है और सदा रहेगा। हिन्दू-धर्म की यह दुर्दशा तब थी, जब दूसरों के सिर पर दोष मढ़ने के लिए हिन्दुस्तान में मुसलमान या ईसाई नहीं थे। जिस समाज में अपने ही एक अंग के साथ ऐसा अत्याचार किया जाता हो, वहाँ पर करोड़ों भाई अन्य धर्मावलम्बी हो जायें तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात थी? बल्कि आश्चर्य तो इस पर हो सकता है कि तब भी इतने अछूत हिन्दुत्व के पैरों तले रौंदा जाना क्यों पसन्द किये हुए हैं? यह हुआ प्रश्न का एक पक्ष।

दूसरा पक्ष भी कम घृणास्पद नहीं है। चमरौटी—कुएं के निशान के लिए हाड़ बांध दिया जाता था। हाड़ ही क्यों? कोई और चिन्ह क्यों नहीं लगाते थे? यह इस बात को दिखाता है कि चमार आदि की समाज में ऐसी दशा क्यों हुई। वे मरे ढोरों का माँस खाते थे, गन्दे रहते थे। इसलिए समाज ने उनका बहिष्कार किया। इनका बहिष्कार क्यों किया गया, इसे याद दिलाने के लिए मरे ढोर की हड्डी उनके कुएं पर बाँध दी गयी। इसीलिए हमारे समाज में एक ओर सवर्ण हिन्दुओं को अपना अत्याचार छोड़ना है तो दूसरी ओर अछूतों को मरे ढोर खाने, जूठा खाने, पाखाने को पेशा बनाने आदि गंदी आदतों को भी छोड़ना है। इसके लिए आर्थिक उन्नति के साथ-साथ मानसिक परिवर्तन भी जरूरी है।

अब बुढ़ापे की बात लें। जिस प्रकार अछूतोद्धार में मानसिक परिवर्तन जरूरी है उसी प्रकार बुढ़ापे में अपना मान बनाये रखने की मनोवृत्ति को भी ठीक करने की जरूरत है।

बुढ़ापे का मानसिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसा होना नहीं चाहिए। बूढ़े और बच्चे की स्थिति एक सी होती है—दोनों के दाँत नहीं

होते, दोनों दूसरों के मुहताज होते हैं, इत्यादि । किंतु बच्चा सदा प्रसन्न रहता है और बूढ़ा सदा दुखी । यह ठीक नहीं है । यदि बुड्ढा भी अपने में बचपन के भाव पैदा कर ले तो हंसी-खुशी में दिन कट जाएं । संसार की चिंता छोड़ दे, घर गृहस्थी की फिक्र न करे, मान अपमान पर ध्यान न दे, खूब खावे, पीवे और मौज करे । बुड्ढे भी बच्चों के साथ खेलें, कूदें, और किल्लोल करें । ऐसे बुड्डों को तो बच्चे क्या, जवान लड़के, लड़कियाँ, सभी घेरे रहते हैं । दोनों का ही मनोरंजन होता है । फिर भी कुछ करना ही चाहें तो एकान्त में बैठे, राम-नाम जपा करें ।

श्लोक ७५

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

पदच्छेद

यावत्स्वस्थमिदम् = यावत् + स्वस्थम् + इदम्
शरीरमरुजम् = शरीरम् + अरुजम्
यावज्जरा = यावत् + जरा
यावच्चेंद्रिय = यावत् + च + इन्द्रिय
शक्तिरप्रतिहता = शक्तिः + अप्रतिहता
नायुषः = न + आयुषः
तावदेव = तावत् + एव
प्रत्युद्यमः = प्रति + उद्यमः

पदान्वय

यावत् इदम् शरीरम् स्वस्थम् अरुजम् यावत् जरा दूरतः
यावत् च इन्द्रिय शक्तिः अप्रतिहना **यावत् आयुषः न क्षयः**
तावत् एव विदुषा आत्मश्रेयसि **महान्** यत्नः **कार्यः**
भवने संदीप्ते तु कूप खननम् प्रति उद्यमः **कीदृशः**

भावार्थ

यावत्	=जब तक
इदम् शरीरम्	=यह शरीर
स्वस्थं	=स्वस्थ हो (और)
अरुजम्	=नीरोग हो,
यावत्	=जब तक
जरा	=बुढ़ापा
दूरतः	=दूर रहे
यावत् च	=और जब तक
इंद्रिय शक्ति	=आंख कान आदि इन्द्रियों का बल
अप्रतिहता	=न टूटे
यावत्	=जब तक
आयुषः	=उम्र
न क्षयः	=न ढले

तावत् एव	=तब तक ही
विदुषा	=विद्वानों द्वारा
आत्म श्रेयसि	=आत्मा के कल्याण के लिए
महान् प्रयत्नः	=घोर उद्योग
कार्यः	=किया जाना चाहिए (नहीं तो)
भवने	=घर के
संदीप्ते तु	=जल उठने पर तो
कूप खननम् प्रति	=कुंआ खोदने के लिए
उद्यमः	=प्रयत्न करना
कीदृशः	=कैसा ? किस काम का ?

भावार्थ

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि शरीर के शिथिल होने, इन्द्रियों के ढीले पड़ने, बुढ़ापे के आ घेरने, और जवानी के ढल जाने से पहले ही परिश्रम करके अतम-कल्याण की साधना करे। नहीं तो सब कुछ बीत जाने पर मृत्यु के दरवाजे पर मुक्ति की चेष्टा करना ऐसा ही है जैसे घर के जल उठने पर कुंआ खोदने का उपाय करना।

विशेषार्थ

पिछले दोनों श्लोकों में क्रमशः बुढ़ापे के कष्टों पर चिंता प्रकट की गयी थी। इस श्लोक में उन कष्टों के निवारण का उपाय बताया गया है। यह सिद्ध किया गया है कि कारण तथा निवारण एक ही वस्तु में निहित हैं। जवानी के दिनों को इन्द्रिय लोलुपता में गंवाने पर वह कष्टों का कारण बन जाता है, और उसी जवानी के दिनों को किसी कल्याणकारी काम में लगा देने से कष्टों का निवारण हो जाता है। यहाँ पर इस भ्रम को भी दूर करने की चेष्टा की

गयी है कि केवल मुंह से 'राम, राम' कहने से काम नहीं चलेगा । सो वह भी होता नहीं । मन से उसका चिंतन करना और भी कठिन है ।

श्लोक में कहा गया है कि बूढ़े होकर अन्धे बहरे बनने से पहले ही कल्याण की साधना सम्भव है, अर्थात् साधना में भी आँख कान तथा शारीरिक शक्ति की आवश्यकता है । उसके लिए घोर परिश्रम करना पड़ेगा । आँखों से उसी के अनुकूल वस्तुएं देखें, कानों से उसी की चर्चा सुनें, ऐसे वातावरण में रहें जो साधना में हर प्रकार से सहायक हो । जीवन भर जिन बातों का अभ्यास रहता है, अन्त में भी वही बातें बनी रहती हैं । किसी का अन्त कब है, यह कोई नहीं जानता । इसलिए जीवन भर सदा उसी का ध्यान रखना चाहिए । इसके विपरीत यदि चोरी-चमारी में जवानी काट डालें तब बुढापे में भी वही चीजें सामने रहेंगी । किंतु शारीरिक असमर्थता के कारण उनका उपभोग नहीं हो सकेगा । इस कारण मानसिक वेदना होगी, पश्चात्ताप होगा । जो मनुष्य अन्तिम समय में छुटकारे के लिए छटपटाता है और अपने किये पर पछताता है, उसकी दशा उस प्यासे की सी होगी जो प्यास के सताने पर कुआँ खोदने खड़ा हो जाता है । कुआँ खुदने से पहले ही उसकी जीभ बाहर निकल पडेगी और वही कुआँ उसकी कब्र बन जायेगा ।

श्लोक ७६

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीम्
गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम् ।
पिबामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसान्
न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ॥

पदच्छेद

किमधिनिवसामः=किम्+अधिनिवसामः
गुणोदारान्=गुण+उदारान्
दारानुत=दारान्+उत
शास्त्रौघानुत=शास्त्र+ओघान्+उत
काव्यामृत=काव्य+अमृत
निमेषायुषि=निमेष+आयुषि

पदान्वय

तपस्यन्तः सन्तः सुरनदीम् अधिनिवसामः किम् सविनयम् गुणाः उदारान् दारान् उत परिचरामः किम् शास्त्रौघान् उत विविध काव्य अमृत रसान् पिबामः किम् जने कतिपय निमेष आयुषि किम् कुर्मः न विद्मः

शब्दार्थ

तपस्यन्तः सन्तः	=तपस्या करते हुए
सुर नदीम्	=देवनदी गंगा जी के (तट पर)
अधिनिवसामः किं	=क्या बास करें
उत	=और
सविनयम्	=नम्रता के साथ
गुण उदारान्	=रूप लावण्य आदि उदार गुणों वाली
दारान्	=स्त्रियों की
परिचरामः	=सेवा संगत क्या करें ?
शास्त्र ओघान्	=समस्त शास्त्रों
उत	=अथवा
विविध काव्य	=भिन्न भिन्न काव्यों के
अमृत रसान्	=अमृत समान रस को
पिबामः किम्	=पान क्या करें ?
जने	=मनुष्य
कतिपय	=थोड़े से
निमेष	=क्षण के
आयुषि	=जीवन में
किम् कुर्मः	=क्या क्या करें ?
न विद्मः	=नहीं जान पाते

भावार्थ

गंगा किनारे तपस्या करें ? सुशील स्त्री के संग संसार भोगें ? समस्त शास्त्रों का मंथन करें ? मधुर काव्यों का रसास्वादन करें ?

श्लोक ७४

वर्णम् सितं शिरसि वीक्ष्य शिरोरुहाणां
स्थानं जरापरिभवस्य तथा पुमाँसम् ।
आरोपितास्थिशकलम् परिहृत्य यांति
चण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ॥

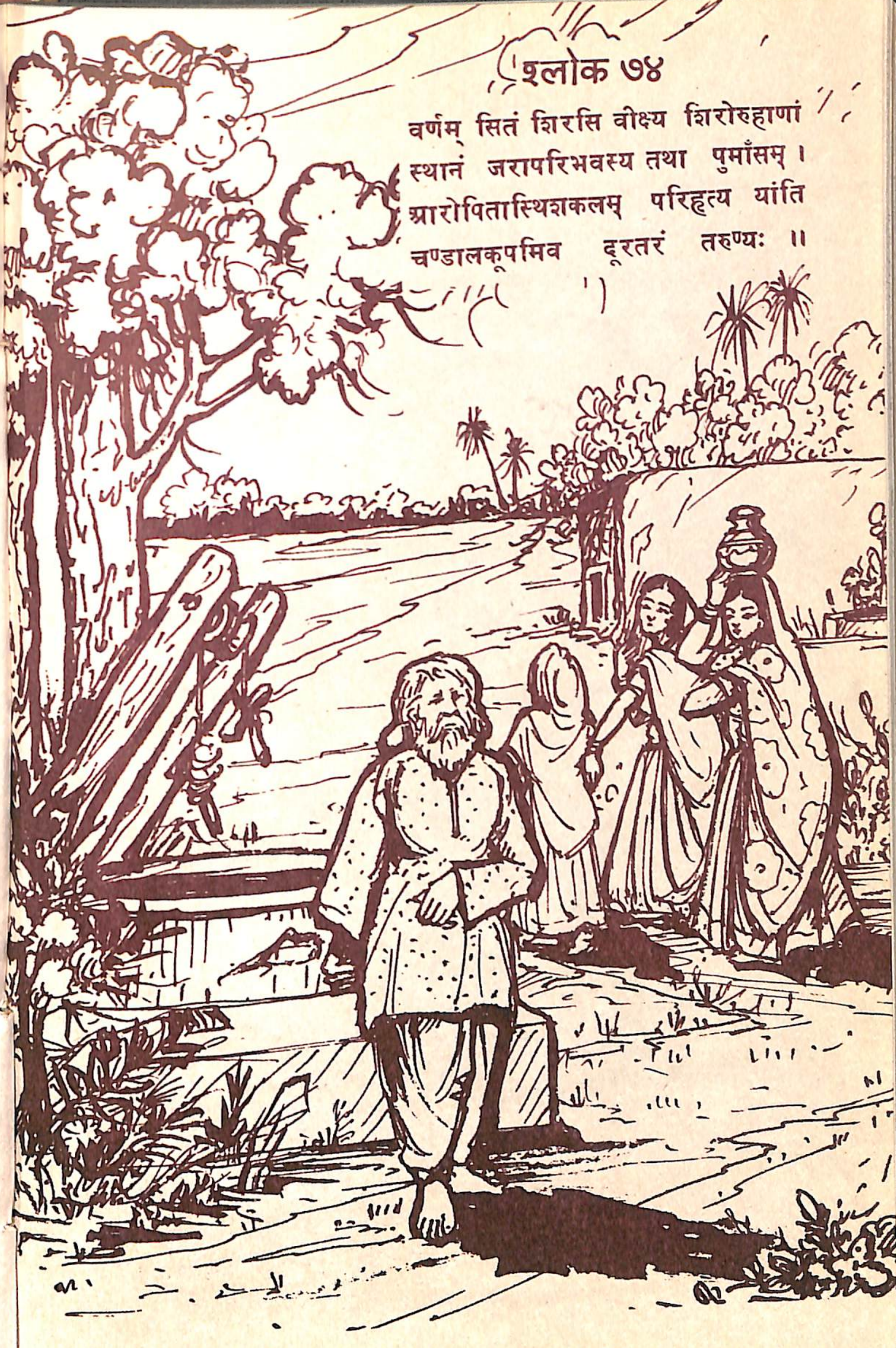

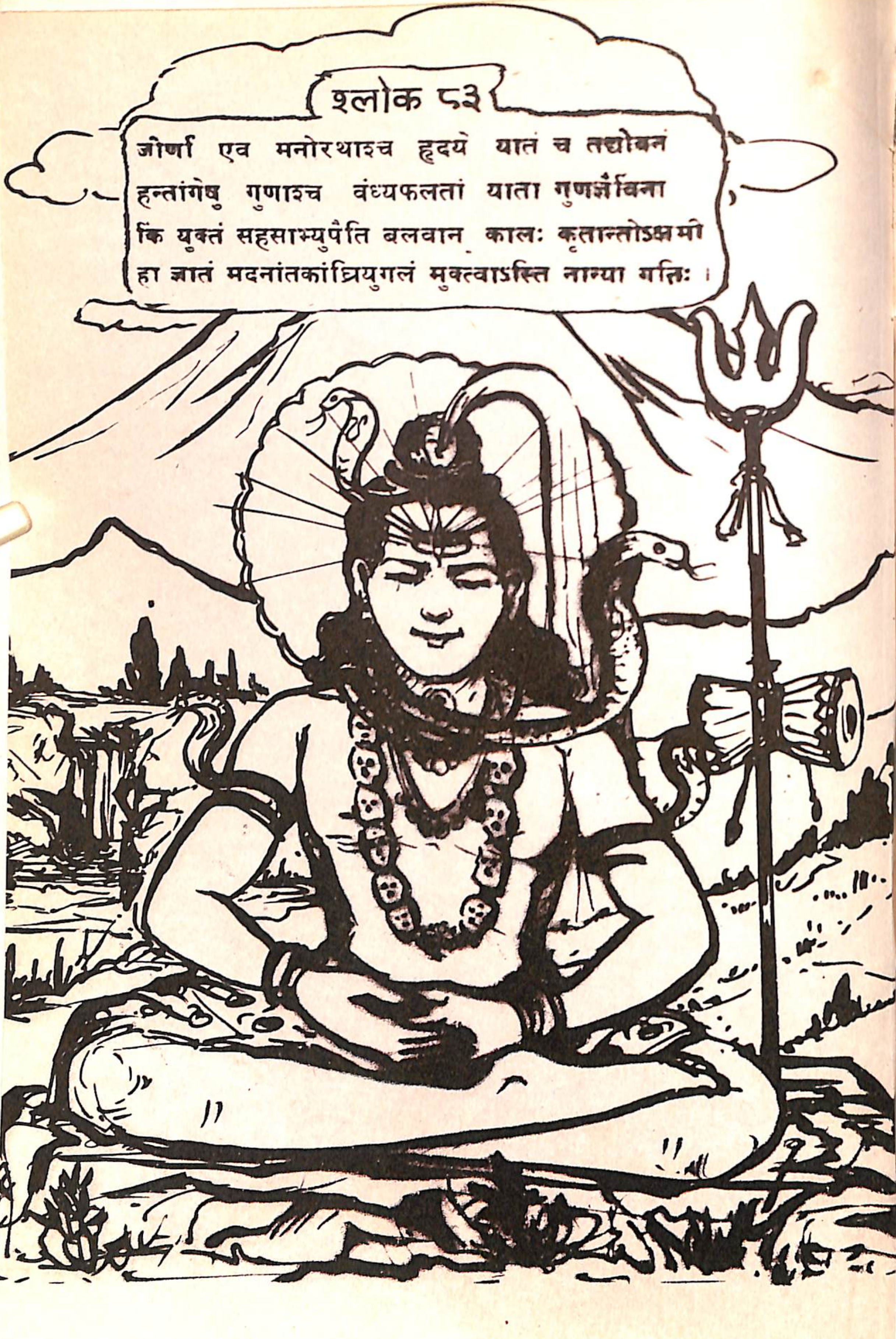

श्लोक ८३

जीर्णा एव मनोरथाश्च हृदये यातं च तद्यौवनं
हन्तांगेषु गुणाश्च वंध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना
कि युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान् कालः कृतान्तोऽक्षमो
हा ज्ञातं मदनांतकांघ्रियुगलं मुक्त्वाऽस्ति नान्या गतिः ।

इस क्षणिक जीवन में क्या क्या करे ? जीवन थोड़ा है, इच्छाएं बहुत हैं और भारी हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि जो कुछ करना हो जवानी में ही कर डालें। इस श्लोक में उस पर शंका उठायी गयी है कि दिन थोड़े हैं और काम बहुत हैं। गंगा तट पर कुटी रमाना भी अच्छा काम है, और बाल बच्चों के साथ गृहस्थी चलाना भी अच्छा काम है। इसी प्रकार पठन पाठन भी अच्छी वस्तु है। मनुष्य के लिए इन सब की विधि बताई गयी है और किसी को बुरा नहीं कहा गया। तब मनुष्य चक्कर में पड़ जाता है कि क्या करे और क्या न करे। अगर तपस्या की तो तीर्थ यात्रा रह जाती है। पढ़ने में लगे रहें तो गृहस्थी नही चलती। गृहस्थ धर्म का पालन विधिपूर्वक नहीं हुआ तो नरक यातना है। वास्तव में इस श्लोक में फबती कसी गयी है कि करोगे तो क्या क्या करोगे। यही जताने की चेष्टा की गयी है कि यह सब झोल है, मगर इस संसार में किसी न किसी तरह मतलब साधने के धुन में रहना पड़ता है।

इस का अर्थ यों भी किया जा सकता है। निर्जन वन में आत्म-चिंतन करना, विद्वन-मंडली में काव्य रसास्वादन करना और अपनी अर्धाङ्गिनी के साथ जीवन सुख भोगना, तीनों में समान आनन्द मिलता है और तीनों मुक्ति-दायक हैं। किंतु मूर्ख जन चारों ओर हाथ मार कर सब में अधूरे रह जाते हैं और त्रिशंकु बन कर अधर अटके रहते हैं और हाथ मलते रह जाते हैं।

श्लोक ७७

दुराराध्याश्चामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो
वयं तु स्थूलेच्छाः सुमहति फले बद्धमनसः।
जरा देहं मृत्युर्हरति दयितं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ॥

पदच्छेद

दुराराध्याश्चामी=दुः+आराध्याः+च+अमी
स्थूलेच्छा=स्थूल+इच्छा
मृत्युर्हरति=मृत्युः+हरति
जीवितमिदम्=जीवितम्+इदम्
नान्यच्छ्रेयः=न+अन्यत्+श्रेयः
विदुषोऽन्यत्र= विदुषः+अन्यत्र

पदान्वय

तुरग चल चित्ताः अमी क्षितिभुजः दुः आराध्याः
वयम् तु स्थूल इच्छाः सुमहति फले बद्ध मनसः
जरा देहम् मृत्युः इदम् दयितम् जीवितम् हरति
सखे जगति विदुषः तपसः अन्यत्र न श्रेयः

शब्दार्थ

तुरग चल चित्ताः =घोड़े के समान चंचल चित्त वाले
अमी =यह
क्षिति भुजः =राजा लोग
दुः आराध्याः =कठिनता से प्रसन्न किये जा सकते हैं,
वयम् तु =हम तो
स्थूल इच्छा =लम्बी चौड़ी इच्छा रखने वाले हैं
सुमहति =बहुत भारी
फले =फल में
बद्ध मनसः =बंधे हुए मन वाले हैं, मनमें भारी लालसाएं हैं,
जरा =बुढ़ापा
देहम् =शरीर को (और)
मृत्युः =मौत
इदम् =इस
दयितम् =प्यारे
जीवितम् =जीवन को
हरति =हरती है,
सखे =हे मित्र !
जगति =संसार में
विदुषः =विद्वान या समझदार के लिए
तपसः अन्यत्र =तपस्या के सिवा
अन्यत् श्रेयः =दूसरा कोई कल्याण का साधन
न =नहीं है

भावार्थ

राजाओं और धनियों का मन घोड़े के समान चंचल होता है। पता नहीं उन्हें किस समय कौन बात भली लगे और कौन बुरी। इसलिए उन्हें प्रसन्न रखना कठिन है। इधर हम हैं कि भारी भारी लालसाये लिए बैठे हैं। इन लालसाओं के पूरे होने के लिए पर्याप्त समय भी नहीं है। एक ओर बुढ़ापे के कारण शरीर में शिथिलता आ रही है और दूसरी ओर मौत निकट पहुँच रही है। इसलिए बुद्धिमानी इसी में है कि सब लालसाओं को छोड़ कर केवल परमात्मा की शरण लें और इसी में कल्याण है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक की फबती बेकार है। इसके दो कारण हैं। एक तो आजकल संसार में सारे काम राजा धनियों के अधीन हैं या अधिकार में हैं। उनकी प्रसन्नता में ही कुछ काम बनने की आशा की जा सकती है। यदि निश्चित हो कि बाबू जी अमुक बात से खुश रहते हैं तो किसी तरह उसे करने की कोशिश की जाय। मगर उसका कोई ठिकाना नहीं कि उन्हें कब कौन सी बात भली लगे और कब बुरी। ऐसी दशा में सच्चे दिल से प्रयत्न करने पर भी वह नाराज हो सकते हैं। परवाह नहीं, एक बार नाराज हो जायं। फिर कोशिश करेंगे, ऐसा समझने की भी गुंजाइश नहीं है। एक में खुश हों तो दूसरे में नाराज हो जावेंगे। हम भी तो कुछ आनन्द उठाने के लिए ही यह सब कुछ करते हैं। यदि हमारे लिए मौज उड़ाने के दिन ही न रहें, जवानी जाती रही, बूढे हो गये, दांत झड़ गये, आंख कान जवाब दे गये तब क्या खाक मौज उड़ावेंगे। न उन्हें प्रसन्न ही किया जा सकेगा और न हम आनन्द ही उठा सकेंगे। जब एक आध इच्छा का यह नतीजा हो रहा है तब सैंकड़ों लालसाओं की क्या दशा होगी? इसलिए इस चक्कर में पड़ना ही व्यर्थ है। फिर करना क्या चाहिए? बीसियों बातों में से किसे अपनावें और किसे छोड़ दें। सभी तो अच्छे हैं। इस शंका का भी माकूल जवाब दिया गया है। बीस नहीं एक, केवल एक तपस्या से ही सिद्धि मिल सकती है। मन को स्थिर रखना और शारीरिक सुख की इच्छा न करना, यही तपस्या है। यदि यह दोनों बातें न हों तो बभूति रमाने के बाद भी वह तपस्या नहीं है और यदि गृहस्थी भी तपस्या कहाने योग्य है तो बालबच्चों के बीच में रहना भी साधना ही है।

श्लोक ७८

माने म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थम् प्रयातेऽर्थिनि
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने ।
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्यापयः
पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दरतटीकुञ्जे निवासः क्वचित् ॥

पदच्छेद

प्रयातेऽर्थिनि = प्रयाते + अर्थिनि
शनैर्यौवने = शनैः + यौवने
केवलमेतदेव = केवलम् + एतत् + एव
यज्जह्नुकन्या + यत् + जह्नुकन्या
गिरीन्द्र = गिरि + इन्द्र

पदान्वय

माने म्लायिनि वसुनि खण्डिते च अर्थिनि व्यर्थं प्रयाते
बन्धुजने क्षीणे परिजने गते यौवने शनैः शनैः नष्टे
जह्नुकन्या पयःपूत गिरीन्द्र ग्राव कन्दर तटी
क्वचित् कुञ्जे निवासः एतत् एव सुधियाम् केवलम् युक्तम्

शब्दार्थ

माने म्लायिनि =सम्मान धूल में मिलने लगे,
वसुनि खण्डिते =धन तितर बितर होने लगे
अर्थिनि =याचक (दरवाजे से)
व्यर्थम् =बेकार, खाली हाथ
प्रयाते =चले जाने लगें
बन्धुजने क्षीणे =दोस्त बिरादर घटने लगें,
परिजने गते =नौकर चाकर छोड़कर चले जाए
यौवने शनैः शनैः नष्टे =जवानी धीरे-धीरे ढलने लगे, (ऐसी दशा में)
सुधियाम् =बुद्धिमानों के लिए
जह्नु कन्या =गंगा जी के
पयः =पानी से
पूते =पवित्र किए हुए

गिरीन्द्र	=पर्वतराज हिमालय के
ग्राव कन्दर तटी	=चट्टानों की गुफा के आसपास
क्वचित् कुंजे	=किसी झाड़ी में
निवासः	=वास करना
एतत् एव	=यही
केवलम् युक्तम्	=मात्र उचित है

भावार्थ

मान भंग हो, धन दौलत तितर बितर हो जाए, याचक लोग दरवाजे से खाली हाथ लौटने लगें, बन्धु मित्र छूट जाएं, नौकर चाकर छोड़ चलें, जवानी भी जाती रहे, जब ऐसी दशा हो जाए, तब बुद्धिमानों के लिए यही उचित है कि हिमालय पर्वत में गंगाजी के तट पर किसी गुफा में एकान्तवास करें।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि इस छोटे से जीवन को राजाओं और धनियों को प्रसन्न करने की चेष्टा में बेकार गंवाना नहीं चाहिए। स्वयं राजाओं और धनियों के लिए सब ठीक-ठाक है, कहीं ऐसा भ्रम न हो, इसलिए इस श्लोक में कहा गया है कि वह भी सदा ऐसे ही बने नहीं रहेंगे, उनका राजपाट चौपट हो जायगा, नौकर चाकर रास्ता नापेंगे, वे स्वयं बूढ़े हो जायेंगे। इसलिए उनके लिए भी बुद्धिमानी यही है कि शरीर में बल रहते आत्म-साधना में लग जाएं, नदी-तट पर वास करें और जब तक जीवें प्रकृति का आनन्द लें और जब मरें तो गंगा का पानी उनके मृत शरीर को बहा ले जाए। अपने को दुःख नहीं, दूसरों को कष्ट नहीं।

इस श्लोक में शब्द 'सुधियाम्' विचार करने योग्य है। इसी दशक में पिछले श्लोकों में 'विदुषाम्' का प्रयोग हुआ है। उसे अधिक स्पष्ट करने के लिए दोनों जगह 'बुद्धिमान' से ही अर्थ किया गया है। बुद्धि को परिष्कृत करना ही विद्या का उद्देश्य है। जिस विद्वान की बुद्धि परिष्कृत न हो उसकी विद्या व्यर्थ है। पिछले श्लोकों में 'विदुषाम्' शब्द का प्रयोग करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि यह लोग कोरे विद्वान हैं, बुद्धि शुद्ध नहीं है।

क्योंकि वे विद्वान बनकर भी राजाओं को प्रसन्न करने में जीवन गंवाते हैं। यदि अन्त में संभल भी जायें तो केवल घर जल उठने पर पानी के लिए कुंआ खोदने जाते हैं। उनकी विद्या निरर्थक है।

श्लोक ७९

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तस्थली
रम्यं साधुसमागमागतसुखं काव्येषु रम्याः कथाः
कोपोपाहितवाष्पबिन्दुतरलं रम्यं प्रियायाः मुखं
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किंचित्पुनः ॥

पदच्छेद

रम्याश्चन्द्र = रम्याः + चन्द्र
मरीचयस्तृणवती = मरीचयः + तृणवती
वनान्तस्थली = वन + अन्त + स्थली
समागमागत = सम् + आगम + आगत
कोपोपाहित = कोप + उपाहित
रम्यमनित्यतामुपगते = रम्यम् + अनित्यताम् + उपगते

पदान्वय

चन्द्र मरीचयः रम्याः तृणवती वनान्तस्थली रम्याः साधु समागम आगत सुखम् रम्यम् काव्येषु कथाः रम्याः कोप उपाहित बाष्प बिन्दु तरलम् प्रियाया मुखम् रम्यम् सर्वम् रम्यम् पुनः चित्ते अनित्यताम् उपगते न किंचित् रम्यम् ॥

शब्दार्थ

चन्द्र मरीचयः	=चन्द्रमा की चांदनी, चांदनी रातें
रम्याः	=सुहावनी होती हैं,
तृणवती	=हरियाली से भरी
वनान्त स्थली	=जंगल के भीतर मैदान
रम्याः	=दिल को लुभाते हैं,
साधु समागम	=साधु-सन्त के सत्संग से
आगत सुखम्	=प्राप्त होने वाला सुख
रम्यम्	=आनन्ददायी है,
काव्येषु	=पुराणादि काव्यों की
कथाः	=बातें या कहानियां
रम्याः	=रोचक होती हैं,

कोप	=रूठने से
उपाहित	=उत्पन्न
बाष्प बिन्दु तरलम्	=आंसुओं से भीगा
प्रियायाः मुखम्	=प्रेयसी का मुखड़ा
रम्यम्	=सुन्दर होता है,
सर्वम् रम्यम्	=ये सब सुन्दर ही हैं,
पुनः	=फिर भी
चित्ते	=मन के भीतर (उनकी)
अनित्यताम्	=अस्थिरता के
उपगते	=पैठ जाने पर (यह सब)
न किंचित् रम्यं	=कुछ भी सुन्दर या आनन्ददायी नहीं है

भावार्थ

चांदनी रातें बडी सुहावनी होती हैं। हरे-भरे मैदान मन को बहुत भाते हैं। सत्संग से सुख मिलता है। काव्य श्रवण में रस प्राप्त होता है। रूठो आंसुओं से पिया के मुख की शोभा बड़ी ही आकर्षक लगती है। यह सब ठीक है, किन्तु जहां इनकी अस्थिरता का ज्ञान हो जाय, फिर कोई वस्तु मन को जंचती ही नहीं ।

विशेषार्थ

पिछले दोनों श्लोको में धन-मूलक सुखों को क्षणिक बता कर वनों में तपस्या करने की बात कही गयी थी। इस श्लोक में वनवासी तपस्वियों को लक्ष्य करके कहा गया है कि जहां तक इन्द्रियों का सम्बन्ध है, वनों में उपलब्ध पावन वस्तुएं भी उतनी ही मोहक हैं। इसी दशक के श्लोक ७१ में भी इसी का संकेत है। जिस प्रकार मनुष्य को सुसज्जित प्रासादों में भूल न जाना

चाहिए उसी प्रकार बन-पर्वतों के सुन्दर दृश्यों में भी डूब न जाना चाहिए। यहां तक कि वनों में सत्संग तथा शास्त्र-विचार को भी इन्द्रियों का विषय कहा गया है। स्त्री आदि के समान वह भी मनुष्य को मोह लेते हैं। तब क्या वनवास और तपस्या भी निरर्थक हैं? नहीं, इनकी पवित्रता में कोई सन्देह नहीं है। अभिप्राय यहां पर केवल इतना ही है कि यही सब कुछ नहीं है।

वनबास और और साधु-सन्तों के सत्संग तथा शास्त्र-विचार के साथ श्लोक में रूठी हुई पत्नी की सुन्दर आकृति का वर्णन करके सिद्ध किया गया है कि आत्मोन्नति के लिए सन्यास अनिवार्य नहीं है। बल्कि बहू-बेटियों, नाती-पोतों से दूर वन के एकांतवास से चिढ़ कर कभी पत्नी रूठ भी जाए तो उसका रूठा हुआ मुखड़ा भी आकर्षक लगता है। फिर भी यह आकर्षण उसकी तपस्या में बाधक नहीं है। घर-संसार के सुखी प्राणियों को वनों के भीतर बसाने पर भी, शायद इसीलिए सभी का रमणीक वर्णन दिया है। नित्यानित्य का ज्ञान होने से पहले एक तपस्वी भी प्रकृति में वही आनन्द लेता है जो साँसारिक व्यक्ति अपनी गृहस्थी आदि में। इस प्रकार बिना ज्ञान के साधु भी संसारी है और ज्ञान होने पर गृह-जंजाल में फंसे रहने पर भी वह तपस्वी है। इसलिए श्लोक के अन्त में कहा गया है कि ज्ञान के उदय होने पर गृहस्थी तथा बनबास दोनों समान रूप से निरर्थक जंचते है, क्योंकि दोनों ही अनित्य हैं। इस प्रकार केवल वस्तुस्थिति का जान लेना ही नहीं, बल्कि जीवन के प्रत्येक अंग में उसी प्रकार अनुभव करना और उसी के अनुसार आचरण करना ही ज्ञान है और ज्ञानी जगत की सभी वस्तुओं को अनित्य जानते हुए भी शारीरिक धर्म से विमुख नहीं होता।

श्लोक ८०

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं न गेयादिकम्
किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकप्रीतये
किं तु भ्रान्तपतंगपक्षपवनव्यालोलदीपांकुर–
च्छायाचंचलमाकलय्य सकलं संतो वनान्तं गताः।

पदच्छेद

गेयादिकम् = गेय + आदिकम्
नैवाधिक = न + एव + अधिक
दीपांकुरच्छाया = दीप + अंकुर + छाया
चंचलमाकलय्य = चंचलम् + आकलय्य
वनान्तम् = वन + अन्तम्

पदान्वय

वसतये हर्म्यतलम् रम्यम् न किम्, गेयादिकम् श्राव्यम् न किम् वा प्राणसमा समागम सुखम् अधिक प्रीतये न किम् किन्तु भ्रान्त पतग पक्ष पवन व्यालोल दीप अंकुर छाया चंचलम सकलम् आकलय्य सन्तः वनान्तम् गताः

शब्दार्थ

वसतये	= रहने के लिए	अधिक प्रीतये	= क्या अधिक पसन्द
हर्म्यतलम्	= अटारी	न एव किम्	= नहीं होता ?
रम्यम् न किम्	= क्या अच्छी नहीं लगती अर्थात् अच्छी लगती है !	किं तु	= फिर भी
गेयादिकम्	= गाना आदि	भ्रान्त पतंग	= भूले हुए पतिंगों के
श्राव्यम् न किम्	= सुनने में अच्छे नहीं लगते ? जरूर अच्छे लगते हैं	पक्ष पवन	= परों की हवा से
वा	= या	व्यालोल	= डोलनेवाले
प्राण समा	= प्राणों के समान समझी जानेवाली प्रेयसी से	दीप अंकुरछाया	= दीये की शिखा की लौ के समान
समागम सुखम्	= मिलने का सुख	चंचलम्	= अस्थिर
		सकलम्	= सब कुछ
		आकलय्य	= समझकर
		सन्तः	= सन्त जन
		वनान्तं	= वनों के भीतर
		गताः	= चल दिये

क्या रहने के लिए बड़ी-बड़ी कोठियां अच्छी नहीं होतीं ? क्या सुरीले गान सुनने में अच्छे नहीं लगते ? क्या प्रेयसी को गले लगाने में सुख नहीं मिलता ? अर्थात् सुसज्जित महलों में रहने में सुख जरूर मिलता है, मधुर गान मन को अवश्य लुभाते हैं, चांदनी रातें अवश्य सुहावनी लगती हैं, पिया के गले लिपट जाने से आनन्द अवश्य मिलता है । यह सब निश्चित ही रोचक वस्तुएं हैं, किन्तु इनका सुख क्षणिक है । इनकी स्थिति उस दीपक के समान है जिसके चारों ओर परवाने मंडरा रहे हों तो परवानों के झोंकों से उस दीपक की स्थिति डांवाडोल होती है । दीपक से जल कर परवाने भुन जाते हैं । परवानों के गिर पड़ने से दीपक बुझ जाता है । मनुष्य का इन्द्रिय सुख भी ठीक इसी प्रकार का है । सन्त जन इस बात को भली-भांति जानते हैं । इसीलिए वनों में जा बसते हैं और तपस्या में जीवन बिताते हैं ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में वनवासी का वर्णन था, इस श्लोक में नगरवासी धनियों का वर्णन है । इस प्रकार मनोभावना की दृष्टि से वन और नगर के सुख दुःखों को समान रूपेण क्षणिक कहा गया है ।

अष्टम दशक का सारांश

श्लोक ७१—पूजा-पाठ तथा कीर्तन-हवन बनिये के कारोबार मात्र हैं ।

७२—धन-वैभव मिट्टी में मिल जाएगा । राज-महल क्या, मेरु-पर्वत भी मिट जाएगा ।

७३—शरीर शिथिल हो जाएगा । पुत्र कलत्र साथ नहीं देंगे ।

७४—बूढ़ा होने पर औरत भी हंसी उड़ाती है ।

७५—शरीर में कस-बल रहते हुए ही मुक्ति का मार्ग ढूंढ लेना चाहिए।

७६—थोड़े दिनो के जीवन में संसार के सभी काम कर डालने की चेष्टा बेकार है।

७७—धनी राजाओं को प्रसन्न करना कठिन है।

७८—स्वयं धनी राजा का वैभव भी सदा रहने वाला नहीं है।

७९—बन-पर्वत की प्राकृतिक शोभा भी अनित्य है।

८०—राज-भवनों की सुख-सामग्री भी अनित्य है।

इस प्रकार इस दशक में सृष्टि की अनित्यता और ब्रह्म की नित्यता सिद्ध करने के बाद आगे भगवत् भजन की शिक्षा दी जाएगी।

श्लोक ८१

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात तादृक्
नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रमार्गं गतो वा
योऽयं धत्ते विषयकरिणी गाढ़गूढ़ाभिमान—
क्षीबस्यान्तः करणकरिणः संयमालानलीलाम्।

पदच्छेद

त्रिभुवनमिदम् = त्रिभुवनम् + इदम्
तादृङ्नैवास्माकम् = तादृक् + न + एव + अस्माकम्
योऽयम् = यः + अयम्
गूढ़ाभिमान = गूढ + अभिमान
संयमालान = संयम + आलान

पदान्वय

यः अयम् विषय करिणी गाढगूढ अभिमान क्षीबस्य अन्तःकरण करिणः सयम आलान लीलाम् धत्ते तादृक् आसंसारम् इदम् त्रिभूवनम् चिन्वताम् अस्माकम् नयन पदवीम् न गतः श्रोत्र मार्गम् वा न गतः ।

शब्दार्थ

य: अयम् =वह जो
विषय =विषयसुख के
करिणी =हथिनी में
गाढ़ गुढ़ अभिमान=गाढे और गहरे प्रेम के कारण
क्षीबस्य =मस्त बने हुए
अन्तःकरण =मन रूपी
करिणः =हाथी को
संयम आलान लीलाम् =संयम रूपी खूंटे की तरह
धत्ते =बांधे रहे
तादृक् =उस तरह का (व्यक्ति)

आसंसारम् =जब से संसार की सृष्टि हुई तबसे
इदम् त्रिभुवनम्=इन तीनों लोकों में
चिन्वताम् =खोजने पर
अस्माकम् =हमारी
नयन पददीम् =आंखों में
न गतः =नहीं पड़ा
वा =या
श्रोत्र मार्गम् =कानों में भी
न गतः =नहीं पड़ा अर्थात् देखने या सुनने में नहीं आया

भावार्थ

सृष्टि के आदि से लेकर अब तक तीनों लोकों में भी कोई ऐसा पुरुष ढूंढे नहीं मिलता जो विषय रूपी मनोहारिणी हथिनी पर मस्त हाथी के समान पिल पड़ने वाले मन को बांध रखने में समर्थ हुआ हो, अर्थात् मन को वश में रखना प्राणिमात्र के लिये प्रायः असम्भव है ।

विशेषार्थ

पिछले दशक में संसार की सारे वस्तुओं को अनित्य सिद्ध करने के बाद तपस्या की शिक्षा दी गयी थी । इस दशक में उसी तपस्या की रूप रेखा बतायी

गयी है। आगे जैसा विदित होगा, भगवान शिव का मनन पूजन ही सर्व श्रेष्ठ है।

पूजा दो प्रकार की होती है। एक बाहरी और दूसरी भीतरी। फूल पत्तों का चढ़ाना, होम आदि करना, यह बाहरी पूजा है। मन के भीतर उस अखण्ड मूर्ति का चिंतन करना और उन ईश्वरीय गुणों के अनुकूल अपने जीवन को ढालना, यह भीतरी पूजा है।

यहाँ पर भीतरी पूजा को ही महत्व दिया गया है। इसका सम्बन्ध मन से है। इसलिए मन को विषयों से हटाकर ठिकाने रखने से इस तपस्या की शुरुआत होती है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक अकेले इस पृथ्वी पर ही नहीं, तीनों लोकों को छान डालने पर भी एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला, हम ही नहीं, किसी दूसरे ने भी देखा सुना नहीं। अभिप्राय यह है कि संसार में जितना आडम्बर रचा जाता है और जितना कोलाहल मचाया जाता है उसमें सच्ची तपस्या का आभास भी नहीं होता, उसको सांगोपांग समाप्त कर फल पाना तो दूर की बात है। तीनों लोकों में भी सच्ची तपस्या का एक नमूना भी न मिलने का मतलब यह है कि स्वर्ग में देवताओं के अधिपति इन्द्र और पाताल के अधीश राजा बलि दोनों ने भी पूजा के मर्म को नहीं पहचाना। अर्थात् उन्होंने जो कुछ पुरुषार्थ किया है और जो कुछ पुण्य प्राप्त किया है, वह सब असली तपस्या की पहली सीढ़ी भी नहीं है। तब क्या उनका सारा पुरुषार्थ व्यर्थ का था? हां, उन्होंने अपने मन को नहीं जीता। इन्द्र जैसे व्यक्तियों को अपने स्वर्गाधिपत्य के खो जाने का डर लगा है और बलि जैसे को उस इन्द्र पदवी पाने का लालच सता रहा है। इससे बचने का एक मात्र उपाय मन पर काबू पाना मात्र है। न वह डर रहे और न यह लालच। इसकी साधना कठिन भी है और सरल भी। बलि-पुरन्दर भी नहीं कर सके, इसलिए कठिन, और सरल इसलिए कि एक अकिंचन व्यक्ति के लिए भी यह साध्य है। इस सरल मार्ग को समझाने की चेष्टा आगे की गयी है।

श्लोक की भिन्न-भिन्न कड़ियों के भीतर जिन बातों की ओर संकेत है वह भी विचारने योग्य हैं। आंखों से देखा नहीं गया, कानों से सुना नहीं गया, फिर भी उसकी ओर संकेत किया गया है। इसके माने यह है कि उसे केवल मन से जाना जा सकता है। जानने के साधन इन्द्रियां नहीं बल्कि मन है। जगत को जानने के लिये इन्द्रियों की शक्ति को बाहर फेंकना पड़ता

है। मगर यहां पर उनके बांध रखने की जरूरत है। वह इतना गूढ़ विषय है कि शक्तियों को चारों ओर फैलाने से काम नहीं चलेगा, बल्कि सारी शक्ति को एक जगह बटोर कर गहरे पैठने की जरूरत है। अंत में इस कठिन कार्य को जिसे कोई न कर सके, उसे लीला रूप में ही किया जाना चाहिये। कि सहज और सरल बन जाये, मानो बच्चों का खेल हो। इस प्रकार अगोचर परमात्मा को मनोजगत में साक्षात करना चाहिये। यही पूजा की उत्तम विधि है।

श्लोक ८२

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्य्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम्
मनो मन्दस्पन्द बहिरपि चिरस्यापि विमृशन्
न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ।

पदच्छेद

यदेतत्स्वच्छन्दम् — यत् + एतत् + स्वच्छन्दम्
विहरणमकार्पण्यमशनम् — विहरणम् + अकार्पण्यम् + अशनम्
सहार्य्यैः — सह + आर्यैः
श्रुतमुपशमैक — श्रुतम् + उपशम + एक
बहिरपि — बहिः + अपि
चिरस्यापि—चिरस्य + अपि
कस्यैषा — कस्य + एषा
परिणतिरुदारस्य — परिणतिः + उदारस्य

पदान्वय

यत् एतत् स्वच्छन्दम् विहरणम् अकार्पण्यम् अशनम् आर्य्यैः सह संवासः उपशम एक व्रत फलम् श्रुतम् बहिः मन्दस्पन्दम् मनः अपि एषा कस्य उदारस्य तपसः परिणतिः चिरस्य विमृशन् अपि न जाने।

शब्दार्थ

यत् एतत् =जो यह
स्वच्छन्द विहरणम=स्वेच्छा पूर्वक विचरना
अकार्पण्यम् अशनम्=दीनता से रहित भोजन
आर्यः सह =श्रेष्ठ जनों के साथ
संवासः साथ उठना बैठना
उपशम एक =मन की शांति मात्र
व्रत फलम् =जिस का प्रधान फल है (उस)
श्रुतम् =शास्त्र पुराणादि का श्रवण
बहिः अपि =(और) बाहर की ओर भी
मंद स्पन्दम् =बहुत कम प्रवृत्त होने वाला
मनः =मन
एषा —यह
कस्य =किस
उदारस्य =महान
तपसः परिणतिः=तस्पया का फल है
चिरस्य =सदा
विमृशन् =विचारने पर भी
न जाने =नहीं समझ पाते

भावार्थ

यह स्वच्छंद आहार विहार, यह चित्त की शांति, तथा उसका अंतर्मुखी हो जाना, ऐसी अपूर्व स्थिति मनुष्य को न जाने किस महान् पुण्य के प्रताप से प्राप्त होती है, चाहे कितना ही सोचे विचारें इस का रहस्य कुछ भी समझ में नहीं आता।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि मन को वश में करना कठिन है। इस श्लोक में बताया गया है कि कठिन तो है किंतु असम्भव नहीं है। रहन सहन पर किसी दूसरे का नियंत्रण न होवे, भोजन छाजन के लिये खुद को किसी प्रकार की चेष्टा न करनी पड़े और जैसे भी मिले उसमें स्वाभिमान को धक्का भी न लगे। यह सब बड़ी टेढी खीर है। आवारा गर्दी या भीख माँगने की बात नहीं हैं। क्योंकि आगे लोकोत्तर पुरुषों की बात कही गयी है। केवल सत्संग से ही काम समाप्त नहीं हो जाता। स्वयं अपने अन्दर सद्विचारों का होना भी जरूरी है। तभी मन का बहकना बन्द होगा और

तब ही वह अन्तर्मुखी बनेगा। जिस क्रम से यह चीजें कही गयी हैं उसी क्रम से मनुष्य को आगे बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिये। एक की प्राप्ति पर दूसरे के लिये रास्ता खुल जाता है। अगर आत्मिक उन्नति का आधार आहार-विहार की स्वच्छन्दता है तो साँसारिक उन्नति के लिये भी यही स्वतन्त्रता प्रधान है। इस तरह आजकल का अर्थिक आजादी का आन्दोलन भी इसमें बाधक नहीं है, बल्कि साधक भी हो सकता है।

साँसारिक उन्नति और पारमार्थिक उन्नति में अन्तर है। इसलिये उन दोनों की स्वतन्त्रता में भी भिन्नता है। परमार्थ के लिये रहन-सहन में स्वच्छन्दता होती है। फिर भी उसकी एक विधि है। इसी प्रकार भोजन-छाजन के लिये स्वयं कोई-परिश्रम न करते हुए भी वह एकदम स्वतंत्र है? गृहस्थी की स्वतंत्रता इस कोटि की नहीं है गृहस्थ की स्वतन्त्रता में भी परतंत्रता छिपी है, जबकि परमार्थी की परतंत्रता में भी सम्पूर्ण स्वतंत्रता निहित है। अस्तु, श्लोक में बताया गया है कि यह क्रम परामार्थिक उन्नति का साधन है। यदि एक ओर हर पहली बात के साधने-पर दूसरी बात के लिए रास्ता खुल जाता है, तो दूसरी ओर यह भी है कि जिस स्थान पर वह रुक जाये वहीं वह स्थिर नहीं रह सकता। वहीं से उसकी गिरावट शुरू हो जाती है। इसलिये पारमार्थिक साधना में भी सन्तोष करके बैठने की बात नहीं है।

इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति अंतर्मुखी होने में सफल हुआ और इसी क्रम से उस स्थिति को प्राप्त हो गया, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धि को प्राप्त हो गया, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धि को प्राप्त करने का यही एक मात्र उपाय है। न प्रत्येक व्यक्ति, जो इन साधनों को अपनाये, सिद्ध हो सकता है और न प्रत्येक सिद्ध पुरुष का इसी क्रम से होकर निकलना जरूरी है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई अगोचर शक्ति-सी इसमें काम करती है। वह समझने समझाने से बाहर की वस्तु है। अगले श्लोक में इसी विषय को और स्पष्ट किया गया है।

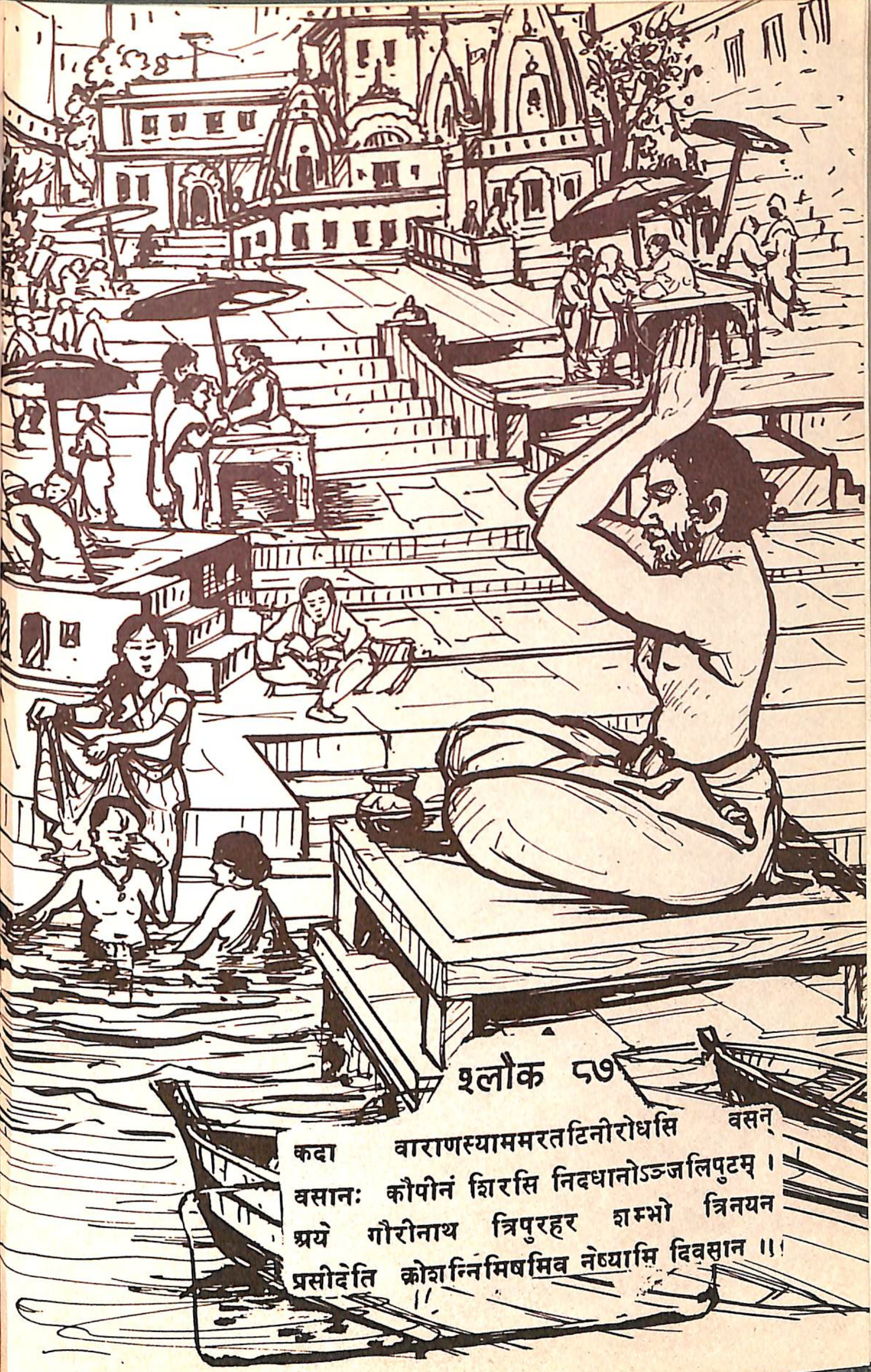

श्लोक ८७

कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम् ।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेति क्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान ।।

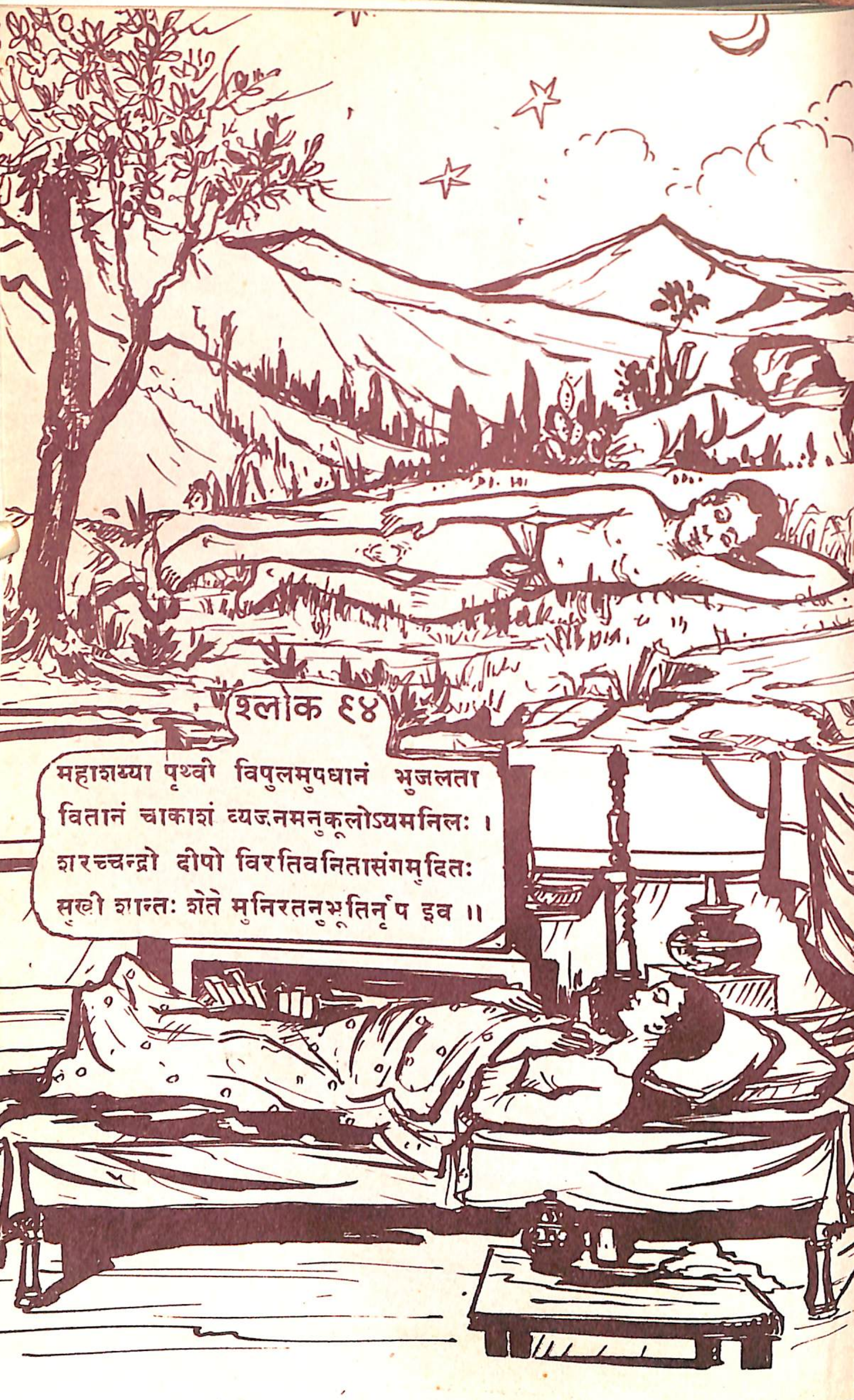

शलोक ९४

महाशय्या पृथ्वी विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासंगमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥

श्लोक ८३

जीर्णा एव मनोरथाश्च हृदये यातं च तद्यौवनं
हन्तांगेषु गुणाश्च वंध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना
किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान् कालः कृतान्तोऽक्षमी
हा ज्ञातं मदनांतकांघ्रियुगलं मुक्त्वाऽस्ति नान्या गतिः ।

पदच्छेद

मनोरथाश्च = मनोरथाः + च
तद्यौवनम् = तत् + यौवनम्
हन्तांगेषु = हन्त + अंगेषु
गुणाश्च = गुणाः + च
गुणज्ञैर्विना = गुणज्ञैः + विना
सहसाभ्युपैति = सहसा + अभि + उपैति
कृतान्तोऽक्षमी = कृतान्तो + अक्षमी
मदनान्तकांघ्रि = मदन + अन्तक + अंघ्रि
मुक्त्वाऽस्ति = मुक्त्वा + अस्ति
नान्या = न + अन्या

पदान्वय

मनोरथाः हृदये जीर्णा हंत तत् यौवनम् च अंगेषु गलितम्
गुणज्ञैः विना गुणाः च वन्ध्य फलताम् याताः
बलवान् अक्षमी कृतान्तः कालः सहसा अभि उपैति किम् युक्तम्
हा ज्ञातम्! मदन अन्तक अंघ्रि युगलम् मुक्त्वा अन्या गतिः न अस्ति

शब्दार्थ

मनोरथाः	=इच्छाएँ
हृदये	=मन के भीतर
जीर्णाः	=नष्ट हो गयीं, रह गयीं
हंत	=हाय
तत् यौवनम्	=जवानी की वह कस कस
अंगेषु	=शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में से

यातम्	=जाती रही,
गुणज्ञैः	=गुणों की कद्र जाननेवाले न होने के कारण
गुणाः च	=विद्या, बुद्धि, शील, विनय आदि अच्छे गुण भी
वन्ध्य फलताम् याता	=अकारथ, निष्फल हो गए
बलवान्	= बली
अक्षमी	= क्षमा या सहन न करने वाला
कृतान्तः	=अन्त कर डालने वाला
कालः	=काल, यमराज
सहसा	=महा वेग से
अभिउर्पति	=आ पहुँच रहा है, (ऐसे समय)
किम् युक्तम्	=क्या करना उचित होगा ?
हा, ज्ञातम्	=अहा, जान गया
मदन अन्तक	=मदन के वैरी शिवजी के
अंघ्रि युगलम् मुक्त्वा	=दोनों चरणों को छोड़
अन्या गतिः	=दूसरा आसरा
न अस्ति	=नहीं है

भावार्थ

सारे हौसले टूट गये । सारी जवानी जाती रही । सारे गुण अकारथ गये । अन्त में यमराज भी सिर पर आ धमके । अब बीती बातों पर पछताने से कोई लाभ नहीं । ऐसे समय यदि कोई आसरा है तो अकेले महादेव शिव का है ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि किसी महान पुण्य के प्रसाद से ही मन अपने वस में हो सकता है । इसमें कहता है कि हममें उसकी इच्छा भी थी और उसे प्राप्त करने योग्य वल और बुद्धि भी थी, फिर भी न हो सका । इस प्रकार यह सिद्ध किया है कि केवल मनुष्य के ही पुरुषार्थ पर ही सब कुछ निर्भर नहीं है । अभागे व्यक्ति की सारी योग्यता कौड़ियों महंगी जंचती है । कारण क्या है ? ईश्वर की माया है, या संचित संस्कार, यह समझ से बाहर है । इस लिए अन्त में कहा गया है कि महादेव के चरणों के सिवा दूसरा कोई आसान रहीं है । उसी की विचित्र लीला से असंभव बातें घंटों, मिनटों में

आश्चर्य-जनक रूप से सम्पन्न हो जाती हैं और यह भी उसी की लीला है कि साधु-जीवन, सत्संग, त्याग, तपस्या सब अकारथ जाती है और दुनिया हँसती रह जाती है। अपने बल पौरुष से कुछ न हो पावे और हमारी त्याग तपस्या पर भी दुनियां हँसती रहे, तब ईश्वर के सिवा किसके शरण में जाये।

श्लोक ८४

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्तु मे
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे।

पदच्छेद

जगतामधीश्वरे = जगताम् + अधीश्वरे
जगदन्तरात्मनि = जगत् + अन्तः + आत्मनि
प्रतिपत्तिरस्ति = प्रतिपत्तिः + अस्ति
तथापि = तथा + अपि
भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे = भक्तिः + तरुण + इन्दु शेखरे

पदान्वय

जगताम् अधीश्वरे महेश्वरे
वा जगत् अन्तरात्मनि जनार्दने
मे वस्तु भेद प्रतिपत्तिः न अस्ति
तथापि मे तरुण इन्दु शेखरे भक्तिः

शब्दार्थ

जगताम् =समस्त जगत के
अधीश्वरे =प्रभु
महेश्वरे =महादेव जी में
वा =या
जगत् =सृष्टि के
अन्तरात्मनि =अन्तर्यामी
जनार्दने =विष्णु भगवान में
मे =मुझे
वस्तु भेद =अलग-अलग होने का
प्रतिपत्तिः =भाव
न अस्ति =नहीं है
तथापि =तब भी
तरुण इन्दु शेखरे=बालचन्द्र को सिर पर धारण किये हुए महादेव में
भक्तिः =(मुझे) श्रद्धा है,

भावार्थ

सर्वश्वर महादेवजी तथा सर्वान्तर्यामी जनार्दन में हम भेद नहीं मानते। फिर भी शिवजी में ही हमें अधिक श्रद्धा हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक की भगवद्भक्ति ही इस श्लोक का विषय है। शिव और विष्णु का झगड़ा बहुत पुराना है। इसकी शुरुआत कब से हुई, यह कहना कठिन है। लगता है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व भी इस पर काफी झक झक थी। श्लोक में दोनों को अभेद कहा है। क्यों ? भगवान विष्णु पालनहार हैं तो महादेव जी तारणहार हैं। एक सारे विश्व पर छाये हुए हैं तो दूसरे कण कण के भीतर समाये हुए हैं। जो बाहर है वही भीतर भी है। दोनों एक हैं।

किन्तु शिव विष्णु की व्याख्या दूसरे ढंग से अधिक उपयुक्त होगी। विष्णु भगवान ने लक्ष्मी को वक्षस्थल पर धारण कर रखा है तो शिवजी ने गले के भीतर कालकूट विष को ले रखा है। विष्णु लक्ष्मी को लेकर सुख भोग करते हैं तो महादेव आप स्वयं विष पीकर संसार को संकट से बचाना चाहते हैं। इस प्रकार भगवान विष्णु भोग के प्रतीक हैं और शिवजी त्याग की मूर्ति। इसलिए श्लोक का यह अभिप्राय लिया जा सकता है कि मनुष्य

की मुक्ति भोग और त्याग, गृहस्थी तथा सन्यास दोनों ही मार्ग से समान रूप में सभव है। विष्णु और शिव के रूप को अभेद मानने का अभिप्राय है। शिवजी के प्रति अधिक श्रद्धा दिखाने का मतलब यह है कि भोग की अपेक्षा त्याग का मार्ग अधिक सम्मत है। स्वयं शासन की बागडोर हाथ में लेकर जनहित करना भोग है और शासन से विमुख होते हुए भी अयोग्य व्यक्तियों को पदच्युत करना तपस्या है और योग्यं व्यक्तियों को शासनारूढ करना त्याग है और ऊँची बात है।

श्लोक ८५

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वाऽपि पुलिने
सुखासीना शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्युच्चवचसः
कदा स्यामानंदोद्गत्बहुलवाष्पाकुलदशाम्।

पदच्छेद

क्वाऽपि = क्व + अपि
सुखासीन = सुख + आसीन
भवाभोगोद्विग्नाः = भव + आभोग + उद्विग्नाः
शिवेत्युच्च = शिव + इति + उच्च
स्यामानंदोद्गत = स्याम + आनन्द + उद्गत
वाष्पाऽकुल = वाष्प + आकुल

पान्वय

शान्त ध्वनिषु रजनीषु स्फुरत् स्फार ज्योत्स्ना धवलित तले द्युसरितः पुलिने क्व अपि सुख आसीना

भव आभोग उद्विग्नाः शिव शिव शिव इति उच्च वचसः
आनन्द उद्गत वाष्प आकुल दशाम्ः कदा स्याम

शब्दार्थ

शान्त ध्वनिषु = कोलाहल से एकदम शांत
रजनीषु = रातों में
स्फुरत् स्फार ज्योत्स्ना = छिटकी चांदनी से
धवलित तले = धुली हुई जगह
द्युसरितः पुलिने = गंगाजी के तट पर
क्व अपि = किसी जगह
सुख आसीना = आराम से बैठ कर
भव आभोग उद्विग्नाः = ससार के भोगों से आकुल हुए हम
शिव शिव शिव = शिव शिव शिव,
इति उच्च वचसः = कर ऊंचे स्वर से बोलते हुए
आनंद उद्गत = परमानन्द से उमड़े हुए
बहुल बाष्पा = बहुत सारे आंसुओं के साथ
आकुल दशाम् = व्याकुल दशा वाले
कदा स्याम = कब होंगे

भावार्थ

वह दिन कब आवेगा जब हम इन सांसारिक झंझटों से दूर चांदनी रातों में गंगाजी के किनारे बालू के एक टीले पर बैठकर खूब दिल खोलकर शिवजी का भजन करेंगे और उस भजन में हम एकदम विभोर हो जायेंगे।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में शिव-भक्ति की प्राधान्यता दी गयी थी। इसमें उसी शिव भक्ति के रूप का वर्णन किया गया है। गंगाजी के तट और चाँदनी रातों पर जो जोर दिया गया है उससे शिवजी का सान्निध्य अपेक्षित है। क्योंकि शिवजी के मस्तक में चन्द्रमा विराजमान है और चोटी से गंगा जी की धारा बह चली हैं। बालू का टील इसलिए कि पशु पक्षी भी पास न हों और रात का समय इसलिए कि उनका शब्द भी न सुनाई पड़े। यह तो एक विचित्र स्थिति है। एकान्त हो और चान्दनी रात हो, मुलायम बालू का बिछौना हो, मंदाकिनी की

मंद-मंद वायु हो, इस सब से प्रसुप्त मन्मथाग्नि प्रज्वलित ही होगी। इसीलिए जीभ पर मन्मथारि शिवजी की रट है, उच्च स्वर का आर्तनाद है। आनन्द वाष्पों से इस प्रयास के परिणाम की ओर संकेत है। बहुत अच्छा है, किन्तु ऐसा अवसर आयेगा कब ? अर्थात् अभी वह स्थिति प्राप्त नहीं है। अगले श्लोक में देखिये किस कमी की ओर संकेत किया गया है।

श्लोक ८६

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्ते संसारे विगुणपरिणामां विधिगतिम्
वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चंद्रकिरणा-
स्त्रियामा नेष्यामो हरचरणचिन्तैकशरणाः ।

पदच्छेद

पुण्यारण्ये = पुण्य + अरण्ये
शरच्चन्द्र = शरत् + चन्द्र
किरणास्त्रियामाः = किरणाः + त्रियामाः
चिन्तैक = चिन्ता + एक

पदान्वय

तरुण करुणा पूर्ण हृदयाः सर्वस्वे वितीर्णे
संसारे विधि गतिम् विगुण परिणामाम् स्मरन्तः
पुण्य अरण्ये हर चरण चिन्ता एक शरणाः
परिणत शरत् चन्द्र किरणाः त्रियामा नेष्यामः

शब्दार्थ

तरुण करुणापूर्ण हृदयाः	कोमल दया से भरे दिल से	संसारे	संसार में
		विगुणपरिणामाम्	बुरे परिणाम वाली

सर्वस्वे विती =सबरों कुछ(दीनों को बांटकर

पुण्य अरण्ये =पवित्र वनों में

हर चरण चिंता =शिवजी के चरणों के ध्यान ही को

एक शरणा =एक मात्र आसरा मानकर

परिणत =पक्के

विधि गतिम् =दैव गति का

स्मरन्तः =ध्यान करते हुए

शरत् चन्द्रकिरण=शरत्: काल के चन्द्रमा की किरणों वाली

त्रियामा =रातें

नेष्यामः =बितावेंगे

शब्दार्थ

भूत दया से प्रेरित होकर सर्वस्व दूसरों को देकर दुनिया में दैव-गति पर विचार करते हुए, किसी पावन वन में शिवजी के भजन में हम अपना जीवन बितावेंगे ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जिस कमी का अनुमान किया गया था वह इसमें स्पष्ट किया गया है । 'सर्वस्व' दूसरों को दे डालना तथा 'विगुण परिणामा' इन दो शब्दों में परस्पर सम्बन्ध मालूम होता है । धन जायदाद ही दुनिया में विगुण-परिणाम के कारण हैं । इसलिए सब कुछ लोगों में बाँट देने की बात कही गयी है । फिर भी संसार का दुख नहीं मिटता । इसी को दैव-गति कहा गया है । अन्त में अपने को लाचार पा कर पुण्यारण्य में भगवान की शरण लेता है । क्या बस्तीमें चारों ओर दुःख ही दुःख भरा पड़ा है ? यदि है तो क्या उसके निवारण का यही उपाय है ? यह बात मनुष्य के सामर्थ्य के परे की बात मालूम होती है । तभी तो इसको दैव-गति कह कर छुट्टी पाने की चेष्टा की गयी है । स्वयं पाप के भागी न बनें, दुःख के कारण न बनें, इसीलिए सर्वस्व स्वाहा कर दिया । आगे पाप न होने पावे, इसीलिए बनों में बस गया । इसमें सन्देह नहीं कि उस अकेले व्यक्ति को किसी न किसी तरह कुछ शान्ति अवश्य मिल जाती है । किन्तु समूचे संसार का सुख अब भी आकाश-कुसुम ही है । समाज को सुखी देखना चाहते हैं, पर अपने को असमर्थ पाते हैं । कम से कम अपने ही को शान्ति मिले, इसलिए वन में जाते हैं, तपस्या करते हैं । कदाचित्

इससे उनका कल्याण भी होता होगा। क्या अकेले अपने कल्याण की चेष्टा करना स्वार्थ नहीं है ? नहीं। दूसरों के दुःख से दुःखी होना, उस दुःख के लिए सर्वस्व स्वाहा कर देना, फिर अपने से दूसरों को पीड़ा न पहुंचे इसलिए खुद भोगना, यह सब पुण्य कार्य ही हैं, क्योंकि यह परोपकार है, पापाचरण नहीं है।

'सर्वस्व' शब्द भी विचारने योग्य है। सर्वस्व में अधिक या कम का सवाल नहीं है। जो कुछ जिसके पास हो वही उसका सर्वस्व है और सर्वस्व चाहे किसी का अधिक हो या किसी का कम, सब बराबर है। चक्रवर्ती राजा के लिए साम्राज्य सर्वस्व तो एक कंगाल के लिए उसकी चीर छप्पर ही सर्वस्व है। दोनों को अपनी-अपनी चीजें समान रूप से प्रिय हैं। राजा साम्राज्य को तिलांजलि दे और कंगाल कुटिया को फूंक दे। दोनों का त्याग समान ही है। उस त्याग के बाद दोनों की स्थिति समान है, तो उस त्याग से पहले भी वास्तव में समान ही थी। ईश्वर के दरबार में दोनों समान हैसियत के ही हैं। भगवान के पास से जिस रूप में आये थे, उसके पास पहुँचने का भी वही रूप होना चाहिए। लोग जो धन, मान से संसार में बड़े बनने की चेष्टा करते हैं, वह अपने लिए भगवान का द्वार बन्द करते हैं।

श्लोक ८७

कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेति क्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥

पदच्छेद

वाराणस्याममरतटिनी = वाराणस्याम् + अमर तटिनी
निधानोऽञ्जलि = निधानः + अञ्जलि
प्रसीदेति = प्रसीद + इति
क्रोशन्निमिषमिव = क्रोशन् + निमिषम् + इव

पदान्वय

कदा वाराणस्याम् अमर तटिनी रोधसि वसन्
कौपीनम् वसानः अञ्जलि पुटम् शिरसि निदधानः
अये, गौरीनाथ, त्रिपुरहर, शम्भो, त्रिनयन
प्रसीद इति क्रोशन् दिवसान् निमिषम् इव नेष्यामि

शब्दार्थ

कदा =कब
वाराणस्याम् =बनारस, काशी जी में
अमर तटिनी रोधसि=गंगा जी के किनारे
वसन् =रहकर
कौपीनं वसानः =लंगोटी लगा
अञ्जलि पुटम् =कोनों हाथ जोड़
शिरसि निदधानः=सिर पर रख
अये तौरीनाथ, हे, गौरीनाथ,
त्रिपुरहर शम्भो =त्रिपुरहर, शम्भो,
त्रिनयन =त्रिनयन
इति =इस प्रकार
क्रोशन् = आर्तनाद करते हुए
दिवसान् =दिनों को
निमिषम् इव =मिनटों की तरह
नेष्यानि =बिताऊंगा

भावार्थ

वह दिन कब आएगा जब मैं काशीजी में गंगा किनारे लगोटी लगाये सिर पर हाथ जोड़े भगवान विश्वनाथ की प्रार्थना में दिनों को मिनटों के समान काट डालूंगा।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक के सर्वस्व त्यागने के बाद जो कुछ करना चाहिए वह इसमें और अगले श्लोक में कहा गया है। एक में काशीवास की चर्चा है और दूसरे में वनवास की। काशीवास से भगवान विश्वनाथ के दर्शन और भिक्षा से शरीर यात्रा अपेक्षित है। दिन मिनटों के समान काटने का अभिप्राय यह है कि खाने कपड़े की तंगी या बन्धु मित्रों का वियोग खले नहीं। जब मनुष्य किसी काम में दिल से लगा रहता है तब उसे पता ही नहीं रहता कि दिन कब कट गया। सारा दिन काम करने के बाद भी दिल यही चाहता है कि काश दिन और बड़ा होता जिससे थोड़ी देर और काम करते। सो उसने अपने

लिए काम सोच लिया है भगवद्भजन । जब आदमी भजन ही को अपना काम मान लेता है तब उसे उस काम से भी छुट्टी नहीं मिलती । सारा समय उसी में लगा रहता है और ऐसा लगता है कि समय कम मिला । दिन तो चौबीस ही घंटों का होगा । इसलिए दिनों का घटों मिनटों की तरह कट जाना स्वाभाविक है । दिन छोटा या बड़ा नहीं होता, पूरे चौबीस घंटों का होता है । सुख चैन के दिनों में मनुष्य भूला रहता है, परन्तु दुख अखरता है और इसी से लगता है कि दिन बड़े हैं, काटे नहीं कटते ।

श्लोक ८८

स्नात्वा गांगैःपयोभिः शुचिकुसुमफलैरर्चयित्वा विभो त्वां
ध्येये ध्यानं नियोज्य क्षितिधरकुहरग्रावपर्यंकमूले
आत्मारामः फलाशी गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्स्मरारे
दुःखं मोक्ष्ये कदाहं समकरचरणे पुंसि सेवासमुत्थम् ।

पदच्छेद

फलैरर्चयित्वा = फलैः + अर्चयित्वा
फलाशी = फल + अशी
स्मरारे = स्मर + अरे
समुत्थम् = सम् + उत्थम्

पदान्वय

गाँगः पयोभिः स्नात्वा विभो त्वाम् शुचि कुसुम फलैः अर्चयित्वा ध्येये ध्यानम् नियोज्य क्षितिधर कुहर ग्राव पर्यंक मूले आत्मारामः फल अशी गुरु वचन रतः स्मर अरे त्वत् प्रसादात् अहम् सम कर चरणे पुंसि सेवा समुत्थम् दुःखम् कदा मोक्ष्ये

शब्दार्थ

गांगै: =गंगा जी के
पयोभिः =जल में
स्नात्वा —स्नान करके
विभो —हे प्रभु
त्वाम् =तुझे
शुचि =पवित्र
कुसुम फलैः =फूल फल से,
अर्चयित्वा =पूजा करके
ध्येये =ध्यान योग्य तुझ में
गुरु वचन रतः =गुरु के उपदेश में मन लगाया हुआ
स्मर अरे =हे कामदेव के शत्रु भगवान महादेव
त्वत् प्रसादात् =तेरी कृपा से
अहम् =मैं
ध्यानम् नियोज्य =मन लगा कर
क्षिति धर =पहाड़ों के
कुहर ग्राव. =गुफाओं के चट्टान (से बने)
पर्यंक मूले =बिछौने के एक कोने में
आत्माराम =अपनी आत्मा में ही रमने वाला (बन कर)
फल अशी =फलाहारी
सम कर चरणे पुंसि =मेरे समान ही हाथ पैर वाले मनुष्य की
सेवा समुत्थम् =चाकरी से उत्पन्न होने वाले
दुःखम् =दुख से
कदा मोक्ष्ये =कब छूटूंगा

भावार्थ

हे कामदेव के शत्रु शकर महाराज, वह दिन कब आवेगा जब मैं गंगाजी में स्नान कर, तुझे पवित्र फल फूलों की भेंट कर, हिमालय पर्वत को कन्दराओं में किसी चट्टान पर बैठ, एकाग्र चित्त से तेरा चिन्तन मनन करूंगा और अपने ही समान मनुष्य के आश्रित होने के दुख से मुक्त होकर वन के कन्द मूल फल पर निर्वाह करते हुए तेरी कृपा से गुरुदेव के उपदेशों का पालन कर सकूंगा !

विशेशार्थ

पिछले श्लोक में काशी जी के पुण्य क्षेत्र में रहने का अभिप्राय था श्री विश्वनाथ जी के दर्शन करना और भिक्षा पर निर्वाह करना। इस श्लोक में उससे आगे बढ़ गया है। अब उसे न जन समूह के बीच रहने की आवश्य-

कता है और न विश्वनाथ जी के मन्दिर में घंटा बजाने की जरूरत। वरन उसे अब वन पर्वतों में कन्दमूल पर निर्वाह करके अपने मन मन्दिर में ही भगवान को साक्षात्कार करने की इच्छा है।

निर्जन वन में जा बसने तथा भगवद्भजन करने की आवश्यकता क्यों हुई ? इसका कारण श्लोक के अन्तिम पद से प्रकट होता है। एक मनुष्य का अपने ही समान दो हाथ पैर वाले दूसरे मनुष्य की चाकरी करना बहुत दुःख दायी वस्तु है। यदि समाज में विषमता नाम की कोई वस्तु तक न हो, चारों ओर समता का साम्राज्य हो, अपमान का एकदम अभाव हो, तो शायद, किसी भी मनस्वी को इस प्रकार तपस्वी बनने की नौबत न आये। क्या सचमुच अपने जैसे मनुष्य की चाकरी से मुक्ति पाना ही तपंस्या का उद्देश्य है? क्या इसी को मौत कहा गया है ? वन पर्वतों में जा बसने से निजी शरीर को तो छुटकारा मिल जाता है, किन्तु इससे समाज का उद्धार कैसे हो सकता है ? समाज के सब लोग ऐसी ही तपस्या की शरण लें तो वन भी बस्ती बन जाए। वन में भी कन्दराओं के लिए मार काट होने लगे। कन्दमूल का अकाल पड़े। इस पर थोड़ा सा भी विचार करने पर आकुलता बढ़ने लगती है। कदाचित इसीलिए 'स्मर अरि' के शब्द का उपयोग किया गया है। कामदेव को भस्म कर डाला था, इसीलिए महादेव जी का नाम स्मर अरि है। 'स्मर-अरि' शब्द से यह झलक निकलती है कि समाज की विषमता के स्मरण मात्र से कष्ट होता है। इसीलिए प्रार्थना की गयी है—हे भगवान ! उसका ध्यान भी न आवे ! संसार के सारे सुख दुख भावना मात्र ही तो हैं। यह भावना भी दूर हो जाय तो तब चिन्ता किस बात की ?

श्लोक ८६

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः

पदच्छेद

दिगम्बरः = दिक् + अम्बरः

पदान्वय

शम्भो, एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणि पात्रः दिगम्बरः
कर्म निर्मूलन क्षमः कदा भविष्यामि

शब्दार्थ

शम्भो	—हे महादेव
एकाकी	—अकेला, जिसे किसी दूसरे से कोई मतलब न हो
निःस्पृहः	—सुख दुख से उदासीत हो
शान्तः	—मन में संकल्प विकल्प न हो
पाणिपात्रः	— हाथ ही जिसको पात्र हो अर्थात् अंजुलि में ही खाऊं पिऊं
दिगम्बरः	—दिशायें जिसके ओढ़ने पहनने के कपड़े हों, अर्थात् एकदम नंगा रहूं
कर्म निर्मूलन क्षमः	— प्रारब्ध कर्मों को जड़ से उखेड़ फेंकने में समर्थ
कदा भविष्यामि	= मैं कब बनूंगा ?

भावार्थ

मन में किसी से राग द्वेष न हो, एकदम एकाकी रहूँ, सुख दुख का अनुभव न करूं, एकदम उदासीन रहूं, खाने पहनने की चिन्ता न करूं, एकदम नगा रहूं और जो कुछ खाने को मिले अंजुलि में ही खा पी डालूं, हे भगवान् ! ऐसा मैं कब बनूंगा ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि अपने ही जैसे दो हाथ पैर वाले मनुष्य की चाकरी करना महा दुखदायी है, इसलिए बनवास उचित है । इस श्लोक में पिछले दोनों श्लोकों का समाधान है । वन में जाने की विशेष आवश्यकता नहीं । समाज ही में सबके बीच में उसी तरह से रहें, ठीक उसी तरह जैसे वन

में अकेले रहते हैं। सबके साथ रहें किन्तु न किसी से प्यार, न किसी से बैर। शरीर के सारे सुख दुख भोगते रहें किन्तु रहें उनसे उदासीन। हथेली पर खाने और नंगे रहने का अभिप्राय यह है कि एकदम अपरिग्रही बनें। कोई जायदाद न जुटावें, खटराग न फैलावें। अन्त में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रारब्ध कर्म से बचने का यही एक मात्र उपाय है। ऐसे पुरुष को न दुनिया के सुख दुख सताते हैं और न स्वर्ग, नरक के पाप पुण्यों का खटका रहता है। एकदम अलख निरंजन! ऐसी आकांक्षा के साथ सोचता है कि मैं कब उस स्थिति को पहुंच पाऊंगा। कब होगा, यह अगले श्लोक में पढ़िए।

श्लोक ९०

पाणिं पात्रयतां निसर्गशुचिना भैक्ष्येण संतुष्यताम्
यत्र क्वापि निषीदतां बहुतृणं विश्वं मुहुः पश्यताम्
अत्यागेऽपि तनोरखण्डपरमानन्दावबोधस्पृशा–
मध्वा कोऽपि शिवप्रसादसुलभः संपत्स्यते योगिनाम्।

पदच्छेद

क्वापि = क्व + अपि
अत्यागेऽपि = अत्यागे + अपि
परमानन्दावबोध = परम + आनन्द + अवबोध
स्पृशामध्वा = स्पृशाम् + अध्वा
कोऽपि = कः + अपि

पदान्वय

पाणिं पात्रयताम् निसर्ग शुचिना भैक्ष्येण सतुष्यताम्
यत्र क्व अपि निषीदताम् मुहु विश्वम् वहुतृणम् पश्यताम्
तनोः अत्यागे अपि अखण्ड परम आनन्द अवबोध स्पृशाम्
योगिनाम् शिव प्रसादः सुलभः कः अपि अध्वा सम्पत्स्यते

पाणि पात्रयताम्	=अंजुली ही जिन का बरतन हो
निसर्ग शुचिना	=स्वभाव से ही पवित्र हों
भैक्ष्येण	=भिक्षा भोजन से
संतुष्यताम्	=संतोष करते हों
यत्र क्व अपि	=कहीं भी
निषीदताम्	=बैठते हों
मुहुः	=सदा
विश्वम्	=संसार को
बहु तृणम्	=एकदम तिनके के समान
पश्यताम्	=देखते हों
तनोः अत्यागे अपि	=शरीर के न छूटने पर भी अर्थात् इसी जीवन में
अखण्ड परमानन्द	=सदा परम आनन्द को
अवबोध स्पृशाम्	=अनुभव करते हों, इस प्रकार
योगिनाम्	=योगियों को
शिवप्रसाद सुलभः	=शिवजी की कृपा से प्राप्त होने वाला
कः अपि अध्वा	=(मुक्ति का मार्ग) कोई भी मार्ग
सम्पत्स्यते	=मिल जाता है

भावार्थ

बिना मांगे जो कुछ पा जाएं, हथेली पर ही खा पी डालते हों और तृप्त हो जाते हों, कहीं एक जगह बैठ जाते हों और संसार के सारे वैभवों को तिनके के समान तुच्छ समझते हों, ऐसे बिरले योगी महात्मा को ईश्वर की कृपा से इसी जीवन में परमानन्द का अनुभव होता है।

विशेषार्थ

जैसा पहले कहा जा चुका है, यहां पिछले श्लोक का समाधान है। फिर भी श्लोक के अन्तिम दो पदों पर विचार कर लेना उचित है। शरीर धारण करते हुए अखण्ड आनन्द को प्राप्त होना, ईश्वर की कृपा से कोई न कोई उपाय निकल आना, यह दो अलग-अलग हैं। पहली का अभिप्राय यह हो सकता है कि दूसरे मार्ग से अर्थात् निवृत्ति तथा वनवास से इसी जीवन में आनन्द की प्राप्ति नहीं भी हो सकती है, भले ही इस जीवन के बाद हो।' मगर इस मार्ग में अर्थात् समाज के बीच योगी बनकर निरपेक्ष जीवन बिताने से इसी जीवन में उस परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है। आगे विश्वास

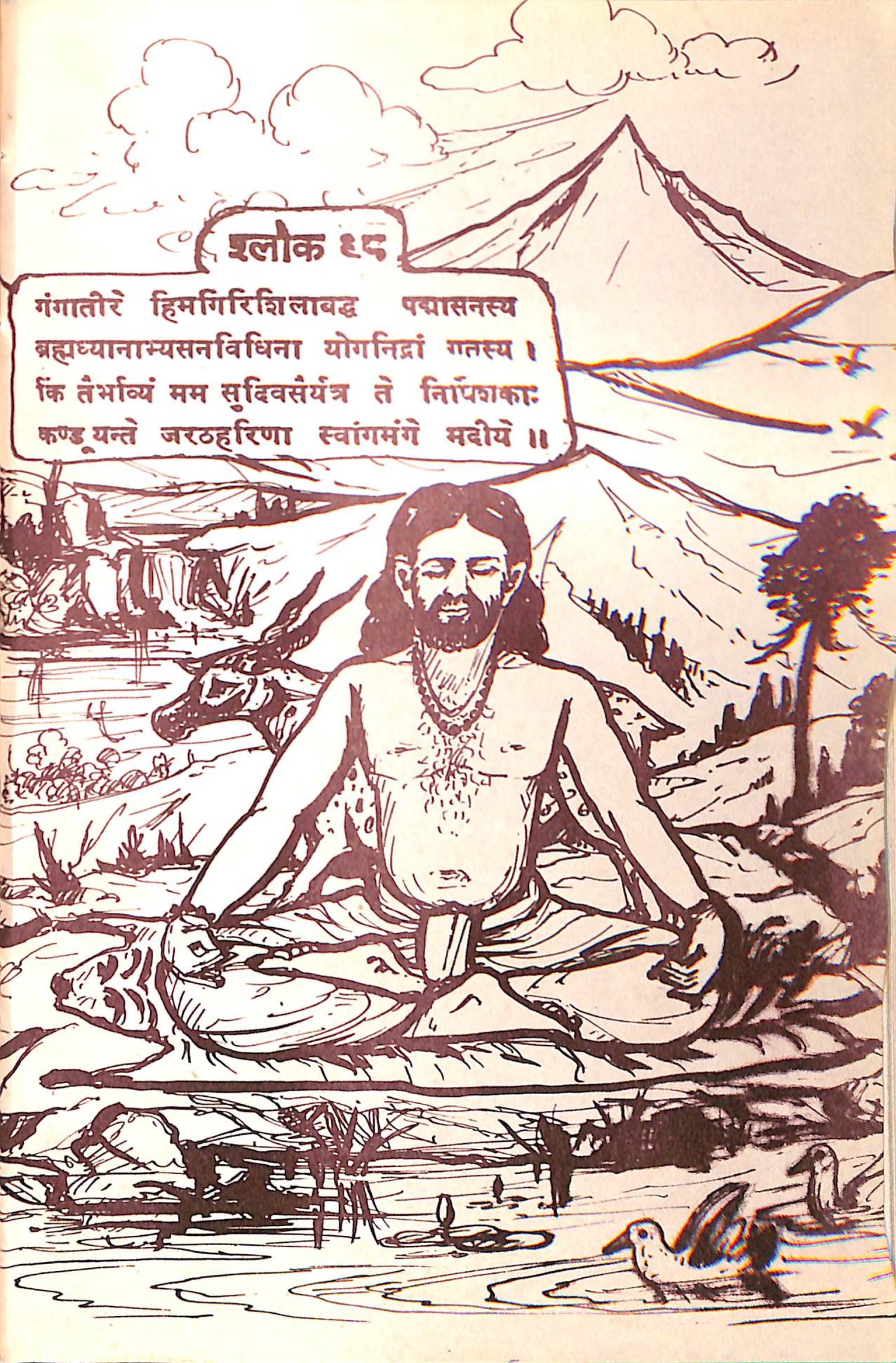

श्लोक १८

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्ध पद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशकाः
कण्डूयन्ते जरठहरिणा स्वांगमंगे मदीये ॥

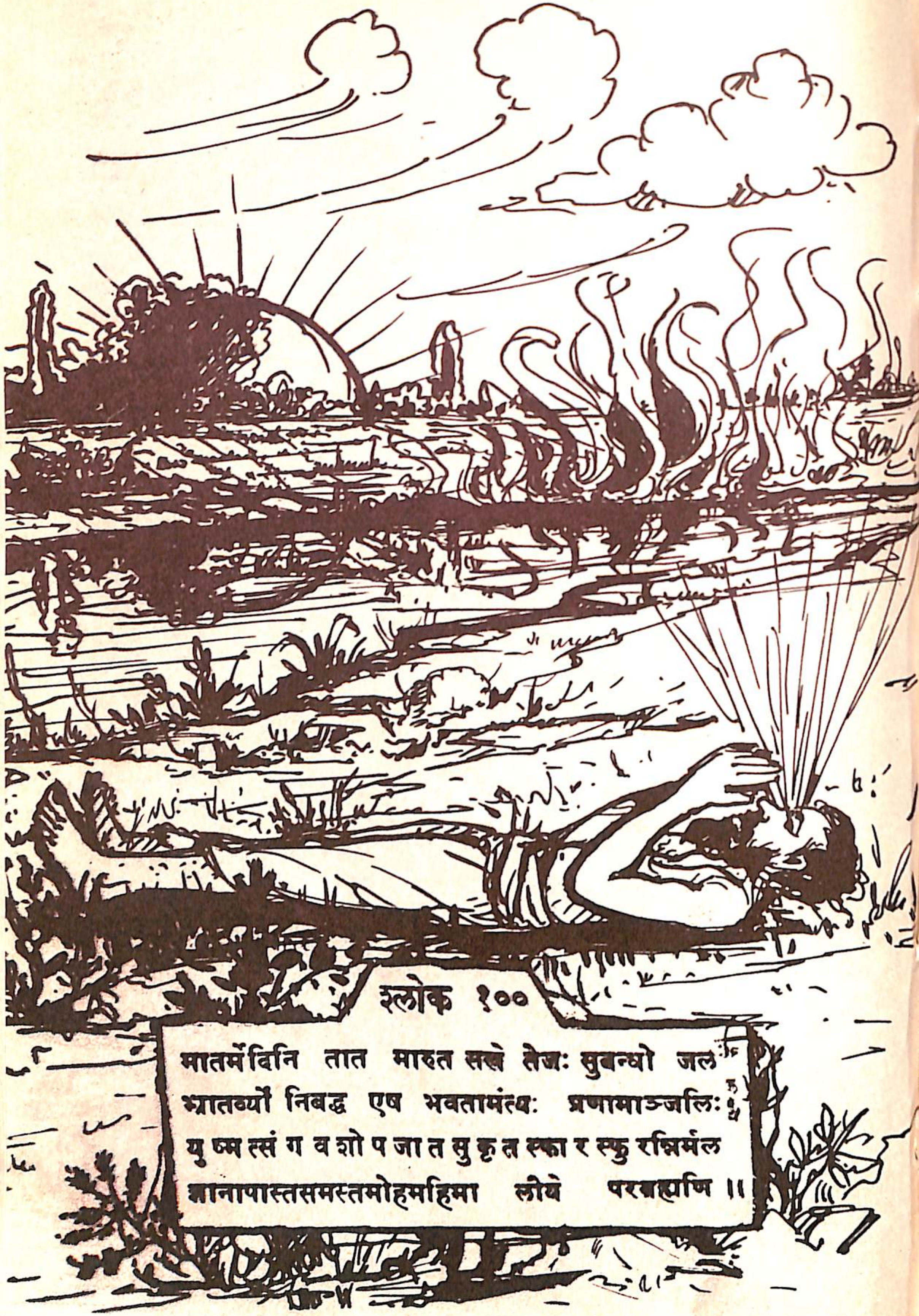

श्लोक १००

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्यों निबद्ध एष भवतामंत्यः प्रणामाञ्जलिः
युष्मत्संगवशोपजातसुकृतस्फारस्फुरन्निर्मल
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥

दिलाया गया है कि अगर परमानन्द का अनुभव न होवे तो भी उससे घबराने की बात नहीं है। कभी न कभी कोई न कोई उपाय निकल ही आवेगा। कब क्या होगा, क्या न होगा, यह ईश्वर के अधीन है। इसलिए मनुष्य को अनवरत साधना में लगे ही रहना चाहिए।

नवम दशक का सारांश

श्लोक नं. ८१ — मन का निग्रह महा कठिन है।

८२ — मन का निग्रह कैसे होगा, यह नहीं कहा जा सकता।

८३ — मनुष्य के प्रयत्नों का फलना ईश्वर की कृपा पर ही निर्भर है।

८४ — शिव और विष्णु अर्थात् भोग और त्याग में कोई भेद नहीं है।

८५ — संसारिक प्रवृत्ति को त्याग दें।

८६ — सम्पत्ति को लोगों में बांट दें।

८७ — काशी में रहें और भिक्षा से पेट भरें।

८८ — निर्जन वनों में धूनी रमावें।

८९ — अनासक्त वृत्ति के साथ समाज के बीच में रहें।

९० — अन्त में ईश्वर की कृपा से कोई न कोई तरणोपाय निकल ही आयेगा।

इस प्रकार अन्त में उस आत्मानन्द की स्थिति को प्राप्त होने के बाद मनुष्य जिस अवधूत स्थिति को प्राप्त होता है, उसकी चर्चा अगले अन्तिम दशक'में है।

श्लोक ९१

कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी
नैश्चिन्त्यं निरपेक्षभैक्ष्यमशनं निद्रा श्मशाने वने ।
स्वातंत्र्येण निरंकुशं विहरणं स्वांतं प्रशान्तं सदा
स्थैर्यं योगमहोत्सवेऽपि च यदि त्रैलोक्यराज्येन किम् ।।

पदच्छेद

पृनस्तादृशी =पुनः+ तादृशी
निरपेक्ष= निः+ अपेक्ष
भैक्ष्यमशनम्=भैक्ष्यम्+अशनम्
महोत्सवेऽपि=महा +उतसवे+अपि

पदान्वय

यदि शतखण्ड जर्जरतरं कौपीनम्, पुनः तादृशी कन्था नैश्चिन्त्यम् निरपेक्ष भैक्ष्यम् अशनम् श्मशाने वने निद्रा स्वातंत्र्येण निरंकुशम् विहरणम् सदा प्रशान्तम् स्वांतम् योग महोत्सवे स्थैर्यं अपि त्रैलोक्य राज्येन किम्

शब्दार्थ

शत खण्ड	=सैंकड़ों चीथड़ों की
जर्जर तरम्	=एकदम फटी
कौपीनम्	=लंगोटी (हो)
पुनः	=फिर
तादृशी	=उसी तरह की
कन्था	=कथरी हो,
नैश्चिन्त्यम्	=बेफिकरी हो,
निरपेक्ष	=बिना मांगे
भैक्ष्यम् अशनम	=जो भिक्षा मिल जाय उसी को खालें,
श्मशाने वने	=मसान घाट में या वन में
निद्रा	=सोया करें
स्वातंत्र्येण	=बे रोक टोक
विहरणम्	=बिचरा करें (और)

सदा =हर दम
प्रशान्तम् स्वांतम्=चित्त शान्त तथा प्रसन्न हो
योगमहोत्सवे अपि=योग के महान उत्सव में भी
स्थैर्यम् यदि =यदि स्थिरता प्राप्त हो जावे तो
त्रैलोक्य राज्येन किम्=तीनों लोकों के राज्य किसलिए अर्थात् उसके सामने तीनों लोकों का आधिपत्य भी तुच्छ है।

भावार्थ

फटी लंगोटी हो, वैसी ही फटी पुरानी गुदड़ी हो, एकदम बे फिक्र हो, जो मिले खावे और बनों या मसान-घाटों पर जहां चाहे विचरा करे, कोई रोक टोक न हो' सदा प्रसन्न चित्त रहे, यदि ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाए तो उस के सामने तीनों लोकों का साम्राज्य भी निरर्थक है।

विशेषार्थ

पिछले दशक में शिव-पूजन की चर्चा करने के बाद अन्त में कहा गया था कि जीवन्मुक्ति ही मनुष्य मात्र का उद्देश्य है। इस दशक में उसी जीवन्मुक्ति की चर्चा के साथ वैराग्य शतक और साथ ही भर्तृहरि के तीनों शतकों की समाप्ति होती है।

श्लोक में दो बातें स्पष्ट दिखायी देती हैं। योग समाधि तक की एक स्थिति है और सुख भोग की दूसरी स्थिति न पहले को श्रेष्ठ कहा गया है न दूसरे को निकृष्ट। लंगोटी या त्रैलोक्य राज्य से कोई मतलब नहीं है। असली उद्देश्य है चित्त को शान्ति तथा स्थिरता। निरपेक्ष भोजन, वन-मसान का रहन सहन, बे रोक विचरण, यह सब स्थिर-चित्त के लक्षण हैं। चित्त की स्थिरता के बाद भले ही लंगोटी फटी हो, खाने रहने का ठिकाना न हो, फिर भी वह तीनों लोकों को भी तुच्छ समझेगा अर्थात् सांसारिक सुख ही नहीं, स्वर्गीय सुख की भी उसे इच्छा नहीं होगी। तीनों लोकों में स्वर्ग भी तो शामिल है। संसार की सकल सुख-सामग्री के होते हुए भी यह तो सम्भव है कि मन की शान्ति

प्राप्त न हो। स्वर्गीय सुख में भी स्थिरता नहीं है, क्योंकि वहां पुण्य के क्षीरा हो जाने का भय लगा रहता है। इस प्रकार यह सिद्ध किया गया है कि सच्ची शान्ति इसी जीवन में प्राप्त हो सकती है। पिछले दशक में कर्म निर्मूलन की जो आकांक्षा थी यहां उसे साधने का मार्ग बताया है स्थिर-योग। उस स्थिर-योग के कौन लक्षरा हैं ? आगे चलिए।

श्लोक ६२

ब्रह्माण्डमण्डलीमात्रं किं लोभाय मनस्विनः।
शफरी स्फुरितेनाब्धिः क्षुब्धो न खलु जायते॥

पदच्छेद

स्फुरितेनाब्धिः=स्फुरितेन+अब्धिः

पदान्वय

मनस्विनः ब्रह्मांड मण्डली मात्रम् लोभाय किम्
शफरी स्फुरितेन अब्धिः क्षुब्धः न जायते खलु,

शब्दार्थ

मनस्विनः =आत्मवान पुरुष को, योगी को
ब्रह्माण्ड मण्डली=सकल ब्रह्माण्ड
मात्रम् =भी
लोभाय किम् =क्या लोभ उत्पन्न कर सकते हैं अर्थात् नहीं कर सकते

शफरी =एक छोटी मछली के
स्फुरितेन =फुदकने से
अब्धिः =समुद्र
क्षुब्धः =आकुल
न जायते =नहीं होता

भावार्थ

जिस प्रकार एक छोटी-सी मछली के फुदक पडने से समुद्र

के जल में खलबली नहीं हो सकती उसीप्रकार ब्रह्माण्ड भर के लोभ से भी योगी की स्थिरता नहीं टूट सकती ।

बिशेषार्थ

योगी का मन कितना स्थिर होना चाहिए, यही इसमें बताया गया है । पिछले श्लोक में तीनों लोकों का राज्य कहा था, यहां कहता है कि सारे ब्रह्माण्ड का आधिपत्य भी तुच्छ है ।

नोट :—उस अगोचर परमात्मा को समझने से भी इस जीते जागते अवधूत को समझना शायद अधिक कठिन है । इस आवारा अवधूत ने आगे भी लिखने की चेष्टा की जरूरत है, पर यह उसकी धृष्टता मात्र है ।

मनस्वी पुरुष को सम्पूर्ण ब्रह्मांड का लोभ दिखाने पर या स्वयं दीख पड़ने पर भी उस का मन विचलित नहीं होता । पिछले श्लोक में कहा था कि अन्तः-शान्ति अथवा शान्तिमय प्रसन्नता वह चीज है जिसके सामने स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, तीनों लोकों का प्रभुत्व भी फीका है ।

भरी समाज के बीच, जहां लोग नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों और मृष्ठान्नों में मौज उड़ाते हों, वहां यदि कोई अपनी फटी लंगोटी और पुरानी कथरी में फाका-मस्ती में घूमता रहे और उस के मन के भीतर भी उन लुभावनी वस्तुओं के लिए लालसा जाग्रत न हो, तो निश्चय ही वह उसकी प्रशान्त आत्मा का प्रत्यक्ष प्रमाण है । कह सकते हैं कि उसकी मनोस्थिति का हमें क्या पता, हो सकता है कि कभी-कभी उसका मन भी इन वस्तुओं की और आकृष्ट होता हो और सम्भव है कि वह अपने मन की चचलता पर काबू पाने की चेष्टा करता हो । होगा, पर उसकी बाहरी चेष्टाओं से ऐसा दीखता तो नहीं है ।

परन्तु श्लोक के द्वितीय चरण की शब्दावली से टपकता है कि उसके मन में चुहुल उठती भी है तो उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । प्रशान्त सागर में यदि कहीं किसी मछली के फुदक पड़ने पर जिस प्रकार ज्वार उबल नही पड़ता और उसका सकल जल समतल बना रहता है उसी प्रकार

उस मनस्वी पुरुष का मन बहक नहीं सकता। उसके लिए यह घूमने फिरने वाला समाज वैसे ही है जैसे और और पशु पक्षी चल फिर उड़ रहे हैं। जिस प्रकार वह उन पशु पक्षियों के आनन्दमय जीवन से प्रभावरहित है उसी प्रकार इस समाज के आनन्दोल्लास से अनपेक्षित है। पिछले श्लोक के स्वर्गीय सुख उसे भरमा सकते हैं और न पाताल की यातनाए भयान्वित कर सकती हैं। इस श्लोक में तो उससे भी आगे बढ़कर कहा गया है कि ब्रह्मांड अर्थात् नीचे ऊपर के सात सात चौदह भुवन उसके सामने दर्पण की तरह खुले पड़े हैं, पर उस पर कोई प्रभाव डाल नहीं सकते।

जिसे सुख की आशा नहीं सताती उसे दुख की परवाह भी नही होती।

श्लोक ६३

मातर्लक्ष्मि भजस्व कंचिदपरं मत्कांक्षिणी मास्मभू-
र्भोगेषु स्पृहयालवस्तव वशे का निस्पृहाणामसि।
सद्यः स्यूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृतै-
र्भिक्षावस्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्तिं समीहामहे॥

पदच्छेद

मातर्लक्ष्मि = मातः + लक्ष्मि
कञ्चिदपरम् = कञ्चित् + अपरम्
मास्मभूर्भोगेषु = मास्मभूः + भोगेषु
स्पृहयालवस्तव = स्पृहयालवः + तव
निस्पृहाणामसि = निस्पृहाणाम् + असि
पवित्रीकृतैभिक्षा = पवित्री कृतैः + भिक्षा
वस्तुभिरेव = वस्तुभिः + एव

पदान्वय

मातः लक्ष्मि कञ्चित् अपरम् भजस्व मत्कांक्षिणी मास्मभूः
भोगेषु स्पृहयालवः तव वशे निस्पृहाणाम् का असि
सद्यः स्यूत पलाश पत्र पुटिका पात्रे पवित्री कृतैः
भिक्षा वस्तुभिः एव वयम् सम्प्रति वृत्तिम् समीहामहे

शब्दार्थ

मात: लक्ष्मि	=हे माता लक्ष्मी
कञ्चित् अपरम्	=किसी और के
भजस्व	=शरण में जा
मत् कांक्षिणी	=मेरी इच्छुक
मास्मभू:	=मत बन
भोगेषु	=सुख भोग में
स्पृहयालवः	=मन रखने वाले
तव वशे	=तेरे बस में ही जाते हैं
निस्पृहाणाम्	=उदासियों के लिए (तू)
का असि	=कौन होती है (तेरा मुझसे कोई वास्ता नहीं)

वयम्	=हम
सम्प्रति	=अब
सद्यः स्यूत	=तुरंत सिये हुए
पलाश पत्र	=ढाक के पत्तों के
पुटिका पात्रे	=दोने में
पवित्री कृतैः	=पवित्र किये हुए (पाप रहित)
भिक्षान्न वस्तुभिः	=भिक्षा की वस्तुओं
एव	=से ही
वृत्तिम्	=जीविका
समीहामहे	=पसंद करते हैं

भावार्थ

हे माता लक्ष्मी, तू अब मेरी आशा छोड़ दे, किसी दूसरे को ढूंढ ले। जो भोगी हैं वही तेरे चक्कर में आ सकते हैं। हम त्यागियों से तेरा क्या काम ? अब तो हम ताजे पत्तों का दौना बना कर उसी से पवित्र भिक्षा पाया करेंगे और निश्चित जीवन बितायेंगे।

बिशेषार्थ

श्लोक शब्द 'मातः = माता' से आरम्भ होता है। प्रत्येक प्राणी का मूल माता ही है। मातृ गर्भ में जब तक है तब तक वह माता के शरीर ही से

पोषण पाता है। भूतल पर जन्मने के बाद भी माता ही उसके भरण पोषण का भार उठाती है। हां, बड़ा होने पर माता से मुक्ति पाता है और हाथ पैर चला कर पेट भरता है। फिर माता से गिला क्यों ?

सभ्य संसार में सभी योग्य सामग्री धन द्वारा प्राप्त हो सकती है। अतः धन भी माता लक्ष्मी-माता। लक्ष्मी माता की कृपा जितनी अधिक हो उतनी ही सुलभ हो विलास सामग्री। मानव लोभ लालच से लक्ष्मी का दास बने और वही लक्ष्मी-पुत्र कहावे। साधक भोग से दूर भागे, तृष्णा से मुक्त होवे। इसी लिए वह लक्ष्मी से भी मुक्त होना चाहता है—कांचन मुक्ति। आप कांचन मुक्त होने पर स्वयं लक्ष्मी को ही अन्यत्र आश्रय लेना होगा। कहता है—जा उसके पास जो भोग विलास का भूखा है। ठीक, लक्ष्मी जायेगी, पर आप कैसे गुजारेगा ?

वह तो थाली लोटा भी रखना नहीं चाहता। कदाचित् कमंडलु की भी उसे चाह नहीं है। कहता है, भूख लगे तो पेड़ से ताजे पत्ते तोड़ देना पत्तल बना लेगा। घर घर घूम भिक्षा लेगा। तृप्त हो पत्तल वहीं फेंक देगा और चल देगा। प्यास सतावे तो अंजुल भर भर पानी पी लेगा और यों ही मस्त मौला दिन गुजारेगा। उसे अब धन से क्या काम। अतः माता लक्ष्मी को यह धुतकार।

श्लोक ९४

महाशय्या पृथ्वी विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासंगमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ।।

पदच्छेद

विपुलमुपधानम् = विपुलम्+उपधानम्
वितानंचाकाशम्=वितानम्+च+आकाशम्
व्यजनमनुकूलोऽयमनिल:=व्यजनम्+अनुकूल:+अयम
+अनिल:
स्फुरद्दीपश्चन्द्र:=स्फुरत्+दीप:+चन्द्र:
मुनिरतनुभूतिर्नृप=मुनि:+अतनुभूति:+नृप

पदान्वय

पृथ्वी महाशय्या भुजलता विपुलम् उपधानम्
आकाशं च वितानम् अयम् अनुकूल: अनिल: व्यजनम्
चन्द्र: स्फुरत् दीप: विरति वनिता सग मुदित: शान्त:
मुनि: अतनुभूति: नृप इव सुखम् शेते

शब्दार्थ

पृथ्वी =भूमि
महा शय्या =बड़ा बिस्तर है,
भुज लता =फैली हुई भुजाएं
विपुलम् =विशाल
उपधानम् =तकिया है,
आकाशं च वितानम्=आकाश ही शामियाना है,
अयम् =यह
अनुकूल: =मन भाती
अनिल: =हवा

व्यजनम् =पखा है,
चन्द्र: =चन्द्रमा
स्फुरत् दीप: —जगमगाता दिया है
विरति वनिता संग=वैराग्य रूपी रमणी के संग
मुदित: =प्रसन्न (और)
शान्त: =शान्त है
मुनि: =मौनी जोगी
अतनुभूति: =अखण्ड वैभवशाली
नृप इव =महान राजाओं के समान
सुखी शेते =सुख से सोते हैं

भावार्थ

योगी के लिए जमीन ही गददा है, आसमान ही शमियाना है, हाथ ही उसका तकिया है, मंद मंद वायु ही उसका पंखा है, वैराग्य ही उसकी वनिता है, इस प्रकार वह सब कुछ त्याग कर ऐसा आनंद मानता है मानो कोई चक्रवर्ती राजा है, कदाचित् राजाधिराज को भी ऐसी शान्ति प्राप्त न हो !

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में खाने और पेट भरने से निश्चिंत होने की बात कही थी। परन्तु मानव पेट भरने मात्र से सन्तुष्ट नहीं होता। दिन तो किसी तरह जन समूह के बीच कट जाता है। किंतु रात काटे नहीं कटती। सिर पर छत चाहिए छत के भीतर रोशनी चाहिए। सोने के लिए बिस्तर तकिया चाहिए। गरमी न सतावे पंखा झला करे। यह सब हो जाय तो मन मे गुदगुदी उठती है। संगिनी बिना सब सूना-सूना लगता है। धनी मानी राजा महाराजाओ के लिए सभी सामग्री उपलब्ध है। पर गरीब क्या करे? क्या वह सुख की नींद नहीं सोता? गरीब को चाहे घर द्वार भी न हो पर संग में गरीबन रहे, बस हैं। दिन भरके सारे दुख भूल जाता है।

परन्तु हमारे यह साधक महोदय भोला भाला गरीब तो नहीं हैं। राजा महाराजाओं के स्वप्न देखते हैं साधक महाशय। परन्तु उन्हें वैराग्य भी तो साधना है। दिन भर लोगों के घर द्वार, बाल बच्चों को देखते हुए मन को संतोष दे लेते हैं। परन्तु रात एकाकी पड़ जाते हैं तो सब याद आने लगता है। मन को मनाने को चेष्टा करते हैं। समझा लेते हैं—ऊपर नीली छत्री तान रखी भगवान ने हमारे ही लिए है। नीचे भू शय्या भी हमारे ही लिए बिछा रखी है। छत में चांद चमका रखा है और नीचे भीनी भीनी हवाओं के झोंके हमारे ही लिए चल रहे हैं। आरम्भ में कल्पना के रूप में भले ही हो परन्तु धीरे-धीरे उसी के अभ्यस्त हो जाते हैं। खूब समझ रखिए साधना इतनी सरल नहीं हैं। साधना बिना संगिनी के असम्भव है। साधक ने भी

वैराग्य संगिनी को सहचरी बना रखा है। पल भर भी उसे विलग होने नहीं देते। वधु-विरक्ति को मन के भीतर बांध रखते हैं। विरक्ति उनके लिए विष्णु भगवान की लक्ष्मी हैं। वैराग्य लक्ष्मी के वशीभूत होने पर आनन्द का अनुभव क्यों न हो, और सुख की नीद क्यों न सोवें।

श्लोक ९५

भिक्षाशी जनमध्यसंगरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा
हानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः ।
रथ्याकीर्णविशीर्णजीर्णवसनैः संप्राप्तकन्थासनो
निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः ॥

पदच्छेद

भिक्षाशी=भिक्षा+अशी
हानादान=हान+आदान
कश्चित्तपस्वी=कश्चित्+तपस्वी
निर्मान=निः+मान
निरहंकृतिः=निः+अहंकृतिः
सुखाभोगैक=सुख+आभोग+एक
कन्थासनः=कन्था+आसनः

पदान्वय

भिक्षा अशी जन मध्य सग रहितः सदा स्वायत्त चेष्टः

हान आदान विरक्त मार्ग निरतः रथ्या कीर्ण विशीर्ण जीर्ण वसनः
सम्प्राप्त कन्था आसनः, निर्मानः, निरहंकृति शम सुख
आभोग एक बद्ध स्पृहः कश्चित् तपस्वी स्थितः

शब्दार्थ

भिक्षा अशी	=भिक्षा पर निर्वाह कर लेता हो,
जन मध्य	=लोगों के बीच (रहकर भी)
संग रहितः	=किसी में आसक्त न हो,
सदा स्वायत्त चेष्टः	=हमेशा अपनी ही इच्छा पर चलता हो,
हान	=(बुरेको) त्यागने
आदान	—(भले को) अपनाने में
विरक्त निरतः	==उदासीन हो,
रथ्या	=रास्तों, सड़कों पर
कीर्ण	=फिके
विशीर्ण	=फटे
जीर्ण	=पुराने
वसनैः	=कपड़ों से
सम्प्राप्त कन्था	=आसन तथा गुदड़ी =बना ली हो,
निर्मान	=अभिमान रहित
निरहंकृति	=अहंकार रहित
शम सुख	=मन की शांति से = प्राप्त सुख को
आभोग	=भोगने में
एक बद्ध स्पृहः	=एकदम मन लगा =हो
कश्चित्	ऐसा कोई बिरला =ही
तपस्वी स्थितः	= तपस्वी होता है

भावार्थ

भिक्षा पर निर्वाह करे, लोगों के बीच में रहे मगर किसी से कोई मतलब न रखे, न किसी वस्तु के त्यागने में सकोच करे, न किसी के प्राप्त करने की इच्छा रखे, जहां तहां पड़े हुए फटे पुराने कपड़ों की गुदड़ी बना उसी में गुजारा करे, मान अभिमान का विचार न हो और मन सदा शान्त हो; किसी महान तपस्वो की हो ऐसी स्थिति हो सकती है ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में साधक ने घर गृहस्थी सब कुछ छोड़ रखी है। खुले मैदान में आकाश के नीचे नंग धड़ग पड़ा है। एक दम विरक्त होते हुए भी शय्या, शामियाना, पंखा, दीपमाला ही क्या, सहचरी एवम् राजसी वैभव की कल्पना में लोलायमान है। विरक्त के मन में वैभव की कल्पना भी क्यों हो ? प्रस्तुत श्लोक में उस वातावरण का संकेत उपलब्ध है जिसके कारण ऐसे विरक्त का ध्यान उस वैभव की ओर जाना स्वाभाविक है।

शब्द "भिक्षाशी" से श्लोक का आरम्भ होता है। भिक्षा के लिए नगर में निकल पड़ता है तो नगरवासियों की सुख सामग्री पर उसकी नजर पड़ती ही है। रात जब एकान्त में कहीं पड़ा रहता है तब दिन की उन वस्तुओं और उन लोगों से अपना मिलान करता है और संतुष्ट होता है कि स्वयं वह उन साधन सम्पन्न लोगों से कहीं अधिक सुखी एवम् शान्ति का अनुभव कर रहा है।

"भिक्षा" के साथ "जनमध्य" का शब्द भी लगा हुआ है। क्या वह जनता के बीच मांग खाने के लिए पड़ा हुआ है ? कदापि नहीं। समाज के बीच में वह "संग रहित" होकर रह रहा है। मनमानी चेष्टा करते हुए रह रहा है, 'संग राहित्य' का यह स्पष्ट प्रमाण है। अट्टालिकाओं के बीच राजमार्ग पर पड़ा रहता है। सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुशोभित जन संकुल में फटी पुरानी कथरी ओढे पड़ा रहता है। न भलों से मेल करने की चेष्टा करता है, न बुरों से दूर भागता है। न अहंकार का भान है, न अपमान का अनुमान है। एकदम तपस्वी बनकर मगन विराजमान है। वास्तव में वह उसकी साधना है। बन पर्वतों में, गुफाओं में एकान्त साधना की अपेक्षा कहीं घोर साधना है समाज के बीच रह कर इस प्रकार की साधना करना। और यही असली कसौटी है। अगले श्लोक देखिए वह कसौटी पर कैसे खरा उतरता है।

श्लोक ९६

चण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम्
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैराभाष्यमाणा जनै–
र्नं कुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ।

पदच्छेद

किमयम् = किम् + अयम्
द्विजातिरथवा = द्वि जातिः + अथवा
शूद्रोऽथ = शूद्रः + अथ
पेशलमतिर्योगी = पेशलमतिः + योगी
कोऽपि = कः + अपि
इत्युत्पन्न = इति + उत्पन्न
जल्पमुखरैराभाष्यमाणा = जल्प मुखरैः +आभाष्यमाणा
जनैर्नक्रुद्धाः = जनैः + न क्रुद्धाः
नेव =न + एव

पदान्वय

अयम् चण्डालः किम् अथवा द्विजातिः अथ किम् शूद्रः तापसः किम् वा तत्व निवेश पेशलमतिः कः अपि योगीश्वरः इति उत्पन्न विकल्प जल्प मुखरैः जनैः पथि आभाष्यभाणाः न क्रुद्धाः न एव संतुष्ट मनसः योगिनः स्वयम् यान्ति

शब्दार्थ

अयम् चण्डालः किम्	=क्या यह मनुष्य चंडाल है ?
अथवा द्विजातिः	=या ब्राह्मण हे
अथ शूद्रः	=या शूद्र
किम् तापसः	=या तपस्वी
किं वा	=या क्या
तत्व निवेश पेशल मतिः	=तत्वज्ञान में पटु
की अपि योगीश्वरः	=कोई योगी राज है
इति	=इस प्रकार
उत्पन्न	=निकलती हुई
विकल्प जल्प	=तरह तरह की बातें
मुखरैः जनैः	=कहने वाले लोगों द्वारा
पथि	=सड़क पर
आभाष्यमाणाः	=उल्टे सीधे कहे जाने पर भी
योगिनः	=योगी जन
न क्रुद्धाः	=नाराज न होकर
न एव संतुष्ट मनमः	=और न प्रसन्न होकर
स्वयम् यान्ति	=अपनी राह चलते हैं

भावार्थ

किसी योगी महात्मा को देख कर लोग तरह तरह की बातें करते हैं। कोई कहता है यह चण्डाल है। कोई दूसरा कहता है शूद्र है। कोई तीसरा कहता है तपस्वी है। कोई चौथा कहता है पहूंचा हुआ फ़कीर या ब्रह्मज्ञानी है। कोई अच्छा कहे या बुरा, जो योगी हैं वे इन बातों पर तनिक भी ध्यान नहीं देते, अपनी ही राह पर बेखटके बढ़ते रहते हैं।

बिशेषार्थ

व्यक्ति एक है और लोग देखते हैं उस अकेले को इतने सारे रूपों में। जो चंडाल है वही ब्राह्मण कैसे जंचेगा ? शूद्र दीखता है तो तपस्वी कैसे लग सकता है ? दार्शनिक और योगी में भी भारी अन्तर है। चंडाल गंदगी का पुञ्ज होगा, पर ब्राह्मण पवित्रता का प्रतीक। शूद्र सेवा चाकरी में लगा रहता है, पर तपस्वी आँख मूंद कर एक जगह आसन जमाए रहता है। दार्शनिक तर्क

वितर्क में माथापच्ची करता है, पर जोगी जो जैसा है उसी में मस्त रहता है। व्यक्ति के सम्बन्ध में लोगों की यह परस्पर विरोधी भावनांए क्योंकर बनने लगती हैं? श्लोक में बहुत कम कहा गया है। ऐसे व्यक्तियों की लीलाए विचित्र होती हैं। खाते हैं तो खाते ही जाते हैं। न खाएं तो दिन पर दिन कट जाते हैं। जागते हैं तो जागते ही जाते है और सोते है तो सोये ही रहते हैं। आंख मूंदे हैं तो मूंदे ही रहते हैं और ताकते है तो बिना पलक मारे ताके जाते हैं। मौन हैं तो मारे भी नहीं बोलेंगे और बोलने लगते हैं तो बस रिकार्ड है कि बजे जा रहा है। शाँत हैं तो शव बने रहते हैं और क्रोध चढ़ा तो आग बबूला बन गए। मोज में आए तो पशु पत्थर को भी चूमते रहेंगे और मन चला तो रोड़ी लिए पीछे पड़ेंगे ।

लोग भी क्या कम करते हैं। कोई पैर पूजेगा तो कोई पत्थर मारेगा। कोई कहेगा देवता तो कोई कहेगा भूत। कोई गाली सुनाएगा तो कोई गले लगाएगा। कोई पापी कहैगा तो कोई मानेगा परमात्मा।

स्वयं परमात्मा के विरोधाभास को क्या कहें। किसी को धन दौलत देता है जिस के कोई खानेवाला नहीं। जिसे पेट भरने का ठिकाना नहीं उसे ढेर सारे बच्चे देता है। जहां पानी चाहिए वहां सूखा पडता है और जहां हरे भरे खेत हैं वहां बाढ़ भेजता है। जहा भक्त को भिक्षा नहीं मिलती वहां नास्तिक को धन कुबेर बना देता है। रेगिस्तान में धरती के साथ आकाश भी तपता है तो अथाह सागर में सारी नदियाँ जा मिलती है। सच्चे को सजा मिलती है तो झूठे का बोलबाला होता है। मारने वाले की मर्यादा बढ़ती है तो मरने वाले को नरक में ढकेल दिया जाता है। यह सारा बीभत्स भगवान का है और आप छिपा रहता है।

परन्तु धरती के इस परमात्मा को छिपने का ठौर कहां? सो, यह चलता फिरता परमात्मा भी पापी, पागल, पाखण्डी बन कर इस प्रकार लीला किये जाता है। गुलाब होकर कांटे पहरे रहता है। लाल बनकर गुदड़ी में छिपा रहता है। ज्ञानेश्वर महाराज ने भी तो कुछ ऐसा ही कहा है इनके बारे में अपनी ज्ञानेश्वरी' में।

ईश्वर, ज्ञानेश्वर की बात को जाने दीजिये। अभी-अभी जो हम लोगों के बीच हो गुजरा है उस महात्मा गांधी को लीजिए। राजकोट के दीवान के घर पैदा हुये। लंदन में बैरिस्टर बने। अफ्रीका में वकालत करने गये अमीरों की, और बन गये तरफदार गरीबों के। कानून पढ़ने वाले बन गये कानून तोड़ने वाले। बगलों में रहने वाले जेलखाने में बंद हो गये। सूट-बूट छूटा पग्गड़, अंगरखा से लंगोटी पर आ टिके। "नंगे फकीर" ने बृटिश साम्राज्य से मोर्चा लिया। भोले-भाले बच्चों को भी बहादुर सिपाही बनाया। सैंकड़ों सालों की गुलामी से देश को आजाद किया। भंगियों को भगवान का दज दिया। भटके हुओं को राह पर लाया। औरतों को आगे बढ़ाया। भारतीयों को भाई चारा सिखाया। मगर हमारे भारतीयों ने उन्हें क्या-क्या नहीं कहा, क्या-क्या नहीं किया। गांधी गद्दार है, वनिया है बेवकूफ है, पागल है, चालू है, चडाल है, वगैरहा। अनजान क्या जानें। जो समझा सो किया। वहुत सारे लोग सचमुच समझते थे कि गाँधी पागल है; बच्चों की पढ़ाई छुडाता है, बहू वेटियों को वेहया बनाता है, आप नंगा हो गया औरों को नंघई सिखाता है, भामन को भंगी बनाता हैं, चरखे के साथ साथ चमरई भी चालू करता है, मरे बैल का चमड़ा छीलता है, जिंदा बछडे को जहर देता है, देश के टुकड़े करता है। देशवासियों को मरवाता है। अन्तिम दम तक पीछा किया। आखिर जान ही ले डाली गांधी की। महात्माओं की करनी-भरनी ऐसी ही होती है।

श्लोक में एक साधक के लिए चंडाल आदि घृणास्पद शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अतः इस सम्बन्ध में दो शब्द।

> "जन्मना जायते शूद्रः कर्मणानां भवेद्विजः।
> वेद पाठेन विप्रश्च ब्रह्म ज्ञानेन ब्राह्मणः।

जन्म से कोई जाति नहीं होती। सभी शूद्र के रूप में जन्म लेते हैं। मातृ गर्भ से जन्म लेने के बाद सभी को एक दूसरा जन्म लेना पड़ता है अर्थात् किसी न किसी काम के योग्य बनना। इसीका नाम द्विज है-दूसरा जन्म। काम सिखाने वाला गुरु और गुरु पिता तुल्य है। गुरु का काम करेगा विप्र, जो वेदों का ज्ञाता हो। वेदों का महत्व इसलिए कि वेद समसम विद्याओं की

खनि हैं। उत्पादन, वितरण की शिक्षा जिस ने पायी वह वैश्य बना और जिस ने सुरक्षा की दीक्षा ली वह क्षत्रिय। समस्त विद्याओं में पारंगत होने से विप्र बना, ब्राह्मण नहीं। ब्रह्मा को जो जाने वह ब्राह्मण। ब्रह्मज्ञान के लिए पहले सब प्राणियों को समान और परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप मानता और वैसे आचरण करना आवश्यकीय है। वेदपाठी विप्र का धर्म शिक्षा दीशा है। उसे सभी कामों में व्यावहारिक दक्षता भी होनी चाहिए, अर्थात् शूद्र की सेवा वैश्य का उत्पादन-वितरण और क्षत्रिय का रण-कौशल, इन सभी कामों को वह जानता हो और करता भी हो। तभी सभी श्रेणी के लोग उनका आदर सत्कार करते थे और गुरुवर मानते थे।

काल क्रमेण विप्रों की समदृष्टि लुप्त हो गयी। जनता के आदर सत्कार का वे अनुचित लाभ उठाने लगे। पठन-पाठन तक सीमित रह कर काम-काज से दूर हट गये। पेशेवर लोग अपना अपना काम अपने बच्चों को आप सिखाने लगे। बस, हर पेशे की एक अलग जाति बनती गयी।

समाज की बुराई ऊपरी श्रेणी से निचली श्रेणियों में उतरती हैं। श्लोकोक्त साधक को नाम धरने वाले प्रायः इसी ऊपरी श्रेणी के होते हैं। चंडाल से लेकर तपस्वी तक के गुण जिस व्यक्ति में पाये जायें, समझना चाहिए कि उसका आत्मोकर्ष हो रहा है और वह महापुरुष समाज के सामने एक आदर्श प्रस्तुत कर रहा है।

श्लोक ६७

हिंसाशून्यमयत्नलयमशनं धात्रा मरुत्कल्पितम्
व्यालानाम् पशवस्तृणांकुरभुजस्सृष्टाः स्थलीशायिनः।
संसारार्णवलंधनक्षमधियाम् वृत्तिः कृता सा नृणाम्
तामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्ति गुणाः॥

पदच्छेद

लभ्यमशनम् = लभ्यम् + अशनम्
पशवस्तृणांकुरः = पशवः + तृणा + अंकुरः
भुजस्सृष्टाः =भुजः + सृष्टाः
संसारार्णव =संसार + अर्णव
तामन्वेषयताम् = ताम् + अन्वेषयताम्

पदान्वय

व्यालानाम् धात्रा हिंसा शून्यम् प्रयत्न लभ्यम् मरुत् कल्पितम्
पशवः तृण अंकरः भुजः स्थली शायिनः सृष्टाः
संसार अर्णव लंघन क्षम धियाम् नृणाम् सा वृत्तिः कृता
ताम् सततम् अन्वेषयताम् सर्वे गुणाः समाप्तिम् प्रयान्ति

शब्दार्थ

व्यालानाम्	=सापों के लिए
धात्रा	=ब्रह्मा द्वारा
हिंसा शून्यम्	=हिंसा से खाली
प्रयत्न लभ्यम्	=बिना परिश्रम के मिलने वाला
अशनम्	=आहार
मरुत्	=हवा
कल्पितम्	=बनाई गयी,
पशवः	=पशुओं को
तृण अंकुरः भुजः	=घास पात खाने वाले (और)
स्थली शायिनः	=जमीन पर सोने वाले
सृष्टाः	=बनाया गया,
संसार अर्णव	=संसार रूपी सागर के
लंघन	=पार उतरने में
क्षम धियाम्	=समर्थ बुद्धिमान
नृणाम्	=मनुष्यों के लिए
सा वृत्तिः	=उसी योग्य जीविका
कृता	=बनाई गयी है;
ताम्	==उस वृत्ति को
सततम्	=सदा
अन्वेषयताम्	=खोज करने वालों के
सर्वे गुणाः	=सभी सत्वरजस्तमो गुण
समाप्तिं प्रयान्ति	=समाप्त हो जाते हैं

भावार्थ

ब्रह्मा ने सांप जैसे घातक जन्तु के लिए भी हवा का आहार बनाया, जिसके लिए न किसी को उसे डसना पड़ता है और न कहीं जाकर परिश्रम करना पड़ता हैं। इसी प्रकार पशुओं के लिए उसने हरी हरी घास बना दी, जिसे वे खाते और जहां जी चाहा पड़े रहते हैं। जब नीच योनियों के आहार बिहार की इतनी पवित्र व्यवस्था है तव मनुष्य के लिए तो अवश्य ही ऐसे आहार-विहार की इतनी ही पवित्र व्यवस्था होगी। इसलिए मनुष्य को ऐसे आहार विहार की खोज में रहना चाहिए जिससे वह गुणातीत हो जाए।

बिशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि लोगों द्वारा नाना प्रकार के नाम धरे जाने एवम् अपमानित किये जाने पर भी साधक क्रोध अथवा प्रसन्नता का अनुभव न करते हुए समाज के बीच रह रहा है। प्रस्तुत श्लोक ऐसे साधक को गुणातीन बनने की दिशा को सूचित करता है।

जब सृष्टिकर्त्ता ने सर्प समान विषैले जन्तु एवम् गौ गार्धभ जैसे अहिंसक पशु जाति के लिए भी सर्वव्यापी हवा और सदा बहार हरियाली जीवन निर्वाह के लिए दे रखी है, तब उपरोक्त साधक मात्र पेट भरने हेतु समाज के बीच पड़ा नहीं रह सकता। वरन् यहाँ वह अपने मन के तराजू में मानापमान बिन-पासंग समान पल्डों में तोलने की चेष्टा में व्यस्त था। पिछले श्लोक के अनुसार वह अपनी इस साधना में सफल सिद्ध हुआ है और संसार सागर के पार उतरने में समर्थ हो, अब वह इसी खोज में चला पड़ा है।

भर्तृहरि की रीति ही निराली है। मानव को नीतिमान बनाने के लिए सर्वप्रथम अनैतिक व्यक्तियों के बीच-'गोद्धारो मत्सरग्रस्ता प्रभवः स्मय-दूषिताः'' का पाठ पढ़ाया था। यहां भी ठीक उसी प्रकार ज्ञान-साधना के लिए मूर्ख जनों के बीच जीवन बिताने की शिक्षा दी-'चण्डालः किमयं....'' समदृष्टि की असली कसौटी ऐसे समाज के बीच ही हो सकती है। मानव जीवन की कसौटी पर

भावार्थ

ब्रह्मा ने सांप जैसे घातक जन्तु के लिए भी हवा का आहार बनाया, जिसके लिए न किसी को उसे डसना पड़ता है और न कहीं जाकर परिश्रम करना पड़ता हैं। इसी प्रकार पशुओं के लिए उसने हरी हरी घास बना दी, जिसे वे खाते और जहां जी चाहा पड़े रहते हैं। जब नीच योनियों के आहार विहार की इतनी पवित्र व्यवस्था है तब मनुष्य के लिए तो अवश्य ही ऐसे आहार-विहार की इतनी ही पवित्र व्यवस्था होगी। इसलिए मनुष्य को ऐसे आहार विहार की खोज में रहना चाहिए जिससे वह गुणातीत हो जाए।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि लोगों द्वारा नाना प्रकार के नाम धरे जाने एवम् अपमानित किये जाने पर भी साधक क्रोध अथवा प्रसन्नता का अनुभव न करते हुए समाज के बीच रह रहा है। प्रस्तुत श्लोक ऐसे साधक को गुणातीन बनने की दिशा को सूचित करता है।

जब सृष्टिकर्त्ता ने सर्प समान विषैले जन्तु एवम् गौ गाधंभ जैसे अहिंसक पशु जाति के लिए भी सर्वव्यापी हवा और सदा बहार हरियाली जीवन निर्वाह के लिए दे रखी है, तब उपरोक्त साधक मात्र पेट भरने हेतु समाज के बीच पड़ा नहीं रह सकता। वरन् यहाँ वह अपने मन के तराजू में मानापमान बिन-शासंग समान पल्डों में तौलने की चेष्टा में व्यस्त था। पिछले श्लोक के अनुसार वह अपनी इस साधना में सफल सिद्ध हुआ है और संसार सागर के पार उतरने में समर्थ हो, अब वह इसी खोज में चला पड़ा है।

भर्तृहरि की रीति ही निराली है। मानव को नीतिमान बनाने के लिए सर्वप्रथम अनैतिक व्यक्तियों के बीच-'गोद्धारो मत्सरग्रस्ता प्रभवः स्मय-दूषिताः'' का पाठ पढ़ाया था। यहां भी ठीक उसी प्रकार ज्ञान-साधना के लिए मूर्ख जनों के बीच जीवन बिताने की शिक्षा दी-'चण्डालः किमयं—'' समदृष्टि की असली कसौटी ऐसे समाज के बीच ही हो सकती है। मानव जीवन की कसौटी पर

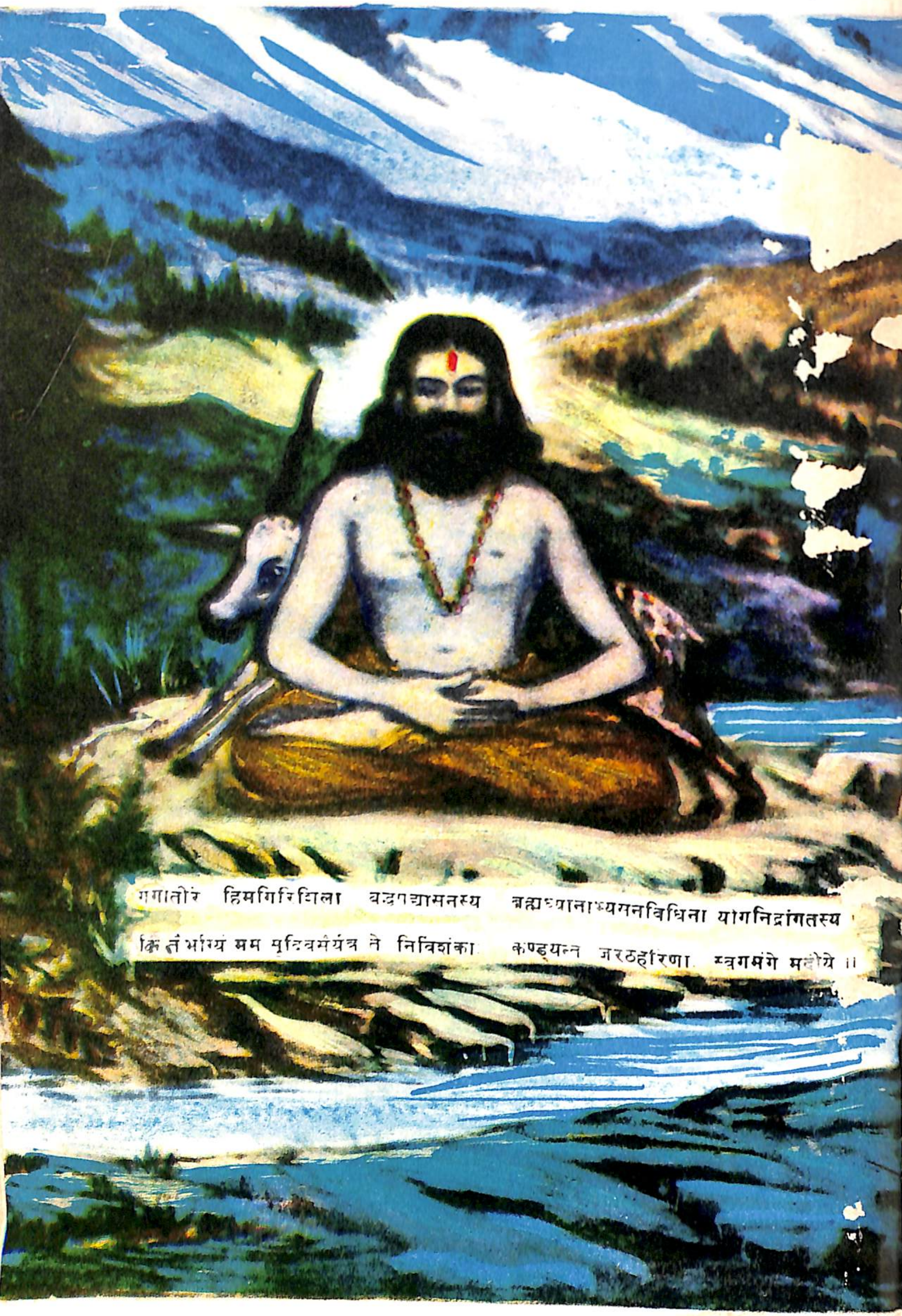

गंगातीरे हिमगिरिशिला बद्धपद्मासनस्य ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रांगतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वांगमंगे मदीये ॥

ारा उतरने के बाद जन्म-मृत्यु-युक्त संसार-सागर से मुक्त होने के लिए जिस सर्वसमर्थ सामग्री की आवश्यकता है और वह जहां प्राप्त हो सकती है, हमारा साधक अब उस उत्कृष्ट स्थान अथवा समाज की खोज में चल पड़ा है "तामन्वेषयताम्" । कौन है वह स्थान ? आगे बढ़िए ।

श्लोक ६८

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः
कण्डूयन्ते जरठहरिणा स्वांगमंगे मदीये ॥

पदच्छेद

ब्रह्मध्यानाभ्यसन — ब्रह्मध्यान + अभ्यसन
तैर्भाव्यम् = तैः + भाव्यम्
सुदिवसैर्यत्र — सुदिवसैः + यत्र
स्वांगमंगे = स्व + अंगम् + अंगे

पदान्वय

गंगा तीरे हिमगिरि शिला वद्ध पद्मासनस्य
ब्रह्म ध्यान अभ्यसन विधिना योग निद्राम् गतस्य
मम तै दिवसैः भाव्यम् किम्, यत्र जरठ हरिणाः
निर्विशंका. स्वअंगम् मदीय अगे कण्डूयन्ते

शब्दार्थ

गंगा तीरे = गंगा जी के तट
हिमगिर शिला = हिमालय पर्वत की चट्टान पर
बद्ध पद्मासनस्य = पद्मासन डाले बैठे हुए

ब्रह्म ध्यान अभ्यसन विधिना = ब्रह्मध्यान की साधना से
योग निद्राम् गतस्य = योग समाधि की अवस्था में पहुंचे हुए
मम = मुझे
तैः दिवसैः = वह दिन
भाव्यं किम् = क्या प्राप्त हो सकेंगे ?

यत्र — जहां, जब
जरठ हरिणाः — बूढे हिरन
निर्बिशंकाः — बे खटके
स्व अंगत् — अपने शरीर को
मदीय अंगे — मेरी देह से
कण्डूयन्ते — खजुलाते हों, रगड़ते हों।

भावार्थ

क्या वह सुदिन कभी आवेगा जब मैं हिमालय पर्वत पर गंगा जी के किनारे किसी चट्टान पर पद्मासन लगाये योग-समाधि को प्राप्त हो जाऊंगा और वह समाधि इतनी गाढी होगी कि जंगली हिरन मुझे निर्जीव जानकर अपनी देह को मेरी देह से रगड़ रगड़ कर खजुलाहट मिटाया करेंगे ?

विशेषार्थ

यही है वह आकांक्षा जिस के लिए आप व्याकुल हैं। "शतकत्रय" भर में कितने ही ऐसे श्लोक बिखरे पडे हैं जिस से लगता है कि भर्तृहरि स्वयं अपनी कहानी सुना रहें हैं। जब उज्जेन में क्षिप्रा-तट पर तपस्या कर रहे थे तब वाराणसी-गंगा-तट की अभिलाषा रखते थे—"कदा वाराणस्याभमरतटिनिरोधसि वसन्"। यहां वे "हिमालय पर गंगा किनारे पद्मासन" की आंकाक्षा रखते हैं। पहली अभिलाषा उनकी पूरी हुई। चुनार के किले में भर्तृहरि-गुफा इस का प्रमाण है। परन्तु हिमालय पहुँचे हों, इस का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। शिमला से सौ मील आगे नाथ-साम्प्रदाय के लोग आज भी है। मगर भर्तृहरि समान व्यक्ति हिमालय पर पहुंचने के बाद नीचे राजस्थान की ओर लौट आते, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। प्रमाण-स्वरूप शहर अलवर के समीप 'सरिस्का' के पहाड़ी प्रदेश में उनकी चिर-समाधि आज भी विद्य-

मान है जाज्वल्यमान अखण्ड-ज्योति के साथ। "पूतग्राव गिरीन्द्र कन्दर तटी कुञ्जे निवासः क्वचित्, इस "क्वचित्" शब्द को उपर्युक्त "कदा" को साथ जोडते हुए प्रस्तुत श्लोक की शब्दावली पर विचार करने पर लगता है कि भर्तृहरि की यह आकांक्षा पूरी न हो सकी और 'सरिस्का' का गिरि-झरना ही उनकी चिर-समाधि का स्थान बन गया। अस्तु।

तो भी 'कर्म-निर्मूलन' के लिए जिस वातावरण का वर्णन पिछले श्लोक में आया है, वह 'सरिस्का' में पूर्णरूपेण वर्तमान है। जब आज यह स्थिति है तो दो हजार वर्व पूर्व के 'सरिस्का' की कल्पना सहज ही की जा सकती है। पद्मासनस्त भर्तृहरि 'जठरहरिण कण्डूयन्' की जो आकांक्षा रखते थे, वह सरिस्का में भी पूरी हो सकती थी। हिरन क्या भीकर शेर' शार्दूल भी निर्भीक होकर भर्तृहरि की पीठ से अपनी पीठें रगड़ते रहे होंगे। ऐसी स्थिति में क्या हिमगिरि क्या सरिस्का, सब बराबर। आज दो हजार वर्ष बाद भी भर्तृहरि का वह प्रभाव सरिस्का में प्रत्यक्ष दीख पडता है। बनान्तर ग्राम निवासी गौ-भैंस चराते हुए शेर के निकल पड़ने पर भयभीत नहीं होते। इतनीं जबरदस्त श्रद्धा है भर्तृहरि पर उनकी—मानव ही में नहीं, कदाचित् जंगल के क्रूर जन्तुओं में भी। मुक्तात्मा परिसर प्रदेश में जीवन्मुक्त न सही, सबको भयमुक्त तो अवश्य कर डालते हैं।

श्लोक ९९

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्ष्यमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्र माशादशकमपमलम् तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निःसंगतांगीकरणपरिणतस्वात्मसंतोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ।।

पदच्छेद

भैक्षमक्षय्यमन्नम = भैक्षम + अक्षय्यम + अन्नम
वस्त्रमाशादशकमपमलम् = वस्त्रम् + आशादशकम् + अपमलम्

तल्पमस्वस्पमुर्वी = तल्पम् + अस्वल्पम् + उर्वी
निस्संगतांगीकरण = निस्संगत + अंगीकरण
स्वात्म्य = स्व + आत्म
संतोषिणस्ते = संतोषिण: + ते

पदान्वय

पाणि: पवित्रम् पात्रम् भ्रमण परिगतम् भैक्षम् अक्षय्यम् अन्नम् आशा दशकम् अपमलम् विस्तीणम् वस्त्रम् उर्वी अस्वल्पम् तल्पम् येषाम् निसंगत अंगीकरण परिणत स्वात्म संतोषिण: सन्यस्त दैन्य व्यतिकर निकरा: ते धन्या: कर्म निर्मूलयन्ति

शब्दार्थ

पाणि: = हथेली
पवित्रम् पात्रम् = पवित्र पात्र है,
भ्रमण परिगतम् = घूम घूम कर पायी हुई
भैक्षम = भिक्षा
अक्षय्यम् अन्नम् = कभी न खत्म होने वाला अन्न है
आशा दशकम् = दशों दिशाएं
अपमलम् = निर्मल
विस्तीर्णम् = लम्बा चौड़ा
वस्त्रम् = ओढना (है)
उर्वी = भूमि
अस्वल्पम् = बड़ा
तल्पम् = बिछौना है

येषाम् = जिन्हें (जो)
नि:संगत अंगीकरण = अनासक्ति के अपनाने से
परिणत स्वान्त = परिपक्व हृदय या विचारों के कारण
सन्यस्त — छूटे हुए हैं (ऐसे)
संतोषिण: — (सदा एक भाव से) प्रसन्न रहते हैं
दैन्य — दीनता के
व्यतिकर निकरा: — समस्त सम्बन्ध
ते धन्या: — वह धन्य पुरुष
कर्म निर्मूलयन्ति — कर्म को विनष्ट कर देते हैं

भावार्थ

हथेली ही जिनकी लोटा थाली है, यानी खाना उसी में पाते हैं और पानी उसी से पीते हैं, दिशायें ही जिनका औढना है यानी जो नंगे रहते हैं, बिस्तर के नाम की कोई वस्तु उनके पास नहीं, जमीन पर ही सो जाते हैं और जो संसार के सब सम्बन्ध तोड़ कर उदासीन भाव से रहते-सहते हैं, ऐसे महात्मा संसार के सभी कर्मों से छुटकारा पा जाते हैं ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में समाज को तो छोड़ा, परन्तु खाने कपड़े की चिंता से अभी मुक्त हो नहीं पाया है । जीना है तो खाना पीना सोना भी साथ लगा है—अन्नम्, वस्त्रम्, पात्रम् । अंजुली से लोटा थाली का काम लेगा जो सदा साथ है और जल से धोने भर से पवित्र बन जाता है । 'सद्यस्यूत' पत्तल की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं । अन्न भी वह जिस के क्षय होने का भय नहीं । जंगल घूम डालो, जो मिले खा डालो—फूल-फल, कन्द-मूल । दिगम्बर महराज के लिए दिगंत तक वस्त्र फैले हुए हैं जिन के खोने-फटने का डर नहीं । घूम फिर कर थक जाओ तो जहाँ चाहे पैर पसार कर सो रहो, धरती की खटिया छोटी नहीं पड़ेगी । जहाँ कमी का अनुभव न हो वहीं सन्तोष स्वयमेव सिद्ध हो गया । प्रचुरता में प्रतीक्षा किसी की नहीं । परन्तु एक आवांक्षां अवश्य है । वह क्या ? आगे चलिए ।

श्लोक १००

मातर्मेदिनि तात मारुत सरवे तेजः सुबन्धो जतं
भ्रातर्व्योम निबद्ध एष भवतामन्त्यः प्रणामांजलिः ।
युष्मत्संगवशोपजातसुकृतस्फारस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥

पदच्छेद

मातर्मेदिनि = मातः + मेदिनि
भ्रातर्व्योम = भ्रातः + व्योम
भवतामन्त्यः = भवताम् + अन्त्यः

प्रणामाञ्जलिः = प्रणाम + अञ्जलिः
युष्मत्संगवशोपजात = युष्मत् + संग वश + उपजात
स्फुरन्निर्मल = स्फुरत् + निर्मल
ज्ञानापास्त = ज्ञान + अपास्त

पदान्वय

मातः मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धुः जलम्
भ्रातः व्योम भवताम् एषः अञ्जलि निबद्धः वन्त्यः प्रणामः
युष्मत् संग वशः सुकृत् स्फार स्फुरत् निर्मल ज्ञान
अपास्त समस्त मोह महिमा परब्रह्मणि लीये

शब्दार्थ

मातः मेदिनि	—हे मेरी माता पृथ्वी	उपजात	—उपजे
तात मारुत	—हे पिता वायुदेव	सुकृत	—पुण्य फल से
सखे तेजः	—हे साथी अग्निदेव	स्फार स्फुरत्	—खूब जगमगाते हुए
सुबन्धुः जलम्	—प्यारे बन्धु जल	निर्मल ज्ञान	—विशुद्ध ज्ञान द्वारा
भ्राताः व्योम	- हे भाई आकाश	अपास्तसमस्त	— दूर किये गये सब
भवताम्	—तुम लोगों को	मोह महिमा	— अज्ञान के प्रभाव के साथ. (अर्थात् सारे अज्ञान धुल गये)
एषः	—ये ही	परब्रह्मणि लीये	— पर ब्रह्म में लीन हो जाता है
अन्ति प्रणाम	—अन्तिम प्रणाम है		
अञ्जलि निबद्धः	—हाथ जोडे लेता हूँ		
युष्मत्	—तुम लोगों के		
संग वशः	—संगति के कारण		

भावार्थ

हे पृथ्वी ! तुम ही मेरी माता हो, वायु, तुम पिता हो, अग्नि, तुम साथी हो, आकाश, तुन भाई हो, तुम सबको अन्तिम प्रणाम के साथ यह हाथ जोड़े लेता हूँ। तुम ही लौगों की संगति से मेरा सारा अज्ञान नष्ट हुआ और ज्ञान का उदय हुआ और उसी ज्ञान की महिमा से ये लो, में उस परब्रह्म परमात्मा मैं लीन हुआ जाता हूँ।

विशेषार्थं

पंचतत्त्व सम्मिलन ही सृष्टि का आधार है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश इन ही पांचों का सम्मिलित स्वरूप जीवन है। ये हा पंच-प्राण हैं हमारे जीवन दाता एवम् जीवन साथी।

सबसे पहले माता। माता हमारी धरती है—धरतीमाता। हमारे शरीर में धरती का अंश ही सबसे अधिक है। धरती सब से पहले हमें अपनाती है और सबके हमें त्यागने पर भी धरती ही हमारे इस शरीर को अपने में समो लेती है। माता की कोख से निकले, माता की कोख में पले, बढे और अन्त में माता ही की कोख में जा छिपे। इसलिए माता का स्थान सवसे ऊचा।

पिता हमारा वायु है—हवा। श्वाश्वोश्वास द्वारा वायु हमारे भीतर बाहर आता जाता रहता है और सदा हमारी खबरगीरी करता है। जहां सांस की यह आवक-जावक रुकी वहीं हमारा जीवन खत्म। पिता वायु छोड जाता है परन्तु माता धरती हमारे शरीर को सीने से चिपकाये रहती है, जैसे बंदरिया अपने मरे बच्चे को छाती से लगाये घूमा करती है। इसी लिए माता का पहला स्थान तो दूसरा पिता का।

तीसरा प्राण तेज-—गरमी। मरने के बाद भी थोड़ी देर तक शरीर में गरमी बनी रहती है। इपलिए अग्नि हमारी सखा—जिगरी दोस्त। चौथा है जल-पानी। सांस बन्द होकर ठंडा पडने के बाद भी शरीर में नमी रह जाती है जो जल का अंश है। यह सुबन्धु है अथवा स्वबन्धु, कहिए निजी भाई बहिन। पांचवां प्राण है आकाश-व्योम, जिसे यहाँ भ्राता की संज्ञा दी गयी है। इसे हम विरादरी कह सकते हैं, समाज भी कह सकते हैं जिसके बीच हमें रहना होता है। धरती आकाश जहाँ परस्पर छू जाते दिखते है वही तो है व्योम, जितनी दूर तक नजर दौडे। संसार भर जहाँ जाओ दूर पर व्योम हमें घेरे खडा है। मानो व्योम के रूप में समाज हमारी सुरक्षा का प्रवन्ध किये हुए है।

तब क्या हमारे दोहरे माता पिता और दोहरे बन्धु, मित्र आदि हैं। क्यों न हो, हमारा अस्तित्व भी दोहरा है - शरीर और विचार। जिन माता पिता से पैदा होते हैं और जिन भाई-बन्धु, इष्ट-मित्रों के साथ रहते हैं, इन सबके साथ हमारा शारीरिक सम्बन्ध है। एक दूसरे के प्रति हमारे कर्तव्य और अधिकार जुड़े हुए हैं। वास्तव में एक के कर्त्तव्य ही दूसरे के अधिकार होते हैं। किसी को उसके अधिकार से वंचित रखने के माने हैं अपने कर्त्तव्य का पालन न करना। वह हुआ हमारे स्थूल शरीर के सम्बन्ध में।

पंच महाभूतों के संयोग से हमारा स्थूल शरीर बना है तो हमारा सूक्ष्म शरीर उन ही महाभूतों में पनपता है। पंचभूतों का बना यह स्थूल शरीर धरती पर पनपता है तो वैचारिक मंडल उन ही पंचभूतों के साथ आकाश में संवरता है। विचार वायु में शुद्ध होता रहता है, जल में धुलता रहता है, तेज में गरमाता रहता है और व्योम में फैलता जाता है। परिष्कृत विचार-स्वरूप महापुरुष धरती पर जन्म लेते हैं और इस धरती को स्वर्गीय सौंदर्य प्रदान करते हैं। जहां जहां उनका पदार्पण हुआ वहां वहां अपना स्थाई प्रभाव छोड़ जाते हैं। सैकड़ों हजारों वर्षों के बीतने पर भी उस पवित्र प्रभाव को कोई कोई प्रत्यक्ष अनुभव भी करता है। संसार भर में तीर्थ-स्थानों तथा पुण्य-स्थलों की महानता और वहां समय समय पर सामाजिक समागम की यही महिमा है।

शरीर देश, काल से परिमित है। विचार अपरिमित है और देश-काल से अबाध्य है। संसार की सामग्री किसी एक की निजी सम्पत्ति नहीं तो विचार भी किसी अकेले के माथापच्ची का परिणाम नहीं। धरती पर धन या धातु है तभी तो वह कहीं किसी को मिल जाती है। इसी प्रकार विचार भी वायु-मंडल में वर्तमान है तभी किसी के मन या मस्तिष्क में उभरते हैं। वित्त हो अथवा विचार मात्र वितरण उसका उपयोग है और यही क्रमेण कर्म-राहित्य एवम् विचार-राहित्य है।

पिछले श्लोक में कर्मराहित्य के लक्षणों का वर्णन था। इसमें विचार-राहित्य की पराकाष्टा की परिभाषा है। स्थूल से सूक्ष्म में पहुँचे। अब सूक्ष्म से कहां जायेंगे? वहीं जहां से आये थे—आत्मा का विलक्षण स्वरूप—"लीये परब्रह्मणि"। समस्त सृष्टि के मूल स्रोत परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाना :—

ब्रह्म पूर्ण है। इसी से निकलने से आत्मा भी पूर्ण ही रहा। कर्मरूपेण और विचार रूपेण परिपूर्ण हो जाने पर लौट कर आत्मा उसी आदिपूर्ण में लीन हो जाती है।

पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः !

भर्तृहरि शतकत्रय